ब्रज संस्कृति विश्वकोश

खण्ड 2

भाग 1

ब्रज के धर्म सम्प्रदाय



मुख्य संपादक
सूर्य प्रसाद दीक्षित

प्रबन्ध संपादक
सतीश चन्द्र दीक्षित

वृन्दावन शोध संस्थान

वृन्दावन शोध संस्थान की स्थापना स्व. डॉ. रामदास गुप्त द्वारा 24 नवम्बर सन् 1968 को की गई। यह संस्थान प्राच्य दर्शन और ब्रज संस्कृति के शोध एवं अध्ययन का केन्द्र है। यहाँ एक पूर्ण विकसित पाण्डुलिपि ग्रंथागार है, जिसमें लगभग 35000 दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ संरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के पुस्तकालय में लगभग 15000 मुद्रित पुस्तकों का संग्रह है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा के हिन्दी एवं संस्कृत विषयों के शोध-केन्द्र के रूप में संबद्ध इस संस्थान से पंजीकृत होकर अब तक 26 शोधार्थियों को पी-एच.डी. उपाधि से सम्मानित किया जा चुका है। संस्थान में आधुनिकतम संसाधनों से सुसज्जित संरक्षण, रिप्रोग्राफी, शोध एवं प्रकाशन विभाग हैं। वर्ष 2006 से राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन के एक केन्द्र के रूप में संस्थान एम.आर.सी. एवं एम.सी.सी. परियोजनाओं पर भी कार्य कर रहा है।

भारत सरकार के अनुदान के सहयोग से संस्थान ब्रज संस्कृति विश्वकोश, ब्रज क्षेत्र के सर्वेक्षण एवं दस्तावेजीकरण, पाण्डुलिपियों के प्रकाशन और कैटलॉगिंग आदि कार्य सम्पन्न कर रहा है। ब्रज के वैभव को प्रदर्शित करता ब्रज संस्कृति संग्रहालय संस्थान में दर्शनीय है।

ब्रज संस्कृति विश्वकोश

ब्रज संस्कृति विश्वकोश

द्वितीय खण्ड

भाग I

(ब्रज के धर्म-सम्प्रदाय)

वृन्दावन शोध संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश (भारत)
देव पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

प्रकाशक :

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश (भारत)

Phone 91-0565-2540628, 09359366166, Fax 0565-2540576

e-mail-vrindavanresearch@gmail.com - website: www.vri.org.in

सह-प्रकाशक :

देव पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

द्वितीय तल, प्रकाशदीप बिल्डिंग,

22, दिल्ली मैडिकल एसोसिएशन रोड

नई दिल्ली-110002

दूरभाष: 43572647

e-mail: devbooks@hotmail.com

website: www.devbooks.co.in

(संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित)

ISBN 978-93-81406-44-1 (Series)

ISBN 978-93-81406-84-7 (Vol. II)

प्रथम संस्करण: 2018

© 2018, वृन्दावन शोध संस्थान

मूल्य : ₹ 2200.00 (दोनों खण्ड)

ब्रज संस्कृति विश्वकोश

(द्वितीय खंड)

ब्रज के धर्म-सम्प्रदाय

परामर्श समिति

- डॉ. अशोक वाजपेयी
- डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी
- आचार्य श्रीवत्स गोस्वामी
- डॉ. गयाचरण त्रिपाठी
- कुलपति,
  डॉ. भीमराव आंबेडकर वि.वि., आगरा

प्रधान सम्पादक

- रवीन्द्रदत्त पालीवाल (अध्यक्ष)

प्रबंध सम्पादक

- सतीशचन्द्र दीक्षित (निदेशक)

संपादक मंडल

- डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित (अध्यक्ष)
- प्रो॰ दीप्ति त्रिपाठी
- प्रो॰ कृष्णकान्त चतुर्वेदी
- डॉ॰ शशि तिवारी
- डॉ. शैलेन्द्रनाथ पाण्डेय
- डॉ॰ शशिरानी अग्रवाल
- डॉ॰ नरेशचंद्र बंसल

कार्यकारी सम्पादक

- डॉ. ब्रजभूषण चतुर्वेदी

सह-सम्पादक

- डॉ. राजेश शर्मा
- करुणेश उपाध्याय (मानद)

सहा० सम्पादक

- प्रगति शर्मा

स्क्रिप्ट राईटर

- जितेन्द्र कुमार
- कुंजबिहारी शर्मा

तकनीकी सहयोग

- जुगल किशोर शर्मा
- कृष्ण कुमार मिश्रा
- पारूल शर्मा

अध्यक्ष की कलम से.....

ब्रज संस्कृति विश्वकोश का द्वितीय खण्ड विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता के साथ सन्तुष्टि का भी अनुभव हो रहा है। यह खण्ड ब्रज क्षेत्र के धर्म-सम्प्रदायों पर आधारित है। प्रथम खण्ड ब्रज के इतिहास, भूगोल और पुरातत्त्व पर केन्द्रित था। हमारा प्रयास यही रहा है कि ब्रज क्षेत्र के सम्बन्ध में तथ्यपरक और प्रामाणिक टिप्पणियों का समावेश इसके प्रत्येक खण्ड में किया जाय। इस हेतु कार्यशालाओं के आयोजन एवं संस्कृति प्रेमी सुधीजनों के साथ परस्पर संवाद से सामग्री की उपलब्धता हेतु यथा संभव प्रयास किये गये। वस्तुत: ब्रज के धर्म सम्प्रदायों पर आधारित इस खण्ड को तैयार करना एक चुनौती से कम नहीं था। चुनौती इस दृष्टि से, कि ब्रज क्षेत्र ने अपने साथ विविधताओं का सामंजस्य बनाकर लघु भारत के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित किया है, इन अपार विविधताओं को एक साथ प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। वास्तव में ब्रज क्षेत्र को हम भारतीय संस्कृति की आत्मा कह सकते हैं। अपने आध्यात्मिक स्वरूप और वर्चस्व के कारण ही शताब्दियों से ब्रज संस्कृति भारतवर्ष के शीर्ष पर रही है।

आर्यावर्त के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व के प्रमुख कारक भागवत धर्म के प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण की जन्म एवं क्रीड़ास्थली होने के कारण ब्रज संस्कृति आज विश्व के सांस्कृतिक पटल पर अपना वर्चस्व स्थापित किये है। इसके साथ ही यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न कालक्रमों में बौद्ध और जैन धर्म का भी यहाँ प्राधान्य रहा है। इसमें भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विभिन्न कला वस्तुओं, पुरावशेषों, मूर्त्तियों आदि का ब्रज के विभिन्न स्थलों से खुदाई में प्राप्त होना यहाँ इस धर्म की समृद्धि को दर्शाता है। राजकीय संग्रहालय मथुरा सहित देश के अन्य स्थानों पर इन पुरावशेषों का संकलन इस तथ्य की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। बौद्ध और जैन के अतिरिक्त इस्लाम, ईसाई, सिख आदि धर्मों का कतिपय प्रभाव भी यहाँ इतिहास के पन्नों में दर्ज है। इतना सब होते हुए भी ब्रज संस्कृति को भागवत धर्म अथवा सनातन धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में जाना और पहचाना जाता है।

राम और कृष्ण वैष्णव सम्प्रदायों के प्राण तत्त्व के रूप में जाने जाते हैं। उनमें भी श्रीकृष्ण की भक्ति के विभिन्न पक्षों ने ब्रज में विस्तार पाया। प्राय: सभी वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य, भक्त और विद्वान यहाँ की आध्यात्मिक यात्रा करते रहे और तद्विषयक साहित्य का प्रणयन अबाध गति से सम्पन्न होता रहा। वल्लभ, गौड़ीय, निम्बार्क, रामानुज आदि सम्प्रदायों के साथ ही राधावल्लभ, हरिदासी, ललित आदि सम्प्रदाय यहीं जन्मे और फले-फूले। यहाँ हरित्रयी (गो॰श्रीहित हरिवंश महाप्रभु, स्वामी हरिदास एवं संत प्रवर हरिराम व्यास) के द्वारा निकुंजोपासना, श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति के एक अलग पक्ष का निर्वहन करती नजर आती है। इस निकुंजोपासना ने ब्रज ही नहीं, भारतीय आंचलिक परिदृश्य से आगे बढ़कर वैश्विक पटल पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। इन सभी वैष्णव मतों, सम्प्रदायों की अपनी मान्यताएँ हैं, अपनी उपासना पद्धति और अपना दर्शन है। विविधता के अपरिमित परिदृश्यों को समेटे इस क्षेत्र की संस्कृति ने आर्यावर्त्त को अपना विशेष योगदान प्रदान किया है। हमारा प्रयास रहा है कि इस खण्ड में सभी पक्षों पर सारगर्भित तथ्यों को प्रकाशित किया जाय। प्रस्तुत खण्ड को तैयार करने में समग्रता का ध्यान रखने हेतु 100 वर्ष से पूर्व के तथ्यों को जहाँ विस्तार देने

का प्रयास है, वहीं आधुनिक काल के प्रमुख पक्षों पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस खण्ड के सभी विद्वान टिप्पणी लेखकों के साथ ही इस पवित्र अनुष्ठान को सम्पन्न करने में अपनी प्रशस्त भूमिका का निर्वहन करने वाले अपने संरक्षक मण्डल, परामर्श मण्डल और सम्पादक मण्डल के सभी सदस्यों और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसमें सहभागी रहे सभी महानुभावों के प्रति आभार प्रकट करना, हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमारा विश्वास है कि आप विश्वकोश के इस खण्ड से लाभान्वित होंगे। यदि कोई त्रुटि रही हो तो उसे भी इंगित करेंगे ताकि आगामी खण्डों में उनका सुधार किया जा सके।

रवीन्द्रदत्त पालीवाल
(अध्यक्ष)
वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन

प्रकाशकीय

ब्रज नायक श्रीकृष्ण की कथा, इनसे जुड़ीं अनेकानेक उप-कथाओं तथा कालांतर में पल्लवित ब्रज संस्कृति के विस्तार को एक सूत्र में पिरोना आसान नहीं, तथापि संस्थान के द्वारा संचालित ब्रज संस्कृति विश्वकोश परियोजना का यह उद्देश्य रहा है कि संस्कृति प्रेमी सुधीजन एवं शोध अध्येताओं के साथ पुनः-पुनः विमर्श से इसे अधिकाधिक प्रामाणिक एवं सारगर्भित रूप में आमजन के मध्य इस तरह लाया जाय कि ब्रज में आने वाले पर्यटक एवं शोध अध्येता समान रूप से इसका लाभ ले सकें। वृन्दावन शोध संस्थान में मेरे आगमन के दौरान विश्वकोश परियोजना का यह कार्य पूर्ण कराना ऐसा धर्मसंकट था, जिसमें प्रथमतः मन तो यही कहता कि येन केन प्रकारेण यह कार्य पूर्व निर्धारित समय-सीमा में ही पूर्ण हो, लेकिन विद्वानों से विचार विमर्श एवं कार्य के विस्तार को देखकर पुनः यह लगता कि शीघ्रता के इस चिंतन से कहीं विश्वकोश की गरिमा प्रभावित न हो जाय। इस अन्तर्द्वन्द्व के साथ ही विश्वकोश के दूसरे खण्ड को पूरा करने के लिये योग्य एवं संस्कृति प्रेमी लोगों को इससे जोड़ना एक बड़ी समस्या थी।

संस्थान के अध्यक्ष महोदय श्री आर०डी० पालीवाल से परिचर्चा के उपरान्त डॉ० ब्रजभूषण चतुर्वेदी को विश्वकोश का प्रभार सौंपकर मैंने एक नव दृष्टि और समय साध्यता की समस्या से सामंजस्य बैठाते हुए कार्य को इस विचार के साथ आगे बढ़ाना शुरू किया कि विश्वकोश के इस द्वितीय पुष्प में ब्रज संस्कृति के उन दुर्लभ एवं अप्रसारित संदर्भों को भी संयोजित किया जा सके, जो संस्कृति के अध्ययन में अब तक मुख्य धारा से पृथक ही रहे हैं। इसी दौरान डॉ० चतुर्वेदी ने संस्थान से जुड़े शोध अध्येता डॉ० राजेश शर्मा का नाम सह-सम्पादक के रूप में सुझाया। डॉ० शर्मा ने संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार की फैलोशिप का कार्य छोड़कर विश्वकोश के इस पवित्र अनुष्ठान में पूर्ण मनोयोग से सेवायें दी हैं। विश्वकोश परियोजना में पूर्व से ही कार्यरत करूणेश उपाध्याय अपनी पी-एच.डी. सम्बन्धी व्यस्तताओं के उपरान्त भी मानद सह-संपादक के रूप में विश्वकोश को सहयोग देते रहे, साथ ही विश्वकोश की सहायक सम्पादक प्रगति शर्मा, स्क्रिप्ट राईटर के रूप में कुंजबिहारी शर्मा, जितेन्द्र कुमार, तकनीकी सहयोग के रूप में जुगल किशोर शर्मा, कृष्ण कुमार मिश्रा, पारुल शर्मा एवं दीनदयाल शर्मा का इस दिशा में महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

ब्रज संस्कृति विश्वकोश के समग्र क्रियान्वयन एवं इसके लिए आवश्यक अनुदान राशि सुलभ कराने हेतु संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार के हम विशेष अनुगृहीत हैं, जिसके बिना यह गुरुतर कार्य असम्भव था। विश्वकोश के प्रधान संपादक डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित सहित परामर्श एवं सम्पादक मण्डल से जुड़े सभी विद्वानों के बहुमूल्य सुझावों से इसे अध्येताओं के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। विश्वकोश के इस पवित्र अनुष्ठान में संस्थान के सहायक लेखाधिकारी सुकुमार गोस्वामी, वरिष्ठ कार्यालय सहायक रजत शुक्ला तथा श्रीकृष्ण गौतम के विविध रूप में किये सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। श्रीमती रेखा रानी ने संदर्भ ग्रन्थों को इस कार्य हेतु सुलभ कराया। देव पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली ने प्रस्तुत खण्ड का सुन्दर मुद्रण एवं संयोजन कर इस कार्य को सम्पन्नता प्रदान की है, एतदर्थ सभी का आभार।

सतीशचन्द्र दीक्षित
निदेशक,
वृन्दावन शोध संस्थान,

भूमिका

ब्रज भूमि का धार्मिक माहात्म्य

ब्रज क्षेत्र की धार्मिक चेतना का विशेष महत्त्व है। यहाँ अनेक प्रकार के संप्रदाय हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—वैदिक, नारायणीय, पांचरात्र, सात्त्वत, भागवत आदि। इस क्षेत्र पर समय-समय पर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, स्वामी रामानंद, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि के द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों का पर्याप्त प्रभाव है। वैष्णव संप्रदायों के अतिरिक्त यहाँ शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, सिक्ख, राधास्वामी, आर्य समाज, इस्लाम, ईसाई, रामकृष्ण मिशन, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संप्रदाय भी प्रचलित हैं। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत यहाँ कृष्णोपासक संप्रदायों, जैसे—राधा बल्लभ संप्रदाय, पुष्टि मार्ग, गौडीय संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, संन्यासी संप्रदाय, शुक संप्रदाय आदि की विशिष्ट भूमिका है। इनके अतिरिक्त यहाँ अनेक लोक देवताओं की उपासना भी की जाती है, जैसे—नागपूजा, यक्षपूजा, किन्नर, गन्धर्व पूजा, उपदेवता आदि।

ब्रज क्षेत्र में पुराणों का समन्वयात्मक लोकधर्म काफी प्रचलित है। यहाँ की उपासना पद्धति में अनेक प्रकार के उपास्य श्री-विग्रह दिखाई देते हैं। प्रत्येक संप्रदाय के अपने विशिष्ट स्थल हैं। समय-समय पर उनके महोत्सव मनाये जाते हैं। इनके रीति-रिवाज, आचार-विचार और सेवा पद्धति में साम्य और वैषम्य, दोनों दृष्टिगत होते हैं।

वस्तुतः ब्रज क्षेत्र प्रगाढ़ भक्ति-साधना का क्षेत्र है।

ब्रजलोक—ब्रज भूमि का विस्तार पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी हरियाणा, दक्षिणी राजस्थान आदि राज्यों तक है। वैसे ब्रज क्षेत्र श्रीकृष्ण की जन्म और लीला-स्थलियों के रूप में पौराणिक परम्परानुसार 84 कोस में व्यापक है। इसके अन्तर्गत मथुरा, एटा, फर्रुखाबाद, कासगंज, अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा, फतेहपुर सीकरी, हाथरस, गुड़गाँव, आगरा, भरतपुर, करौली, धौलपुर, वल्लभगढ़, जलेसर, खुर्जा, सोरों आदि स्थल भी भाषाई व सांस्कृतिक दृष्टि से समाविष्ट हैं। इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण स्थल हैं—वृन्दावन, गोकुल, नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन, दाऊजी, कामवन, महावन, कोसीकलां, पारसौली आदि।

ब्रज क्षेत्र में कई नदियाँ हैं, जिनमें यमुना एवं मानसी गंगा का विशेष महत्व है। यहाँ गोवर्धन नाम की एक पहाड़ी है और गिरिराज, इन्द्रसेन, शेषनाग, नील पर्वत, शंख कूट, चरण पहाड़ी, अटोरा, सुवर्णांचल, रुद्र पर्वत, विष्णु पर्वत, ब्रह्म पर्वत हैं। यहाँ दस वन हैं। जगह-जगह अनेक सरोवर हैं। कई प्राचीन दुर्ग, प्रासाद एवं भग्नावशेष हैं। यमुना के कई घाट भक्तों की श्रद्धा के केन्द्र हैं, जिनमें कालीदह, केशीघाट, विश्राम घाट, राजघाट, गोविंदघाट, विहारघाट, शृंगार घाट, नंदघाट, चीरघाट, राधाकुंड, गऊघाट, वाराहघाट और सूर्यघाट आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

यहाँ पाँच शिवमंदिर हैं। कृष्ण मंदिरों की तो भरमार है। श्रीकृष्ण की लीला-स्थली होने के कारण ब्रजरज का कण-कण पूज्य है। यहाँ ऐसे भी भक्त हुए हैं, जिन्होंने आजीवन ब्रजभूमि पर मल-मूत्र का विसर्जन नहीं किया। भक्त प्रवर ललित किशोरी जी के सम्बन्ध में यह विख्यात है कि उन्होंने यह कामना की थी कि मृत्यूपरान्त उनका दाह न किया जाये, बल्कि उनके शव को ब्रज भूमि में इस तरह घसीटा जाये कि शरीर का एक-एक परमाणु ब्रजरज में विलीन हो जाये। भक्त रसखान ने भी अपने पदों में यही कामना व्यक्त की थी कि अगले जन्म में मैं ब्रज-गोकुल गाँव में गोचारण करते हुये जीवन-

यापन करूँ। यदि पशु योनि में जन्म हो तो नन्दबाबा की गाय बनूँ। यदि पक्षी रूप में जन्म लूँ तो कालिन्दी कूल कदम्ब की डाल पर बसेरा करूँ और यदि पाहन बनाया जाऊँ तो गोवर्धन पर्वत का अंश बन जाऊँ। निश्चय ही ब्रज मण्डल की महिमा अपरम्पार है।

ब्रज क्षेत्र के प्रमुख धार्मिक स्थल:

वृन्दावन—मथुरा से ग्यारह किलोमीटर दूर उत्तर दिशा में, यमुना तट पर स्थित यह प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ है। कृष्ण की बाल-लीलाओं और रास लीलाओं से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुराख्यानों के अनुसार वृन्दा जालन्धर की पत्नी थी, जो विष्णु प्रिया बन गयी थी। उनके वरदान से वह गोपियों के रूप में यहाँ प्रकट हुयी थी। उसके विहार स्थल का नाम पड़ा वृन्दावन। यहाँ अनेक मन्दिर हैं जिनमें बाँके बिहारी जी, रंगजी, राधारमण जी आदि मंदिर अति प्रसिद्ध हैं। यहाँ कई अखाड़े, रासमण्डल और घाट हैं। इसे ब्रह्म जीव मिलन-स्थली एवं लीलाभूमि माना जाता है। आक्रमणकारियों ने इसे कई बार ध्वस्त किया, किन्तु वैष्णव भक्तों ने बारम्बार इसका पुनर्निर्माण किया, जिसमें चैतन्य संप्रदाय की बड़ी भूमिका रही है। ब्रज मण्डल मुख्यत: वनांचल रहा है। यहाँ मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, कामवन, भांडीरवन, बेलवन, ढाकवन, लोहवन, महावन जैसे 10 वन हैं, जिसमें सर्वोपरि है वृन्दावन।

मथुरा—यह वैष्णवों का पवित्र तीर्थ है। सप्त मोक्षदायिनी पुरियों में यह अग्रगण्य है। इसका उल्लेख पाणिनि एवं कात्यायन ने किया है। महाभारत और कई अन्य पुराणों में भी इसका वर्णन मिलता है। लगभग 2000 वर्षों से यह कृष्ण उपासना का केन्द्र है। पुराणों में मथुरावासी कृष्ण, राधा, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना आदि का विस्तृत विवरण है। मथुरा मण्डल का विस्तार 20 योजन का है। इसमें कई महावन, 24 उपवन तथा 24 घाट हैं। कृष्ण की इस गोचारण क्रीड़ास्थली को पद्म पुराण में बैकुण्ठ माना गया है। मत्स्य पुराण में राधा को वृन्दावन की दाक्षायणी देवी कहा गया है। यह चैतन्य भक्ति साधना का केन्द्र है और वल्लभाचार्य का मुख्यालय भी। मध्य काल में इसे कई बार ध्वस्त किया गया, किन्तु इसका धार्मिक महत्व उत्तरोत्तर विकसित होता गया। यहाँ कृष्ण जन्म भूमि, भागवत भवन, द्वारकाधीश मंदिर, भूतेश्वर आदि अनेक दर्शनीय स्थल हैं।

मथुरा अति प्राचीन नगरी है। सतयुग में यहाँ मधु नामक असुर रहता था। उसका पुत्र लवण जब मथुरा नरेश बना तो मथुरा नगरी उसके अत्याचारों से पीड़ित हो गयी। फलत: शत्रुघ्न ने उसका वध कर डाला। प्राचीन ग्रन्थों में मथुरा के कई नाम मिलते हैं, जैसे मधुपुरी, मधुवन। इसके 12 वनों का बहुश: वर्णन किया गया है। कालान्तर में इस पर कंस ने शासन किया। उसके अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये कृष्णावतार हुआ। कंस वध के बाद उसके जामाता जरासन्ध ने मथुरा पर 18 बार आक्रमण किया, फलत: श्रीकृष्ण द्वारका चले गये और मथुरा नगरी मगध राज्य के अन्तर्गत आ गयी। यमुना तट पर स्थित मथुरा नगरी सूरसेन की राजधानी थी। यहाँ दीर्घकाल तक बौद्धों का भी प्रभाव रहा है।

गोकुल—मथुरा से चार कोस दूर यमुना पार पुराना गोकुल है, जहाँ नन्द भवन और अनेक भव्य मन्दिर हैं। यहाँ का महावन परम पूज्य माना जाता है। पहले नंदबाबा गोकुल में रहते थे। फिर वे नंदगाँव में जा बसे। यहाँ उनके कई गोष्ठ थे। बाल कृष्ण के लालन-पालन और गोचारण से यह स्थान संबद्ध है ।

नन्दगाँव—यह मथुरा से 30 मील दूर है। यह ब्रजमण्डल का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ एक पहाड़ी पर श्रीकृष्ण के पालक पिता नन्दबाबा का महल (मन्दिर) है। उसके नीचे पामरी नामक सरोवर है।

गोवर्धन—मथुरा से 16 मील दूर यह ब्रज क्षेत्र का एक पवित्र पर्वत टीला है। ब्रज का तात्पर्य है जहाँ गाएं विचरण करती हैं अर्थात् चरागाह जिससे गोधन का संवर्धन होता है। भागवत की एक कथा के अनुसार ब्रज में प्रचलित इन्द्र पूजा के स्थान पर कृष्ण ने गोवर्धन पूजा का समारम्भ किया था। इससे क्रुद्ध होकर इन्द्र ने ऐसी अतिवृष्टि की थी कि ब्रज में जल प्रलय की स्थिति आ गयी थी। कृष्ण ने सबके सहयोग से गोवर्धन को उँगली पर धारण कर लिया और ब्रज की रक्षा की।

तब से गोवर्धन पूजा यहाँ प्रचलित है। मथुरा और बरसाने के मध्य स्थित इस पहाड़ी की लम्बाई लगभग 6 किलोमीटर है। भक्तजन 108 स्थानों पर रुक कर सप्त कोसी परिक्रमा करते हैं। ब्रज क्षेत्र में गोवर्धन पूजा का बड़ा प्रचलन है। हरिवंश पुराण में इसकी पूजन विधि विस्तारपूर्वक बतायी गयी है। यह पूजन कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा (दीवाली के बाद) होता है। इसमें गोबर का एक पर्वत बनाया जाता है। उस पर रंग-बिरंगी पताकाओं के साथ गाय एवं बैल की आकृतियाँ सजायी जाती हैं। छप्पन व्यंजन एवं अन्नकूट बनाकर भगवान को भोग लगाया जाता है। मध्ययुगीन कृष्ण कवियों ने गोवर्धन पर बहुत लिखा है।

बरसाना—यहाँ के दर्शनीय स्थानों में प्रमुख है। यह राधा जी की लीला भूमि है। इस पर्वत को ब्रह्म स्वरूप, नंदगाँव को शिव स्वरूप और गोवर्धन को विष्णु स्वरूप माना जाता है। ब्रज की परिक्रमा में इन सभी स्थानों की यात्रा की जाती है। यहाँ अनेक मन्दिर, कुंज, वन आदि हैं। बरसाना श्वेत-श्याम वर्ण की दो पहाड़ियों के मध्य है। ये दोनों क्रमश: राधा-कृष्ण की प्रतीक हैं। बरसाने की लट्ठमार होली विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को राधा जन्मोत्सव होता है।

कामवन—इसे काम्यक् वन भी कहते हैं। ऐसी आस्था है कि यहाँ कृष्ण रमण करते हैं। यह भी मान्यता है कि रात में इसमें प्रवेश करने वाला स्त्री बन जाता है। भरतपुर के कामवन में वृन्दादेवी का महल है, जिसमें चौरासी तीर्थों की उपस्थिति मानी जाती है।

निधिवन—यह लता-कुंजों से युक्त एक दर्शनीय वन है क्योंकि यह प्रभु की रमण स्थली है।

तालवन—वर्तमान में इसे तारसी गाँव कहते हैं। यहाँ बलराम ने धेनुकासुर को मारा था। यहाँ बलभद्र कुण्ड और बलदेव जी का मन्दिर है।

कुरुक्षेत्र—यह स्थान ब्राह्मण युग में यज्ञ के लिये प्रसिद्ध था। यह वैदिक संस्कृति का केन्द्र था, इसीलिये इसे धर्मक्षेत्र कहा गया है। पहले इधर से सरस्वती बहती थी। इसका नाम महाराज कुरु के नाम पर पड़ा था। पुराणों में इसके सौ तीर्थों का उल्लेख हुआ है। इसमें ब्रह्मसर, चक्रतीर्थ, व्यास स्थली, थानेश्वर, ब्रह्मयोनि तीर्थ आदि मुख्य हैं।

ब्रज के अन्य उपासना स्थलों में प्रमुख हैं— भागवत भवन, रंग नाथ मंदिर, जुगलघाट मंदिर, बाँके बिहारी जी का मंदिर, केशव देव मंदिर, गोपीनाथ मंदिर, राधारमण जी का मंदिर, रसिक बिहारी, राधा दामोदर, राधा विनोद, गोवर्धन, राधा कुण्ड, ललिताकुंज, वंशीवट, द्वारकाधीश मंदिर, श्रीनाथ मंदिर (नाथद्वारा), पागल बाबा का मंदिर, बेनी माधव, टोपी कुंज मंदिर, भूतेश्वर महादेव, वराह घाट मंदिर, मधुर बिहारी मंदिर, गायत्री तपोभूमि, सेवाकुंज, स्वामी बाग, दयालबाग, संत चिश्ती का दरगाह, श्रीकृष्ण जन्म स्थान, कैलादेवी, इस्कान मंदिर, कंकाली देवी का मंदिर, दाऊ जी, चतुर्भुज मंदिर, प्रेम मंदिर, बिडला मंदिर, गुरुकुल विश्वविद्यालय आदि। वृन्दावन के अतिरिक्त आगरा, अलीगढ़, हाथरस, एटा, फिरोजाबाद, इटावा, मैनपुरी, भरतपुर, फर्रुखाबाद, कासगंज, फरीदाबाद, गुड़गाँव, धौलपुर आदि नगरों में अनेक मंदिर, मस्जिदें, गुरुद्वारे, चर्च आदि विद्यमान हैं। यहाँ स्थित आश्रम, गोशालाएँ, अखाड़े, गद्दियाँ, बैठकें, घाट, वनकुंज आदि भी श्रद्धा भक्ति के केन्द्र हैं।

ब्रज के लोकगीतों में इन धार्मिक स्थलों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया गया है, यथा—

विश्राम घाट पै न्हाई, जब निरखि चर्चिका माई,
घाट पीलेश्वर का ध्यावै, दरस तब भैरों के पावै।
सब देवन के दर्शन करिकै, दाऊजी, मदन मोहन के,
चलो ध्रुव के दर्शन करें, अगाड़ी सप्त ऋषि आवैं।
छवि निरखो बलि राजा की, आगे रंगभूमि की झाँकी,
है जगन्नाथ बलभद्र, दरस भूतेश्वर के पावैं।
केशव के दर्शन करिकै, महाविद्या टीलो चढ़िकै,

बद्री विशाल को निरखि, सरसुती माँ को सिर नावैं।
धनि धनि चामुण्डा माई, गोकरन बड़े सुखदायी,
हैं कंस किले के बीच कृष्ण गंगा के गुन गावैं।
है बाल मुकुन्द अखण्डा, बाराह क्षेत्र असकुण्डा,
है सकर कई को घाट, दरस महाप्रभु जी के पावैं।
विश्राम संकलप भरिकै, परिकरमा पूरी करिकै,
बाराह के दर्शन करैं राह अपने घर को जावैं।

ब्रज क्षेत्र के बाहर होते हुए भी कुछ तीर्थ यहाँ छाए हुए हैं, जैसे—

जगन्नाथपुरी—नीलांचल (उड़ीसा) में स्थित इस पुरुषोत्तम तीर्थ को शंख क्षेत्र भी कहा जाता है। इस मन्दिर में कृष्ण-बलराम और सुभद्रा की पूजा होती है। यहाँ भोगमन्दिर, रंगमन्दिर, जगन्नाथ मंदिर आदि पंचतीर्थ हैं। कृष्णोपासना में इसका बड़ा महत्व है। ब्रज संस्कृति से इसका प्रगाढ़ संबन्ध है।

प्रभास वन—यह मुख्यत: शैव तीर्थ रहा है। यहाँ जरा नामक ब्याध के बाण-प्रहार से श्रीकृष्ण ने जीवनलीला समाप्त की थी, अत: कृष्ण भक्तों का यह एक दर्शनीय स्थल है।

द्वारका—यह सप्त पुरियों में से एक है। यह रणछोड़ राय श्रीकृष्ण की राजस्थली रही है। यहाँ कृष्ण भक्ति पूरे परिमाण में प्रचलित है। ऐसी मान्यता है कि कृष्ण के बाद द्वारका समुद्र में डूब गयी थी। वही कालान्तर में बेट द्वारका रूप में प्रकट हुई है। यहाँ का द्वारकाधीश मंदिर चारों धामों में गण्यमान है। इसका ब्रजक्षेत्र से घनिष्ट संबंध है। यहाँ गोमती कुंड के पार द्वारका धाम है। स्पष्ट है कि धार्मिक स्थलों से भरपूर है ब्रज की धरती।

ब्रजोपासना—ब्रज क्षेत्र में अनेक प्रकार की उपासना पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इनमें श्री विष्णु के अवतार—श्रीकृष्ण की पूजा विभिन्न रूपों में की जाती है। उन्हें सत्यनारायण और बालाजी के रूप में भी पूजा जाता है। इनके अतिरिक्त शिव, गणेश, कार्तिकेय, सूर्यदेव, श्रीराम और शक्ति के विभिन्न रूपों की आराधना भी यहाँ लोकप्रिय है। जन साधारण में साधु-संत, ऋषि-मुनि, विप्र, कन्या, सती, धर्म ग्रन्थ, यमुना, कई पशु-पक्षी, विशेषत: गौ वंश आदि भी पूज्य माने जाते हैं। यहाँ षोडशोपचार, सेवा भावना, भजन, कीर्तन, मंत्र-जाप, सन्ध्योपासना आदि का व्यापक विधान है। निर्गुण-सगुण दोनों मत यहाँ न्यूनाधिक प्रचलित हैं। जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई सबकी अपनी-अपनी उपासना पद्धतियाँ हैं। इनका संक्षिप्त विवरण अवलोकनीय है।

ब्रज समाज प्राय: आस्तिक, ईश्वरवादी और सगुणोपासक है। वेदान्त के अनुसार विशुद्ध सत्व प्रधान, सर्वोच्च शक्तिमान, सर्वसमर्थ, सृष्टि के अधिष्ठाता को परमात्मा या ईश्वर कहते हैं। परम ब्रह्म निर्गुण तथा निष्क्रिय है। सगुण ब्रह्म नियामक, पालक, पुरुष पुरुषोत्तम, सृष्टा, संहर्ता, धर्ता रूप में सर्व साध्य हैं। समस्त देवता उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। वह अपनी योग माया से विश्व का नियन्त्रण करता है। द्वैताद्वैत के आधार पर ईश्वरवाद के अनेक भेद विकसित हुये हैं। ईश्वर, वेद (आगम), वर्णाश्रम, परमार्थ, मोक्ष आदि में विश्वास रखने वाले को आस्तिक कहते हैं। वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग, वैशेषिक और पूर्व मीमांसा षट् दर्शन हैं। दूसरी ओर चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक आदि नास्तिक दर्शन हैं। भारतीय संस्कृति में इन दोनों परम्पराओं को न्यूनाधिक मान्यता दी गयी है, किन्तु बाहुल्य है आस्तिकता, सगुणोपासना एवं सेवाभावना का।

ब्रज-मत में निर्गुण-सगुण, ये ब्रह्म के दो रूप हैं। सगुण मत में नाम, गुण, रूप, लीला, धाम का अस्तित्व है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त और अगम्य है, जबकि सगुण ब्रह्म गोचर है। उसमें पहले प्रतीकों की उपासना प्रचलित हुयी, फिर मूर्ति पूजा चल पड़ी। ब्रज के मन्दिरों में विभिन्न प्रकार के श्री विग्रह हैं और उपासना तथा सेवा भावना के कई रूप हैं, जैसे नवधा भक्ति, षोडशोपचार आदि। कहीं-कहीं निर्गुण-सगुण समन्वित आराधना भी प्रचलित है।

ब्रज क्षेत्र में वैष्णवों की कई आराधना पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जैसे—

वैष्णव उपासना—हिन्दुओं की देवत्रयी में प्रमुख हैं श्री विष्णु। इनका प्राकट्य कश्यप और अदिति के माध्यम से हुआ था। लक्ष्मी इनकी अर्द्धांगिनी हैं। इनके ऊपर सृष्टि का भार है। इन्होंने चार युगों में दस अवतार धारण किये हैं। इनकी उपासना पद्धति को वैष्णव पद्धति कहा जाता है। इसमें श्रीकृष्णोपासना मुख्य है।

ब्रज में प्रचलित कृष्णोपासना अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है। यहाँ वे पूर्णावतार हैं और बलराम अंशावतार। ब्रजभूमि में कृष्ण जन्म का उत्सव भाद्रपद अष्टमी को धूम-धाम से मनाया जाता है। इस दिन आधी रात के समय श्री विग्रह का अभिषेक करके उसका शृंगार किया जाता है। उसे झूले पर झुलाया जाता है। भक्तजन व्रतपूर्वक भजन-संकीर्तन करते हैं और जन्मोपरान्त प्रसाद ग्रहण करते हैं। चैत्र शुक्ल एकादशी को कृष्ण डोलोत्सव मनाया जाता है। लक्ष्मी सहित उनकी प्रतिमा को झूले में विराजमान करके दमनक नामक पत्तियों से पूजन करते हुए रात्रि जागरण किया जाता है। यहाँ कृष्ण षष्ठी, गोवर्धन पूजा, नागनथइया, दधिकाँधो, फूलडोल, रासलीला आदि समारोह भक्ति-भाव पूर्वक संपन्न किये जाते हैं। ब्रज में राधाजी का विशेष महत्व है। राधाष्टमी यहाँ श्रद्धापूर्वक मनाई जाती है। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को सर्वत्र आराध्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भक्ति आन्दोलन के वे मूलाधार रहे हैं। भागवत संप्रदाय मुख्यत: उन्हीं में केन्द्रित है।

कृष्ण तत्व अत्यन्त रहस्यमय है। कृष्ण का इतिहास भी बड़ा गूढ़ रहा है। ऋग्वेद में दो कृष्ण हैं। आंगिरष कृष्ण सोम के लिए अश्विनी कुमारों का आह्वान करते हैं। ऋग्वेद में विष्णु को श्रीकृष्ण का पौत्र कहा गया है। छांदोग्यपनिषद में कृष्ण देवकी पुत्र हैं और आंगिरष के शिष्य भी। बौद्ध ग्रन्थों में भी एक वासुदेव कृष्ण की कथा आयी है। महाभारत में कृष्ण को एक नीति-निपुण एवं पराक्रमी सारथी के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ उन्हें देवत्व भी प्रदान किया गया है। प्राचीन ग्रंथों में यह संकेत है कि वे वृष्णिवंशी थे। उन्हें द्वितीय वासुदेव कहा गया है। हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण, वामन पुराण आदि में दैत्य कंस वध तथा गोवर्धन-धारण के प्रसंग के साथ उन्हें उपेन्द्र कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि समस्त अवतारों में वे प्रतिपक्षियों का सर्वाधिक वध करते हैं। वह भी 'सुदर्शन' (सुदर्शन चक्र) 'चक्र' चलाकर। भागवत पुराण में उनका गोपाल रूप और गोपी-प्रेम चित्रित हुआ है। यहाँ वे लालित्य के देवता हैं। प्रथम शती से राधा जी का उनके साथ उल्लेख निरंतर हो रहा है, जबकि राधा का प्रामाणिक स्वरूप अत्यल्प है। आलवार संतों ने कृष्ण को नारायण रूप में स्थापित किया है। 'गीत गोविन्द' में राधातत्व की पराकाष्ठा है। 14वीं शती में विद्यापति ने कृष्ण को लीला-पुरुष रूप में चित्रित किया है। हिन्दी भक्ति काव्य में कृष्ण लीला नायक हैं। उन्हें वात्सल्य, सख्य, दास्य और दाम्पत्य का आलम्ब बनाया गया है। वे योगिराज रूप में भी पूजे गये हैं। इस प्रकार यह मत स्थापित हो गया कि श्रीकृष्ण परम पुरुष और राधा उनकी प्रकृति स्वरूपा पराशक्ति हैं।

श्रीकृष्ण कहीं मंत्र द्रष्टा ऋषि हैं, तो कहीं राजाधिराज, किन्तु हिन्दी साहित्य में वे महा मानव नायक हैं तथा विष्णु की सोलह कलाओं से परिपूर्ण अवतार। उनकी लीला का विस्तार गोकुल से मथुरा और द्वारका तक है। जरासंध, शिशुपाल से विवश होकर मथुरा छोड़कर उन्होंने सौराष्ट्र में नये राज्य (बेट द्वारका) की स्थापना की। यहीं से उन्होंने महाभारत का सूत्र-संचालन किया। गीता-ज्ञान के कारण उन्हें 'जगतगुरु' कहा गया। वे मुरली धारण करते हैं और गोवर्धन भी। वे चीर-हरण करते हैं तो द्रोपदी की चीर वृद्धि भी करते हैं। वे गोपियों के साथ रास मण्डल में नाचते हैं तो कालिया नाग के शीर्ष पर भी। वे ऐश्वर्य के प्रतीक हैं तो सुदामा के सखा भी। वे गोचारण करते हैं, तो योगमाया द्वारा सृष्टि का संचालन भी। गोचारण शब्द वस्तुत: पशुपालन और गो (पृथ्वी-सृष्टि, इन्द्रिय) के संचालन का तिहरा अर्थ रखता है। 16108 गोपियाँ (जो चित्तवृत्तियों की प्रतीक हैं) उन्हें पति भाव से देखती हैं और कोटि-कोटि भारतवासी 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' कहकर उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। वे कृष्ण अर्थात् कर्षण करने वाले (अन्तस में छिपे रस को खींच लेने वाले) हैं। वे श्याम साँवरे हैं और मोहन भी, अर्थात् वे लालित्य तत्त्व, प्रेम-माधुरी तथा लावण्य के प्रतीक हैं। वे समाज की गोचारणकालीन सभ्यता और ग्रामीण व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। वे नटनागर हैं। अर्थात् समस्त मानवीय लीलाओं और नीतियों के निधान हैं।

यह कृष्ण तत्व लगभग 3000 वर्ष ईसा पूर्व से निरन्तर वर्धमान है। यह विदेशों में 'कृष्ण कल्ट' के नाम से बहु-विख्यात हो गया है। इसकी मिथकीय व्यंजना सचमुच बड़ी गूढ़ और गहन है।

कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उनके अलौकिक-लौकिक, मानवीय और दिव्य कई रूप हैं। लौकिक रूप में वे युग-मानस के सार्वभौम संकल्प के प्रतीक हैं और पूरे युग की सूत्रात्मा हैं। भारतीय संस्कृति में किसी भी युग नायक का व्यक्तित्व इतना बहुमुखी नहीं है। कृष्ण का मानव रूप इतना विकसित है कि ईश्वर से उसका अभेद दिखाई देता है। वे सम्पूर्ण लोक मानस के आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु हैं। दूसरी ओर वे चिन्तक, अनुरागी और युग प्रवर्तक के रूप में पूज्य हैं।

वैदिक साहित्य में कृष्ण का उल्लेख अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में मिलता है, किन्तु महाभारत के वीर एवं राजनीतिज्ञ कृष्ण के व्यक्तित्व से इन प्राचीन संदर्भों का कोई सामंजस्य नहीं दिखाई देता। ऐतरेय और तैत्तिरीय आरण्यक, कौशीतिकी ब्राह्मण में भी कृष्ण का उल्लेख है। बौद्धों के जातक साहित्य तथा जैन पुराणों में कृष्ण चरित्र किंचित् परिवर्तन के साथ पाया जाता है। महाभारत में कृष्ण के माहात्म्य का विस्तार हुआ है। विष्णु पुराण, हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत जैसे पुराणों में कृष्ण चरित्र की सविस्तार चर्चा की गयी है।

ईसा पूर्व लिखित संस्कृत ग्रन्थों में तथा लोकमुख से प्राप्त कृष्ण-भक्ति का विवरण मिलता है। गीत गोविन्द जैसे शताधिक पुराणेतर संस्कृत ग्रन्थों में कृष्ण चरित्र भरा पड़ा है। प्राकृत, अपभ्रंश, विशेषत: आभीरों की सौरसेनी अपभ्रंश की अनेक रचनाओं में कृष्ण की कई कथायें लिखी गयी हैं।

साहित्य के अतिरिक्त शिलालेखों, ताम्र-पत्रों, मुद्राओं एवं मूर्तियों में कृष्ण-कथा के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। मौर्य शासकों ने कृष्ण के कई मंदिर बनवाये। भिटारी के स्तम्भ लेख, घोसुन्डी एवं मथुरा के शिलालेख, सारनाथ, कुरुक्षेत्र एवं बम्बई के संग्रहालयों में कृष्ण-वंश के कई सूत्र पाये जाते हैं। बीकानेर में प्राप्त मिट्टी के खिलौनों, बादामी की वैष्णव गुफाओं, राजस्थान, मध्यप्रदेश, देवगढ़, पूर्वी बंगाल, एलोरा, खजुराहो तथा गुजरात में बने अनेक मंदिरों में कृष्ण-कथा के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। वासुदेव कृष्ण की मूर्तियाँ तथा तत्कालीन स्थापत्य तथा कला के अनेक रूप मथुरा, नागपुर एवं कलकत्ता के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। जैन परम्परा के मंदिरों में भी कृष्ण कथा के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं।

चित्र कला एवं संगीत कला को भी कृष्ण-चरित्र ने प्रभावित किया है। राजपूत और काँगड़ा शैली के चित्रों में कृष्ण लीला को प्रमुख स्थान मिला है। उड़ीसा की गंजापा शैली तथा पहाड़ी चित्र कला की चंबा शैली में कृष्ण-कथा उकेरी गयी है। वाद्य-संगीत सहित कृष्ण-बलराम की स्तुति करने की प्रथा ब्रज में काफी प्रचलित थी। तमिल प्रदेश के आलवर भक्तों ने संगीत और कीर्तन द्वारा कृष्ण कथा को विकसित किया। चैतन्य महाप्रभु ने संगीत (कीर्तन) के माध्यम से कृष्ण भक्ति को अभिनव आयाम दिया। ब्रज के भक्ति तथा शास्त्रीय संगीत में कृष्ण लीला को प्रश्रय मिला है।

विदेशों में कम्बोडिया के अंकोरवाट मन्दिर में कृष्ण-लीला के चित्र उत्कीर्ण किये गये हैं। कम्बुज के लेखों में कृष्ण और उनकी लीलाओं का उल्लेख मिलता है। सूर्यवर्मन द्वारा निर्मित मंदिरों एवं शिलापट्टों पर कृष्ण-कथा अंकित है। कडिरी के प्रथम शासक श्री जयवर्ष दिग्विजय तथा खमेर कलाकारों ने भी इसे प्रोत्साहन दिया है। जावा के काव्य 'कृष्णायन' में और वहाँ मंदिरों में कृष्ण-कथा काफी लोकप्रिय है।

भारतीय धर्म साधना में कृष्ण का विशिष्ट स्थान है। वे यहाँ पूर्ण अवतार माने गये हैं, शेष अंशावतार हैं। कृष्ण पराक्रमी, रूपवान, कर्तव्यपरायण और क्रान्तद्रष्टा जननेता हैं, इसलिए संगीतकारों, दार्शनिकों, कवियों और चित्रकारों ने उन्हें समान रूप से अपनी कला का आलम्बन बनाया है। वे भारतीय जनमानस में विधिवत् घुले-मिले थे, अत: सहज रूप में उनके आराध्य बन गये। कृष्ण की भाँति एक ही व्यक्तित्व में इतने विविध रूपों का दर्शन विश्व इतिहास में दुर्लभ है। वस्तुत: भारतीय लोक मानस कृष्णमय हो गया है।

कृष्ण का जन्म द्वापर के अन्त में, मथुरा में अन्धक गणसंघ में वसुदेव देवकी के पुत्र रूप में हुआ था। गण मुख्य

थे—उग्रसेन। उनके पुत्र कंस ने उन्हें अपदस्थ कर दिया था। कृष्ण ने इसका विरोध किया और कंस का वध करके उग्रसेन को पुन: गणपति बनाया। इससे मगध नरेश जरासन्ध और चेदिराज शिशुपाल आदि उनके शत्रु हो गये। कृष्ण ने द्वारका (सौराष्ट्र) में यादवों के नये राज्य की स्थापना की और नीति-कौशल से सम्पूर्ण उत्तर भारत का नेतृत्व किया। महाभारत युद्ध में कृष्ण की विशेष भूमिका रही है। उन्होंने कौरवों, पांडवों के बीच सन्धि का भी प्रयास किया। युद्ध के बीच कृष्ण ने सारथी रूप में पांडवों की सहायता की। उन्होंने मोहग्रस्त अर्जुन को गीता-ज्ञान दिया, जो दर्शन की उत्कृष्ट कृति है। इस दार्शनिक चिंतन के कारण उन्हें योगेश्वर तथा जगत गुरु कहा गया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म, भक्ति समन्वित भागवत धर्म की प्रेरणा दी। भागवत पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण ने अनेक दुष्टों का वध किया। कृष्ण कथा में उनके जन्म, उनकी योगमाया, उनकी लीलाओं (जैसे-गोचारण, गोप-गोपियों के साथ रासलील आदि) का विस्तृत वर्णन हुआ है। ब्रज क्षेत्र में उनका वर्चस्व सर्वाधिक व्याप्त है।

राधा—ये भगवान के प्राणों की अधिष्ठात्री हैं और उनके वाम अंग से उत्पन्न होने के कारण उनकी प्रियतमा हैं। ऐसी आस्था है कि उत्पन्न होते ही राधा 16 वर्ष की युवती हो गयी थीं। वे श्रीकृष्ण के रत्न सिंहासन के वाम भाग पर आसीन रहती थीं। उनके अंग से लक्ष कोटि गोप-गोपांगनाओं और गो की उत्पत्ति हुयी थी। ऐसी मान्यता है कि गोलोक की राधा सुदामा के शाप से वृन्दावन के वैश्य वंश में उत्पन्न हुयी थी। यह भी कहा जाता है कि एक बार श्रीकृष्ण को वन में भ्रमण करने की इच्छा हुयी तो उनके अंग से ही राधा का प्राकट्य हुआ। ब्रज में ये किशोरी जी, कीर्तिकुमारी, लाडली, वृषभानुसुता आदि नामों से अभिहित की जाती हैं। यहाँ राधाकृष्ण का युग्म सर्वपूज्य है।

राधा जी का नाम सर्वप्रथम गोपाल तापिनी उपनिषद् में आया है। विष्णु स्वामी और निम्बार्क के द्वारा उनकी आराधना का विस्तृत विधान किया गया। विष्णु स्वामी के अनुसार राधा कृष्ण की पत्नी हैं, जबकि निम्बार्क मतावलम्बी भक्त जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' के अनुसार उन्हें कृष्ण की प्रेयसी मानते हैं।

बलराम—विष्णु का एक रूप है—संकर्षण, जिन्हें बलराम भी कहा जाता है। ये शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। जगन्नाथ मन्दिर में इन्हें श्रीकृष्ण एवं सुभद्रा के साथ प्रतिष्ठित किया गया है।

श्री सत्य नारायण—ब्रज क्षेत्र में सत्यनारायण व्रत कथा अरसे से प्रचलित है। कलियुग में यह पूजा बहुत शुभ मानी गयी है। स्कन्द पुराण के रेवाखण्ड से ली गयी यह कथा यहाँ जनजीवन में बहुप्रचलित है। पाँच अध्यायों में विभक्त इस कथा का श्रवण करके लोग पंचामृत और पंजीरी (प्रसाद) ग्रहण करते हैं। यह विष्णु की उपासना का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है।

रुक्मिणी—ये श्रीकृष्ण की पटरानी और विदर्भ राज भीष्मक की कन्या थी। श्रीकृष्ण ने सहमतिपूर्वक इनका अपहरण किया था। उनका जरासन्ध और शिशुपाल से युद्ध हुआ था। द्वारकापुरी में रुक्मिणी के दस पुत्र हुये जिनमें ज्येष्ठ थे-प्रद्युम्न।

कृष्ण भक्ति धारा में मधुरोपासना के अन्तर्गत प्रचलित रसोपासना एवं रास लीला

श्रीकृष्ण भक्ति धारा में रास लीला का निरूपण करने वाले रसिक जन निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, गौडीय संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय तथा राधा वल्लभ संप्रदाय से संबद्ध हैं। यह रास परम्परा श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी प्रकरण से प्रेरित है। इन रासलीलाओं में कृष्ण को रस रूप में और श्री राधा को शक्ति रूप में स्थापित किया गया है। इनके अतिरिक्त इसमें सखी तत्त्व, धामतत्व, लीलातत्व आदि की भी मान्यता है। इन भक्तों ने कृष्ण को 'रसो वै स:' रूप में अपनाकर सम्पूर्ण परिकर को सच्चिदानन्दमय, त्रिगुणातीत, दिव्यरस पुंज के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस महारास के समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है। इसका विस्तृत विवरण आचार्य रूप गोस्वामी के 'उज्ज्वल नील मणि' में द्रष्टव्य है। रास से प्रीति का महाभाव उत्पन्न होता है। तन्मयता के कारण द्वेष समाप्त हो जाता है और तब रास रस रूप परमानन्द की प्राप्ति होती है।

कृष्णभक्ति धारा की रासलीला 'लघु भागवतामृत' के कृष्णामृतखंड तथा 'श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह' के तृतीय खण्ड से विशेषत: प्रेरित रही है। इनकी लीला भूमि है—गोलोक-वृन्दावन। इसे प्रकट रूप में प्रपंच गोचर तथा सगुणोपासना

कहा जाता है। इसे सात्विकी, अतात्विकी, नित्या एवं चैतन्य रूपा कहा गया है। बाललीला, ब्याहलीला, वनलीला, रणलीला और रासलीला जैसे इसके छद भेद हैं। इसके अतिरिक्त माधुर्यलीला को ऐश्वर्य मिश्रित माधुर्य और शुद्ध माधुर्य रूप में विभाजित किया गया है। इसमें अष्टयाम लीला का भी समावेश किया गया है। कृष्ण भक्ति में रासेश्वर श्रीकृष्ण जी राधा, उनकी सखियों एवं गोपियों के संग विहार करते हैं। यहाँ वे अंशावतार नहीं, बल्कि तदेवात्मक रूप हैं। रासलीला में रासेश्वरी राधा हैं। उन्हें अद्वैत रूपा, अंतरंगभूता, आह्लादिनी शक्ति, परा, चिन्मयी, नित्य कृष्ण प्राण वल्लभा, मूल प्रकृति आदि कहा गया है। रासलीला में गोलोक स्थित सभी सखियाँ, गोपियाँ और श्रुतियाँ भू-वृन्दावन में अवतरित होती हैं। गोपियों को पूर्व जन्म के ऋषियों की श्रेणी में गिना जाता है। इनमें श्रुतिचरी, ऋषिचरी, गोप कन्याएँ और देवकन्याएँ गण्यमान हैं।

रासलीला में धाम तत्व का बड़ा महत्व है। राधाकृष्ण युगल की नित्य रासलीला स्थली है गोलोक वृन्दावन। यह लीला वृन्दावन में यमुना तट पर कदम्ब के समीप सम्पन्न होती है। वृन्दावन में अनेक वनों और कुन्जों का उल्लेख प्राप्त होता है। रासलीला में वनविहार, जलविहार, रतोत्सव, संगीत, नृत्य, हिण्डोल एवं अभिनय का आयोजन होता है। इसमें अनुकरणात्मक एवं प्रदर्शनात्मक रूप को प्रश्रय दिया जाता है।

सेवाभावना—वैष्णव मत में इसे उच्च साधना कहा गया है। वैष्णव शिक्षा के चार भेद हैं—(1) ज्ञानपाद (दर्शन), (2) योगपाद (अभ्यास), (3) क्रियापाद (लोकोपकार), (4) चर्यापाद (धर्माचरण)। क्रियापाद और चर्यापाद में सेवाभाव का समावेश है। इसे पुष्टि मार्ग भी कहा जाता है और कर्मकाण्ड भी। सेवा के क्षेत्र हैं—गुरु, सन्त और प्रभु। गुरु और सन्त साधन हैं। प्रभु सेवाभाव के साध्य हैं। सेवा द्वारा भगवान के स्वरूप (क्रियात्मक, भावात्मक) की सेवा अपने शरीर और संपदा (साधन) के द्वारा की जाती है। भावात्मक सेवा में आत्मसमर्पण का विधान है। मर्यादा सेवा के अन्तर्गत भजन, पूजन, कथा श्रवण द्वारा सायुज्य की कामना की जाती है। पुष्टि सेवा में सम्पूर्ण समर्पण कर दिया जाता है। सेवा करते हुये जो त्रुटियाँ हो जाती हैं, उन्हें सेवापराध कहते हैं। ऐसे अपराधों की संख्या 32 बतायी गयी है। इसमें तन-मन की पवित्रता पर बहुत जोर दिया गया है।

प्रपत्ति—इसका तात्पर्य है निष्क्रिय किन्तु पूर्ण आत्मसमर्पण। इसके दो रूप हैं—एक मर्कटी भक्ति दूसरी मार्जारी भक्ति। इन भक्तों को शरणागत या प्रपन्न कहा जाता है। इसका प्रवर्तन रामानुजीय वैष्णव शाखा द्वारा हुआ था। बाद में यह पूरे उत्तर भारत में बहु प्रचलित हो गयी।

रामोपासना—ब्रज क्षेत्र में दो प्रकार की रामभक्ति प्रचलित है—एक श्रीराम की दास्य भक्ति और दूसरी रसिकोपासना। यहाँ मधुरोपासना का अपना विशिष्ट महत्व है। भक्तजन यहाँ अपना स्त्रीलिंग नाम धारण कर लेते हैं, वैसी ही आकृति बना लेते हैं और सख्य तथा दांपत्य भाव से श्रीराम-जानकी की उपासना करते हैं। इसे गोपांगना भाव भी कहा गया है। श्रीराम रसिक विहारी तथा सीता जी रसिक विहारिणी हैं।

श्रीराम की उपासना प्राय: नवधा भक्ति पद्धति से की जाती है। दशहरा, रामनवमी, रामसीता विवाह, सीताष्टमी आदि पर्वों पर रामोपासना के कई रूप दिखाई देते हैं।

राम संप्रदाय देश-देशान्तर में व्याप्त है। इनकी उपासना ईसा पूर्व से प्रचलित है। भारत में 11वीं शताब्दी के राम मन्दिरों में रामोपासना के सूत्र संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसा माना जाता है कि मध्वाचार्य जी बदरिका आश्रम से राम की मूर्ति लेकर आये थे। स्वामी रामानन्द ने 14वीं शताब्दी में रामावत संप्रदाय स्थापित किया। भक्तों ने उसे थोड़ा बदलकर खाकी सम्प्रदाय प्रचलित किया। इसमें राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप तथा रामराज्य की अवधारणा को भी महत्व दिया गया है। राम पंचायतन में उनके चारों भाइयों की, सीता जी की और हनुमान की प्रतिष्ठा की जाती है। मन्दिरों में इस किशोर छवि को रामलला, लखनलाल और सीता जी को किशोरी जी, यहाँ तक कि हनुमान जी को भी महावीर न कहकर, 'हनुमानलला' कहा जाता है। सभी भाइयों की इस पूजा को भायप भगति (भ्रातृ भक्ति) कहा जाता है। यहाँ हनुमान जी के मन्दिर गाँव-गाँव में हैं।

सीता जी आदि शक्ति हैं। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। इन सबसे जुड़ा बीज मन्त्र 'राम' नाम एक तारक मन्त्र है। रामावत सम्प्रदाय की पूजा पद्धति में सीताराम की युगल मूर्ति पूजी जाती है। श्रीराम श्यामल वर्ण के हैं। उनकी चतुर्भुजी मूर्ति दर्पयुक्त मुद्रा में पीताम्बर, जटाजूट, कर्ण कुण्डल, धनुष बाण, वन माला आदि धारण किये दिखती है। सीता जी की मूर्ति कंचनवर्णी है और द्विभुजी है। यहाँ रामनवमी के साथ ही फाल्गुन की अष्टमी को सीता जी का व्रत एवं पूजन विधि-विधानपूर्वक किया जाता है।

ब्रज की रामोपासना नवधा भक्ति और षोडशोपचार के अनुसार होती है। ब्रज में विष्णु के अवतार के रूप में रामोपासना तथा शिव के रूप में एकादश रुद्र हनुमान की उपासना दीर्घकाल से प्रचलित है। दशहरा, दीवाली के बीच होने वाली राम लीलाएँ और राम नवमी की व्रत पूजा इस रामोपासना की लोकप्रियता की साक्षी हैं।

शिवोपासना—ब्रज क्षेत्र में शैव मत भी काफी लोक प्रचलित है। शैवमत के अनुसार शिव ही परमात्मा हैं। वे त्रिमूर्ति में तीसरे हैं, जिनका कार्य है संहार करना। यह संहार बोध ही जीवन और जगत को नियंत्रित करता है, इसलिये शिव, शम्भु और शंकर का अर्थ हो गया है, मंगलकारक। शिव का एक रूप है रुद्र, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में झंझावात के रूप में हुआ है। वहीं रुद्र सृष्टि को जल देता है और फिर सौम्य रूप धारण कर लेता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में शिव के कई रूप चित्रित हुए हैं, जैसे-पशुपति, महेश्वर, नटराज, भोले भण्डारी आदि। इनके कई उप-सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, जैसे—वीर शैव, लिंगायत संप्रदाय, नाथ संप्रदाय, पाशुपत संप्रदाय, दक्षिणी शैवागम, कश्मीरी शैव दर्शन आदि। आगमिक शैवों के अनुसार जीव पशु है, जो कई पाशों (जन्म-मृत्यु के बन्धनों) से बँधा हुआ है। वह पशुपति के शक्तिपात से ही मुक्त हो सकता है। कश्मीरी शैव मत अद्वैत वेदान्त से काफी मिलता-जुलता हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि अद्वैतवाद में ज्ञान की प्रधानता है और कश्मीरी शैव मत में ज्ञान तथा भक्ति दोनों की। शिव विभिन्न कलाओं तथा विद्याओं के प्रवर्तक हैं, यथा संगीत, नृत्य, योग, व्याकरण, व्याख्यान, चिकित्सा आदि। वे सभी जीवों के स्वामी अर्थात् भूतनाथ हैं। वे सभी देवों में श्रेष्ठ महादेव हैं। ऋग्वेद से लेकर अनेक पुराणों तक में उनकी महिमा वर्णित हुई है। वे कैलाशवासी हैं। वे पशुचर्म धारण करते हैं। वे जटाजूट धारी कपर्दी हैं। उत्तर वैदिक साहित्य में उन्हें रुद्र कहा गया है। उनका एक घोर रूप है और सौम्य रूप भी। उनकी उपासना का स्वरूप सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर क्रमश: विकसित होता रहा है। वे त्रिशूलधारी हैं। उनके ललाट पर चन्द्रमा है। जटाओं में गंगा है। उनका तीसरा नेत्र ज्ञान एवं संहार का प्रतीक है। विषपान के कारण वे नीलकंठ हो गये हैं। वे अपने कंठ तथा भुजाओं पर सर्प लपेटे रहते हैं। वे सम्पूर्ण शरीर में भस्म रमाये रहते हैं। उनके वाम भाग में पार्वती जी विराजती हैं, इसलिए वे अर्द्धनारीश्वर हैं। उनके सामने उनका वाहन नन्दी और चारों ओर उनके गण रहते हैं। भारत में उनके बारह रूप पूजे जाते हैं, जिन्हें द्वादश ज्योतिर्लिंग कहा जाता है। शिव मूर्त-अमूर्त, दोनों रूपों में विद्यमान हैं। उनके प्रतीक को लिंग कहा जाता है। शिव का एक भयंकर रूप है। वे श्मशान में निवास करते हैं, मुण्ड माला धारण करते हैं और भूत-प्रेत से घिरे रहते हैं। प्रलयंकर होने के कारण उन्हें महाकाल कहा जाता है।

ब्रज क्षेत्र में शिव और विष्णु को एकीकृत करके हरिहर उपासना का विधान किया गया है। यहाँ वे लोक देवता भी हैं। ब्रज के गाँव-गाँव में ऐसे मन्दिर या चबूतरे स्थापित हैं, जहाँ सहजत: कंकर में शंकर की प्रतिष्ठा की गयी है। उग्र रूप में नहीं, बल्कि आशुतोष भोले बाबा और औढरदानी के रूप में। यहाँ शिवजी सर्वसामान्य द्वारा पूजे जाते हैं। पार्वती जी अन्नपूर्णा हैं। ऐसी आस्था है कि गौरा महादेव निरन्तर अपने भक्तों के कष्ट निवारण हेतु धरती पर विचरण करते रहते हैं। यहाँ सावन के हर सोमवार को शिव मन्दिरों में विशेष पूजा-अर्चना की जाती है। शिव चतुर्दशी, शिवरात्रि, आषाढ़ी पूर्णिमा और कार्तिक मास में उनकी पूजा का विशेष महत्व है। लोग गंगाजल, अक्षत, कमल, चन्दन आदि नैवेद्य अर्पित करके तथा शिव पुराण, रुद्र संहिता, रुद्राष्टक आदि का पारायण करके अनेक प्रकार से भक्ति भाव अर्पित करते हैं। यहाँ रुद्राभिषेक का बड़ा प्रचलन है। शिव-अर्चना की यह परम्परा बहुत पुरानी है। सावन में यहाँ सोमनाथ की पूजा, होम, अगियार आदि अर्पित करने का विधान है। ब्रज क्षेत्र में शिवरात्रि का आयोजन कहीं शिव-पार्वती के विवाह के रूप में होता है, कहीं यह

ज्योतिर्लिंग का प्राकट्य दिवस माना जाता है और कहीं यह माना जाता है कि इस दिन शिव जी ने विषपान किया था। उनके विष शमन हेतु देवताओं ने रात्रि जागरण किया था। भक्त जन इसलिए शिवलिंग का गंगा जल, दुग्ध, घी, दही, शर्करा, गन्ध आदि से अभिषेक करते हैं। गरुड पुराण और अग्नि पुराण में इसका बड़ा माहात्म्य बताया गया है। भक्त 'बम भोले' की जय-जयकार करता है। शंख और शृंगी बजाता है। मुँह से बकरे की आवाज निकालता है, बम भोले की रसोई रचाता है, मस्तक पर भस्म और गले में रुद्राक्ष माला धारण करता है। शिवजी आर्यों-अनार्यों, दोनों के पूज्य रहे हैं। अब शैव वैष्णवों का भेद समाप्त प्राय है, इसलिए यहाँ शिवोपासना वैष्णवी नवधा पद्धति के अनुरूप की जाती है। श्मशान का देवता मानकर कहीं-कहीं शिवलिंग को घर के भीतर नहीं प्रतिष्ठित किया जाता, किन्तु यहाँ उन्हें घर और बाहर सर्वत्र पूजते हैं। कुछ शिव मन्दिरों में प्रसाद रूप में केवल भस्म का चलन है, जबकि यहाँ सभी तरह के भोग (नैवेद्य) का विधान है। आम आदमी एक लोटा जल अर्पित करके पूजन का मन: तोष कर लेता है।

ब्रज में शैवमत का काफी प्रचार है। शिवलिंग सत्ता का प्रतीक है। इसे ज्योतिर्लिंग माना जाता है। लिंगायत सम्प्रदाय में इसे सर्वाधिक महत्व दिया है। यह वीर शैवों का बहुत प्राचीन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के कई मठ स्थान-स्थान पर स्थापित हुए हैं। इसमें शिव को ही सर्वेश्वर माना जाता है। दक्षिण में इसका बड़ा प्रचार है। लिंग पुराण में शिवलिंग की सूक्ष्म विवेचना की गयी है। पुराविदों का मत है कि लिंग पूजा ईसा के पूर्व पूरे विश्व में प्रचलित थी। मिस्र, यूनान, मक्का (अरब) आदि देशों में उसके अवशेष अभी विद्यमान हैं। ब्रज के शिव मन्दिरों में शिवलिंग की पूजा लोकप्रिय है। वे यहाँ जन-जन के देवता हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र सर्वथा धर्मप्राण क्षेत्र है। यहाँ का आम नागरिक आस्तिक है, बहुदेवतावादी है और पंचदेवोपासना (अर्थात् विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश की पूजा) से जुड़ा है। उसके समक्ष एक मिला-जुला षोडशोपचार है। वह दैन्य भाव से प्रभु के प्रति दास्य भक्ति रखता है। सभी देवी-देवताओं के लिए यहाँ अलग-अलग तिथियाँ निर्धारित कर दी गयी हैं। कहीं किसी से टकराव नहीं है। सर्व सामान्य जन दार्शनिक जटिलताओं में न उलझकर विभिन्न शास्त्रों और पुराणों के प्रति आस्था रखते हुए, साथ ही परम्परागत लोकाचार का निर्वाह करते हुए चलते हैं। वे देवी की पूजा करते हैं पर शाक्त नहीं हैं। शिवजी को पूजते हैं, पर कट्टर शैव नहीं कहे जा सकते। उन्होंने सबका वैष्णवीकरण कर लिया है। सुविधानुसार अपने कुछ प्रतीक बना लिए हैं, जैसे बकरे की बलि देने के बजाय कान छूकर उसको दान दे देना। आराध्य के प्रति ये आत्मीय सम्बन्ध महसूस करते हैं। गौरा महादेव इनके हर दुख-सुख में शामिल होते हैं। विष्णु के अवतार रामलला और कुँवर कन्हैया इनकी साँसों में बसे हैं। यहाँ तैंतीस कोटि देवताओं का निवास है। ये सबको पूजा भेंट अर्पित करते हैं। गौतम बुद्ध, गुरु नानक, सन्त कबीर, नागा, पीर-फकीर, सूफी, अघोरी सबके प्रति ये श्रद्धालु दिखाई देते हैं। यहाँ पंडा, पुरोहित, गुरु, ब्राह्मण, कन्या और सुहागिनों का यथोचित सम्मान किया जाता है। धर्मग्रन्थों को लेकर ये तर्क नहीं करते। वस्तुत: गहरी आस्था से ओतप्रोत है यह क्षेत्र।

शक्ति पूजा—ब्रज क्षेत्र में शक्ति के तीन रूप दिखाई देते हैं। प्रथम शास्त्रीय स्वरूप, जिसका विवरण दुर्गा सप्तशती, देवी भागवत जैसे ग्रन्थों में प्राप्य है। इनके आधार पर यहाँ नौ दुर्गाओं की प्रतिष्ठा की जाती है। शारदीय नवरात्र, बासन्ती नवरात्र में विशेष रूप से उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। कुछ लोग पूरे आठ दिन व्रत रहकर दुर्गा सप्तशती का पाठ करके तथा अन्तिम दिन यज्ञ करके यह अनुष्ठान पूरा करते हैं और कुछ लोग पहले तथा अन्तिम दिन व्रत रखते हैं। पहले दिन कलश स्थापित होता है, इसलिए इसको स्थापना कहा जाता है। नवरात्र व्रत रहते हुए दृढ़ संकल्प वाले लोग न क्षौर कर्म करते हैं न पदत्राण धारण करते हैं और न धोबी के धुले कपड़े पहनते हैं। वे देवी के सम्मुख अखण्ड ज्योति जलाकर साधना करते रहते हैं। पूरे नवरात्र में बंगीय समाज द्वारा स्थापित मण्डपों में महिषासुर मर्दिनी, दुर्गा, काली, चामुण्डा आदि की भव्य मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। अन्तिम दिन उनका विसर्जन धूमधाम से होता है। इस अवसर पर अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। इनमें एक विशिष्ट रूप है महाकाली का। शाक्त मत के अनुसार जो दस महादेवियाँ हैं, उनमें

सर्वप्रथम हैं महाकाली। इनके स्वामी हैं महाकाल। रुद्र कालिकापुराण में इनका विस्तृत वर्णन है। इन्हें श्यामा भी कहा जाता है। ये शिव की शक्ति हैं। देवी भागवत और शिवपुराण में इनका विस्तृत वृत्तान्त है। यह कथा आयी है कि राक्षसों, विशेषत: महिषासुर का वध करने के बाद देवी इतनी क्रुद्ध हो गयी कि उनकी संहार शक्ति बहुत देर तक रुकी ही नहीं, जिससे त्रिभुवन भयभीत हो उठा। अन्त में शिव ने उनके पैरों तले अपना शरीर डाल दिया। तब उन्हें प्रबोध हुआ और वे शान्त हुईं। हमारे शास्त्रों में दस दिशाएँ हैं। सबके अलग-अलग देवता हैं। इनमें तीन देवी रूप हैं—लिंग, योनि, नाम। महालक्ष्मी, महासरस्वती और महादुर्गा इन्हीं के रूप हैं। वे मुण्डमाल धारण करती हैं, मद तथा रक्तपान करके शत्रु संहार करती हैं। उनका चिन्तन करना स्वयं में महाभाव है। इस पूजन में विशेष प्रकार का नैवेद्य अर्पित किया जाता है। उसे महाप्रसाद कहते हैं। प्रतीक रूप में लोग नारियल फोड़ते हैं। नवरात्र में देवी पूजा की बड़ी धूम रहती है।

दूसरी कोटि है अर्द्धशास्त्रीय देवियों की। यहाँ के जनमन में यह आस्था विद्यमान है कि दीवाली पर लक्ष्मी जी घर-घर जाती हैं। संकष्ट चतुर्थी को सकट माता पधारती हैं। बसन्त पंचमी पर सरस्वती जी आती हैं। कजरी तीज पर पार्वती जी दर्शन देती हैं और महादेव के साथ वे हर गरीब की गुहार सुनकर उसका उद्धार करती हैं। लोकगीतों में कहा गया है कि प्रत्येक मांगलिक अवसर पर संझा गोसांइनि एक सप्ताह पूर्व आ जाती हैं। आयोजनोपरान्त लोग गंगा/यमुना की पूजा करने जाते हैं। लोग हर आयोजन में भुइयाँ माता की पूजा करते हैं और समय-समय पर अवसान देवी, संकटा देवी, सांझी, वैष्णव माता, संतोषी माता, तुरन्तषी माता, तुरन्ता देवी भुइँ (ग्राम देवी) आदि के नाम व्रत रखते हैं। प्रसाद रूप में पेड़ा, लाई, चना आदि बाँटते हैं और उनकी कथा सुनते हैं। भक्त जन शीतला, शारदा आदि अनेक देवियों की आराधना करते रहते हैं। यह शक्ति पूजा लोक एवं शास्त्र का मिला-जुला रूप है।

तीसरी कोटि है लोक देवियों की। ब्रज की पिछड़ी जातियों में जब-तब किसी न किसी के ऊपर भवानी जी आती हैं। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये मद्य और बलि की व्यवस्था की जाती है। इनकी चौकियाँ और उपासना पद्धतियाँ भी कुछ अलग तरह की होती हैं। यहाँ कभी-कभी मरु देवी, डाकिनी, कंकाली-शंखिनी आदि की पूजा की जाती है, किन्तु अब इन लोक देवियों की उपासना क्रमश: कम होती जा रही है।

ब्रज में देवी के अनेक प्रसिद्ध मंदिर हैं। वहाँ चूनरी, नारियल, पुष्प, नैवेद्य, द्रव्य आदि अर्पित करने के लिए भक्तों की भारी भीड़ समय-समय पर समवेत होती है।

सूर्योपासना—सूर्य देव को देवताओं का मुख कहा जाता है। ये प्रकाश के देवता हैं, साथ ही, स्वास्थ्य, श्री और सुख के भी। प्राचीन साहित्य में इन्हें सजीव रूप में चित्रित किया है। सूर्य देवता सात घोड़ों के रथ पर आसीन होकर नित्य अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं। वे अग्नि तत्व हैं। वे ही तमस यानि राक्षस वृत्ति का विनाश करते हैं। वे विश्वकर्ता हैं। ऋग्वेद में उन्हें स्थावर और जंगम दोनों की आत्मा घोषित किया गया है। पुराणों में इनको लेकर अनेक कथाएँ आयी हैं। इनकी चार पत्नियाँ हैं—संज्ञा, राज्ञी, प्रभा और छाया। इन्हीं से मुनि, यम, यमुना, प्रभात, शनि आदि का जन्म हुआ है। सूर्योपासना इस देश में प्राचीनकाल से प्रचलित है। भारत में कई जगह सूर्य मन्दिर मिलते हैं, जिनमें मथुरा का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में पंचदेवों में सूर्यदेव की आराधना की जाती है। मुख्यत: गायत्री मन्त्र द्वारा इन्हें सर्वत्र भक्ति भाव अर्पित किया जाता है। इन दिनों यहाँ सूर्य पूजा का प्रमुख छठ पर्व मनाया जाता है।

हनुमदुपासना—ब्रज में हनुमान जी के मन्दिर भी स्थापित हैं। यहाँ हनुमान जी को बल-विक्रम का देवता माना गया है, साथ ही रुद्रावतार और श्रीराम का पार्षद भी। शिव और विष्णु परस्पर उपास्य और उपासक हैं। रामावतार के समय शिव जी ने उनकी सहायता के लिए यह वानर रूप धारण किया था। हनुमान ने सुग्रीव से मैत्री करायी, समुद्र को लाँघकर सीता की खोज की, लंका दहन किया, संजीवनी लाकर लक्ष्मण के प्राण बचाये और कई राक्षसों का वध किया। ऐसी आस्था है कि आज भी वे सशरीर पृथ्वी पर विद्यमान हैं। हनुमान जी का जन्म त्रेता युग में अंजना और केशरी के पुत्र रूप में हुआ था। हनुमान जी अपने भक्तों की रक्षा के लिए सदा समुद्यत रहते हैं। ब्रज क्षेत्र में उनकी पूजा मंगलवार और शनिवार को विशेष

रूप से होती है। उनकी प्रतिमा को सिन्दूर से रँगा जाता है। नैवेद्य रूप में गुड़, चना या लड्डू का भोग लगाया जाता है। उनकी स्तुति करते हुए हनुमान चालीसा का पाठ किया जाता है।

इनके अतिरिक्त यहाँ यमुना, गोवंश, गोवर्धन, गुरु, विप्र, कन्या, पूज्यवृक्ष, अपदेवता, नवग्रह, यक्ष, किन्नर, नाग, गंधर्व, विद्याधर आदि की उपासना भी की जाती है, जिससे यहाँ की धर्मप्राणता स्वत: सिद्ध है।

अन्य उपास्य—गणेश-ये पार्वती के पुत्र और प्रथम पूज्य देवता हैं। इन्हें चतुर्भुज, एकदन्त, मूषकवाहन, मोदकप्रिय और विघ्ननाशक माना जाता है। गणेश चतुर्दशी पर इनकी विशेष पूजा की जाती है।

कार्तिकेय—ये शिवजी के पुत्र और देवों के सेनापति हैं। इन्होंने तारकासुर का वध किया था। इनकी उपासना यहाँ स्कन्द रूप में की जाती है।

बालाजी—यह बालकृष्ण का प्रसिद्ध नाम है। वैष्णव जन इनकी पूजा धन-धान्य प्राप्ति हेतु करते हैं। भगवान वेंकटेश्वर को तिरुपति बालाजी कहा गया है। मेंहदी (निकट जयपुर) के मंदिर में बालाजी के नाम से हनुमान जी की उपासना होती है। इसे सिद्ध क्षेत्र माना जाता है।

गो पूजा—ब्रज लोक को विष्णु का गोलोक कहा गया है। विष्णु को सूर्य का रूप माना जाता है। सूर्य की किरणों को अनेक सींगों वाली गाय के रूप में चित्रित किया गया है। इस लोक को सभी स्वर्गों के ऊपर माना जाता है। निम्बार्क के मतानुसार गोलोक में ही राधाकृष्ण नित्य प्रेमलीला करते हैं। राधा जी यहीं वृन्दावन में अवतरित हुयी थीं और यहीं श्रीकृष्ण से विवाह हुआ था। निम्बार्क के मतानुसार श्रीकृष्ण मात्र विष्णु के अवतार नहीं हैं, बल्कि अनन्त ब्रह्म हैं। राधा, गोप-बाल और गोपिकाएँ उन्हीं से उत्पन्न होकर गोलोक में उनके साथ लीला करते हैं। ब्रह्म वैवर्त पुराण, पदम पुराण, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में गोलोक का माहात्म्य सविस्तार वर्णित हुआ है।

सती पूजा—सती जी अपने पति शिव जी की मान रक्षा हेतु दक्ष के यज्ञ कुण्ड में भस्मीभूत हो गयी थीं, इसलिये सतीत्व भारतीय नारियों का आदर्श बन गया। प्राचीन ग्रन्थों में कुछ सतियों के विवरण मिलते हैं। इस प्रथा को लेकर धर्मशास्त्रों में मतभेद रहा है, अत: मुगलों ने इसे बन्द कराने का किंचित् प्रयास किया, किन्तु अन्तत: सफलता प्राप्त की लार्ड वेंटिक ने। उसने 1829 ई. में इस पर रोक लगाई। ब्रज क्षेत्र में सतियों के कुछ चौरे पाये जाते हैं, जहाँ भक्तगण उनकी पूजा करते हैं।

उपासना पद्धतियाँ—ब्रज क्षेत्र में गायत्री मंत्र-जाप का बड़ा प्रचलन है। मथुरा में श्रीराम शर्मा ने गायत्री तपोभूमि (संस्थान) चलाया और वेदमाता गायत्री के महत्व से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य प्रकाशित किया। यहाँ यज्ञ को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। पंचमहायज्ञ यहाँ लोकप्रिय हैं। व्रत-उपवास भी ब्रज भूमि में निरन्तर चलते रहते हैं। यहाँ जन-जन में स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, परलोक-प्रारब्ध, पुनर्जन्म, स्पृश्यास्पृश्य, दान, श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदान, बलि, स्वाध्याय, अहिंसा, जप-तप, भजन, ज्ञान-ध्यान, योग-कर्म, तीर्थ-स्नान, अतिथि सेवा आदि से सम्बन्धित चिंतन और भरसक आचरण देखा जा सकता है। राधा और कृष्ण का नाम-स्मरण साँस-साँस में होता रहता है। लोग अभिवादन करते हुये भी 'राधे-राधे' करते रहते हैं। वे अपनी प्राय: हर प्रतिक्रिया राधे-राधे सम्बोधन द्वारा व्यक्त करते हैं।

बौद्धों की धर्मचर्या भी यहाँ द्रष्टव्य है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध देव को विष्णु का दसवाँ अवतार माना जाता है। इनका जन्म शाक्यवंशी राजा शुद्धोधन के पुत्र रूप में कोहना (कपिलवस्तु) में हुआ था। इन्होंने संसार के दु:खों का निवारण करने के लिये पत्नी, पुत्र और राज्य का परित्याग करके वन में जाकर कठोर साधना की और बोधितत्व की प्राप्ति की। इनके द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म देश-देशान्तर में प्रचलित हुआ। 48 वर्षों तक बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए 80 वर्ष की अवस्था में कुशीनगर में इन्होंने शरीर त्याग दिया। यहाँ के बौद्ध मंदिरों में इनके विभिन्न रूपों का पूजन होता रहता है।

सिक्ख धर्म—भी यहाँ प्रचलित है। गुरु नानक देव के भक्त गुरुद्वारों में सबद-कीर्तन और पूजन आदि करते रहते हैं। नानक देव का स्थितिकाल है—1469-1538 ई.। उन्होंने लोक भाषा (ब्रज) में हिन्दुत्व और इस्लाम के मध्य भाव साम्य का प्रचार किया। नैतिक पक्ष पर इन्होंने बहुत जोर दिया और गृहस्थ जीवन, अद्वैत वेदान्त, गुरु महिमा आदि की प्रेरणा प्रदान

दी। उनके मत को नानक पंथ कहा गया, जिसका सिक्खों पर काफी प्रभाव पड़ा। नानक देव की जन्मस्थली तलवंडी सिक्खों की तीर्थस्थली है। सिक्खों के कई संप्रदाय हैं, जैसे—सहिजधारी, सिंह, खालसा, निर्मल, अकाली। इनमें निर्मल पंथ काफी विकसित है। ब्रज क्षेत्र में अनेक गुरुद्वारे हैं।

सनातनी कर्मकाण्ड एवं संध्योपासना—इन भक्तों में त्रिकाल संध्योपासना का विधान किया गया है। इनमें त्रिमूर्ति का समावेश है। इसके तीन नाम—गायत्री, सावित्री और सरस्वती प्रचलित हैं। सूर्योदय-सूर्यास्त के समय सन्ध्योपासना करना महत्वपूर्ण माना जाता है। मुसलमानों में पंचवख्ता नमाज का प्रचलन है। बौद्धों में विपश्यना है। जैनियों की साधना बड़ी दुस्साध्य है। सिक्खों में कारसेवा प्रचलित है। ब्रज में अष्टयाम सेवा को सर्वोपरि माना गया है।

गायत्री—मंत्र-जाप, तप, योग भी धर्मचर्या के अंग हैं। ब्रज क्षेत्र में यह बहुप्रचलित है। ऋग्वेद में गायत्री को एक छन्द माना गया है, जो सूर्यदेव से सम्बन्धित है। गायत्री का अर्थ है—गाने वालों की रक्षा करने वाली। जो सविता देव के प्रकाश को धारण करता है, उनकी बुद्धि को सूर्यदेव प्रेरित करते हैं। गायत्री को सावित्री भी कहा जाता है। गायत्री की दीक्षा उपनयन के समय दी जाती है। सन्ध्योपासना में इस मंत्र का जप अनिवार्य माना गया है। पद्म पुराण में गायत्री को ब्रह्मा की पत्नी कहा गया है। इस मंत्र को वेदमाता भी कहा जाता है। मथुरा में गायत्री को परम आराध्या देवी के रूप में स्थापित करके श्रीराम शर्मा जी ने एक बहुत बड़े संस्थान की स्थापना की है जो 'युग निर्माण' की दिशा में सक्रिय है।

तन्त्र-साधना—यह शिव प्रणीत पद्धति है। इनके तीन भाग हैं—आगम, यामल, मुख्य तन्त्र। इसमें देव-पूजा, पुरश्चरण, ध्यानयोग, मन्त्र जाप और गुप्त ज्ञान का विधान है। इसके लक्ष्य हैं—मारण, सम्मोहन, स्तंभन, उच्चाटन, वशीकरण आदि। शाक्तों में इसका प्रचार अधिक दिखायी देता है। अथर्ववेद में मंत्र शक्ति का विशेष उल्लेख हुआ है। इसके कई प्रकार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार एवं कौलाचार। वामाचार में पंचमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन) की मान्यता है। बौद्धतंत्र एवं जैन संप्रदाय में अहिंसात्मक तन्त्र साधना को महत्त्व दिया गया है। ब्रज क्षेत्र में यत्र-तत्र हठयोगी, अघोरपंथी, कापालिक आदि दिख जाते हैं। यों भक्ति में इसका निषेध है।

धार्मिक प्रतीक—ब्रज क्षेत्र के विभिन्न संप्रदायों के अपने-अपने कुछ विशिष्ट प्रतीक हैं, जैसे हिन्दू संप्रदाय में ओम्, पताका, शंख, मोरपंख, बाँसुरी, चक्र, त्रिशूल, मुकुट, पादुका, धनुष, स्वस्तिक, सूर्य, चन्द्र, कलश, गौ, दीपक, तिलक, डमरू, माला, सिंह आदि। बौद्ध संप्रदाय में धर्म चक्र, उल्टा स्वास्तिक एवं बुद्ध चरण, जैन धर्म में अष्टमंगल तथा पंजा, इस्लाम में चाँद, तारा, ईसाई मत में क्रास और सिक्खों में गुरुग्रंथ आदि पूज्य माने जाते हैं।

समग्रत: यह कहा जा सकता है कि ब्रज क्षेत्र में सबसे लोकप्रिय आराध्य युग्म है—राधा-कृष्ण का। ब्रजवासियों में चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) की बड़ी महिमा है। इनके अतिरिक्त वैदिक देवताओं में यहाँ इन्द्र, वरुण, विष्णु, यम, मरुत, अग्नि, सूर्य, रुद्र, वायु, पृथ्वी, उषा आदि की पूजा भी की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यहाँ अनेक देवी-देवताओं के श्री विग्रह पूजे जाते हैं।

धर्मोत्सव—ब्रज क्षेत्र में लोग समय-समय पर अनेक प्रकार के उत्सव आयोजित करते हैं। इनमें मुख्य हैं—अक्षय तृतीया, नृसिंह चतुर्दशी, नव संवत्सर, कृष्ण जन्म अष्टमी, राधा अष्टमी, हनुमान जयन्ती, दशहरा, रक्षाबन्धन, गुरु पूर्णिमा, शरद पूर्णिमा, नवरात्र, दीपावली, देवोत्थान एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, मकर संक्रान्ति, सकट चौथ, मौनी अमावस्या, बसंत पंचमी, होली आदि। कुछ त्योहार स्थानीय हैं अर्थात् मुख्यत: ब्रजलोक में प्रचलित हैं, जैसे—जलबिहार, रथ यात्रा, चाँचरी, धीओ, दधि काँधा, यमुना छठ, हरियाली तीज, हरियाली अमावस्या, नंद उत्सव, सांझी, बलदेव छठ, गोवर्धन पूजा, अन्नकूट, गोपाष्टमी, अक्षय नवमी, व्यंजन द्वादशी, खिचड़ी उत्सव, कंसमेला, बिहार पंचमी, हिंडोला उत्सव (डोलोत्सव) माधव महोत्सव, टेसू, ब्रजोत्सव आदि। उसी प्रकार मुस्लिम समाज में मोहर्रम, ताजिया, ईद, बकरीद, शबेरात; ईसाई समाज में क्रिसमस; सिक्ख समाज में नानक जयंती, गुरु गोविन्द सिंह जयंती, लोहड़ी, बैसाखी, प्रकाशोत्सव; बौद्धों के बीच बुद्ध पूर्णिमा तथा जैन समाज में महावीर जयंती, क्षमौणी आदि का आयोजन समय-समय पर होता है। इनमें कुछ शास्त्रीय पर्व

हैं और कुछ लोक पर्व।

संप्रदाय—ब्रजभूमि में अनेक धार्मिक मतवाद या संप्रदाय शताब्दियों से सक्रिय हैं। इनमें प्रमुख हैं—

वैष्णव संप्रदाय—इनके अन्तर्गत श्री विष्णु की उपासना का मार्ग निर्दिष्ट है। ऐसी मान्यता है कि कृष्णावतार की अवधि में भागवत मत में पांचरात्र एवं सात्त्वत मतों की परिणति हो गई थी। इसमें पहले छह प्रकार की भक्ति पद्धतियाँ थीं—स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पाद-सेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन। भागवत पुराण के प्रभाव से इसमें श्रवण, दास्य और सख्य भाव का प्रवेश हुआ, जिससे यह 'नवधा भक्ति' कहलायी। शंकराचार्य जी के पश्चात् वैष्णवों के चार संप्रदाय यहाँ विशेष रूप से विकसित हुए—श्री संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय, रुद्र संप्रदाय और सनक संप्रदाय। वैष्णव संप्रदाय में विष्णु पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, हरिवंश और भागवत पुराण सर्वाधिक मान्य हैं। इसमें विष्णु, नारायण और गोपाल कृष्ण की विशेष मान्यता है। दक्षिण के वैष्णव भक्त मस्तक पर गोपी-चन्दन की रेखाएँ बनाते हैं। ये नारदीय भक्ति सूत्र और शांडिल्य भक्ति सूत्र के अनुयायी हैं। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर उनके आदर्श हैं। योग मत के अनुसार ज्ञानेश्वर का संबन्ध नाथ संप्रदाय से भी रहा है। भक्ति मार्ग के अनुसार ज्ञानेश्वर मूलत: विष्णु स्वामी संप्रदाय के हैं, जिसमें राधा गोपाल की उपासना की जाती है। इन वैष्णवों का अपना एक विशिष्ट वैष्णवाचार है। वे वेदाचार का पालन करते हैं और मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन, हिंसा, निंदा, कुटिलता आदि से परहेज करते हैं। वैष्णव सभी स्मार्त ग्रन्थों में आस्था रखते हैं। मन-वचन की पवित्रता, सात्विकता और जाति-वर्ण विहीनता उनका मुख्य लक्ष्य है। वे कर्म और संन्यास दोनों का पालन करते हैं। वे वर्णाश्रम परम्परा का निर्वाह करते हैं और जप-तप, व्रत, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित आदि में विश्वास रखते हैं। वे परमात्मा को पाँच प्रधान रूपों में पूजते हैं—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और देवी। देवी-देवताओं को वैष्णव भक्त महाविष्णु का अंगीभूत समझते हैं। स्मृतियों के अनुसार आचरण करने वाले सनातन धर्मी स्वयं को स्मार्त कहते हैं। इनके आचार्यों के अनेक मठ, अनेक गद्दियाँ और अनेकानेक आश्रम हैं। शिव, शक्ति, बुद्ध आदि की उपासना भी ये वैष्णव मतानुसार करते हैं। इनके षटकर्म हैं—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और त्याग। इनके षटतीर्थ हैं, भक्त-गुरु, माता-पिता, पति-पत्नी। ब्रज क्षेत्र वैष्णवता की दृष्टि से सर्वोपरि है। इस मत का व्यापक प्रभाव देश-देशान्तर में दिखाई देता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का नूतन वृन्दावन और श्री प्रभुपाद के इस्कान मंदिर इस कथन के प्रमाण हैं।

पांचरात्र—यह वैष्णव संप्रदाय का एक विशिष्ट मत है। इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञान भूमियों का समावेश किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदार्थ पुरुष, स्वभाव, कर्म और देव इन पाँच कारणों से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की सगुणोपासना के अन्तर्गत महाभारत काल में वैष्णव धर्म को 'पांचरात्र' संज्ञा मिली थी। इसमें कृणभक्ति को महत्व दिया गया है। इसके मूलाधार हैं—नारायण। इस मत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विधान है। पांचरात्र शास्त्र के अनुसार वासुदेव परब्रह्म हैं। बलराम संकर्षण (प्रकृति) हैं, प्रद्युम्न मनस तत्व हैं तथा अनिरुद्ध आत्म चेतना हैं। ब्रह्म सर्व स्रष्टा द्रष्टा है। इस संप्रदाय में अहिंसात्मक यज्ञ क्रियाएँ की जाती हैं। यह निष्काम भक्ति का मार्ग है।

निंबार्क संप्रदाय—इसके प्रवर्तक आचार्य निंबार्क वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तक और भागवत धर्मी विद्वान थे, जो आन्ध्र प्रदेश से आकर ब्रज में बस गए थे। भेदाभेद-दर्शन के अनुयायी आचार्य निम्बार्क ने राधा की पूजा प्रचलित की। रामानुज से प्रभावित होकर उन्होंने ध्यान पर बहुत जोर दिया। इनके अनुसार श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं। वृन्दावनवासी राधिका उनकी शाश्वत पत्नी हैं, जो उनके संग निरन्तर लीला करती हैं। निंबार्क ने वेदान्त सूत्र का भाष्य 'वेदान्त पारिजात सौरभ' नाम से किया। इस मत के अनुयायी वैष्णव कहलाते हैं। इस संप्रदाय में गार्हस्थ और विरक्त सभी भक्त राधा कृष्ण की युगलोपासना करते हैं। ब्रजमण्डल में इस संप्रदाय की अनेक गद्दियाँ और मठ-मंदिर हैं। इस संप्रदाय को 'सनकादि संप्रदाय' भी कहा जाता है।

श्री संप्रदाय—इसके प्रवर्तक थे आचार्य रामानुज। इसमें यामुनाचार्य और श्रीनाथ जी के अतिरिक्त लगभग एक दर्जन साधक एवं चिंतक हुए हैं। इस संप्रदाय का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है—विशिष्टाद्वैत एवं प्रपत्ति योग। इनके आधार ग्रन्थ

हैं—श्री भाष्य, गीता भाष्य, वेदान्त सार आदि। इनकी उपासना पद्धति में सेवा भावना और भोगराग का विशेष महत्व है। मथुरा-वृन्दावन के कई मन्दिरों, जैसे—रंगनाथ मन्दिर, लक्ष्मीनारायण मंदिर और बेणीमाधव मंदिर में इस संप्रदाय की दिनचर्या द्रष्टव्य है।

रामानन्दी संप्रदाय—इसे श्री संप्रदाय नाम से भी जाना जाता है। इस संप्रदाय का प्रमुख प्रतिपाद्य है दास्य भक्ति। स्वामी अनंतानन्द, श्रीकृष्णदास पयहारी, अग्रदास आदि इससे जुड़े हुए प्रमुख आचार्य रहे हैं। वृन्दावन में इनके कई स्थान हैं। भक्तमाल, रामचरित मानस आदि इनके आधार ग्रन्थ हैं।

ब्रह्म संप्रदाय—इसके प्रवर्तक रहे हैं—मध्वाचार्य, इसीलिए इसे मध्व संप्रदाय भी कहते हैं। यह द्वैतवादी संप्रदाय है। माधवेन्द्रपुरी जी और ईश्वरपुरी जी को इस सम्प्रदाय से संबद्ध विशिष्ट साधक कहा जा सकता है।

रुद्र संप्रदाय—इसे विष्णु स्वामी संप्रदाय भी कहते हैं, इसलिए कि आचार्य विष्णु स्वामी ने इसका प्रवर्तन किया था। वे शुद्धाद्वैतवादी थे। वृन्दावन का श्रीकला धारी मंदिर और मथुरा में स्थित गोपाल जी का मंदिर इनके प्रमुख केन्द्र हैं।

चैतन्य संप्रदाय—महाप्रभु चैतन्य के निधनोपरान्त बंगाल के वैष्णव भक्तों ने अनेक बौद्ध संन्यासियों को दीक्षा देकर इस संप्रदाय का विकास किया था। इससे सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ रचे गए हैं। इसमें जीवनयापन और पूजन की कई विधियाँ निर्धारित की गई हैं। इस मत के गोस्वामियों ने वृन्दावन में अनेक मठ-मन्दिर बनवाए। चैतन्य दसनामी संन्यासियों तथा वैरागी साधुओं में अनेक गीतकार और गायक भी हुए हैं। इस पंथ में कोई जाति-पांत नहीं है। वह सबके लिए खुला हुआ है। इसके मन्दिरों में श्री राधाकृष्ण की उपासना होती है, साथ ही चैतन्य की भी। नृत्य और संकीर्तन इन भक्तों का दैनिक कृत्य है।

वल्लभ संप्रदाय—इसके संस्थापक थे—तैलंग ब्राह्मण, वल्लभाचार्य (1479-1531 ई.)। ये पहले विष्णु स्वामी संप्रदाय से सम्बद्ध थे। इन्होंने निंबार्क से प्रेरित शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। आचार्य बल्लभ ने भक्तिमार्ग को साधन न मानकर साध्य माना। यह भक्ति प्रभु की कृपा से मिलती है। इसके समक्ष मुक्ति व्यर्थ है। इसे पुष्टि का मार्ग कहा गया है। उनके अनुसार कृष्ण एकमात्र परमतत्व-परमब्रह्म हैं। वे ज्ञानानन्द रूप हैं। उन्हीं से जगत की उत्पत्ति हुई है। उनके सच्चे भक्त ही गोलोक प्राप्त करते हैं और कृष्ण के विशुद्ध दैवी स्वरूप के दर्शन करते हैं। यह स्थिति स्वर्ग से बेहतर है। इस संप्रदाय का मंत्र है—'श्री कृष्ण: शरणं मम'। इस संप्रदाय में वल्लभ द्वारा रचित वेदान्त अणु भाष्य, सुबोधिनी टीका, तत्व दीप, निबन्ध सिद्धान्त रहस्य आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इस भक्ति मार्ग द्वारा वात्सल्य, भक्ति और मधुरा भक्ति का विशेष प्रचार हुआ है। ब्रज क्षेत्र में वैशाख कृष्ण एकादशी को वल्लभोत्सव मनाया जाता है। यहाँ उन्हें अग्निदेव का अवतार माना गया है।

पुष्टि मार्ग—भागवत के अनुसार प्रभु का अनुग्रह ही पुष्टि है। वल्लभाचार्य ने उपनिषदों के सहारे इस मार्ग का विकास किया था। उनका मत है कि जीवात्मा ईश्वर का अंश है। परमात्मा की कृपा प्राप्त करने के साधन हैं—शम, दम, श्रवण, मनन और प्रभु की मानसी सेवा। यह भक्ति दो प्रकार की कही गई है—मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति। पुष्टिमार्गी भक्त शास्त्र-ज्ञान और कर्म के बजाय प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण करके केवल उनके दर्शन की प्रार्थना करता है। इसे प्रेम लक्षणा भक्ति भी कहते हैं।

सखी संप्रदाय—ब्रज भूमि में कृष्ण के प्रेममार्गी भक्तों का यह एक उप-संप्रदाय है जो स्वयं को राधा जी की सखी मानकर कृष्णोपासना करता है। ये भक्त स्त्रियों की वेशभूषा (वस्त्राभूषण), प्रसाधन तथा बोली-बानी धारण कर लेते हैं। वे अपना स्त्रीलिंगी नाम रख लेते हैं और अपने इस सखी भाव को गुप्त रखते हैं। वृन्दावन इस संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र है।

सनक संप्रदाय—यह एक वैष्णव संप्रदाय है, जिसका आधार है वेद और जिसका दर्शन है वेदान्त। इस संप्रदाय से निम्बार्क के अनुयायियों का विशेष सम्बन्ध है।

ललित संप्रदाय—इसका केन्द्र है ललिता कुंज, वृन्दावन। इस संप्रदाय में भोगराग, सेवा भावना और राधा जी का

विशेष महत्व है। वंशी अली, अलबेली, किशोरी अली आदि इसके प्रमुख आचार्य रहे हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं—राधा सिद्धान्त, हृदय सर्वस्व आदि।

शुक संप्रदाय—इसके पुरोधा थे चरणदास जी। इस संप्रदाय का मूल मन्तव्य है—राधाकृष्ण उपासना। इस संप्रदाय से संबद्ध शताधिक सन्तों में विशेषत: उल्लेखनीय हैं—शुकदेव, सहजोबाई, रामरूप, राम सखी, नवलदास, रूप माधुरी, नागरीदास, प्रेमदास आदि। इस संप्रदाय की गद्दियाँ वृन्दावन, कामवन, गुड़गाँव, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, भरतपुर आदि अनेक स्थानों में स्थापित हैं। इनका प्रमुख ग्रंथ है—भक्ति सागर।

रामाश्रम सत्संग—इसमें योगाश्रयी साधना की जाती है। इसके प्रमुख आचार्य हैं—रामचन्द्र, चतुर्भुज सहाय आदि। मथुरा और एटा में इसके कई स्थान हैं।

सन्त संप्रदाय—इस अद्वैतवादी निर्गुण पंथी संप्रदाय के प्रेरक रहे हैं—शंकराचार्य जी और कुमारिल भट्ट। ब्रह्म सूत्र, उपनिषद, विष्णु सहस्र नाम आदि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। हिन्दुओं के चारों पीठ उनके प्रमुख केन्द्र हैं। संत संप्रदाय के नाम से निर्गुण पंथी, मुख्यत: दलित या पिछड़े वर्ग के कई पंथ यहाँ प्रचलित हुए, जिनमें रैदास पंथ, कबीर पंथ आदि का काफी प्रभाव अंत्यज वर्ग पर पड़ा।

कबीर पंथ—सन्त कबीर का जन्म चौदहवीं शती में लहरतारा (वाराणसी) में हुआ था। इन्होंने कर्मकाण्ड, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, जाति भेद आदि का विरोध करते हुए अहिंसा, समता, सात्विकता आदि का प्रचार किया। कबीर पंथी विरक्त साधु तुलसीमाला पहनते हैं और मस्तक पर विष्णु चिह्न अंकित करते हैं। ब्रज क्षेत्र में कई कबीर मंदिर हैं, जहाँ उनकी मूर्ति पूजा, दीक्षा, भण्डारा आदि होते रहते हैं।

रैदास पंथ—भक्त प्रवर रैदास का जन्म सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। ये रामानन्द के शिष्य थे। कुछ लोगों के अनुसार ये मीरा बाई के गुरु भी थे। मडुवाडीह (वाराणसी) इनका कर्मक्षेत्र रहा है। इन्होंने निर्गुण-सगुण समन्वित सुधारवादी आंदोलन चलाया था, जिसे रविदासी संप्रदाय भी कहा जाता है। दलित वर्ग के साथ-साथ सवर्ण समाज के बहुत से भक्त संत रैदास के अनुयायी हैं।

उदासीन संप्रदाय—यह संन्यास मार्गी सहिजधारी सिखों से सम्बन्धित माना जाता है। गुरुनानक के पुत्र श्रीचंद ने लगभग 1439 ई. में इस मत का प्रवर्तन किया था। यह सनातन मत के बहुत निकट है। ब्रज क्षेत्र के उदासीन संप्रदाय को कार्ष्णि संप्रदाय भी कहते हैं। इसमें कृष्ण की उपासना की जाती है। इसके प्रमुख आचार्य हैं—बालानन्द, पूर्णानन्द, ज्ञानदास, गोपालदास, कृष्णानंद, शरणानन्द आदि। कंठाभरण और गोपाल विलास इनके आधार ग्रन्थ हैं। रमणरेती, रंगेश्वर और मधुर बिहारी मंदिर (वृन्दावन) इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

गरीबदासी संप्रदाय—यह सिक्ख संप्रदाय से प्रेरित है। इसका धर्मग्रन्थ है—गुरु ग्रन्थ साहिब, जिसमें 24000 पद हैं। सिक्खों के दस गुरुओं की और संतों की वाणी को 'गुरुग्रन्थ साहिब' कहा गया है। उसकी पूजा वहाँ गुरुमूर्ति के रूप में की जाती है।

राधा स्वामी संप्रदाय—इसके आचार्यों को स्वामी, हुजूर, साहब, महाराज आदि नाम दिये जाते हैं। इसके प्रमुख केन्द्र हैं—स्वामी बाग, दयालबाग, राधास्वामी सत्संग (आगरा) आदि।

नाथ संप्रदाय—यह तान्त्रिकों के विरोधस्वरूप उत्पन्न एक सुधारवादी संप्रदाय है। जिसके प्रवर्तक थे गोरखनाथ जी। नाथ मत शैव मत से संबद्ध है, किन्तु ये साधक लिंग पूजा नहीं करते। ब्रज क्षेत्र में कैला देवी का मन्दिर नाथ मत से जुड़ा हुआ है।

नागाओं के अखाड़े—ब्रजभूमि में कई अखाड़े पाये जाते हैं, जैसे—निर्मोही अनी, निर्वाणी, महानिर्वाणी और दिगम्बर अनी। मालाधारी, हरिव्यासी, रामानन्दी, सन्तोषी, खाकी, निरालंबी, टाटम्बरी, बलभद्री, रामश्याम दिगम्बर आदि इसके कई रूप हैं। इन अखाड़ों से कई आचार्य संबद्ध रहे हैं।

सिक्ख संप्रदाय—यह निर्गुण ब्रह्म का उपासक और गुरुपूजक संप्रदाय है। गुरु नानक देव से गुरु गोविन्द तक जो दस गुरु हुए उनकी गुरुवाणी को गुरु के रूप में यहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त है। गुरु ग्रन्थ साहिब और जपुजी सिक्खों के धर्मग्रन्थ हैं। ब्रज क्षेत्र के प्राय: प्रत्येक कस्बे में गुरुद्वारे स्थापित हैं जहाँ सबद, कीर्तन, ग्रन्थ वाचन और लंगर-प्रसाद की व्यवस्था है। समय-समय पर इनके प्रकाशोत्सव होते रहते हैं। अकाल तख्त, सिंह सभा आदि इनके प्रमुख केन्द्र हैं।

खालसा—सिक्ख धर्म की एक शाखा है। खालसा का अर्थ है शुद्ध। गुरु गोविन्द सिंह ने सद्धर्म की रक्षा हेतु मुगलों से युद्ध करने के लिए सैनिकों का एक पवित्र दल तैयार किया था। आज भी ये सैनिक पाँच ककार धारण करते हैं—केश, कच्छा, कृपाण, कड़ा और कंघा। ये नियमित आराधना करते हैं, एक साथ भोजन करते हैं और सती प्रथा, शिशु-वध, मादक द्रव्यों के सेवन आदि का परहेज करते हैं। इनमें जाति भेद नहीं है। प्रत्येक सैनिक को सिंह, सरदार तथा शिरोमणि की उपाधि दी जाती है। खालसा अपने शौर्य और साहस के लिए प्रसिद्ध हैं।

आर्य समाज—दयानन्द सरस्वती ने दण्डी स्वामी विरजानन्द से प्रेरित होकर सनातनी आचार्यों के विरोध में इस संप्रदाय की स्थापना की थी। उनका जन्म काठियावाड़ में 1824 ई. में हुआ था, बचपन का नाम था मूलशंकर। किशोर काल में देशोद्धार हेतु इन्होंने घर त्याग दिया, फिर गहन अध्ययन किया, घनघोर तपस्या की और संन्यासी रूप में दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया। मथुरा के स्वामी विरजानन्द जी ने इन्हें वेद की शिक्षा दी और गुरु दक्षिणा के रूप में वेद प्रचार का संकल्प कराया। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ है—'सत्यार्थ प्रकाश'। एक षडयन्त्र के शिकार होकर सं. 1940 ई. में इनका निधन हो गया।

स्वामी जी मूर्ति पूजा के विरोधी थे। इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का निर्वाह किया और 18 वर्ष तक संन्यासी जीवन बिताया। वे आत्मा और परमात्मा के भावैक्य के समर्थक अर्थात् अद्वैतवादी थे। सांख्य योग को अपनाकर इन्होंने वेदान्त मत को छोड़ दिया था, साथ ही शैव मत को भी। इनके अनेक शास्त्रार्थ पंडितों, मौलिवियों-पादरियों और सनातनियों से हुए। स्वामी जी ने पौराणिक हिन्दुत्व की जगह दार्शनिक हिन्दुत्व, विशेषत: वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा हेतु 10 अप्रैल 1875 ई. में मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। इनके मत का गहरा प्रभाव उत्तर भारत पर पड़ा। इनके द्वारा प्रतिपादित आर्य समाज का मूल सूत्र है—ईश्वर ही सर्वसत्य है, अत: एकमात्र वही पूज्य है।

जैन मत—यह संप्रदाय वेद से असहमत है। अहिंसा, त्याग एवं तपस्या इसके प्रमुख तत्व हैं। जिन को वासना का विजेता कहा गया है। वे ही अर्हन्त एवं तीर्थंकर हैं। प्रत्येक चक्र में 24 तीर्थंकर माने गए हैं। 1. ऋषभ देव विष्णु के 24 अवतारों में से एक हैं। ये समाज राजनीति के प्रवर्तक थे। 24वें तीर्थंकर थे महावीर। इनकी दो शाखाएँ हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इनका मुख्य साध्य है अपरिग्रह। दिगम्बर नग्न मूर्ति की पूजा करता है। श्वेताम्बर पंथ में मूर्तियों पर श्वेत कच्छा रहता है। इसके कई उप-संप्रदाय हैं। स्थानकवासी मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। वे प्राय: सुधारक हैं, जैसे तेरह पंथी। इसके महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। श्रावकों-गृहस्थों के लिए अणु व्रत प्रचलित है। ईश्वर, देव और प्रेत पर ये विश्वास नहीं करते। ये आगम परम्परा के समर्थक हैं। इनका दर्शन है—एकान्तवाद या स्यातवाद। आत्मा को पुद्गल (प्रकृति) से मुक्त कर कैवल्य तक पहुँचाना इनका ध्येय है। इसके लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित आवश्यक है। ब्रजक्षेत्र में इनका अस्तित्व है।

बौद्धमत—ब्रज भूमि में बौद्धों का बड़ा प्रभाव रहा है। यहाँ महायान, हीनयान, वज्रयान के साथ-साथ सर्वास्तिवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। बौद्धों के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त, जैसे—शून्यवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, निर्वाण, अष्टांग, मध्यमा, प्रतिपदा, पंचशील आदि यहाँ चर्चित रहे हैं। इनके प्रमुख आचार्यों में गण्यमान हैं—मथुरा वाले कात्यायन, उपगुप्त, गौतमी, नागार्जुन, अश्वघोष आदि। इस मत में त्रिपिटक, पंचनिकाय, धम्मपद, थेरी गाथा और जातक कथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ कुछ बौद्ध स्तूप और विहार भी हैं, जिनमें इनकी उपासना-पद्धति देखी जा सकती है।

चार्वाक संप्रदाय—ये भौतिकवादी दार्शनिक थे, जो देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते थे। इन्होंने परलोक,

पुनर्जन्म, स्वर्ग, वर्णाश्रम और वेदमत का खण्डन किया है। ये भौतिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। यहाँ इस मत की प्राय: वर्जना की गई है।

इस्लाम संप्रदाय—अरब देशों से आगत इस संप्रदाय से यहाँ का मुस्लिम समाज जुड़ा हुआ है। इसमें एकमात्र अल्लाह की उपासना का विधान है। इस संप्रदाय के दो भेद हैं—(1) शिया और (2) सुन्नी। हजरत मुहम्मद साहब इनके आराध्य हैं और कुरान तथा हदीस आधार ग्रन्थ हैं। इस संप्रदाय से सम्बन्धित दरगाह, ईदगाह एवं मस्जिद सर्वत्र विद्यमान हैं। नमाज, रोजा, मुहर्रम, ईद, बकरीद, शबेरात, बारावफात, जकात आदि इनके प्रमुख धार्मिक कृत्य हैं।

ऋषि, मुनि, संत—ब्रज क्षेत्र में अनेक ऋषियों, मुनियों और सन्त-साधकों के प्रति पूज्य भाव है। जैसे—शंकराचार्य, शुक्राचार्य, कात्यायन, सांदीपनि, च्यवन, गर्ग, सौभरि, सूतजी, व्यास, वाल्मीकि, मध्वाचार्य, निम्बार्क, रामानुज, वल्लभाचार्य, विठ्ठलनाथ, सनातन गोस्वामी, ध्रुवदास, प्राणनाथ, हितहरिवंश, हरिदास, चैतन्य स्वामी, शिव दयाल आदि। इस क्षेत्र में कई लोग सूफी साधकों, मौलवियों तथा पादरियों के अनुयायी हैं। शुकदेव, नारद, अंगिरा, नागार्जुन, यामुनाचार्य, गोरखनाथ, ऋषभनाथ, अजितनाथ, बाबा नीम करौरी, माँ आनन्दमयी, हरिराम व्यास, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, माधवेन्द्रपुरी, जयदेव, नागरीदास, ललित किशोरी, रूपसखी, रघुनाथ भट्ट, गुरु गोविन्द सिंह, हजरत निजामुद्दीन, रसखान, उड़िया बाबा, करपात्री जी महाराज, बिन्दुजी, कृपालु जी आदि यहाँ पूज्य हैं। वस्तुत: ऋषियों-मुनियों की हिन्दू समाज में बड़ी महत्ता है। यहाँ सात ऋषि पूज्य हैं—मरीच, अत्रि, अंगिरा, पुलत्स्य, पुलह, ऋतु, वशिष्ठ। वेदों में अनेक ऋषि परिवारों का विवरण मिलता है। इन्हें वेद-ज्ञान का प्रवक्ता और द्रष्टा कहा गया है। साथ ही ऋचाओं का त्रिकालज्ञ साक्षात्कार कर्ता भी। ब्रजक्षेत्र में इसी भाव से ऋषि पंचमी को व्रत मनाया जाता है।

सनातन गोस्वामी—ये ब्रज क्षेत्र के बहुमान्य महात्मा हैं। ये चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। उनसे प्रेरित होकर इन्होंने बंगाल के नवाब के दरबारी पद से त्याग-पत्र देकर संन्यास धारण कर लिया था। ये वृन्दावन में दीर्घकाल तक रहे और यहाँ कई ग्रन्थों की रचना की।

जीवगोस्वामी—ये सनातन गोस्वामी के अनुज पुत्र थे। रूप गोस्वामी और सनातन जी से ये अति प्रभावित थे। इन्होंने वृन्दावन में श्री गोविन्द देव जी की प्रतिष्ठा की। रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिन्धु' की कई टीकाएँ हुई हैं। कृष्णदास के चैतन्य चरितामृत पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा है।

हरित्रयी (मोहित हरिवंश महाप्रभु, स्वामी श्री हरिदास, संत हरिदास व्यास)—ये तीनों एक ही समय में वृन्दावन के निवासी थे। ये तीनों रसिक संत, वरिष्ठ कवि और महान संगीतज्ञ थे।

मध्वाचार्य—इनके मतानुसार जीव और ब्रह्म सर्वथा पृथक हैं। दोनों में सेवक और सेव्य का सम्बन्ध है। इसे द्वैतवाद कहा जाता है। आचार्य मध्व के इस दर्शन का आविर्भाव शांकरमत विरोध और भक्तिवाद से हुआ है। मध्वाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण-सविशेष है। जीव अणु और दास है। वेद नित्य हैं। भक्त को केवल सेवा करनी होती है। इन्हें 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' एवं मुक्ति पर विश्वास नहीं है। ये सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य मुक्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

गौडीय संप्रदाय प्रवर्तक कृष्ण चैतन्य महाप्रभु—इनका आविर्भाव 16वीं सदी में बंगाल के नदिया (नवद्वीप) में हुआ था। इनके बचपन का नाम था—विश्वम्भर। बाल्यकाल में ही ये तर्क-शास्त्र एवं व्याकरण ज्ञान के कारण चर्चित हो गए थे। इन्होंने ईश्वरपुरी से प्रभावित होकर भागवत में वर्णित भक्ति को आत्मसात कर लिया। इनके उपदेशों से प्रेरित होकर बहुत से साधक इनके शिष्य हो गए। फिर ये महाप्रभु के रूप में विख्यात हो गए। निम्बार्क संप्रदाय, विष्णु स्वामी, जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि से प्रेरित होकर इन्होंने राधा की आराधना को प्रश्रय दिया और राधाकृष्ण के संकीर्तन में स्वयं को केन्द्रित कर दिया। चैतन्य ने सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा की थी, जिसमें कुछ समय दक्षिण भारत में बिताया तत्पश्चात् ब्रज की यात्रा की। उसके पश्चात् पुरी के जगन्नाथ मंदिर को अपनी साधना स्थली बना लिया। क्रमश: ये कृष्ण के अवतार के रूप में लोकप्रिय होते गए। चैतन्य ने कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। माध्व के द्वैतवाद को अपने संप्रदाय का

मुख्य दर्शन मानकर इन्होंने भावावेशमयी भक्ति का नमूना प्रस्तुत किया; इनके मत को गौडीय संप्रदाय कहा गया है। ब्रज क्षेत्र में इनकी उपासना पद्धति बहुत लोकप्रिय है।

चतुर्भुजदास—ये विठ्ठलनाथ के शिष्य और अष्टछाप के कवि थे। गोकुल में इनकी विद्यमानता 1550 ई. में थी।

छीत स्वामी—ये विठ्ठलनाथ के शिष्य थे और अष्टछाप के कवि भी। इनकी स्थिति 1567 ई. में मानी गई है।

प्रियादास—इन्होंने नाभादास कृत 'भक्तमाल' का भाष्य किया है। 18वीं शती में जन्मे प्रियादास जी गौडीय संप्रदाय के अनुयायी थे।

राधाचरण गोस्वामी—ये वृन्दावन के निवासी थे। इनका जन्म 1859 ई. में हुआ था। इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की। ये सनातन धर्मी भी थे और स्वामी दयानन्द के समर्थक भी।

आचार्य वल्लभ एवं आचार्य विठ्ठलनाथ—इन्होंने इस क्षेत्र में अनेक बैठकें स्थापित करके कृष्ण भक्ति की कई पद्धतियों का प्रचलन किया। 'अष्टछाप' इन्हीं की देन है। अस्तु, यहाँ इनका अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगदगुरु शंकराचार्य जी—ये अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक थे। इन्होंने किशोर काल में संन्यास धारण करके और घनघोर अध्ययन करके, साथ-साथ दिग्विजय करते हुए अपने मत का प्रचार किया। इन्होंने चार मठों की स्थापना करके, चतुर्दिक् समाज सुधार करते हुए केदारनाथ के समीप निर्वाण प्राप्त किया।

सांदीपनि—ये विद्वान ब्राह्मण थे। कृष्ण और बलराम ने उज्जैन जाकर इनके आश्रम में कला और शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।

इसी प्रकार आचार्य रामानुज, निम्बार्क, रामानंद, तुलसीदास, सूरदास आदि का भी यहाँ गहरा प्रभाव पड़ा है।

गोपी-गोपाल—ब्रज मण्डल में बसने वालों को गोपवाल, गोपाल कहा गया है और उन्हें वैकुण्ठवासी देवों का अवतार माना गया है। गोपियाँ अनन्य भक्ति की प्रतीक हैं, जो उनके साथ नित्य विहार करती हैं। ब्रज के कृष्ण भक्त गोपीभाव से गोपाल की उपासना करते हैं। गौडीय संप्रदाय और पुष्टि मार्ग में इनके कई नाम बताए गए हैं। इनकी अंगधूलि को भक्तगण चन्दन के रूप में धारण करते हैं। ब्रज में गोपाष्टमी पर गौओं के पूजन का विधान है। गोवर्धन पर्व यहाँ उत्साहपूर्वक मनाया जाता है।

धर्मग्रन्थ—ब्रज क्षेत्र में प्रचलित धर्म ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र, गीता, गर्ग संहिता, नारद भक्ति सूत्र, शांडिल्य भक्ति सूत्र, उज्ज्वल नीलमणि, श्रीमद्भागवत्, अणुभाष्य, (वल्लभ), श्री माया भाष्य, गीता भाष्य (रामानुज), तन्त्रालोक, वेदान्त पारिजात-सौरभ (निम्बार्क), पूर्ण प्रज्ञ भाष्य (मध्वाचार्य), नारद पांचरात्र, वैष्णव तोषिणी (सनातन गोस्वामी), ब्रज विलास (ब्रजवासीदास), विष्णु संहिता, सूरसागर, रामचरितमानस, रास पंचाध्यायी (नन्ददास) आदि ग्रन्थों का प्रचलन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, आरण्यक, ब्राह्मण ग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ और संहिताओं का भी पाठ-पारायण काफी प्रचलित है। कल्पसूत्र, आगम, हित चौरासी, श्रीराधासुधा निधि, चैतन्य चरितामृत, वेदान्तसार, भक्तिसागर, सत्यार्थ प्रकाश, कुरान, बाइबिल, गुरुग्रंथ साहिब आदि यहाँ के लोकप्रिय धर्मग्रंथ विशेषत: पूज्य हैं।

वेद—ऋग्वेद हमारा प्रथम वेद है। इसके दस मण्डल हैं। उनमें 85 अनुवाक् हैं और कुल 1028 सूक्त हैं। इसे कई शाखाओं में विभक्त किया गया है। इसके आठ भेद हैं और 5 से 21 तक शाखाएँ हैं। यह विश्व का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। सामवेद में वैदिक मंत्रों के गायन/पाठ का विधान है। यजुर्वेद में ज्ञान, उपासना एवं कर्मकाण्ड की गुरु-गम्भीर चर्चा की गई है। इसके दोनों भेद शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद यहाँ मान्यता प्राप्त हैं। अथर्ववेद चौथा वेद है, जो ब्रह्मा के उत्तरी मुँह से उत्पन्न हुआ था। इसके संकलन कर्ता हैं वेदव्यास। इसमें पाँच कल्प, नौ भाग और 5803 मंत्र हैं। इस समय यह 20 काण्डों में विभक्त है। इसमें अनुष्ठान विधान का वर्णन है।

इस क्षेत्र में मान्य चार उपवेद हैं—धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्व वेद और अर्थशास्त्र। इनके अतिरिक्त 6 वेदांग हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और कल्प। इन वैदिक मन्त्रों एवं दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर 108 उपनिषद

निर्मित हुए हैं, जिनमें ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतिरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनके सहारे छह दर्शन प्रचलित हुए हैं—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त।

ब्रज की धर्म साधना में 18 स्मृतियों और अनेक धर्मग्रन्थों, जैसे रामायण, महाभारत, ब्रह्मसूत्र, गर्ग संहिता, नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र आदि का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्राह्मण, आरण्यक—इन ग्रंथों में वेद का सार है। वानप्रस्थों को ब्रह्म ज्ञान प्रदान करने के लिए आरण्यकों की रचना की गई थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक यज्ञों और मंत्रों का, ब्रह्मत्व तथा अर्थ मीमांसा का समावेश किया गया है। प्रत्येक वैदिक संहिता के अलग-अलग ब्राह्मण हैं। इनमें शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

पुराण—वैदिक मत को कथात्मकता तथा दृष्टान्तों द्वारा प्रचारित करने हेतु इन 18 पुराणों की रचना हुई है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, वायु, नारद, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, वराह, स्कन्द, मार्कण्डेय, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड, लिंग एवं भागवत पुराण।

पुराणों में सृष्टि की आदिम दशा का वर्णन किया गया है। इनके विषय हैं—सृष्टि, उसका विस्तार, लय और पुनः सृष्टि। इनमें कई मन्वंतरों का और मुख्यतः चन्द्रवंशी एवं सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन है। इन पुराणों के रचयिता हैं—वेदव्यास। उन्होंने अपने शिष्य लोमहर्षण और उनके शिष्यों के सहयोग से 18 पुराण रचे। परिशिष्ट रूप में कई उप-पुराण भी रचे गए। प्रत्येक पुराण में किसी एक प्रसंग का विशेष विस्तार किया गया है। कुछ पुराण शैव, वैष्णव, ब्राह्म, भागवत आदि मतों से जुड़े हुए हैं। इनका मुख्य विषय है, अवतारवाद। पुराण को वेदों का उपांग कहा गया है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना का विस्तृत विधान है।

ब्रज क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है श्रीमद्भागवत महापुराण का। भागवत को विद्वत्ता और भगवत्ता का स्रोत माना जाता है। प्रसिद्ध उक्ति है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा'। इस पुराण में 12 स्कन्ध, 335 अध्याय और 18000 श्लोक हैं। इसी का एक प्रतिरूप है देवी भागवत पुराण। उसमें भी 12 स्कन्ध और 18000 श्लोक हैं। वह शाक्तों का पुराण है, साथ ही वैष्णव भक्ति का भी वह आधार ग्रन्थ है। इसकी अनेक टीकाएँ हुई हैं। वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' टीका इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भागवत को व्यास की 'समाधि भाषा' कहा गया है। इसका गहरा प्रभाव चैतन्य संप्रदाय और रूप गोस्वामी पर पड़ा है। भागवत दर्शन के अनुसार अद्वैत ब्रह्म सृष्टि, स्थिति और लय के लिए विभिन्न अवतार धारण करता है। इनके अनुसार भक्ति ही मोक्ष का साधन है। उसके बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं। इसमें भक्ति स्वयं कहती है कि मैं द्रविड़ देश में पैदा हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में आने पर मेरा कुछ पोषण हुआ, किन्तु गुजरात पहुँचकर मैं वृद्ध हो गई। कलियुग में योग तथा पाखण्डों द्वारा खण्डित किए जाने पर मैं दुर्बल हो गई और ज्ञान व वैराग्य नामक पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक बीमार पड़ी रही। अब वृन्दावन पहुँचकर मैं एक सुंदरी नवयुवती के रूप में परिणित हो गई हूँ।

यह क्रमानुसार आठवाँ पुराण है। इसे सर्वश्रेष्ठ (महापुराण) कहा जाता है। इसमें कवित्वपूर्ण ढंग से विष्णु के दशावतारों का वर्णन किया गया है। इसके दसवें स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। वैष्णव भक्तों की इसमें बड़ी श्रद्धा है। भक्ति के प्रचार-प्रसार में इस पुराण का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ब्रज में भागवत धर्म बहुप्रचलित है। यहाँ भागवत का पारायण करने वाले अनेक व्यास हैं।

इन पुराणों में महत्वपूर्ण है पद्मपुराण। इस पुराण के पाँच खण्ड हैं। इसमें 127 अध्याय हैं। इसमें भी कृष्ण चरित का उल्लेख है।

उज्ज्वल नील मणि—इस क्षेत्र का यह विशिष्ट धार्मिक ग्रंथ है। इसके रचयिता हैं रूप गोस्वामी। उन्होंने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' के सिद्धान्तों के अनुरूप इसमें भगवत माधुर्य और रति भाव का निरूपण किया है। इसमें भक्ति के तीन रूप जोड़े गए हैं—मान, अनुराग और महानुभाव। मूलतः यह अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें शृंगार को 'उज्ज्वल रस' कहा गया है, जबकि साहित्य शास्त्र में शृंगार का वर्ण श्याम माना जाता है। उज्ज्वल रस को अलौकिक रागानुगा भक्ति माना

गया है, जिसमें शृंगार रस का अन्तर्भाव है। इसके आलम्बन हैं स्वयं भगवान।

भक्तमाल—यह सन्तमाल, भक्तनामावली, भक्तविरदावली, भागवतनामावली, नवभक्तमाल आदि कई रूपों में प्राप्त होता है। ब्रजक्षेत्र में स्तवमाला, स्मरणमंगलस्तोत्र, हरिभक्ति विलास, हरिनामामृत, कृष्णभावनामृत, भक्तिरस तरंगिणी, रसिक भक्ति गाथा जैसे अनेक चरित काव्य हैं। यहाँ के साधकों पर कई ग्रन्थ रचे गए हैं, जैसे—हित हरिवंश चरित, चैतन्य चरितामृत, चौरासी वैष्णवन की चौखरी तथा वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, चैतन्य चन्द्रोदय, चैतन्य चन्द्रामृत, परचावली, निकुंज रहस्य, वृन्दावन प्रेम विलास बेली, वृन्दावन प्रकाश माला, लघुभागवतामृत, कृष्णभावनामृत, वृन्दावन महिमामृत, आनन्द वृन्दावन, वेदान्त कौस्तुभ आदि। यहाँ इनका श्रद्धापूर्वक पारायण किया जाता है। बौद्धों में धम्मपद, त्रिपिटक; जैनियों में कल्पसूत्र, पउम चरिउ, महापुराण; आर्य समाजियों में सत्यार्थ प्रकाश; मुस्लिम समाज में हदीस, कुरान शरीफ; ईसाई समाज में एंजिल, बाइबिल; सिख समाज में गुरुवाणी आदि का पर्याप्त प्रचलन है। रामचरितमानस और गीता यहाँ घर-घर में व्याप्त हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्रज मण्डल धार्मिक चेतना की दृष्टि से बड़ा जागृत क्षेत्र है। अध्यात्म-दर्शन से परिपूर्ण यहाँ अनेक संप्रदाय हैं, विभिन्न प्रकार की उपासना पद्धतियाँ हैं। जगह-जगह मंदिर, स्थानक, ईदगाह, इमामबाड़े, मस्जिदें, चर्च, गुरुद्वारे आदि हैं। इनसे संबन्धित अनेक ऋषि, मुनि, संत, साधक, सूफी, मौलवी, पादरी यहाँ के गौरव हैं। यहाँ भाँति-भाँति के धार्मिक महोत्सव निरन्तर होते रहते हैं। इस 'ब्रजकल्ट' से संबन्धित धर्मग्रन्थों का भी यहाँ बाहुल्य है। इस सांस्कृतिक संपदा के कारण ब्रजधरा धाम को स्वर्गोपरि माना गया है। भक्त कवियों ने ब्रजवास की तुलना में बैकुंठवास तक को महत्व नहीं दिया। वे यही कहते रहे—'कहा करौं बैकुंठहिं जाय'। ब्रज-दर्शन करने वाला निरन्तर यही कहता रहता है—''ऊधौं, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।''

कृपैषी

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

संपादक

विषयानुक्रमणिका

		पृ. सं.
1.	अक्षय तृतीया	1
2.	अक्षय नवमी	1
3.	अग्रदास	2
4.	अग्निदेव	2
5.	अग्निपुराण	3
6.	अचिन्त्य-भेदाभेद वाद	4
7.	अटलकिशोर	9
8.	अणुभाष्यम्	9
9.	अथर्ववेद	9
10.	अद्वैतवाद	11
11.	अनंत दास	13
12.	अनंतनाथ	14
13.	अनंतानंद	15
14.	अनन्य अलि	16
15.	अनन्य देव	17
16.	अन्त:करणप्रबोध	17
17.	अन्नकूट	17
18.	अमरदास	17
19.	अलंकार कौस्तुभ	18
20.	अलबेली शरण	18
21.	अलीगढ़ के ईसाई धार्मिक स्थल	18
22.	अलीगढ़ के जैन धार्मिक स्थल	19
23.	अलीगढ़ के मुस्लिम धार्मिक स्थल	20
24.	अलीगढ़ के हिन्दू धार्मिक स्थल	22
25.	अवतार	25
26.	अविकृत परिणामवाद	26
27.	अश्विनी कुमार	27
28.	अष्टछाप	28
29.	अष्टयाम सेवा	29
30.	अहिंसा	29
31.	आगरा के आर्य समाज मन्दिर	31
32.	आगरा के ईसाई धार्मिक स्थल	33
33.	आगरा के जैन धार्मिक स्थल	35
34.	आगरा के मुस्लिम धार्मिक स्थल	41
35.	आगरा के सिक्ख धार्मिक स्थल	49
36.	आगरा के हिन्दू धार्मिक स्थल	51
37.	आचमन	63
38.	आत्मानंद	64
39.	आत्माराम इकंगी	65
40.	आनन्दवृन्दावनचम्पू	65
41.	आनंदीबाई	66
42.	आयागपट्ट जैन पूजा के प्रथम सोपान	67
43.	आयुर्वेद	68
44.	आर्यसमाज का दार्शनिक सिद्धान्त	70
45.	आरण्यक ग्रंथ	72
46.	आलवार	73
47.	आश्रम व्यवस्था	76
48.	आसानन्द	77
49.	इंजील	78
50.	इंद्रदास काठियाबाबा	79
51.	इच्छाद्वैत	79
52.	इस्लाम धर्म का दार्शनिक मत	82
53.	इस्लाम धर्म की उपासना पद्धति	83
54.	इस्लाम धर्म के प्रमुख त्यौहार	83
55.	ईशान नागर	84
56.	ईशावास्योपनिषद्	85
57.	ईश्वरपुरी	87
58.	उज्ज्वल नीलमणि	88

	पृ. सं.
59. उत्तमदास	89
60. उद्धवदास	89
61. उद्धव-संदेश	90
62. उपनयन	90
63. उपनिषद् भाष्य	91
64. उपनिषद् भाष्य (अद्वैत)	91
65. उपवेद	92
66. उपेन्द्र भट्टाचार्य	94
67. ऊषा	94
68. ऋग्वेद	96
69. ऋषीकेशदेव	97
70. एटा जनपद के मुस्लिम धार्मिक स्थल	98
71. एटा जनपद के सिक्ख धार्मिक स्थल	99
72. एटा जनपद के हिन्दू धार्मिक स्थल	100
73. एनी बिसेण्ट	101
74. ऐश्वर्यकादम्बिनी	102
75. औदुम्बर संहिता	103
76. औदुम्बराचार्य	105
77. कंस मेला	107
78. कड़चा	107
79. कन्हरदेव	107
80. कठोपनिषद्	107
81. कर्णहर देवाचार्य	108
82. कर्णानंद	109
83. कमलनयन	109
84. कमलनयन गोस्वामी	109
85. कर्म	110
86. करौली के हिन्दू धार्मिक स्थल	112
87. कलिसंतरणोपनिषद्	113
88. कल्पसूत्र	113
89. कल्याण पुजारी	114
90. कवि कर्णपूर	115
91. कादाचित्की लीला	115
92. कादिरी संप्रदाय	115
93. कामवन के हिन्दू धार्मिक स्थल	116
94. कार्तिक नियम सेवा	118
95. कार्तिक पूर्णिमा	118
96. काव्यकौस्तुभ	118
97. कासगंज के ईसाई धार्मिक स्थल	118
98. कासगंज के जैन धार्मिक स्थल	119
99. कासगंज के मुस्लिम धार्मिक स्थल	119
100. कासगंज के सिक्ख धार्मिक स्थल	120
101. कासगंज के हिन्दू धार्मिक स्थल	120
102. किशोरदास	121
103. किशोरीदास गोस्वामी	121
104. कीलदास	122
105. कुंजलाल	122
106. कुंजो देवी	123
107. कुम्भनदास	123
108. कुरान-ए-शरीफ	124
109. कूर्मपुराण	125
110. कृपाचार्य	125
111. कृष्ण कर्णामृत	126
112. कृष्ण-कर्णामृत टीका	127
113. कृष्णचंद्र	127
114. कृष्णचरणदास गोस्वामी	128
115. कृष्णदास (प्रथम)	128
116. कृष्णदास (द्वितीय)	128
117. कृष्णदास (तृतीय)	129
118. कृष्णदास (चतुर्थ)	129
119. कृष्णदास पयहारी	130
120. कृष्णदास (रनवारी वाले)	131
121. कृष्णदास (भावुक)	133
122. कृष्ण द्वैपायन व्यास	133
123. कृष्ण भट्टाचार्य	134
124. कृष्ण सम्बन्धी जैन साहित्य	134
125. कृष्णादासी	137

	पृ. सं.
126. कृष्णाह्निक कौमुदी	137
127. कृष्णाश्रय:	138
128. कृष्णोपनिषद्	138
129. केन उपनिषद्	139
130. केवलराम	140
131. केशव देवाचार्य	141
132. केशव भट्टाचार्य	141
133. कोसीकलां के हिन्दू धार्मिक स्थल	141
134. क्रम दीपिका	144
135. खिचरी उत्सव	145
136. गंगा दशहरा	146
137. गंगानारायण चक्रवर्ती	146
138. गंगाविष्णुदास	146
139. गर्ग	147
140. गर्ग संहिता	147
141. गदाधर भट्ट	148
142. गरीबदास	149
143. गरुड़ पुराण	150
144. गांगल भट्टाचार्य	151
145. गायत्री उपासना	151
146. गिरधर जी	153
147. गीतातत्त्व प्रकाशिका	153
148. गीताभूषण	154
149. गुरु ग्रन्थ साहिब	154
150. गुरुग्राम के हिन्दू धार्मिक स्थल	155
151. गुरुनानक देव	157
152. गुरु पूर्णिमा	158
153. गुरु प्रसाद	159
154. गुरुमुखदास	159
155. गुरुसेवक	159
156. गोकुल के हिन्दू धार्मिक स्थल	160
157. गोकुलदास	165
158. गोकुलनाथ	165
159. गोकुलनाथ की बैठकें	167
160. गोपदेव	169
161. गोपाल गुरु	169
162. गोपाल चम्पू	169
163. गोपालदास	170
164. गोपाल भट्ट	170
165. गोपाल भट्टाचार्य	170
166. गोपाललाल	171
167. गोपाल विलास	171
168. गोपालाचार्य	171
169. गोपाष्टमी	172
170. गोपीनाथ	172
171. गोपीनाथ भट्टाचार्य	172
172. गोपेन्द्र	172
173. गोपेश्वर	173
174. गोवर्धन के हिन्दू धार्मिक स्थल	173
175. गोवर्धन देव	176
176. गोवर्धन पूजा	176
177. गोवर्धनपीठ, पुरी	177
178. गोवर्धनेश	177
179. गोविन्द जी	178
180. गोविन्द कविराज	178
181. गोविन्ददास आचार्य	178
182. गोविन्द दास कर्मकार	179
183. गोविन्ददास चक्रवर्ती	179
184. गोविन्द भाष्य	179
185. गोविन्द राय	182
186. गोविन्द लीलामृत	182
187. गोविन्द शरण देवाचार्य	184
188. गौरगणोद्देश दीपिका	184
189. गौरांगदास	185
190. गौरांग विरुदावली	185
191. गौरीदास कीर्त्तनियां	185
192. गौरीदास पंडित	185
193. घनश्याम गोस्वामी	187

	पृ. सं.
194. चंडीदास	188
195. चन्द्र (आचार्य)	188
196. चंद्रदास	189
197. चन्द्रशेखरदास	189
198. चतुर्भुजदास	189
199. चतुरचिंतामणि देवाचार्य (नागाजी)	190
200. चतुरशिरोमणिलाल गोस्वामी	191
201. चतुवर्ण	191
202. चतु:श्लोकी	192
203. चम्पति	192
204. चरणखाक	193
205. चिंतामणिदेव	193
206. चिश्ती संप्रदाय	193
207. चूड़ामणि	194
208. चैतन्यचन्द्रामृत	194
209. चैतन्य चन्द्रोदय	194
210. चैतन्य चरितामृत	195
211. चैतन्य दास	198
212. चैतन्य भागवत	198
213. चैतन्य मंगल	199
214. छन्द	200
215. छप्पनभोग	202
216. जगत्	203
217. जगन्नाथदास	204
218. जन्माष्टमी	204
219. जनहरिया	204
220. जनार्दन देव	206
221. जम्बू स्वामी	206
222. जयदेव	206
223. जल विहार	207
224. जलभेद:	207
225. जानकीदास	208
226. जीव	208
227. जीव गोस्वामी	209
228. जीवनदास	210
229. जुगल जोड़ी परिक्रमा	210
230. जुगलदास	210
231. जैन आगम ग्रंथ	210
232. जैन धर्म और श्रीकृष्ण	211
233. जैन धर्म का दार्शनिक सिद्धान्त	213
234. जैन धर्म में कृष्ण कथा	216
235. जैन धार्मिक स्थल फतेहपुर सीकरी	226
236. जैन मंगल-चिह्न	226
237. जैन रासो ग्रंथ	229
238. जैरामदास	230
239. ज्योतिर्मठ, बद्रिकाश्रम	231
240. ज्योतिष	231
241. ज्ञान	233
242. ठंडीराम	236
243. ठाकुरदास	236
244. डंडौतीराम	236
245. डीग के जैन धार्मिक स्थल	237
246. डीग के मुस्लिम धार्मिक स्थल	237
247. डीग के सिक्ख धार्मिक स्थल	238
248. डीग के हिन्दू धार्मिक स्थल	238
249. डोल उत्सव	239
250. डोलोत्सव	239
251. तत्त्वदीपनिबन्ध	241
252. तत्त्ववेत्ताचार्य	241
253. तर्पण	241
254. तिलक	243
255. तीन वन परिक्रमा	245
256. तुलसीदास (लालजी)	245
257. तुलसी साहब	246
258. तौरात	246
259. त्यागीराम	248
260. त्रिभंगदेव	248
261. थियोसोफिकल सोसाइटी	248
262. दयानंद सरस्वती	250

	पृ. सं.
263. दयानंद सरस्वती के ग्रंथ	253
264. दशहरा	254
265. दस महाविद्या	254
266. दाऊजी	257
267. दाऊजी मंदिर, बलदेव	257
268. दाऊजी मंदिर (सेवा पद्धति)	258
269. दाताराम	260
270. दान	260
271. दामोदर (ताऊ जी)	261
272. दामोदरदेव	261
273. दामोदरवर	261
274. दामोदर स्वामी	262
275. द्वारकेश	263
276. दासकुंअर	264
277. दिल्ली स्थित शुक संप्रदाय के स्थान	264
278. दीक्षा (ब्रह्म संबंध)	265
279. दीपावली	265
280. देव की नन्दन	266
281. देवाचार्य	266
282. देवेन्द्र नाथ ठाकुर	267
283. देवोत्थान एकादशी	267
284. द्वैताद्वैत	268
285. द्वैताद्वैतसिद्धान्त सेतुका	269
286. दौलतराम	269
287. द्यौ	269
288. धन तेरस	270
289. धर्मनाथ	271
290. ध्रुवदास	272
291. धौलपुर जिले के प्रमुख हिन्दू धार्मिक स्थल	273
292. नंद उत्सव	277
293. नंदकिशोर दास गोस्वामी	277
294. नंदगांव के हिन्दू धार्मिक स्थल	278
295. नंददास (प्रंथम)	279
296. नंददास (द्वितीय)	279
297. नंदराम	280
298. नर्क	280
299. नक्शबन्दिया संप्रदाय	282
300. नमि (तीर्थंकर)	283
301. नयन्नार	284
302. नरक चौदस	285
303. नरवाहन	285
304. नरहरिदास	285
305. नवद्वीप धाम	286
306. नवरत्नम्	287
307. नवरात्रि	287
308. नवलसखी	288
309. नव-सम्वत्सर	288
310. नागरीदास (गुसाईं)	288
311. नागरीदास तथा सरसदास	289
312. नाम सेवा	289
313. नारद	290
314. नारद पुराण	290
315. नारद भक्ति सूत्र	291
316. नारायण भट्ट	292
317. नारायणीय धर्म	292
318. निकुंज रहस्यस्तव	293
319. नित्य विहार	293
320. नित्योत्सव	294
321. निम्बार्क-विक्रान्ति	294
322. निम्बार्कशरण देवाचार्य	296
323. निंबार्काचार्य	296
324. निरुक्त	297
325. निरोधलक्षणम्	298
326. निवासाचार्य	298
327. निशीथ सूत्र	299
328. नूपीबाई	299
329. नेमि (तीर्थंकर)	300
330. नैनादास काठियाबाबा	300
331. नृसिंहकिशोर	301

	पृ. सं.
332. नृसिंह चतुर्दशी	301
333. पंचपद्यानि	302
334. पउमचरिय	302
335. पद्मनाभ भट्टाचार्य	302
336. पद्मपुराण	302
337. पद्माकर भट्टाचार्य	305
338. पद्माचार्य	305
339. परकीया भाव	306
340. परपक्षगिरिवज्र	312
341. परमानन्द दास	312
342. परमानन्द दास (परमदास)	312
343. परमानन्द देवाचार्य	313
344. परशुराम देवाचार्य	313
345. पलवल के ईसाई धार्मिक स्थल	313
346. पलवल के जैन धार्मिक स्थल	314
347. पलवल के सिक्ख धार्मिक स्थल	314
348. पलवल के हिन्दू धार्मिक स्थल	314
349. पवित्रा	315
350. पांचरात्र	316
351. पार्श्वनाथ (तीर्थंकर)	317
352. पीतांबरदास	317
353. पीताम्बरदेव	318
354. पुराणों में राधा	318
355. पुरुषोत्तम	320
356. पुरुषोत्तमाचार्य	321
357. पुस्तक ठौर	322
358. पुष्टिमार्ग	322
359. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद	323
360. पुष्टिमार्गीय सेवा (भोग राग)	323
361. पुष्टिमार्ग सेवा पद्धति (अष्टयाम)	325
362. प्रपन्नकल्पवल्ली	327
363. प्रबोधानन्द सरस्वती	327
364. प्रपत्ति मार्ग	327
365. प्रमेयरत्नावली	327
366. प्रयाग पीठ	328
367. प्रश्नोपनिषद्	334
368. प्राणनाथ	335
369. प्रायश्चित	336
370. प्रायिकी लीला	337
371. प्रियादास (दनकौर वाले)	337
372. प्रियादास (पटना वाले)	338
373. प्रेमघन	339
374. प्रेमदास	339
375. प्रेमनारायण	340
376. फिरोजाबाद के ईसाई धार्मिक स्थल	341
377. फिरोजाबाद के जैन धार्मिक स्थल	341
378. फिरोजाबाद के मुस्लिम धार्मिक स्थल	346
379. फिरोजाबाद के सिक्ख धार्मिक स्थल	348
380. फिरोजाबाद के हिन्दू धार्मिक स्थल	348
381. फुलैरा दौज	353
382. बटेश्वर के जैन धार्मिक स्थल	354
383. बटेश्वर के मुस्लिम धार्मिक स्थल	355
384. बटेश्वर के हिन्दू धार्मिक स्थल	356
385. बड़ी सूरमा कुंज	357
386. बरसाना के हिन्दू धार्मिक स्थल	357
387. बलदेव के हिन्दू धार्मिक स्थल	358
388. बलदेव छठ	361
389. बलदेव दास	361
390. बलभद्राचार्य	362
391. बलभद्राचार्य	362
392. बल्लभदास	362
393. बसन्त पंचमी	362
394. बालकृष्ण	363
395. बालबोध	363
396. बाल्मीकि	363
397. बाहुबल देवाचार्य	364
398. बिन्दु तथा नादकुल (राधावल्लभ संप्रदाय)	364
399. बिहारिनदास	365
400. बैकुण्ठ	365
401. बोहित देवाचार्य	366

	पृ. सं.
402. बौद्ध धर्म और श्रीकृष्ण	366
403. बौद्ध धर्म में कृष्ण कथा	372
404. ब्रजजीवन देव	378
405. ब्रज भक्ति विलास	379
406. ब्रजभूषण देव	379
407. ब्रजराजशरण देवाचार्य	379
408. ब्रजाभरण दीक्षित	379
409. ब्रजोत्सव चन्द्रिका	380
410. ब्रह्म	381
411. ब्रह्मपुराण	384
412. ब्रह्मप्रकाश	384
413. ब्रह्मवैवर्तपुराण	385
414. ब्रह्म समाज	387
415. ब्रह्म सम्बन्ध	388
416. ब्रह्मसूत्र	388
417. ब्रह्मसूत्र भाष्य	389
418. ब्रह्माण्ड पुराण	391
419. ब्रह्मोत्सव	392
420. ब्राह्मण ग्रंथ	393
421. बृहद् भागवतामृत	395
422. भक्ति	397
423. भक्ति रसामृत सिन्धु	398
424. भक्तिवर्द्धिनी	399
425. भगवानदास	399
426. भरतपुर के ईसाई धार्मिक स्थल	399
427. भरतपुर के जैन धार्मिक स्थल	400
428. भरतपुर के मुस्लिम धार्मिक स्थल	401
429. भरतपुर के हिन्दू धार्मिक स्थल	401
430. भविष्य पुराण	405
431. भागवत पुराण	406
432. भागवत सुबोधिनी	407
433. भावनोपनिषद्	408
434. भूधरदेव	409
435. भूरि भट्टाचार्य	409
436. मंदिर की विशिष्ट शब्दावली	410
437. मन्त्र रहस्य षोडशी	423
438. मकर संक्रान्ति	423
439. मत्स्यपुराण	423
440. मथुरा के आर्य समाजी धार्मिक स्थल	424
441. मथुरा के ईसाई धार्मिक स्थल	424
442. मथुरा के जैन धार्मिक स्थल	425
443. मथुरा के मुस्लिम धार्मिक स्थल	426
444. मथुरा के हिन्दू धार्मिक स्थल	427
445. मथुरानाथ	440
446. मथुरानाथ गोस्वामी	440
447. मथुरा माहात्म्य	440
448. मधुवनदास	442
449. मधुसूदन दास	442
450. मधुसूदन देव	443
451. मध्वाचार्य	443
452. मरुत	445
453. महात्मा बुद्ध	446
454. महावीर स्वामी	446
455. महाशिवरात्रि	447
456. मांगलिक प्रतीक	448
457. मार्कण्डेय पुराण	456
458. माधव देवाचार्य	458
459. माधव भट्टाचार्य	458
460. माधव महोत्सव	458
461. माधवाचार्य	459
462. माधवेन्द्रपुरी	459
463. माध्ववेदांत	460
464. मानसी गंगा	465
465. माया	465
466. मुकुंददास गोस्वामी	466
467. मुकुंददेव	467
468. मुण्डकोपनिषद्	467
469. मुरलीधर	468
470. मुरलीमनोहर	468
471. मुरली बिहारी	468

	पृ. सं.
472. मोक्ष	468
473. मोहनचन्द्र	470
474. मोहन देव	470
475. मौनी अमावस्या	470
476. यजुर्वेद	470
477. यदुनाथ	472
478. यम	472
479. यमुना छठ	473
480. यमुनाष्टकम्	474
481. यशुदानन्दनदेव	474
482. युगलकिशोर देव	474
483. युगलगीतिशतकम्	474
484. योग	474
485. योगी विद्यानाथ	476
486. रंग मंदिर सेवा पद्धति	477
487. रंगदेशिक स्वामी	479
488. रक्षा बन्धन	479
489. रघुनाथ	479
490. रघुनाथ गोस्वामी	480
491. रघुनन्दन गोस्वामी	480
492. रतनदेव	480
493. रथ यात्रा	481
494. रसिक दास	481
495. रसिक दास	482
496. रसिकानन्द	483
497. राजसिंह	483
498. राधाकृष्ण भक्त कोश	483
499. राधावल्लभीय सेवा पद्धति	483
500. राधामाधव प्रभु	486
501. राधामोहन दास	487
502. राधारमण मंदिर सेवा पद्धति	487
503. राधाष्टमी	489
504. राधा सिद्धांत	489
505. राधा सुधा निधि	491
506. राधिकातापिनीयोपनिषद्	492
507. राधोपनिषद्	492
508. रामकरन	493
509. रामकिशोर	494
510. रामकृष्ण परमहंस	494
511. रामगलतान	495
512. रामगोपाल देवाचार्य	495
513. रामचंद्र कविराज	495
514. रामचंद्र भट्टाचार्य	496
515. रामदास	496
516. रामदास काठियाबाबा	496
517. रामधड़ल्ला	497
518. राम नवमी	497
519. रामप्रताप	498
520. राममौला	498
521. रामसनातन	498
522. रामहेत (रामहेतु)	498
523. रामानंद (रामानंदी संप्रदाय)	499
524. रामानन्दी सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त	500
525. रामानुज	501
526. राय रामानन्द	502
527. रूद्र	503
528. रूपकवीश्वर (कविराज)	504
529. रूप गोस्वामी	505
330. रूपनिधान	506
531. रूपसखी	506
532. लक्ष्मीप्रिया	507
533. लघु भागवतामृत	507
534. लघुवीठल	507
535. लपटगोपाल देवाचार्य	507
536. ललितकिशोरी दास	508
537. ललितभानुदेव	509
538. ललित माधव नाटक	509
539. ललितमाधुरी (गौड़ीय सम्प्रदाय)	510
540. ललितमोहिनी दास	510
541. लाल गिरधर	511

	पृ. सं.
542. लालदास	511
543. लिंगपुराण	511
544. वंशीअलि	512
545. वंशीदास	514
546. वंशीधर देव	514
547. वनचंद जी	514
548. वरुण	514
549. वल्लभ सम्प्रदाय की प्रमुख गद्दियां	515
550. वल्लभाचार्य	517
551. वल्लभाचार्य की बैठकें	518
552. वसुदेव	520
553. वामन पुराण	520
554. वामन भट्टाचार्य	521
555. वायुपुराण	521
556. वाराहपुराण	522
557. वाल्मीकि रामायण	523
558. वासुपूज्य	525
559. विज्ञप्ति	525
560. विठ्ठल नाथ	526
561. विट्ठलनाथ जी की बैठकें	528
562. विदग्धमाधव नाटक	529
563. विद्वन्मण्डल	530
564. विट्ठल राय	530
565. विमलनाथ	530
566. विरजानन्द	531
567. विल्बमंगल	532
568. विलासाचार्य	534
569. विवेकधैर्याश्रय:	534
570. विश्वाचार्य	535
571. विशिष्टाद्वैत दर्शन	535
572. विष्णुपुराण	536
573. विष्णुप्रिया	537
574. विष्णुसहस्त्रनाम भाष्य	537
575. विष्णुस्वामी	538
576. विहार पंचमी	539
577. वीठल विपुल	539
578. वेदान्त कामधेनु	540
579. वेदान्त कौस्तुभ	540
580. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा भाष्य	540
581. वेदान्त पारिजात सौरभ	541
582. वेदान्तरत्नमंजूषा	541
583. वेदान्तस्यमन्तक	541
584. वैष्णव सम्प्रदायों में वृन्दावन वास	542
585. वृन्दावन की कुंज संस्कृति, मंदिर	544
586. वृंदावन की गौशालायें	568
587. वृन्दावनदास (चाचा जी)	570
588. वृन्दावनमहिमामृत	571
589. वृन्दावन स्थित शुक सम्प्रदाय के स्थान	571
590. व्यंजन द्वादशी	573
591. व्याकरण कौमुदी	573
592. शंकराचार्य	574
593. शरद पूर्णिमा	575
594. शारदापीठ, द्वारका	576
595. शाह बरकतुल्ला पेमी	577
596. शिकोहाबाद के ईसाई धार्मिक स्थल	577
597. शिकोहाबाद के जैन धार्मिक स्थल	577
598. शिकोहाबाद के मुस्लिम धार्मिक स्थल	578
599. शिकोहाबाद के सिक्ख धार्मिक स्थल	579
600. शिकोहाबाद के हिन्दू धार्मिक स्थल	579
601. शिखी महती	580
602. शिवदयाल सिंह (स्वामी जी)	581
603. शिवपुराण	582
604. शिवानन्द सेन	584
605. शुकदेव	584
606. शुक संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत	585
607. शुक संप्रदाय का स्थान (डहरा)	586
608. शुक संप्रदाय से सम्बन्धित स्थान (जयपुर)	588
609. शुद्धाद्वैत दर्शन	590
610. शेख सलीम चिश्ती	591
611. शैव सम्प्रदाय	591

	पृ. सं.
612. श्यामखोजी	593
613. श्याम चरणदास	593
614. श्यामदेव	595
615. श्याम भट्टाचार्य	595
616. श्यामरूप	595
617. श्यामाचार्य	595
618. श्रवण भट्टाचार्य	595
619. श्राद्ध	596
620. श्रेयांसनाथ	597
621. शृंगार रस मण्डन	598
622. शृंगेरी पीठ	598
623. श्रीमद्देवी भागवत	599
624. श्रीमद्भगवत गीता भाष्य	599
625. श्रीमद्भागवत महापुराण	601
626. श्रीवास पण्डित	602
627. षट् संदर्भ	603
628. संकल्पकल्पद्रुम	605
629. संगीत माधव	605
630. संदीपनी मुनि	605
631. संन्यासनिर्णय:	606
632. संस्कार	606
633. सकट चौथ	610
634. सखी भाव	610
635. सत्य	612
636. सत्यार्थ प्रकाश	613
637. सनकादि ऋषिगण	614
638. सनातन गोस्वामी	614
639. सबगतिराम (द्वितीय)	615
640. समाधि संस्कृति और ब्रज-वृन्दावन	615
641. सविता	618
642. सविशेषनिर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज	619
643. सर्वसम्वादिनी	620
644. सर्वेश्वर प्रभु	620
645. सर्वेश्वरशरण देवाचार्य	620
646. सर्वोत्तम स्तोत्र	621
647. सहचरिशरण	621
648. सहजानन्द	622
649. सांख्य दर्शन	622
650. साधुराम (प्रथम)	624
651. सामवेद	624
652. सालिगराम (हजूर महाराज)	626
653. साहब पंथ	628
654. साहित्यकौमुदी	628
655. सिक्खों के गुरु	628
656. सिद्धान्त जाह्नवी	633
657. सिद्धान्तदर्पण	633
658. सिद्धान्तमुक्तावली	633
659. सिद्धान्तरत्न	633
660. सिद्धान्त रत्नांजलि	635
661. सिद्धान्तरहस्यम्	635
662. सीतलदास	635
663. सुखरामदास (द्वितीय)	636
664. सुन्दर भट्टाचार्य	636
665. सुवलानन्द	636
666. सुरतभानदेव	636
667. सुहरावर्दी संप्रदाय	637
668. सूर्य	637
669. सूरदास	638
670. सेवाफलम्	639
671. सोमवती अमावस्या	639
672. सौभरि ऋषि	639
673. स्कंदपुराण	640
674. स्मरण मंगल स्तोत्र	641
675. स्मृति ग्रंथ	642
676. स्वर्ग	643
677. स्वभूराम देवाचार्य	643
678. स्वरूपाचार्य	644
679. हंसदूत	645
680. हंस भगवान	645
681. हँसमुखदास	645

	पृ. सं.
682. हजरत निजामुद्दीन औलिया	645
683. हजरत मुहम्मद साहब	646
684. हदीस	647
685. हनुमान जन्मोत्सव	650
686. हरिवंशाष्टक	650
687. हरिकिशोर	650
688. हरिदास (गौड़ीय)	651
689. हरिदास	651
690. हरिदास (द्वितीय)	652
691. हरिदास डागुर	652
692. हरिदास पंडित	653
693. हरिदास बाबा	653
694. हरिदासी सम्प्रदाय की उपासना परम्परा	654
695. हरिदेवदास	657
696. हरिभक्ति विलास	657
697. हरिनामामृतव्याकरण	657
698. हरिनारायण	657
699. हरिप्रसाद	657
700. हरियाली अमावस	658
701. हरियाली तीज	658
702. हरिराम व्यास	659
703. हरिलाल व्यास	660
704. हरिराय	661
705. हरिवल्लभ देव	663
706. हरिविलास	663
707. हरिविलास देव	663
708. हरिस्वरूप	664
709. हित घाट	664
710. हित तत्त्व	664
711. हित हरिवंश महाप्रभु	665
712. हेमलता ठकुरानी	667
713. होली	667

परिशिष्ट

	पृ. सं.
01. अखण्डानन्द सरस्वती	670
02. अगम प्रसाद माथुर	671
03. आनंदस्वरूप	673
04. उड़िया बाबा	674
05. करपात्री महाराज	674
06. कामता प्रसाद सिन्हा	676
07. काशी गद्दी	677
08. कृष्णबोधाश्रम महाराज	677
09. ग्वारिया बाबा	679
10. गायत्री तपोभूमि के प्रमुख स्थान	680
11. गुरुप्रसाद (कुंवर जी)	680
12. गोपाल आश्रम	682
13. गोपीश्वर शरण देवाचार्य	682
14. गौड़ीय मठ	683
15. घनश्याम शरण देवाचार्य	684
16. चतुर्भुज सहाय	684
17. जगद्गुरु कृपालु महाराज	685
18. जीवनदत्त महाराज (नरवर वाले)	685
19. दयालबाग	687
20. दामोदर किशोर	688

	पृ. सं.		पृ. सं.
21. देवदास काठियाबाबा	688	37. राजा राममोहन राय	701
22. धनंजयदास काठियाबाबा	689	38. राधास्वामी सत्संग (पीपल मण्डी)	702
23. नीबकरौरी बाबा	690	39. राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य	702
24. नृसिंहदास	690	40. रामअजुध्य प्रसाद (लालाजी)	703
25. पागल बाबा	691	41. रामचंद्र (महात्मा)	705
26. प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	691	42. रामाश्रय सत्संग (एटा)	705
27. प्रेमदास काठियाबाबा	692	43. रामाश्रय सत्संग के प्रमुख ग्रंथ	706
28. बालकृष्ण शरण देवाचार्य	693	44. रामाश्रय सत्संग दार्शनिक मत	707
29. ब्रह्मशंकर मिश्र (महाराज साहब)	694	45. रामाश्रय सत्संग (मथुरा)	708
30. भक्ति वेदान्त प्रभुपाद	694	46. रासबिहारी दास काठियाबाबा	708
31. मंगलायतन (जैन तीर्थ)	696	47. स्वामी विवेकानन्द	709
32. माधव प्रसाद सिंह (बाबूजी)	698	48. शरणानंद महाराज	710
33. माहेश्वरी देवी (बुआजी)	699	49. संतदास काठियाबाबा	711
34. मिहीलाल	699	50. स्वामीबाग, आगरा	712
35. मोहनदास काठियाबाबा	700	51. हंसदास महाराज	713
36. युगलमनोहर शरण	700	52. हरिप्रियाशरण जी महाराज	713

अ

अक्षय तृतीया

ब्रज के मंदिर-देवालयों में ग्रीष्मकालीन सेवा के अन्तर्गत अक्षय तृतीया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दौरान यहाँ के सभी वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बद्ध मंदिरों में श्रीविग्रह की छटा देखते ही बनती है। मान्यता के अनुसार अक्षय तृतीया वाले दिन किये गये पुण्य कार्यों का कभी क्षय नहीं होता। प्रत्येक विक्रमी संवत के वैशाख में शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि को 'अक्षय तीज' की संज्ञा प्राप्त है। ब्रज के प्रत्येक वैष्णव देवालयों में अक्षय तृतीया का यह पर्व प्रभु की ग्रीष्मकालीन सेवाओं में अति महत्वपूर्ण है। ब्रजमण्डल के नंदगाँव, बरसाना, गोकुल, महावन, दाऊजी, वृन्दावन, गोवर्धन, राधाकुण्ड सहित अनेक स्थानों के देवालयों में अक्षय तृतीया अर्थात् चन्दनोत्सव की यह अपनी विशिष्ट परम्परा है। लिखित साहित्य में भी इसके प्राचीन उल्लेख दर्शित होते हैं जो पिछले सैकड़ों वर्षों में यहाँ की देवालयी संस्कृति के अन्तर्गत पल्लवित होते रहे। सायंकाल मंदिर में श्रीविग्रह के सन्मुख समाज गायन अथवा कीर्तन के दौरान इसके गायन की परम्परा आज भी देखी जा सकती है। वृन्दावन शोध संस्थान सहित ब्रजमण्डल के अनेक निजी ग्रंथागारों में इस विषय से सम्बन्धित अनेक प्राचीन पोथियाँ इस पारम्परिक उत्सव का महत्त्व दर्शाने वाली हैं। इस दौरान मंदिरों में ठाकुरजी को ग्रीष्म ऋतु के कुप्रभावों से बचाने के लिये उनके श्रीअंगों पर चंदन का लेप किया जाता है। मंदिरों में चंदन घिसने की तैयारी लगभग एक माह पूर्व से ही शुरू हो जाती है। चंदन की घुटाई के लिये यहाँ मंदिरों में पारम्परिक शिलायें विद्यमान हैं जिन पर चंदन घिसते हुए कपूर, अगरू, गुलाब जल, केसर एवं जड़ी-बूटी मिश्रित करके चंदन के गोले तैयार कर लिये जाते हैं। अक्षय तृतीया वाले दिन इन गोलों को गलाकर लेपन करते हुए प्रभु का चंदन से भव्य शृंगार किया जाता है तथा फूल-बंगले सजाये जाते हैं।

आज बने नँद नंदन री नव चँदन अंग अरगजा लाये।
सरकत हार सुढार जलज मनि, गुंजत अलि अलकन समुदाये।

(सूर पदावली)
[रा०श०]

अक्षय नवमी

कार्तिक माह की नवमी तिथि को आयोजित अक्षय नवमी का ब्रज में विशेष महत्त्व है। इस अवसर पर यहाँ मथुरा, वृन्दावन एवं गरुड़ गोविन्द की परिक्रमा का विशेष महात्म्य है। इस अक्षय नवमी के ही दिन श्री निम्बार्क संप्रदाय प्रवर्तक श्री हंस भगवान का प्राकट्य दिवस, श्री सनकादिक ऋषियों का प्राकट्य दिवस एवं श्री सर्वेश्वर भगवान का प्राकट्य दिवस मनाया जाता है। यह दिवस श्री निम्बार्क संप्रदाय के सभी मंदिरों में विशेष समारोहपूर्वक मनाया जाता है। इस दिन उक्त सभी श्री विग्रहों का पंचामृत महाभिषेक करके विशेष पीत वस्त्रों को धारण कराकर शृंगार के बाद महा आरती होती है तथा मोहन भोग का विशेष भोग लगाकर उत्सव मनाया जाता है। इस दिन को भारतीय जनमानस में ''वेद स्थापना दिवस'' के रूप में भी मनाया जाता है। इस दिवस में इतनी विशेषता होने के कारण ही जनमानस में इस दिवस को विशेष महत्व प्राप्त है। इस दिन सामर्थ्य के अनुसार दान-पुण्य आदि किये जाते हैं। ब्रज में यह दिन

मथुरा, वृन्दावन तथा गरुड़ गोविन्द (तीन वन परिक्रमा) या युगल जोड़ी परिक्रमा के नाम से भी जाना जाता है। मान्यतानुसार श्रीकृष्ण स्वरूप मथुरा, राधा स्वरूप श्री वृन्दावन तथा नारायण स्वरूप श्रीगरुड़ गोविन्द की परिक्रमा तथा यमुना स्नान करके श्रद्धापूर्वक दान-पुण्य करने से इस दिन अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। ऐसी मान्यता है कि इस दिन किये हुए धार्मिक कार्यों का पुण्य कभी एवं किसी प्रकार क्षय नहीं होता; इसीलिये इस पवित्र तिथि को अक्षय नवमी के नाम से संज्ञित किया गया है। [प्र०श०]

अग्रदास

भक्तमाल (श्रीजी मंदिर), वृंदावन द्वारा प्रकाशित भूमिका में स्वामी अग्रदास के अग्र, अगर, अग्रदेव, अग्रजी, अग्रनारायण आदि नामों का उल्लेख हुआ है। आप स्वामी रामानंदी संप्रदाय के आचार्य कृष्णदास पयहारी के 24 शिष्यों में अन्यतम थे तथा भक्तमाल के रचयिता नाभादास के गुरु थे।

स्वामी अग्रदास के माता-पिता, जन्मभूमि आदि अभी तक विश्वस्त रूप से अज्ञात हैं, किंतु उन्हें अष्टयाम, ध्यान मंजरी, कुंडलियाँ पदावली, रानी मंगल आदि रचनाओं का रचयिता माना जाता है। आपकी स्थिति काल का भी सही पता अभी तक अज्ञात है। इतना अवश्य सुनिश्चित है कि वे स्वामी कीलदास के समकालीन थे।

स्वामी अग्रदास स्वामी कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। स्वामी कृष्णदास की विद्यमानता 16वीं शती बताई जाती है। अग्रदास ने गुरु दीक्षा स्वामी पयहारी से ली थी। इनकी रचनाओं में अग्रअली, अग्रदास, अग्रस्वामी आदि नामों की छाप मिलती है।

नाभादास कृत भक्तमाल की कई टीकाएं एवं परिशोधित, परिवर्धित, विवर्धित प्रतियां प्रकाशित हुई हैं जिनमें किसी में अग्रदास का नाम अंकित हुआ है और किसी में नहीं। परंतु प्रचलित प्रति में रामानंद, पयहारी, कृष्णानंद और अग्रदास का नाम दो-दो बार आया है। ऐसा होना उनकी सांप्रदायिक महत्ता का अभिद्योतक है। इससे सिद्ध होता है कि श्री रामानुज प्रवर्तित श्री रामानंदी परंपरा के आचार्यों में स्वामी अग्रदास के नाम का आना महत्व की बात है। इनके विषय में अधिकाधिक अनुसंधान या गवेषणा किया जाना अभी पर्याप्त अपेक्षित है।[प्रे०मि०मै०]

अग्निदेव

वेदों में प्रथम है ऋग्वेद और ऋग्वेद में सर्वप्रथम शाब्दिक रूप में प्रवेश अग्नि का होता है, अर्थात् इस कथन में किंचित भी संदेह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक-साहित्य का प्रथम शब्द अग्नि है, उसी प्रकार देवों में भी अग्नि का स्थान प्रमुख है, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रंथ स्पष्टत: समस्त देवताओं में अग्नि का प्रथम-पद स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद के प्रारंभ में आचार्य यास्क एवं सायणाचार्य कहते हैं कि अग्नि देवताओं में अग्रणी हैं। वह सबके आगे-आगे गतिमान होते हैं। वह युद्ध में सेनापति हैं और यज्ञ में हविष्य ग्रहण करने वाले भी वही हैं। अग्नि का प्रधान गुण है ग्रहण करना। महाभारत में प्रसंग आता है कि अग्नि को भृगु ऋषि ने प्रत्येक पदार्थ के भक्षण का शाप दिया, शाप से पीड़ित अग्नि, यज्ञ आहुतियों से पृथक हो गयी, प्राणी जगत में त्राहि-त्राहि के स्वर गूँजने लगे। सृष्टि के संकट को दूर करने के लिए ब्रह्मा ने अग्नि को पवित्रता का आश्वासन दिया। वैसे अग्नि के साथ जुड़ा यह पवित्रता का भाव मात्र हिंदू धर्म और भारत तक सीमित नहीं, रोम और यूनान में अग्नि को इतना ही पवित्र समझा जाता है। पारसी लोग अग्नि में अशुद्ध पदार्थों को नहीं डालते।

इसी प्रकार की एक कथा का वर्णन ब्रह्म पुराण में है कि अग्निदेव के एक भाई थे, जिनका नाम जातवेदस था। वह हव्यवाहक (यज्ञ-सामग्री लाने वाला) थे। इन्हीं जातवेदस की दैत्य माता दिति के पुत्र मधु द्वारा हत्या करने से दुखी होकर अग्निदेव गंगा में छिप गए। अग्नि के बिना समस्त चराचर संकट में आ गया, देवताओं द्वारा आह्वान करने पर

अग्निदेव ने अपनी सुरक्षा का प्रश्न उनके सम्मुख रखा, तब देवताओं ने यज्ञ में भाग देना स्वीकार कर उन्हें मनाया। इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख कहा जाता है। पुराणों में अग्नि की सप्त जिह्वाओं (काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णी, स्फुलिंगी एवं विश्वरुचि) का उल्लेख भी मिलता है। इसके पीछे मान्यता है कि अग्नि को समर्पित की जाने वाली आहुतियाँ सीधे देवता ग्रहण करते हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार अग्नि (हव्यवाहक) की पत्नी दक्ष की पुत्री स्वाहा थीं। अभी स्वाहा नि:संतान ही थीं कि तारक नामक दैत्य से त्रस्त देवताओं का संदेश लेकर अग्नि शुक (तोता) का रूप धरकर भगवान शिव के पास गए, देवताओं की कामना को समझते हुए शिव ने शुक (तोता) बने अग्नि के मुख में अपना अंश डाल दिया। इसी अंश को धारणकर कृतिकाओं ने कार्तिकेय को जन्म दिया और स्वाहा ने सुवर्ण एवं सुवर्णा को, जबकि पुराण स्वाहा से पावक, पवमान और शुचि नामक तीन संतानों की उत्पत्ति मानते हैं। 'अग्नि' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—अगि गतौ, अंगेनलोपश्च, अंग+नि और नकार का लोप वह जो ऊपर की ओर जाता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद अग्नि की प्रशंसा में रचे सूक्तों से सभी वेदों के पृष्ठ रँगे हुए हैं। इंद्र के पश्चात् ऋग्वेद में सर्वाधिक (दो सौ से भी अधिक) सूक्त अग्नि को समर्पित हैं। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के देवता अग्नि ही हैं, जिसमें मधुच्छन्दा कहते हैं कि मैं सर्वप्रथम अग्निदेवता की स्तुति करता हूँ, जो सभी यज्ञों के पुरोहित कहे गये हैं। अग्नि की प्रार्थना करने से यजमान सुख, समृद्धि, सम्पदा एवं सामर्थ्य प्राप्त करता है। ऋग्वेद में अग्नि का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा है कि अग्नि सर्वदर्शी है। उसकी 100 अथवा 1000 आँखें हैं। जिनसे वह मनुष्य के सभी कर्मों को देखता है। वह देवताओं का पौरोहित्य करता है। वह यज्ञों का राजा है। वह मानवों और देवों के बीच मध्यस्थ और सन्देशवाहक है। इसकी लपटें समुद्र की तरंगों जितनी ऊँची हैं। जिनके ज्वलन से चट-चट का स्वर उत्पन्न होता है और आकाश में भाँति-भाँति के स्फुलिंग उड़ते हैं। पक्षी भयाक्रांत होकर भागते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार अग्नि के तीन स्थान और तीन मुख्य रूप हैं। आकाश में वह सूर्य रूप में है, अंतरिक्ष या मध्याकाश में विद्युत रूप में और भूमंडल पर साधारण अग्नि के रूप में। 'संगीतदर्पण' में कहा है—आत्मा के द्वारा प्रेरित चित्त देह में उत्पन्न अग्नि को आहत करता है। ब्रह्मग्रंथि में स्थित अग्नि प्राणक्रम से ऊपर चलते हुए नाभि में अत्यंत सूक्ष्म ध्वनि करता है तथा गले और हृदय में भी सूक्ष्म ध्वनि करता है। सिर में पुष्ट और अपुष्ट तथा मुख में कृत्रिम प्रकाश करता है। विद्वानों ने पाँच प्रकार की अग्नि बतायी है। नकार प्राण का नाम है, दकार अग्नि का नाम है। प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है। सब देवताओं में इसका प्रथम आराध्यत्व ऋग्वेद के सर्वप्रथम मंत्र 'अग्निमीले पुरोहितम्' से प्रकट होता है। योगाग्नि अथवा ज्ञानाग्नि के रूप में भी 'अग्नि' का प्रयोग होता है। श्रीमद्भगवत गीता में यह कथन है-

'ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'

धर्म के समान आधुनिक विज्ञान भी अग्नि को ऊर्जा का अनंत स्रोत मानता है। भारतीय चिंतन ने जीवन हेतु जिन पंचतत्त्वों का प्रादर्श गढ़ा है, वे सभी वैज्ञानिक आधार पर जीवन के लिए अनिवार्य घोषित हो चुके हैं। अग्नि जो कि उनमें से एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और जिसके साथ मानव सभ्यता के विकास की कहानी आरम्भ होती है उसे विकास के प्रतीक के रूप में ही धर्म ने स्वीकारा है। [उ०श्री०]

अग्निपुराण

भगवान वेदव्यास प्रणीत अष्टादश पुराणों में अग्निपुराण एक अन्यतम विशिष्ट पुराण है। यह अक्षय ज्ञान राशि का

भंडार है। इसके ज्ञान मात्र से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। 'पुराणम् पंच लक्षणम्' के अनुसार सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंशानुचरित, दशावतार के अतिरिक्त परा और अपरा विद्या का निरूपण अग्निपुराण में हुआ है। इसे स्वयं भगवान श्रीविष्णु ने सौ करोड़ श्लोकों में अति विस्तार के साथ अग्निदेव को प्रदान किया था। अग्निदेव ने पन्द्रह हजार श्लोकों में संक्षिप्त करके इस पुराण को श्री वशिष्ठ जी को दिया था। श्री वशिष्ठ जी ने व्यास जी को तथा व्यास जी ने सूत जी को यह अग्निपुराण प्रदान किया था।

सूतजी का कथन है कि 'आग्नेयं ब्रह्म रूपं हि' अग्निपुराण निश्चय ही ब्रह्म का वाङ्मय स्वरूप है। ज्ञान के निरूपण की दृष्टि से यह पुराण वेद तुल्य है। भगवान श्रीविष्णु 'परा और अपरा' दो विद्याओं के रूप में अवस्थित हैं। पराविद्या वेदान्त विद्या है जिससे परब्रह्म की प्राप्ति होती है 'पराविद्याऽक्षरं परम्'। अपरा विद्या, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द शास्त्र, पुराण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, न्याय, योग, वैद्यक, गान्धर्व वेद, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के रूप में अति विस्तृत है। इन दोनों विद्याओं के प्रतिपादन पर मुख्य दृष्टि होने से अन्य पुराणों में वर्णित भगवद्वतारों की कथा इस पुराण में अति संक्षिप्त रूप में कही गई है। गागर में सागर भरा गया है। वामन अवतार का मात्र एक श्लोक में वर्णन है।

इसी प्रकार रामचरित के सात काण्डों की कथा मात्र सात अध्यायों में कही गई है। कृष्ण चरित्र का वर्णन हरिवंश वर्णन नाम से मात्र एक अध्याय में किया गया है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि का निरूपण भी एक-एक अध्याय में ही हुआ है। अग्निपुराण के 383 अध्यायों में से लगभग 350 अध्यायों में ज्ञान-विज्ञान का ही सविस्तार निरूपण है। इस क्रम में सर्वप्रथम 'पूजा-प्रकरण' प्राप्त होता है। विष्णु, शिव, गौरी, सूर्य, गणपति इन पंचदेवों की पूजा प्रधान है। इसके अलावा वासुदेवादि मंत्रों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण में संस्कारों की भी विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है।

देवालय और देवप्रतिमा के वर्णन के साथ 'श्रीशालग्राम' जी के लक्षण कहे गये हैं। श्रीशालग्राम पूजा, श्रीशिव पूजा, वास्तु पूजा, कपिला पूजा आदि पूजाओं का विवेचन अग्निपुराण में विस्तारपूर्वक उपलब्ध है। यह प्रसिद्ध श्लोक जिसमें गोमाता (कपिला) को भगवान् ने अपने हृदय में रहने वाली कहा है, अग्निपुराण का है—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत् एव च।
गावो मे हृदये चापि गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

गाये मेरे आगे है, गाय मेरे पीछे है तथा गाय मेरे हृदय में है, मैं नित्य गौओं के मध्य में निवास करता हूँ। अग्निपुराण में पुष्कर, गंगा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा, गया आदि तीर्थों की भावपूर्ण चर्चा की गई है। ज्योतिःशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, मन्त्रौषधि वर्णन, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, अशौच, निर्णय, धर्मशास्त्र, वार-व्रत, नक्षत्र-व्रत, मासव्रत, दान आदि का इस पुराण में विस्तृत विवेचन है।

अग्निपुराण में अन्य वर्णित विषयों में—राज्याभिषेक, राजधर्म, युद्ध, स्वप्न, शकुन, पुरुष-स्त्री लक्षण, रत्न परीक्षा, वास्तु, धनुर्वेद, दायभाग, सीमाविवाद, वेद-शाखा, आयुर्वेद रसायन, सिद्धौषधि, मंत्रौषधि, मृतसंजीवनी, गजाश्वादि चिकित्सा, मोहन-स्तम्भन मंत्र आदि दृष्टव्य हैं। गीतासार और ब्रह्मज्ञान के निरूपण के साथ अग्निपुराण पूर्ण होता है।

[क०उ०]

अचिन्त्य-भेदाभेद वाद

श्री चैतन्यदेव (सं. 1542-1589 वि.) ने विभिन्न संवादों में यह स्थापित किया कि परतत्त्व है एवं अपनी कूटस्थ स्थिति में भी वह गुण एवं क्रिया का प्रकाशन करने में समर्थ है। उसकी शक्तियाँ स्वाभाविक हैं एवं उस

शक्तिमान् के आश्रित हैं। वे शक्तिमान् से नित्य भेद प्राप्त किए हुए प्रकाशित होती रहती हैं। श्रीमद्भागवत में श्री व्यासदेव ने समाधि में शक्तिमान् से उनके भेद का ही दर्शन किया था। इसी आधार पर जीव गोस्वामी (1568-1653 वि.), सनातन गोस्वामी (1525-1620 वि.) बल्देव विद्याभूषण (1775 वि.), विश्वनाथ चक्रवर्ती (1761 वि.), एवं श्रीकृष्णदास कविराज (1585-1672 वि.) ने अचिन्त्य भेदाभेद वाद की स्थापना की। श्री जीव गोस्वामी ने सर्वसंवादिनी में अचिन्त्य भेदाभेद का स्वरूप सुस्पष्ट रूप में इस प्रकार वर्णित किया-''स्वरूप से शक्ति को अभिन्न नहीं माना जा सकता (क्योंकि भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है)। दूसरी ओर भिन्न रूप में भी उसका विचार नहीं किया जा सकता (क्योंकि शक्ति सर्वदा शक्तिमान् के आश्रित है) अतः अभेद भी प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्ति-शक्तिमान् में भेदाभेद दोनों ही स्वीकार किए गए हैं। वे अचिन्त्य (शास्त्रैकवेद्य) हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तर्क की प्रतिष्ठा ही शास्त्र में वर्णित है। इस हेतु के आधार पर यह विचार करते हैं कि क्योंकि भेद मानने पर भी दोष समूह दीखता है एवं अभेद मानने पर भी दोष समूह दीखता ही है, अतः शक्ति-शक्तिमान् को पूर्णतः भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। उनमें अभेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार वे दोनों अभिन्न रूप में भी सिद्ध नहीं किये जा सकते। इस कारण भेद भी साधित होता है। (इसी असमंजसता की स्थिति में विमूढ़ होकर वे) शक्ति-शक्तिमान् में अचिन्त्य भेदाभेद स्वीकार कर लेते हैं (यह एक विमूढ़ता एवं विवशता की स्थिति है)। इसकी अपेक्षा शास्त्रैकवेद्यता के आधार पर शक्ति-शक्तिमान् में अचिन्त्य भेदाभेद मानना ही अधिक उपयुक्त है।

परंतु श्री जीव गोस्वामी का अपना मत यह है कि शक्तिमान् सर्वदा अचिन्त्य शक्तिमय ही होता है। अतः शक्ति एवं शक्तिमान् के मध्य सर्वदा 'अचिन्त्य भेदाभेद' (स्वरूप एवं संबंध) है। यह तथ्य केवल चिन्मय परतत्त्वगत ही नहीं है बल्कि जितने भी भाव पदार्थ हैं उन सभी में शक्ति-शक्तिमान् के मध्य अचिन्त्य भेदाभेद संबंध एवं स्वरूप दीखता है। जैसे अग्नि एवं ताप, कस्तूरी एवं गंध। फिर ब्रह्म की स्वरूपा, तटस्था, बहिरंगा शक्तियाँ तो अचिन्त्य होंगी ही। इनमें अधिसंख्य प्राकृतपदार्थों एवं उनकी शक्तियों के भेदाभेद को तो तर्क द्वारा कुछ-कुछ समझा भी जा सकता है परंतु प्राकृतपदार्थों में कुछ पदार्थ सर्वथा अचिन्त्य ही हैं—जैसे मणिमंत्र औषधि। ऐसे जो भाव-पदार्थ अचिन्त्य हैं उन्हें तर्क से नहीं जोड़ना चाहिए।

गौतम (न्याय), कणाद (वैशेषिक), जैमिनी (पूर्व-मीमांसा), कपिल (सांख्य), पतंजलि (योग) भेदवादी दर्शन हैं। श्री रामानुज (विशिष्टाद्वैत) वादर-पौराणिक शैव-भेदाभेद का ही प्रतिपादन करते हैं। श्री मध्वाचार्य तो स्पष्टतः शुद्ध द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। गौड़ीय वैष्णवों के स्वमत में ब्रह्म स्वतः ही अचिन्त्य शक्ति युक्त है। उसके निर्गुण 'केवल अद्वैत' स्वरूप की अपेक्षा उसे शक्ति युक्त मानना एवं शक्तियों का शक्तिमान् से भेद स्वीकार करना। निष्कर्षतः अचिन्त्य भेदाभेद मानना उचित है।

शक्ति की स्वभाविकता एवं सिद्धि—निर्विशेष वादियों का यह विचार है कि कूटस्थ स्थिति में ब्रह्म निर्गुण (सत्त्वादि गुण रहित) अप्रमेय (देशकाल परिच्छेद रहित), शुद्ध (देहादि उपाधिशून्य) तथा संस्कार (कृपा, रागादि शून्य) है। ऐसा निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म सृष्टि एवं लीलायुक्त नहीं हो सकता। इसके उत्तर में वैष्णवों का मत है कि अप्राकृत ही नहीं मणि, मंत्र, औषधि जैसे प्राकृत भाव-पदार्थों में भी 'अचिन्त्य ज्ञान गोचरता' का गुण प्राप्त होता है। अचिन्त्यता का अर्थ है—तर्क-असहता एवं ज्ञानगोचरता का अर्थ है—अर्थापत्ति प्रमाण वेद्यता। अर्थात् कार्य कारण के अभाव में सिद्ध हो ही नहीं सकता था अतः कार्यान्यथानुपपत्ति से कारण की उपपत्ति कर ली जावे। इसी प्रकार जगत् कार्य तो प्रत्यक्ष है। जगत् सृष्टि आदि की प्राप्ति ब्रह्म में जगत् सृष्टि आदि सामर्थ्य (शक्ति) के बिना हो ही नहीं सकती थी। अतः अर्थापत्ति के द्वारा शक्ति (ब्रह्म की सृष्टि आदि सामर्थ्य) की भी सिद्धि हो जाती है एवं इसी अर्थापत्ति से शक्तिमान ब्रह्म की भी सिद्धि हो जाती है। ब्रह्म की अचिन्त्य ज्ञान गोचर शक्तियाँ (अतरंगा, तटस्था, बहिरंगा) स्वाभाविक हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार भी यह बात सिद्ध होती है एवं युक्तियों से भी कि वह ब्रह्म कार्य-कारण से परे असमोर्ध्व अमायिक (परा) विविध शक्तियों से युक्त है। वे शक्तियाँ स्वाभाविकी हैं। अत: उसकी अद्वय-रूपता में बाधा नहीं आती वे ज्ञान (चित्), बल (सत्) एवं क्रिया (आनंद) भेद से विविध प्रकार वाली हैं। **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वेता० 4/10)। वह निरंकुश ऐश्वर्य वाला है। अचिन्त्य शक्तिमान् अद्वय तत्त्व ही सर्वदा कार्योन्मुख होकर शक्ति भेद से प्रकट होता है। भगवत् संदर्भ के अनुसार—**अत्रंर्य प्रक्रिया-एकमेव तत् परमं तत्त्वं स्वाभाविक अचिन्त्य शक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूपवैभव-जीव प्रधानरूपेण चतुर्धा अवतिष्ठते। सूर्यान्त-मण्डलस्थ तेज इव, मण्डल, तद्बहिर्गत रश्मि, तत् प्रतिच्छविरूपेण।** (भगवत् संदर्भ—श्री जीव गोस्वामी प्रकरण 16, पृ. 63)।

अचिन्त्य का अर्थ—तर्क को सहन न करना। अर्थात् **भिन्न अभिन्नत्वादि** विकल्प होने के कारण वह 'तर्कसिद्ध' है। अचिन्त्यता का विस्तार ही 'अविकृत परिणाम', 'विरुद्ध धर्माश्रयता', 'शास्त्रैकवेद्यता' **कर्तुम अक अन्यथा कर्तुं सर्वसामर्थ्य। अभिन्न निमित्तोपादानता है।** अचिन्त्यता (तर्क सहत्व) कभी भी ब्रह्म को अप्रामाणिक सिद्ध नहीं करती। तथापि ब्रह्म में प्राकृत देह गुण क्रिया तो है नहीं। ये ही किसी वस्तु की ज्ञापक होती है। अत: 'ब्रह्म का अप्रामाण्य है' ऐसा नहीं मानना चाहिए। **श्रुतेस्तु शास्त्रयोनित्वात्** के अनुसार वह एवं उसकी शक्तियाँ शास्त्रैकवेद्य है। यह अचिन्त्य का मुख्य अर्थ है।

शक्ति के भेद—अखंड एक होने पर भी वह परतत्त्व अपनी अचिन्त्य शक्ति से स्वरूप (ब्रह्म परमात्मा भगवान्) एवं तद्रूप वैभव (नाम धाम रूप लीला परिकरों) जीव, एवं प्रधान इन चार रूपों में स्थित माना गया है। जैसे सूर्य का तेज, मंडल, रश्मि एवं प्रतिच्छवि, तम (जीव विमोह) एवं वर्ण शावल्य (प्रधान) इन चार रूपों में प्रकाशन होता है।

एकदेश स्थितस्याग्नेः ज्योत्सना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिः तथेदं अखिलं जगत्॥

(विष्णु पुराण 1/22/54)

ध्यातव्य है कि भगवान् की स्वरूप शक्ति सर्वाधिक प्रभावशाली है। अत: उसकी अचिन्त्य शक्ति के कारण ही स्वरूप एवं तद्रूप वैभव में तो चिद्रूपता एवं निर्विकारता अक्षुण्ण रहती है परंतु तटस्था (जीव) में चिद्रूपता होने पर भी जडत्व एवं विकारित्व का कदाचित् अध्यास आ जाता है। जड़ता विकारिता की बहिरंगा माया में तो नित्यता प्राप्त होती है। अत: शक्तियों का ब्रह्म से साम्य एकांशी है, सर्वात्मना नहीं है। यह तत्तत् स्थानीय साम्य ही है, संपूर्ण नहीं। इसलिए माया के दोष भगवान तक नहीं पहुँच पाते।

ब्रह्म की सविशेषता—ब्रह्म सविशेष है। भेद सहिष्णु अभेद को 'विशेष' कहते हैं। श्रुतियों के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वचनों के आधार पर यह प्रश्न उठता है कि निर्गुण तर्कातीत शुद्ध अमलात्मा ब्रह्म द्वारा सृष्टि इत्यादि कर्म कैसे किए जा सकते हैं? अत: उसे 'केवल' एवं 'शक्ति-तादात्म्यापन्न' मात्र माना जाए। इस पर वैष्णवों का विचार है—ब्रह्म को निर्गुण, क्रियाहीन एवं शक्तियों का उसमें तादात्म्यापन्न मानकर निर्विशेष मानने पर उसकी व्यापकता एवं विभुता को सीमित करने का दोष आ जायेगा। अत: निर्विशेषता का परिहार कर उसे सविशेष मानना चाहिए एवं शक्तिमान् से शक्ति के भेद को स्वीकार करना चाहिए। इन शक्तियों के अग्नि संयोग से जल की उष्णता के समान 'आगंतुक' न मानकर 'स्वाभाविक' माना गया है। अग्नि एवं उष्णता जैसी प्राकृत शक्तिमान् की शक्तियों को तो मणि मंत्र, औषध के प्रभाव से पराभूत किया जा सकता है, परंतु ब्रह्म की स्वाभाविक अनंत एवं

अचिन्त्य शक्तियों को नहीं। तब निर्गुण, अप्रमेयादि की व्याख्या भिन्न प्रकार से करनी होगी। यथा—

निर्गुण का अर्थ गुणक्रिया हीनता नहीं, बल्कि निखिल गुण युक्तता है। हाँ, ऐसा होने पर भी सृष्टि आदि के साधकत्त्व में ब्रह्म का स्वार्थ या आवेश नहीं है। सृष्टि जीव कल्याणार्थ ही है। वह तो अपनी स्वाभाविकी बहिरंगा माया-शक्ति द्वारा सृष्टि आदि करा देता है; अत: सृष्टि के दोष (विकारादि) ब्रह्म को नहीं लगते, वे दोष माया में ही रह जाते हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' के अनुसार वह कर्ता भी है।

अप्रेमय का अर्थ भी प्राकृत-अप्राकृत गुण क्रियाहीन होने के कारण प्रमाण अगोचर नहीं माना जा सकता है। **'ब्रह्म शास्त्र योनित्वात्'** के अनुसार अपौरुषेय वेद एवं तद्वत् चिन्मय नामरूपात्मक 'वाणी' द्वारा वेद्य है। हाँ, **'इदमित्थं'** समग्र वर्णन न हो पाने के कारण **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इत्यादि वचनों की संगति है।

शुद्धस्य का अर्थ अदेह या 'केवल' मानना उचित नहीं है। भगवत् तत्त्व एवं देह में देह-देही विभाग नहीं है। शुद्ध का अर्थ 'केवल' मानने पर लगता है कि जैसे ब्रह्म में शक्तियाँ ही नहीं हैं परंतु ऐसा नहीं है। तत्त्वत: स्वरूप शक्ति इतनी प्रभावशालिनी है कि अन्य शक्तियों की अणुता-मलिनता आदि के दोष ब्रह्म को नहीं लगते अत: वह शुद्ध बना रहता है।

अमलात्मा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्फटिक मणि की तरह वह स्वरूपत: तो निर्मल है परंतु निकटवर्ती परवस्तु की छाया के कारण वह लाल, नीला इत्यादि गुणयुक्त दीखती हो। तत्त्वत: ब्रह्म बहिरंग शक्तियों से अस्पृष्ट एवं अपराभूत ही रहता है।

ब्रह्म एवं भ्रम—इस प्रकार सारी शक्तियों से मिलकर 'भगवान चिदचित् शक्ति युक्त है'; यहाँ तक कि बहिरंग माया भी उनकी स्वाभाविकी शक्ति है। माया का अर्थ अज्ञान नहीं है बल्कि विचित्र अर्थों (कार्यों) का निर्माण करने वाली शक्ति है—'मीयते विचित्रं निर्मीयतेऽनया इति'।

अद्वैतवाद में अज्ञान के द्वारा ही जीव एवं जगत रूप और द्वैत की कल्पना स्वस्वरूप ब्रह्म में कर ली जाती है। जीव गोस्वामी के अनुसार ऐसी कल्पना उचित नहीं। क्योंकि ब्रह्म अहंकार रहित है। अत: वह अज्ञान का 'आश्रय' नहीं हो सकता। वह सच्चिदानंद भिन्न किसी अन्य धर्म (अज्ञान) से रहित सर्वविलक्षण है, इस कारण वह अज्ञान का 'विषय' नहीं हो सकता तथा चिन्मात्र होने के कारण वह स्वयं अज्ञान का 'हेतु' भी नहीं हो सकता। हां, उसका अचिन्त्य-शक्ति युक्त होना अवश्य संभव है।

अविकृत परिणाम—जैसे चिंतामणि में 'अविकृत परिणाम' का गुण विराजमान है अथवा जैसे त्रिदोष (सन्निपात) रोग शांत करने वाली औषधि में परस्पर विरोधी कफ, पित्त व वात गुणों को धारण करने की विरुद्धधर्माश्रयता शक्ति विद्यमान है (दामोदर लीला में विभुता परिच्छन्नता, मृदभक्षण में सर्वाश्रयता एवं आश्रितता आदि) वैसे ही ब्रह्म में अविकृत परिणाम, विरुद्ध धर्माश्रयता आदि विद्यमान हैं।

द्वैत तो दृश्यमान एवं अपरिहार्य है। इस द्वैत के कारण की सिद्धि के लिए केवलाद्वैतवादी को 'भ्रम' की कल्पना (अर्थापत्ति द्वारा) करने की आवश्यकता होती है परंतु यदि ब्रह्म में अचिन्त्य नामक शक्ति मान ली जाए तो ब्रह्म में अज्ञान की (द्वैतान्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से) कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अचिन्त्य शक्ति युक्तता के प्रभाव से ब्रह्म सृष्टि कार्य में आवेश एवं प्रयास रहित होकर भी जगत् का कर्ता (निमित्त कारण) हो जाता है एवं स्वयं अविकारी होते हुए भी जगत का उपादानकरण भी बन जाता है। इसमें युक्ति एवं श्रुति दोनों ही प्राप्त है। युक्ति यह कि -जैसे चुंबक स्वयं निश्चेष्ट होकर भी लोहे को चाल देता है एवं चिंतामणि अविकृत रहकर भी सर्वप्रसव कर देती है।

इसी प्रकार ब्रह्म अविकृत रहकर भी सत्य जगत का कारण एवं कर्ता है। कार्य न तो असत्य है न भ्रम है।

अचिन्त्य शक्ति द्वारा दृश्यमान भेद सत्य रूप में स्थापित हो जाता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' श्रुति तो ब्रह्म को जगत् का कर्ता बतलाती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्न-निमित्त- उपादान कारण है, जैसे मकड़ी जाले का, तो वह अविकारी कैसे हो सकता है? उत्तर है उसे अचिन्त्य शक्तियुक्त मानने पर 'शक्ति परिणाम' के द्वारा उसकी अविकारिता एवं अद्वयता दोनों की रक्षा हो जाती है। ब्रह्म अपरिणत (अविकारी) एवं संमात्र है। माया शक्ति उसी की व्यूह (वैभव) रूपा है। ब्रह्म इसी शक्ति से द्रव्य संज्ञा धारण कर जगत् रूप में उसी प्रकार परिणत हो जाता है जैसे चिंतामणि स्वयं तो अविकृत रहती है परंतु वह अपनी व्यूह रूपा शक्ति के द्वारा सर्वार्थ को प्रसव कर देती है। व्यूह का कार्य शक्तिमान् के कार्य के रूप में ही जाना जाता है। जैसे वीर सेनापति की विजय राजा की विजय कहलाती है। अत: ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कह दिया जाता है।

भगवान स्वमाया से विश्व बनते हैं। इस उक्ति से यही प्रतिपादित हुआ कि जगत् (विश्वरूप) ही मायिक है, न कि स्वयं भगवान। जैसे कभी पुरंजय (अपर नाम ककुस्थ या इंद्रवाह) के आग्रह से इंद्र माया से उनका वाहन (बैल) बना। तब पुरंजय ने असुरों को पराजित किया। 'इन्द्रो मयया वृषभो भवति' यहाँ वृषभ रूपता माया की ही है। इंद्र तो स्वरूप भूत ही रहा। इसी प्रकार भगवान् का विश्वरूप ही 'मायिक' हुआ। स्वरूपभूत षडैश्वर्य युक्त भगवान् नहीं। इसी आधार पर भगवान् के विराट् रूप में स्थूल एवं सूक्ष्म उपासना को मायिक कहा गया है एवं उनके विराट रूप की गणना भी चौबीस अवतारों में नहीं की गई। इससे यह मत भी निरस्त हो जाता है कि मायिक होने के कारण 'भगवान्' होना परतत्त्व का 'तटस्थ लक्षण' है एवं निर्विशेष, निराकार ब्रह्म ही 'स्वरूप लक्षण' है। जगत के साथ परमात्मा का अभिन्न संसर्ग नहीं है, जबकि बैकुंठादि भगवान के साक्षात-भाव (स्वरूप शक्ति) द्वारा निर्मित है।

ब्रह्म ही जगत् का उपादान, निमित्त एवं समवायीकारण है। शक्ति शक्तिमान् में अभेद है। उपादान कारण के रूप में प्रकृति, आधार रूप में पुरुष एवं कार्य को अभिव्यक्त करने वाले गुण प्रेरक के रूप में काल इन तीन रूपों में ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है। वह ब्रह्म मैं (श्रीकृष्ण) ही हूँ। ये तीनों वस्तुएँ अभिन्न ही हैं। स्वरूप ही कार्योन्मुख होने पर शक्ति कहलाता है।

प्रकृति: हि अस्योपादानं आधार पुरुष: पर:
सत: अभिव्यंजक: काल: ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्॥

(भाग० 11/24/18)

शक्ति शक्तिमान् के इसी अभेद के आधार पर ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कह दिया गया है। शक्ति विशिष्ट रूप में परमात्म उपादान कारण है एवं केवल रूप में निमित्त। यहाँ ध्यान देना चाहिए कि शक्ति का अस्तित्व शक्तिमान् से अलग नहीं हो सकता है। अत: शक्ति-शक्तिमान् अभिन्न हैं। सत्कार्यवादी वैष्णवगण यह मानते हैं कि कारण में (बीज में) अपने धर्म विशेष को (वृक्ष को) प्रकट करने की सामर्थ्य है। अत: कारण ही विकास को प्राप्त कर अंश रूप में कार्य बन जाता है। इस दृष्टि से कार्य तो कारण से अलग नहीं है। परंतु कारण कार्य से अलग है। ब्रह्म एवं उसकी सभी शक्तियाँ स्वरूपत: भी अचिन्त्य हैं एवं उनका परस्पर संबंध भी अचिन्त्य है। उनका ब्रह्म से संबंध भी अचिन्त्य है। चिन्मात्र ब्रह्म द्वारा सृष्टि, सच्चिदानंद जीव का कार्पण्य एवं बंधन स्वरूप-शक्ति के प्रभाव से जीव की मुक्ति, मायातीत का अवतार एवं लोकवत् लीला आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर 'अचिन्त्यता' में निहित है। श्रुतियाँ सर्व भेद-अभेद का वर्णन करने के बाद नेति-नेति रूप में अतत्रिरसन वृत्ति से भगवान् एवं उनकी स्वरूप शक्ति को ही उपास्य बतलाती है। भक्ति में ही 'अचिन्त्यता' की

पराकाष्ठा है।

निष्कर्षत: ब्रह्म सविशेष, अचिन्त्य (तर्कसिद्ध, श्रुतिवेद्य) शक्तियों से युक्त है। ये शक्तियाँ अन्तरंगा, तटस्था एवं बहिरंगा त्रिधा हैं। ये सभी ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति हैं, आगुंतक नहीं। शक्तियों की सिद्धि अर्थापत्ति से भी होती है। शक्ति-शक्तिमान् में अचिन्त्य भेदाभेद मानने पर ब्रह्म के 'अद्वय ज्ञान तत्त्व' रूप में कोई विरोध नहीं आता। शक्ति-शक्तिमान् में अभेद होने पर भी ब्रह्म से उनका स्थानीय साम्य है, सर्वात्मना साम्य नहीं। अत: भगवान् ही परम उपास्य है, जीव जगत् नहीं। सत्कार्यवाद के आधार पर शक्ति परिणाम द्वारा जगत् की सृष्टि आदि है। अत: जगत् भ्रम रूप या असत् नहीं, बल्कि वह सत् है, परंतु है परिणामी। विरुद्ध धर्माश्रयता के कारण माया ईश्वर का विमोह नहीं करती (मायावी की माया दर्शक का दृष्टिबन्ध करती है मायावी का नहीं)। अविकृत परिणाम होने से ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन होने पर भी अविकारी रहता है। इस प्रकार अचिन्त्य भेदाभेद की धारणा स्वीकृत कर लेने पर प्राय: सभी प्रश्नों एवं दार्शनिक गुत्थियों का समाधान हो जाता है।

क्योंकि इतिहास क्रम में 'अचिन्त्य भेदाभेद वाद' सर्वाधिक परवर्ती है अत: पूर्व दार्शनिक सिद्धांतों में छूटे हुए अनुत्तरित प्रश्नों का वह प्राय: समग्र समाधान प्रस्तुत कर देता है। [अ०ला०भ०]

अटलकिशोर

गोस्वामी दामोदर किशोर जी के पश्चात् उनके पिता गोस्वामी अटलकिशोर जी वि.सं. 1917 में बारहवें अधीश्वर मदनमोहन जी के सेवायत के रूप में गद्दी पर विराजमान हुए। ये बड़े ही उदार हृदय तथा दानशील व्यक्ति थे। अपने पुत्र की मृत्यु के बाद ये अधिक दिन जीवित नहीं रहे। वि.सं. 1923 में ये वृन्दावन धाम की लीला में प्रविष्ट हुए। [जि०कु०]

अणुभाष्यम्

यह श्री वल्लभकृत ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या है जिसमें उन्होंने अन्य सभी भाष्यकारों से स्वतंत्र अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस भाष्य की रचना कर उन्होंने अपने सिद्धान्त को दर्शन के क्षेत्र में मान्यता और प्रतिष्ठा दिलाने की चेष्टा की है। अणुभाष्य हमें आज जिस रूप में प्राप्त है, वह पूरा आचार्य वल्लभ के द्वारा नहीं लिखा गया है। अन्तिम डेढ़ अध्याय उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ के द्वारा पूरे किये गये हैं। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, इसलिये इस पर अनेक विद्वतापूर्ण टीकाओं की रचना हुई है। अणुभाष्य के सबसे यशस्वी टीकाकार गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी महाराज हैं। ये सम्प्रदाय के अत्यन्त ख्याति-लब्ध विद्वान हैं तथा इन्होंने आचार्य वल्लभ के सभी प्रमुख ग्रंथों पर टीकाओं की रचना की है। अणुभाष्य पर इनकी व्याख्या का नाम है 'भाष्यप्रकाश'। इसके पश्चात् अणुभाष्यम् और भाष्यप्रकाश का अत्यन्त गम्भीर और सटीक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली एक और टीका है-'रश्मि'। इसके लेखक गोस्वामी श्री गोपेश्वर महाराज हैं। 'रश्मि' में गोपेश्वर जी ने न केवल भाष्यप्रकाश को समझाया है, अपितु उसके एक बहुत बड़े अभाव की भी पूर्ति की है। भाष्यप्रकाशकार ने सर्वत्र अणुभाष्य का शाब्दिक अर्थ नहीं किया है। गोपेश्वर जी ने अणुभाष्य को शब्दत: भी व्याख्यायित किया है। इनके अतिरिक्त अणुभाष्यम् पर विभिन्न दृष्टियों से और भी अनेक टीकाओं की रचना हुई है। [क०उ०]

अथर्ववेद

इस वेद में ब्रह्मवर्ग के उपयोगी मंत्रों का संग्रह है। इस ब्रह्म वर्ग का कार्य है यज्ञ की देख-रेख करना, यज्ञ-विधि की रक्षा करना, तदनुकूल निर्देश देना। यज्ञ-कर्म में ब्रह्मतत्व प्रतिपादन, ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन

(गाथा) और ब्रह्मा के द्वारा द्रष्ट मंत्रों का संकलन होने से इसे 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है। इसमें पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार के मंत्रों का सन्निवेश होता है। ऋग्वेद में स्तुति, यजुर्वेद में यज्ञ, सामवेद में संगीत तथा अथर्ववेद में आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, देशप्रेम सम्बन्धी विषय की प्रधानता है। ऋग्वेदादि तीन वेदों से अतिरिक्त चतुर्थ वेद के रूप में अथर्वा और अंगिरा द्वारा द्रष्ट मंत्रों का समूह ''अथर्वाङ्गिरसोवेद:'' अथर्ववेद कहलाया। ''अर्थवन्'' शब्द शान्ति और पौष्टिक कर्म का वाचक है तथा ''अङ्गिरस्'' पद इसके विपरीत घोर (अभिचारिक) कर्मों का वाचक है। अथर्वा रोगनाशक मंत्रों के और अङ्गिरस शत्रुनाशक मंत्रों के ज्ञाता थे। अथर्ववेद शान्ति, पौष्टिक एवं नाशन कर्मों का ही नहीं आत्मविषयक मंत्रों का भी संग्रह है।

अथर्ववेद की आजकल नौ प्रचलित शाखाएँ हैं। पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनक, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श एवं चारणवैद्य। पैप्पलाद संहिता अभी अपूर्ण रूप से प्राप्त है। इस प्रकार अथर्ववेद की 9 शाखा हैं। इनमें केवल दो शाखाओं के ही ग्रंथ प्राप्त हैं। शौनक शाखा एवं पैप्पलाद शाखा की पाण्डुलिपि प्रो. व्यूलर ने प्रथम खोज निकाली। उसके पश्चात ब्लूमफील्ड ने उसका छायांकन कर प्रकाशित किया। पैप्पलाद शाखा की एक प्रति काश्मीर के राजा रणवीर सिंह को उनके ग्रंथालय में मिली। शौनक शाखा का संस्करण, सम्पादन और प्रकाशन (सायण भाष्य सहित) सन् 1956 में राथ और व्हिटनी इन दो पाश्चात्य पण्डितों ने किया।

अथर्ववेद में 20 काण्ड, 730 सूक्त, 36 प्रपाठक और 5987 मंत्र हैं। मंत्रों को विशिष्ट शैली के साथ विभाजित किया गया है। प्रथम से सात काण्ड तक छोटे-छोटे सूक्त हैं। पहले काण्ड में 4 मंत्रों के सूक्त हैं। दूसरे में 5 मंत्रों के, तीसरे छ: मंत्रों के, चौथे में सात या 8 मंत्रों के, पाँचवें में आठ या उससे अधिक मंत्रों के सूक्त हैं। छठे में 142 सूक्त हैं जो प्राय: 3 मंत्रों के हैं। सातवें में 118 सूक्त और प्रत्येक सूक्त में एक या दो मंत्र हैं। आठवें काण्ड से बारहवें काण्ड तक विषय की विविधता और बृहद् सूक्तों का संकलन है। तेरहवें से बीसवें काण्ड तक अधिक मंत्र वाले सूक्त हैं, जिनका विषय एक जैसा है। बारहवें काण्ड में पृथ्वी सूक्त है। 13, 15 और 19वें काण्ड में आत्मविषयक वर्णन है। चौदहवें में विवाह, सोलहवें में दु:स्वप्न नाशन के लिए प्रार्थना, सत्रहवें में कल्याण के लिए प्रार्थना, अठारहवें में पितृमेध, उन्नीसवें के शेष मंत्रों में भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि आदि तथा बीसवें में सोमयाग विषयक मंत्रों का संग्रह है। 20वें काण्ड में इंद्र से सम्बन्धित मंत्रों का आधिक्य है।

अथर्ववेद में विराटब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन है। विभिन्न सूक्तों में विराट, ब्रह्म, स्कम्भ ब्रह्म, उच्छिष्ट ब्रह्म, ईश्वर प्रकृति, जीवात्मा, व्रात्य, वशा, प्राण, ब्रह्मोदन आदि का वर्णन मिलता है। ब्रह्मा के द्वारा द्रष्ट मंत्रों की संख्या 884 है। अथर्ववेद के लिए ''भिषग्वेद'' का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के रोगों के निवारणार्थ सूक्तों और रोग से सम्बन्धित औषधियों का वर्णन मिलता है। मंत्रों में देवताओं का आवाहन एवं प्रार्थना की गयी है। भारतीय आयुर्वेद के मूल अथर्ववेद में ज्वर, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, कास, व्रण, नेत्रबाधा, सर्पबाधा आदि रोगों के उपचार से सम्बन्धित अनेक मंत्र हैं।

अथर्ववेद की नौ शाखाओं के ब्राह्मण ग्रंथों में आज एक 'गोपथ ब्राह्मण' ही उपलब्ध है। यह पैप्पलाद शाखा से सम्बन्धित है। यह दो भागों में है—पहले भाग में 5 प्रपाठक और दूसरे भाग में छ: प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओं में विभक्त हैं। पूर्वभाग के प्रपाठकों में 135 तथा उत्तर भाग के प्रपाठकों में 123 कण्डिकाएँ हैं। श्रौतयज्ञों का वर्णन ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। श्रौत्रसूत्रों में एकमात्र 'वैतान श्रौतसूत्र' ही है जो शौनक शाखा से सम्बद्ध है। इसमें श्रौतकर्मों का विनियोग बताया गया है। इसमें आठ अध्याय हैं। इनके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में 'संहताविधि' के नाम से भी 'कौशिक सूत्र' उपलब्ध है, जो शौनक शाखा से सम्बद्ध है। श्रौतसूक्त भी इसी के आश्रित हैं। 14 अध्याय और 141 कण्डिकाओं में विभक्त कौशिक सूत्र आथर्वण साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। शिक्षा ग्रंथों में 'माण्डूक्य शिक्षा' उपलब्ध है।

अथर्ववेद के पाँच कल्पसूत्र हैं जिनमें नक्षत्रकल्प, वैतान कल्प, संहिताविधि (कौशिक गृह्यसूत्र), आङ्गिरसकल्प एवं शान्तिकल्प हैं। इनमें दो कल्पसूत्र ही उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के उपनिषदों में पैप्पलाद शाखा का 'प्रश्नोपनिषद्' उपलब्ध है और शौनक शाखा के मुण्डक और माण्डूक्य दो उपनिषद् हैं। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार 31 उपनिषद् अथर्ववेद पर हैं। [स०ना०दा०]

अद्वैतवाद

विश्वविख्यात दार्शनिक शंकराचार्य ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र व गीता पर भाष्य लिखकर उनकी व्याख्या, महावाक्यों के अनुसार करके, अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। अद्वैतवाद की ख्याति इतनी फैली कि उसे ही वेदांत कहा जाने लगा। उस पर अनेक भाष्य व टीकाएँ लिखी गईं। आधुनिक काल में भी अद्वैतवाद पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। किंतु जहाँ अद्वैतवाद प्रसिद्ध हुआ, वहाँ शंकर पर अनेक आरोप भी लगाये गये। कुछ अद्वैतवादियों ने भी उनके दर्शन की आलोचना की।

शंकर ने परम सत्य को अद्वैत प्रतिपादित किया अर्थात् वह दो नहीं है। सत को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि सत्य वह है जो त्रिकालाबाधित है और जो सदैव एकरस रहता है। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत है, उससे इतर या भिन्न कोई और सत नहीं है। उनके अनुसार ब्रह्म जगत का आधार, स्रोत एवं अंत है। वह जगत का मूल कारण है। कारण और कार्य के संबंध को स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि कार्य रूप वस्तु मिथ्या है, कार्य कारण से भिन्न नहीं है, अत: कारण ही सत है। कार्य उसका आभास है अत: ब्रह्म कारण रूप है और जगत कार्य रूप। दोनों में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म ही जगत है। ब्रह्म के दो लक्षण हैं: यथास्वरूप और तटस्थ लक्षण। सच्चिदानंद उसका स्वरूप लक्षण है तथा उसका सृष्टि का सृष्टा होना, उसका तटस्थ लक्षण है। ब्रह्म के दो रूप हैं यथा पर और अपर। परब्रह्म निर्गुण, निराकार, कूटस्थ, भूमा व सर्व भेदों से रहित है। अपर ब्रह्म सगुण एवं विशेष व सोपाधिक उसे ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर मायोपित ब्रह्म है। वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। वह निमित्त सृष्टि का उपादान व कारण है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। वह उसकी लीला है। व्यावहारिक दृष्टि से वह सत है। धार्मिक दृष्टि से उसका महत्व है। वह कर्माध्यक्ष है। ब्रह्म और ईश्वर में भेद वास्तविक न होकर मनोवैज्ञानिक है।

आत्मा ही ब्रह्म है। वे दो नहीं है। दोनों में अभेद है। वह शुद्ध चैतन्य, अजर, अमर, नित्य और अविकारी है। वह ज्ञान का विषय न होकर ज्ञान स्वरूप है। उसका साक्षात प्रत्यक्ष होता है। वह स्वयंसिद्ध है। चैतन्य रूपी आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं यथा जाग्रत जिसमें चेतना का विषय बाह्य होता है, स्वप्न जिसमें चेतना का विषय आंतरिक होता है, सुषुप्ति जिसमें चेतना का विषय सूक्ष्म होता है और तुरीय जिसमें कोई विषय नहीं होता। अज्ञान के कारण नित्य आत्मा का अनित्य शरीर से संबंध हो जाता है और वह सांसारिक शरीर प्रतीत होता है। इसे जीव कहते हैं। आत्मा और जीव में अथवा ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म अद्वितीय सत्ता है तो जगत की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है अथवा एक से अनेक होना किस प्रकार संभव है। दूसरे शब्दों में प्रश्न यह है कि जगत सत है या असत। इस समस्या के समाधान के लिए शंकर ने माया के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। शंकर के अनुसार संपूर्ण जगत केवल ब्रह्म का विवर्त या आभास है, जिसका कारण अध्यास है और जो माया का परिणाम है। अत: यह जगत न तो सत है क्योंकि वह बाधित है और क्योंकि सत तो केवल ब्रह्म है, न वह असत है, क्योंकि व्यवहार में उसका अनुभव होता है, न वह सत असत दोनों, क्योंकि यह विरोधाभास है, न यह दोनों से परे है। पारमार्थिक दृष्टि से वह असत है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वह सत है। अध्यास के कारण जगत सत्य प्रतीत होता है। वह ब्रह्म पर आरोपण है।

माया अनादि है, भावरूप है, निगुणात्मक है, ज्ञान के द्वारा विलीन हो जाती है। उसकी दो शक्तियाँ हैं यथा आवरण और विक्षेप। वे वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती हैं और उसके स्थान पर अन्य वस्तु को आरोपित कर देती हैं। माया के स्वरूप के संबंध में शंकर का मत है कि न तो वह सत है, क्योंकि सत तो केवल ब्रह्म है, न वह असत है, क्योंकि उसका स्पष्ट अनुभव होता है, न वह दोनों, क्योंकि यह विरोधाभास है, न वह दोनों से परे है। वह सद् असद् विलक्षण है अत: शंकर इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

जगत की भांति जीव भी न तो सत है, न असत है, न दोनों है, न दोनों से परे है। वह माया का परिणाम है। उसका कारण अज्ञान है। अज्ञान का आश्रय जीव ही है। शंकर त्रिविध सत्ता स्वीकार करते हैं यथा प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। जो क्षण मात्र के लिए प्रतीत हो और जाग्रत अवस्था के अनुभवों से बाधित हो उसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। जाग्रत स्थिति में स्वाभाविक रूप से प्रतीत सत्य है किंतु पूर्ण सत्य नहीं। दैनिक दृष्टि से लौकिक व्यवहार सत्य है किंतु पारमार्थिक दृष्टि से उनका बोध होता है अत: वह असत्य है। जो त्रिकालाबाधित हो, एक व एक रूप हो उसे पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। वह केवल ब्रह्म है।

जगत की सत्ता न तो प्रतिभासिक है न पारमार्थिक। वह सत्य और असत्य दोनों है, अर्थात वह अनिर्वचनीय है। शंकर के अनुसार मोक्ष या मुक्ति, उसका अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना है। अज्ञान या अविद्या के कारण नित्य आत्मा का अनित्य शरीर से संबंध बंधन है। दूसरे शब्दों में अविद्या निवृत्ति मोक्ष है। ब्रह्मानुभव भी मोक्ष कहा जाता है। यह कोई नवीन प्राप्ति नहीं है, वरन् प्राप्ति की प्राप्ति है। मोक्ष दो प्रकार का होता है: जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति सांसारिक प्रपंचों, मोह-माया आदि से दूर रहता है। उसका शरीर प्रारब्ध कर्मों के अनुसार रहता है। इन कर्मों के समाप्त होने पर शरीर छूट जाता है। इसे विदेह मुक्ति कहा जाता है। मोक्ष का साधन शंकर के अनुसार केवल ज्ञान है। कर्म व भक्ति को वे गौण मानते हैं।

सारांश में अद्वैतवाद का अर्थ यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव और ब्रह्म में तादात्म्य है, अज्ञान बंधन का कारण है, उसकी निवृत्ति और आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थिति मोक्ष है तथा मोक्ष केवल ज्ञान से ही हो सकता है।

शंकर के अद्वैतवाद पर निम्न आरोप लगाये गये हैं—शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं, शंकर मायावादी हैं, शंकर के दर्शन में भक्ति एवं कर्म, धर्म एवं नैतिकता का अभाव है, शंकर की माया अवधारणा स्पष्ट नहीं है।

शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध निम्न कारणों से कहा जाता है:—

(1) उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहने का आधार यह पूर्व मान्यता है कि उपनिषदों का एक पहलू बौद्ध दर्शन के एक वर्ग से मिलता-जुलता है। उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहने का यह अर्थ भी निकलता है कि उनका दर्शन स्वरूप में बौद्ध है यद्यपि उन्होंने यह जताया है कि वे उपनिषदों के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं।

(2) बौद्धों की शून्य की अवधारणा उपनिषदों के अद्वैतवाद से भिन्न नहीं है अत: शंकर जिस औपनिषदीय अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं अपर रूप से बौद्ध मत का ही प्रतिपादन करते हैं।

(3) शंकर ने ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रूप में की है जो बौद्धमत के माध्यमिक शून्यवाद से ली गई है। शून्यवाद के अनुसार परमतत्व अर्थात शून्य का ज्ञान मन, बुद्धि, वाणी से परे है, वह अनिवर्चनीय है। शंकर भी ब्रह्म को अनिवर्चनीय मानते हैं।

(4) सत्ता के स्तर के संबंध में शंकर का यह मत कि सत्ता के दो स्तर हैं यथा—पारमार्थिक एवं व्यावहारिक, शून्यवाद के पारमार्थिक एवं संवृत्ति सत से प्रभावित है।

(5) शंकर अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से मानते हैं जो बौद्धमत की इस दृष्टि के समान है कि बोध या प्रज्ञा से अज्ञान नष्ट होता है।

(6) बौद्धमत की निर्वाण की धारणा शंकर के मोक्ष विचार के बहुत समान है। शंकर की जीवन मुक्ति की धारणा बौद्ध मत के बोधिसत्व की धारणा के समान है।

(7) वे विज्ञानवाद का खंडन तो करते हैं पर शून्यवाद का नहीं।

शंकर पर यह आरोप है कि वे मायावादी हैं। इस आरोप का आधार यह है कि वह माया का उपयोग बहुतायत से करते हैं और मायावाद उनके दर्शन की आधारशिला है

शंकर पर यह आरोप है कि उनके दर्शन में कर्म एवं भक्ति, नीति और धर्म का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे माया के अधीन हैं और असत हैं। इसी कारण ईश्वर की सत्ता की भी कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ, मानवीय मूल्यों और संघर्षों का कोई महत्व नहीं रह जाता।

माया के स्वरूप को लेकर शंकर पर आरोप लगाये गये हैं। उनके मायावाद की सर्वाधिक आलोचना रामानुज ने की है। उनके अनुसार: प्रथम, माया का आश्रय नहीं हो सकता। वह न तो ब्रह्म हो सकता है न जीव। द्वितीय पुन: माया द्वारा ब्रह्म का तिरोधान या उच्छोदन संभव नहीं है। तीसरे, माया का स्वरूप तर्क संगत नहीं है क्योंकि वह न तो सत है न असत। चौथे, शंकर माया को अनिवर्चनीय स्वीकार करते हैं। रामानुज के अनुसार यह विरोधात्मक है। पाँचवें, माया न तो प्रत्यक्ष से, न अनुमान से, न श्रुति से सिद्ध होती है। छठे, माया का निवर्तन या निवारण संभव नहीं। अंतिम, यह कि माया या अज्ञान की निवृत्ति केवल ज्ञान से ही नहीं हो सकती, कर्म एवं भक्ति से भी होती है।

यदि शंकर के दर्शन का गहन एवं निष्पक्ष अध्ययन किया जाए तो उन पर लगे आरोप निराधार प्रतीत होंगे।

शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं। जो बौद्ध मत और शंकर को अच्छी तरह जानते हैं, वे शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध नहीं मान सकते। बौद्ध मत और शंकर के अद्वैतवाद का आधार उपनिषद् है। दोनों की समानता से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं। शंकर के अनुसार सत्ता सर्वथा शून्य मात्र नहीं है जैसा कि माध्यमिक शून्यवादी मानते हैं। वह भावात्मक है। शंकर का निषेधात्मक तर्क बौद्ध मत से नहीं वरन् उपनिषदों के 'नेति नेति' से लिया गया है। शंकर का त्रिविधसत्ता का सिद्धांत बौद्धों से नहीं वरन् उपनिषदों से लिया गया है। शंकर ने बौद्ध विज्ञानवाद का खंडन तो किया ही है शून्यवाद का भी किया है। उच्छेदवादी ने उन्हें शून्यवादी बौद्धों का या सर्ववैनाशिक कहा है। अत: किसी भाँति भी शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है।

शंकर को मायावादी कहना असत्य है। उन्होंने माया शब्द की रचना नहीं की है। माया का उल्लेख वेद, उपनिषद आदि ग्रंथों में मिलता है। उन्होंने केवल व्यवस्थित रूप में उसे एक सिद्धांत का रूप दिया है। वास्तविकता यह है कि वे मायावादी नहीं, वरन ब्रह्मवादी हैं, क्योंकि वे ब्रह्म को ही एक़मात्र सत मानते हैं। शंकर के अनुसार कर्म और भक्ति का महत्व व्यावहारिक जगत में है और ब्रह्मनुभव होने से पूर्व लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य है। उन्होंने नीति और धर्म का निषेध नहीं किया है।

रामानुज ने माया की अपनी कल्पना की है। कदाचित् वे उसे समझ नहीं सके हैं। शंकर की माया वह नहीं जो रामानुज समझाते हैं। सारांश यह है कि शंकर पर लगाये गये सभी आरोप निराधार हैं। उनका दर्शन आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा है। [आर०पी०व०]

अनंत दास

पद कल्पतरु में 'अनंत आचार्य', 'अनन्त दास' और 'अनंत राय' तीन नामों से पद प्राप्त होते हैं। साधारणत: राय उपाधि के साथ आचार्य उपाधि नहीं दिखायी देती। इससे ज्ञात होता है कि अनंत आचार्य और अनंत राय दो भिन्न पदकर्ता थे। दास उपाधि प्राय: दीनतासूचक अर्थ में अधिकांश पदकर्ताओं ने प्रयोग की है। अत: इस नाम से दो व्यक्ति ही हुए थे

ऐसा चैतन्य चरितामृत से ज्ञात होता है। इसी क्रम में एक अनन्तदास आचार्य हुए और वे गदाधर भट्ट के शिष्य थे।

श्री गदाधर पंडित उपशाखा महोत्तम।
तार उपशाखा बिछु करिये गणन॥

कृष्णदास बाबाजी रचित भक्तमाल में अनंत को 'सुदेवी' का अवतार और गौरांग का किंकर बताया गया है।

सुदेवी अनंत आचार्य गौरांग किंकर।

वैसे तो इनकी जन्मतिथि अज्ञात है परन्तु 1550 से 1582 संवत तक का समय ज्ञात है। ये नीलांचल जाते समय चैतन्य से मिले थे। चैतन्य चरितामृत में अद्वैताचार्य की शिष्य परम्परा के अन्तर्गत भी एक अनन्तदास का नाम मिलता है।

अनंत दास, कानु पंडित, दास नारायण।

(चैतन्य चरितामृत आदि लीला, परिशिष्ट 12, पृ. 64)

ये अनंत दास स्वतंत्र पदकर्ता हैं अथवा दोनों एक ही हैं। ऐसा ज्ञात नहीं है। तीनों नामों से युक्त पद इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि उनका अलग करना कठिन है। अनंत आचार्य नाम से 32 पद प्राप्त हैं। [वि०कृ०भ०]

अनंतनाथ

अनन्तनाथ जैन धर्म के चौदहवें तीर्थंकर थे। अयोध्या के महाराज सिंहसेन इनके पिता और सुयशा (सर्वयशा) उनकी माता थी, जो अपने श्वसुर एवं पिता के वंश के लिए यश की मूर्ति के समान थी। अपने गर्भकाल में महारानी सुयशा ने तीर्थंकर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे थे। स्वप्नों का फल सुनकर वे अति प्रसन्न हुईं और सुखपूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगीं।

गर्भकाल समाप्त होने पर वैशाख कृष्ण तेरहवीं की रात्रि को पुष्य नक्षत्र में महारानी सुयशा ने सिंचान पक्षी के लक्षण वाले स्वर्ण वर्णी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही त्रिलोक में प्रकाश हुआ। आसनकम्प से अवधि ज्ञान द्वारा चौदहवें तीर्थंकर का जन्म हुआ। धान, अच्युतादि विमानिक के नौ इंद्र, ज्योतिषियों के दो इंद्र व्यान्तर देवों के 32 इंद्र और भुवनपति के 20 इंद्र ये सभी प्रभु का जन्मकल्याणक मनाने के लिए मेरु पर्वत के शिखरस्थ पाण्डुकवन में उपस्थित हुए। यह मेरु पर्वत जम्बूद्वीप के मध्य स्थित है, जो चार वनों से सुशोभित है। इनमें चौथे वन का पाण्डुकवन है। जैन परम्परा में उल्लेख है कि अनन्त के गर्भकाल में पिता ने भयंकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। इसी कारण बालक का नाम अनन्त रखा गया।

भगवान अनन्तनाथ जब साढ़े सात लाख वर्ष के हुए तब पिता सिंहसेन ने अपना राज-पाट उन्हें सौंप दिया। पन्द्रह लाख वर्ष तक अनन्तनाथ राज्य भार वहन करते रहे। जब वे साढ़े बाइस लाख वर्ष की अवस्था में पहुँचे तब उन्होंने सर्वविरतिचरित्र ग्रहण करना चाहा। उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु अनन्तनाथ से तीर्थ प्रवर्तन की प्रार्थना की। तब उन्होंने उसी समय राज्यादि त्याग दिया और वार्षिक दान को उद्यत हुए। वार्षिक दान की समाप्ति पर इन्द्रादिदेव दीक्षा महोत्सव करने के लिए उपस्थित हुए। दीक्षाभिषेक के पश्चात् प्रभु अनन्तनाथ सागर दत्ता नाम की शिविका में आरूढ़ हुए और नगर से बाहर सहस्राम उद्यान में पधारे। उद्यान में शिविका से उतरकर भगवान अनन्तनाथ ने वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को अपराह्न के समय हट्ठतप में राज्य परिवार के एक सहस्र जनों के साथ संयम स्वीकार किया।

दीक्षा लेकर प्रभु अयोध्या से विहार कर गए। दूसरे दिन वर्धमान नगर में विजय राजा के यहाँ अनन्तनाथ का परमात्र से पारणा हुआ। वर्धमान नगर से प्रभु जनपद में विहार कर गए। तीन वर्ष तक अनेक ग्राम एवं नगर में विचरते रहने के

बाद प्रभु अयोध्या नगरी के उसी सहस्राम उद्यान में पधारे। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ प्रभु श्रेणी आरूढ़ हुए और धातिक कर्मों को नष्ट करके वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को धनचंद्र का रेवती नक्षत्र के साथ योग हुआ तथा वे केवल ज्ञान के स्वामी बन गए।

भगवान अनन्तनाथ के यशोधर आदि पचास गणधर थे। छियासठ सहस्र मुनि थे। बासठ सहस्र संतिया थीं। दो लाख छः हजार श्रावक थे और चार लाख चौदह सहस्र श्राविका थीं। इसके अतिरिक्त अनेक भव्य जीव सम्यकत्व भी थे। प्रभु अनन्तनाथ तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचरे। अपना निर्वाणकाल समीप जान सात सौ मुनियों सहित भगवान सम्मेद शिखर पर पधारे और अन्नशन कर लिया। अंत में चैत्र शुक्ल पंचमी के दिन पुष्य नक्षत्र में अनन्तनाथ शैलेसी अवस्था को प्राप्त कर, सब कर्मों से रहित हो, सिद्ध पद को प्राप्त हुए। प्रभु अनन्तनाथ का निर्वाण प्रभु विमलनाथ के निर्वाण से नवसागरोपम पश्चात् हुआ। साढ़े सात लाख वर्ष कुमारवय में, पन्द्रह लाख वर्ष राज्यकार्य में और साढ़े सात लाख वर्ष दीक्षा पालने में, इस प्रकार 30 लाख वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् प्रभु मोक्ष को प्राप्त हुए। इनका शरीर 50 धनुष ऊँचा था। सम्मेद शिखर इनकी निर्वाण स्थली है।

श्वेताम्बर परम्परा में अनन्तनाथ का प्रतीक श्येन पक्षी है तथा दिगम्बर परम्परा में इनका प्रतीक रीछ बताया गया है। अनन्त के यक्ष-यक्षी पाताल एवं अंकुशा हैं। दिगम्बर परम्परा में यक्षी का नाम अनन्तमति है। मूर्तियों में पारम्परिक यक्ष-यक्षी का निरूपण नहीं हुआ है। अनन्तनाथ की 11वीं शती ई. के पूर्व की कोई भी मूर्ति प्राप्त नहीं है। एक ध्यानस्थ मूर्ति बारभुजी गुफा (खण्डगिरि, ओडिशा) में है। मूर्ति के अधः भाग पर अष्टभुजी यक्षी भी निरूपित है। एक ध्यानस्थ मूर्ति विमलवही (माउण्ट आबू) की देवकुलिका सं. 33 में है। इस मूर्ति में यक्ष-यक्षी रूप में सर्वानुभूति एवं अम्बिका निरूपित है। [दु०न०ति०]

अनंतानंद

शेषार्यवंशी स्वामी अनंतानंद जी 'यादवाद्रि' स्थान के निवासी थे और स्वामी रामानंद के अनंतानंद आदि 12 शिष्यों में सर्वप्रधान थे। आप भी श्री रामानंद की भाँति श्री रामानुजाचार्य प्रवर्तित श्री संप्रदाय में दीक्षा प्राप्त थे, किंतु आप केवल रामोपासक भक्त ही नहीं थे अपितु आप श्रीकृष्ण के प्रति भी निष्ठा रखते थे। ''रघुवर जदुवर गाइ विमल कीरत संच्यौ धन''। आप 16वीं शताब्दी में विद्यमान थे ऐसा विद्वानों का मत है। स्वामी अनंतानंद सवर्ण हिन्दू ब्राह्मण थे। आप भक्त होते हुए भी श्रीकृष्ण के प्रति भी भक्ति भावी थे। आप कबीर की भाँति निर्गुणोपासक नहीं थे, अपितु सगुणोपासक थे।

अनंतानंद के शिष्यों में कृष्णदास पयहारी प्रमुख शिष्य थे। पय अर्थात् दूध का आहार (भोजन) करने के कारण संप्रदाय में 'पयहारी' नाम से विश्रुत थे। अनंतानंद स्वामी रामानंदी संप्रदाय में वैरागी साधुओं की परंपरा के प्रवर्तक थे। श्री अनंतानंद संस्कृत के विद्वान थे। आपने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। आपका निम्न श्लोक में आपके वंश तथा रचना एवं जन्मस्थान का उल्लेख हुआ है—

शेषार्यवंश रत्नेन यादवाद्रि निवासिना।
अनन्ताचार्येण रचितो वादार्थोऽयं विजृम्भताम्॥

आपकी प्रशस्ति में 'रसिक भक्तमाल' का निम्नलिखित कवित्त पठनीय है—

रामानंद जू के सिष्य अनन्ता नन्द सीतल सुचंदन से भक्तन अनन्दकर।
सन्तन के मानद परानंद मगन, मन मानसी सरूप छवि सरसि मदाल बेर॥
जनक लली की कृपापात्र चारू सीला लली रूप में अभिन्न मुंज रंगभूमि लीला पर।
ऊपर समाधि उर अभित अगाध नैक अंसुवा स्त्रवत मानो सुधासर॥

स्वामी अनंतानंद के शिष्यों में कृष्णदास पयहारी प्रसिद्ध शिष्य थे और उनका सबका मथुरा से संबंध बताते हुए गलता कुंज के अध्यक्ष परांकुशाचार्य बतलाते हैं—'उस काल में मथुरा नगर संस्कृत पठन-पाठन का प्रमुख केंद्र था। यहां पर स्वामी अनंतानंद का विद्यालय था जिसमें बालक कीलदास अध्ययन करता था। विद्यालय का स्थान उनके नाम पर 'अनंतवाड़ा' कहलाता था जो आज 'अंतापाड़ा' नाम का मथुरा का एक मुहल्ला है। [प्रे०द०मि०]

अनन्य अलि

अनन्य अलि राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक समर्थ भक्त थे। इन्होंने अपनी रचना 'स्वप्न विलास' में स्वप्नों के माध्यम से अपना जीवन वृत्तान्त स्वयं लिखा है। जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि ब्रजमण्डल से दूर किसी स्थान पर इनका जन्म एक राधावल्लभीय भक्त परिवार में हुआ था। सम्प्रदाय की 'भक्तमाल' में इनका जन्म स्थान चंदौसी और जन्मकाल सं. 1702 बतलाते हुए, अनन्य अलि को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है, किन्तु 'स्वप्न विलास' के अन्त:साक्ष्य से इनका जन्म सं. 1740 सिद्ध होता है।

किशोरीशरण अलि ने इनका जन्म सं. 1738 और मृत्यु को सं. 1786-1790 के आस पास माना है। डॉ. विजेन्द्र स्नातक अपने शोध में इनका जन्म सं. 1740 और मृत्यु सं. 1790 के आसपास और इनका रचनाकाल सं. 1759 से सं. 1790 के बीच माना है। यही सम्वत् सर्वथा उचित प्रतीत होते हैं।

अनन्य अलि के बड़े भाई उच्च कोटि के रसिक भक्त थे तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय के मर्मज्ञ माने जाते थे। अनन्य अलि का पूर्व नाम भगवानदास था। बाल्यकाल में ही इन्होंने मंत्र दीक्षा गोस्वामी गोविन्दलाल से ग्रहण की थी। ऐसा ज्ञात होता है कि 'अलि' जी को अल्पवय में ही श्रीभगवत्-प्रेम प्राप्ति की तीव्र इच्छा थी। इनके घर में राधावल्लभीय उपासना पूर्व से ही प्रचलित थी और इन्होंने शैशव काल में ही हित चौरासी के चार पद याद कर लिये थे और उनका सदैव गान करते रहते थे। इन्हें ध्रुवदास कृत 'वृन्दावनसत' भी कण्ठ था। इन्हें स्वप्न हुआ 'कोई इनका नाम भगवानदास-भगवानदास कहकर पुकार रहा था और कह रहा था कि तू उठ और शीघ्र वृन्दावन चल'। यह स्वप्न इन्होंने अपनी माता एवं भाई को सुनाया। माँ ने समझा कि उनका पुत्र भक्ति करने के कारण पागल सा हो गया है।

इनके भाई ने इनको 'हित चौरासी' का अध्ययन कराया। इन्हें 'चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर' पद के अतिरिक्त शेष सभी पद कण्ठस्थ हो गये। यह पद बार-बार याद करने पर भी याद नहीं हुआ। उस समय इनकी आयु 20 वर्ष थी और इनके भाई का देहान्त हो गया। भाई ने शरीर छोड़ते समय इनसे कहा कि श्रीजी का भजन करना। भाई के निधन के उपरान्त स्वप्न में वृन्दावन जाने की प्रेरणा व गोविन्दलाल के दर्शन हुए और उन्होंने कहा तुम विवाह के बन्धन में मत पड़ना, तुमको हम वृन्दावन ले चलेंगे।

आप सम्वत् 1759 जेष्ठ वदी द्वितीया को वृन्दावन आये। इनका मन भगवत प्रेम में ऐसा रमा कि इनका शेष जीवन यहीं व्यतीत हुआ। उस समय मुगलों के उत्पात के कारण राधावल्लभ जी का विग्रह वृन्दावन से कामवन ले जाया गया था। अलि जी कामवन गये और दर्शन में श्रीराधा का विग्रह न देखकर आश्चर्य चकित हुए, किन्तु स्वप्न में गद्दी-सेवा का रहस्य समझ में आ गया।

अनन्य अलि कामवन से आकर वृन्दावन में ध्रुवदास की कुटी के समीप निवास स्थान निर्मित कर रहने लगे। उस समय इनको अपना व्यापार ध्यान आने लगा। यह गुरु जी को बतलाने पर उन्होंने इन्हें अधिक सोने का निषेध किया। तब से 'अलि' जी ध्रुवदास द्वारा रचित लीलाओं का गान करने लगे। एक दिन स्वप्न में दामिनी दीप्त इनको दिखलाई दी। बाद में इन्हें आभास हुआ कि वह साक्षात् राधारानी का दर्शन था। इनका 'अनन्य अलि' नाम प्रिया जी प्रदत्त नाम माना जाता है।

अनन्य अलि की लगभग 76 रचनाएँ प्राप्त होती हैं। डॉ. स्नातक ने इनकी 79 रचनाओं के नाम और पद संख्या का

उल्लेख करते हुए, उनके समस्त पदों की संख्या 6000 के लगभग अनुमानित की है। इनको नई-नई लीलाओं का स्फुरण होता रहता और ये उन्हीं लीलाओं का वर्णन अपनी रचनाओं में कर देते थे। इनकी रचनाएँ सीधी-सादी भाषा में प्रवाह युक्त थीं।

विहार वर्णन के अतिरिक्त इन्होंने वृन्दावन महिमा, गुरु महिमा, नाम प्रताप, सखी विलास आदि पर स्वतन्त्र रचनाएँ की हैं। ब्रजभाषा गद्य की 'स्वप्न-विलास' नामक रचना अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है। इसमें पन्द्रह स्वप्न प्रसंग हैं। प्रथम तीन प्रसंग में 'अलि' जी ने अपने सम्बन्ध में तथा शेष प्रसंगों में अपने द्वारा देखे गये भजन सम्बन्धी स्वप्नों का वर्णन किया है। इस प्रकार गद्य काव्य लेखकों में अलि जी अपना स्थान उस समय बनाये हुए थे। [अ०सिं०सै०]

अनन्य देव

गौड़ ब्राह्मण कुल में अनन्य देव जी का जन्म हुआ। व्यक्तित्व से सदाचारी और निरंतर भगवदोन्मुख प्रवृत्ति के थे। ठाकुरजी के भोग, राग, शृंगार, उत्सव-महोत्सव और साधुजनों की सेवा-सुश्रूषा में इनकी विशेष प्रीति थी। इनकी गुरु चरणों में निष्ठा इतनी प्रबल और अनुकरणीय थी कि सर्वप्रथम गुरु पादुका (खड़ाऊँ) की सेवा करने के बाद ही प्रिया-प्रियतम की सेवा में प्रवृत्त होते थे। इसी रहनी का अनुपालन करते हुए श्री अनन्यदेव जी 112 वर्षों तक निधिवन धाम में बिराजे। [कुं०बि०श०]

अन्त:करणप्रबोध

इसमें ग्यारह श्लोक हैं। वल्लभाचार्य अपने अन्त:करण को उपदेश देते हैं कि कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस बात का सतत् चिन्तन करते रहना चाहिये कि श्रीकृष्ण ही विश्व में एकमात्र सर्वदोषविनिर्मुक्त सत्ता हैं; वे ही प्रभु हैं तथा जीव को सदैव उनका आज्ञानुवर्त्ती ही रहना चाहिए। कष्ट होने पर केवल श्रीकृष्ण की ही शरण ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। [क०उ०]

अन्नकूट

मुख्य रूप से अन्नकूट का संबंध इन्द्र के मान भंग से है। उस समय ब्रजवासियों ने गिरि गोवर्धन की पूजा की थी। पूजा के समय ब्रज जन विविध प्रकार की खाद्य सामग्री बनाकर लाये थे; उसी परम्परा में अन्नकूट के समय गोवर्धन पूजा होती है। अन्नकूट में भात की बड़ी महिमा है। श्रीनाथ जी के अन्नकूट में तो दर्शनों के पश्चात् भात की लूट भी होने का विवरण मिलता है। इसमें नाना प्रकार के पकवान ठाकुरजी के भोग में अर्पित किये जाते हैं। तत्पश्चात् प्रदर्शन के लिये रखे जाते हैं। [प्र०श०]

अमरदास

अमरदास मूलत: लखनऊ के आस-पास के रहने वाले थे। इनके जीवन के विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके बारे में लिखा है कि ये मन, कर्म और वचन से अनन्य गुरु भक्त थे और गुरु में ही ईश्वर की भावना रखने वाले संत थे। इन्होंने गुरु भक्ति से ही अमर पद के पद की प्राप्ति कर ली थी। इन्होंने अपना सारा जीवन गुरु की सेवा करते हुए दिल्ली स्थित आश्रम में ही व्यतीत कर दिया।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा खोजी गई एक कृति 'एकादशी महात्म्य' इनके द्वारा रचित मानी जाती है। इस नाम से

कई चरणदासी संतों ने रचनाएँ रची हैं। अत: यह इनकी रचना हो भी सकती है और नहीं भी। [क०उ०]

अलंकार कौस्तुभ

यह काव्य-शास्त्र विषयक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है। इसके उदाहरण कृष्ण लीला संबंधी हैं, अत: यह काव्य-शास्त्र के विद्यार्थियों के साथ ही साथ भक्तों को भी प्रिय है। इसमें 'किरण' नामक 10 अध्याय हैं। इसकी कई टीकाएँ हुई हैं, जिनमें विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'सारबोधिनी' विशेष प्रसिद्ध है। [क०उ०]

अलबेली शरण

अलबेली शरण चरणदासी संप्रदाय के संत श्री गोविन्द दास के शिष्य थे। इनकी गुरु परंपरा इस प्रकार है—चरणदास-गुरुछौना-अखैराम-चेतनदास दूधाहारी-भगवानदास-मोहनदास-खूबदास-गोविन्ददास-अलबेली शरण।

जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ये राधाकृष्ण की रसोपासना में अनुरक्त थे। इनका जन्म सन् 1852 को जयपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामसजीवन लाल भार्गव था। इनके बचपन का नाम हीरालाल था। ये हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी एवं संस्कृत के विद्वान थे। इनका झुकाव बाल्यावस्था से ही श्रीराधाकृष्ण की भक्ति की ओर था। ये वर्ष में एक-दो माह के लिए वृन्दावन में रहा करते थे। वहीं पर इनकी भेंट महन्त गोविन्ददास से हुई। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इन्होंने गृहस्थ का त्याग कर विरक्त वेश अपना लिया। ये 'धर्मावतार' या 'धर्ममूर्ति' के नाम से जाने जाते थे।

ये एक उच्चकोटि के कवि भी थे। इन्होंने हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में काव्य रचना की है। इनकी उर्दू में 'तकरीर-दिल पजीर' तथा हिन्दी में 'संक्षिप्त जीवन चरित्र' नामक रचनाएँ मिलती हैं। इन्होंने चरणदास जी के दिल्ली स्थित आश्रम के जीर्णोद्धार में सहयोग किया था। इनका परलोक गमन सन् 1928 ई. के लगभग हुआ था। [क०उ०]

अलीगढ़ के ईसाई धार्मिक स्थल

असैशन गिरजाघर-यह गिरजाघर कठपुला से उतरकर घण्टाघर के पास सिविल लाइन्स में स्थित है। इसका निर्माण सन् 1868 में हुआ था। इस गिरजाघर का परिसर बहुत बड़ा है। असैशन का अर्थ—आरोहण या स्वर्गारोहण है। यह गिरजाघर 'चर्च ऑफ नार्थ इण्डिया' (सी.एन.आई.) का है। यह प्रोटेस्टेण्ट ईसाई समुदाय से सम्बन्धित है, जो बहुत सुन्दर है। इसके प्रवेश द्वार पर श्वेत संगमरमर से बना कई फीट ऊँचा क्रास लगा हुआ है। इसका गिरजाघर भी काफी बड़ा है।

ए. बी. चर्च—यह गिरजाघर एकता नगर में बना हुआ है।

क्राइस्ट चर्च—यह गिरजाघर नकवी पार्क टेलीफोन एक्सचेंज के पास स्थित है।

बिलिवर चर्च—यह गिरजाघर बन्नादेवी गिरजाघर के ठीक सामने स्थित है। बिलिवर आंग्ल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ—आस्तिक या विश्वासी है। इससे आशय यह है जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं।

रोमन कैथोलिक गिरजाघर-यह गिरजाघर रामघाट रोड पर स्थित है जो रोमन कैथोलिक ईसाई समुदाय का है।

वाल्मीकि सराय का गिरजाघर- यह गिरजाघर सासनी अड्डे के पास वाली सराय में बना हुआ है।

सेण्ट्रल मैथोडिस्ट गिरजाघर- यह गिरजाघर जी.टी. रोड पर बन्नादेवी मुहल्ले में स्थित है जो मैथोडिस्ट ईसाई समुदाय का है। यह गिरजाघर बहुत पुराना और काफी बड़े परिसर में बना हुआ है। [ब०सिं०सि०]

अलीगढ़ के जैन धार्मिक स्थल

खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर, खिरनी गेट—यह मन्दिर विशाल परिसर में खिरनी गेट पर आगरा मार्ग पर बना हुआ है जिसका संचालन श्री लखमी चन्द पाण्डया खण्डेलवाल दिगम्बर जैन ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा है। यह मन्दिर भी खण्डेलवाल दिगम्बर जैन समाज से सम्बन्धित निजी मन्दिर है। यह भव्य मन्दिर लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। इसकी मूल वेदी पर भगवान नेमिनाथ की काले पाषाण से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। इनके साथ में नौ अन्य प्रतिमाएँ भी हैं जिनमें से आठ धातु से बनी हैं। इनमें भगवान आदिनाथ, महावीर, चन्दप्रभु, पार्श्वनाथ, दो सिद्धनाथ तथा एक भगवान महावीर की पाषाण प्रतिमा भी सम्मिलित है। दूसरी वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की श्वेत पाषाण से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। तीसरी वेदी पर भगवान महावीर की श्वेत पाषाण की बनी प्रतिमा है।

मंगलायतन—यह मन्दिर अलीगढ़-आगरा राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इसके सिंहद्वार की ऊँचाई 21 फीट है। यह सिंहद्वार 16 स्तम्भों के आधार पर 34 फीट चौड़ाई में गुलाबी पत्थर से बना है। सिंहद्वार के दोनों ओर चँवरयुक्त दो देव, प्रत्येक दर्शनार्थी का स्वागत करते प्रतीत होते हैं। धर्म-ध्वज स्थल सिंहद्वार से 33 फीट की दूरी पर बना हुआ है। यहाँ जिन शासन की विजय पताका फहराता हुआ 31 फीट ऊँचा केसरिया धर्म-ध्वज भक्तजनों को जिन धर्म की यशोगाथा सुनाता हुआ प्रतीत होता है। सिंहद्वार से 68 फीट की दूरी पर 63 फीट उन्नत 'मान स्तम्भ' का निर्माण श्वेत संगमरमर खण्ड से किया गया है। इसकी तीन कटनियों में तीर्थंकर भगवन्तों, आचार्यों, उपाध्यों, मुनिराजों की विभिन्न मुद्राएँ और जैन दर्शन की अमर कथाएँ उत्कीर्ण हैं। श्री जिनेन्द्र भगवान के समवसरण में चारों दिशाओं में स्वर्ण निर्मित एक-एक मानस्तम्भ होता है। मानस्तम्भ को दूर से ही देखने भर से मानयुक्त मिथ्यादृष्टि भव्यजीव मानरहित हो जाती है। अत: जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से युक्त इस रचना को 'मानस्तम्भ' कहते हैं। भगवान आदिनाथ के मन्दिर के पूर्व में भगवान महावीर तथा पश्चिम दिशा में भगवान बाहुबली के मन्दिर हैं।

भगवान आदिनाथ के मन्दिर के द्वार पर दोनों तरफ दो विशाल हाथी बने हुए हैं जिन पर सवार पुरुष स्वागत में तुरही बजा रहे हैं। यह तीर्थंकर आदि जिनेश्वर का आश्रम या मन्दिर है जो उनकी निर्वाण स्थली कैलाश पर्वत पर निर्मित है। पृथ्वी तल से जिन मन्दिर के शिखर तक की ऊँचाई 62 फीट है। भगवान श्री आदिनाथ की भव्य प्रतिमा के दोनों ओर गुलाबी पत्थर से निर्मित दो इन्द्र भगवान पर चँवर डुला रहे हैं। कैलाश पर्वत पर जाने के लिए श्वेत संगमरमर की सीढ़ियाँ हैं। इनके दोनों ओर शाश्वत निर्वाण क्षेत्र सम्मेद शिखर, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की निर्वाणस्थली गिरनार गिरि, तीर्थंकर वासुपूज्य की निर्वाणस्थली चम्पापुर, अन्तिम शासन नायक महावीर की निर्वाण भूमि पावापुर, साढ़े पाँच करोड़ मुनिवरों की निर्वाण स्थली सोनागिरि और परोपकारी पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी की साधनास्थली स्वर्णपुर, सोनगढ़ की सुन्दर रचनाएँ और प्रत्येक रचना के साथ जिनेन्द्र भगवन्तों के चरण चिह्न विराजमान हैं।

श्री पल्लीवाल दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर—यह मन्दिर जैन गली, मुहल्ला पालकीखाना में स्थित है जो पल्लीवाल दिगम्बर जैन समाज द्वारा निर्मित है। इस छोटे से मन्दिर में मूलवेदी पर श्वेत संगमरमर से बनी भगवान चन्द्रप्रभु की प्रतिमा विराजमान है। दूसरी वेदी पर पंचबालयति, तीसरी वेदी पर भगवान पद्मप्रभु, चौथी वेदी पर भगवान नेमिनाथ, पाँचवीं वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ के विग्रह हैं। ये सभी श्वेत संगमरमर के हैं। यह मन्दिर सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है।

श्री पार्श्वनाथ जैन खण्डेलवाल मन्दिर पंचायती—यह जैन मन्दिर खिरनी गेट, पुलिस चौकी के पीछे गली के अन्दर की दूसरी गली में बना हुआ है जो खण्डेलवाल दिगम्बर जैन समाज का पंचायती मन्दिर है। इस गली में घुसते ही इस मन्दिर का अलग से द्वार बना हुआ है जिस पर इस मन्दिर का नाम अंकित है। कोई दस फीट ऊँचे चबूतरे पर बादामी पत्थर से बना यह मन्दिर बहुत सुन्दर है। इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् 1882 में हुआ था। इस

मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ का श्याम पाषाण से निर्मित लगभग डेढ़ फीट की प्रतिमा विराजमान है। इनके साथ भगवान चन्द्रप्रभु का श्वेत संगमरमर से निर्मित विग्रह भी स्थापित है। दूसरी वेदी पर श्याम पाषाण से निर्मित भगवान नेमिनाथ तथा साथ में भगवान पदमप्रभु की प्रतिमाएँ हैं। तीसरी वेदी पर भगवान आदिनाथ, भरतबाहुबली की श्वेत पाषाण की प्रतिमाएँ हैं।

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर एवं चैत्यालय—यह मन्दिर छपैटी से जुड़े मुहल्ला कूँचा नयाबास में गली में घुसते ही स्थित है जो दो-मंजिला है। यह छोटा-सा मन्दिर करीब डेढ़ साल पहले का बना हुआ है। इसमें मूल वेदी पर श्याम पाषाण से निर्मित भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। अब भगवान पार्श्वनाथ की श्याम पाषाण से बनी बड़ी प्रतिमा भी स्थापित की गयी है। यहाँ भगवान महावीर की श्वेत पाषाण, भगवान महावीर की धातु से निर्मित विग्रह के साथ-साथ सिद्ध भगवान, बाहुबली की प्रतिमाएँ हैं।

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, महावीरगंज—यह मन्दिर महावीरगंज में बना हुआ है जो तीन मंजिला है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। इसके सिवाय मन्दिर में दूसरे तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी पाषाण और धातु की अनेक प्रतिमाएँ भी हैं।

श्री महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर जैन गली, मुहल्ला पालकीखाना में श्री पल्लीवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के ठीक सामने बना हुआ है। पाषाण से निर्मित यह मन्दिर बहुत सुन्दर है जिस पर पाषाण में ही नक्काशी की हुई है। इस मन्दिर का निर्माण सिंघाई पण्डित ख्यालीराम जैन उर्फ कक्का जी पल्लीवाल फतेहपुरिया परिवार द्वारा पालकीखाना गली में सम्वत 1955 में कराया था। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर की श्वेत पाषाण की सुन्दर और भव्य प्रतिमा विराजमान है। इसके अलावा अन्य तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी कई प्रतिमाएँ भी हैं।

श्री वर्द्धमान दिगम्बर जैन मन्दिर—यह छोटा-सा मन्दिर मुहल्ला पालकीखाना में स्थित है। श्री पल्लीवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के ठीक सामने बना हुआ है। इस मन्दिर का निर्माण वीर निर्वाण सम्वत् 2378 अर्थात् विक्रम सम्वत् 1930 को हुआ है। यह मन्दिर ऊँचाई पर बना हुआ है। इसका पाषाण का नक्काशीदार द्वार अत्यन्त सुन्दर है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान वर्द्धमान की छोटी-सी धातु से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। दूसरी वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ हैं। इनके अतिरिक्त 24 तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी धातु और पाषाण प्रतिमाएँ हैं।

श्री शीतलनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर समद रोड, लेखराज नगर में स्थित है जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा बनाया गया है। इस मन्दिर की स्थापना, वीर निर्वाण सम्वत् 2548 अर्थात् सन् 1953 में की गयी थी। इसका समय-समय पर विकास तथा जीर्णोद्धार होता रहा है। वर्तमान में यह मन्दिर तीन मंजिला है। यह वंशी पहाड़पुर के बादामी रंग के पत्थर से निर्मित है। इस पर जगह-जगह सुन्दर नक्काशी तथा जालियाँ लगी हैं। मन्दिर के सामने की दीवार पर पत्थर में कल्पवृक्ष उत्कीर्ण है। इस मन्दिर की मूल वेदी पर भगवान शीतलनाथ की श्याम पाषाण की सुन्दर और भव्य प्रतिमा विराजमान है। इस मन्दिर में एक ही वेदी है। यह अतिशय क्षेत्र है। [ब०सिं०सि०]

अलीगढ़ के मुस्लिम धार्मिक स्थल

अचलताल मस्जिद—यह छोटी-सी मस्जिद अचलताल के पास जी.टी. रोड के किनारे बनी हुई है इसलिए इस मस्जिद का नाम ही 'मस्जिद अचलताल' पड़ गया। यह मस्जिद करीब दो सौ साल पुरानी बतायी जाती है। यह सन् 1921 से वक्फ में दर्ज है।

अमीनुद्दीन मस्जिद—यह मस्जिद मालगोदाम चौराहा, जी.टी. रोड पर स्थित है। जो अपने गुम्बदों और मीनारों के कारण दूर से ही दिखायी पड़ती है। यह छोटे आकार की मस्जिद करीब सौ साल पुरानी है। इस मस्जिद की छोटी-बड़ी 14 मीनारें हैं। इसका दरवाजा उत्तर-पश्चिम दिशा में है।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय मस्जिद—यह मस्जिद अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के परिसर में बनी हुई है जो बहुत सुन्दर और विशाल है। इसमें एक हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकते हैं। यह मस्जिद दुबे पड़ाव के चौराहे पर बनी हुई है।

ऊँची मस्जिद, मदार गेट—यह मस्जिद मदार गेट, तेजाब वाली गली में स्थित है इसलिए इसे 'तेजाब गली वाली मस्जिद' भी कहते हैं। यह मस्जिद सफेद पत्थर और ककइयां ईंटों से बनी है और लगभग अस्सी साल पुरानी बतायी जाती है जो मध्यम आकार की है। इस मस्जिद का निर्माण एक धनी हिन्दू व्यक्ति कन्हैया ने कराया था। बताया जाता है कि वह नि:सन्तान था। उसने विभिन्न धार्मिक स्थानों पर मन्नत माँगी थी कि यदि उसके कोई सन्तान पैदा होती है तो वह मन्दिर और मस्जिद बनवायेगा। औलाद होने पर कन्हैया ने इस मस्जिद को बनवाया था।

काली मस्जिद—यह मस्जिद मुहल्ला बनी इजरायल लान ऊपरकोट में स्थित है जो अलीगढ़ की सबसे पुरानी मस्जिद बतायी जाती है। इसलिए इसे काली/कलां मस्जिद कहते हैं। यह मस्जिद साढ़े तीन सौ साल से अधिक पुरानी बतायी जाती है। यह एक सँकरे रास्ते पर ऊँचाई पर स्थित है।

छतारी मस्जिद (फर्श बाजार)—यह भव्य मस्जिद ऊपर कोट जाने वाले रास्ते पर फूल चौक चौराहे के पास फर्श बाजार मुहल्ला में बनी हुई है, जो हरे और सफेद रंग से पुते होने के साथ अपनी निर्माण शैली के कारण बहुत सुन्दर दिखायी देती है। इसे नवाब छतारी ने बनवाया था। इस कारण इसे 'छतारी मस्जिद' कहा जाता है। इस मस्जिद की पहली मंजिल पर दुकानें बनी हुई हैं। यह मस्जिद भी मध्यम आकार की है। इसका विशाल गुम्बद और चारों कोनों पर बनी मीनारें बहुत खूबसूरत हैं।

जामा मस्जिद—यह मस्जिद ऊपर कोट पर स्थित है जो इस नगर का सबसे ऊँचा स्थान है और यहाँ किला था। इस कारण मस्जिद का नाम 'जामा मस्जिद ऊपर कोट' पड़ गया। यह इस शहर की सबसे बड़ी मस्जिद है। सन् 1727 में तुर्क सूबेदार साबित खाँ ने इसका निर्माण कराया था। वर्तमान में भी इस मस्जिद की अपनी ही अलग शान है। यह मस्जिद नगर के कई किलोमीटर दूर से दिखायी देती है। इस मस्जिद के तीन दरवाजे हैं। इनमें मुख्यद्वार थाना पुलिस कोतवाली के सामने, दूसरा मुहम्मद अली रोड पर, तीसरा तहसील रोड पर है। इस मस्जिद के विशाल पाँच गुम्बज बहुत खूबसूरत हैं। इनमें बीच का गुम्बज आकार में सबसे बड़ा है। इसके बाद का गुम्बज मध्य वाले गुम्बज से आकार में छोटा है। नीचे किनारे वाला उससे आकार में कम है। यह मस्जिद सफेद रंग से पुती है जो इसके सफेद संगमरमर से बने होने का आभास देती है। वैसे इस मस्जिद के निर्माण में सफेद संगमरमर का काफी इस्तेमाल किया गया है।

दरगाह एवं मस्जिद बाबा बर्छी बहादुर—यह दरगाह और मस्जिद रेलवे लाइन के समीप है। इसके बगल से पैदल चलने वालों के लिए बना काठपुल है। ये दोनों सड़क से काफी नीचे बने हुए हैं। एक ही परिसर में दरगाह और छोटी-सी मस्जिद है। हजरत शाह जमाल उर्फ बाबा बर्छी वाले अपने समय के मशहूर फकीर थे जो शाह जमाल क्षेत्र बारची बहादुरशाह के वंशजों में से एक थे। पहले यहाँ कच्चा मजार था। अब यहाँ उनका पक्का दरगाह तथा मस्जिद बन गयी है। बर्छी वाले बाबा के समय अँग्रेज रेल की पटरियाँ बिछा रहे थे, उसके लिए बाबा ने मना किया। इसके बाद भी अँग्रेज अधिकारी नहीं माना, तब बाबा ने अपना चमत्कार दिखाया। उसके पश्चात वह अधिकारी रेल की पटरियों को पीछे खिसकाने को माना।

नवाब धर्मपुरा मस्जिद—यह मध्यम आकार की खूबसूरत मस्जिद शाह कमाल रोड बस स्टैण्ड के पीछे बनी हुई है। इसे नवाब धर्मपुरा वालों ने कोई डेढ़ सौ साल पहले बनवाया था। यह मस्जिद बहुत सुन्दर है। यह मस्जिद ककइयां ईंटों से बनी है।

पीर अताउल्ला मस्जिद—यह मस्जिद जामा मस्जिद से थोड़ा आगे शहीद चन्दन रोड पर बनी हुई है जो एक सौ

साल पुरानी बतायी जाती है। इसका नामकरण 'पीर अताउल्लाह' के नाम पर किया गया है जो अपने समय के मशहूर फकीर थे। यह मध्यम आकार की खूबसूरत मस्जिद है।

पीली कोठी मस्जिद—यह मस्जिद रसालगंज, बाजार सराय हकीम में बनी हुई है जो तीन मंजिल की है। पहले यह किसी नवाब की कोठी थी जो सौ साल से ज्यादा पुरानी बतायी जाती है। इसमें एक साथ दो हजार से अधिक लोग नमाज पढ़ सकते हैं।

मम्मनवाली मस्जिद (मानक चौक)—यह मस्जिद मानक चौक, हण्डेवाली गली में स्थित है जिसे स्थानीय निवासी मो. मम्मन ने बनवाया था, इसलिए इसका नामकरण उन्हीं के नाम पर हो गया। यह मस्जिद करीब सौ साल पुरानी बतायी जाती है जो ककइयां ईंटों से बनी है।

मोती मस्जिद—यह मस्जिद फूल चौराहे पर स्थित है। इसका रंग सफेद है। यह देखने में बहुत सुन्दर लगती है। इस कारण इस मस्जिद को 'मोती मस्जिद' कहते हैं। यह मध्यम आकार की बड़ी मस्जिद है।

शीशेवाली मस्जिद—यह मस्जिद मुहम्मद अली रोड, ऊपर कोट पर बनी है। इसकी सजावट में काँच/शीशे का बहुतायत में इस्तेमाल किया गया है इसलिए इस मस्जिद को 'शीशे वाली मस्जिद' कहा जाता है। यह कई मंजिला मस्जिद है। यह मस्जिद लगभग डेढ़ सौ साल पुरानी बतायी जाती है। इसका समय-समय पर जीर्णोद्धार होता रहा है। यह भी मध्यम आकार की मस्जिद है।

सर सैय्यद अहमद मस्जिद—यह मस्जिद विश्वविद्यालय परिसर में स्ट्रैची हॉल के पास स्थित है।

हारुन साहब वाली मस्जिद—यह मस्जिद मुहल्ला बनी इजरायल लान में एक सँकरे मार्ग पर बनी है जो छतारी मस्जिद और काली मस्जिद के बीच में है। इसका नामकरण हारुन साहब के नाम पर किया गया है। यह मस्जिद कोई डेढ़ सौ साल पुरानी बतायी जाती है जो ककइयां ईंटों से बनी है। यह तीन मंजिला मस्जिद है, इसकी चार मीनारें तथा बीच में बड़ा गुम्बद है। [ब०सिं०सि०]

अलीगढ़ के हिन्दू धार्मिक स्थल

अचलेश्वर महादेव मन्दिर—यह मन्दिर अचल तालाब, जी.टी. रोड पर स्थित है, अचलताल के नाम पर ही, इस मन्दिर का नामकरण 'अचलेश्वर' हुआ है। इस मन्दिर का खूबसूरत सिंहद्वार पत्थर का बना हुआ है। यह मन्दिर अष्टाकार है। इसका गुम्बद काशीफल सरीखा है। इसका शिखर बहुत ऊँचा है। इसके गुम्बद के अन्दर विभिन्न अवतार, देवी-देवताओं के चित्र अंकित हैं।

अष्ट सिद्धि हनुमान मन्दिर—यह छोटा-सा मन्दिर दीनदयाल सराय, जी.टी. रोड पर स्थित है जो अष्ट स्तम्भों पर बना दो मंजिला भवन है। इस मन्दिर का शिखर भी आकर्षक है। इसकी दूसरी मंजिल के कक्ष में दस फीट ऊँची हनुमान जी की प्रतिमा है। इस मन्दिर के परिसर में माता चामुण्डा का विग्रह भी विराजमान है। इस मन्दिर का निर्माण 35 साल पहले हुआ है।

खेरेश्वर धाम—यह प्राचीन शिव मन्दिर है जो अलीगढ़ शहर से 3 कि.मी. दूर खैर बाईपास पर हरिदासपुर में स्थित है। यह तीर्थयात्रियों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।

गंगा मन्दिर—गंगा माता का यह छोटा-सा मन्दिर अचल सरोवर परिक्रमा मार्ग पर बना हुआ है। इसका पिछला भाग अचल सरोवर में खुलता है। इस मन्दिर में गंगा जी की सुन्दर और मनमोहक प्रतिमा विराजमान है।

गणेश मन्दिर—श्री सिद्धि विनायक एवं महालक्ष्मी का यह छोटा-सा मन्दिर उत्तरी अचल सरोवर परिक्रमा मार्ग पर बना हुआ है। जिसका पिछला हिस्सा अचल सरोवर में खुलता है। इस मन्दिर में भगवान गणेश और महालक्ष्मी के श्वेत संगमरमर के भव्य एवं आकर्षक विग्रह हैं।

गिलहराज मन्दिर—यह मन्दिर अचल सरोवर के परिक्रमा मार्ग पर पश्चिम दिशा में बना हुआ है। इसके पिछवाड़े में अचलताल है। इस मन्दिर का तोरणद्वार बहुत सुन्दर और नक्काशीदार है। इस मन्दिर का ऊँचा शिखर दूर से दिखायी देता है। यद्यपि यह मन्दिर मुख्यत: श्री गिलहराज जी हनुमान का है, तथापि इसके परिसर में कई मन्दिर बने हुए हैं। इस मन्दिर की सबसे बड़ी विशेषता श्री हनुमान जी महाराज का गिलहरी के रूप में विराजमान होना है। विश्व में श्री गिलहराज जी महाराज का यह एकमात्र विग्रह है।

श्री गिलहराज जी महाराज के विग्रह की खोज पूज्य महन्त श्री महेन्द्रनाथ योगी जी महाराज ने की थी। वह नाथ सम्प्रदाय के परम सिद्ध योगी थे। उन्हें स्वप्न में हनुमान जी से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने ही ज्ञात किया कि हनुमान जी की गिलहरी रूप में प्रथम पूजा द्वापर युग में श्रीकृष्ण के बड़े भाई दाऊजी ने की थी। यह प्राचीन सिद्धपीठ है। हनुमानजी के एक नयन के ही दर्शन होते हैं। इनके एक हाथ में लड्डू और चरणों में नवग्रह दबे हुए हैं। इसी मुख्य मन्दिर में चारों धाम का मन्दिर है जिसमें केदारनाथ, जगन्नाथ, विष्णु भगवान आदि के विग्रह विराजमान हैं।

चिन्ताहरण देवी मन्दिर—यह मन्दिर अचल सरोवर के परिक्रमा मार्ग पर पश्चिम दिशा में बना हुआ है। यह प्राचीन सिद्धपीठ है जो 200 वर्ष पुरानी है। इस मन्दिर का पचास फीट ऊँचा शिखर है जो दूर से दिखायी देता है और मन्दिर की भव्यता को बढ़ाता है। इस मन्दिर में तीन फीट की लाल पत्थर से निर्मित चतुर्भुजी दुर्गा माता की प्रतिमा विराजमान है।

जागेश्वरनाथ मन्दिर—यह अलीगढ़ नगर से लगभग 12 कि.मी. दूर कस्बा हरदुआगंज में स्थित सिद्धपीठ शिव मन्दिर है। यह मन्दिर रथाकार आकृति का है। इसमें पाषाण का शिवलिंग और इसमें शिव परिवार की प्रतिमाएँ हैं। इस कस्बे के पूर्व में अवस्थित इस मन्दिर का निर्माण सन् 1724 में हुआ बताया जाता है। उस समय यह क्षेत्र मुगल शासन के अधीन था। जानकारों के अनुसार मध्य प्रदेश के दमोह जनपद के बांदकपुर निवासी शिव भक्त लाला जमुनादास ने बीहड़ जंगल में धरती के गर्भगृह से उत्पन्न शिवलिंग को देखकर इस मन्दिर का निर्माण कराने का निश्चय किया।

टीकाराम मन्दिर—यह मन्दिर समद रोड पर स्थित है। इसका तोरणद्वार गुलाबी पाषाण से बना हुआ है, जिस पर बहुत नक्काशी की हुई है। यह मन्दिर श्री सीताराम जी श्री टीकाराम परिवार धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा सम्वत 2005 से संचालित है। यह मन्दिर विशाल परिसर में है जिसमें संकट मोचन हनुमान जी का मन्दिर अलग से बना हुआ है।

ताम्बेश्वर मन्दिर—यह मन्दिर भी अचल सरोवर के परिसर में आरती घाट पर स्थित है जो अधिक बड़ा नहीं है। इस मन्दिर का शिखर भी है। इस मन्दिर के शिवलिंग पर कवच ताम्बे का है, इस कारण 'ताम्बेश्वर महादेव' मन्दिर कहा जाता है। श्री नाथ जी महाराज के विग्रह के अलीगढ़ शहर में एकमात्र दर्शन इस मंदिर में हैं।

नटराज मन्दिर—यह मन्दिर अचल सरोवर के उत्तरी सिरे पर वेद भवन के भूतल में बना हुआ है जो 20-25 साल पुराना है। इसे नटराज सेवा समिति द्वारा संचालित कियां जा रहा है। इस मन्दिर में भगवान शंकर-पार्वती की चार फीट श्वेत संगमरमर की सुन्दर, मनमोहक प्रतिमाएँ हैं।

नीलकण्ठेश्वर महादेव—यह मन्दिर अचल सरोवर के परिक्रमा मार्ग पर पश्चिम दिशा में बना हुआ है। इस मन्दिर में भगवान शंकर-पार्वती की ढाई फीट की श्वेत संगमरमर की मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे शिव परिवार विराजमान है। इसी मन्दिर के परिसर में हनुमान जी का अलग से एक छोटा मन्दिर भी है जिसमें पाँच फीट की हनुमान जी की पाषाण प्रतिमा है जो एक हाथ में गदा और दूसरे में पर्वत उठाये हुए है। मन्दिर प्रांगण में ही नवदुर्गा का भी मन्दिर बना हुआ है जिसका निर्माण सन् 1971 में हुआ है।

मनकामेश्वर मन्दिर—यह बहुत छोटा मन्दिर अचल सरोवर के परिक्रमा मार्ग पर उत्तर दिशा में ताम्बेश्वर मन्दिर के निकट स्थित है। इस मन्दिर का छोटा-सा शिखर है। इस मन्दिर में शिव परिवार विराजमान है।

महाकाली मन्दिर—यह मन्दिर सासनी गेट के चौराहे पर आगरा रोड पर बना हुआ है जिसकी छत पर एक सिंहवाहिनी दुर्गा माता और दूसरी ओर भगवान शंकर की अपने दोनों हाथ उठाये पाँच फीट ऊँची प्रतिमा दूर से ही राहगीरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह मन्दिर करीब सौ साल पुराना है जिसका समय-समय पर जीर्णोद्धार होता रहा है। इस मन्दिर में मुख्य वेदी पर माता काली की विशाल प्रतिमा विराजमान है। इसी मन्दिर परिसर में शिव परिवार उपस्थित है। मन्दिर परिसर में हनुमान जी, शनिदेव, साईंबाबा की मूर्तियाँ भी हैं।

मूछों वाले हनुमान जी का मन्दिर—यह तीन मंजिला पाषाण से निर्मित सुन्दर मन्दिर महावीरगंज में तिराहे पर स्थित है जिसमें हनुमान जी के मुख पर मूछें हैं। इसी कारण इस मन्दिर को मूछों वाले हनुमान जी का मन्दिर कहा जाता है। इस मन्दिर की दीवारों की नक्काशी देखने योग्य है।

राधा-कृष्ण मन्दिर—यह छोटे आकार का मन्दिर अचल सरोवर परिक्रमा मार्ग पर स्थित है। जिसका पिछला हिस्सा अचल सरोवर में खुलता है। इस मन्दिर में राधा-कृष्ण के श्वेत संगमरमर के सुन्दर, मोहक छवि के विग्रह विराजमान हैं। इस मन्दिर का निर्माण विक्रम सम्वत 2002 में हुआ है।

लक्ष्मी मन्दिर—यह मन्दिर अचल तालाब की उत्तर दिशा में स्थित है जो 138 साल पुराना है। इस मन्दिर का निर्माण लाला श्योप्रसाद ने सम्वत् 1944 में कराया था। इस मन्दिर में माता लक्ष्मी की चार फीट की श्वेत संगमरमर की सुन्दर, आकर्षक एवं मोहक प्रतिमा है। मन्दिर का शिखर काफी ऊँचा है जो दूर से ही दिखायी देता है।

वार्ष्णेय मन्दिर—यह बेहद खूबसूरत विशाल तिमंजिला मन्दिर गाँधी नगर, जी.टी. रोड पर स्थित है। इस मन्दिर का सिंहद्वार पत्थर से निर्मित और बहुत सुन्दर है। यह मन्दिर बादामी रंग के पत्थर से बना है जिस पर सुन्दर नक्काशी की हुई है। इस भव्य मन्दिर में योगीराज श्रीकृष्ण की सुदर्शन चक्र लिए सुन्दर और मोहक आठ फीट ऊँची श्वेत संगमरमर से बनी प्रतिमा है। इस मन्दिर में कल्कि, वामन, परशुराम, मत्स्य, वराह अवतार के विग्रह बने हुए हैं। साथ ही शिव परिवार, हनुमान जी की तीन फीट की प्रतिमा भी विराजमान है।

विश्वनाथ महादेव—यह मन्दिर रामघाट रोड पर टीकाराम कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय एवं इण्टर कॉलेज के सामने स्थित है। इसके संस्थापक सेठ हुक्मचन्द तथा निर्माता एवं अधिष्ठाता कवि डॉ. पन्नालाल वार्ष्णेय हैं जिन्होंने इस मन्दिर का निर्माण विक्रम सम्वत 2011 में कराया था। इस शिखर युक्त छोटे चौकोर मन्दिर में भगवान विश्वनाथ तथा माता पार्वती जी की साढ़े तीन फीट की श्वेत संगमरमर की सुन्दर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मन्दिर के द्वार पर हनुमान जी का अलग से एक छोटा मन्दिर बना हुआ है।

वैष्णो देवी मन्दिर—यह छोटे आकार का मन्दिर अचल सरोवर परिक्रमा मार्ग पर स्थित है, जिसका पिछला दरवाजा अचल ताल पर खुलता है। इस मन्दिर में वैष्णो देवी की सुन्दर और मनमोहनी प्रतिमा विराजमान है।

सप्तमुखी हनुमान—हनुमान जी का यह मन्दिर अचल सरोवर के परिक्रमा मार्ग पर बना हुआ है। इसमें छह फीट के हनुमान जी की विशाल आकर्षक प्रतिमा है। इसके नीचे एक वेदी पर डेढ़ फीट की श्वेत संगमरमर की सप्तमुखी हनुमान जी की प्रतिमा विराजमान है। इस परिसर में कई दूसरे मन्दिर भी बने हुए हैं।

सीताराम मंदिर—यह मन्दिर अचल तालाब, जी.टी. रोड पर स्थित है। यह छोटा-सा आकर्षक मन्दिर पत्थर और ककइयाँ ईंटों से निर्मित है। इस मन्दिर का कई फीट ऊँचा शिखर है। इस मन्दिर का निर्माण श्री गंगाराम व श्री इंद्रमन आदि ने माघ वदी 13 विक्रम सम्वत् 1928 दिनांक 11 जून, सन् 1917 तथा धर्मशाला, कुआँ का निर्माण 10 फरवरी, सन् 1922 को कराया। इस मन्दिर में प्रमुख रूप से राम दरबार विराजमान है जिसमें भगवान रामचन्द्र जी, सीता जी, लक्ष्मण जी के विग्रह पीतल से निर्मित हैं, जो अत्यन्त मनमोहक और आकर्षक हैं। इन्हीं के पास हनुमान जी की पाषाण प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर के एक ओर दीवार पर अर्द्धनारीश्वर भगवान शिव-पार्वती जी का चित्रण है। इनके नीचे पूरा शिव परिवार है।

हनुमान मन्दिर—यह छोटा-सा मन्दिर रामलीला मैदान के सामने अचल सरोवर, जी.टी. रोड पर स्थित है। यह मन्दिर बहुत प्राचीन बताया जाता है जिसका समय-समय पर जीर्णोद्धार होता रहा है। इसमें हनुमान जी की तीन फीट की पाषाण प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त कौशिकी माता और सिंहवाहिनी दुर्गा माता, शिव परिवार भी विराजमान है। [ब०सिं०सि०]

अवतार

भारतवर्ष में परमतत्व द्वारा समय-समय पर पृथ्वी लोक में विभिन्न रूपों में अवतरित होने की संकल्पना वेदों में भी पायी जाती है। जिसका उल्लेख गोस्वामी संत तुलसीदास के रामचरितमानस में स्पष्ट रूप से किया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में तो अवतार और अवतारवाद की संकल्पना, कारण और प्रयोजन भी स्पष्ट किया गया है। सृष्टि के आरम्भ से जिस प्रकार पृथ्वी का निर्माण आकाश गंगा के सूर्यों में से एक सूर्य के छिटककर अलग हो जाने के बाद हुआ एवं उस पर जल-थल और वनस्पतियों सहित जीव-जंतुओं का आविर्भाव हुआ है उसी के कारण परमतत्व को सृष्टि की रचना-संरक्षण और प्रलय के चक्र से संचालित करने के लिए विभिन्न रूपों में जन्म लेना स्वाभाविक प्राकृतिक प्रक्रिया मानी जा सकती है। जिस प्रकार से विभिन्न अवतारों का वर्णन मिलता है उससे तो यही स्पष्ट होता है कि पृथ्वी पर जल, थल, वायु, अग्नि, आकाश, जीव-जन्तु, वनस्पतियाँ, पशु और मानव परमतत्व के द्वारा ही सृजित हैं।

डार्विन के विकासवाद में भी इसी तथ्य की जानकारी मिलती है। किन्तु भारतवर्ष में सगुण और साकार परमात्मा के ज्ञान और भक्ति-सेवा भाव ने अवतारों का वर्णन और विशेष प्रकार से पूजा-अर्चना की है और अवतारों सहित मानव और पशुओं तक के बार-बार जन्म लेने और मृत्यु की बात भी सहज रूप से स्वीकारी है। अवतार का प्रयोजन श्रीमद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने द्वारा अवतार लेने का प्रयोजन या कारण बताया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

इसी प्रकार से गोस्वामी तुलसीदास जी ने बालकाण्ड में दोहा संख्या 192 में लिखा है—

विप्र धेनु सुर संत हित लीन मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मिति तनु माया गन गो पार।।

वेदान्त के अनुसार ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' या परमतत्व स्वयं विष्णु हैं। वे समय-समय पर पृथ्वी लोक में विभिन्न रूपों में अवतरण करते हैं जिसका प्रयोजन धर्म-व्यवस्था की स्थापना, सृष्टि का विकास, गो, द्विज (समस्त प्राणियों सहित) आदि की रक्षा, भक्तों के कष्टों का निवारण करना और उन्हें जन्म-मृत्यु के बंधन से मोक्ष दिलाना। उक्त प्रयोजन के लिए जो भिन्न-भिन्न रूपों में अनादि काल से अवतार होते रहे हैं उनके प्रयोजन के आधार पर निम्न प्रकार के अवतार हुए हैं—लीला विस्तार, देव-कार्य सम्पादन, प्राणियों को मोक्षदान, भक्तों पर अनुग्रह, भक्तों के प्रति मैत्री भाव और अपने वचन का निर्वाह।

अवतारों की संख्या—श्रीमद्भागवत में अवतारों की संख्या दो विभिन्न रूपों में मिलती है—प्रथम भगवान के विराट पुरुष नारायण रूप धारण करने का वर्णन है। विराट रूप का महत् रूप—अहंकार, पंच तन्मात्राओं और षोडश कलाओं (एकादश इन्द्रियों और पंचभूतों) से संपन्न होता है। विराट पुरुष नारायण के निम्नलिखित बाईस अवतार बताये गए हैं—1. सनकादिक, 2. वराह, 3. नारद, 4. नर-नारायण, 5. कपिल, 6. दत्तात्रेय, 7. यज्ञ, 8. ऋषभ, 9. पृथु, 10. मत्स्य, 11. कूर्म, 12. धन्वन्तरि, 13. मोहिनी, 14. नृसिंह, 15. वामन, 16. परशुराम, 17.

वेदव्यास, 18. राम, 19. बलराम, 20. कृष्ण, 21. बुद्ध और 22. कल्कि।

अवतारों के भेद—श्रीमद् भागवत में अवतार-विवेचन विशेष वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से किया गया है। इनमें सभी प्राचीन परम्पराओं का सामंजस्य है। अवतारों के तीन भेद बताए गए हैं—

पुरुषावतारी—जिनमें संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, कृष्ण। सत्व, रज और तम गुण के अधिष्ठाता हैं।

गणावतारी—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र (महेश) क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण के अधिष्ठाता हैं और सृष्टि रचना, पालनकर्ता और प्रलयकर्ता (विनाशकर्ता) भी हैं।

लीलावतारी—वराह, सुयज्ञ, हरि, कपिल, दत्तात्रेय, चतुःसन (सनक, सनंदन, सनातन और सनतकुमार), नर-नारायण, पृथु, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वामन, हंस, मनु, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण, वेदव्यास, बुद्ध और कल्कि। इस सूची में नारद और मोहिनी नहीं हैं। इनके स्थान पर हरि, हयग्रीव, हंस और मनु के चार अवतार सम्मिलित किए गए हैं।

इनके अतिरिक्त वर्तमान युग में अवतरित अंशावतारियों में कबीर और महाप्रभु वल्लभाचार्य (श्रीकृष्ण) के अंश माने गए हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय की स्थापना की है। उनके इष्ट श्रीनाथ जी हैं। कबीर ज्ञानमार्गी भक्त संत हुए हैं। वे अपने को राम की बहुरिया मानते हैं। परमतत्व के ज्ञाता माने जाते हैं।

उक्त सभी अवतारों के विषय में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "अवतार ग्रहण करने में भगवान की इच्छाशक्ति ही प्रेरक होती है।" मधुराभक्ति युक्त भक्त मानते हैं कि भगवान का अपनी महिमा कीर्ति के विस्तार से भक्तों पर अनुग्रह करना, उनका जन्मादि लीलाओं का उत्तम हेतु है। श्रील गोस्वामी ने 'लघु भागवत' में स्पष्ट कहा है—

स्वलीला कीर्ति लीलानां प्राकट्ये हेतुस्तमः।

भक्तों के द्वारा विष्णु के साकार सगुण रूप की उपासना के कारण विष्णु के अवतार के रूप में—सतयुग में श्री विष्णु रूप में, त्रेतायुग में श्री रामचन्द्र जी के रूप में, द्वापर युग में श्रीकृष्ण के रूप में-सभी रूपों में नरश्रेष्ठ के रूप में अवतरित हुए हैं। कलियुग में अवतार के जिस रूप की कल्पना की गई है वह भी नर रूप में श्वेत अश्व पर आरूढ़ होकर आने वाले हैं। ज्ञान और शक्ति के अवतार भी बताये जा रहे हैं। यह कदाचित् संत भक्तों की ही मान्यता है। धर्म ग्रंथों में विष्णु के अवतार लेने से पूर्व की भविष्यवाणियों का भी उल्लेख मिलता है।

अवतारों की कथाओं, लीलाओं और भक्तों को आश्वासन द्वारा मानव को जीवन-दर्शन, आचार-संहिता और धर्म-कर्म करने का ज्ञान प्राप्त हुआ है। भारतीय संस्कृति को इन्हीं के कारण विशिष्टता प्राप्त हुई है। साहित्य, संगीत और कला का विकास हुआ है। ईश्वर में आस्था और अटूट विश्वास पैदा हुआ है। हम सब पौरुषेय लीलावतारी भगवानों के प्रति श्रद्धावान और आस्थावान हैं। [पु०श्री०]

अविकृत परिणामवाद

वैष्णव सम्प्रदायों में वल्लभ सम्प्रदाय के शुद्धाद्वैत दर्शन को ही अविकृत परिणामवाद भी कहते हैं। इस सिद्धांत का विकास ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध निरूपण से हुआ है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति में जब परिणाम (परिवर्तन) होता है तब जगत् की उत्पत्ति होती है। इस मत को प्रकृति परिणामवाद कहते हैं। वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म का परिणाम ही जगत् है। इसे ब्रह्म परिणामवाद कहते हैं। शंकराचार्य ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम न मानकर उसका विवर्त माना। किन्तु इससे जगत मिथ्या मान लिया गया। रामानुज ने जीव और जगत् को ब्रह्म के अंतर्गत विशेषण माना। मध्वाचार्य ने ब्रह्म को केवल निमित्त और प्रकृति को जगत् का उपादान माना। निम्बार्काचार्य ने इस द्वैत से बचने के लिए ब्रह्म की शक्ति प्रकृति से जगत् का प्रादुर्भाव माना परन्तु इससे प्रक्षेप मात्र अथवा मिथ्या ही बन जाता है।

उपरोक्त मतों को वल्लभाचार्य जी ने अस्वीकार करते हुए कहा कि जीव और जगत्, ब्रह्म का परिणाम है, परन्तु ब्रह्म में इस परिणाम से कोई विकार नहीं आता—जैसे स्वर्ण के अनेक प्रकार के आभूषण एवं मिट्टी के बने हुए अनेक पात्र इसके उदाहरण हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने उपनिषदों के अनेक प्रमाण दिये हैं। अविकृत परिणामवाद से तात्पर्य है कि जगत् ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। इसी अविकृत ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उद्भूत है। [क०उ०]

अश्विनी कुमार

अश्विनी कुमार कल्पित युगल देवता हैं, जो प्रातःकाल घोड़ों या पक्षियों से जुते हुए सोने के रथ पर चढ़कर आकाश में निकलते हैं और जन-जन का दारिद्र्य हरण करते हुए उन्हें सौभाग्य और सुख से सींचते हैं। इनमें से एक का नाम 'नासत्य' और दूसरे का नाम 'दस्त्र' है। कुछ स्थानों पर इनका उल्लेख सूर्यपुत्र के रूप में हुआ है और कुछ स्थानों पर द्यौसपुत्र के रूप में। इनके लिए 'नासत्यौ' और 'नासांत्य' विशेषणों का प्रयोग भी किया गया है। अश्विनी कुमार आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं। अश्विनी कुमार पशु-रक्षक देव 'पूषन' के पिता और प्रभात देवी 'ऊषा' के भाई कहे गए हैं। बहिन ऊषा के साथ रथारूढ़ होकर ये आकाश में भ्रमण करते हैं। महाभारत के अनुसार नकुल और सहदेव उन्हीं के पुत्र थे। उनकी माँ त्वष्टा की पुत्री प्रभा हैं। कहते हैं कि पति सूर्य के तेज को सहने में असमर्थ प्रभा अपने दो बालकों यम और यमुना को अपनी छाया के पास छोड़कर भाग गई और घोड़ी बनकर तप करने लगी। प्रभा की छाया से सूर्य को दो संतानें हुईं—शनि और ताप्ती। अपनी संतान उत्पन्न हो जाने पर जब छाया ने प्रभा की संतान यम और यमुना को प्रेम से वंचित रखना शुरू किया, तब यह बात खुल गई कि प्रभा घोड़ी बनकर तप कर रही है। यह जानकर सूर्य अश्व रूप में अश्विनी रूप प्रभा के पास पहुँच गए और इस तरह अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ। अश्विनी कुमारों के रथ पर पत्नी सूर्या विराजती है और रथ की गति से सूर्या की उत्पत्ति होती है। इनकी उत्पत्ति निश्चित नहीं कि वह प्रभात और संध्या के तारों से है या गोधूली या अर्ध प्रकाश से।

ए.बी. कीथ के अनुसार, सूर्योदय के समय आसमान में जो लालिमा छाई रहती है वह उषा है। उषा और सूर्योदय के मध्य अश्विन का स्थान है। अर्थात् अश्विन का काल सूर्योदय से पूर्व और उषा गमन के पश्चात् है। जबकि डॉ. राधाकृष्णन के मुताबिक, अश्विन जुड़वाँ भाइयों के समान हैं, जो सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रतीक हैं। इंद्र, वरुण, अग्नि और सोम के बाद अश्विनी कुमार सबसे महत्त्वपूर्ण देव हैं। ऋग्वेद में 50 से अधिक सूक्त अश्विनी कुमारों को समर्पित हैं, जबकि इनके नाम का उल्लेख 400 से अधिक बार हुआ है। इसी से अश्विनी कुमारों की महत्ता का परिचय मिलता है। इनकी तुलना नेत्र, पैरों और हाथों से की जाती है। मधु से अश्विनी कुमारों का गहरा संबंध है, इसीलिए इन्हें कई बार मधुदेव भी कहा जाता है। स्वर्ग, वायु, गृह, पर्वत ये सर्वत्र विद्यमान हैं, ये सर्वगामी हैं। इनका स्वरूप कोमल है; वे युवा और सुंदर हैं। ये प्रकाश के पोषक हैं, अंधकार के बैरी हैं। कहा गया है कि अश्विनी कुमार उदार प्रकृति के देवता हैं। कष्ट के समय मानवों की सहायता करते हैं। कई स्थानों पर इनका महत्त्व इंद्र से भी बड़ा है। यथा इंद्रोपासना मात्र युद्ध भूमि में की जाती है किंतु अश्विनी कुमारों का ध्यान सदैव किया जाता है। हर संकट के निवारणार्थ इनका स्मरण किया जाता है। वैवाहिक जीवन की सफलता, प्रेम संबंधों की स्थिरता, प्रेम युगलों के मिलन के लिए अश्विनी कुमार को याद किया जाता है। यह सामुद्रिक देवता भी हैं।

ये देव-चिकित्सक और दुखमुक्त करने वाले देवता हैं। 'अथ भूतदयां प्रति' आयुर्वेद का यह सिद्धांत उनका जीवनदर्शन है। वे 'अश्विनी कुमार संहिता' के रचनाकार हैं, जिसमें उन्होंने आयुर्वेद के सभी अंगों-उपांगों को समाहित किया था। चिकित्साशास्त्र में कृत्रिम पैर प्रदान करने की परिकल्पना अश्विनी कुमार के मिथक के साथ शुरू होती है। वेदों के अनुसार वे अपंग व्यक्ति को कृत्रिम पैर प्रदान करते हैं। दुर्घटनाग्रस्त जलयान के यात्रियों की रक्षा करते हैं, विवाह योग्य युवतियों के लिए वर भी तलाशते हैं, वृद्धों को यौवन प्रदान करते हैं और अंधों को नेत्र। आयुर्वेद के सभी

अंगों में वे दक्ष हैं। उनके गुरु के रूप में दधीचि और दक्ष का नामोल्लेख मिलता है। दधीचि से उन्होंने मधु-विद्या और दक्ष प्रजापति से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। कथा है कि कहते हैं कि दधीचि से मधु-विद्या सीखने के लिए अश्विनी कुमारों ने उनका सिर काटकर उनके धड़ पर घोड़े का सिर रख दिया था।

'निरुक्तकार' ने इन्हें 'स्वर्ग और पृथ्वी' और 'दिन और रात' का प्रतीक कहा है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में उनकी स्तुति की गई है। पुरा-कथाओं के अनुसार, चिकित्सक होने के कारण अश्विनी कुमारों को देवताओं का यज्ञ भाग प्राप्त नहीं था। बाद में च्यवन ऋषि, जो स्वयं चिकित्सा विज्ञान से जुड़े थे ने इंद्र से संस्तुति कर इन्हें यज्ञ का भाग दिलाया था, क्योंकि राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के पति-व्रत और तप से प्रसन्न होकर इन्होंने महर्षि च्यवन को चिर-यौवन प्रदान किया था। एक अन्य कथा के अनुसार एक बार भैरव देव ने क्रोधित होकर ब्रह्मा का सिर काट दिया। देवलोक शोकाकुल हो उठा। तुरत-फुरत अश्विनी कुमारों को बुलवाया गया। उन्होंने शल्य-क्रिया द्वारा ब्रह्माजी का सिर फिर से जोड़ दिया। इस कारण उन्हें यज्ञ में भाग पाने का अधिकार मिल गया।

कुशल चिकित्सक, मनोज्ञाता और शल्य-क्रिया विशेषज्ञ के रूप में उनकी अनेक कथाएँ प्रचलित रही हैं। जन्मांध सूक्तद्रष्टा ऋषि दीर्घतमा के कटे सिर को भी जोड़ा। कथा है कि जर्जर वृद्ध दीर्घतमा को उनके अनुचरों ने मार डालने का प्रयत्न किया, लेकिन अश्विनी कुमारों ने वहाँ पहुँचकर ऋषि को बचा लिया और उनका सिर जोड़कर उन्हें फिर स्वस्थ बना दिया था।

इसी तरह एक अन्य कथा है। एक बार उपमन्यु नामक एक शिक्षार्थी ने अनजाने में आक (मदार) के पत्ते खा लिए। जिससे उसकी आँखों की रोशनी जाती रही। वह नेत्रहीन होकर कुएँ में जा गिरा। बाद में गुरु धौम्य की सलाह पर उसने अश्विनी कुमारों की स्तुति की और उन्होंने उस स्तुति से प्रसन्न होकर उसकी आँखों को ठीक किया था। इसी तरह कुष्ठ रोग से ग्रसित कुक्षिवान ऋषि की कन्या घोषा और श्याव ऋषि को कुष्ठ से छुटकारा दिलाकर उन्हें रूप-यौवन प्रदान किया था। जब चंद्रमा को राजयक्ष्मा (क्षय) रोग हो गया था तब उसकी चिकित्सा अश्विनी कुमारों ने ही की। इन्हीं सब महत्त्वपूर्ण कार्यों को करने के कारण वैद्यों में श्रेष्ठ ये दोनों अश्विनी कुमार इंद्रादि देवताओं के अत्यंत पूज्य हुए। पूषा नामक पशु-रक्षक देवता के दाँत टूटने पर, इंद्र की भुजा जकड़ने पर और भग नामक देवता के नेत्र फूटने पर अश्विनी कुमारों ने ही उनकी शल्य चिकित्सा की थी। दानव और दैत्य युद्ध में इन्हीं अश्विनी कुमारों ने घायल देवताओं की चिकित्सा की थी। [उ०श्री०]

अष्टछाप

हिन्दी ब्रजभाषा के आठ कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये हैं: सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास अधिकारी, नंददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी। इनमें से प्रथम चार श्री वल्लभाचार्य जी (संवत् 1535 वि॰ से सं॰ 1589 वि. तक) के शिष्य थे और अंतिम चार, आचार्य जी के उत्तराधिकारी गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी (सं॰ 1572 वि॰ से सं॰ 1642 वि॰) के शिष्य थे। ये आठों भक्त कवि गोस्वामी विठ्ठलनाथजी के सान्निध्य में एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन की सेवा तथा भगवद्भक्ति रूप में पद रचना किया करते थे। इन कवियों द्वारा रचित काव्य रचनाएँ अष्टछाप-काव्य रचना कहलायीं एवं इस काव्य की जन्मभूमि श्री ब्रजमण्डल ही रही। अष्टछाप के सन्दर्भ में सम्प्रदाय साहित्य में इसका उल्लेख है। इस बात का प्राचीनतम लिखित प्रमाण गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र, श्री गोकुलनाथ जी कृत संवत् 1697 वि.सं. की 84 वार्ता तथा ''गुसाईं जी के चार सेवकन की वार्त्ताओं'' के उल्लेखों से ही मिलता है। ये आठों भक्त कवि वल्लभ संप्रदाय में कृष्ण के अष्ट सखा भी कहलाते हैं। वल्लभ संप्रदाय की प्राचीन परम्परा तथा 'अष्ट सखान की वार्त्ता' में मिलने वाले इन कवियों के जीवन-वृत्तान्त से भी यह सिद्ध होता है। इन कवियों ने अपनी

रचनाओं में प्रेम को बहु-शाखा रूपी वृक्ष के रूप में उपस्थित किया है। वह काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य रूप में प्रस्तुत हुआ है। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, दास्य भावों की भक्ति का जो स्रोता इन्होंने प्रस्फुटित किया है वह अलौकिक, आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से अत्यन्त सुख प्रदान करने वाला है। इन्होंने अपने काव्य में ब्रज के प्राकृतिक स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया है। [प्र०श०]

अष्टयाम सेवा

अष्टयाम सेवा का तात्पर्य है अष्ट प्रहर की जाने वाली सेवा। यह सेवा किसी मंदिर/देवालय में श्रीविग्रह की विभिन्न रूपों में की जाती है। स्वरूप सेवा, नवधा भक्ति की अपेक्षा अधिक क्रियात्मक और साथ ही भावात्मक भी है। स्वरूप सेवा में मन की समस्त वृत्तियों का एवं देह के समस्त धर्मों को समाहित करने में अन्य साधनों की अपेक्षा कम कठिनाई आती है। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में राधाकृष्ण के विग्रहों को मात्र मूर्ति न समझकर उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति समझा गया है, उनमें आराध्य की स्फूर्ति का बोध कर तन, मन का पुलकित होना अधिक स्वाभाविक एवं सहज है।

स्वरूप सेवा में दो प्रकार की सेवा का विधान है, पहली है नित्य सेवा, जिसे अष्टयाम सेवा भी कहते हैं तथा दूसरी सेवा है नैमित्तिक सेवा जिसमें वर्षभर के उत्सवों पर की जाने वाली सेवा सम्मिलित है। यहाँ पर विभिन्न सम्प्रदायों की अष्ट प्रहर सेवाओं का विवेचन किया जा रहा है, प्रत्येक सम्प्रदाय की सेवा भावना के सूक्ष्म अन्तर के कारण यहाँ पर पृथक-पृथक विवेचन किया है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में शृंगार रस की प्रधानता के कारण उसके अनुरूप सेवा का विधान किया गया है। यद्यपि इस सम्प्रदाय में सेवा के अष्टयाम कहे गये हैं किन्तु विवरण सात प्रकार की सेवाओं का ही मिलता है। वे हैं—मंगला, शृंगार, वनविहार, राजभोग, उत्थान, संध्या, शयन और शैया। यहाँ पर वनविहार और शैया को छोड़कर बाकी सेवायें पूर्ववत हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय की अष्टयाम सेवा प्रणाली में राधा के परकीया होने के कारण भावुकता तथा रोचकता है। शास्त्र के अनुसार निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष एवं रात्रि ये आठ काल हैं। इस काल विभाग के अनाहत होने के कारण प्रातः लीला के साथ पूर्वाह्न लीला, सायं के साथ प्रदोष लीला और अलस निद्रा के साथ रात्रि लीला के अभेद होने पर भी विषयगत व रसगत यथेष्ट भेद कारण इस सम्प्रदाय में सात प्रभेदों को माना गया है जो इस प्रकार हैं—निशान्त लीला, पूर्वाह्न लीला, मध्याह्न लीला, अपराह्न लीला, प्रदोष लीला, रात्रि लीला, अलस-निद्रा लीला। इस सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली में लीलाओं की विविधता दृष्टव्य है। राधाकृष्ण के अनुरागमय मिलन में, मित्रों विशेषकर सखियों की चाटु लीलाओं का अपना महत्त्व है।

वल्लभ सम्प्रदाय सेवा भावना बाल एवं पौगण्डकी है; अतः यहाँ पर वात्सल्य एवं सख्य भावों की प्रधानता के कारण अन्य सम्प्रदायों के अष्टयाम सेवा विधान से पृथक अपना वैशिष्ट्य है। इस सम्प्रदाय में सेवा का क्रम इस प्रकार है—मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती एवं शयन। यहाँ की सेवाओं में कार्य अन्य सम्प्रदायों के अनुरूप ही हैं परन्तु उसमें वात्सल्य का उच्छलन है, सखियों की विदग्धता नहीं। यहाँ पर ग्वाल सेवा का भेद है जिसमें श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ गैया चराने जाते हैं जहाँ पर वे 'छाक' या 'घैया' भोग अरोगते हैं। हरिदास सम्प्रदाय में अष्टयाम सेवा का प्रचलन नहीं है। [क०उ०]

अहिंसा

अहिंसा वैष्णव धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। इस धर्म की विशिष्टता यही है कि पूर्ण वैदिक होकर भी यह अहिंसा

योग का पक्षपाती है। जैन तथा बौद्ध धर्म में अहिंसा सिद्धान्त का ग्रहण भागवत धर्म से ही किया है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय समाज में शुचिता तथा पवित्रता की भावना जगाने में तथा अहिंसा मंत्र के 'अहिंसा परमो धर्म:' उद्घोष करने में वैष्णव धर्म की महत्ता सर्वविदित है।

सर्वप्रथम वैष्णव धर्म ने ही अहिंसा का शंखनाद इस भारत भूमि पर किया था जिसका अनुकरण कर जैन तथा बौद्ध धर्म ने कालांतर में इतनी ख्याति अर्जित की। परंतु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वैष्णव धर्म ने ही वैदिक धर्म के भीतर से ही सर्वप्रथम वेद के हिंसामय यज्ञों के विरुद्ध विरोध का झंडा ऊपर उठाया। वैष्णव धर्म पूर्ण रीति से वैदिक है, परन्तु वैदिक कर्मकांड की उपयोगिता मानते हुए भी यहाँ हिंसा प्रधान यज्ञों के प्रति विरोध भावना पाते हैं।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शांति पर्व, 336 अध्याय) में भागवत धर्म के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। राजा ने वैदिक यज्ञ किया, परंतु इस यज्ञ में यवों के द्वारा ही आहुति प्रदान की गई। अश्वमेध यज्ञ में पशु के आलम्भन का ही विधान है, परंतु राजा ने अश्वमेध में भी पशुघात नहीं किया, क्योंकि वह स्वभावत: 'अहिंस्र' तथा शुचि था।

भगवान ने स्वयं वैष्णव धर्म के सिद्धान्त बतलाते हुए ब्रह्मादिक देवों से उसी देश में रहने की शिक्षा दी थी जिसमें वेद, यज्ञ, तप, सत्य, दान एवं अहिंसा धर्म से संयुक्त होकर प्रचलित हो। (शांति पर्व, 340 अध्याय) [क०उ०]

आ

आगरा के आर्यसमाजी धार्मिक स्थल

अपने देश में लोगों को सनातन धर्म में प्रचलित मूर्ति पूजा, पशु बलि, नाना प्रकार के कर्मकाण्डों, कई दूसरे प्रकार के अन्धविश्वासों, छुआछूत, जात-पांत समेत कई दूसरी सामाजिक कुरीतियों से मुक्त कराने के महती उद्देश्य से महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की स्थापना की थी। आगरा में ही महर्षि दयानन्द ने कहा था, ''मैं किसी नये मत या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहता, किन्तु हमारा और आर्य समाज का यही उद्देश्य है कि सत्य, सनातन, पुरातन वैदिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना हो।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती शिक्षा पूरी करके आगरा सन् 1863 में पधारे थे। वे दो वर्ष तक मुहल्ला भैरों में लाला गुल्लामल अग्रवाल की बगीची में रहे। स्वामी जी यहाँ आकर उपदेश देते रहे तथा मूर्तिपूजा का खण्डन करते रहे। दूसरी बार नवम्बर, सन् 1866 में वह आगरा पधारे। उस समय आगरा में गवर्नर का दरबार था। उस अवसर पर उनकी पुस्तक 'भागवत खण्डन' की सहस्रों प्रतियाँ वितरित करायी गयी थीं। स्वामी जी तीसरी बार आगरा 25 नवम्बर 1880 में पधारे थे।

26 जनवरी सन् 1881 को आगरा में 'आर्य समाज' की विधिवत् स्थापना महर्षि दयानन्द द्वारा लाला जमुनादास विश्वास के सेव का बाजार निवास पर की गयी। उनसे पहले अप्रैल सन् 1880 में लक्ष्मण प्रसाद ने गोकुलपुरा में आर्य समाज की स्थापना की थी। इसकी पुष्टि स्वामी दयानन्द के पत्र से भी होती है। स्वामी के व्याख्यानों का आयोजन मुफीद-ए-आम स्कूल, पीपलमण्डी में किया गया।

आर्य समाज की स्थापना तथा अन्य गतिविधियाँ—आर्य समाजों की स्थापना तथा शास्त्रों की धूम थी। सन् 1901 में कागारौल में आर्य-समाज की स्थापना की गई। स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों का आगरा की जनता पर भारी प्रभाव था। आगरा आर्य-समाज की गतिविधियों का केन्द्र बनने लगा था।

13 फरवरी, सन् 1923 को आगरा में हिन्दू जाति के विभिन्न मतों के 85 प्रतिनिधियों की एक सभा स्वामी श्रद्धानन्द की अध्यक्षता में हुई। सन् 1923 में ही अखिल भारती हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना हुई। इस कार्य में ठाकुर माधव सिंह का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सन् 1923 में पेंतीखेड़ा में आर्य समाज की स्थापना हुई। सन् 1923 में मिढ़ाकुर में आर्य समाज की स्थापना हुई। सन् 1916 में पण्डित हरिशंकर शर्मा कविरत्न 'आर्य मित्र' के सम्पादक बनकर आगरा आ गए थे। सन् 1927 में पण्डित बनारसी चतुर्वेदी 'आर्य मित्र' के सह-सम्पादक बनकर निवास कर रहे थे।

आर्य समाज, आवास विकास कॉलोनी, सिकन्दरा—सन् 1994 में क्षमानन्द और स्वामी स्वरूपानन्द द्वारा स्थापना की गयी।

आर्य समाज, इन्दिरा कॉलोनी—इस कॉलोनी में आर्य समाज की स्थापना क्षेत्रीय आर्यजनों के सहयोग से 26 जनवरी 1988 को वैदिक विद्वानों द्वारा की गई।

आर्य समाज मन्दिर, कमला नगर—यहाँ 26 नवम्बर सन् 1985 को आर्य भिक्षु के कर कमलों से एफ-84, कमलानगर में आर्य समाज की स्थापना की गई।

आर्य समाज मन्दिर, ताजगंज—आर्य समाज ताजगंज की स्थापना 21 सितम्बर सन् 1964 में डालचन्द वर्मा द्वारा स्वर्णकार बगीची में हुई। पाँच साल के पश्चात् सेवी बालमुकुन्द की प्रेरणा से उनकी भाभी और भतीजे सोमप्रकाश ने 450 गज का भूखण्ड दान में दिया। उसके बाद आर्यजनों के सहयोग से भवन का निर्माण किया। सन् 1969 में स्वामी अखिलानन्द ने यहाँ आर्य समाज की विधिवत् स्थापना की।

आर्य समाज मन्दिर, नाई की मण्डी—यहाँ के आर्य समाज की स्थापना सन् 1950 में हुई। इसकी स्थापना देश विभाजन के बाद पंजाब और सिन्ध से आए लोगों द्वारा की गयी। उन्होंने शुरू में एक कमरा लेकर इसकी शुरुआत की। कुछ सालों से आसपास के तीन-चार घर लेकर आर्य समाज के मन्दिर का भवन निर्माण कराया।

आर्य समाज मन्दिर, नामनेर—इसकी स्थापना हींग की मण्डी के बाद सन् 1906 में प्रियालाल एण्ड सन्स के व्यवस्थापक प्रतापपुरा निवासी श्याम सुन्दर खण्डेलवाल द्वारा की गयी। इस आर्य समाज की विशेषता यह रही है कि यहाँ उसी काल में आगरा और समीपवर्ती जिलों में युवा आर्य समाज तैयार करने के लिए आर्य मुसाफिर विद्यालय खोला गया। इस विद्यालय में उर्दू और हिन्दी दोनों माध्यमों से पढ़ाई करायी जाती थी।

आर्य समाज मन्दिर, फ्रीगंज, आगरा—आर्य समाज की स्थापना सन् 1932 में पट्टे की भूमि पर की गयी। यहाँ केदारनाथ सेक्सरिया ने एक विशाल कक्ष बनवाया तथा रामनारायन शिवनारायन साइकिल वालों ने यज्ञशाला का निर्माण कराया। यहाँ आर्य समाज की स्थापना का उद्देश्य क्षेत्रीय आर्य समाज सम्बन्धित नागरिकों को साप्ताहिक प्रार्थना एवं अधिवेशन का एक मंच प्रदान करना था।

आर्य समाज मन्दिर, मोती कटरा—आगरा में आर्य समाज का प्रथम और सबसे पुराना मन्दिर है। नवम्बर सन् 1881 से 1889 तक आर्यसमाज सभासदों के निवास तथा किराये के मकानों में चलती रही। सन् 1889 को रामेश्वर दयाल ने मोती कटरा स्थित अपना अहाता आर्य समाज को दान देकर आर्य समाज को स्थायित्व प्रदान किया। यह आर्य समाज की प्रथम शाखा है। स्वामी जी ने अपनी देखरेख में हर रविवार को प्रात: साढ़े सात बजे से साढ़े नौ बजे तक सत्संग का कार्यक्रम निर्धारित किया। उस समय इसे साप्ताहिक अधिवेशन का नाम दिया गया। इस अधिवेशन का क्रम इस प्रकार रहा यथा—आरम्भ में यज्ञ-हवन आदि किया जाता था, जो सामूहिक होता था। कभी-कभी एक-दो व्यक्तियों की उपस्थिति में यज्ञ का आयोजन भी होता था।

आर्य समाज मन्दिर, राजामण्डी, आगरा—आर्य समाज के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'आर्य मित्र' के सम्पादक रहे पदमश्री पण्डित हरिशंकर शर्मा द्वारा 4 अप्रैल सन् 1946 को राजामण्डी आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज मन्दिर रेलवे स्टेशन के समीप लोहामण्डी से जुड़ा है।

आर्य समाज मन्दिर, विभव नगर—इस मुहल्ले में आर्य समाज की स्थापना सन् 1980 में सचल आर्य समाज के रूप में की गयी। फिर सन् 1982 में देवकीनन्दन विभव ने भारतीय विद्यापीठ में एक कक्ष आर्यसमाज के लिए दे दिया।

आर्य समाज मन्दिर, वीर सावरकर नगर, जयपुर हाउस—आर्य समाज वीर सावरकर नगर की स्थापना महात्मा दयानन्द तपोवन आश्रम, देहरादून के कर कमलों द्वारा 2 सितम्बर 1980 में की गयी। इस आर्य समाज मन्दिर में आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द द्वारा निर्धारित किये गए नियमों के अनुसार साप्ताहिक अधिवेशन प्रत्येक रविवार को होता है।

आर्य समाज मन्दिर, शाहगंज—यहाँ आर्य समाज शाहगंज की स्थापना रामस्वरूप भट्टे वालों के पुत्र राजेन्द्र प्रसाद कुलश्रेष्ठ ने अपनी धर्मशाला के एक कक्ष में 31 जनवरी 1978 को स्वामी योगानन्द द्वारा करायी।

सभी आर्य समाजीजन महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बताये नियमों, साप्ताहिक अधिवेशनों और वार्षिक उत्सवों, वेद प्रचार सप्ताह आदि नियमित रूप से आयोजित कर उनकी यश पताका को निस्सीम आकाश में गर्व के साथ फहरा रहे हैं। [ब०सिं०सि०]

आगरा के ईसाई धार्मिक स्थल

भारत के मानचित्र में आगरा एक महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक महत्व रखता है। यहाँ एक ओर शृंगी ऋषि व जमदग्नि के आश्रमों के साथ कैलाश और बल्केश्वर जैसे प्राचीनतम मंदिर हैं, वहीं दूसरी ओर विशाल जामा मस्जिद और लाल किले में भव्य मोती मस्जिद है। आगरा में सिक्खों के विशाल गुरुद्वारे व जैन धर्म के दादाबाड़ी समान ख्यातिपूर्ण स्थान हैं। भारत में ब्रिटिश सत्ता स्थापित होने से पूर्व ही यहाँ ईसाई धर्म से संबंधित गिरजों का निर्माण हो गया था। इन गिरजाघरों में से निम्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अकबरी चर्च—यह आगरा का ही नहीं अपितु उत्तर भारत का सबसे पुराना गिरजाघर है। सन् 1598 में लाहौर से लौटते समय मुगल सम्राट अकबर के साथ आगरा आये कैथोलिक शाखा के फादर जेरोम जेबियर तथा पिन्हीरों की प्रार्थना पर अकबर ने इन्हें यहाँ ईसाई मिशनरी की स्थापना व चर्च निर्माण की अनुमति दे दी थी। यह चर्च सन् 1600 ई. में बन कर तैयार हो गया। इस चर्च में अकबर अपने पुत्र सलीम (जहांगीर) के साथ कई बार आया था। यह गिरजाघर बहुत से उलटफेरों के साथ आज भी अस्तित्व में है। इस गिरजे का निर्माण नवारे वंश के फिलिप बोर्बो व मुगल हरम की प्रमुख चिकित्सक एवं उसकी पत्नी जूलियाना की देख-रेख में किया गया था। जेसुइटों को अकबर द्वारा इस संबंध में प्रदान किये गये फरमान की एक प्रति आज भी सेन्ट पीटर्स के केथेड्रल में सुरक्षित है।

सन् 1605 में अकबर की मृत्यु के बाद जहांगीर भी ईसाई धर्म को प्रश्रय देता रहा। उसने अपने भाई दानियाल के दो पुत्रों को ईसाई धर्म स्वीकार करने की इजाजत दे दी थी। पुर्तगाली पोशाक धारण किये, गले में सोने का क्रास पहने शहजादों का धूमधाम से जुलूस निकाला गया। हालाँकि पाँच वर्ष बाद इन शहजादों ने ईसाई धर्म त्यागकर पुन: इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। सन् 1613 ई. में ईसाइयों से कुछ नाराजगी हो जाने के कारण जहाँगीर ने आगरा स्थित इस चर्च को बंद करवा दिया था जो कि सन् 1615 में जहाँगीर की नाराजगी दूर होने के बाद पुन: अपनी गतिविधियाँ चालू कर पाया। जहाँगीर के बाद गद्दी पर बैठे उसके पुत्र शाहजहाँ ने सन् 1632 में बंगाल में पुर्तगालियों के राज द्रोहात्मक कार्यों से रुष्ट होकर इस चर्च को बंद करने का आदेश देते हुये इसके उस भाग को गिरवा दिया था जिस पर एक विशाल घंटा लगा हुआ था। सन् 1636 में पुर्तगालियों द्वारा क्षमा-याचना करने पर ही पुन: इसके निर्माण की अनुमति मिल सकी।

औरंगजेब की धर्मांधता पूर्ण नीति के कारण उसके शासनकाल में चर्च पर प्रतिबंध रहा। सन् 1758 में दिल्ली पर हुये अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय उसकी सेना के एक अग्रगामी दल ने इस चर्च को बुरी तरह लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। जो चौदह वर्ष बाद सन् 1772 में फिर बन पाया। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता आने पर सन् 1841 ई. में इस चर्च का विस्तार किया गया। नई इमारत बनी और यहाँ एक स्कूल स्थापित किया गया। जिसे सेण्ट पीटर्स स्कूल कहते हैं। इस चर्च को वर्तमान में 'निष्कलंक माता गिरजाघर' कहा जाता है। जनसाधारण में यह सेण्ट पीटर्स चर्च के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

अनेकों झंझावातों को झेलते हुए भी आज ये चर्च आगरा के प्रमुखतम चर्चों में से है। चर्च पर मुगलकालीन स्थापत्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसमें लाल पत्थर के आर्च बने हैं। वेदी के निकट प्रसिद्ध वास्तुविद् मिथिल एव्जेलो के संगमरमर का मॉडल है।

बैपटिस्ट चर्च—सन् 1810 में भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड मिंटो के समय में दो पादरी बैपटिस्ट चर्च मिशन की स्थापना के उद्देश्य से आगरा आये परंतु यहाँ वे अपने दायित्वों का भलीभाँति निर्वाह नहीं कर सके। तत्पश्चात् सन् 1845 में महात्मा गांधी रोड पर स्थित सांई की तकिया चौराहे पर वर्तमान बैपटिस्ट चर्च की स्थापना की गई। यहाँ बैपटिस्ट मिशन हाईस्कूल भी खोला गया जिसकी छत उन दिनों खपरैल की थी। वर्तमान में इस चर्च द्वारा हिंदी माध्यम के दो स्कूल बैपटिस्ट हायर सैकेंड्री स्कूल व बैपटिस्ट प्राइमरी स्कूल संचालित किये जा रहे हैं।

ब्रिटिशकाल में इस चर्च का उपयोग देशी ईसाइयों द्वारा किया जाता था।

सेंट जोंस चर्च—आगरा में एस.एन. हॉस्पीटल के करीब इस चर्च की आधारशिला सन् 1855 में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के तत्कालीन गवर्नर जान काल्विन द्वारा रखी गयी थी। चर्च की नींव में उन लोगों के नाम की सूची को रखा गया था जिन्होंने इसके निर्माण में सहयोग दिया था। चर्च का नक्शा ले. कर्नल बोल्यू ने बनाया था। यह चर्च वस्तुत: बंगाल के वर्धमान में बने चर्च की प्रतिच्छाया है। गिरजे की इमारत दो वर्ष में बनकर तैयार हुई परंतु इसके तुरंत बाद 1857 की क्रांति के दौरान इसे भारी क्षति का सामना करना पड़ा। क्रांति दमन के बाद गिरजे का जीर्णोद्धार करवाया गया। जिस पर रु. 11000 की राशि व्यय हुई। जून 1858 में गिरजा जनसाधारण के लिए खोल दिया गया।

सेंट जोर्जेज चर्च—छावनी क्षेत्र में महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित चर्च की स्थापना सन् 1828 में इंग्लैंड के संत जार्ज द्वारा की गई थी। सेंट जोर्जेज चर्च की इमारत भव्य है। ये स्थान अंग्रेज सेना के अधिकारियों द्वारा पूजा-अर्चना करने के लिए बनाया गया था। ये लोग एंग्लिकन कहलाते थे। सन् 1970 में गिरजा चर्च ऑफ नार्थ इंडिया में सम्मिलित हो गया। ब्रिटिशकाल में यहाँ क्रिसमस के दिन भारी रौनक व चहल-पहल रहती थी। इस चर्च द्वारा संचालित एक विद्यालय सेंट जोर्जेज कॉलेज बालूगंज में मेहर टॉकीज के सामने है। जहाँ छात्र-छात्राओं दोनों को शिक्षा दी जाती है।

सन् 1885 से 1900 तक इस गिरजे का संचालन विलियम शीतल ने किया। इसी मध्य जर्मनी की एक कंपनी द्वारा रु. 55 की लागत से यहाँ एक बड़ा घंटा टँगवाया गया। सन् 1885 में चर्च की मीनार में चारों दिशाओं से टाइम दिखाने वाली एक घड़ी लगाई गयी। यह घड़ी सन् 1906-7 तक कार्य करती रही। सन् 1905 में गिरजे की छतें व फर्श नये सिरे से बनाये गये जिस पर रु. 7797 की राशि व्यय हुई। आगरा का प्रसिद्ध सेंट जोंस इंटर कॉलेज इसी गिरजे द्वारा संचालित होता है।

सेंट जोंस चर्च के नाम से एक अन्य चर्च आगरा के सिकंदरा क्षेत्र में अकबर की पत्नी मरियम जमानी के मकबरा परिसर में स्थापित है जो कि सन् 1835 में आगरा के प्रेसीडेंसी बनने पर बनवाया गया था। उस वक्त चर्च परिसर में ही राजकीय मुद्रणालय था जो बाद में इलाहाबाद स्थानांतरित कर दिया। यहाँ एक यतीमखाना भी था। इस स्थान पर चर्च द्वारा संचालित स्टूवर्ड वार्ड मैमोरियल हायर सैकेंडरी स्कूल है।

सेंट पॉल चर्च—बाग फरजाना क्षेत्र में सन् 1854-55 में जेम्स थामसन ने इस चर्च का निर्माण करवाया था। पूर्व में इस स्थान पर अंग्रेज व्यापारियों की फैक्टरी थी। जनसाधारण में इस गिरजे को टीन के गिरजे का नाम से जाना जाता है। चर्च द्वारा यहाँ परिसर में सेंट पॉल स्कूल नामक एक शिक्षा संस्था भी संचालित की जाती है। इसी स्कूल की दूसरी यूनिट संजय प्लेस स्थित एल.आई.सी. बिल्डिंग के सामने महात्मा गांधी रोड पर स्थित है।

सेंट पैट्रिक चर्च—छावनी क्षेत्र के पृथ्वीराज मार्ग (लॉरेंस रोड) पर स्थित इस चर्च की स्थापना वर्तमान स्थान पर सन् 1848 में आयरिश रेजीमेंट के लिये की गई थी। भारत से अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात सन् 1950 में यहाँ फादर क्यूरिटियो को प्रधान पादरी नियुक्त किया गया। सन् 1959 में यहां क्लेरिस्ट नन्स द्वारा सेंट क्लेयर्स स्कूल खोला गया। जिसके संचालन का दायित्व सन् 1971 में आर्कीडायसिस ने संभाल लिया और जोंस मुटाथ को प्रिंसीपल नियुक्त किया गया। स्कूल की नई इमारत काफी सुंदर है।

सेंट्रल मैथोडिस्ट चर्च—आगरा में कलक्ट्री कचहरी के पश्चिम दिशा में स्थित इस चर्च का निर्माण सन् 1888 में हुआ था। ब्रिटिशकाल में यहाँ अंग्रेज व देशी ईसाई दोनों उपासना के लिए उपस्थित हुआ करते थे। यहाँ पर पांच कमरों की डोमेटरी थी जिसमें मेडीकल कॉलेज की छात्राएँ रहा करती थीं। चर्च के संस्थापक रौकबेल क्लेंसी ने इसके प्रारंभिक निर्माण पर रु. 12000 की राशि व्यय की थी। अभी चर्च नींव भरने के बाद कुर्सी तक ही निर्मित

हुआ था कि क्लेंसी को रंगून भेज दिया गया। इस चर्च के निर्माण में आगरा की 10 कि.मी. में फैली प्राचीन चारदीवारी व अकबर द्वारा निर्मित एक मीनार की सामग्री का उपयोग किया गया था। यहाँ चर्च द्वारा एक विद्यालय भी संचालित किया जाता है जिसे हॉलमैन इंस्टीट्यूट कहते हैं। आगरा के लालकुर्ती क्षेत्र में स्थित हैवलाक चर्च सेंट्रल मैथोडिस्ट चर्च की एक शाखा है।

सेंट मैरी चर्च—अजमेर रोड (प्रतापपुरा) में संचालित इस चर्च की नींव—जोंस मिलों के स्वामी एवं उत्तर भारत के तत्कालीन मशहूर उद्योगपति जान एडवर्ड द्वारा मिसेज जान मैरी की स्मृति में रखी गयी थी। चर्च का निर्माण-कार्य 5 अप्रैल 1923 में पूर्ण हुआ। ब्रिटिश काल में चर्च के नजदीक ही 'एलाइंस बैंक ऑफ इंडिया' था। बाद में इस बैंक का दिवाला निकल गया तो इस बिल्डिंग को खरीदकर रोमन कैथोलिक चर्च सोसाइटी ने एक स्कूल खोल दिया जिसे सेंट ऐंथनी स्कूल कहते हैं। स्कूल में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी है।

इसके अतिरिक्त आगरा में लालकिले के दिल्ली दरवाजे पर सेंट मैथो चर्च ऑफ इंग्लैंड, लालकुर्ती क्षेत्र में हैवलाक चर्च तथा तहसील एत्मादपुर में सेंट जोंस चर्च भी है। आगरा स्थित सभी चर्चों में शांतिपूर्वक एवं सुचारु रूप से गतिविधियां संचालित होती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इन चर्चों द्वारा स्थापित संस्थाओं के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। [रा०कि०श०]

आगरा के जैन धार्मिक स्थल

आगरा का जैन धर्म से गहन और अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध है। जैन मतानुसार श्रीकृष्ण जैन थे। बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ उनके चचेरे भाई थे। इस तरह आगरा का बटेश्वर के पास स्थित शौरीपुर उनकी जन्म और कर्मभूमि है। वर्तमान में शौरीपुर जैन तीर्थ स्थल है। वहाँ स्थित जैन मन्दिरों में ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी की भगवान महावीर स्वामी तथा नेमिनाथ जी की प्रतिमाएँ स्थापित हैं, जो यहाँ महोबा के चन्देल राजा द्वारा सन् 1176 में स्थापित प्रतिमा बतायी जाती हैं।

शौरीपुर में तीर्थंकर नेमिनाथ जी के मन्दिर की स्थापना सन् 1556 में हुई थी। हरिविजय के प्रभाव से मुगल सम्राट अकबर ने शिकार खेलना छोड़ दिया था। इससे उस समय की जैन गतिविधियों का पता भी चलता है। सन् 1579 में दिगम्बर आम्नाय का मन्दिर निर्माण हुआ। बिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव भी आयोजित हुआ। उस काल में जैन पंच अध्यात्म ज्ञानी वासूसाह ओसवाल के पुत्र भगवती दास थे। कवि बनारसीदास जैन सपरिवार सन् 1598 में छह महीने इनके घर रहे थे। आगरा की शाही टकसाल के अधीक्षक टोडर साहू के पिता पार्श्व साहू ने एक भव्य मन्दिर बनवाया था। सम्भवत: यह वही शीतलनाथ का मन्दिर है।

दो जैन मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। एक मन्दिर तो तिहुना साहू का था, जिसमें सन् 1633 में रूपचन्द गुरु ठहरते थे। एक श्वेताम्बर जैन मन्दिर था जिसकी सन् 1631 की प्रतिमा का विवरण प्राप्त हुआ। उस काल में कपूरचन्द साहू के मन्दिर का भी उल्लेख मिलता है। उस दौरान आगरा में आध्यात्मिकों की एक गोष्ठी हुई थी। कुँवरपाल और सोनपाल ने आगरा से बिहार के सम्मेद शिखर पार्श्वनाथ हिल्स के लिए विराट संघ निकलवाया था।

धर्म चलाने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। वे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों की तमाम मर्यादाओं को एक समय में जानते हैं। जैन धर्म में 24 तीर्थंकर हैं जो इस प्रकार हैं—आदिनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतनाथ, पदमप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयंसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अहरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी।

जैन मन्दिरों में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं जो सामान्यत: एक जैसी दिखायी देती हैं। लेकिन इन्हें प्रतीकों-चिह्नों के माध्यम से पहचाना जा सकता है जैसे—महावीर स्वामी को शेर, पार्श्वनाथ को सर्प से। केवल भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा अन्य तीर्थंकरों से थोड़ी भिन्न होती है। इन प्रतिमाओं के नीचे बीजक लगा होता है जिससे उसके निर्माण की तिथि का पता चलता है। जैन धर्म के दो प्रमुख पंथ हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर पंथ में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ नग्न अवस्था तथा श्वेताम्बर में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ वस्त्र पहने हुए होती हैं।

आगरा शहर में सबसे प्राचीन मन्दिर श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर ताजगंज का बताया जाता है और सबसे बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर मोती कटरा में है। सन् 1947 में आगरा में केवल 27 जैन मन्दिर थे। शहर के विस्तार के साथ जैन मन्दिरों की संख्या अब लगभग 80 हो गयी है।

अग्रवाल (गोपीनाथ) दिगम्बर जैन मन्दिर—मोती कटरा में डी.ए.वी. इण्टर कॉलेज मार्ग पर स्थित यह मन्दिर लगभग सौ साल पुराना है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर सम्भवनाथ की प्रतिमा विराजमान है। इस मन्दिर में भगवान नेमिनाथ, आदिनाथ आदि की पाषाण प्रतिमाएँ भी हैं। इस मन्दिर में कोई साढ़े सात सौ प्रतिमाएँ सैकड़ों साल पुरानी हैं।

अग्रवाल दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर—यह मोती कटरा में महावीर दिगम्बर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय परिसर में स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान सम्भवनाथ विराजमान हैं। इसमें पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, आदिनाथ, शीतलनाथ आदि की प्राचीन प्रतिमाएँ हैं।

आदीश्वर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर त्रिलोकचन्द्र जैन बिल्डिंग 30/241, छीपीटोला में स्थित है। इसकी स्थापना त्रिलोक चन्द्र जैन शास्त्री ने सन् 1968 में की थी। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान आदिनाथ जी का अष्टधातु का विग्रह विराजमान है।

खण्डेलवाल दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर—यह करीब दो सौ साल पुराना मन्दिर तारगली, मोती कटरा में स्थित है। वर्तमान में इस मन्दिर में कुल पाँच वेदियाँ हैं। इनमें मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ जी का विग्रह विराजमान है। इनके अलावा खड़ी मुद्रा में भगवान महावीर, शान्तिनाथ, आदिनाथ एक-एक वेदी पर हैं और चौबीसी पर सभी तीर्थंकर एक ही वेदी पर विराजमान हैं।

गौड़ी पार्श्वनाथ जैन (श्वेताम्बर मन्दिर)—करीब सवा सौ साल पुराना यह मन्दिर मोती कटरा में सदरभट्टी की ओर जाने वाले मार्ग पर 9/17 आवास में स्थित है। इसमें पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी, शान्तिनाथ, पदमावती देवी, चक्रेश्वरी देवी, भैरों जी, आदिनाथ भगवान की प्रतिमाएँ लगी हैं।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन पंचायती बड़ा मन्दिर—कोई 300 साल पुराना यह मन्दिर जैन गली, नाई की मण्डी में स्थित है।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर—करीब दौ साल पुराना यह मन्दिर गुड़हाई, ताजगंज में स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान चन्द्रप्रभु विराजमान हैं। इनके साथ-साथ मन्दिर में अन्य तीर्थंकरों की भी प्रतिमाएँ हैं।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर ट्रान्स यमुना ब्लाक बी में 112-113 में बना हुआ है। इसकी स्थापना 1988 में हुई थी। इसकी मूल वेदी पर भगवान चन्द्रप्रभु का विग्रह विराजमान है। इनके अलावा कई दूसरे तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी हैं।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर—कटरा इतवारी खाँ, नाई की मण्डी में स्थित इस जैन मन्दिर का निर्माण सन् 1927 सम्वत् 1984 में हुआ है। इसमें मूल वेदी पर चन्द्रप्रभु का विग्रह विराजमान है।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर निर्मल सदन के पास रकाबगंज थाने के पीछे छीपीटोला में है। इसका निर्माण सन् 1991 में हुआ है। यह मन्दिर पहले शाहगंज में था। वहाँ से स्थानान्तरित कर इसे यहाँ स्थापित किया

गया है। इसमें मूल वेदी पर भगवान चन्द्रप्रभु विराजमान हैं।

चंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर—माल के बाजार में स्थित यह मन्दिर भी बहुत प्राचीन है, इसमें भगवान चन्द्रप्रभु का विग्रह विराजमान है। इनके अलावा दूसरे तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी पाषाण और धातुओं की प्रतिमाएँ भी हैं।

चिन्तामणि श्वेताम्बर जैन बड़ा मन्दिर—जामा मस्जिद के पास स्थित रोशन मुहल्ला काफी प्राचीन है। इस मुहल्ले में अवस्थित श्वेताम्बर जैन मन्दिर मुगल सम्राट अकबर के समय का निर्मित बताया जाता है, जो बहुत सुन्दर है। इस मन्दिर में तरह-तरह के रंगों के पत्थरों को काट-छाँट कर इस तरीके से लगाया गया है कि प्रतिमा भी रंगीन दिखायी देती है। एक किवदन्ती यह है कि पहले इस मन्दिर में एक सुरंग थी, जो लाल किले की ओर जाती थी। इस मन्दिर में लगी प्रतिमा अकबर को लाल किला के निर्माण के समय वहाँ पर मिली थी। इस मन्दिर में भगवान पार्श्वनाथ, शीतलनाथ आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी लगी हैं। अधिकांश लोग इसे 'शीतलनाथजी' के मन्दिर के नाम से ही जानते हैं, क्योंकि मूल वेदी पर भगवान तीर्थंकर शीतलनाथ ही विराजमान हैं। इस प्रतिमा के नेत्र नहीं हैं। कई बार इन्हें लगाने के प्रयास किये, पर जिसने भी ऐसा किया, उसका अनिष्ट हो गया। इस कारण बाद में ऐसा करने के प्रयास ही बन्द कर दिये गए। इस मन्दिर की वेदी पर पच्चीकारी की हुई है। इतिहास के एक उल्लेख के अनुसार आगरा की शाही टकसाल के अधीक्षक टोडर साहू के पिता पार्श्व साहू ने एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया। सम्भवत: यह वही शीतलनाथ का मन्दिर है।

दादाबाड़ी—यह पृथ्वीनाथ महादेव मन्दिर के सामने, आगरा-जयपुर मार्ग पर भोगीपुरा, शाहगंज में स्थित है। यह श्वेताम्बर जैन समुदाय का महत्त्वपूर्ण मन्दिर है। यह मन्दिर मुगल सम्राट औरंगजेब के समय विद्यमान था, ऐसा बताया जाता है। उसने अपनी मूर्ति भंजन की नीति के अन्तर्गत इस मन्दिर को ध्वस्त करने का फरमान जारी कर दिया था। लेकिन उसे किसी तरह अपना अनिष्ट होता दिखायी दिया, तो उसने इस मन्दिर को तोड़ने का अपना फरमान वापस ले लिया। इस कारण भी इस मन्दिर की बहुत महिमा है। यह एक बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है।

दिगम्बर जैन नया मन्दिर, बेलनगंज—यह मन्दिर भी काफी पुराना है। सन् 1906 में स्ट्रैची पुल को इसके कारण टेढ़ा किया गया था। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी की अष्टधातु की प्रतिमा विराजमान है।

दिगम्बर जैन मन्दिर, बेलनगंज—यह मन्दिर बेलनगंज के चौराहे पर बना हुआ है। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा विराजमान है।

नसियाजी का मन्दिर—यह मन्दिर पीर कल्याणी मुहल्ला में स्थित है जिसका द्वार मोतीलाल नेहरू मार्ग पर है। मुगलकाल में नग्न जैन मुनियों के नगर में प्रवेश पर रोक थी। इसलिए वे नगर के बाहर नसिया में निवास करते थे। आगरा में यह मालगोदाम के पीछे, गधापाड़ा में स्थित है।

नेमिनाथ उद्यान दिगम्बर जैन मन्दिर—26 जनवरी, सन् 1953 को मटरूमल बैनाड़ा ने इस मन्दिर की नींव रखी थी। यह बारौलिया परिवार का निजी मन्दिर है, जो पक्के छह बीघा जमीन पर स्थित है। यहाँ मूल वेदी पर भगवान नेमिनाथ की पाषाण प्रतिमा विराजमान है। इनके साथ आदिनाथ की लाल पाषाण, महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ, वासुपूज्य, शीतलनाथ की श्वेत संगमरमर, चन्द्रप्रभु की तीन तथा अष्टधातु की छह प्रतिमाएँ हैं।

नेमिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर सीतानगर, नुनिहाई रोड पर स्थित है। पहले यह मन्दिर फिरोजाबाद के पास सखावतपुर गाँव में था, जो कोई डेढ़ सौ साल पुराना था। वहाँ से 10 जुलाई, सन् 1996 में स्थानान्तरित करके लाया गया है, क्योंकि उस गाँव में अब कोई जैन परिवार नहीं रहता। इसमें मूल वेदी पर भगवान नेमिनाथ की काले कसौटी पत्थर की बनी प्रतिमा विराजमान है।

पार्श्वनाथ जैन (श्वेताम्बर मन्दिर)—यह मन्दिर मोती कटरा में डी.ए.वी.इण्टर कॉलेज मार्ग पर 8/189 आवास में स्थित है। इसमें पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, महावीर स्वामी, चन्द्रप्रभु, सम्भवनाथ आदि की पाषाण प्रतिमाएँ हैं।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर 3/6, चौक थाना, ताजगंज में अवस्थित आगरा का सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक मन्दिर बताया जाता है जो करीब चार सौ साल पुराना है। इस मन्दिर का निर्माण मुगल सम्राट शाहजहाँ के समय में हुआ था, जो ताजमहल के ठीक सामने दक्षिण दिशा में बना हुआ है। यहाँ मूल वेदी पर भगवान चिन्तामणि श्री पार्श्वनाथ की नवफणयुक्त बहुमूल्य काले कसौटी की पत्थर से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। इसकी अवगाहना सवा दो फुट और पदमासन है। इसका रूप-सौन्दर्य अद्वितीय और अत्यन्त मनोहारी है। इसके साथ यह चमत्कारी भी है। इस प्रतिमा की यहाँ प्राण-प्रतिष्ठा विक्रम सम्वत 1627 में हुई थी। ऐतिहासिक ग्रन्थ एवं अम्बाला के बूढ़िया निवासी पण्डित भगवती दास के यात्रा विवरण के अनुसार मुगलकाल में सुल्तानपुरा, आगरा छावनी क्षेत्र में एक विशाल जैन मन्दिर था। इसमें श्री पार्श्वनाथ की उक्त प्रतिमा विराजमान थी। कालान्तर में जब यह जिनालय किन्हीं कारणों से नष्ट हो गया, तब जैन विद्वान साहित्यकार पण्डित बनारसीदास जी ने इस प्राचीन प्रतिमा को ताजगंज के दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान करा दिया।

यहाँ दूसरी वेदी भगवान महावीर स्वामी की है और तीसरी वेदी चौबीसी की है जिसमें सभी चौबीस तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी श्वेत या श्याम संगमरमर, अष्टधातु, पीतल से निर्मित प्रतिमाएँ हैं। इनमें श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की एक प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा विक्रम सम्वत 1494 में हुई थी। चौथी वेदी पर 'भक्ताम्बर स्तोत्र' लिखित ताम्रपत्र विराजमान है।

पण्डित बनारसीदास, पण्डित द्यानतराय जी, पण्डित भूधरदास, पं. भगवतीदास आदि कवि श्रीपार्श्वनाथ के अनन्य भक्त थे। इनमें से पं. बनारसीदास एवं पं. द्यानतराय ने इसी मन्दिर में रहकर कई महान ग्रन्थों की रचना की है जिनमें पं. बनारसीदास कृत नाटक 'समयसार' तथा पद्यमय श्री पार्श्वनाथपुराण प्रमुख हैं। इस मन्दिर के शास्त्र भण्डार में हस्तलिखित ग्रन्थ अवलोकनार्थ सुरक्षित हैं। इसी मन्दिर में पं. बनारसीदास मुगल बादशाह शाहजहाँ के साथ शतरंज खेलते थे। वर्तमान में संगमरमर के पत्थर पर बनी वह शतरंज जीर्ण अवस्था में सुरक्षित है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—राजामण्डी बाजार में स्थित यह मन्दिर कोई साढ़े चार सौ साल पुराना बताया जाता है, जो अन्दर और बाहर से अत्यन्त भव्य है। इसका बाहरी द्वार पत्थर से बना हुआ है जिस पर कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण होने के साथ बेलबूटे बने हुए हैं। इसमें तीन बरामदे और एक चौक है। मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की काले कसौटी की प्रतिमा विराजमान है। उन्हीं के पास नीचे भगवान महावीर स्वामी की श्वेत संगमरमर तथा आदिनाथ जी की पीतल की मूर्तियाँ लगी हैं।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर शालीमार एन्क्लेव, कमलानगर में स्थित है। इस मन्दिर की मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ विराजमान हैं।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर आवास विकास कॉलोनी सेक्टर-4 में स्थित है, जो कुछ साल ही पुराना है। इसमें मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ विराजमान हैं।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर 10/44, कटरा वजीर खाँ, यमुनापार स्थित है, जो लाल पत्थर से बना हुआ है। यह मन्दिर प्रथम तल पर है। इसमें मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की श्वेत संगमरमर की प्रतिमा विराजमान है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह प्राचीन मन्दिर यमुना किनारे कचौड़ा बाजार, बेलनगंज में अवस्थित है, जो सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित है। सन् 1934 में विध्वंस के बाद इसे फिर से बनाया गया था। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पाँच सौ साल से अधिक पुरानी है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर जैन गली, नाई की मण्डी में स्थित है, जो सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है। इसमें मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की पाषाण प्रतिमा विराजमान है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर (उपरौंचिया)—सौ साल से अधिक पुराना यह पंचायती मन्दिर, छीपीटोला के मुख्य बाजार के पास स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ जी विराजमान हैं। इनकी प्रतिमा श्वेत संगमरमर से बनी है। इस मन्दिर में पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, चन्द्रप्रभु आदि की छोटी-बड़ी सौ से अधिक अष्टधातु तथा पीतल की प्रतिमाएँ हैं।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, धूलियागंज—यह भी पुराना दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की तीन वेदियों का निर्माण कराया जा रहा है। एक अन्य जैन मन्दिर पल्लीवाल जैन समुदाय का भी है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, नुनिहाई—इस मन्दिर का निर्माण तो बीसवीं सदी में हुआ, लेकिन इसमें लगी प्रतिमा काफी प्राचीन है, जो खुदाई में प्राप्त हुई थी। उस प्रतिमा को इस मन्दिर में पुनः प्रतिष्ठित किया गया है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान श्री पार्श्वनाथ का विग्रह विराजमान है, जो अष्टधातु से निर्मित है। इसमें सुपार्श्वनाथ, महावीर स्वामी तथा आदिनाथ की पाषाण प्रतिमाएँ हैं।

मल्लिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—करीब 90 वर्ष पुराना यह मन्दिर जतीकटरा, मोती कटरा में श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर (चुन्नी बीबी) के समीप बना है। यह निजी मन्दिर 'गोदा के मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान मल्लिनाथ पाषाण रूप में विराजमान हैं।

महावीर स्वामी दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर हनुमान चौराहा, मोती कटरा में स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण कोई डेढ़ सौ साल पहले लाला जगन्नाथ प्रसाद कलकत्ता वाले ने अपने घर के सामने कराया था, ताकि उनके परिवार की महिलाओं को पूजा-अर्चना में असुविधा न हो। वर्तमान में इस मन्दिर में भगवान महावीर की एक प्रतिमा काफी साल पुरानी बतायी जाती है। इस मन्दिर के तीन शिखर हैं।

महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर पानी की टंकी के पास छीपीटोला में प्रथम तल पर स्थित है; इसके नीचे दुकानें हैं। इस मन्दिर का निर्माण सन् 1936 में गोपीचन्द जैन तथा दौलत राम जैन ने कराया था। इस मन्दिर में 22 मई, सन् 1973 में जेठ सुदी पंचमी को तेहरा के पास खारी नदी में लाल पत्थर की खड्ग आसन की मुद्रा में भगवान शान्तिनाथ की जो प्रतिमा मिली थी, उसे इसी मन्दिर में स्थापित किया गया, जो बहुत चमत्कारी है। इसमें भगवान शीतलनाथ की कसौटी के काले पत्थर की मूर्ति है।

महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर कलाकुंज, मारुति एस्टेट, सिकन्दरा-बोदला मार्ग पर स्थित है। यह मन्दिर भी कुछ वर्ष पुराना है। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी विराजमान हैं। इनके अलावा दूसरे तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी हैं।

महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर सरला बाग, दयालबाग में स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी विराजमान हैं।

महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर कमलानगर में स्थित है यह दो दशक पुराना है। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी विराजमान हैं।

महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर श्री 1008 श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर के पास छीपीटोला मुहल्ले में स्थित है जो डेढ़ सौ वर्ष से अधिक पुराना है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी की श्वेत संगमरमर की पाषाण प्रतिमा विराजमान है।

महावीर स्वामी पालीवाल जैन मन्दिर—यह मन्दिर पश्चिम पुरी में स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान महावीर स्वामी विराजमान हैं। इनके अलावा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी हैं।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर थाना हरीपर्वत के पास स्थित है। यह मन्दिर भी सौ साल से अधिक पुराना है। इस मन्दिर और महावीर दिगम्बर जैन इण्टर कॉलेज के लिए भूमि मुम्बई के एक धनी व्यक्ति ने

दान में दी थी। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान शान्तिनाथ का विग्रह विराजमान है। इसमें भगवान आदिनाथ की एक प्रतिमा भी है, जो कुछ वर्ष पूर्व भूगर्भ से निकली थी, उसे भी यहाँ स्थापित किया गया है। हरीपर्वत चौराहे पर एक श्वेत संगमरमर से निर्मित अहिंसा स्तम्भ स्थापित किया गया है।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर टीचर्स कॉलोनी, जयपुर हाउस में स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण कुछ साल पहले ही हुआ था। इसमें मूल वेदी पर भगवान शान्तिनाथ जी का विग्रह विराजमान है।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर पोस्ट ऑफिस, नेहरा गली, नाई की मण्डी में स्थित है। इसमें मूल वेदी पर भगवान शान्तिनाथ का विग्रह विराजमान है।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—लगभग डेढ़ सौ साल पुराना यह मन्दिर 9/163-164, जती कटरा, मोती कटरा में बना हुआ है। इसका निर्माण चुन्नी बीबी ने कराया था। इसमें मूल वेदी भगवान शान्तिनाथ की है। इसमें ताम्बे से निर्मित दो यंत्र भी हैं—ऋष मण्डल यंत्र, विनायक यंत्र।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर—यह मन्दिर आवास विकास कॉलोनी सेक्टर-7 में स्थित है। इसका कुछ वर्ष पहले ही निर्माण हुआ है। इसकी मूल वेदी पर भगवान शान्तिनाथ विराजमान हैं। इनके अलावा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी हैं।

शांतिनाथ श्वेताम्बर जैन मन्दिर, चित्तीखाना—श्वेताम्बर जैन समुदाय का यह मन्दिर चित्तीखाना, नमक की मण्डी में है, जो सौ साल से अधिक पुराना है। इसमें मूल वेदी पर भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा विराजमान है। इनके अलावा दूसरे तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी हैं।

सूर प्रभु भगवान जैन (श्वेताम्बर मन्दिर)—कोई सौ-सवा सौ साल पुराना यह मन्दिर मोती कटरा, हनुमान चौराहे वाली गली में 9/382, आवास में स्थित है। इसमें सूर्य प्रभु, दादा गुरुदेव के चरण, देवी जी की प्रतिमा, शेर पर सवार चक्रेश्वरी देवी, भैरों बाबा की प्रतिमाएँ हैं।

उपरोक्त मन्दिरों के अलावा आगरा जनपद में अन्य कई जैन मन्दिर हैं जैसे कि—दिगम्बर जैन मन्दिर, मिढ़ाकुर, एत्मादपुर, रुनकता, फतेहपुर सीकरी, अछनेरा, फतेहाबाद, पिनाहट, बाह, जैतपुर समेत विभिन्न गाँवों तथा कस्बों में हैं, जहाँ जैन समुदाय के लोग बसते हैं। [ब०सिं०सि०]

पंचमढ़ी—शंखध्वज के बायीं ओर छतरियों का निर्माण किया गया है। मुनि यम तथा मुनि धन्य के चरणों की आकृतियों को भी यहां स्थापित किया गया है।

बटेश्वर अतिशय क्षेत्र—शौरीपुर नगर के यमुना नदी की बाढ़ में समाप्त हो जाने के बाद सन् 1838 ई. में जैन भट्टारक जितेंद्र भूषण ने बटेश्वर में एक विशाल जैन मंदिर तथा धर्मशाला का निर्माण करवाया था। यह मंदिर बटेश्वर में यमुना नदी के तट पर स्नान घाट पर ही स्थित है। वर्तमान में इस मंदिर के दो तल ऊपर दिखाई देते हैं। इस मंदिर में भगवान अजितनाथ की काले पाषाण की पांच फीट ऊँची मूर्ति महोबा से लाकर स्थापित की गई थी। कहा जाता है कि इस मूर्ति का अभिषेक 1224 ई. में तत्कालीन पीरमल रियासत के राजा श्रावक श्रेष्ठ द्वारा किया गया था।

बरुआ मढ़—यह भी प्राचीन जैन मंदिर रहा है। इस स्थान पर भगवान नेमिनाथ की आठ फीट ऊंची मूर्ति लगी है। मूर्ति के पैरों के नीचे दो सिंह दिखाई देते हैं।

शंखध्वज मंदिर—द्वितीय तल पर इसका निर्माण किया गया है। मंदिर के बीच में भगवान नेमिनाथ की मूर्ति स्थापित की गई है। 11-12वीं ई. में इसी मंदिर में भगवान पार्श्वनाथ, भगवान चंद्रप्रभु तथा भगवान विमलनाथ की मूर्तियों को स्थापित किया गया था।

शौरीपुर सिद्ध क्षेत्र—आगरा से लगभग 70 कि.मी. दूर यमुना नदी के किनारे बटेश्वर में शौरीपुर प्राचीन सिद्ध

क्षेत्र के रूप में जाना जाता है। शौरीपुर जैन संप्रदाय के 22वें तीर्थंकर नेमीनाथ का कल्याणक स्थल रहा है। जहाँ उनके गर्भ तथा जन्म कल्याणक की कथा जुड़ी हुई है। शौरीपुर सिद्ध क्षेत्र में ही सुप्रतिष्ठा मुनि ने कल्याणम् प्राप्त किया था। जैन मुनि यम तथा विमलासुत ने भी यहाँ मोक्ष प्राप्त किया था। जैन तीर्थंकर आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर का इस स्थल पर प्रवास होता रहा था।

महापुराण तथा हरिवंश पुराण के अनुसार शौरीपुर प्राचीन भारत में एक प्रसिद्ध तथा समृद्ध नगर था। इस नगर की स्थापना यदुवंशी राजा नरपति के पुत्र शूर द्वारा की गई थी। शौरीपुर के राजा अंधक वृष्णि के 10 पुत्र थे। उनमें सबसे ज्येष्ठ समुद्रविजय तथा कनिष्ठ के रूप में वासुदेव थे। कुंती तथा माद्री के रूप में उनके दो पुत्रियाँ थीं। जैन तीर्थंकर नेमिनाथ राजा समुद्रविजय के पुत्र थे तथा कृष्ण और बलराम वासुदेव के पुत्र थे।

कुंती तथा माद्री का विवाह हस्तिनापुर के राजा पांडु के साथ हुआ था जिनके पाँच पुत्र हुए थे। तदंतर मगध के तत्कालीन राजा जरासंध के आक्रमण के भय से सभी यादववंशी शौरीपुर तथा मथुरा से पलायन करके द्वारका चले गये थे। कृष्ण तथा बलराम को प्राचीन काल में शौरी के रूप में भी संबोधित किया गया था।

आचार्य प्रभाचंद्र के गुरु आचार्य लोकचंद्र भी इस क्षेत्र में रहे थे। आचार्य प्रभाचंद्र ने ही प्रेमदा कमल मार्तन्ड नामक प्रसिद्ध जैन न्याय दर्शन ग्रंथ की रचना की थी। शौरीपुर क्षेत्र की पुरातात्त्विक खोज का कार्य ब्रिटिश काल में कर्नल टॉड, कनिंघम तथा कार्लालाइल द्वारा कराया गया था जिससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में शौरीपुर एक समृद्ध नगर था। जैन धर्म की दिगंबर शाखा के भट्टारक केंद्र के रूप में यह स्थान 19वीं शताब्दी तक रहा था।

शौरीपुर में बड़ी संख्या में प्राचीन जैन मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। जिनमें 1667 ई. में जैन भट्टारक द्वारा निर्मित आदि मंदिर प्रमुख हैं। सन् 1999-2000 में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, आगरा सर्किल ने यहाँ डॉ. धर्मवीर शर्मा के नेतृत्व में विस्तृत खुदाई की थी। जिसमें बड़ी संख्या में प्राचीन जैन मूर्तियों के प्रमाण मिले हैं। [जे०पी०श०]

आगरा के मुस्लिम धार्मिक स्थल

आगरा के इतिहास का प्रारम्भ महाभारत काल से होता है। उस समय यह क्षेत्र 'शूरसेन प्रदेश' कहा जाता था। तब मथुरा के आस-पास अनेक वन थे। उन्हीं में एक अग्रवन भी था। इसी अग्रवन में मथुरा के राजा कंस का मिट्टी से निर्मित किला था। 'आगरा' शूरसेन महाजनपद का अंग था। महाजनपद काल में मथुरा ऐसा केन्द्र था, जहाँ से दो प्रमुख केन्द्रों के लिए दो मार्ग निकलते थे। इनमें एक उज्जयनी होते हुए भारत के पश्चिमी तट के बन्दरगाहों तक और दूसरा मार्ग पाटलिपुत्र (पटना-बिहार) को जोड़ता था। दोनों ही दिशाओं में जाने के लिए आगरा जनपद ही मुख्य केन्द्र था और यह वर्तमान में भी है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार महमूद गजनवी ने अपने दूसरे आक्रमण के समय आगरा नगर को उजाड़ डाला। उस आक्रमण और युद्ध का वर्णन ख्वाजा मसूद बिन सुलेमान (इन्तकाल-सन् 1126 या 1131 ई.) ने किया है, जो महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। उसके अनुसार आगरा का दुर्ग पहाड़ी की रेत से बना हुआ था। दीवारें पहाड़ियों जैसी थीं। दुर्ग का सामन्त जयपाल था। 'तारीखे दाऊदी' के अनुसार चन्दवार की वंशावली में वर्णित तृतीय नाम जयपाल का है। आगरा के दुर्ग का सामन्त वही जयपाल होगा। महमूद ने आगरा को ऐसा नष्ट कर डाला था कि एक तुच्छ गाँव रह गया था।

सन् 1475 में राजा बादल सिंह ने आगरा का किला बनाया। यहाँ की भौगोलिक और सामरिक स्थिति को देखते हुए सिकन्दर लोदी ने आगरा को सन् 1504 में अपनी राजधानी बनाया। इसके पश्चात् सन् 1526 में पानीपत के

प्रथम युद्ध में विजयी होने पर मुगल सम्राट बाबर ने हुमायूँ को आगरा भेजा। बाद में बाबर भी यहाँ आ गया। तभी से आगरा देश का राजनीतिक केन्द्र बन गया। सन् 1530 से 1540 तक आगरा हुमायूँ के आधिपत्य में था। सन् 1540 में शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को न केवल आगरा छोड़ने को मजबूर किया, बल्कि उसे भारत से बाहर जाने को भी विवश कर दिया। शेरशाह सूरी ने आगरा को उत्तर-पूर्वी भारत के कई नगरों से जोड़ते हुए कई सड़कों का निर्माण कराया। उसकी मृत्यु के बाद तत्कालीन परिस्थितियाँ बदलीं और सन् 1555 में हुमायूँ ने आगरा पर फिर से अधिकार कर लिया। इसके साथ ही मुगल और भारतीय शिल्प कला में तालमेल का दौर प्रारम्भ हो गया। मुगल सम्राट अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ के समय यह मुगल साम्राज्य की राजधानी रहा। इन मुगलों के शासन काल में कई देशों के विभिन्न क्षेत्रों के एक से एक बढ़कर तरह-तरह के विद्वान, कला-संस्कृति के विशेषज्ञ, कारीगर, हस्तशिल्पी, स्थापत्य कला विशेषज्ञ, पच्चीकारी के कारीगर, कशीदाकार यहाँ आए और बस गए। इस कारण यह नगर कला-कौशल तथा व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया। इन सभी बातों का प्रभाव इस्लाम मजहब के इबादतगाहों के निर्माण और स्थापत्य पर दिखायी देता है।

आगरा में इस्लाम मजहब के इबादतगाहों में सबसे प्राचीन सावन कटरा की 'काली मस्जिद' है, जो सिकन्दर लोदी के काल की बतायी जाती है। इसके बाद हुमायूँ ने यमुना पर कछपुरा में मस्जिद का निर्माण कराया। इसके बाद शाह विलायत की दरगाह नाई की मण्डी में है। उसके बाद मुगल शासकों के रहते आगरा के किले और नगर में कई मस्जिदें बनवायी गयीं। कुछ मस्जिदें अब भी अपने पुराने स्वरूप में बनी हुई हैं, तो कुछ को समय-समय पर जीर्णोद्धार के बहाने उसके पुरातन रूप को ही बदल डाला है। आगरा शहर के विस्तार और बढ़ती आबादी के लिहाज से हर मुहल्ले और गाँवों में जहाँ मस्जिदें तामीर की गयी हैं, वहीं दरगाह, तकिये भी बने हैं। इन इबादतगाहों में जिनका जिसमें यकीन है, वे उसमें इबादत करने जाते हैं।

अकबरी मस्जिद—किनारी बाजार के तिराहे पर स्थित यह मस्जिद लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। इस मस्जिद के बनाने वालों को लेकर इतिहासकार एकमत नहीं हैं। 'पिक्टोरियल आगरा' और सतीशचन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक 'आगरानामा' में इसे अकबर द्वारा निर्मित बताया गया है, किन्तु कुछ लोगों के अनुसार इसका निर्माण 1270 हिजरी में शाहजहाँ की बेगम इज्जतुल निशा उर्फ अकबराबादी बेगम ने कराया था। इसे सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय ध्वस्त कर दिया गया। बाद में 1861 में इसका फिर से निर्माण कराया गया।

अब्बूलाला की दरगाह और मस्जिद—जहाँगीर काल में एक कायस्थ मुगल सेना में थे। मन उचाट होने के कारण वे अध्यात्म से जुड़ गए और मुसलमान फकीर बन गए। अबुल उल्लाह का इन्तकाल सन् 1651 में हुआ था। उन्हीं अबुल उल्लाह या अब्बूलाला की दरगाह और उसी परिसर में मस्जिद राष्ट्रीय राजमार्ग-2 के पूर्व में न्यू आगरा में बनी हुई है। हर साल अब्बूलाला के उर्स के अवसर पर शासकीय अवकाश भी रहता है।

अहमद बुखारी की दरगाह और मस्जिद—ताजमहल के पश्चिम में तिलियर का बगीचा है जिसकी चारदीवारी और एक बड़ी हवेली के खण्डहर मौजूद हैं। इसी बगीचे से लगी लाल दीवार के अन्दर खाँने दौरा की हवेली और अहमद बुखारी की दरगाह और मस्जिद है।

आलमगीर मस्जिद—लोहामण्डी के अन्तर्गत सैय्यद पाड़े में सन् 1671 में मुगल सम्राट औरंगजेब ने एक मस्जिद का निर्माण कराया। इसे 'मस्जिद आलमगीर' कहा जाता है। इस मस्जिद में पाँच गुम्बद हैं। इनमें मध्य का गुम्बद आकार में कुछ ज्यादा बड़ा है। इसमें दो मीनारें तथा तीन मेहराब हैं। कुछ अन्य लोगों के अनुसार इस मस्जिद को राजा झालावाड़ के सिपहसालार आलम खाँ ने बनवाया था, जो वृद्धावस्था में यहाँ आकर रहने लगा था। उसी के नाम पर लोहामण्डी के इस इलाके को 'आलमगंज' कहा जाता है। उसके परिजनों की कब्रें मस्जिद के परिसर में हैं।

इतवारी खाँ की मस्जिद—राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर गुरु के ताल के सामने लाल पत्थर से बनी घोड़े की प्रतिमा, इतवारी खाँ की कब्र और उसके पास छोटी-सी मस्जिद भी है जो सन् 1625 की निर्मित बतायी जाती है। घोड़े की यह मूर्ति इतवारी खाँ के घोड़े की है। इतवारी खाँ मुगल बादशाह जहाँगीर का सिपहसालार और हरम का दरोगा था। उसे 'मुमताज खाँ' उपाधि मिली हुई थी। इस इमारत का एक भाग रेलमार्ग बनाते समय अँग्रेज सरकार ने तुड़वा दिया था। यहाँ स्थित मस्जिद बहुत ही छोटी है।

काली मस्जिद—सावन कटरा मुहल्ले में स्थित 'काली या कलां मस्जिद' आगरा की सबसे प्राचीन मस्जिद है। यह मस्जिद आगरा की दूसरी मस्जिदों से अपने स्थापत्य में भिन्न है। यह तथ्य इसके तीनों गुम्बदों की बनावट से भी स्पष्ट दिखायी देता है। सिकन्दर लोदी ने बाग हीरामन में हिन्दू मन्दिरों के ध्वंस से प्राप्त मलवे से इस मस्जिद का निर्माण कराया था। यह मस्जिद ककइयाँ ईंटों और गारे से बनी है। बाग हीरामन अब 'सावन कटरा' कहलाता है। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि इस मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ के श्वसुर और कन्धारी बेगम के पिता मुजफ्फर हुसैन ने कराया था, जहाँ पहले हीरामन हिन्दू का बाग था। इससे लगभग ढाई सौ गज की दूरी पर एक हमाम भी बनवाया था। वैसे पुरातत्त्व विभाग के विशेषज्ञ इसे सिकन्दर लोदी के काल में बनी हुई ही मानते हैं। सम्भव है कि बाद में इसकी मरम्मत और रद्दो-बदल मुजफ्फर हुसैन ने कराया हो। आगरा के सन् 1884 गजेटियर के अनुसार इस मस्जिद में हिन्दू काल की ईंटें लगी हैं।

छोटी मस्जिद—फतेहपुर सीकरी में यह छोटी मस्जिद दिल्ली दरवाजे तथा लाल दरवाजे के बीच में बनी है जिसका निर्माण मुगल काल में हुआ था। यह पुरातत्त्व विभाग की संरक्षित इमारतों में सम्मिलित है।

जमात-खाना, मण्टोला—ऐसे ही आगा खान के अनुयाइयों जिनको खोजा बिरादरी भी कहा जाता है, जिनका सम्बन्ध इस्माइली शिया समुदाय से है, उनका धर्मस्थल 'जमात खाना' मण्टोला में है। सन् 1947 के बाद इनकी जनसंख्या अब नहीं के बराबर है।

जलाल बुखारी की मजार और मस्जिद—ताजगंज स्थित श्मशान से पहले दक्षिण में स्थित टीले पर मुगल सम्राट जहाँगीर के समय के मुसलमानों के पीर सैय्यद जलाल बुखारी की मजार और मस्जिद है। सैय्यद जलाल बुखारी दरवेश कहलाते थे और गुजरात पर आक्रमण के समय बादशाह इन्हें अपने साथ ले गया था। जलाल बुखारी फारस के शाही वंश से सम्बन्ध रखते थे। इनके पिता का मकबरा अहमदाबाद से 9 कि.मी. दूर तबोह नामक जगह पर है। एक अन्य पुस्तक में जलाल बुखारी को शाहजहाँ के शासन के एक बहुत पहुँचे हुए विद्वान् और फकीर के रूप में बताया है जिनका इन्तकाल सन् 1647 में हुआ था।

जवाहर के नगला की मस्जिद—मुगल बादशाह जहाँगीर के समय मीर अब्दुल्ला सिरमिज नाम का विख्यात शायर तथा अरबी फारसी का कलात्मक लिपि विशेषज्ञ आगरा में था। जिसका एक मकबरा तथा मस्जिद जवाहर के नगला में है। इसमें एक शानदार गुम्बद है जिसमें फारसी के लम्बे अक्षरों में इसका निर्माण सन् 1625 ईस्वी लिखा हुआ है तथा मीर अब्दुल्ला सिरमिजी की प्रशंसा की गयी है।

जामा मस्जिद—यह मस्जिद आगरा किला रेलवे स्टेशन के पास या कहें आगरा के लाल किले के ठीक सामने स्थित है। इस मस्जिद को मुगल सम्राट शाहजहाँ की बड़ी बेटी जहाँआरा ने पाँच लाख रुपए की लागत से हिजरी 1013 में बनवाना शुरू किया, जिसके निर्माण में पाँच वर्ष लगे। यह मस्जिद हिजरी 1018 यानी सन् 1648 से शुरू होकर 1653 में बनकर तैयार हुई थी। यह मस्जिद बहुत सुन्दर और ऊँचाई पर स्थित है। जामा मस्जिद लाल पत्थर से बनी है। इस पर संगमरमर की लिखावटें बहुत-सी जगह अन्दर-बाहर खम्भों पर की हुई हैं। प्रत्येक मेहराब पर लिखावट खुदी है और नमाज पढ़ने की जगह बनी हुई है। खास मस्जिद में दोनों ओर महिलाओं के नमाज पढ़ने की जगह पर्दे में बनी है। हर तरफ से संगीन बनी हुई है और दो तरफ अन्दर मस्जिद में निहायत उम्दा

बारहदारियाँ बनी हुई हैं। इस मस्जिद के आँगन के मध्य में बड़ा चौड़ा हाथ-मुँह धोने और वजू करने का हौज है जिसके चारों कोनों पर चार बुर्जियाँ बनी हुई हैं। इस मस्जिद के आँगन में एक फकीर का मकबरा है जिसकी नकली छोटी कब्र ऊपर आँगन में है तथा दरगाह नीचे तहखाने में है । इस मस्जिद के तीन दरवाजे हैं। दरवाजे का हिस्सा सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय उतार दिया गया है। इस समय तीनों दरवाजों पर केवल सामने सीढ़ियाँ चढ़कर जाना होता है।

जामामस्जिद, एत्मादपुर—यह मस्जिद मुगल बादशाह अकबर के काल सन् 1562 से सन् 1578 ईस्वी के दौरान की बनी हुई है और पुरातत्त्व विभाग द्वारा संरक्षित इमारतों की सूची में सम्मिलित है।

ताज महल की शाही मस्जिद—यह ताजमहल के अन्दर पश्चिम दिशा में लाल पत्थर से बनी है। इसके तीन हिस्से हैं। मस्जिद की ऊँचाई 186 फीट है। लाल पत्थर की नमाज पढ़ने की जानबाज बनी हुई है। जिस पर काला पत्थर और पीला और सफेद की तिहरी गोंटें हर एक नमाज पढ़ने की जगह के चारों ओर लगी हैं। उत्तर की तरफ औरतों के नमाज पढ़ने की जगह बनी हुई है। इस मस्जिद की मेहराब में सूरहो बल शम्स (कुरान शरीफ) का पाठ लिखा है और सूरहो शम्स के बीच में आयत लकुर्सी शरीफ का पाठ भी बड़े अक्षरों (हरूफों) में लिखा है। संगमरमर का मिम्बर बना हुआ है। इस मस्जिद के सामने चबूतरे से उतरकर वजू करने का हौज बना हुआ है जिसमें 5 फव्वारे हैं; इसमें हर समय पानी भरा रहता है। इस मस्जिद के उत्तर पर नदी के किनारे पर एक बसई बुर्ज बना हुआ है, यह ताज का कोना है।

तिकोनिया मस्जिद—यह मस्जिद नाई की मण्डी के मीरा हुसैनी के चौराहे के पास स्थित है। इसे बने कई दशक हो गए। इसी के समीप में हातिमशाह बाबा, पहलवानशाह बाबा की मजार है।

दरगाह इमाम शाह—मुगल बादशाह शाहजहाँ के इमाम शाह की दरगाह उखर्रा में है।

दरगाह कमाल खाँ और मस्जिद - यह दरगाह और मस्जिद सुल्तानपुरा, ख्वासपुर, आगरा छावनी में स्थित है। मुगल सम्राट अकबर के समय सैकड़ों हाथियों का 'दरोगा-ए-फीलखाना' कमाल खाँ नामक पठान था। उसने एक विशाल कुआँ बनवाया था जिसका दायरा 220 फीट था। इसके दो तलों में 32 पुर एक साथ चलते थे। इसी कुएँ से चमड़े के पुरों (चरसों) से पानी खींचा जाता था। उस पानी से सिंचाई होती थी और शाही हाथी नहलाए जाते थे। इसे लोग 'कमाल खाँ का कुआँ' कहने लगे। जब कमाल खाँ शहीद हो गये, तो उन्हें कुएँ के पास ही दफना दिया गया। धीरे-धीरे कमाल खाँ की दरगाह मशहूर हो गयी। वर्तमान में कुआँ सूख गया है। इस दरगाह पर बड़ी संख्या में लोग मनौती माँगने आते हैं। हर वर्ष यहाँ उर्स का बड़ा मेला जुड़ने लगा है, जो 'मेला कमाल खाँ' कहलाता है। इसी परिसर में मस्जिद भी बनी है।

दरगाह मरकज साबरी—यह दरगाह एकलव्य स्टेडियम के पास आगरा क्लब सदर में स्थित है।

दरगाह शरीफ हजरत अहमदशाह रहमतुल्ला अलैह नक्शबन्दिया, मुजद्दिया—यह दरगाह बिल्लोचपुरा में बनी हुई है।

दरगाह हजरत सैय्यद शाह बायजीद हाँडी माकूफ शाह रहमतुल्ला अल्लै—यह दरगाह 11/गुदड़ी सूत, नाई की मण्डी में स्थित है, इनके बारे में कई तरह के किस्से प्रचलित हैं कि वे अन्धों को भी दृष्टि दे देते थे।

दीवानजी बेगम का रोजा और मस्जिद—साम्राज्ञी मुमताज महल की माँ दीवानजी बेगम का रोजा पाक टोला, बसई, ताजगंज में है, जहाँ उनकी कब्र है।

नगीना मस्जिद—फतेहपुर सीकरी की इमारत में हाथी पोल से थोड़ी दूरी पर स्थित 'नगीना मस्जिद' मुगल बादशाह अकबर ने राजमहल की स्त्रियों के नमाज पढ़ने को बनवायी थी जिसमें 33.5 फीट लम्बा तथा 24.5 फीट चौड़ा घेरा है। इससे ही जुड़ा 'गरीबखाना' है। यह संरक्षित इमारतों में शामिल है।

नगीना मस्जिद—यह मस्जिद मुगल सम्राट औरंगजेब ने सन् 1685 में बनवायी थी। यह मच्छी भवन के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर सफेद संगमरमरी पत्थरों से बनी है। इस मस्जिद की जगह पर पहले हरम की इमारत बनी हुई थी, उसे तुड़वाकर उसने इस मस्जिद को बनवाया। यह मस्जिद आकार में छोटी जरूर है लेकिन 'नगीना' मस्जिद की भाँति सुन्दर है। इसकी दक्षिणी-पश्चिमी दीवार से एक रास्ता मीना बाजार की तरफ खुलता है। औरंगजेब इसमें नमाज पढ़ा करता था। इस मस्जिद में हरम की स्त्रियाँ नमाज पढ़ती थीं।

नाई की मण्डी की मस्जिद—नाई की मण्डी में स्थित यह छोटी-सी मस्जिद सुल्तान इब्राहीम लोदी के शासन काल की बतायी जाती है जिसके मेहराब पर फारसी में निर्माण का उल्लेख है।

पंजा मदरसा की मस्जिद—बेलनगंज से जुड़े पंजे मदरसे में स्थित कब्रिस्तान के मेहराब पर पंजे का निशान है, इस कारण इस मुहल्ले का नाम 'पंजा मदरसा' पड़ गया। मुगल बादशाह जहाँगीर के समय यह पंजे बेहमान यार खाँ ने अपने उस्ताद असद खाँ को भेंट किये थे। इस जगह पर जहाँगीर ने बच्चों की शिक्षा के लिए एक मदरसा और लोगों की इबादत के लिए मस्जिद बनवायी थी। वर्तमान में मस्जिद तो है, लेकिन मदरसा का अस्तित्व नहीं रहा है।

पीर खलील खाँ की मजार—वर्तमान में हींग की मण्डी में कोतवाली से लगी मजार हजरत पीर खलील की है जिसे सन् 1543 के करीब शेरशाह सूरी ने बनवाया था। वह हजरत पीर खलील का बहुत आदर-सम्मान करते थे। इस जगह ऊपर बाबा खलील की नकली तथा नीचे असली कब्र है। हर साल चाँद की 8 और 9 तारीख को बराह बफात के दिन बाबा का उर्स मनाया जाता है।

फतेहपुरी मस्जिद—यह ताजमहल के पश्चिमी दरवाजे के बाहर स्थित है जो लाल पत्थर की बनी बड़ी मस्जिद है। मुगल बादशाह शाहजहाँ की कई बेगमों में एक फतेहपुरी बेगम भी थी। उसकी स्मृति में उसने यह मस्जिद बनवायी थी। यह मस्जिद 103 फीट गुणा 55 फीट में बनी है।

फूल सैय्यद की दरगाह—माल रोड पर फूल सैय्यद की दरगाह है। इसके बारे में कहा जाता है कि सन् 1536 में जब हुमायूँ बंगाल में था, तब मिर्जा हिन्दाल ने आगरा में विद्रोह कर दिया। उन दिनों आगरा में उस समय के प्रसिद्ध शेख और धर्मशास्त्र के ज्ञाता बहलोल 'फूल' रहते थे। एक बार हुमायूँ ने उन्हें हिन्दाल के पास भेजा। वह उस पर प्रभाव डालकर उसे बगावत करने से रोके। अत: हिन्दाल उनसे क्षुब्ध था। शेख फूल पर यह आरोप लगाते हुए कि वह अफगानों से मिले हुए हैं उन्हें हिन्दाल ने मरवा दिया। यह उन्हीं की मजार है।

बाबरी मस्जिद—यह यमुना पार चौबुर्जी और एत्माद्दौला के मध्य में एक लाल पत्थर से बनी मस्जिद है। इसके बारे में कहा जाता है कि इसका निर्माण मुगल बादशाह बाबर ने कराया था।

भूरी खाँ की मस्जिद—सिकन्दरा की इस छोटी-सी मस्जिद का निर्माण काल मुगल शासन का है, जो यहाँ राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर चर्च मिशनरी सोसायटी के प्रांगण से जुड़ी हुई है। यह मस्जिद आंशिक रूप से ईंट-गारे तथा आंशिक रूप से लाल पत्थर से बनी है। इसका एक गुम्बद है। यह 34 फीट 3 इंच लम्बी और 20 फीट 9 इंच चौड़ी है। इसका जीर्णोद्धार कुछ वर्षों पहले पुरातत्त्व विभाग ने कराया था। यह उसकी संरक्षित इमारतों में शामिल है।

मक्का मस्जिद या जामा मस्जिद—यह मस्जिद फतेहपुरी सीकरी में बुलन्द दरवाजे के निकट और शेख सलीम चिश्ती के दरगाह के सामने बनी हुई है। इस मस्जिद को मुगल सम्राट अकबर ने हिजरी 1010 में बनवाया था। यह मस्जिद लाल पत्थर की बनी है। इसके तीन हिस्से हैं। इस मस्जिद के अन्दर निहायत उम्दा काम हुआ है जो देखने योग्य है। यह मस्जिद शेख सलीम चिश्ती के सुझाव पर अकबर ने मक्का मस्जिद जैसी बनवायी थी। इसे 'मक्का मस्जिद' या 'जामा मस्जिद' भी कहा जाता है। यह मस्जिद 547 फीट लम्बी तथा 438 फीट चौड़ी है।

यह मस्जिद सन् 1571-72 में बनकर तैयार हुई और इसके निर्माण में 5 लाख रुपए खर्च हुए थे।

मजार नौ गजे बाबा—यह मजार आगरा कॉलेज के सामने महात्मा गाँधी मार्ग पर नागरी प्रचारिणी सभा के बाहर स्थित है। इस जगह दो मजारें हैं। एक बड़ी मजार और दरगाह नागरी प्रचारणी सभा से जुड़ी है, जो हजरत शेख नादिरशाह बाबा उर्फ नौगजे की है। ये काबुल के रहने वाले थे और मुगलकाल में अकबर के सिपहसालार थे। उनकी लम्बाई 9 गज थी, इसलिए उन्हें 'नौगजे' बाबा कहा जाता है। इनके छोटे भाई रुस्तम सईद बाबा थे, जिनकी दरगाह महात्मा गाँधी मार्ग पर आगरा कॉलेज की ओर बनी है। ये दोनों ही बाबा आध्यात्मिक फकीर बन गए थे। इन दोनों का ही बफात 13 जमादि-उल-सानी 1056 हिजरी को इन्तकाल हो गया। इनका उर्स ख्वाजा के चाँद तारीख 11-12 को हर साल मनाया जाता है।

मजार शहीद-ए-सालिस तथा मस्जिद—शिया मुस्लिम समुदाय से सम्बन्धित मशहूर शहीद-ए-सालिसी (तीसरे शहीद) काजी सैय्यद नूर-उल्लाह-शुस्त्री, इन्तकाल सन् 1613 ई., का मजार भगवान टॉकीज के समीप दयालबाग मार्ग पर बायें हाथ पर है जो करीब 450 साल पुराना है। मुगल सम्राट अकबर ने सैय्यद नूर उल्लाह शुस्त्री को ईरान से बुलाया था, जो शुस्त्र शहर के रहने वाले थे। वे रसूल उल्लाह की 27वीं पुश्त के शिया मुसलमान थे। सैय्यद नूर उल्लाह बहुत बड़े विद्वान् और काजी थे। उन्होंने अरबी-फारसी में 112 पुस्तकें लिखी थीं। उनकी 111वीं पुस्तक 'मजालिसुल मोमिनीन' और 112वीं पुस्तक 'ऐकाकुल हक' है। अकबर उनकी विद्वत्ता से बहुत अधिक प्रभावित था और उनके सुझावों को महत्त्व देता था। बाद में उसने उन्हें लाहौर का काजी कुजात बना दिया था। कहा जाता है कि यहाँ भी मन्नत माँगने पर पूरी होती हैं। इसी परिसर में मस्जिद भी है। यहाँ देश-विदेश विशेष रूप से ईरान, पाकिस्तान से लोग आते हैं तथा मजलिसों और जुलूसों में भाग लेते हैं।

मीना मस्जिद—यह मस्जिद लाल किले में मच्छी भवन के दक्षिण में स्थित है। मुगल सम्राट औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ के नमाज पढ़ने के लिए इसका निर्माण कराया था। इस मस्जिद के अन्दर का आकार 22 फीट गुणा 13 फीट है। मीना मस्जिद के सामने 22 वर्गफीट का आँगन है। इस मस्जिद की सुन्दरता इसके भव्य छज्जों के कारण है। लाल किले में अपने बेटे औरंगजेब के द्वारा कैद किये जाने के समय शाहजहाँ इस मस्जिद में नमाज पढ़ा करता था।

मुखनिस्सान मस्जिद—लोहामण्डी में एक मस्जिद है जिसे 'मस्जिद मुखनिस्सान' या 'हिजड़ों की मस्जिद' कहा जाता है। कहा जाता है कि मुगल सम्राट अकबर के शासन के दौरान एक बार बरसात नहीं हुई। जनता बगैर बरसात के त्राहि-त्राहि करने लगी। इस स्थिति से अकबर भी परेशान था। उसी समय किसी ने उन्हें बताया, ''जिल्ले सुबहानी, लोहामण्डी में एक शाही हिजड़ा यातिमा रहता है। सुनते हैं उस पर फैजाने इलाही की बारिश होती है। अगर वह दुआ माँगे तो शायद खुदा पसीज जाए।'' अकबर खुद यातिमा के पास गए और उससे दरखास्त की कि वह खुदा से पानी की दुआ माँगे। यातिमा ने आकाश की ओर देखा और नमाज में तल्लीन हो गया। उसकी इबादत का असर हुआ। उसके नमाज अदा करने के बाद घनघोर बरसात हुई। तब अकबर ने उसके हाथ चूमे और उन्हें शुक्रिया अदा किया। बाद में बादशाह अकबर ने यातिमा की याद में मस्जिद का निर्माण कराया। यह उस समय की स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना है। लाल पत्थर से निर्मित मस्जिद के तीन बुर्ज, तीन गुम्बद, तीन मेहराब और एक तालाब है। अब पुनर्निर्माण कराये जाने से इसके प्राचीन रूप में काफी बदलाव आ गया है।

मोतविद खाँ की मस्जिद—कश्मीरी बाजार में स्थित यह मस्जिद लाल बलुए पत्थर से निर्मित है जिसमें बड़े आकार के सुन्दर पाँच गुम्बद हैं। इसका निर्माण मुगल बादशाह जहाँगीर काल में शाही खजांची मोतविद खाँ या मुलामिद खाँ ने कराया था।

मोती मस्जिद—लाल किले में मुगल बादशाह शाहजहाँ के काल की दीवान-ए-आम के दाहिनी तरफ 'मोती

मस्जिद' है जो श्वेत संगमरमर पत्थर से बनायी गयी है। इसकी बुर्जियाँ भी श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं। इसका निर्माण सन् 1648 से 1655 के दौरान हुआ। यह मस्जिद बाहर से 234 फीट चौड़ी है। इसके आँगन की लम्बाई 158 और चौड़ाई 154 फीट है। यह मस्जिद अन्दर से 60 फीट लम्बी तथा 56 फीट चौड़ी है। आँगन में भी संगमरमर के पत्थर ही लगे हैं। इस मस्जिद के दरवाजे लाल पत्थर से निर्मित हैं। मस्जिद के दक्षिण-पूर्व में कोने पर एक ऊँचा खम्भा है। इससे सूर्य के प्रकाश से नमाज के समय का पता चल जाता है यानी शाही धूप घड़ी भी आँगन में संगमरमर की लगी है। मस्जिद के अन्दर का हिस्सा खम्भों की कतारों से तीन भागों में विभाजित है। हर ओर दो कक्ष हैं जिनका इस्तेमाल हरम की स्त्रियाँ करती थीं। मस्जिद पर तीन बड़े गुम्बद हैं। मस्जिद में प्रवेश के तीन द्वार थे जिनमें से दो स्थायी रूप से बन्द हैं। एक बड़ा दरवाजा खुला हुआ है जिसमें बहुत-सी सीढ़ियों के द्वारा दरवाजे तक पहुँचा जा सकता है। यह मस्जिद स्थापत्य कला की दृष्टि से अद्‌भुत है। यह मस्जिद सन् 1654 में बनकर तैयार हुई।

रोशनआरा मस्जिद—यह मस्जिद गली अंसार, रोशन मुहल्ला में स्थित है। इसे भी काफी पुराना बताया जाता है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे शाहजहाँ की बेटी रोशनआरा ने बनवाया हो।

लश्कर खाँ मस्जिद—मुगल बादशाह शाहजहाँ काल की यह मस्जिद कलेक्ट्री के पीछे शोबिया इण्टर कॉलेज से जुड़ी हुई है। इसे नवाब लश्कर खाँ ने बनवाया था। बताया जाता है कि अँग्रेजों के शासन काल में यह उपेक्षित थी। जब मौलाना सईद साहब और सुहैब साहब महरारा के कलेक्ट्रेट में मुहर्रिर बनकर आये, तो उन्हें यह मस्जिद दिखायी दी। उन्होंने इसे ठीक कराया, तब से यहाँ फिर से नमाज पढ़ी जाने लगी। इस मस्जिद का कई बार जीर्णोद्धार हो चुका है।

लाल मस्जिद—राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर जवाहर पुल के पास शाइस्ता खाँ का मकबरा और मस्जिद है। मुगल बादशाह शाहजहाँ का साढ़ू तथा बेगम फरजाना का पति होने के साथ-साथ पाँच हजारी मनसबदार भी था। जाफर खाँ ने अपने जीवित रहते अपना एक मकबरा जसवन्त सिंह की छतरी के उत्तर में चारदीवारी से घिरे बाग में बनवाया था जिसके दोनों कोने पर बुर्जियाँ हैं। इनकी मृत्यु सन् 1670 में हुई थी। इसी के पास एक मस्जिद है जो सम्भवत: जफर खाँ ने बनवायी थी। इसे 'लाल मस्जिद' कहते हैं। इस मस्जिद के तीन गुम्बदों में से एक गिरकर नष्ट हो गया है। शाइस्ता खाँ औरंगजेब के शासन के समय किले का अधिकारी तथा उसका मामा भी था। इसकी मौत सन् 1690 में शिवाजी द्वारा मारे जाने के कारण हुई थी। उसके मकबरे पर एक सुन्दर गुम्बद बना हुआ है। इस मकबरे में लाल मस्जिद है।

शाह विलायत मस्जिद—नाई की मण्डी की यह मस्जिद बहुत पुरानी है। प्रारम्भिक मस्जिद का एक हिस्सा आज भी जमीन में दबा हुआ है। नाई की मण्डी के दरबार शाह जी स्थित शाह विलायत की दरगाह बहुत मशहूर है। इसमें मस्जिद के सामने उत्तर-पूर्व में शाह विलायत की अष्टभुजाकार बलुए पत्थर से बनी दरगाह है। इसी दरगाह में विलायतशाह दफन हैं, इस पर खुदे फारसी लेख के अनुसार इस फकीर का इन्तकाल सन् 1546 में हुआ था। विलायत शाह का असली नाम फकीर अलाउद्‌दीन मज्जूब था। उनका इन्तकाल सलीमशाह के राज्यकाल के प्रथम वर्ष में हुआ। यह धँसी हुई मस्जिद एक अजीब दास्तान कहती है। सन् 1539 में फरीदुद्‌दीन शेरशाह सूरी हुमायूँ का पीछा करते हुए आगरा आ गया, उसके कुछ सिपाही ऊँटों पर बैठे आगे बढ़े। उस दिन मूसलाधार पानी पड़ रहा था, आगे बढ़ना नामुमकिन था। इसलिए ऊँटों के सरदार ने देखा कि सामने एक बड़ी मस्जिद है और उसके ऊँट उसमें आसानी से आ सकते हैं। यह मस्जिद मदीना के सैय्यद सुलेमान के फकीर पुत्र शाह अलाउद्‌दीन मज्जूब ने बनवायी थी। इसके आसपास के लोग उन्हें शाह विलायत कहते थे। जब उनकी मस्जिद में शाही ऊँट घुसने लगे, तब उन्होंने उनके सरदार से कहा, ''यह अल्लाह का घर है भाई, जानवरों की सराय नहीं।'' लेकिन

जीत के घमण्ड में चूर शेरशाह सूरी का सरदार बोला, ''ये शाही ऊँट हैं और यहीं रहेंगे।'' इसके बाद जबरदस्ती अपने ऊँट लेकर वह मस्जिद में घुस गया। तब शाह विलायत ने अपने दोनों हाथ उठाकर उसकी उद्दण्डता की शिकायत अल्लाह से की। उनकी प्रार्थना का असर यह हुआ कि अचानक मस्जिद जमीन में धँस गयी। इस कारण शाही ऊँट और उनके सवार जिन्दा ही दफन हो गए। तब आधी मस्जिद जमीन में धँस चुकी थी।

शाही ईदगाह मस्जिद—कटघर स्थित आगरा के ईदगाह मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ काल में सन् 1627 से 1658 में हुआ है। मुगल सम्राट शाहजहाँ के समय चालीस दिन में कटघर के समीप ईदगाह का निर्माण हुआ था। लाल पत्थर की ईदगाह के छोरों पर बुर्जियाँ शाहजहाँ काल की कारीगरी का विशेष नमूना हैं। कालान्तर में इसकी इमारत के जर्जर होने पर नवाब रामपुर ने अपने खजाने से ईदगाह की मरम्मत करायी थी।

शाही मदरसा मस्जिद—मुगल सम्राट शाहजहाँ ने सन् 1646 ई. में माल के बाजार में शाही मदरसा मस्जिद का निर्माण कराया था। इसके एक फारसी लेख में अब्दुल हक मुशकत नवाज कलात्मक लिपि विशेषज्ञ का नाम अमानत खाँ शीराजी के रूप में अंकित है।

शाही मस्जिद जाल—यह मस्जिद और दरगाह छिली ईंट रोड, फुलट्टी बाजार में स्थित है। शुम्मुद्दीन चिश्ती के वंश से सम्बन्धित थे। यहाँ उनकी बड़ी और दो बेटों की छोटी कब्रें हैं। ख्वाजा शम्सुद्दीन का इन्तकाल 85 हिजरी में हुआ था। इस जगह पर एक छोटी मस्जिद भी है जो कई सौ साल पुरानी दिखायी देती है। इसे 'शाही मस्जिद जाल' के नाम से जाना जाता है।

शेख सलीम चिश्ती की दरगाह (फतेहपुर सीकरी)—यह बुलन्द दरवाजे के पास ही स्थित है। शेख सलीम चिश्ती मुगल सम्राट अकबर के आध्यात्मिक गुरु थे। उनके आशीर्वाद से सलीम पैदा हुआ था। सन् 1571 में शेख सलीम चिश्ती का इन्तकाल हुआ था। बताया जाता है कि यह मजार अकबर ने उनके इन्तकाल के बाद बनवायी थी। उनकी मजार के चारों ओर संगमरमर का खूबसूरत जालीदार परकोटा है। इस मकबरे के गुम्बद भी देखने लायक हैं। इसमें पत्थर की पच्चीकारी अत्यन्त सुन्दर है। दरगाह की कलाकृतियों से अलंकृत तथा गुम्बदाकार छत पर हिन्दू मन्दिरों की तरह आमलक तथा कलशों की प्रतिस्थापना और प्रमुख द्वार अर्द्ध मण्डप के निर्माण हिन्दू स्थापत्य कला के प्रतीक हैं। इस दरगाह से लगे अहाते के मकान बने हुए हैं, जिनमें हर जगह के लोग कई-कई दिन ठहरते थे। रमजान शरीफ की 28 तारीख को जनाब शेख सलीम चिश्ती का उर्स या मेला होता है जिसमें हर कौम के लोग आते हैं। इस दरगाह पर आकर लोग श्रद्धा से धागा बाँधकर मनौती माँगते हैं और चादर चढ़ाते हैं ।

शेरजंग दरगाह और मस्जिद—यह राष्ट्रीय राजमार्ग-2 दिल्ली-आगरा पर आगरा शहर से 11 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। यह मजार सिकन्दर लोदी के शासन से पहले की बतायी जाती है, तब यह कच्ची थी। लेकिन कोई 5 दशक पहले बशीर खान ने अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर इस कच्ची कब्र को विकसित करना शुरू किया। तब से धीरे-धीरे लोगों का यहाँ आना शुरू हुआ। बाबा शेरजंग का असली नाम फतेह मुहम्मद था। उस समय यहाँ घना जंगल हुआ करता था, जिसमें शेर आदि हिंसक पशु यहाँ विचरण करते थे। तब बाबा अकेले ही रहते और अल्लाह से दुआ करते। एक बार पास के गाँव में आदमखोर शेर ने आतंक मचा दिया। उसके डर से लोग गाँव खाली कर जाने की सोचने लगे, तब कुछ लोगों ने बाबा फतेह मुहम्मद से उन्हें उस शेर से बचाने की गुजारिश की। इस पर बाबा निहत्थे ही उस शेर को शान्त करने निकल पड़े। वहाँ वे शेर से जूझते हुए शहीद हो गए। इसलिए लोगों ने अपनी रक्षा करते हुए शहीद हुए बाबा को 'शेरजंग' कहना शुरू कर दिया। इसके साथ ही कुछ लोगों का कहना है कि बाबा फतेह मुहम्मद फकीर थे और अल्लाह के फरिश्ते थे। इनके एक शिष्य सल्लू शाह थे जिनकी कब्र आगरा शहर के कटरा दबकियान में है।

सतदी मस्जिद—ताजमहल के पूर्वी दरवाजे के बाहर सहेलियों का मकबरा है जिसका बुर्ज मजबूत दालान के

चारों तरफ लाल पत्थर का बना हुआ है। इसके सामने एक मस्जिद चूना-ईंटों से बनी हुई है जिसे 'सतदी मस्जिद' कहते हैं।

सराय नवी मोहम्मद की मस्जिद—मुगल बादशाह जहाँगीर के किले में तैनात हिजड़े खिदमत खाँ ने सराय नवी मोहम्मद की मस्जिद का निर्माण कराया, जिसका फारसी में निर्माण काल सन् 1626 ई. अंकित है। इसी मस्जिद से लगे चबूतरे पर एक पाँव की छाप है जो 'कदम रसूल' के नाम से मशहूर है। इसके दरवाजे के लेख में इसका निर्माण काल सन 1627 ईस्वी लिखा है।

हाजी सुलेमान की मस्जिद—सुभाष पार्क के सामने वाल्मीकि वाटिका से सटी एक छोटी-सी मस्जिद है उस पर अंकित लेख के अनुसार इसे जहाँगीर के शासन काल में हाजी सुलेमान ने बनवाया था।

हामिद शाह दरगाह—जगदीशपुरा खतैना स्थित हामिद शाह बाबा की दरगाह है।

हींग की मण्डी की मस्जिद—हींग की मण्डी की मस्जिद खोजा की सराय याकूत अली खाँ ने बनवायी थी जिस पर फारसी में लेख है। यह औरंगजेब के शहजादे बहादुर के जमाने के समय सन् 1708 में पूरी हुई।

हुमायूँ की मस्जिद—हुमायूँ ने यमुना पार कछपुरा में एक मस्जिद का निर्माण कराया, जिस पर उसका आलेख लगा हुआ है। यह मस्जिद ताजमहल के सामने स्थित है। इसकी बनावट विचित्र-सी है। इसके मध्य भाग पर बनी मेहराब का फारसी लेख बताता है कि इसे सन् 1530 में हुमायूँ के फरमान से बनवाया गया था। यह मस्जिद 93 फीट लम्बी तथा 35 फीट चौड़ी है। इसका गुम्बद नीचा है जो स्पष्टत: दिखायी नहीं पड़ता। [ब०सिं०सि०]

आगरा के सिक्ख धार्मिक स्थल

सिक्ख इतिहास में आगरा का विशेष सम्बन्ध रहा है। यहाँ सिक्ख पंथ के प्रवर्तक गुरु नानकदेव के साथ-साथ समय-समय पर गुरु हरगोविन्द साहिब, गुरु तेगबहादुर और दशम गुरु गोविन्द सिंह के चरण पड़े हैं। इनकी स्मृति में वर्तमान आगरा में गुरुद्वारा नानकदेव लोहामण्डी, गुरुद्वारा माईथान, गुरुद्वारा दमदमा साहिब, गुरुद्वारा दु:ख निवारण गुरु का ताल, गुरुद्वारा हाथीघाट बनाये गए हैं, जो इन गुरुओं से सम्बन्धित होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। उत्तर-पूर्व में भारत में सिक्ख पन्थ के प्रचार हेतु नौवें गुरु तेगबहादुर साहिब तीन बार आगरा आए थे। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए तीसरी बार पधारने पर यहाँ उन्हें बन्दी बना लिया गया था। इन गुरुद्वारों में नियमित शबद कीर्तन, गुरुवाणी का पाठ, सिख गुरुओं के जन्म दिवसों तथा बैशाखी पर्व पर 'खालसा पन्थ' के स्थापना दिवस के कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

गुरुद्वारा अजीत नगर—यह गुरुद्वारा आगरा के छावनी क्षेत्र अजीत नगर, खेरिया मोड़ के पास स्थित है।

गुरुद्वारा कलगीधर—यह गुरुद्वारा सदर बाजार में है जो लगभग 55 साल पुराना है। यह इस क्षेत्र के सिक्ख और पंजाबी समुदाय का मुख्य गुरुद्वारा है।

गुरुद्वारा गुरु का बाग—यह गुरुद्वारा सदर बाजार के पीछे मधुनगर मुहल्ले में स्थित है और कुछ दशक ही पुराना है।

गुरुद्वारा दमदमा साहिब—यह ऐतिहासिक गुरुद्वारा मानसिक चिकित्सालय मार्ग, कैलाशपुरी के सामने स्थित है। यह स्थान मुगल बादशाह जहाँगीर के समय सिक्खों के छठवें गुरु हरगोविन्द साहिब का पड़ाव रहा है। जहाँगीर ने उन्हें ग्वालियर के किले में दूसरे हिन्दू राजाओं के साथ कैद कर रखा था, जहाँ गुरु साहिब का उनसे काफी मेल-मिलाप हो गया। इनके कारण उन्हें कुछ सुविधाएँ भी मिलने लगीं। उसी दौरान जहाँगीर को शारीरिक-मानसिक बेचैनी हुई, तब उसे यह अहसास हुआ कि उसके यह सब गुरु हरगोविन्द साहिब को कैद करने की वजह से हो रहा है, तो उन्हें रिहा करने का उसने फैसला किया। इससे हिन्दू राजाओं को गहरी निराशा हुई, तब गुरुसाहिब

ने अपने साथ कुछ राजाओं को छोड़ने का आग्रह किया। इस पर मुगल बादशाह का कहना था कि आपके कुर्ते को जितने लोग पकड़कर निकल सकते हों, उन्हें रिहा कर दिया जाएगा। इस पर गुरु साहिब ने बावन कलियों का कुर्त्ता सिलवाया, जिसे पकड़ कर 52 हिन्दू राजा भी कैद से रिहा हो गए। ग्वालियर से लौटते समय गुरु साहिब ने इसी गुरुद्वारे के स्थान पर पड़ाव डाला था। इस जगह पर पहले छोटा-सा स्थान था। इसके बाद यहाँ सन् 1972-73 में गुरुद्वारे का बड़े स्तर पर निर्माण कराया गया।

गुरुद्वारा दशमेश दरबार—इस गुरुद्वारा का निर्माण कई दशक पहले विभव नगर में हुआ था, लेकिन इसका निर्माण कलगीधर गुरुद्वारे के बाद हुआ है। इसका नाम सिक्ख पंथ के दसवें गुरु गुरुगोविन्द सिंह के नाम पर रखा गया है।

गुरुद्वारा दशमेश पातशाह—यह गुरुद्वारा न्यू शाहगंज में बना हुआ है जो इस मुहल्ले के बसने के बाद बना है।

गुरुद्वारा दुःख निवारण—यह गुरुद्वारा वर्तमान में राष्ट्रीय राजमार्ग -2 पर पुराने गाँव सराय बेगा तथा घोड़ा सराय के पास तथा ककरैठा गाँव की भूमि से जुड़ा हुआ है। यहाँ पहले मुगल बादशाह जहाँगीर के सिपहसालार इतबारी खाँ का मकबरा था और एक तालाब था। सन् 1871-72 में ब्रिटिश शासन द्वारा कराये गए पुरातात्त्विक सर्वेक्षण में इस तालाब का निर्माण सिकन्दर लोदी के समय का बताया गया है। यहाँ सन् 1675 में सिक्ख गुरु तेगबहादुर आकर ठहरे थे। यहीं से मुगल सम्राट औरंगजेब ने गुरुजी और उनके शिष्यों को बन्दी बनाया था। उन्हीं की स्मृति में इस गुरुद्वारे का निर्माण कराया गया है। इसी कारण यह गुरुद्वारा ऐतिहासिक कहा जाता है। यहाँ नियमित कीर्तन दरबार होता है तथा 24 घण्टे लंगर चलता है। यहाँ प्राचीन युद्धकला की शिक्षा भी दी जाती है और निःशुल्क चिकित्सालय भी चलाया जाता है।

गुरुद्वारा नार्थ ईदगाह—यह गुरुद्वारा ईदगाह रेलवे स्टेशन के ठीक सामने पुलिस लाइन मार्ग पर स्थित है। इसका निर्माण सन् 1975-76 में हुआ था। वर्तमान में इसका संचालन 'गुरुनानक सेवा समिति' पंजीकृत संस्था द्वारा किया जा रहा है।

गुरुद्वारा नानक दरबार—यह गुरुद्वारा आगरा छावनी रेलवे स्टेशन के पास स्थित मुहल्ले काछीपुरा में बना हुआ है। इसका नामकरण सिक्ख पंथ के प्रवर्त्तक गुरुनानक देव के नाम पर किया गया है। यह गुरुद्वारा सिक्ख सैनिकों तथा देश विभाजन के बाद आगरा आए सिक्ख एवं पंजाबी समुदाय का प्रमुख धार्मिक केन्द्र बना हुआ है।

गुरुद्वारा नानक दरबार—यह गुरुद्वारा जीवनमण्डी के पास बना हुआ है जिसमें बड़ी संख्या में देश विभाजन के पश्चात विस्थापित सिक्ख और पंजाबी समाज के लोग यहाँ बस गए। उन्होंने ही इसे स्थापित किया है।

गुरुद्वारा नानक देव—सिक्ख पंथ के प्रवर्त्तक गुरुनानक देव के यहाँ ठहरने के कारण यह गुरुद्वारा ऐतिहासिक और पुराना है, जो लोहामण्डी के उप-मुहल्ले बाँस मण्डी में है।

गुरुद्वारा नानकपाड़ा—यह गुरुद्वारा भी कई दशक पुराना है, जो घटिया आजम खाँ के पास स्थित मुहल्ले खटीकपाड़ा में बना हुआ है।

गुरुद्वारा बल्केश्वर—बल्केश्वर में श्रम विभाग की कॉलोनी में देश के बँटवारे के बाद विस्थापित बस गए। उन्होंने ही यहाँ गुरुद्वारे का निर्माण कराया, जो अब कई दशक पुराना हो गया है।

गुरुद्वारा संत केहरी सिंह—यह गुरुद्वारा बालूगंज में स्थित है, जो देश के बँटवारे के बाद पाकिस्तान से आगरा आए सिक्ख और पंजाबी समुदाय द्वारा स्थापित किया गया।

गुरुद्वारा हाथी घाट—यमुना किनारे हाथी घाट स्थित यह गुरुद्वारा भी ऐतिहासिक बताया जाता है। यहाँ दो हाथियों की पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ बनी हुई हैं इसलिए इस जगह को 'हाथीघाट' कहा जाता है। यहाँ कई मन्दिर भी बने हुए हैं। इसी जगह पर वर्तमान में यह गुरुद्वारा बना हुआ है। इसके बारे में सिक्खों द्वारा एक घटना का

उल्लेख किया जाता है जो इस प्रकार है:—मुगल बादशाह औरंगजेब के दरबार में एक कवि द्वारा एक कविता प्रस्तुत की गयी, इसका अर्थ कोई नहीं बता सका। दूसरे दिन उसके शहजादे बहादुरशाह ने अर्थ बता दिया। इस पर उसने कहा कि यह तुम नहीं कर सकते? किससे पता करके आए हो? इस पर उन्होंने अपने गुरु नन्दलाल का नाम बता दिया। इस पर उसने कहा कि इतना बड़ा विद्वान् हिन्दू होकर नहीं रह सकता। तुम अपने गुरु से कहो कि या तो वह इस्लाम कबूल कर मुसलमान बन जाए या फिर मौत के लिए तैयार रहे। इस पर बहादुरशाह ने नन्दलाल जी को अपनी जान बचाने को गुरु गोविन्द सिंह के पास पंजाब भेज दिया। बाद में औरंगजेब के इन्तकाल के बाद बहादुरशाह के पक्ष में जाजऊ की लड़ाई में नन्दलाल, दयासिंह, साहिब सिंह, धर्म सिंह, मोहकम सिंह, हिम्मत सिंह ने उसकी सहायता की। गुरु गोविन्द सिंह ने स्वयं बाण चलाकर उसके शत्रु को मारा। इसकी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए उसने अपने सिंहासन से ऊँचे सिंहासन पर गुरुजी को बैठाया। इससे उसके दरबार के मुल्ला-मौलवियों एवं काजियों ने एतराज जताया था। इन्हीं नन्दराम की स्मृति में हाथी घाट का गुरुद्वारा बना हुआ है।

गुरुनानक संत सभा गुरुद्वारा—यह गुरुद्वारा 3/95, चौक कागजियान, ताजगंज थाना के पास स्थित है। इसका निर्माण सन् 1957 में हुआ है। इससे ताजगंज क्षेत्र के आसपास के सिक्ख और पंजाबी दर्शन, अरदास आदि करने आते हैं।

गुरु सिंह सभा गुरुद्वारा—यह प्राचीन और ऐतिहासिक गुरुद्वारा नगर के मध्य माईथान मुहल्ले में स्थित है। यहाँ जस्सी नामक एक ईश्वर-भक्त महिला रहती थी। गुरु तेगबहादुर जस्सी माता से भेंट करने आये थे। उसने गुरु जी से कहा कि उसके कोई सन्तान नहीं है। ऐसे में मेरा नाम कैसे चलेगा? गुरु जी ने उन्हें 'माई' कह कर सम्बोधित किया। इस कारण मुहल्ले का नाम 'माईथान' पड़ गया। कहते हैं कि जस्सी माता ने 175 वर्ष की आयु पायी। उन्होंने सन् 1510 में दक्षिण भारत की यात्रा कर लौटे गुरु नानक देव से आशीर्वाद प्राप्त किया था। नगर के बीचों-बीच होने कारण यह गुरुद्वारा शुरू से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। देश के विभाजन के बाद पाकिस्तान से आने वाले सिक्ख और पंजाबी समुदाय का यह शरण स्थल और पूजा स्थल रहा था। [ब०सिं०सि०]

आगरा के हिन्दू धार्मिक स्थल

आगरा अति प्राचीन और ऐतिहासिक नगर है। इसका प्रमाण समय-समय पर यहाँ हुए विभिन्न उत्खननों में हिन्दू देवी-देवताओं यथा मन्दिरों के खम्भे, विष्णु, विष्णु के चक्र, शिवलिंग, महिषासुर मर्दिनी समेत जैन तीर्थंकरों, बौद्ध मत से सम्बन्धित सामग्री आदि में खण्डित और साबुत प्रतिमाओं का मिलना है, इनमें से कुछ तो सैकड़ों वर्ष पुरानी हैं। इनके अतिरिक्त ईंट, बर्तन, सिक्के, शैल व भित्ति चित्र भी प्राप्त हुए हैं। आगरा जनपद में हिन्दुओं के विभिन्न मतों-सम्प्रदायों यथा शैव, वैष्णव, सनातन, नाथ, जैन, बौद्ध आदि के मन्दिर शासक और उनके अनुयायी अपनी-अपनी आस्था और श्रद्धा से बनवाते आये हैं। कालान्तर में नगर के विकास के साथ-साथ विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिर लगातार बनते आ रहे हैं। साथ ही पुराने मन्दिरों के रूप-स्वरूपों को बदलने के साथ उनके परिसरों में अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी लगती रही हैं। इनमें कुछ मन्दिरों का निर्माण कुछ दशक या सैकड़ों वर्ष पुराना हो, लेकिन उनमें स्थापित प्रतिमा हजार साल से भी प्राचीन होने के अनुमान हैं। आगरा के हिन्दू मन्दिरों में से कुछ इस प्रकार हैं:—

अचलेश्वर महादेव मन्दिर—यह मन्दिर जीवनी मण्डी स्थित कृष्णा कॉलोनी में है। इसका निर्माण सन् 1858 में अलीगढ़ के तत्कालीन शहर कोतवाल किशनलाल ने कराया था। इस मन्दिर में स्थापित शिवलिंग आगरा नगर और इसके आसपास के विभिन्न शिव मन्दिरों के लगे शिवलिंगों से सबसे बड़ा है। इस मन्दिर की नन्दीश्वर की प्रतिमा भी काफी बड़े आकार की है।

आकाश भैरव मन्दिर—यह मन्दिर फुलट्टी के तिराहे के पास शीतला गली में घुसने पर चित्रा सिनेमा की ओर जाने वाली बायें हाथ पर सँकरी और पटी हुई गली के अन्दर बना हुआ है। कहते हैं कि यहाँ भैरव आकाश से गिरे हैं इसलिए इन्हें 'आकाश भैरव' कहा जाता है। यह मन्दिर भी काफी पुराना है जो कुटुम्बी भैरव से जुड़ा हुआ है।

आनन्दी भैरव—यह मन्दिर शीतला मार्ग (केन्द्रीय संस्थान) पर बूढ़ी नगला में स्थित आगरा का सबसे प्राचीन भैरव मन्दिर है। इसमें बाल भैरव और आनन्दी माता की प्रतिमाएँ लगी हैं। बाल भैरव पर दूध चढ़ाया जाता है। मुगल बादशाह औरंगजेब के समय इस मन्दिर को नष्ट करने का प्रयास किया गया। इस कारण भैरव प्रतिमा अपने पूर्व स्थान से दूर लगी हुई है। कहते हैं इसे ढक दिया गया था फिर वह बाहर आ गयी।

इटौरा देवी मंदिर—ग्वालियर-आगरा मार्ग पर मलपुरा के पास इटौरा गाँव में देवी का मन्दिर है जो लगभग सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है। इस मन्दिर में देवी की प्रतिमा स्थापित है। ऐसी मान्यता है कि करौली माता की यात्रा तभी पूर्ण होती है जब भक्त लौटकर इटौरा माता के दर्शन करते हैं।

उदयनाथ योगी का मन्दिर (नाथ बाग)—शाहगंज में गढ़ी भदौरिया के निकट उदयनाथ का बाग और मन्दिर है। बाबा उदयनाथ जी कनफट्टे बाबा नाथ सम्प्रदाय के थे। उनके करिश्मों की चर्चा मुगल सम्राट अकबर तक पहुँची। तब अकबर ने अपने दरबार में बुलाने को हरकारे भेजे। लेकिन बाबा ने उन हरकारों को यह कहकर वापस भेज दिया, ''हम तो केवल ऊपर वाले के दरबार के दरबारी हैं। हमें बादशाह से क्या लेना-देना है! अगर वे हमसे मिलना चाहते हैं तो हमारे झोपड़े पर आयें।'' अकबर ने यह सुना तो उनसे मिलने की उत्सुकता बढ़ी। एक दिन अकबर हाथी पर चढ़कर उनसे मिलने को निकला। उसे आता देख उनके चेलों ने कहा, ''गुरुजी बादशाह हाथी पर सवार होकर आ रहे हैं।'' इस पर बाबा ने कहा, ''आने दे।'' जैसे ही अकबर का हाथी दिखायी दिया, तब बाबा उदयनाथ ने दीवार से कहा, ''तू भी चल।'' जिस दीवार पर बाबा बैठे थे, वह भी चलने लगी। इस करिश्मे को देख अकबर भौंचक्का रह गया, वह हाथी से उतरकर पैदल चलने लगा। फिर बाबा के पास आकर उसने उनके पाँव छुए और हाथी पर आने के लिए क्षमा माँगी। अकबर ने बाबा के लिए एक पत्थर की छतरी बनवायी थी।

कुटुम्बी भैरव मन्दिर—यह मन्दिर शीतला गली में कोरी समाज वाली गली में स्थित है और बहुत प्राचीन बताया जाता है। यहाँ भैरव जी अपने कुटुम्ब सहित लेटने की मुद्रा में विराजमान है, इसलिए इस मन्दिर को 'कुटुम्बी भैरव' कहा जाता है।

कैलाश महादेव मन्दिर—यह मन्दिर सिकन्दरा से दो कि.मी. दूर पश्चिम दिशा में है। इसके बारे में कहा जाता है कि महर्षि जमदग्नि कैलाश जाते समय इस जगह पर रात को रुके थे, उस समय उनके हाथों में दो शिवलिंग थे। यहाँ जब उन्होंने रात्रि प्रवास किया, तब उन्होंने दोनों शिवलिंगों को भूमि पर रख दिया। इसके बाद महर्षि जमदग्नि ने उन्हें एक ही जलहरी में स्थापित कर दिया। उस समय से ही यह स्थान 'कैलाश' कहा जाने लगा। अट्ठारहवीं शताब्दी में मराठों ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। इस मन्दिर में एक ही जलहरी में दो शिवलिंग होना ही इस मन्दिर की विशेषता है। कुछ सालों पहले इस मन्दिर को संगमरमर के पत्थरों से बनाया गया है। सावन के तीसरे सोमवार को यहाँ मेले का आयोजन होता है।

कामख्या देवी मन्दिर—यमुना किनारे हाथीघाट के सामने स्थित यह मन्दिर कोई छह दशक पुराना है। इसे बाबा मनफूल ने बनवाया था। पहले यहाँ तीन देवियों की प्रतिमाएँ लगी थीं, अब इसमें नौ देवियों की मूर्तियाँ लगी हुई हैं।

काल भैरव का मन्दिर, ताजगंज—यह मन्दिर ताजगंज, श्मशान घाट के समीप पूरब में छोटे-से टीले पर स्थित है जो बहुत प्राचीन है। बताया जाता है कि यह पहले आगरा के लाल किले के पास था, लेकिन मुगल बादशाह औरंगजेब की हिन्दू मंदिरों के विध्वंस नीति के कारण इस मन्दिर की भैरव प्रतिमा को भक्तों ने यमुना किनारे

श्मशान के पास लाकर स्थापित कर दिया। अट्ठारहवीं सदी के प्रसिद्ध शायर नजीर अकबराबादी अपनी जवानी के दिनों अक्सर काल भैरव जाते। वहाँ उनके दो काम थे—मन्दिर के पुजारी बाबा से ज्ञान की बातें करना और इन्हीं गायों में एक श्यामा बछिया थी, जो बाबा से ऐसी हिली-मिली थी कि बाबा जहाँ जाते वह भी वहीं जाती। धीरे-धीरे नजीर से श्यामा की मित्रता बढ़ गयी। कहा जाता है कि एक बार आगरा पर जब भरतपुर वालों का हमला हुआ, आतातायी नजीर के मकान पर भी आ धमके और दरवाजा पीटने लगे। उसी समय बाबा का वहाँ से गुजरना हुआ। बाबा ने उन्हें टोका, तो उन्होंने बाबा को धमकाने की कोशिश की, ''तू साधु है, अपना काम देख।'' पर नजीर बाबा के विशेष कृपापात्रों में से थे और उन्हीं के सामने नजीर को कोई लूटे यह कैसे हो सकता था? बाबा दरवाजे और हमलावरों के बीच खड़े हो गए। इस पर चिढ़कर उन्होंने बाबा पर तलवार खींच ली, लेकिन बीच में आ गयी श्यामा। उसे हमलावरों ने हड़काया पर श्यामा न हिली और तभी ''ठहरो रुको'' की आवाजें देते नजीर आ पहुँचे ''लुट जाऊँ तो कोई बात नहीं, लेकिन मेरी खातिर गाय और गुरु मारे जाएँ, यह कैसे देख सकता हूँ? बाबा हट जाओ। इन्हें लूट लेने दो।'' तब एक लुटेरे ने ध्यान से देखा, ''अरे यह तो बल्देव जी का भगत नजीर है।'' और हमलावर शर्मिन्दा होकर वहाँ से खिसकते बने।

कालीबाड़ी माता मन्दिर—यह मन्दिर शीतला माता के मन्दिर से थोड़ा आगे गली के छोर पर स्थित है, जो इस मन्दिर के कारण काली बाड़ी का चौराहा कहलाता है। कालीबाड़ी का मन्दिर द्वारकानाथ भट्टाचार्य ने बनवाया था, उनके शिष्य शचेन्दु भट्टाचार्य थे। यह मन्दिर 400 साल से अधिक पुराना बताया जाता है। यहाँ काली माता भगवान शिव पर अपना पाँव रखे हुए हैं। यह प्रतिमा प्रस्तर की न होकर मिट्टी की बनी है। चूँकि इस मन्दिर की स्थापना भट्टाचार्य द्वारा की गयी थी, इसलिए इस मन्दिर से बंगाली समाज के लोगों के विशेष जुड़ाव है।

गंगा जी का मन्दिर—फतेहपुरी सीकरी विकास खण्ड के दूरा गाँव में गंगा जी का मन्दिर है जो लगभग 350 वर्ष पुराना है। इस गाँव के गणेश पुत्र बंशी नेपाल से डेढ़ फुट की गेहुँआ रंग की पाषाण प्रतिमा तथा काले पत्थर का एक शिवलिंग नेपाल से लाए थे। अब इस मन्दिर में नियमित रूप से दोनों की पूजा-अर्चना की जाती है।

गुप्तेश्वरनाथ मन्दिर—राजामण्डी चौराहे से नूरी दरवाजे की ओर जाने वाले मार्ग पर यह मन्दिर बना हुआ है, जो करीब डेढ़ सौ साल पुराना है। इस मन्दिर की स्थापत्य कला तथा पच्चीकारी देखने योग्य है। इस मन्दिर में अष्टधातु से निर्मित विशाल शिवलिंग है जो अत्यन्त दर्शनीय है। जनश्रुति के अनुसार सन् 1906 के आसपास इसका निर्माण हुआ है। इस मन्दिर के चारों ओर लीलाएँ खुदी हैं। इसके अन्दर रामकथा की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं।

ग्वाल बाबा का मन्दिर—यह मन्दिर जगनेर के पहाड़ पर बने किले में स्थित है। इसका निर्माण मुगल शासन में हुआ था। यहाँ जग मन्दिर भी है। इस किले के पास ही ग्वाल बाबा की छतरी है। हर साल ग्वाल बाबा का मेला लगता है। ऐसी मान्यता है कि इसमें आने वाले श्रद्धालु जो भी कामना करते हैं, ग्वाल बाबा उसे पूर्ण करते हैं। यह किला पुरातत्त्व विभाग की संरक्षित इमारतों में शामिल है।

चंद्रशेखर महादेव मन्दिर—गोकुलपुरा में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में स्थित यह मन्दिर कई सौ साल पुराना है जिसमें शिवलिंग के साथ-साथ अलग से शिव परिवार है। इसमें शिवजी, पार्वती, गणेश, नन्दी हैं; इसके साथ उसमें हनुमान जी की मूर्ति भी लगी है।

च्यवन ऋषि का आश्रम—यह आश्रम राष्ट्रीय राजमार्ग-2 (आगरा-दिल्ली) से सात कि.मी. पश्चिम दिशा में स्थित वन में हैं। च्यवन ऋषि ने 'च्यवनप्राश' बनाने की विधि का आविष्कार किया था। यहाँ कभी च्यवन ऋषि का आश्रम था। वर्तमान में भी यह स्थान अत्यन्त सुरम्य और शान्त है। इस स्थान पर यमुना पश्चिम दिशा की ओर बहती है इसलिए यह जगह 'पश्चिमाई' के नाम से जानी जाती है। यहाँ यमुना में पाँच प्रस्तर शिलाएँ पड़ी हैं जिन पर बारह वर्ष वनवास के समय पाण्डवों ने तप किया था। इसी स्थान पर यमुना तट पर स्वयंभू शिवलिंग है।

पश्चिमाई में गुरु प्रतिमा और आश्रम की छतरी की कारीगरी दर्शनीय है। यहाँ श्रद्धालुओं का आना-जाना बराबर बना रहता है।

जागेश्वर महादेव मन्दिर—सैय्यद पाड़ा, लोहामण्डी में सन् 1964 में खटीक समाज ने 'शिव-पार्वती' का मन्दिर बनवाया था। यह मन्दिर गली कारवान और सैय्यद पाड़े के बीच स्थित है।

झूले लाल का मन्दिर—सन् 1947 के पश्चात् जब हिन्दू-सिन्धी समुदाय के लोग आगरा में बड़ी संख्या में बस गये तो उन्होंने कई स्थानों पर सूफी सन्त 'झूले लाल' के मन्दिर निर्मित कर लिए हैं—जैसे काला महल, चाहर सू दरवाजा आदि मुहल्लों में। अब हर वर्ष उनकी झाँकी का जुलूस तथा वार्षिक मेला एवं उत्सव मनाया जाता है

टेढ़ेश्वर महादेव मन्दिर—यह दयालबाग के समीप यमुना पार स्थित है। इसका प्राचीन नाम 'लोहागढ़' है। इस जगह ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व शुंगकाल का बिना जलहरी वाला शिवलिंग है, जिसे 'टेढ़ेश्वर महादेव' कहा जाता है। इस शिवलिंग के विषय में यह किंवदन्ती है कि इसकी गहराई का अभी तक पता नहीं लगाया जा सका है। यह स्थान आगरा-हाथरस मार्ग पर पोइया ग्राम से कुछ दूरी पर है।

दाऊजी मन्दिर—यह मन्दिर सन् 1909 में राजामण्डी में बाबू लाल सिंह उर्फ मुंशी लाल ने सन् 1887 में बनवाया था, जो राजामण्डी बाजार के चौराहे से बल्का बस्ती जाने वाले मार्ग पर स्थित है। इसमें दाऊजी, रेवती, हनुमान जी की सफेद संगमरमर की प्रतिमाएँ लगी हैं।

दाऊजी मन्दिर—यह मन्दिर करीब 150 साल पुराना है। जिसका निर्माण पण्डित सदासुख जी उर्फ पहिं बाग ने कराया था, जो मोती कटरा में डी.ए.वी.इण्टर कॉलेज मार्ग पर स्थित है। इसमें दाऊजी की काले कसौटी के पत्थर और रेवती जी की श्वेत संगमरमर की सुन्दर और मोहक प्रतिमाएँ हैं।

दाऊजी मन्दिर—यह मन्दिर सदरभट्टी के चौराहे पर स्थित है, जिसका निर्माण कलार समाज द्वारा कराया गया है। इस मन्दिर के पाषाण का द्वार और शिखर पर उत्कीर्ण फूल-पत्तियाँ, बेल-बूटे, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ देखती ही बनती हैं।

दरियानाथ का मन्दिर—राजामण्डी के मुख्य बाजार में नाथ सम्प्रदाय का दरियानाथ का मन्दिर है। सन् 1761 में भरतपुर के जाट राजा सूरजमल का आगरा पर अधिकार हो गया था। उस राजामण्डी में कनफट्टे बाबा दरियानाथ की बगीची थी। कहा जाता है कि जाट राजा की कृपा से एक बहुत बड़ी चिलम रखवा दी गयी, जिसमें हर समय एक सेर चरस भरा रहता था। इसके साथ ही एक बड़े डोल में दूध भरा रहता था। जो भी इस चिलम से एक भरपूर दम खींच लेता था, उसे एक लोटा भरकर दूध पीने को दिया जाता था। इस मन्दिर में भैरव जी की प्रतिमा लगी है।

दुःखहरण हनुमान मन्दिर—यह मन्दिर आगरा कॉलेज के पीछे से मोती कटरा जाने वाले मार्ग पर स्थित है। इसकी स्थापना सन् 1980 में महन्त वीरभान नादिया बाबा ने की थी।

धंधेश्वर महादेव मन्दिर—मैनागेट पथवारी में स्थित यह मन्दिर लगभग 125 साल पुराना है। अग्रवाल परिवार द्वारा स्थापित इस मन्दिर में सबसे पहले भगवान शिव की प्रतिमा थी। कालान्तर में हनुमान जी आदि देवी-देवताओं की प्रतिमा स्थापित की गयी हैं।

धनकामेश्वर मन्दिर—यह प्राचीन मन्दिर गोकुलपुरा पुलिस चौकी के पास तथा अशोकनगर के छोर पर एक मैदान में स्थित है। यह शिव मन्दिर है, जो वर्तमान में जमीन में कई फुट की गहराई में बना हुआ है। इसमें शिवलिंग की प्रतिमा है।

नीलकण्ठ महादेव मन्दिर—यह मन्दिर रेलवे के सिटी स्टेशन मार्ग से लगे मुहल्ले नीलकण्ठ महादेव में स्थित है। भगवान शिव का यह मन्दिर काफी प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसका पूरा नाम 'छत्रपति प्राचीन नीलकण्ठ महादेव

मन्दिर' है। इस मन्दिर के नाम पर मुहल्ले को नीलकण्ठ महादेव कहा जाता है। इस मन्दिर की प्रमुख प्रतिमा काले कसौटी पत्थर से बनी 'नन्दी पर सवार शिवलिंग' की है जो कोई डेढ़ हजार साल पुरानी बतायी जाती है। मन्दिर में गर्भगृह के अन्दर गर्भगृह है। मन्दिर परिसर में गणेश जी, रिद्धि-सिद्धि की प्रतिमाएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं। इनके अतिरिक्त गंगा मन्दिर, हनुमान जी, भैरव जी, पथवारी माता, शेरों वाली माता, गणेश, कार्तिकेय, पार्वती की प्रतिमाएँ हैं। एक लाल पत्थर का शिवलिंग भी है। मन्दिर परिसर में चार महन्त भाइयों—बलभद्रपुरी, गोपीनाथपुरी, हेतनपुरी, चन्द्रापुरी की समाधियाँ हैं। इनमें से बलभद्रपुरी ने जीवित समाधि ली थी। इस मन्दिर के द्वारपालों की प्रतिमाएँ पुरातत्त्व विभाग द्वारा 700-800 वर्ष पुरानी अनुमानित की हैं। कहा जाता है कि शिवाजी को मुगल बादशाह औरंगजेब की कैद से निकालकर नीलकण्ठ महादेव ले जाया गया । वहाँ से शिवाजी मथुरा मार्ग पहुँच गए, जहाँ उनके अनुचर घोड़े लिए उनकी प्रतीक्षारत थे।

पंचभैरव (पंचकुइयाँ)—तहसील मार्ग पर टीले पर स्थित यह मन्दिर और बगीची सैकड़ों वर्ष पुरानी हैं। यहाँ भैरव जी की पाँच प्रतिमाएँ हैं, इसलिए इस मन्दिर का नाम 'पंच भैरव' पड़ गया है। इस मन्दिर के प्रमुख सबसे बड़े मन्दिर में प्राचीन भैरव प्रतिमा काष्ठ से निर्मित है और इस मन्दिर का शिखर भी काष्ठ का ही बना हुआ है। बताया जाता है कि जब मुगल बादशाह औरंगजेब मन्दिरों को ध्वस्त करा रहा था तब यह मन्दिर शिखर के छोटे होने और जंगली वृक्षों से घिरे होने की वजह से मुगल सैनिकों की नजरों से ध्वस्त होने से बच गया। यह मन्दिर राजा भर्तृहरि के भाई ने बनवाया था। बाद में बीकानेर के राजा ने इसका जीर्णोद्धार कराया और इस मन्दिर की व्यवस्था के लिए नियमित रूप से धन का प्रबन्ध किया। बीकानेर के शासक की ओर से ही इस मन्दिर की पूजा-अर्चना नागर ब्राह्मण पुजारी किया करते थे।

पंचमुखी महादेव मन्दिर—यह शिखरयुक्त मन्दिर मानपाड़ा के 3/46 आवास में स्थित है। यहाँ जलहरी में पंचमुखी महादेव और उनका परिवार, इनके पास ही जलहरी में रामेश्वर महादेव की प्रतिमा भी है। इस मन्दिर के परिसर में धर्मराज, यमराज की प्राचीन प्रतिमाओं के साथ-साथ देवी माता, हनुमानजी, काल भैरव, विकट भैरव की मूर्तियाँ लगी हैं।

पंचमुखी हनुमान मन्दिर—बाग मुजफ्फर खाँ में सेण्ट जोन्स कॉलेज के निकट इस मन्दिर में पंचमुखी हनुमान की बड़ी मूर्ति आकर्षण का केन्द्र है।

पथवारी देवी—गुदड़ी मंसूर खाँ स्थित यह मन्दिर लगभग 80 साल पुराना बताया जाता है। चूँकि यह मन्दिर रास्ते (पथ) में बना है, इसी कारण इसे 'पथवारी' देवी मन्दिर कहा जाता है। इसी की वजह से ही यहाँ के मुहल्ले का नाम 'पथवारी' पड़ गया है।

पृथ्वीनाथ महादेव मन्दिर—यह प्राचीन मन्दिर आगरा नगर के शाहगंज में फतेहपुर सीकरी मार्ग पर बना हुआ है। इस मन्दिर के विषय में कहा जाता है कि दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता का हरण कर जब दिल्ली वापस लौट रहे थे, तब उन्होंने इसी स्थान पर रात्रि प्रवास किया था। उसी समय यह मन्दिर पृथ्वीराज चौहान ने बनवाया था। इसीलिए इस महादेव मन्दिर को 'पृथ्वीनाथ महादेव मन्दिर' कहा जाता है। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार भी मराठों ने अपने शासन काल में कराया था। यहाँ सावन के अंतिम सोमवार को मेला लगता है।

बटेश्वरनाथ मन्दिर—आगरा से 70 कि.मी. और शिकोहाबाद से 20 कि.मी. आगरा के पूर्व में यमुना नदी के किनारे यह प्राचीन तीर्थस्थल अवस्थित है। अपने देश में काशी के बाद बटेश्वर में ही यमुना तट पर 101 प्राचीन शिव मन्दिर हैं। यमुना के तट पर बने विशाल घाट तथा उन पर बने 101 मन्दिर अद्‌भुत दर्शनीय दृश्य उपस्थित करते हैं। कनिंघम के अनुसार बटेश्वर में 107 मन्दिर थे, जिनमें 9 मन्दिर प्रमुख माने जाते थे। यह मन्दिर सोलहवीं

शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक बने रहे। इन मन्दिरों के स्थापत्य पर विभिन्न शैलियों का प्रभाव इस बात का संकेत है कि इन मन्दिरों का निर्माण अलग-अलग समय में अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा कराया गया है। इस स्थान का बटेश्वर नाम भी 300-400 वर्ष पुराना होने का अनुमान है। राजा महेन्द्रसिंह ने बटेश्वर को फिर से बसाया और अपने राज्य की राजधानी बनाया। फिर यहाँ पर शिव के दो विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया। भदावर के राजा बदन सिंह ने सन् 1646 में बटेश्वरनाथ महादेव मन्दिर का निर्माण कराया था। बटेश्वर में यमुना नदी की धारा को मोड़ा था और पक्का घाट बनवाया, जो अब भी 'बदनवाहा' कहा जाता है। लोगों में यह विश्वास है कि बटेश्वर में यमुना स्नान तथा भगवान शंकर की पूजा-अर्चना से मनोकामना पूर्ण होती है। शरद् ऋतु में कार्तिक पूर्णमासी को स्नान पर्व होता है जिसमें स्नान के पश्चात् लोग बड़ी संख्या में यहाँ के मन्दिर में पूजा-पाठ करते हैं। इस अवसर पर यहाँ लगने वाला पशु मेला भी बहुत प्रसिद्ध है।

बल्केश्वर महादेव मन्दिर—यह मन्दिर आगरा नगर के उत्तर-पूर्व में अवस्थित है। इसके बारे में कहा जाता है कि इस क्षेत्र में बिल्व (बेल) के वृक्षों का जंगल था। इस कारण इस क्षेत्र का नाम बल्केश्वर पड़ा। इस मन्दिर का निर्माण राजा मुंज की आज्ञा से उसके सामन्त वीरभद्र ने कराया था। इसके विपरीत कुछ इतिहासवेत्ता इस मन्दिर का निर्माण राजा भोज द्वारा कराया हुआ बताते हैं। कालान्तर में हूणों और मुगलों द्वारा इस मन्दिर का विध्वंस कराये जाने के पश्चात् सन् 1780 में मराठा शासक महादजी सिन्धिया ने इसका जीर्णोद्धार कराया था। यहाँ सावन के दूसरे सोमवार को मेला लगता है।

बागेश्वरनाथ मन्दिर—बाग मुजफ्फर खाँ स्थित यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है। इस मन्दिर की स्थापना टोडरमल ने की थी। इस मन्दिर में भैरव जी की प्रतिमा के अलावा भगवान शिव का परिवार, इसमें शिवजी की मूर्ति पीतल की और गणेश, पार्वती, कार्तिकेय, नन्दी की सफेद संगमरमर की मूर्तियाँ लगी हैं। मन्दिर परिसर में पीपल का बहुत पुराना वृक्ष है।

बाबा लालनाथ का मन्दिर—वर्तमान प्रतापपुरा चौराहे से कैण्ट रेलवे स्टेशन जाने वाले मार्ग पर रानी झाँसी की प्रतिमा के पीछे नामनेर स्थित बाबा लालनाथ की बगीची, मन्दिर तथा समाधि हैं। समाधि के पीछे तालाब और दो सुन्दर छतरियाँ हैं। सन् 1784 से 1803 तक आगरा और उसके आसपास के क्षेत्र में मराठों का आधिपत्य हो गया। उन दिनों दौलतराव सिन्धिया को जलोदर हो गया। किसी ने उनसे बाबा लालनाथ के चमत्कारों का उल्लेख किया। तब वे बाबा लालनाथ की शरण में आए। बाबा ने सिन्धिया के पानी भरे पेट पर पाँव रखकर अलख जगाया। वे बोले—''अलख निरंजन।'' उसी दिन से सिन्धिया का रोग ठीक हो गया। इस पर उन्होंने बाबा को अपना बहुमूल्य शाल ओढ़ाया, जिसे बाबा ने धूनी में झोंक दिया। यह देखकर सिन्धिया को बुरा लगा। तब बाबा हँसे और अपनी धूनी से चिमटे से पकड़ कई शाल निकालकर दिखाए। इससे सिन्धिया का घमण्ड चूर-चूर हो गया और उनके पाँव पकड़ लिए। महाराज सिन्धिया ने बाबा लालनाथ को एक बड़ा भूखण्ड दिया, जो हाथीखाने के स्टेशन से लेकर सदर बाजार तक फैला था। बाबा का मठ बनवाया। वर्तमान में मन्दिर परिसर में शिव परिवार और काली माता के मन्दिर के साथ-साथ समाधियाँ बनी हुई हैं।

बाल भैरव मन्दिर—यह मन्दिर गुड़ की मण्डी, फुलट्टी बाजार में स्थित है। पहले यह 'भूतेश्वर महादेव मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध था, जो संवत् 1148 में स्थापित किया गया था। यहाँ भगवान भैरव के बालरूप की प्रतिमा है इसलिए इस मन्दिर को अब 'बाल भैरव' का मन्दिर कहा जाता है। बताया जाता है कि मुगल काल में लाल किले की खाई में भैरव की प्रतिमा निकली थी, जिसको गाड़ी में लादकर फुलट्टी बाजार के रास्ते कहीं ले जाया जा रहा था। उसी समय यकायक यह प्रतिमा गाड़ी से नीचे गिर गयी। फिर कई ताकतवर लोग भी उसे एक साथ भी नहीं उठा सके। उस समय के भूतेश्वर महादेव के महन्त बाबा दौलतनाथ को सपने में बाबा भैरवनाथ

दिखायी दिये, जो कह रहे थे कि मुझे अपने यहाँ ले आ। दूसरे दिन सुबह बाबा दौलतनाथ अकेले ही उस प्रतिमा को उठा लाए। उन्होंने ही बाल भैरव की प्रतिमा इस मन्दिर में स्थापित करा दी।

बाल भैरवनाथ मन्दिर (चिन्ताहरण महादेव)—यह मन्दिर गोविन्दपुरी, जयपुर हाउस से जुड़ा हुआ है। यह स्थान गेलोनाथ बाग का तालाब था। इसमें सैकड़ों साल पुराने भैरव जी तथा चिन्ताहरण महादेव जी के मन्दिर और एक बड़ा तालाब था। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार हाड़ा रानी ने कराया था। वर्तमान में इस परिसर में रामदरबार का मन्दिर है जिसमें गणेश जी और लक्ष्मी जी की भी प्रतिमाएँ लगी हैं।

बिहारी जी मन्दिर—यह मन्दिर गोकुलपुरा की ठठेरान गली में स्थित है जिसका निर्माण संवत् 1138 में हुआ है। इसमें मुख्य रूप से राधाकृष्ण की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। इस मन्दिर में सन् 1985 में माँ दुर्गा का छोटा-सा मन्दिर भी बनवाया गया है।

बिहारी जी मन्दिर—कचौड़ा बाजार, बेलनगंज स्थित इस मन्दिर का निर्माण तिवारियों ने उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में कराया था।

ब्रजबाबा या दुर्वासा ऋषि का मन्दिर—फतेहपुर सीकरी विकासखण्ड में फतेहपुरी सीकरी से कोई 10 कि. मी. कागारौल मार्ग पर स्थित दूरा ग्राम में ब्रजबाबा या दुर्वासा ऋषि का मन्दिर है जो लगभग 775 साल पुराना बताया जाता है। ये दुर्वासा ऋषि महाभारत काल के बताये जाते हैं। इस मन्दिर में उन्हीं की प्रतिमा लगी है। जब इस गाँव के लोग राजस्थान के माउण्ट आबू से आकर पहले फतेहपुर सीकरी के गाँव सामरा में रुके थे। उसके बाद इसी जगह पर आकर बस गए। उसी समय से वे लोग दुर्वासा ऋषि की पूजा-अर्चना करते आ रहे हैं। इसी कारण इस गाँव का नाम दुर्वासा से बिगड़कर 'दूरा' हो गया। अब इस गाँव के लोग जब भी कोई शुभ कार्य करते हैं, तब सबसे पहले वे ब्रजबाबा यानी दुर्वासा ऋषि की पूजा करना नहीं भूलते।

ब्रह्मकुमारी आश्रम—आगरा में अब ब्रह्मकुमारियों का केन्द्र बन गया है। इसका मुख्य केन्द्र तथा प्रचार सभा कमला नगर में है जो महात्मा गाँधी मार्ग आगरा कॉलेज के खेल मैदान के सामने थी। इसके पहले गाँधी नगर, विजय नगर कॉलोनी में भी थी। वर्तमान में इसके आगरा में कई केन्द्र हैं।

भूतेश्वरनाथ महादेव मन्दिर—शाहगंज में मल्ल की बगीची में स्थित यह मन्दिर सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है। यहाँ पहले श्मशान था। उसके पास पहले किशनलाल पहलवान ने अखाड़ा बना लिया। फिर यहाँ पहले भगवान शिव के परिवार का मन्दिर स्थापित किया गया। कालान्तर में दक्षिण मुखी हनुमान मन्दिर, शेरों वाली माता का मन्दिर, राधाकृष्ण का मन्दिर, सन्तोषी माता, काली माता, शनिदेव के मन्दिर भी बना दिये गए।

भैरव मन्दिर—बेलनगंज के स्ट्रैची पुल के ठीक नीचे स्थित प्राचीन मन्दिर है। इसमें हनुमान, शिव जी की मूर्तियाँ भी लगी हुई हैं। स्ट्रैची के पास आजादी के बाद बटुक भैरव, हनुमान जी, काली माँ की बड़ी प्रतिमाएँ स्थापित कर मन्दिर बनाया हुआ है।

भैरव मन्दिर—यह प्राचीन मन्दिर भैरों बाजार, बेलनगंज से जीवनी मण्डी, जलकल संस्थान (वाटरवर्क्स) की ओर जाने वाले मार्ग पर बना हुआ है। यह आगरा का दूसरा प्राचीन भैरव मन्दिर बताया जाता है। इसमें भैरव जी की आकर्षक प्रतिमा विद्यमान है।

मंगलेश्वरनाथ मन्दिर—राजामण्डी में नाथ सम्प्रदाय का प्राचीन मन्दिर है। कहा जाता है कि इसकी स्थापना विक्रम संवत के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य द्वारा की थी। पुरातत्त्व विभाग के अनुसार यहाँ स्थापित भैरवनाथ की प्रतिमा 500 साल तथा हनुमान की मूर्ति 300 साल पुरानी है। सन् 1892 में जानी बिहारीलाल ने बल्का बस्ती में मंगलेश्वर तालाब का निर्माण कराया, जिसमें बादामी रंग के पत्थर लगे हैं।

मदन मोहन मन्दिर—काली बाड़ी की ओर से मदनमोहन दरवाजा जाने पर थाने से पहले बायें हाथ पर एक

सँकरी गली में यह मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर में मदनमोहन की अलौकिक प्रतिमा है। मन्दिर में मदनमोहन की प्रतिमा काले कसौटी के पत्थर और राधारानी की पीतल की प्रतिमा है जो अत्यन्त सुन्दर और मोहक हैं। यह मन्दिर चार सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है, इसे मथुरा के गोस्वामियों ने बनवाया था, लेकिन अब इस मन्दिर का पुरातन स्वरूप नहीं रहा है। इस मन्दिर के नाम से इस क्षेत्र का नाम 'मदन मोहन दरवाजा' कहलाता है, किन्तु इस समय यहाँ किसी तरह का दरवाजा नहीं है। कहते हैं कि महादजी सिन्धिया ने अपने शासन काल में इस मन्दिर की आर्थिक सहायता की व्यवस्था की थी।

मन:कामेश्वर महादेव मन्दिर—यह मन्दिर रावतपाड़े में स्थित है जो इस समय आगरा का सबसे प्रसिद्ध शिव मन्दिर है। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण रावली मन:कामेश्वर के बाद हुआ है। रावतपाड़े के विध्वंस के पश्चात् पुन: इसे बसाया गया। यहाँ धनाढ्य सेठों ने अपनी हवेलियाँ तथा दुकानें बनवायीं। इन्हीं में से एक सेठ रावली के मन:कामेश्वर मन्दिर पूजा-अर्चना हेतु जाया करते थे, किन्तु वृद्धावस्था के कारण चलने-फिरने में असमर्थ हो गए। ऐसी स्थिति में रावतपाड़े के एक सिरे पर शिवलिंग स्थापित कराया, जिसका नाम भी रावली वाले इष्टदेव के नाम पर 'मन:कामेश्वर महादेव' रख लिया। उक्त तथ्य के विपरीत इस मन्दिर के महन्त कुछ दूसरा ही इतिहास बताते हैं। उनके अनुसार यह मन्दिर लगभग पाँच हजार साल पुराना है। यहाँ पहले श्मशान घाट हुआ करता था और स्वयं शिव ने कृष्ण जन्म होने पर उनके दर्शन करने की मनोकामना पूरी होने पर यहाँ एक शिवलिंग स्थापित किया। उनके कथन के अनुसार पहले इस मन्दिर के साथ यमुना का तट था।

महाकालेश्वरनाथ मन्दिर—राधानगर, सिकन्दरा स्थित माँ कल्याणी चैरिटेबिल ट्रस्ट द्वारा संचालित यह मन्दिर आठ दशक पुराना बताया जाता है। यह मन्दिर महादेव शंकर जी का मन्दिर है, जिसमें हनुमान जी, भैरव, कैला माँ, जाहरवीर बाबा, पथवारी, काली माता इत्यादि की प्रतिमाएँ हैं।

मुरलीमनोहर मन्दिर—यह मन्दिर गोकुलपुरा कंस दरवाजा में बना हुआ है। राधाकृष्ण का यह मन्दिर दो सौ-ढाई सौ साल पुराना है, इसकी प्रतिमाएँ पाषाण की बनी हुई हैं। इस मन्दिर परिसर में अब भगवान शिव का परिवार और हनुमान जी की मूर्तियाँ भी लगी हुई हैं।

राजाजी का मन्दिर—बल्का बस्ती स्थित राजा सूरजमल की रानी किशोरी देवी द्वारा बनवाया था। यह मन्दिर राजस्थानी स्थापत्य शैली में निर्मित है। इस मन्दिर के आसपास पत्थरों से निर्मित हवेलियाँ थीं जिनमें राजा सूरजमल के कर्मचारियों के आवास थे। इस मन्दिर में भगवान राम, सीताजी, लक्ष्मण जी की अष्टधातु की बड़ी प्रतिमाएँ लगी हैं। बाद में इस मन्दिर के परिसर में भगवान शिव जी का परिवार, दुर्गा माँ, शीतला माता, पथवारी माता, राधाकृष्ण, गिर्राज जी, भैरव जी, हनुमान जी की प्रतिमाएँ स्थापित कर दी गई हैं। बताते हैं इस मन्दिर में एक सुरंग थी जो फतेहपुर सीकरी के पास कहीं खुलती थी जो विलुप्त हो गयी है। इससे जुड़ी भूमि खेरिया हवाई अड्डे के निर्माण के दौरान अधिग्रहीत कर ली गयी थी।

राजेश्वर महादेव मन्दिर—यह मन्दिर बाग राजपुर, शमसाबाद मार्ग पर स्थित है। भगवान शिव का यह मन्दिर प्राचीन और प्रसिद्ध है, जो आगरा के चौथे कोने पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण बंजारे द्वारा कराया गया बताया जाता है। इस मन्दिर में सावन के पहले सोमवार को मेला आयोजित किया जाता है।

राधाकृष्ण मन्दिर—रावतपाड़ा में सन् 1890 के बीच गोटे वालों का मन्दिर, खारजी वालों का मन्दिर और लल्लू लाल के राधाकृष्ण मन्दिरों का निर्माण मन:कामेश्वर गली के दोनों ओर हुआ।

राधाकृष्ण मन्दिर—यह मन्दिर आलमगंज, लोहामण्डी में स्थित है, इसमें राधाकृष्ण की भव्य प्रतिमाएँ विराजमान हैं। यह मन्दिर पाँच दशक से अधिक पुराना नहीं है। इसका निर्माण सन् 1970 से 1978 के मध्य शिव वैश्य युवक संघ द्वारा कराया गया है। इसका लोकार्पण 1987 को हुआ है।

राधामोहन मन्दिर—मानपाड़ा स्थित यह मन्दिर लगभग सवा सौ साल पुराना है। इसका निर्माण श्रीमती मग्गीदेवी धर्मपत्नी स्व.राधेलाल टावरी ने सन् 1898 में कराया था। इस मन्दिर में राधाकृष्ण की पीतल की प्रतिमाएँ हैं।

राधावल्लभ मन्दिर—यह मन्दिर रावतपाड़ा के मुख्य बाजार में मन:कामेश्वर की गली के समीप 16/72 मकान में स्थित है जो सम्वत् 1900 यानी सन् 1842 का निर्मित है। इसमें राधाकृष्ण की सुन्दर अष्टधातु की प्रतिमाएँ हैं।

रामचंद्र जी का मन्दिर—हींग की मण्डी में रॉक्सी सिनेमा से थोड़ा आगे रामचन्द्र जी महाराज का काफी प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिर में महादास नामक बाबा का आवास था। महादजी सिन्धिया इन्हीं बाबा के पास आते थे। इस मन्दिर को सिन्धिया सरकार ने भूमि भी प्रदान की थी। इस मन्दिर में भगवान राम और सीता जी की प्रतिमाएँ लगी हैं।

रामचंद्र जी का मन्दिर—जटपुरा, लोहामण्डी स्थित रामचन्द्र जी का यह मन्दिर कई साल पुराना है। इस मन्दिर में भगवान रामचन्द्र जी, सीताजी, लक्ष्मण जी की प्रतिमाएँ हैं।

रावली मन:कामेश्वर महादेव मन्दिर—आगरा नगर की जीवन रेखा कहे जाने वाले महात्मा गाँधी मार्ग पर कलेक्टरी से थोड़ा आगे पश्चिम दिशा की ओर रेल की पटरियों के किनारे यह महादेव मन्दिर अवस्थित है। भगवान महादेव का यह लगभग पाँच सौ साल पुराना मन्दिर है जिसे मुगल सम्राट अकबर के सेनापति राजा मानसिंह कछवाहे ने सन् 1587 में बनवाया था। जब काबुल में मुगल सम्राट अकबर के छोटे भाई मुहम्मद हाकिम ने उससे बगावत करने की कोशिश की, तब अकबर ने 27 जून, सन् 1581 में राजा मानसिंह की देखरेख में शहजादे मुराद को काबुल भेजा। वैसे अकबर खुद भी सिन्धु नदी तक पहुँच गया। अटक के किले की नींव भी उसने अपने हाथों से ही रखी, किन्तु मानसिंह ने अटक पार करके काबुल की ओर रुख किया। अटक के किले के लिए जब पत्थर एकत्र किये जा रहे थे, तब धरती में से एक शिवलिंग निकला, जिसे राजा मानसिंह के डेरे पर भिजवा दिया। उन्होंने भगवान शिव से काबुल विजय करने की मन्नत माँगी थी, वह मनोकामना पूरी हो गयी। इसलिए जब राजा मानसिंह काबुल से वापस आगरा आए, तब वे इस शिवलिंग को भी अपने साथ ले आए। फिर यहाँ आकर उन्होंने शिव-मन्दिर की स्थापना की। जिसमें अपने साथ अटक से लाए शिवलिंग को पधार दिया और इसका नाम 'मन:कामेश्वर महादेव का मन्दिर' रखा। इस स्थान को तब 'जयपुरा' कहा जाता था। कहा जाता है कि जब अँग्रेज शासकों ने रेल की पटरियाँ बिछाने के लिए मन्दिर को हटाने का प्रयास किया, तब रेल पटरियाँ बिछाने के कार्य में अनेक बाधाएँ आने लगीं। इस स्थिति से परेशान होकर उन्होंने रेल की पटरियाँ इस तरह बिछायीं कि मन्दिर को किसी तरह की क्षति नहीं पहुँचे।

रेणुका आश्रम—यह राष्ट्रीय राजमार्ग-2 (आगरा-दिल्ली) पर स्थित रुनकता एक पौराणिक स्थल है। यह महर्षि परशुराम की माता तथा महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका के नाम पर है। यहाँ यमुना के तट पर परशुराम, जमदग्नि और रेणुका का मन्दिर है। इनके अतिरिक्त यहाँ कई दूसरे देवी-देवताओं के मन्दिर बने हैं। कुछ साल पहले शनिदेव का मन्दिर भी बन गया है।

लकवा दादा का मन्दिर—यमुना किनारे रेल पुल के पास स्थित है। सन् 1785 में हमदानी को हराकर महादजी सिन्धिया ने आगरा पर अधिकार कर लिया। उन्होंने लकवा दादा को आगरा का किलेदार बनाया था। उसी दौरान लकवा दादा ने एक मन्दिर का निर्माण कराया। इस मन्दिर के लिए मूर्तियाँ दक्षिण भारत से मँगवाकर प्राण प्रतिष्ठा करायी गयी थी।

लक्ष्मीनारायण मन्दिर, टीकरी—यह गाँव फतेहपुर सीकरी से कागारौल जाने वाले मार्ग पर लगभग 12 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। इस गाँव में कोई डेढ़ सौ वर्ष पुराना 'लक्ष्मीनारायण' का मन्दिर है। जिसमें लक्ष्मी जी

और भगवान विष्णु जी की प्रतिमाएँ लगी हैं। इसके समीप ही एक अन्य प्राचीन मन्दिर है जिसमें शिवलिंग और देवी माँ की प्रतिमा भी लगी हैं। इसी गाँव में एक अन्य विशालकाय शिवलिंग है।

लाट भैरव मन्दिर—यह मन्दिर लोहामण्डी थाने के बराबर में स्थित है जिसमें भैरव जी की बड़ी प्रतिमा लगी है। नवम्बर माह में मेला लगता है और हर रविवार को बड़ी संख्या में भक्तजन दर्शन को आते हैं।

वनखण्डी महादेव मन्दिर—यह मन्दिर गैलाना के ग्राम के पीछे यमुना के किनारे अवस्थित है। इसके बारे में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि यह शिवलिंग स्वयं प्रकट हुआ था। कहा जाता है कि वर्षों पूर्व यहाँ लाखा नाम का बंजारा आकर रुकता था। वह व्यापार के लिए सामान एक लाख बैलों पर लाद कर चलता था। उसी ने इस शिव मन्दिर का निर्माण कराया था। यहाँ के शिवलिंग को ध्यान से देखने पर वह हर पल अपना रंग बदलता प्रतीत होता है। आगरा में सावन माह के सोमवारों को जिन सात शिव मन्दिरों की परिक्रमा की जाती है उनमें यह भी सम्मिलित है।

विट्ठलनाथ जी का मन्दिर—यह मन्दिर वैद्य रामदत्त गली, लुहार गली में स्थित है जो सन् 1888 का बना है। इस मन्दिर में सन् 1803 में यमुना किनारे से जो प्रतिमाएँ गोकुलपुरा ले जाई गई थीं उन्हें इस मन्दिर में स्थापित किया गया। इसमें विट्ठलनाथ की प्रतिमा काले कसौटी के पत्थर और रुक्मणि जी की श्वेत संगमरमर से निर्मित है। इसी मन्दिर परिसर में लक्ष्मीनारायण और लक्ष्मी जी की मूर्तियाँ क्रमशः काले कसौटी के पत्थर तथा श्वेत संगमरमर की बनी हैं। इनके अतिरिक्त मानसी गंगा गोवर्द्धन की कसौटी प्रतिमा भी विराजमान है।

शिव मन्दिर—यह मन्दिर जामा मस्जिद के निकट मानपाड़ा मुहल्ले में स्थित है। यहाँ पान के आकार की दुहरी जलहरी में 'दो शिवलिंगों वाला' शिव मन्दिर है, जो मराठा काल में निर्मित बताया जाता है।

शिवलिंग बुर्ज—स्ट्रेची रेल पुल के पास यमुना नदी में एक आकर्षक बुर्ज है जो तीन हिस्सों में बना है। इसमें शिवलिंग है। बताया जाता है कि इस बुर्जी का निर्माण सन् 1906 में फतेहबाद के रहने वाले रामस्वरूप ब्रह्मचारी ने कराया था। उन्हें किसी अपराध की सजा से बचने के लिए काफी समय छुपकर रहना पड़ा। इस मन्दिर तक आना-जाना नाव से ही सम्भव था।

शीतला देवी मन्दिर—यह मन्दिर शीतला गली से काली बाड़ी की ओर जाने वाले मार्ग पर स्थित है, जो सौ साल से अधिक पुराना बताया जाता है। यहाँ पहले बगीची और अखाड़ा हुआ करता था।

शीतला देवी मन्दिर—खन्दारी चौराहे से दयालबाग की ओर जाने वाले केन्द्रीय हिन्दी संस्थान मार्ग पर नगला बूढ़ी में स्थित है। शीतला माँ का मंदिर काफी पुराना है। कहा जाता है कि शीतला माता की पूजा से बच्चों के चेचक नहीं निकलती है।

श्याम मन्दिर—राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर सिकन्दरा के पास सूरजभान की बगीची स्थित 'श्यामजी का मन्दिर' अत्यन्त सुन्दर और अद्वितीय है। आगरा जनपद में इस शैली और विशिष्टता का दूसरा कोई मन्दिर नहीं है। इस मन्दिर का निर्माण सन् 1861 में हुआ था। कभी बहुत विशाल क्षेत्र में इस मन्दिर का परिसर था जो अब छोटे से भू-भाग में सिमटकर रह गया है। इस बगीची के आकर्षक दरवाजे सन् 1863 के बने हैं जो जयपुर के हवा महल के किसी हिस्से का आभास कराते हैं। यह दरवाजा हवा महल के किसी भाग सरीखा दिखायी देता है।

श्याम मन्दिर—आगरा के बिजलीघर चौराहे से छीपीटोला की ओर जाने वाले मार्ग पर श्यामजी का अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध मन्दिर है। मुगल सम्राट औरंगजेब ने अपनी हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़े जाने की नीति के तहत इसे भी ध्वस्त कराने का फरमान जारी किया और इस मन्दिर के पुजारियों को बन्दी बनवा लिया। लेकिन उस रात औरंगजेब ठीक से शयन नहीं कर सका। तब उसने अपना आदेश वापस ले लिया। इसके साथ मन्दिर के व्यय के लिए एक रुपया रोज दिये जाने की व्यवस्था कर दी।

शृंगी ऋषि का आश्रम—यह राष्ट्रीय राजमार्ग-2 (आगरा-दिल्ली) पर सूर सरोवर (कीठम झील) से थोड़ा आगे चलकर एक टीले पर बना है। यहाँ स्थित मन्दिर में श्रृंगी ऋषि की प्रतिमा है। मन्दिर का घण्टा बजाये जाने पर उसकी प्रतिध्वनि से पूरा क्षेत्र गुंजायमान होता है। महाभारत काल में श्रृंगी ऋषि यहाँ तपस्या कर रहे थे, उस समय शिकार खेलते हुए जब परीक्षित ने श्रृंगी ऋषि से अपने शिकार के बारे में जानना चाहा, तो वे शान्त रहे। इस पर कुपित होकर परीक्षित ने एक मरे हुए साँप को उनके गले में डाल दिया। इससे क्रुद्ध होकर उनके पुत्र ने परीक्षित को सर्प से काटे जाने का शाप दे दिया था। सन् 1978 में इस टीले के पुरातत्त्व विभाग सर्वेक्षण के समय महाभारत और मौर्यकालीन ईंट तथा विचित्र भूरे रंग के पात्र प्राप्त हुए थे जिनसे इस स्थान की अति प्राचीनता की पुष्टि होती है।

श्रीनाथ जी की बैठक—आगरा की छिली ईंट घटिया पर श्रीनाथजी की बैठक है। इसके बारे में कहा जाता है कि मुगल सम्राट औरंगजेब की हिन्दुओं के मन्दिर तोड़ने की नीति को देखते हुए हिन्दू धर्माचार्य अपनी प्रतिमाओं को सुरक्षित स्थानों पर ले जाने लगे। यही देखते हुए सन् 1669 में आश्विनी पूर्णिमा की अर्द्धरात्रि को भक्तिन गंगा बाई श्रीनाथ जी को गोवर्द्धन से जब रथ में बैठाकर आगरा, कोटा, बूँदी होते हुए मेवाड़ ले जा रही थीं तब उनका पड़ाव छिलीईंट घटिया पर था। वही स्थान श्रीनाथ जी की बैठक के नाम से जाना जाता है।

सत्यनारायण मन्दिर—सिटी स्टेशन मार्ग पर स्थित नीलकण्ठ मुहल्ले में स्थित इस मन्दिर का निर्माण बम्बई के सेठ बालजी भाई रणछोड़ एवं रणछोड़दास वरेशी ने पुत्र प्राप्ति के उपलक्ष्य में मिति माह वदी 5 गुरुवार सम्वत् 1985 में कराया था, जिसे उन्होंने ठाकुर सत्यनारायण जी को 28 फरवरी, सन् 1929 को समर्पित किया था। यह भगवान सत्यनारायण का मन्दिर है, इसमें भगवान विष्णु और लक्ष्मीजी की प्रतिमा अत्यन्त मोहक और सुन्दर हैं। यह मन्दिर राजस्थानी शैली में निर्मित है।

सत्यनारायण मन्दिर—यह मनःकामेश्वर मन्दिर के पास 16/18, रावतपाड़ा में स्थित है जो लगभग दो सौ साल पुराना है। इस मन्दिर में भगवान सत्यनारायण की काले कसौटी के पत्थर से निर्मित प्रतिमा मध्य में और दायीं ओर लक्ष्मी और बायीं ओर बद्रीनारायण की मूर्तियाँ लगी हैं।

सामरा का हनुमान मन्दिर—फतेहपुर सीकरी खानवा मार्ग के मध्य ग्राम मण्डी मिर्जा खाँ से पश्चिम में स्थित सामरा गाँव में हनुमान जी का काफी प्राचीन मन्दिर है जो अपने क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध है।

सिद्धेश्वर हनुमान मन्दिर—बाग मुजफ्फर खाँ में सेण्ट जोन्स कॉलेज के पास स्थित यह मंदिर 40-45 साल पुराना है। जिसकी स्थापना पण्डित बुद्धदेव शर्मा द्वारा की गयी। इस मन्दिर में हनुमान जी की सुन्दर प्रतिमा है।

सीताराम मंदिर (चिड़िया वाला मन्दिर)—यह मन्दिर पीपलमण्डी के तिराहे यानी बारह टोंटी पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण सेठ शिवनाथ जी धूत इन्दौर की आर्थिक सहायता से स्थानीय डीडू माहेश्वरी समाज के सहयोग से सेठ शिवनाथ बावरी ने संवत् 1931 में कराया था। इस मन्दिर में सीता और रामचन्द्र जी की प्रतिमाओं के साथ-साथ शिव परिवार और हनुमान जी की मूर्तियाँ लगी हैं। पहले इस मन्दिर में बड़ी संख्या में चिड़ियाँ रहती थीं, इस कारण इसे 'चिड़िया वाला मन्दिर' भी कहा जाता है।

सोमेश्वरनाथ मन्दिर—यह मन्दिर मदिया कटरा से लोहामण्डी जाने वाले मार्ग पर स्थित है जो नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित और काफी पुराना है, लेकिन यहाँ कोई शिलालेख या बीजक नहीं लगा है। इस कारण मन्दिर के निर्माण वर्ष का पता लगाना कठिन है। काफी बड़े भू-भाग पर इस मन्दिर में भैरव प्रतिमा के साथ-साथ शिवजी तथा हनुमान जी की प्रतिमाएँ भी लगी हैं। इसके द्वार पर सन् 1978 जरूर लिखा है, इससे केवल यह ज्ञात होता है कि केवल द्वार का निर्माण उक्त वर्ष में हुआ है।

सोमेश्वरनाथ महादेव मन्दिर—गोकुलपुरा की मंसा देवी गली और आगरा कॉलेज के छात्रावास के पीछे यह

प्राचीन मन्दिर अवस्थित है। नागर ब्राह्मणों ने सोमेश्वरनाथ महादेव की प्रतिमा गुजरात से लाकर इस मन्दिर की स्थापना सन् 1643 में की थी। मुख्य मन्दिर में अष्टधातु की जलहरी में शिवलिंग (पाषाण) के साथ पार्वती जी, गणेश जी, नन्दी की प्रतिमाएँ लगी हैं। मन्दिर परिसर में दुर्गा जी का छोटा-सा मन्दिर है। मन्दिर के प्रांगण में पीपल के वृक्ष के नीचे भैरव जी की प्रतिमा भी लगी है। सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अँग्रेजी हुकूमत से तात्याँ टोपे सोमेश्वरनाथ महादेव मन्दिर में छिपकर रहे थे। यह सूचना एक कक्ष पर लगी पट्टिका में भी अंकित है। बताया जाता है कि तात्याँ टोपे की जानकारी होने पर अँग्रेज शासकों ने इससे कुपित होकर गोकुलपुरा की चाहरदीवारी को तोपों से उड़वा दिया। सन् 1899 में माधोराम, वन्देराम व्यास ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

हरमिलाप गीता भवन मन्दिर—यह मन्दिर सदर भट्टी के चौराहे पर दाऊजी के मन्दिर के सामने बना हुआ है। इसमें राधाकृष्ण, माता वैष्णो देवी, हनुमान जी की प्रतिमाएँ लगी हैं। यह मन्दिर भी कई दशक पुराना है।

हाटकेश्वरनाथ महादेव मन्दिर—गोकुलपुरा की ठठेरान गली में ही नागर ब्राह्मणों ने अपने कुलदेव हाटकेश्वरनाथ के मन्दिर की स्थापना सन् 1643 में की थी। यह प्रतिमा पहले लाल किले में थी, जिसे सम्वत् 1700 में झवर जी दवे लेकर आये थे। उनके वंशजों ने इस मन्दिर को सम्वत् 2027 में बनवाया था। इसकी मूल प्रतिमा नागर शैली की थी, जो खण्डित हो चुकी है। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार सम्वत् 2028 में कराया गया था। वर्तमान में मन्दिर में शिव परिवार के साथ-साथ हनुमान जी की प्रतिमा भी लगी है।

हरिहर नाथ मन्दिर—यह प्राचीन मन्दिर गोकुलपुरा की ठठेरान गली में स्थित है जो गुजराती ब्राह्मण पांड्या परिवार द्वारा बनवाया हुआ था। इसमें भगवान शिव की चतुर्मुख वाली प्रतिमा के साथ उनका परिवार भी है।

हनुमान मन्दिर—आगरा कॉलेज की ओर से आने तथा पुरानी इमरजेन्सी वाले रास्ते के जुड़ने के स्थान पर हनुमान जी का छोटा-सा मन्दिर है, इस मन्दिर के कारण ही इसे मोती कटरा का 'हनुमान चौराहा' कहा जाने लगा है। बताया जाता है कि सन् 1933 में लाला मोती लाल ने इस मन्दिर की स्थापना एवं जीर्णोद्धार कराया था। इस मन्दिर की बहुत मान्यता रही है।

हनुमान मन्दिर (पातालपुरी)—यह मन्दिर कसरेट बाजार, सेठ गली और सुभाष बाजार के छोर या तिराहे पर स्थित है। इस मन्दिर की स्थापना 2 अप्रैल सन् 1964 को महन्त राधेश्याम गौड़ द्वारा की गयी है। लेकिन वहीं जमीन से खुदाई में निकली इस प्रतिमा पर सन् 1447 अंकित है। यह दक्षिणमुखी हनुमान है और इनके नीचे मकरध्वज हैं।

हनुमान मन्दिर (लँगड़े की चौकी)—आगरा-कानपुर राजमार्ग संख्या-2 पर दक्षिण की तरफ का इलाका लँगड़े की चौकी कहलाता है। यहाँ हनुमान जी का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ हनुमान जी की प्रतिमा की स्थापना भक्त लँगड़े चौकीदार ने की थी। मुगल काल में यमुना से यहाँ तक एक बड़ी नहर बहती थी जिसमें नावों से माल लाया-ले जाया जाता था। उस माल पर चुंगी वसूलने के लिए एक चौकीदार नियुक्त किया गया, जो लँगड़ा था। उसी ने अपने आराध्य हनुमान जी की प्रतिमा लगायी थी। बाद में यहाँ लोगों ने मन्दिर का निर्माण कराया।

हँसना भैरव मन्दिर—यह मन्दिर नगला गोपी, वजीरपुरा, गाँधीनगर में स्थित है, यह मन्दिर तीन सौ से चार सौ साल पुराना है। यह मन्दिर अब भी जमीन से कई फुट ऊँचाई पर बना है। इसके मुख्य मन्दिर कक्ष का जीर्णोद्धार सन् 1940 में श्रीमती देवकी बीबी धर्मपत्नी लाला लक्ष्मणदास ने कराया। मुख्य कक्ष में भैरव नाथ और देवी माँ की प्रतिमाएँ लगी हैं। सन् 1928 से पहले यह मन्दिर 'भवन' के नाम से जाना जाता था। बाबा रामनाथ ने इस मन्दिर की स्थापना की थी।

[ब०सिं०सि०]

आचमन

पूजा, जप, तप आदि प्रत्येक कर्म में आचमन करना आवश्यक बतलाया है। स्नान आदि से पवित्र होने के बाद आचमन करना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि आचमन करने से हम स्वयं की शुद्धि ही नहीं करते, ब्रह्मा से तृणपर्यन्त स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों को तृप्त कर देते हैं। बिना आचमन किये किसी भी कार्य का फल प्राप्त नहीं होता है। पूजा अथवा दान-धर्म आदि कर्म में प्रवृत्त होने के लिये पहले आचमन करना आवश्यक है। शरीर की शुद्धि के लिए स्नान आवश्यक है और आभ्यन्तर व बाह्य शुद्धि के लिये आचमन की आवश्यकता है।

महाभारत की एक कथा में बतलाया है कि पच्चीस वर्ष तक अखण्ड तपश्चरण करने वाला भी मनुष्य शास्त्र विधि के अनुसार यदि आचमन नहीं करता है तो देवता तो बहुत दूर साधारण सती स्त्री के दर्शन पाने का भी सौभाग्य उसे नहीं मिलता है। महाभारत में यह उत्तुंग की कथा है। सदाचारी और गुरु सेवा परायण होकर अनेक विद्याएँ प्राप्त करने के बाद जब गुरु ने उत्तुंग को घर जाने का आदेश दिया तो उत्तुंग ने प्राप्त विद्याओं के फल को प्राप्त करने के लिये गुरु दक्षिणा के लिए अपने आचार्य से निवेदन किया। आचार्य ने यह कहकर कि मुझे तो किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं है उसे अपनी पत्नी के पास जाने को कहा। गुरु पत्नी ने कहा कि "आज से पाँचवें दिन 'पुण्यक' व्रत आने वाला है। मेरी इच्छा है कि उस दिन राजा पौष्य की पत्नी ने जो कुण्डल पहन रखे हैं, उन्हें ही पहनकर मैं ब्राह्मणों को भोजन कराऊँ।" समय कम होने के कारण उत्तुंग मार्ग में बैल पर सवार हो गया। बैल पर सवार उत्तुंग को देखकर हृष्ट-पुष्ट एक व्यक्ति के कहने पर उत्तुंग ने गोबर का भक्षण किया, परन्तु शीघ्रतावश खड़े-खड़े ही आचमन किया। राजा के समीप पहुँचकर उसने आशीर्वाद देकर राजा का अभिनन्दन किया। जब गुरु दक्षिणा के लिये रानी के कुण्डलों की याचना की तो राजा ने उत्तुंग को रानी से उनके कुण्डल माँगने को कहा। अन्त:पुर में प्रवेश करके उस उत्तुंग ने रानी को देखा तो रानी वहाँ दिखायी नहीं दी। उत्तुंग ने राजा के पास आकर जब यह बताया कि अन्त:पुर में रानी नहीं है, तो राजा ने कहा कि लगता है कि आप झूठे मुँह चले आये हैं। भोजन के बाद सम्भवत: आपने आचमन नहीं किया है। अपवित्रता के कारण रानी आपको दिखायी नहीं दे रही है। वह पतिव्रता है, अपवित्र मनुष्य को लक्षित नहीं होती है। उत्तुंग को अपनी भूल का अनुभव हुआ और उसने विधि विधान के अनुसार आचमन किया। इसके बाद जब वह अन्त:पुर में गया तो उसने रानी को देखा। उठकर रानी ने ब्रह्मचारी उत्तुंग को प्रणाम किया तथा आदर के साथ आसन पर बिठाया और अपने दोनों कुण्डल प्रदान किये। रानी ने उत्तुंग को सावधान किया कि इन कुण्डलों को पाने के लिये नागराज तक्षक सदा दृष्टि लगाये रहता है। आप उससे सावधान रहना, नहीं तो वह इन्हें लेकर भाग जायेगा। उत्तुंग को अपने तप पर विश्वास होने से उसने रानी से कहा कि आप चिन्ता न करें वह मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर पायेगा। यह कहकर उत्तुंग उन कुण्डलों को लेकर अपने आश्रम की ओर चल दिया। तक्षक क्षपणक का वेश धारण कर उत्तुंग के पीछे-पीछे चल दिया । वह उन कुण्डलों को पाने के लिए अवसर की ताक में लगा था। सायंकालीन कृत्य पूरे करके जब उत्तुंग एक जलाशय में उतरा तो उसने उन दोनों कुण्डलों को पवित्र स्थान पर सुरक्षित रख दिया। इस अवसर का लाभ पाकर वह क्षपणक (तक्षक) कुण्डलों को ले भागा। इसके बाद नाग का रूप धारण कर पाताल में प्रविष्ट हो गया। जिस बिल में तक्षक ने प्रवेश किया था, वह बहुत छोटे मुख वाला था। उत्तुंग उसमें घुसने में समर्थ नहीं हो रहा था। तब इन्द्र ने उसके डन्डे में वज्र की शक्ति को प्रविष्ट करा दिया, जिससे बिल का मुँह बड़ा हो गया। उसमें घुसकर उत्तुंग नागलोक में पहुँच गया और नाग की अनेक प्रकार स्तुति की। जब नाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो अग्निदेव ने उत्तुंग की सहायता की। अग्निदेव की सहायता से उन कुण्डलों को उत्तुंग ने प्राप्त कर गुरुपत्नी को दक्षिणा में दिया।

आचमन कभी भी खड़े होकर और चलते-फिरते नहीं करना चाहिये तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर मुँह कर

आचमन नहीं करना चाहिये। शास्त्र का यह भी आदेश है कि घुटने से ऊपर जल में खड़े होकर भी आचमन किया जा सकता है। पर सामान्य स्थिति में यह विधि प्रयोजनीय नहीं, अशक्त अथवा विशेष परिस्थिति में ही कर सकते हैं। आचमन बैठकर ही करना चाहिये। आचमन के निमित्त जल इतना लें कि वह ब्राह्मण के हृदय तक, क्षत्रिय के कण्ठ तक, वैश्य के तालु तक और शूद्र व महिला के जीभ तक पहुँच जाए।

लाँघ लगाकर आसन पर बैठकर शिखा बन्धन करने के बाद यज्ञोपवीत धारण करें। उत्तर ईशान या पूर्व ईशान की ओर मुँह करें, हाथों को घुटनों के अन्दर कर लें। हथेली को मोड़कर गौ के कान की तरह बना लें। कनिष्ठिका और अँगूठे को अलग कर लें। अन्य सभी अँगुलियों को सटा लें । इस तरह ब्रह्मतीर्थ से आचमन करें। आचमन इस प्रकार करें कि आवाज न हो। आचमन के समय बायें हाथ की तर्जनी अँगुली से दायें हाथ के जल का स्पर्श लें। इस प्रकार स्पर्श कर आचमन करने से सोम पान का फल प्राप्त होता है। तीन बार आचमन करके जप, यज्ञ, पूजा-पाठ आदि कर्म करना चाहिये। इसके बाद भगवान् विष्णु के नाम मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचमन करना चाहिए:—

ऊँ केशवाय नमः, ऊँ नारायणाय नमः, ऊँ माधवाय नमः।

आचमन के पश्चात् अँगूठे के मूल भाग से अपने दोनों ओठों को दो बार पोंछकर "**ऊँ हृषीकेशाय नमः**" बोलकर अपने हाथों को धो लें। इसके पश्चात् अँगूठे से नाक, आँखों एवं कानों को स्पर्श करें।

स्नान करने के बाद, जल पीने के बाद, भोजन करने के बाद, स्पर्श हो जाने के बाद आचमन करना चाहिये। अनुष्ठान काल में छींक आने पर, निद्रा उपरान्त, थूककर, वस्त्र पहनने पर, उठने पर, अश्रु गिरने पर पुनः आचमन करने का शास्त्र का निर्देश है अथवा दाहिने कान का स्पर्श करके भी इस विधि को पूर्ण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त लघुशंका, शौच तथा स्नान आदि के अनन्तर पुनः आचमन करना चाहिये। ध्यान रहे आचमन उपरोक्त विधि के अनुसार बैठकर ही करें और इसके बाद अनुष्ठान के शेष कर्म माला, अभिषेक, पूजा आदि कर्म करें। अनुष्ठान के समय बार-बार लघुशंका आदि के लिये आसन से उठना निषेध है। इससे अनुष्ठान की तारतम्यता और मन की एकाग्रता नहीं बन पाती है। इसलिये आवश्यक है सभी कार्यों से निवृत्त होकर ही पूजा के आसन पर बैठें।

[सु०दु०]

आत्मानंद

आत्मानंद जी चरणदास जी के प्रशिष्य थे। ये चरणदास जी के शिष्य गोसाईं जुगतानंद जी के शिष्य थे। ये एक द्रविड़ ब्राह्मण परिवार से थे। गोसाईं जुगतानंद की ख्याति सुनकर इनके माता-पिता गोसाईं जी के पास पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से आये। गुसाईं जी के आशीर्वाद से उनको पुत्र प्राप्ति हुई। ये ही पुत्र आत्मानंद थे जिनको एक वर्ष की अवस्था में ही इनके माता-पिता ने इनको गुसाईं जी को समर्पित कर दिया था। गुसाईं जी ने इनको दीक्षित कर इनका नाम आत्मानंद रखा। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अल्पायु में गुरु से भक्ति मार्ग एवं ज्ञान मार्ग का समस्त ज्ञान अर्जित कर लिया था।

गुरु के परलोक सिधारने के बाद ये कानपुर के पास बिठूर में रहकर अपनी उपासना में रत हो गये। एक बार ये प्रिया-प्रियतम के ध्यान में मग्न थे। तभी एक नवाब की सवारी उधर से निकली। इन्होंने ध्यान में होने के कारण उसका अभिवादन नहीं किया। नवाब इस बात से क्रुद्ध हो गया और उसने अपने हाथी से इन्हें कुचलने का आदेश दिया। हाथी कुचलने के लिए आगे बढ़ा लेकिन इन्हें देखकर वह चिंग्घाड़कर भाग गया। इनका यह प्रभाव देखकर नवाब बहुत

अचंभित हो गया। इधर इनका ध्यान शोर-शराबे से भंग हो गया। तब नवाब ने हाथी से उतरकर इनके चरणों में गिर क्षमा माँगी और इनको आठ गाँव की जमीन भेंट की। इन्होंने बड़ी लंबी आयु प्राप्त की थी। इन्होंने संवत् 1987 में परमधाम को गमन किया। [क०उ०]

आत्माराम इकंगी

आत्माराम इकंगी का जन्म भाद्रपद शुक्ल तृतीया सं. 1803 को दिल्ली में घास की मंडी नामक मुहल्ले में एक ढूसर भार्गव वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम जीवनदास था, वे बड़े ही साधु-सेवी तथा सत्संगी थे। इनके पिता भी चरणदास जी के शिष्य हो गये थे।

वह दीक्षित होने से पूर्व धर्म-कर्म में आस्था नहीं रखते थे। इनके घर में एक ब्राह्मण आते थे, जो कंठी दे जाते थे, वह इसे उतार कर तुलसी के वृक्ष पर रख देते थे। एक बार चरणदास जी इनके मित्र के यहां पधारे। ये उस मित्र से मिलने के लिए अचानक पहुँच गये। चरणदास जी को वहाँ बैठा देखकर इन्होंने अपने मित्र से पूछा "मित्र! ये कौन है?" मित्र ने बताया "यह बहुत पहुँचे हुए महात्मा हैं। कुछ दिन हमारे घर पर रहेंगे।" इन्होंने उन्हें देखकर व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ कहा कि ऐसे महात्मा बहुत देखे हैं और बिना उन्हें प्रणाम किए बैठ गये। चरणदास जी सब कुछ समझ गये और मुस्कराते हुए बोले "तुम कौन हो?" तब इन्होंने कहा "आप तो अंतर्यामी हैं, स्वयं पता लगा लो।" चरणदास जी ने कहा "तुम ब्राह्मण होकर भजन नहीं करते हो, तुम न तो गुरु का कहना मानते हो और तो और कंठी उतार देते हो निश्चय ही तुम यमपुर जाओगे और यमदूतों द्वारा नाना प्रकार की यातनाएँ सहोगे।" तब यह बोले "मैं आपकी बातों से डरने वाला नहीं हूँ। मुझे यमलोक और यमराज दिखलाइये तब मानूँ।" चरणदास जी ने इनसे कहा "आंखें बंद करो।" आँखें बंद करने पर इन्हें यमलोक एवं यमराज के दर्शन हुए। वहाँ लाखों पापी हाहाकार कर रहे थे। इन दृश्यों को देखकर आत्माराम बहुत डर गये। तब चरणदास जी ने नेत्र खोलने के लिए कहा और यह चरणदास जी के चरणों में गिर पड़े और शिष्य बनाने के लिए आग्रह करने लगे। चरणदास जी ने कहा "कुछ दिन हम तुम्हारा आचरण देखेंगे, तब शिष्य बनायेंगे।" इसके बाद यह नित्य आकर चरणदास जी की सेवा करते थे। आखिर एक दिन प्रसन्न होकर चरणदास जी इनके घर गये और संवत् 1797 में कंठी, तिलक, वस्त्र, उपदेशादि देकर अपना शिष्य बना लिया। संवत् 1802 में चरणदास जी ने इन्हें जयपुर ले जाकर महंत बना दिया। आत्माराम इकंगी का परलोकवास संवत् 1867 ई. में हुआ। इनकी छतरी जयपुर से आमेर मार्ग पर रामगढ़ के कुछ पहले सड़क की दाईं ओर बनी हुई है। इनके शिष्यों में लक्षिदास, मानदास, शोभादास, सुश्री ज्ञानवती बाई, श्री पूर्णदास, निरभैदास तथा जीवनदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। साहित्य रचना के क्षेत्र में इनकी एक मात्र रचना 'स्वातिग्र सुभलक्षिन' प्राप्त हुई है। इनकी रचनाओं में जहां एक ओर ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली के दर्शन होते हैं, वहीं दूसरी ओर अरबी, फारसी के दर्शन होते हैं।

[क०उ०]

आनन्दवृन्दावनचम्पू

22 स्तवकों में प्रसारित कथानक वाला यह एक वृहद्-चम्पू काव्य है। यहां गद्य की अपेक्षा पद्यों का प्रयोग कम है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण की बाल्य एवं कैशोर लीलाओं का चारु चित्रण हुआ है। प्रथम स्तवक में भगवान की विशिष्ट लीलास्थली वृन्दावन की भव्यता का अंकन है। इसकी संज्ञा भगवत् स्थान तत्त्ववली विस्तार है। द्वितीय से सप्त पर्यन्त के स्तवक बाल्यलीला विस्तार के रूप में बोध्य हैं। इनमें भगवान कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। यहाँ बालक कृष्ण के जन्म, पूतना संहार, यमलार्जुनोद्धार, ब्रह्मा अहंकार मर्दन प्रभृति लीलाएँ प्रगीत हुई हैं। 8 से 22 तक के स्तवकों का सम्बन्ध श्यामसुन्दर की किशोर लीलाओं से है। ये कैशोर लीला-लता विस्तार के रूप में जानी जाती हैं। गोपिकाओं

का पूर्वानुराग, धेनुकासुरवध, कालियनाग के फण पर श्रीकृष्ण का नर्तन, राधा आमंत्रण, प्रलम्ब-हनन, राधाकृष्ण-क्रीड़ा, गोपिका-वस्त्रापहरण, वसन्तोत्सव, गोवर्धनधारण, ब्रह्मलोक साक्षात्कार, रासलीला, वंशीहरण एवं दोला उत्सव आदि इन स्तवकों की प्रतिपादित लीलाएँ हैं। [क०उ०]

आनंदीबाई

आनन्दीबाई का जीवनवृत्त प्रामाणिक रूप में विस्तार से उपलब्ध नहीं होता है। इनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में किशोरीशरण अलि ने अन्त:साक्ष्य के आधार पर इन्हें गुजरात प्रान्त की भूमि में जन्मा माना है। ये रसिकानन्द लाल की शिष्या थीं। रसिकानन्द लाल किशोरीलाल गोस्वामी के पुत्र तथा हित रूपलाल गोस्वामी के पौत्र थे।

ऐसा माना जाता है कि आनन्दीबाई से पूर्व हित प्रभु की शिष्या गंगाबाई और यमुनाबाई ने भी वाणी रचना की थी, किन्तु इनकी वाणी अब प्राय: अप्राप्त हैं। इस प्रकार आनन्दीबाई की वाणी का महत्त्व बढ़ जाता है। इनकी उपलब्ध वाणी का साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इनके गुरु भ्राता प्रियादास द्वारा विरचित एक दोहे से ज्ञात होता है कि आनन्दीबाई अपने परिवारीजनों (पति, पिता, पुत्र तथा भाइयों) को त्यागकर इस भजन पथ पर अग्रसर हुई थी—

पति सुत सम्पति बन्धु सौ बसाइ ममत इहि काल।
नन्दीबाई ने भजे हित जू के दोउ लाल।।

किशोरीशरण अलि ने आनन्दीबाई का दीक्षा ग्रहण काल विक्रम सम्वत् 1836 से कुछ पूर्व माना है। आपने लिखा है कि सं. 1836 से कुछ पूर्व हित धर्म में दीक्षा ग्रहण कर आनन्दीबाई हित भजन में लग गयी थीं।

इनको इष्ट 'श्यामा-श्याम' की प्राप्ति अपने गुरु भ्राता प्रियादास (दनकौर वाले) के संग से हुई थी। प्रियादास ने इनके सम्बन्ध में यह उल्लेख किया है कि आनन्दीबाई ने अपना तन तो श्रीराधावल्लभलाल की सेवा टहल में लगा दिया, धन उनके भोग राग में व्यय कर दिया और मन को निकुंज महल के रस में डुबो दिया। रसमग्न स्थिति में सदैव ये सहज रूप से दीन बनी हुई, निकुंज महल की परिचर्या में तन्मय रहती थीं। यह भी ज्ञात होता है कि आनन्दीबाई ने हित महाप्रभु के सम्प्रदाय में बड़े गाजे-बाजे के साथ समारोहपूर्वक प्रवेश किया था। इनके सम्बन्ध में यह पद मिलता है—

तन लगाय टहलैं दियौ, धन लगाय दियौ भोग।
मन लगाय महलै दियौ, हित-पद-रति संजोग।।
रहत छकी अटकी महल, नगित दीन रस लीन।
श्रीव्यास सुवन पथ रीत में, बज घौसा पगदीन।।

आनन्दीबाई राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनन्य भक्त थीं। इनका सम्पूर्ण समर्पण इस बात को पूर्णत: स्पष्ट कर देता है कि इन्होंने अपने गुरु भ्रात प्रियादास के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—''आप हम से अमंगली जीवन कौं, लीला रस उपयोगी किये हैं सो आप ही कौ यह अतुलित सामर्थ है सो हमसे जीव कहा तुमरे स्वरूप को जानेंगे जहाँ इन्द्र, ब्रह्मा, महेश हू की गम नाहीं है।'' अपने आप को अज्ञानी, दीन-हीन बतलाना ही परम वैष्णवी के लक्षण हैं। इनमें वैष्णवी के सभी गुण उपस्थित थे। प्रियादास के ही समान आनन्दीबाई भी एक अनुभवी संत थीं। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से देखा जाय तो इनकी वाणी विशेष महत्त्व नहीं रखती है, किन्तु इनके प्रत्यक्ष अनुभव की आभा जहाँ-तहाँ झलक ही उठती है। [अ०सिं०सै०]

आयागपट्ट जैन पूजा के प्रथम सोपान

ब्रज में जैन धर्म के प्राचीनतम पुरातात्त्विक अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं। वहाँ एक शुंगकालीन और एक कुषाणकालीन जैन स्तूप के साक्ष्य मिले हैं। उनमें से एक स्तूप जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ को समर्पित था। जिनप्रभु सूरि के विविध तीर्थकल्प में उल्लेख है—मथुरायां महालक्ष्मी-निर्मिता: श्री सुपार्श्व स्तूप:। मथुरा तीर्थंकर नेमिनाथ की जन्मभूमि भी कही जाती है जहाँ उनकी पूजा की जाती थी। कंकाली टीले से मिले कुछ आयागपट्टों पर महावीर और वर्धमान की पूजा-सम्बन्धी अभिलेख हैं। ब्रज में जैन तीर्थंकरों की आसन (बैठी) और कायोत्सर्ग (खड़ी) मुद्राओं में अनेक मूर्तियां मिली हैं। प्रारंभिक मूर्तियाँ पूर्णत: लांछन रहित हैं, जबकि आगे चलकर इन मूर्तियों पर प्रत्येक तीर्थंकर के अपने-अपने लांछन भी उत्कीर्ण किये गये। इन्हीं लांछनों के आधार पर उन मूर्तियों की सही-सही पहचान संभव हो सकी। उदाहरणार्थ—शीश के ऊपर तने सूर्य-फण से उन्हें पार्श्वनाथ और सिंहयुक्त पादपीठ से उन्हें महावीर समझा जा सका। ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकरों की जो मूर्तियाँ ईसवी सन् के पहले की आँकी गयी थीं, उन पर कोई लांछन नहीं था, किन्तु बाद में कुषाणकाल में गढ़ी गयी तीर्थंकरों के वक्ष पर श्रीवत्स लांछन अंकित किया गया था।

किन्तु ब्रज में जैन धर्मावलंबियों ने तीर्थंकर की मानव मूर्तियाँ गढ़वाने से पहले उनके प्रतीक-स्वरूपों का पूजन करना प्रारंभ कर दिया था। कंकाली-टीले से प्रस्तर के अनेक चौकोर शिलापट्ट मिले हैं, जिन्हें उन पर पाये गये उत्कीर्ण अभिलेखों में आयागपट कहा गया है। कुछ आयागपटों पर केवल कुछ मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं यथा—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, मीन-मिथुन, कलश आदि और कुछ पर इन मांगलिक चिह्नों के बीच आयागपट्ट के केंद्र में तीर्थंकर की ध्यानमुद्रा में बैठी मूर्ति भी उत्कीर्ण है। कुछ पर इस तीर्थंकर मूर्ति के शीश पर छत्र और पार्श्वों में भक्तगण भी उकेरे गये हैं।

कंकाली टीले से उत्खनित ये जैन आयागपट्ट जैन पूजा के प्राथमिक पुरातात्त्विक साक्ष्य हैं। आयागपट्ट ब्रजभूमि को छोड़कर अन्यत्र कहीं से नहीं पाये गये हैं। जिस प्रकार नागार्जुनकोण्ड (आंध्र प्रदेश) से मिले बौद्ध आयक खंभ (आर्यक स्तंभ) मात्र पूजा के लिए थे और उन्हें स्तूपों के प्रवेशद्वार पर बने चत्वरों पर स्थापित किया जाता था; वास्तुगत उनका कोई उपयोग नहीं था, उसी प्रकार जैन आयागपट्ट स्वतंत्र प्रस्तर-फलक थे, उनका वास्तुकला से कोई संबंध न था। श्री उमाकांत प्रेमानंद शाह का विचार था कि औपपातिक सूत्र 5 में उल्लिखित 'पुहुमी' या 'पुढवी' शिलापट्ट (पृथिवी-शिलापट्ट) आयागपट्टों का पूर्वरूप रहा होगा, जो ग्रामीण लोक देवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र वृक्ष-चैत्यों के नीचे किसी छोटे चबूतरे के ऊपर रखा जाता होगा। इस कथन की परिपुष्टि नागरी (प्राचीन माध्यमिका, राजस्थान) से प्राप्त द्वितीय शती ई.पू. के उस अभिलेख से हो जाती है जिसमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले एक भागवत राजा सर्वतात के द्वारा संकर्षण वासुदेव की नारायण-वाटिका (मंदिर) के चारों ओर एक वेदिका बनवाने का उल्लेख है। अभिलेख इस प्रकार है—''कारितोऽयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरिपुत्रेण अश्व-मेघयाजिमा भगवद्भ्यां संकर्षणवासुदेवाभ्यां अभिहिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिलाप्राकारो नारायणवाटिका''। इस अभिलेख में आये शब्द 'पूजाशिला' से ही कंकाली टीले से मिले आयागपट्ट की पहचान और प्रयोजन स्वीकार किया गया है। वैसे भी, इन आयागपट्टों के अभिलेखों में स्पष्ट रूप से 'अर्हत पूजाये' प्रयोजन बताया गया है।

ब्रज भूमि में जैन धर्म के प्राचीनतम साक्ष्य आयागपट्ट दो कोटियों में रखे जा सकते हैं—एक, वे जिन पर केवल मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं और दूसरे, वे जिन पर मांगलिक चिह्नों के साथ-साथ तीर्थंकर की मूर्ति भी अंकित है। ये आयागपट्ट उस काल की पूजा का स्वरूप प्रकट करते हैं जब प्रतीक-पूजा का प्रचलन तो था ही, साथ ही साथ मूर्तिपूजा का प्रारंभ भी हो रहा था। वस्तुत: ये आयागपट्ट जैन धर्म में प्रतीक-पूजा और मूर्तिपूजा के संधिकाल के

साक्षी हैं।

आयागपट्टों का परिचय उनके नाम के प्रथम पद 'आयाग' से मिल जाता है। कुछ ही आयागपट्टों पर उन्हें 'शिलापट' कहा गया है, अधिकांश पर उन्हें 'आयागपट्ट' ही अंकित किया गया है। इसीलिए इस नाम के प्रथम पद 'आयाग' से विद्वानों ने उन्हें 'पूजा-पट' माना। रामायण (1.31.13) के भाष्यकार ने 'आयाग' शब्द का आशय 'पूजनीय देवता' बताया है। वासुदेवशरण अग्रवाल 'आयाग' शब्द को 'आयक' जैसा स्वीकार करते हैं जिन्हें महावंश (30.51) में 'पुप्फाधान' (पुष्पाधान) और संद्धर्भ-पुंडरीक जातक (239.3) में 'पुष्पग्रहणी वेदिका' कहा गया है और जिन पर पूजा-पुष्प चढ़ाए जाते थे। बुद्ध पद और बौद्ध आयक-खंभ (आर्यकस्तंभ) जगय्यपेट, अमरावती, नागार्जुनकोण्ड (आंध्र प्रदेश) आदि से मिले हैं जो वास्तु के अंग नहीं अपितु पूजा के निमित्त थे। उसी प्रकार जैन आयागपट्ट भी किसी वास्तु का अंग न होकर पूजा के लिए ही निर्मित किये गये थे। यह तथ्य इन्हीं आयागपट्टों पर उत्कीर्ण अभिलेखों में आये शब्द 'अर्हत पूजाये' से प्रकट हो जाता है। इतना ही नहीं, अभिलेखों के प्रारंभ में 'नमो अरिहन्तानां' तथा 'महावीर' एवं 'वर्धमान' को नमन से भी सिद्ध हो जाता है। कतिपय आयागपट्टों पर उत्कीर्ण स्तूप, धर्मचक्र तथा अष्टमंगलों से भी उनका पूजा का अंग होना स्पष्ट करता है।

ब्रजभूमि में मिले ये आयागपट्ट इस तथ्य के साक्षी हैं कि बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म में भी पहले प्रतीक-पूजा का प्रचलन था जिन्हें 'अष्टमंगल' कहा जाता रहा है। प्रतीक-पूजा के साथ मूर्तिपूजा का प्रारंभ कुषाणकाल में हुआ जब तीर्थंकर की मूर्तियाँ सर्वप्रथम इन आयागपट्टों के केंद्रों में और तदनंतर स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में निर्मित की गयीं। आयागपट्ट न केवल दोनों प्रकार की पूजा-विधि के प्राचीनतम साक्ष्य हैं, अपितु मूर्तियों के साथ-साथ मांगलिक चिह्नों की पूजनीय महत्ता 'अष्टमंगल' के रूप में बनाए रखने में सहायक हैं। वस्तुत: ये आयागपट्ट जैन-पूजा के प्रथम सोपान कहे जा सकते हैं। [ए०एल०श्री०]

आयुर्वेद

सृष्टि की रचना के बाद ब्रह्माजी ने प्राणियों की अलग-अलग आयु का निर्धारण कर उनके आरोग्य तथा दीर्घायुष्य के साधनों का भी ज्ञान प्रदान करने के लिए 'आयुर्वेद' का निर्माण किया। वैदिक विज्ञान के अन्तर्गत आयुर्वेद को परम्परावादियों ने अनादि माना है। वेद ईश्वर के नि:श्वास हैं। साक्षात् नारायण के स्वरूप हैं। 'वैद्यो नारायणो हरि:' ईश्वर को ही आदि वैद्य माना गया है। आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद और अथर्व वेद का उपांग कहा जाता है। दैवी, मानसी (औषधीय) और आसुरी इन तीन प्रकार की चिकित्साओं का वर्णन प्राप्त होता है। मंत्रों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को दैवी उपचार के अन्तर्गत माना जाता है। जड़ी-बूटियों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा मानसी (औषधी) कहलाती है तथा शल्यचिकित्सा आसुरीचिकित्सा के अंतर्गत आती है।

वैद्यक शास्त्र से सम्बन्धित कुछ आख्यायिकाओं में जैसे—अश्विनी कुमारों के द्वारा वृद्ध च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करना, दक्ष के कटे हुए मस्तक को पुन: जोड़ देना, इन्द्र को बकरे का शिश्न लगाया गया, पूषा को पुन: नवीन दांत प्रदान किये गये। अथर्ववेद में सहदेवी तथा अपामार्ग का तृषा, क्षुधा के निवारण तथा हिंसात्मक कर्म शत्रुओं के नाश के लिए प्रयोग, कुष्ठ (कूठ) औषधि की धूप का तक्म ज्वर नाशकत्व एवं विश्वभेषज सभी प्रकार के रोगों की औषधि होना, पृश्निपर्णी (पिठवन) का गर्भनाश तथा रक्त विकार को दूर करने एवं शरीर की वृद्धि करने में, रोहिणी नामक औषधि का भग्न स्थान एवं क्षत के प्रतिकार में आदि औषधियों के उपयोग के बारे में बताया गया है।

'गोभिलीयसूत्र' में रोग निर्वतक मंत्रों का उल्लेख एवं सर्पदंश का उपाय भी बताया है। 'आपस्तम्भ' में रुग्ण स्त्री को पद्म पत्र आदि के द्वारा अभिमंत्रित करना, हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र में अग्नि का रोग नाशकत्व एवं बालकों

के क्षेत्रीय रोग को दूर करने की विधि वर्णित है। मंत्र विद्या एवं औषध विद्या दोनों का ही आवश्यकतानुसार समान रूप से प्रयोग किया जाता था। मंत्रों द्वारा रोग दूर करने के लिए रोगियों को मार्जन, जलाभिषेचन, अभिमन्त्रण एवं धूपन आदि उपायों के साथ बहुत से रोगों के प्रतिकार के लिये शल्य-क्रियायें प्रचलित थीं। मान्त्रिक उपचार प्रक्रिया तथा भेषज्यविद्या दोनों का अथर्व वेद में वर्णन किया गया है। कौशिक सूत्रकार ने अथर्व-वेद के भेषज्य का निर्देश करने वाले मंत्रों का मान्त्रिक प्रक्रियापरक ही अर्थ लगाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकाल में मान्त्रिक प्रक्रिया का ही अधिक विकास हुआ था। अथर्व वेद में कहा है-'शतं ह्यस्य भेषज: सहस्रमुत वीरुध:' अर्थात् सैकड़ों औषधियों के संग्रहकर्ता विप्र भिषक (वैद्य) होते थे।

वैदिक साहित्य के बाद 'ब्राह्मण', 'उपनिषद्' एवं 'कल्पसूत्र' रूपी धाराओं में बहता हुआ आयुर्वेद विज्ञान का प्रवाह अपनी आचार्य परम्परा के बिना प्राचीन आर्ष संहिता ग्रंथों में उस ज्ञानोदधि को किस प्रकार प्रगट कर सकता है जिन आचार्यों के नाम काल प्रवाह में कहीं अवशेष या विलुप्त हो गये, उन्हीं के योगदान से आज जो आयुर्वेद का ज्ञान संहिता एवं ग्रंथों में अध्ययन एवं उपचार के लिए उपलब्ध है, वह पर्याप्त है। आवश्यकता अध्ययन एवं शोध की है, ताकि उस ज्ञान को सही अर्थ में उपयोग में लाया जा सके।

आयुर्वेद के शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, ग्रह, विष (अगद तन्त्र) और वाजीकरण नामक आठ विभाग प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद की प्रसिद्धि 'अष्टांग आयुर्वेद' के रूप में है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट, धन्वन्तरि, माधव, भावमिश्र इन सभी आचार्यों के द्वारा रचित ग्रंथों में आरोग्य सम्बन्धी विषय का वर्णन किया गया है। ये सभी ग्रंथ आयुर्वेद के प्रमाणभूत ग्रंथ माने जाते हैं। 'अष्टांगहृदय' के रचयिता वाग्भट के काल में यद्यपि अनेक आयुर्वेद के आचार्य थे और उनके द्वारा लिखित संहिताओं का अध्ययन किया जाता था। चरक की संहिता का ही अध्ययन किया जाये तो सुश्रुत में आये हुए रोगों का नाम मात्र भी ज्ञान नहीं हो सकता और यदि सुश्रुत का ही मात्र अध्ययन किया जाये तो रोगों के प्रतिकार की प्रक्रिया का ज्ञान होना असम्भव है। वाग्भट के काल में भी इन दोनों आयुर्वेद के विद्वानों के इन ग्रंथों का आदर बना रहा। इन दोनों ग्रंथों पर अनेक टीका-उपटीकाएँ लिखी गयीं। आयुर्वेद के सर्वस्व इन दोनों ग्रंथों की महिमा आज भी है। वाग्भट के द्वारा उनके ग्रंथ में जिस शल्य क्रिया या शल्यतन्त्र का वर्णन है, वह आधुनिक यूरोपीय शस्त्रक्रिया पद्धति (सर्जरी) की जननी मानी जाती है।

रसायन तन्त्र को आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। भृगु, अगस्त्य, वसिष्ठ, माण्डव्य, पतंजलि, नागार्जुन आदि 'रसायन तन्त्र' के विशेषज्ञ थे। आयुर्वेद के इन आठ अंगों के समान स्वास्थ्यानुवृत्ति, रोगोच्छेद एवं औधि नामक तीन स्कन्धों में भारतीय आयुर्विज्ञान का विभाजन किया जाता है। चरक संहिता के अनुसार हितायु, अहितायु, सुखायु एवं दुखायु इन चार प्रकार से मानवी आयु का विचार आयुर्वेद का विषय है।

आयुर्वेद के प्रमुख चार आचार्य माने जाते हैं—माधव, वाग्भट, सुश्रुत एवं चरक।

चरक संहिता—चरकाचार्य कनिष्क महाराज के चिकित्सक थे। परम्परा के अनुसार चरक भगवान शेष के अवतार थे। चरक संहिता में स्थान नामक आठ विभाग हैं—सूत्र स्थान, निदानस्थान, विमान स्थान, शारीर स्थान, इन्द्रिय स्थान, कल्प स्थान एवं सिद्धि स्थान।

मदन कामरत्न—इस ग्रंथ के रचयिता पूज्यपाद जैनाचार्य माने जाते हैं। रोग विनाशक योगों (औषध) के अतिरिक्त कामशास्त्र सम्बन्धी अनेक विषयों जैसे वाजीकरण, लिंगवर्धक लेप, स्त्री एवं पुरुष के वशीकरण सम्बन्धी भेषज का भी वर्णन है।

वैद्यसार संग्रह—(योगचिन्तामणि) इस ग्रंथ के लेखक हर्षकीर्ति सूरि हैं। समय ई. 18वीं शती। आयुर्वेद के अन्य ग्रंथ हारीत संहिता, काश्यप संहिता, भेडसंहिता भी उपलब्ध हैं।

शाङ्र्गधर संहिता—ई.पू. 11वीं शताब्दी में शाङ्र्गधराचार्य ने इस ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ तीन खण्डों और

बत्तीस अध्यायों में विभाजित है। इस ग्रंथ में स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म बनाने की प्रक्रिया का वर्णन किया है। नाड़ी परीक्षा से सम्बन्धित पर्याप्त वर्णन इस ग्रंथ की विशेषता है।

सुश्रुत संहिता—सुश्रुत शालिहोत्र के पुत्र और विश्वामित्र के गोत्र में उत्पन्न थे। दिवोदास धन्वन्तरि जो धन्वन्तरि के रूप में भगवान के अवतार माने जाते हैं, सुश्रुत ने इन्हीं से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। सुश्रुत ने अपनी संहिता के पाँच विभागों में आयुर्वेद का वर्णन किया है। सूत्र स्थान, निदान स्थान, शारीर स्थान, चिकित्सा स्थान एवं कल्प स्थान। इस ग्रंथ में शल्य क्रिया में उपयोगी एक से अधिक शस्त्रों का वर्णन किया गया है। सुश्रुत संहिता पर लघुसुश्रुत और वृहदसुश्रुत के नाम से संक्षिप्त और परिबर्धित संस्करण प्रसिद्ध है। महाभारत के अश्वमेध के अनुगीता पर्व के उन्नीसवें अध्याय में योग सम्बन्धी दी गयी शिक्षा में इन्द्रियों को रोककर मन को आत्मा में स्थिर करके मोक्ष प्राप्ति के लिये योग साधन करना चाहिए। आयुर्वेद के क्षेत्र में नित नयी खोज हो रही है। विद्वानों के द्वारा बहुत से ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। आज आयुर्वेद की महिमा को समझा जा रहा है, अध्ययन और अनुसंधान से आयुर्वेद के ज्ञान एवं उपयोगिता को बढ़ाया जा सकता है। [वि०श०]

आर्यसमाज का दार्शनिक सिद्धान्त

14 नवम्बर 1860 को स्वामी दयानन्द ने मथुरा में प्रवेश किया। यहाँ ढाई वर्ष प्रज्ञाचक्षु श्री विरजानन्द जी के सान्निध्य में रहकर एवं उनसे व्याकरण-दर्शन आदि की शिक्षा ग्रहण कर आपने अनेक वर्षों तक निराकार ईश्वर की आराधना एवं वैदिक ज्ञान की व्याख्या आदि पर शास्त्रार्थ किया। अनेक नगरों का एवं उपनगरों का भ्रमण कर एवं शास्त्रार्थ द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये स्वामी दयानन्द जी ने 10 अप्रैल 1875 को पहली बार आर्यसमाज नामक संस्था की स्थापना की।

आर्यसमाज की स्थापना के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जो सिद्धान्त, नियम, उप-नियम बनाये तथा वेद, ईश्वर, भौतिक जगत की अनित्यता या नित्यता, सांसारिक नियम, व्यवहार, मानव की संस्कृति, शिष्टाचार आदि पर जो विचार उन्होंने प्रतिपादित किये वे सब आर्यसमाज का दर्शन या आर्यसमाज का दार्शनिक सिद्धान्त कहलाया। आर्यसमाज संस्था अपने दार्शनिक सिद्धान्तों पर टिकी हुई है। इसके अपने ये सिद्धान्त ही इसको सजीव बनाये रखेंगे।

आर्यसमाज के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है, वेद सनातन सत्य को अपने अन्दर सँजोए हुए हैं। ईश्वर ने इनका प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरणों में किया था। श्री दयानन्द महर्षि वेदों में पुनर्जन्मवाद को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हैं। वे पुनर्जन्म सम्बन्धी वेदमंत्रों का भाष्य करते हुए कहते हैं—''हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियों की स्थापना कीजिए तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए।''

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द कर्म एवं कर्मफल में पूर्ण विश्वास रखते थे। स्वामी दयानन्द जी ने कहा है—''जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है।'' स्वामी दयानन्द वेद के अपने गंभीर अध्ययन के आधार पर वेदों में मानव जीवन के परम लक्ष्य के रूप में मुक्ति का पूर्णरूपेण प्रतिपादन करते हैं। इसके पश्चात् महर्षि दयानन्द मुक्ति के विषय में एक नया विचार हमारे सामने रखते हैं, वह है मुक्ति से पुनरावृत्ति। दयानन्द का कथन है कि वेदों के अनुसार जीव की मुक्ति अनन्तकाल के लिए नहीं होती। अपितु मुक्ति की अवधि समाप्त कर जीवात्मा फिर जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है।

स्वामी दयानन्द उपनिषद् के त्रैत—ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति को अनादि मानते हैं। ईश्वर (ब्रह्म) जीव की सृष्टि करता है तथा जीव प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का भोग करता है। ब्रह्म के साथ-साथ जीवात्मा और प्रकृति ये दो नित्य

पदार्थ और हैं। दयानन्द के अनुसार ब्रह्म व जीव एक दूसरे से पृथक हैं किन्तु ब्रह्म जीवात्मा में व्यापक है। परमाणु के समान जीवात्मा ब्रह्म में स्थित है या यों कहिये ब्रह्म और जीव एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं।

पूर्व में हुए शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने दर्शन शास्त्रों में आपस में विरोध बताया है। 19वीं शताब्दी में आर्यसमाज प्रवर्तक श्री दयानन्द ने सदियों से आयी परम्परागत विचारधारा के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया है—स्वामी दयानन्द की यह दृढ़ मान्यता है कि षड् दर्शनों में आपस में कोई विरोध नहीं है बल्कि इसमें से प्रत्येक दर्शन सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं की व्याख्या करता है। स्वामी जी कहते हैं कि ये दर्शन शास्त्र वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं इसलिये वेद की केन्द्रीय विचारधारा के विपरीत नहीं जा सकते। अतः स्वामी जी का यह स्पष्ट मत है कि इन दर्शन शास्त्रों का आपस में कोई विरोध नहीं है। स्वामी जी षड्दर्शनों को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं।

आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द ईश्वर के अस्तित्त्व पर विश्वास करते हैं। स्वामी जी के अनुसार ईश्वर संसार का रचयिता, नियामक तथा पालनकर्ता है। वह समस्त सृष्टि का एक ही स्वामी है, उसके एक होने पर भी वह अनेक नामधारी है। वह उपासना तथा योगाभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चारवाक् जैसे अनेक भौतिकवादी कहते हैं कि हम अपने नेत्रों से उसे देख नहीं सकते तथा अन्य इन्द्रियों से उसका साक्षात्कार नहीं करते सकते अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। इसके उत्तर में स्वामी जी न्याय सूत्र द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष मानते हैं। स्वामी जी के मत में ईश्वर सृष्टि का रचयिता है। वे सृष्टि रचना के कारण ईश्वर की सिद्धि मानते हैं, वे ईश्वर को निराकार मानते हैं। वे कहते हैं कि इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में ऐसे किसी स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ ईश्वर न हो।

दयानन्द सरस्वती के अनुसार ईश्वर प्राणियों के कर्मों के अनुसार फल प्रदान करने वाला है। यदि ईश्वर फल प्रदाता न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। दयानन्द जी ईश्वर को ज्ञान का आदिस्रोत मानते हैं। दयानन्द जी पुराण के अवतारवाद को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता, वह नित्य सर्वत्र है।

अन्य दार्शनिकों की भाँति दयानन्द जी जीवात्मा को नित्य एवं चैतन्य पदार्थ मानते हैं। वेदों में जहाँ-तहाँ शरीर स्थित चेतन तत्त्व का वर्णन जीव एवं आत्मा के रूप में पाया जाता है। श्वेत० उपनिषद् (4-5) के अनुसार स्वामी दयानन्द जीवात्मा को अनादि मानते हैं। जिस प्रकार ईश्वर का कोई कारण नहीं उसी प्रकार जीवात्मा का कभी कोई कारण नहीं।

जीवात्मा शरीर में आकर सम्पूर्ण कार्य मन के अनुसार करता है। स्वामी जी के अनुसार मन प्रकृतिजन्य है। वे सांख्य के सिद्धान्त को मानते हैं। प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्म, भूत और दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन उत्पन्न हुआ। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार जगत का कारण प्रकृति आदि पदार्थ हैं। परमात्मा अनादि प्रकृति से कल्प के आदि में सृष्टि की रचना करता है। प्रलयकाल में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में वर्तमान रहती है। उसका नाश या ब्रह्म में लय नहीं होता।

स्वामी दयानन्द जी ज्ञान की परिभाषा में कहते हैं—यथार्थ दर्शनं ज्ञानम् ''अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है, आचार्य शंकर के अनुसार जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है। शंकर की इस ज्ञान की व्याख्या से दयानन्द जी सहमत हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार मन का अत्यधिक महत्त्व है। मन से ही आत्मा शरीर से सम्बन्ध स्थापित करती है। यही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव को ज्ञान में बदलता है। मन का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है, इस प्रश्न के उत्तर में दयानन्द जी यजुर्वेद के शिव संकल्प सूक्त के छः मंत्रों का उदाहरण देते हैं। इन मंत्रों का सार है—मन के द्वारा बड़े-बड़े शुभ कार्य किये जाते हैं, यह हमारे उत्कृष्ट ज्ञान को बढ़ाता है, जिस प्रकार लगाम से घोड़े नियंत्रित रहते हैं, उसी प्रकार यह मन शरीररूपी घोड़े को नियंत्रित करता है।

मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है। शुभ कर्म, अशुभ कर्म, अच्छे परिणाम देना या अशुभ परिणाम देना—इस विषय के

ज्ञान को देने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र अथवा तत्त्व शास्त्र कहा गया है। विभिन्न नीति शास्त्रों का उदाहरण देते हुये दयानन्द जी कहते हैं कि शरीर को उत्तम पौष्टिक भोजन से स्वस्थ रखिये। वही कार्य करें जिससे शरीर स्वस्थ रहे। युवावस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें। अपनी पत्नी से संतोष प्राप्त करें, आदि-आदि नैतिक नियमों को अपनाने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। [गो०प्र०पा०]

आरण्यक ग्रंथ

आरण्यक ग्रंथ, वैदिक वाङ्मय के तृतीय भाग और वैदिक संहिताओं पर प्रस्तुत भाष्य के द्वितीय स्तर हैं। इनका प्रणयन आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने को उत्सुक वानप्रस्थियों की बौद्धिक जिज्ञासाओं के समाधान हेतु हुआ। तैत्तिरीयारण्यक की भाष्य भूमिका में सायणाचार्य कहते हैं—'अरण्याध्ययना-देतदारण्यकमितीर्यते' अर्थात् अरण्यों में पढ़े-पढ़ाये जाने के कारण इनका नामकरण 'आरण्यक' रूप में हुआ। शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर विश्लेषण करें तो 'आरण्यक' शब्द 'अरण्य' में 'वुञ्' (भावार्थक) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, अर्थात् 'अरण्ये भवमिति आरण्यम्।' ऋषिगणों ने नगरों और शहरों के शोर और ऐश्वर्य से दूर रहते हुए नैमिषारण्य, दंडकारण्य आदि अरण्यों में निवास करते हुए वेदों का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप जिस चिंतन-मनन ने जन्म लिया, वही आरण्यक ग्रंथों के रूप में सहेजा गया। जितने वेद हैं और उनकी शाखाएँ हैं, उतने ही ब्राह्मण ग्रंथ भी हैं और जितने ब्राह्मण ग्रंथ हैं, उतने ही आरण्यक ग्रंथ लिखे गए। जहाँ ब्राह्मण ग्रंथों में कर्म पर जोर दिया गया, वहीं आरण्यकों में आध्यात्मिकता को प्रमुखता दी गयी।

सामान्यत: आरण्यकों का अध्ययन-अध्यापन वनों में ही किया जाता था, अत: इन्हें अरण्यक कहा जाने लगा किन्तु इसे अनिवार्यता नहीं माना जाना चाहिए। तैत्तिरीयारण्यक के कुछ अंश कहते हैं कि 'वनों के साथ ही ग्रामों में अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, जागृत या निद्रोन्मुख स्थितियों में भी कोई यदि इनका अध्ययन कर लेता है, तो वह सभी लोकों की उपलब्धि का भाजन हो जाता है। किन्तु कालान्तर में इन्हें वानप्रस्थियों के लिए उचित मान लिया गया। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार ब्राह्मण ग्रंथों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गृहस्थ के लिए था, किन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, तो कर्मकाण्ड के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की उसे आवश्यकता होती थी और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं।

आरण्यक साहित्य की भाषा वैदिक और लौकिक संस्कृत के मध्य की है। जबकि इनकी शैली वर्णनात्मक है। किन्तु उद्धरण शैली और संवाद शैली भी यत्र-तत्र बिखरी है। नितांत रहस्यपूर्ण और प्रतीकात्मक कार्य माने जाने वाले यज्ञों के गूढ़ रहस्यों का विवरण आरण्यक ग्रंथों में विस्तार से दिया गया है। दुर्गाचार्य ने अपने निरुक्त भाष्य में आरण्यकों के लिए 'रहस्य-ब्राह्मण' शब्द का उल्लेख किया है, जिसकी पुष्टि गोपथ में की गई है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का भी मानना था कि 'आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करते हैं।' उपनिषदों के समान आरण्यक ग्रंथ भी एकवादी हैं। आरण्यक ग्रंथों में प्रतीकोपासना, ब्रह्मविद्या, आध्यात्मिकता, आत्मविद्या और रहस्यात्मक विषयों का भी विवरण मिलता है। उपनिषदों में जिन आत्मविद्या, सृष्टि और तत्वज्ञान विषयक गम्भीर दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन है, उनका प्रारम्भ आरण्यकों में ही दिखलायी देता है। वैदिक तत्वमीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। यह ब्राह्मणों के परिशिष्ट और उपनिषदों के पूर्वरूप कहे जाते हैं किन्तु कर्म और उसके परिणाम में आसक्ति के अभाव के कारण आरण्यक ग्रंथों का आध्यात्मिक महत्त्व ब्राह्मण ग्रंथों की अपेक्षा अधिक है और यह उपनिषदों के अध्ययन को सरल बनाते हैं इसीलिए महत्त्वपूर्ण हैं। हर वेद का एक या अधिक आरण्यक होता है। प्रमुख आरण्यक ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

ऐतरेय आरण्यक—यह ऋग्वेद से संबंधित है। इसके पांच मुख्य अध्याय (आरण्यक) हैं। जिनमें प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, जबकि चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं। यह निरुक्त से प्राचीन है किन्तु निरुक्त की तुलना में अर्वाचीन होने के कारण डॉ. कीथ इसका रचनाकाल छठी शताब्दी विक्रम पूर्व मानते हैं।

तवलकार (आरण्यक)—सामवेद से संबद्ध एक ही आरण्यक प्राप्त होता है।

तैत्तिरीय आरण्यक—यह कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय और काठक दोनों शाखाओं का प्रतिनिधि ब्राह्मण है। इसे दस परिच्छेदों में बांटा गया है, जिन्हें 'अरण' कहते हैं। जिसके सप्तम, अष्टम तथा नवम परिच्छेद 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के रूप में जाने जाते हैं।

बृहदारण्यक—वस्तुत: शुक्ल यजुर्वेद का एक आरण्यक ही है, परंतु आध्यात्मिक तथ्यों की प्रचुरता के कारण यह उपनिषदों में गिना जाता है। जो काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में प्राप्त है।

शांखायन—इसका भी संबंध ऋग्वेद से है। यह पंद्रह अध्यायों में विभक्त है जिसका एक अंश कौषीतकि उपनिषद् के नाम से जाना जाता है।

यद्यपि अथर्व वेद का पृथक से कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता है, तथापि उसके गोपथ ब्राह्मण में आरण्यकों के अनुरूप बहुत-सी सामग्री मिलती है। मैत्रायणीयारण्यक नाम से मैत्रायणी शाखा का आरण्यक पृथक से उपलब्ध है। सामवेद की कौथुम शाखा में छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत आरण्यक भाग भी मिला हुआ है, किन्तु पृथक से उसका आरण्यक रूप में अध्ययन प्रचलित नहीं है। [अ०श्री०]

आलवार

श्री सम्प्रदाय में आलवार शब्द का प्रयोग साधारणतया उन द्वादश वैष्णव भक्तों के लिए होता है जिनके पद 'नालियर प्रबन्धम्' में संग्रहीत हैं। इन द्वादश आलवारों को द्राविड़ भाषा में दिव्यसूरि भी कहा जाता है। आलवार का अर्थ है निमग्न होना अर्थात् यह किसी भी ऐसे सन्त, महात्मा के लिए प्रयुक्त हो सकता है जिसने आध्यात्मिक ज्ञान सागर में गोता लगाया हो।

आलवार भक्तों का जीवनकाल निश्चित करना कठिन है। कई विद्वानों ने आलवारों का जीवनकाल निश्चित करने का प्रयास किया है परन्तु इनमें भी मतैक्य नहीं है। अधिकांश विद्वान् आलवारों का जीवनकाल सामान्यत: चौथी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक मानते हैं। श्री वेदान्तदेशिकाचार्य द्वारा आलवारों का जो क्रम तथा नामावली प्रस्तुत की है उसी को सर्वसम्मत माना गया है जो इस प्रकार है- 1. पोयगै आलवार (सरोयोगी), 2. भूतत्तालवार (भूतयोगी), 3. पेयालवार (महायोगी), 4. तिरमल सई आलवार (भक्तिसार), 5. नम्मालवार (शठकोप), 6. मधुर कवि आलवार (मधुर कवि), 7. कुलशेखरालवार (कुलशेखर), 8. पेरियालवार (विष्णुचित्त), 9. आंडाल (गोदा), 10. तोरेडीपोडी आलवार (भक्ताङ्घ्रिरेणु), 11. तिरुप्पाण आलवार (योगिवाहन), 12. तिरूमंगै आलवार (परकाल)।

उक्त क्रम के आधार पर प्रथम चार को प्राचीन, बाद के पाँच को मध्य तथा शेष तीन को अन्तिम काल में मानने की परम्परा है। ये समस्त आलवार तमिल प्रदेश के थे। अत: इनकी रचनाओं में तमिल नाम ही मिलते हैं।

पोयगै आलवार को आदिकवि मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इनका जन्म तमिल प्रदेश में काञ्चीपुरम् के उत्तरी भाग में स्थित तिरूवेला ग्राम के एक तालाब में कमल पुष्प पर हुआ था। इन्हें विष्णु के शंख का अवतार माना जाता है। तालाब के पुष्प से जन्म लेने के कारण इनका नाम पोयगै (तालाब) पड़ा। सामान्य रूप से इनका जन्म समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। पोयगै आलवार के एक सौ पद 'मुदलतिरूवन्तादि' के नाम से उपलब्ध हैं। इनकी रचना अन्तादि छन्द में की गई है तथा 'दिव्य प्रबन्धम्' के 'इर्मया विभाग' में संग्रहीत है। इन्होंने विष्णु के विभिन्न अवतार, गुण, लीला, धाम का वर्णन किया है, किन्तु विशेषतया श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं पर इनका मन रमा था।

भूतत्तालवार का जन्म 'तिरूकडनमल्लै' (महाबलीपुरम्) में माधवी पुष्प पर हुआ था। इनकी रचना में भी इनके

जन्मस्थान 'मामलै' का उल्लेख है। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है। इनका जीवनकाल पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है। इनके सौ पद तिरूवन्दादि छन्द में रचित उपलब्ध होते हैं तथा 'इरंटाम तिरूवन्दादि' के नाम से प्रबन्ध में संग्रहीत हैं।

पेयालवार का जन्म वर्तमान चेन्नई के अन्तर्गत मैलापुर नामक स्थान में किसी कुएँ के लाल कमल पुष्प से प्रकट माना जाता है। श्री सम्प्रदाय वाले इन्हें विष्णु के खड्ग का अवतार मानते हैं। पोयगे आलवार, भूत्तालवार, पेयालवार इन तीनों को मुद्लालवार एवं मुनित्रय कहते हैं। ये तीनों अयोनिज माने गये हैं। ये तीनों समकालीन थे। इन तीनों के एक दूसरे से परिचित होने के पीछे की घटना प्राप्त होती है। एक बार भयंकर जल वृष्टि हो रही थी। इन तीनों ने 'तिरूकोइलूर' नामक स्थान पर एक वैष्णव के यहाँ आश्रय ग्रहण किया और वहाँ कीर्तन करने लगे तब भगवान ने सपरिकर अपना दर्शन कराया। इस घटना की पुष्टि पोयगै आलवार के एक पद से प्राप्त होती है। (मुद्ल तिरूवन्दादि पद 87)।

भक्तिसार का जन्म भार्गव मुनि एवं कतकाङ्गी नामक अप्सरा के संयोग से तिरूमलसई (महीसार-महीशपुरम्) में हुआ था। इनका लालन-पालन एक व्याध ने किया था। आठ वर्ष की अवस्था में वैराग्य होने के कारण इन्होंने घर का त्याग कर दिया। ऐसा माना जाता है कि पहले ये शिव भक्त थे बाद में पेयालवार के सम्पर्क में आने के कारण वैष्णव हो गये और अपना नाम भक्तिसार रख लिया। इनकी दो रचनायें प्रबन्धम् में संग्रहीत हैं। प्रथम रचना 'नानमुखन-तिरूवन्तादि' में सौ पद संग्रहीत हैं। इसमें भगवान के अवतारों एवं उनके प्रेम, वात्सल्यादि विशिष्ट गुणों का वर्णन है। दूसरी रचना 'तिरूच्चन्द विरूत्तम्' में एक सौ बीस पद संग्रहीत हैं। इसमें वैष्णव धर्म का उपदेश, वेद, उपनिषद् का सार एवं दर्शन के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन है।

आलवारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नम्मालवार (शठकोप) है। इनका जन्म सातवीं शताब्दी में माना जाता है। इनके पिता का नाम कारिनाथ करिमारन तथा माता का नाम उदयनंगै था। इनके माता-पिता ने भगवान विष्णु से पुत्र प्राप्ति हेतु प्रार्थना की थी। इन्होंने जन्म के बाद दस दिन तक न तो दुग्धपान किया न आँखें खोलीं। ऐसी स्थिति में इनके माता-पिता ने स्थानीय आहिनाथ विष्णु मंदिर में स्थित इमली के वृक्ष के कोटर में रखकर भगवान विष्णु को समर्पित कर दिया। ये उस कोटर में सोलह वर्ष तक योगमुद्रा धारण कर पड़े रहे। मधुर कवि के द्वारा जगाये जाने पर ये जागे और उन दोनों में आध्यात्मिक चर्चा हुई। तब मधुर कवि ने इनको अपना गुरु मान लिया। इनके चार ग्रंथ प्रबन्धम् में समाविष्ट हैं। 'तिरूविरूत्तम' को ऋग्वेद का सार माना जाता है। इसमें सौ पद हैं। 'तिरूवाचिरयम्' को यजुर्वेद का सार माना जाता है, इसमें सात पद हैं। 'पेरियतिरूवन्तादि' को अथर्ववेद का सार कहा जाता है। इसमें सत्तासी पद हैं। 'तिरूवाय मौली' यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें संत-महात्माओं के वचन संग्रहीत हैं। इसको सामवेद का सार माना जाता है, इसमें एक हजार एक सौ पद हैं। नम्मालवार को श्रीवैष्णव कुलपति एवं तमिल वेदव्यास कहा जाता है।

मधुर कवि नम्मालवार के शिष्य थे। जब इन्होंने नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया था तो ये आयु में उनसे बड़े थे लेकिन नम्मालवार के ज्ञान एवं चिन्तन से प्रभावित होकर इन्होंने नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया था। इनका जन्म तिरूकुरूद्र के समीपस्थ तिरूकोइलूर के एक अग्रशिखी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही ये गीत रचना कर मधुर स्वर में गाते थे इसलिए इनका नाम मधुर कवि पड़ गया। इनके गुरु की मृत्यु के बाद अपने जन्म स्थान पर तिरूकोइलूर में अपने गुरु की मूर्ति स्थापित कर भजन करने लगे। वहीं पर ही इन्होंने अपनी जीवन लीला का संवरण किया। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु के वाहन गरुड़ का अवतार माना जाता है। इनकी एकमात्र रचना 'कण्णिनुल चिरूयाम्बु' है। इनमें केवल ग्यारह पद हैं।

आलवारों में कुलशेखरालवार का जन्म चेर वंशीय राजा दृढ़व्रत के पुत्र रूप में हुआ था। इन्हें भगवान विष्णु के कौस्तुभ मणि का अवतार माना जाता है। ये शस्त्र एवं शास्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं में अति निपुण थे। इनके पिता ने

अपने पुत्र की योग्यता से संतुष्ट होकर इनका राज्याभिषेक कर दिया था। कुछ समय बाद रात्रि में इनको स्वप्न में भगवान के दर्शन हुए तब इनको राज्य त्याग कर श्रीरंगम् की भक्त गोष्ठी में जाकर भजन करने की इच्छा हुई। इनके मंत्रियों ने इन्हें रोकने के कई प्रयास किये लेकिन वे अपना ऐश्वर्य त्यागकर श्रीरंगम् चले गये। वहाँ इन्होंने अपनी पुत्री इला का विवाह भगवान रंगनाथ के साथ कराया और 67 वर्ष की आयु में अपनी इहलीला संवरण की। इनकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं। तमिल भाषा में 'पेरूमाल तिरूमौली' जिसमें एक सौ पाँच पद हैं तथा संस्कृत में 'मुकुन्द माला' इसमें चालीस श्लोक हैं।

आलवारों में पेरियालवार का विशिष्ट स्थान है। इनका जन्म पाण्ड्य राज्यान्तर्गत विल्लीपुत्तूर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मुकुन्दाचार्य तथा माता का नाम पद्मा था। इनके बचपन का नाम विष्णुचित्त था। ये भगवान विष्णु की सेवा पुष्प माला धारण कराकर करते थे। इनका अधिकांश समय भगवान की सेवा पूजा में व्यतीत होता था। एक बार पाण्ड्य राजा वल्लभदेव ने परतत्त्व का निर्धारण करने हेतु एक सभा का आयोजन किया। भगवान के आदेश से इन्होंने उस सभा में श्री लक्ष्मीनारायण को परतत्त्व सिद्ध किया। राजा ने विष्णुचित्त को 'पट्टर पिरान' (श्रेष्ठ ब्राह्मण) की उपाधि से विभूषित किया। इनकी रचनाओं में 'तिरूपल्लाण्डु' में बारह पद हैं, इसमें भगवान के अनुपम सौन्दर्य के शाश्वत रहने की कामना है। इनकी दूसरी रचना 'पेरियालवार तिरूमौली' में चार सौ इकसठ पद हैं। जिसमें भगवान श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं एवं भगवान श्रीराम के कुछ प्रसंगों का वर्णन है।

आण्डाल जिन्हें गोदा भी कहा जाता है। इन्हें दक्षिण की मीरा के नाम से भी जाना जाता है। श्री सम्प्रदाय में इन्हें भूदेवी का अंश माना जाता है। ये पेरियालवार की पालित पुत्री थीं। पेरियालवार (विष्णुचित्त) को यह पुष्प वाटिका में फूल चुनते हुए मिली थीं। उन्होंने इनका नाम 'कौदे' अर्थात् पुष्पगुच्छ रखा। भगवान के प्रति इनकी भक्ति गोपी भाव की थी। एक बार ये अपने पिता की बनाई हुई पुष्प मालाओं को स्वयं धारण कर दर्पण में निहार रही थीं तब इनके पिता ने इन्हें बहुत डांटा और नई पुष्प माला बनाकर भगवान को पहनाई। भगवान ने स्वप्न में उन्हें आण्डाल द्वारा धारण की हुई मालायें पहनाने का आदेश दिया। जब ये सोलह वर्ष की हुईं तब भगवान ने पेरियालवार को आदेश दिया कि वह आण्डाल को श्रीरंगम लायें। वे वहाँ पर उसका पाणिग्रहण करेंगे। पेरियालवार आण्डाल को लेकर श्रीरंग गये। वहाँ विधिपूर्वक पाणिग्रहण हुआ। आण्डाल गर्भगृह में प्रवेश कर शेष शय्या पर आरुढ़ हुईं। उस समय दिव्यालोक सा छा गया और आण्डाल उसी में समा गईं। इनकी दो रचनायें 'दिव्य प्रबंधम्' में संग्रहीत हैं। पहली रचना 'तिरूप्पावै' में तीस पद हैं। इसमें अभिलषित वर प्राप्त हेतु गोपिकाओं द्वारा किये गये कात्यायनी व्रत का वर्णन है। दूसरी रचना 'नाच्चियारतिरूमौली' में एक सौ तितालीस पद हैं, इसमें आण्डाल स्वयं को नायिका एवं भगवान को नायक मानकर दोनों के विरह एवं मिलन का वर्णन किया गया है।

तोडरडी पोडी आलवार (भक्तांघ्रिरेणु) का जन्म कावेरी नदी के तट पर तिरूमण्डन कुडी नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम विप्रनारायण था। ये आजीवन बाल ब्रह्मचारी थे। ये श्रीरंगम के पास एक तुलसीवन लगाकर नित्य तुलसी पुष्प मालायें भगवान को अर्पित करते थे। ये अपने को भगवान के दासों का दास मानते थे। अत: लोग इन्हें तोडरडी पोडी अर्थात् भगवान के दासों की धूल पुकारते थे। तोडरडी पोडी की दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—'तिरूमालै' और 'तिरूपल्ली एलुच्ची'। 'तिरूमालै' में पैंतालीस पद हैं। इसे कवि की गीतांजली कहते हैं। 'तिरूपल्ली एलुच्ची' में केवल दस पद हैं। यह भगवान को शय्या से उठाने के लिए गाये जाते हैं। इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

तिरूप्याण आलवार (मुनिवाहन) का जन्म कावेरी नदी के तट पर 'उरैयूर' नामक ग्राम में हुआ था। इनका पालन पाणन जाति के व्यक्ति ने किया था। पाणन जाति के लोग राजाओं की कीर्ति-गायन कर जीवन-यापन करते हैं। ये नीची जाति के माने जाते थे। तिरूप्याण भी नीची जाति के माने जाते थे। इनका मंदिर में प्रवेश वर्जित था। एक बार श्रीरंगम मंदिर के ब्राह्मण लोकसारंग मुनि भगवान हेतु कावेरी जल लेने जा रहे थे। ये रास्ते में बैठे अपने भजन में निमग्न

थे। उन्होंने कई आवाजें दीं पर इन्होंने नहीं सुनी। तब उन्होंने एक पत्थर फेंक कर मारा जिससे इनके सिर में चोट आई। तब लोकसारंग मुनि को रात्रि में भगवान ने अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए कहा और तिरूप्याण को अपने कंधे पर बैठाकर अपने दर्शन हेतु लाने को कहा। लोकसारंग मुनि उन्हें अपने कन्धे पर बैठाकर मंदिर में दर्शन हेतु लाये। तिरूप्याण आनन्दित हो गये और भगवान की स्तुति करते हुए दिव्यधाम को चले गये। इनकी एकमात्र रचना 'अमलनादिपिरान' प्राप्त है जिसमें दस पद प्राप्त हैं। इसके पदों में दश अंगों का वर्णन है।

आलवारों में अंतिम तिरूमंगै आलवार हैं। इनका जीवनकाल 800 से 870 ई. के मध्य माना जाता है। इन्हें भगवान विष्णु के सारंग का अंश माना जाता है। इनका जन्म चोल राज्य के तिरूमङ्गै जनपद के तिरूवाली तिरूनगरी के निकट तिरूकुरैयलर नामक स्थान में हुआ था। ये चोल राजा के सेनापति थे। युद्ध में इनका पराक्रम देखने के कारण राजा ने इनका नाम परकाल रखा था। राजा ने इनको तिरूमंगै की जागीर प्रदान की थी। एक बार ये एक वैष्णव वैद्य की कन्या कुमुदवल्ली पर मोहित हो गये। उसके पिता से कुमुदवल्ली के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की। तब उसने दो शर्तें रख दीं—प्रथम शर्तानुसार प्रतिदिन 1008 वैष्णवों को भोजन कराकर ही भोजन करेंगे तथा दूसरी शर्तानुसार तिरूमंगै को वैष्णव बनना होगा। इन्होंने दोनों शर्त स्वीकार कर विवाह कर लिया। कुछ दिन के पश्चात वैष्णव भक्तों को भोजन कराने में सभी राजकोष का धन खर्च कर दिया। अब राजा ने इनसे धन माँगा तो ये धन देने में असमर्थ हुए और इन्हें कारागार में डाल दिया गया। तब भगवान ने इन्हें विशाल धनराशि के भूमि में गढ़े होने की सूचना दी। उसे निकालकर इन्होंने अपना सारा राजकोष चुका दिया। कारागार से छूटने के बाद ये लूटमार कर वैष्णवों को भोजन कराने लगे। भगवान ने इन्हें इस कार्य से रोकने के लिए एक ब्राह्मण दम्पत्ति का वेश बनाया। इन्होंने उन्हें लूट लिया लेकिन ये लूट का सामान उठाने में असमर्थ रहे। तब भगवान ने इन्हें उपदेश किया और इनको दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। ये 105 वर्ष तक जीवित रहे। इनकी छः कृतियाँ प्रबन्धम् में संग्रहीत हैं:—1. पेरियतिरूमौली, 2. तिरूक्कुरूताडकम्, 3. तिरूनेडुन्ताडकम्, 4. तिरूवेलुकूतिरूक्के, 5. चिरियतिरूमडल, 6. पेरियतिरूमडल। 'पेरियतिरूमौली' में एक हजार चौहत्तर पद हैं। इसमें अनेक दिव्य देशों में विराजमान भगवान विष्णु की स्तुति है। 'तिरूक्कुरून्ताडकम्' में 20 पद हैं एवं 'तिरूनेडुन्ताडकम्' में तीस पद हैं। 'तिरूवेलुकूतिरूक्के' एक लम्बा पद है जिसमें समर्पण के भाव को अभिव्यक्त किया है। 'चिरियतिरूमडल' में तमिल समाज की मडल प्रथा का वर्णन है। 'पेरियतिमडल' में स्वयं को विरहिणी नायिका मानकर भगवान को प्राप्त करने हेतु प्रार्थना है। [क०उ०]

आश्रम व्यवस्था

प्राचीनकाल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये क्रमशः चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों के लिए उचित बताया गया है। इनमें से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहलाते हैं। वैसे तो प्रत्येक आश्रम में 25-25 वर्षों तक रहकर मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है किन्तु 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में 5 वर्ष की आयु से 48 वर्ष पर्यन्त तक प्रथम ब्रह्मचर्याश्रय का समय है। यह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहस्थाश्रम जोकि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिए होता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिए एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ में किया जाता है।

ब्रह्मचार्ये ति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रः।
स सध एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संग्रभ्य् महूराचरिंक्रत्॥

जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े-बड़े श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होता है तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने-अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है।

प्राचीनकाल में हमारे देश में विभिन्न स्थानों पर गुरुकुल हुआ करते थे जहाँ बच्चों को बचपन से ही पढ़ने-लिखने के लिये छोड़ दिया जाता था। ऐसे बच्चे लगातार अपने गुरुजनों के पास रहकर विद्या अध्ययन के साथ-साथ समाज सेवा एवं राष्ट्र सेवा का पाठ सीखते थे। गृहस्थ आश्रम में बताया गया है कि गृहस्थाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और दोनों यथावत् विवाह के नियमों में चलें, जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिखे आये हैं।

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों को देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में रम के विद्या पढ़ना एवं तीसरा परमेश्वर का ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है। जो वेद को पढ़कर परमेश्वर को जानने की इच्छा रखते हैं, वे संन्यासी लोग मोक्ष को प्राप्त होते हैं तथा जो सद्पुरुष ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानकर मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्ति स्थान को प्राप्त होने के लिए संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विधान है वे गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ के बिना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में प्राचीन आश्रम व्यवस्था का पालन करना भले ही कठिन हो किन्तु इनका अध्ययन और मनन करके हम अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा मानव की सारी आयु को आश्रम के रूप में भिन्न-भिन्न समय सीमा में बाँधकर हमें एक जीने की कला का एहसास करवाया है, जिसे आज के मानव समूह को भी इन सब बातों को अपने जीवन में ढालना अति आवश्यक है। [कृ०उ०]

आसानन्द

आसानन्द जी का जन्म गाजियाबाद के एक वैश्य कुल में हुआ था। इनको बचपन से ही सत्संग और साधु सेवा में रुचि थी। जब इनका विवाह हो गया तो इनकी पत्नी को यह साधु सेवा और सत्संग का प्रेम नहीं भाया, वह बहुत ही कलह प्रिया थी। इनका मन वैराग्य लेकर अपने आप को प्रभु भक्ति में रमाने का करता था। संयोग से ईश्वर ने इनकी इच्छापूर्ति कर दी और इनकी पत्नी असमय परलोक सिधार गयी। इन्होंने गृह त्याग कर चरणदासी संप्रदाय के आचार्य चरणदास जी की शरण ग्रहण की और उनसे दीक्षा ली। गुरु ने ही इनका नामकरण आसानन्द किया।

इन्होंने हरियाणा के रोहतक जिले की सोनीपत तहसील की गढ़ी सिढ़ाना नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित की। बाद में यह गद्दी रामरूप जी की प्रधान गद्दी से जुड़ गई क्योंकि आसानन्द जी रामरूप जी के स्थान पर बैठ गये तथा यहाँ पर इनको कुछ भू संपत्ति प्राप्त हो गयी थी। [क०उ०]

इ, ई

इंजील

अल्लाह ने अपने बंदों के मार्ग-दर्शन के लिए अपने रसूलों (पैगम्बरों) पर पुस्तकें अवतीर्ण कीं। 'तौरात', 'जबूर', 'इंजील' आदि अल्लाह की ओर से बहुत-सी पुस्तकें अवतीर्ण हुईं, परंतु उनमें से कितनी पुस्तकें हैं जो बिल्कुल लुप्त हो चुकी हैं। जो किताबें आज पाई भी जाती हैं उनमें कुरआन के सिवा कोई पुस्तक अपने वास्तविक शब्दों और अर्थों के साथ सुरक्षित नहीं है। उनमें अल्लाह के संदेशों के साथ मानवीय वक्तव्य भी सम्मिलित हो गए हैं। लोगों ने उनमें बहुत-सी बातें अपनी ओर से मिला दी हैं और कितने ही तथ्यों में परिवर्तन कर दिया है, परिणामस्वरूप यह निर्णय करना अत्यंत कठिन है कि उसमें कितना सत्य है और कितना असत्य। कुरआन की विशेषता यह है कि वह अपने उन्हीं शब्दों और अर्थों में विद्यमान है, जिन शब्दों और अर्थों के साथ अल्लाह के अंतिम पैगम्बर और रसूल मुहम्मद सल्ल.अ.व.स. ने उसे संसार के समक्ष प्रस्तुत किया था।

'इंजील' यूनानी शब्द है। मूल शब्द Euanggliow है जिसका शाब्दिक अर्थ 'शुभ सूचना' है। ईसाई विचारधारा के अनुसार 'इंजील' को 'इंजील' इसलिए कहा गया है कि हजरत ईसा अ.स. ईश्वरीय राज्य की 'शुभ सूचना' देते थे। मुसलमानों के विचार में इंजील 'शुभ सूचना' इसलिए है कि उसमें हजरत मुहम्मद सल्ल. अ.व.स. के आगमन की शुभ सूचना है।

इंजील वह आसमानी पुस्तक है जो हजरत ईसा मसीह पर अवतीर्ण हुई थी। 'इंजील' वास्तव में हजरत ईसा के अंतिम समय के ढाई-तीन वर्षों के उन कथनों, उपदेशों और भाषणों का संग्रह है जो उन्होंने ईश्वर की ओर से दिये थे। इस ग्रंथ को आपके जीवन-काल में उन्हें लिपिबद्ध किया जा सका था या नहीं इस विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक समय के पश्चात् आपके जीवन चरित्र संबंधित अनेक पुस्तकें लिखी गईं और उनमें आपके उन भाषणों और कथनों को जगह-जगह सम्मिलित कर दिया गया जो उन पुस्तकों के लेखकों तथा जनश्रुतियों या स्मृति-पत्रों द्वारा पहुँचे थे। आज जो इंजीलें मत्ता (Mathew), मरकुश (Mark), लूका (Luka) और यूहन्ना (John) के नाम से पाई जाती हैं वे वास्तव में इंजीलें नहीं हैं बल्कि 'इंजील' हजरत ईसा मसीह के उन कथनों, वचनों और भाषणों को कहेंगे जो इन इंजीलों में जगह-जगह मिलते हैं।

इंजीलों से पहले के आसमानी ग्रंथों (पुस्तकों) की पुष्टि होती है। इनमें कुरआन की भी पुष्टि होती है। हजरत मुहम्मद सल्ल.अ.व.स. के आगमन के विषय से संबंधित प्रत्यक्ष संकेत भी 'इंजील' में मिलते हैं। 'इंजीलों' में सबसे अधिक विश्वसनीय इंजील 'इंजील बरनबास' है जिसे 'कलीसा' ने अवैध और संदिग्ध ठहराया है। सोलहवीं शताब्दी में 'इंजील बरनबास' के अतालवी अनुवाद की एक प्रति पोप शिक्सरस के पुस्तकालय में पाई जाती थी लेकिन उसे पढ़ने की अनुमति न थी। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में वह एक व्यक्ति जॉन टोलैंड के हाथ लगी। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया, इसमें प्रत्यक्षत: हजरत मुहम्मद सल्ल.अ.ल.व. के विषय में भविष्य-वाणियाँ मिलती हैं। कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद सल्ल.अ.व.स. के जन्म से 65 वर्ष पूर्व इंजील बरनबास विद्यमान थी।

ईसा अलैहिस्सलाम-हजरत मरियम ईसा अ. की माँ थी। कुरआन में उन पर एक सूरत उतारी है। जब एक फरिश्ता हजरत मरियम के पास आकर कहता है कि मैं अल्लाह का संदेश लेकर आया हूँ कि वो तुम्हें एक पुत्र प्रदान करेगा। हजरत मरियम के यह कहने पर कि मैं अविवाहिता हूँ तब फरिश्ते ने कहा कि यह अल्लाह के लिए बहुत आसान

है। परिणामस्वरूप वह गर्भवती हो जाती है और उन्हें ये आदेश हुआ कि वह किसी भी पुरुष या महिला से कोई बात न करें। इस प्रकार ईसामसीह का जन्म एक चमत्कार था। जब हजरत मरियम लौटकर अपने परिवार और समाज में आती है, तब उन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। हजरत मरियम के ये कहने पर कि यह नन्हा बालक ही आपके प्रश्न का उत्तर देगा तो सभी लोग अत्यंत क्रोधित हो जाते हैं किंतु बच्चा (ईसा अ.) बोल पड़ता है कि ''मैं अल्लाह का बंदा हूँ और अल्लाह ने मुझे किताब दी है। मुझे अपना पैगम्बर बनाया है।''। (सूरा मरियम)।

मनुष्य को अल्लाह के आदेशों के पालन में वास्तविक उत्तम एवं पवित्रतम जीवन प्राप्त होता है। ''मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं रहता बल्कि उस 'कलमा' से जीवित रहता है जो प्रभु की ओर से आता है'' (लूका की इंजील 11:13)

अल्लाह ने तीस वर्ष की आयु में ईसा अ. को इंजील दी और उसमें उन्होंने तौरात की ओर दी गई शिक्षा की भी पुष्टि की। ईसा अ. ने कभी भी स्वयं ईश्वर होने की पुष्टि नहीं की और न ही कभी ईश्वर का पुत्र कहा, वे तो मात्र अल्लाह के बंदे और रसूल थे। ईसा अ. ने अपनी जाति के लोगों को ईश्वर का संदेश देने का पूरा प्रयास किया और साथ ही उन्होंने अनेक चमत्कार भी दिखाए जैसे ''वह अल्लाह के आदेश पर मिट्टी से पक्षी बनाकर उन्हें जीवित कर देते, वह कोढ़ियों को मात्र छूकर अच्छा कर देते, वह अल्लाह के आदेश पर अंधों की आंख ठीक कर देते तथा मृत व्यक्तियों को जीवित कर देते'' (सूरा 2 आयत 225)।

अपने पूरे जीवन काल में अल्लाह के आदेशों को पूर्ण करने में लगे रहे। उनका उद्देश्य मूसा अ. से संबंधित शरिअत को लोगों तक पहुंचाना था, जिसकी इंजील ने पुष्टि की थी, किंतु उनके द्वारा दिए गए आदेशों को लोगों ने पूर्ण हृदय से स्वीकार नहीं किया था। [श०उ०]

इंद्रदास काठियाबाबा

ब्रज विदेही महंत श्री नैनादास जी काठियाबाबा के पश्चात उनके शिष्य श्री इंद्रदास जी काठियाबाबा ब्रज विदेही महंत हुए। नैनादास जी की प्रेरणा से ही इंद्रदास जी से कमर में काठ की पेटी (काष्ठ कोपीन) धारण करने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। इस काष्ठ कोपीन को आड़बंद भी कहा जाता है, इसे धारण करने का अभिप्राय इष्ट साधना में स्थिर और सावधान रहने के साथ ही साधु-संन्यासियों का ब्रह्मचर्य पालन भी है। इसे धारण करने से ही ये संत काठिया कहलाए। जिसका पालन अद्यावधि हो रहा है।

इंद्रदास जी महाराज उच्चकोटि के तपस्वी संत थे। भरतपुर के महाराजा भी उनकी ख्याति को सुनकर उनके दर्शनों को लालायित हो उठे। इसी समय राजा को सूचना मिली कि इंद्रदास जी भरतपुर के निकट ही पिछले छ: मास से एक गुफा में तपस्यालीन हैं। राजा के मन में इनकी परीक्षा लेने का विचार आया और उन्होंने गुफा का दरवाजा इस तरह बंद करवा दिया कि इसे खोला न जा सके। इसके साथ ही इसकी पहरेदारी भी रखवा दी। छ: माह पश्चात् जब राजा के आदेश पर गुफा को खोला गया तो काठिया बाबा की देह इतनी अवधि के पश्चात् भी उतनी ही देदीप्यमान थी जितनी गुफा बंद करते समय थी। राजा के मुँह से उस समय बरबस ही निकल गया कि 'सचमुच यह विभूति ही ब्रज विदेही महंत पद हेतु सर्वोचित है।' इसके बाद राजा ने काठियाबाबा की शरणागति और शिष्यत्त्व स्वीकार कर लिया। इनके शिष्य श्री बजरंगदास जी काठियाबाबा हुए। [कुं०बि०श०]

इच्छाद्वैत

आज 'इच्छाद्वैत' प्रत्यय सखी-सम्प्रदाय की दार्शनिक दृष्टि का निर्देशक माना जाता है। सम्प्रदाय में इस 'प्रत्यय' के प्रथम प्रयोक्ता स्वामी भगवत रसिक जी (संवत् 1790-1872 विक्रम) है। संवत् 1780 में जयपुर नरेश जयसिंह के

दुराग्रह पर नवोदित भक्ति सम्प्रदायों को अपना वैदिक मूल सिद्ध करना था। इस कठिन समय में सखी सम्प्रदाय के गोस्वामियों ने स्वयं को विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और विरक्तों ने निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा में बताकर आसन्न संकट को टाला। स्पष्ट है कि यह एक संकटकालीन व्यवस्था थी, अन्यथा तो स्वामी जी की उपासना अपनी विलक्षणता के कारण 'स्वतंत्र' ही थी। किन्तु संकट टल जाने के बाद भी जब श्री रसिकबिहारी मंदिर के महन्त पीताम्बरदास और उनके शिष्य किशोरदास ने इस तदर्थ व्यवस्था को ग्रन्थ रचना के द्वारा स्थायित्व देने में भारी रुचि दिखलाई और संवत् 1820 वि. के आसपास निजमत सिद्धान्त लिखकर परम्परा का दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैतवाद' बताना आरंभ किया तो उपासकों को चिन्ता हुई। भगवत रसिक 1823 विक्रमी में वृन्दावन आ चुके थे, किशोरदास के हाथों स्वामी जी की उपासना के इस विरूपण को देख उनके मन को भारी कष्ट हुआ। निजमत सिद्धान्त के आदिखण्ड के आरंभ में किशोरदास ने लिखा—

श्रीगुरु चरण प्रथम उर धारौं, श्री निम्बादित मत विस्तारौ।
द्वैताद्वैत भाव ता माहीं सम्प्रदाय सबया सम नाहीं।
यमों आसधीर इतिहासा सव्वोंपरि स्वामी हरिदासा।

संभवत: इसी स्थापना का खण्डन बताते हुए भगवत रसिक जी को यह लिखना पड़ा कि—''**नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत, बंधे नहीं मतवाद में ईस्वर इच्छाद्वैत। ईस्वर इच्छाद्वैत करें सबही कौ पोषन आप रहें निर्लेप भक्ति सौं तोषन॥**'' इस तरह समझा जा सकता है कि जो सखी सम्प्रदाय लगभग पौने तीन सौ वर्षों तक स्वामी हरिदास द्वारा निर्दिष्ट उपासना मार्ग पर एक परम्परा के रूप में विकास करता चला आ रहा था उसे अपनी उपासना दृष्टि को 'दार्शनिक प्रत्यय' इच्छाद्वैत आखिर क्यों देना पड़ा। ध्यान देने की बात यह है कि इस नामकरण की पृष्ठभूमि में स्वामी हरिदास जी और परम्परा के अन्य वाणीकारों की साक्षी विद्यमान है। स्वामी हरिदास ने अपने आराध्य श्री श्यामाकुंजबिहारी को 'घनदामिनी' की तरह सहज प्रकट होकर रुचि के प्रकाश में रसक्रीड़ा करने वाला कहा है। इसी का पल्लवन श्री बिहारिनदास के यहाँ '**इच्छा विग्रह धरि लीलावपु सब अवतारन कौ अवतारी**' और श्री ललितकिशोरी के यहाँ '**इच्छावपुलीला सब करई—इच्छावान आप थिर रहई॥ निर्गुन सगुन इच्छा जान इच्छावान परे उनमान॥**' के रूप में दृष्टि गोचर होता है।

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यंजगन्मिथ्या ब्रह्मे जीवैवनापर: कहा और ब्रह्म और जीव के एकत्व को मोक्ष। अत: उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैतवाद' कहलाया किन्तु भक्ति का मार्ग तो प्रकृतित: द्वैत मूलक था, अत: यहाँ आचार्यों ने ईश्वर को सर्वसमर्थ माना और जीव को उनके आधीन। इसी तरह उन्होंने भक्त द्वारा भगवत्सान्निध्य प्राप्त करने को मोक्ष माना जो प्रभु कृपा और भक्ति साधना से संभव था। यह मार्ग शंकराचार्य के मार्ग से भिन्न था। इसीलिए इस भक्ति मार्ग पर चले आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत', 'द्वैताद्वैत', 'भेदाभेद', 'शुद्धाद्वैत' आदि कहलाये। इन सबसे 'इच्छाद्वैत' का एक प्रधान और आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ इन सबमें भगवान और भक्त के मध्य का सम्बन्ध नामकरण का आधार बना है; वहीं 'इच्छाद्वैत' में रसमूर्ति श्रीप्रिया-प्रियतम का पारस्परिक सम्बन्ध इस नामकरण का आधार है। बिहारिनदास जी ने कहा है कि हमारे श्यामाकुंजबिहारी की जब इच्छा होती है तो वे एक से दो हो जाते हैं और जब इच्छा होती है तो दो से फिर एक हो जाते हैं।

इच्छा एक अनेक ह्वे, पुनि अनेक ह्वे एक। एक से अनेक होने की यह प्रक्रिया रसदेश में यदि लीला-विलास के लिए है तो सृष्टि निर्माण के क्रम में सृष्टि विस्तार के लिए भी है। लीला विलास में इच्छाद्वैत का अभिप्राय है रसतत्त्व का इच्छा से द्वैत और इच्छा से ही अद्वैत हो जाना। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'जीव' यहाँ किस हैसियत

से प्रवेश पायेगा? तो सखी सम्प्रदाय में जीव और हरि के मध्य जो सम्बन्ध है वह 'मीत' का है। स्वामी जी ने लिखा है—मीत भले पाये बिहारी ऐसे पावौ सब कोऊ। श्री भगवत रसिक जी ने इन दोनों के सम्बन्ध का सादृश्य 'शर्बत' को माना है जहाँ मिल जाने के बाद न जल; जल रहता है और न शक्कर; शक्कर रहती है। दोनों ही एक नया नाम और नयी भूमिका ग्रहण कर लेते हैं। एक रस-लीला का विधायक और दूसरे भोक्ता बन जाते हैं—'जीव-ईस मिल दोय नाम रूप गुन परि हरै। रिसक कहावै सोय ज्यौं जल घोरे सर्करा।' जीव 'रसिक' हो गया है और ठाकुर भी ठकुराई छोड़कर श्यामा के साथ 'रसिक-रसिकनी' युगल हो जाते हैं। तत्सुख सुखी-भाव से इनकी उपासना को भगवत रसिक ने 'सिंहनी का दूध' कहा है। क्योंकि श्यामा-श्याम की जो रसलीला है; नित्य विहार है वह उनकी दृष्टि में 'पावक' रूप है, अंगारों के समान है जो प्रेमोन्मत्त चकोर के लिए तो ग्राह्य है किन्तु उसे ग्रहण करना वेगाभिमानी गरुड़ के बूते की बात नहीं है। श्यामा-श्याम के नित्य विहार में सखी भाव से प्रवेश पा जाने के बाद जीव की एक ही इच्छा शेष रह जाती है—'ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल कर मानौ।' यह मोक्ष नहीं है, नित्य लीला में प्रवेश है, मोक्ष से बड़ी बहुत बड़ी उपलब्धि है। स्वामी जी ने दो प्रकार के जीवों का संकेत किया है:—एक सम्मुख जीव और दूसरे विमुख जीव। यह सम्मुख जीव ही है जिससे श्यामाश्याम प्रेम करते हैं—'तासों के चरणों तुम हित करौ' और यही आनंद कंद की कृपा से भवसागर से पार हो पाते हैं।

भारतीय दर्शन में तीन बातों का विचार अपरीक्षित विश्वास के साथ किया जाता रहा है। कर्म का सिद्धान्त, पुनर्जन्म का सिद्धान्त और मोक्ष का सिद्धान्त। इनमें से इच्छाद्वैत में मोक्ष या मुक्ति काम्य नहीं है; इसका संकेत पूर्व में कर आये हैं। जब तक जीव हरि सम्मुख नहीं हो जाता जन्मान्तर की शृंखला भी बनी रहती है। स्वामी हरिदास जी के शब्द हैं—'दिन तो गये बहुत जन्मानि के ऐसें हो जायें और जिन कोऊ।' और रहा कर्म तो भगवत रसिक जी ने लिखा है—'जप तप तीरथ दान व्रत, जोगजग्य आधार—भगवत भक्ति अनन्य बिनु जीव भ्रमत संसार।' इस प्रकार इच्छाद्वैत में जीव की परम उपलब्धि का स्वरूप कुछ ऐसा बनता है—

चेला काहू के नहीं गुरु काहू के नाहीं
सखी लड़ैतीलाल की रहैं महल के मांहि।
रहैं महल के मांहि टहल सब करें निरंतर-दंपति
अति अकुलाहिं पलक कहुं परै जु अंतर॥

दार्शनिकों में ब्रह्म, जीव, माया, काल और जगत प्रमुख चिन्तनीय विषय रहे हैं। इच्छाद्वैत में 'ब्रह्म' को 'ज्योति फुहारौ विपिन कौ ब्रह्म सुता परकास' मानकर अपने नित्य बिहारी को प्रकृति और पुरुष दोनों से परे कहा गया है—'है पुरुष तें आगर' स्वामी हरिदास ने जीव के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा की है। जगत को उसकी परिवर्तनशीलता के कारण 'झूठौ सब संसार' कहा गया है। और इसी तरह माया को अपनी विचित्र बाजी पसारकर मुनियों को भी मोहने वाली कहा गया है, सामान्य जन की तो क्या बिसात? स्वामी जी के शब्द हैं—'तुम्हारी मायाबाजी विचित्र पसारी मोहे मुनि काके मूलें क्रीड़ा' और काल इच्छाद्वैत के अनुसार नित्यबिहारी की लीला में उसे प्रवेश कहाँ?

जन्म-मरण माया नहीं जहं निसि दिवस न होइ।
सत चित आनंद एक रस-रूप अनूपम सोइ॥

सृष्टि के विकास क्रम को भगवत रसिक ने कुछ इस तरह देखा है:—

नित्यबिहारी की कला प्रथम पुरुष अवतार
तासु अंस माया मई जाकौ सकल पसार।
जाकौ सकल पसार महातत्त्व उपज्यौ जाते
अहंकार उत्पत्ति भई सुतिक स्तुति कहै जु ताते॥
अहंकार त्रैरूप भयौ सिवविधि असुरारी।
भगवत सबकौ तत्त्वबीज, श्री नित्यबिहारी॥

ये नित्यबिहारी सब कालों के काल, लोकपालों के पालक, सदा स्वतंत्र, विश्व ब्रह्माण्ड को रचकर उसमें रमण करने वाले, माया के प्रपंच से सदा परे, अशरण को शरण देने वाले और षड़ ऐश्वर्य के स्वामी हैं। वृन्दावन इनका नित्यधाम है, मायागति काल की कहाँ नहीं है। इसी वृन्दावन की नवनिकुंजों में विद्यमान 'निधुवन' इनकी नित्य रसविहार-स्थली है। [कृ०चं०गो०]

इस्लाम धर्म का दार्शनिक मत

इस्लाम धर्म के पाँच आधारभूत सिद्धान्त हैं:—

इस्लाम धर्म की पहली मौलिक बात यह है कि इस मज़हब के मानने वाले एक ख़ुदा में विश्वास करते हैं और कहते हैं कि हम सब उसके बन्दे और मोमिन हैं। मुसलमान लोग कलमा 'ला इलाहा इलल्ललाह मुहम्मद ररसूलल्लाह' का पाठ अधिक से अधिक करते हैं, जिसका अर्थ है कि अल्लाह एक है और हज़रत मुहम्मद सल्लललाहो अलैहिवसल्लम अल्लाह के रसूल हैं।

इस्लाम धर्म की दूसरी मौलिक बात सलात अर्थात नमाज़ है। इस धर्म के मानने वाले लोग दिन में पाँच वक़्त मस्जिद या फिर घर पर नमाज़ पढ़ते हैं। मस्जिद में नमाज़ पढ़ने से मुहब्बत और भाईचारा भी पैदा होता है, अल्लाह की इबादत के साथ-साथ नमाज़ एक प्रकार से योग भी है जिसके पढ़ने में कुछ ऐसे आसन होते हैं जो व्यक्ति के शरीर को भी लाभ पहुँचाते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में नमाज़ का बहुत महत्त्व है।

इस धर्म की तीसरी महत्त्वपूर्ण बात रमज़ान के रोज़े रखना है। प्रत्येक धर्म में व्रत (रोज़े) का महत्त्व है। इस्लाम धर्म में रमज़ान के महीने में 29 या 30 दिन के व्रत (रोज़े) रखे जाते हैं। इस प्रकार रमज़ान के रोज़े व्यक्ति को पाक-साफ जीवन व्यतीत करने की शिक्षा प्रदान करते हैं।

इस्लाम धर्म की चौथी मौलिक बात ज़कात अर्थात दान-पुण्य है। रमज़ान के रोज़ों के बाद ईद आती है। इस्लाम धर्म में यह प्रयास किया जाता है कि यह त्यौहार सभी लोग खुशी से मनाएँ। रमज़ान के दिनों में सभी मुसलमानों के लिए यह फ़र्ज़ कर दिया गया है कि वह अपनी कमाई, सम्पत्ति का एक निश्चित भाग गरीब लोगों, मुसाफिरों, विधवाओं, अनाथों आदि को दें। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेष दान है जिसे फ़ितरा कहा जाता है।

इस धर्म की पाँचवीं मौलिक बात मक्का-मदीना की तीर्थ-यात्रा अर्थात हज है। जिन मुसलमान लोगों के पास इतना धन है कि वह अपने निजी खर्च के बाद मक्का-मदीना आने-जाने और रहने का व्यय सहन कर सकें उनके लिए हज अनिवार्य है। वह मक्का में जाकर हृदय से इबादत करें तथा पवित्र धार्मिक स्थल की परिक्रमा करें। इस माह में हज़रत मुहम्मद साहब की समाधि की ज़ियारत करें। [आ०स०]

इस्लाम धर्म की उपासना पद्धति

इस्लाम में उपासना पद्धति अर्थात् नमाज़ पढ़ने का तरीका (नियम) है—अज़ान की आवाज़ सुनकर अर्थात् नमाज़ का समय होने पर व्यक्ति को वज़ू करने के बाद नमाज़ पढ़ने के लिए तैयार होकर किबले की तरफ़ मुँह करके खड़ा होना होता है और नमाज़ की नियत करके अल्ला हो अक़बर कहकर हाथ बाँध लो फिर यह पढ़ो—'सुबहाना कल्लाहुम्मा वबे हमदिका व तबारा कस्मौ का वता आला जद्दोका वला इलाहा ग़ैरों का आऊज़ो बिल्लाहे मिनश शैतुआ निरजीम'। फिर यह पढ़ें :—बिसमिल्ला हिर्रहमा निर रहीम। अलहम्दो लिल्लाहि रब्बिल आलमीन अर्रहमा निर्रहीम मालिके योमिद्दीन इय्याका न अबुदो वइय्याका नसतईन इहदे नस सिरातु अल मुस्त कीमा सिरातु अल लज़ीना अन अमता अलैहिम ग़ैरिल मग़दूबे अलैहिम वलददुआल्लीन, आमीन। इसके बाद पढ़े—कुल हो वल्ला हो अहद अल्ला हूस समद लमयलिद वलम यूलद व लम य कुल लहू कुफ़ी वन अहद।

इसके बाद 'अल्ला हो अक़बर' कहकर रूकू में जायें और तीन बार "सुबहाना रब्बियल अज़ीम," फिर रूकू से उठकर खड़े हो जायें तब यह पढ़ें 'समें अल्ला हो लिमन हमिदह।' अगर कोई इमाम के पीछे नमाज़ पढ़ता हो तो यह पढ़े 'रब्बना लक्लहम्द,' इसके बाद अल्लाहो अक़बर कहते हुए सिजदे में जायें और कम से कम तीन बार यह पढ़ें 'सुबहाना रब्बियल आला,' दो बार सिजदा करके फिर रक़आत को खड़े हो जायें और इसी तरह दूसरी रक़आत में पढ़कर वैसे ही रूकू करें। सिजदे के बाद बैठ जायें और यह बैठकर पढ़ें—

'अत्तहियातो ल्लिलाहि वस सलावातो वत्तईये बातो अस्सलामो अलैका अय्यो हननबीयो बरह मतुल्लाहि व कोतुहू अस्सलामो अलैका व अला इबा दिल्ला हिस स्वालि हीन, अशहदो अल्ला इलाहा इल्लल्ला हो व अशहदो अन्ना मुहम्मदन अबदोह् वरसलो हू।

अगर दो रक़आत वाली नमाज़ हो तो "अत्तहियात" के बाद यह दरूद शरीफ़ पढ़ें—'अल्ला हुम्मा सल्ले अला मुहम्मदन व अला आले मुहम्मदिन कमा सल्लता अला इबराहीमा व अला आले इबराहीम इन्नका हमीदुम मजीद। दूसरा दरूद शरीफ़ यह पढ़ें—अल्ला हुम्मा बारिक अला मुहम्मदिंव व अला आले मुहम्मदिन कम बा रकता आला इबराहीमा व अला आले इबराहीमा इन्नका हमीदुम मजीद।

फिर यह दुआ पढ़ें—रब्बना आतिना फ़िद दुनया हसा न तंव व फ़िल आख़िरते हसा न तंव व किना अज़ा बन नार। वह पढ़कर सलाम फेरें, पहले दायीं तरफ कहें—'अस्सलामु अलैकुम व रह मतुलाहि,' फिर बायीं तरफ़ भी यही कहें। नमाज़ ख़त्म करने के बाद अपने दोनों हाथ सीने तक उठाकर फैलायें, अल्लाह तआला से अपने लिये व ख़ल्क के लिये दुआ माँगे। नमाज़ के बाद यह दुआ पढ़ें—अल्ला हुम्मा अन्तस सलाम व मिनकस सलामो हय्येना रब्बा बिस सलामो तबा रकता रब्बना वत आलैता ता जल जलाले वल इकराम। चार रक़आत वाली नमाज़ के लिए दूसरी रक़आत में सिर्फ़ 'अत्तहियात' पढ़कर खड़े हो जायें, फिर चौथी रक़आत में बैठकर दरूद और दुआ मिलाकर पढ़ें। [आ०स०]

इस्लाम धर्म के प्रमुख त्यौहार

इस्लाम के मानने वाले विशेष रूप से दो ईदें मनाते हैं:—एक रमज़ान माह के तीस व्रत रखने के बाद होती है जिसे ईदुल फ़ितर कहते हैं और लगभग इसके दो माह दस दिन बाद जो ईद मनाई जाती है उसे ईदुलअज़हा कहते हैं।

ईदुलजुहा—ईदुलजुहा को मुसलमान बकरा ईद के नाम से भी पुकारते हैं। इसे नमकीन ईद भी कहा जाता है। ईदुलजुहा की खुशी ईदुलफ़ितर अर्थात् ईद से कम नहीं है। जहाँ ईद में 29 या 30 दिन रोज़े रखकर खुदा की इबादत पूरी करने की खुशी होती है वहीं ईदुलजुहा मुसलमानों को खुदा की राह में सब कुछ कुर्बान कर देने के

जज़्बे को याद दिलाती है। ईदुलजुहा याद दिलाती है कि किस तरह अल्लाह अपने बन्दों की परीक्षा लेता है, इस सबकी जीती-जागती मिसाल हैं हज़रत इब्राहीम अलहै सलाम, जिनसे अल्लाह ने अपनी सबसे प्यारी चीज़ कुर्बान करने के लिए कहा, उन्होंने दुम्बे कुर्बान किए मगर अल्लाह ने फिर कहा कि यह नहीं अपनी सबसे प्यारी चीज़ कुर्बान कर। तब इब्राहीम अलहै सलाम समझे कि इन्सान को अपनी औलाद से अधिक प्यारा और कोई नहीं होता, और यह बात दिमाग़ में आते ही अपनी जान से प्यारे बेटे इस्माईल को खुदा की राह में कुर्बान करने चल दिए। लेकिन खुदा को उस बच्चे की जान थोड़े ही लेनी थी, वह तो बस परीक्षा ले रहा था और इब्राहीम उस परीक्षा में क़ामयाब हुए। हर ईदुलजुहा को यह अज़ीम कुर्बानी या महान बलिदान याद किया जाता है।

ईदुल फितर—ईदुल फ़ितर सारी दुनिया में मुसलमानों के लिए खुशी का सबसे बड़ा त्यौहार है। ईद का अर्थ खुशी और फ़ितर अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ रोज़ा (उपवास) है। मुसलमान उपवास को रोज़ा रखना कहते हैं और रमज़ान के पाक माह में लगभग 30 दिन के रोज़े रखते हैं। जिसमें सूर्य निकलने से पहले से लेकर सायं को सूर्य छिपने तक कुछ खाते पीते नहीं हैं। रोज़ा रखने का उद्देश्य केवल दिन-भर भूखा प्यासा रहना नहीं होता बल्कि इसके साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर अर्थात् हाथ-पाँव, दिल-ओ-दिमाग द्वारा किसी भी प्रकार से अथवा गन्दी व अश्लील बातें सोचने से भी रोज़े का उद्देश्य समाप्त हो जाता है। वास्तव में रोजे का तात्पर्य अल्लाह की इबादत या ईश्वर की भक्ति करना होता है। रोजा व्यक्ति को मानसिक शक्ति के साथ आत्म- संयम भी सिखाता है। रोजा असंख्य नैतिक एवं आध्यात्मिक लाभों में से एक है।

मौहर्रम—मौहर्रम हिजरी संवत का प्रथम महीना है। पैग़म्बर मौहम्मद साहब के नवासे इमाम हुसैन एवं उनके साथियों की शहादत की याद में मौहर्रम मनाया जाता है। मौहर्रम एक महीना है जिसमें दस दिन इमाम हुसैन के शोक में मनाये जाते हैं। इसी महीने में मुसलमानों के आदरणीय पैग़म्बर हज़रत मौहम्मद साहब मुस्तफ़ा सल्लल्लाहों अलैहि वसल्लम ने पवित्र मक्का से दूसरे पवित्र नगर मदीना में हिजरत की थी।

रोजा—रोज़ा क्या है और कैसे रखा जाता है। हज़रत मौहम्मद सहाब के मक्का से मदीना हिजरत कर जाने के दूसरे वर्ष मुसलमानों पर माहे रमज़ान के रोज़े फर्ज़ हुए। रमज़ान अरबी महीनों में से एक महीने का नाम है। मुसलमान माहे रमजान का चाँद देख लेने के पश्चात् रोज़ा रखना प्रारम्भ करते हैं और रात को ईशा की नमाज़ के अतिरिक्त बीस रक़आत अधिक पढ़ते हैं जिसको 'तराबीह' कहते हैं। रमजान का अन्तिम शुक्रवार 'जुमा अलविदा' कहलाता है, जिसका बड़ा महत्त्व है। रमज़ान के दिनों में मुसलमान ग़रीबों को ख़ैरात, यानी दान देते हैं और लगभग 30 रोज़ों के बाद जब नया चांद दिखाई पड़ता है तो रमज़ान का महीना समाप्त हो जाता है और अगले दिन ईद मनाई जाती है।

[आ०स०]

ईशान नागर

ईशान नागर अद्वैत प्रभु के शिष्य और समसामयिक थे। पांच वर्ष की आयु में वे पितृहीन हो गए। इनकी दु:खी माता ने अद्वैत आचार्य का आश्रय ग्रहण किया और दोनों ने उन्हीं से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली। अच्युतानन्द के साथ रहकर ईशान ने शिक्षा पाई। अद्वैत आचार्य ने गौरांग के विरह में व्याकुल होकर ईशान को चैतन्य नाम का प्रचार अपनी जन्मभूमि श्रीहट्ट में करने का आदेश दिया। अद्वैत आचार्य की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी सीतादेवी ने इनका विवाह किया और इन्हें अद्वैत प्रभु की जीवनी लिखने को कहा। इन्होंने 'अद्वैतप्रकाश' ग्रंथ की रचना की। कहा जाता है कि 1568 ई. में यह ग्रंथ समाप्त हुआ। इनकी निश्चित जन्म और मृत्यु तिथि अज्ञात है। ये अद्वैताचार्य जी के समसामयिक थे।

[वि०का०]

ईशावास्योपनिषद्

वेदों की संहिताओं में और उनके मंत्रों में निहित गुह्यतम ज्ञान का विस्तार उपनिषदों में उपलब्ध होता है। 'उप' और 'निषद' दो शब्दों में पहले 'उप' शब्द का अर्थ है—समीप और दूसरे शब्द 'निषद्' का अर्थ है—बैठने वाला। इस प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ है—परम तत्त्व (ब्रह्म) के समीप बैठकर प्राप्त होने वाला ज्ञान। जिस गुह्यज्ञान का उपदेश मात्र अधिकारी पुरुषों के लिए होना चाहिए, वह वेद मंत्रों में निहित ज्ञान ही उपनिषदों के रूप में प्रकट है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को गुह्य से भी गुह्य ज्ञान का उपदेश गीता में देते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

उपनिषदों में रहस्य और गूढ़ (गुह्य) के पर्याय 'वेदगुह्योपनिषत्सुगूढ़म' जैसे शब्दों से भी स्पष्ट है। डायसन के मतानुसार उपनिषद् की परिभाषा बताने वाली गुह्य और रहस्य आदि उक्तियों के सिवा उपनिषदों में 'गुह्यादेश और परमगुह्यम शब्दों का प्रयोग मिलता है। उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है, जो अज्ञान का नाश करती है और उससे उपनिषद्वाची ग्रंथों का बोध होता है, जिनमें इस विद्या की व्याख्या की जाती है। वेदांत, पराविद्या, आत्मविद्या, अध्यात्म और गुह्यविद्या उपनिषद् के विभिन्न नाम हैं। ईश या ईशावास्योपनिषद् तो दो-चार शब्दों को छोड़कर संपूर्ण का संपूर्ण यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता ही है। इसलिए मंत्र अर्थात् संहिताओं के साथ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सभी के सभी एक ही वैदिक वृक्ष की विभिन्न शाखाओं के सदृश हैं। मंत्र और ब्राह्मण दोनों तथा ब्राह्मणों के अंतर्गत होने के कारण उपनिषद् भी 'वेद' पदवाच्य हुए—'मन्त्र ब्राह्मणयोर्नाम-धेयम्'। वेदांत और उपनिषदों में इस परमगुह्य विद्या को पूर्व कल्प में प्रेरित किया गया था जिसका चित्त अत्यंत शांत न हो उस पुरुष को तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसे इस विद्या को देना नहीं चाहिए—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।।

उपनिषदों में वृहदारण्यक उपनिषद् सबसे अधिक विशाल है और यह उपनिषद् ईशावास्योपनिषद् की एक स्वतंत्र व्याख्या है। इसके सिवा अन्य उपनिषद् न्यूनाधिक रूप से ईशावास्योपनिषद् का विस्तार है। इस प्रकार सारे उपनिषदों का या ब्रह्मविद्या का मूल ईशावास्योपनिषद् होने से कह सकते हैं कि वेद ही ब्रह्मविद्या के मूल हैं। यह ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद की काण्व शाखा का 40वाँ अध्याय है। इसी को सबसे पहला उपनिषद् माना गया है। इस उपनिषद् का प्रारंभ 'ॐ पूर्णमदः' इस शांतिपाठ से प्रारंभ होता है। वह परब्रह्म पूर्ण है, यह दृश्यमान कार्य ब्रह्म भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है। पूर्ण कार्य ब्रह्म की पूर्णता लेकर उसे अपने में लीन करके पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। त्रिविध तापों की शांति हो। काम, क्रोध, लोभ में लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है और इस शत्रु को जीतने का एक ही उपाय है—त्याग या दान। इस शत्रु के विनाश की प्रेरणा देने वाले इस उपनिषद् के मंत्र का अवलोकन करें-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् ईश्वर (भावना) से जगत् का बोध कर आत्मरक्षा करो। धन का लोभ सर्वथा त्यागो। भगवान सर्वत्र है। जो कुछ स्थावर—जंगम संसार है, वह ईश्वर से व्याप्त है। उसको त्याग भाव से भोग करो, किसी के धन की इच्छा मत करो। इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहो, इसके सिवाय और कुछ करणीय नहीं है। ऐसा करने से तू कर्मों से लिप्यमान नहीं होगा। इस प्रकार कर्मफलरूप बंधन से मुक्त होने के निश्चित मार्ग का निर्देश करने के साथ ही इसके विपरीत मार्ग पर चलने वालों की गति का वर्णन करते हुए कहा है—आसुरी लोग आत्मज्ञान के अभाव से मरणोपरांत आसुरी लोक को प्राप्त होते हैं। समर्पण भाव से उस परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। वह परमेश्वर या आत्मतत्त्व कैसा है? वह आत्म तत्त्व अपने स्वरूप में स्थित तथा मन से भी तीव्र गतिवाला है। इंद्रियों से परे उस सबसे आगे जाने वाला, स्थिर होते हुए भी गतिमानों का अतिक्रमण करने वाला तथा आत्मतत्त्व की उपस्थिति से वायु प्राणियों की प्रवृत्तिरूप कर्मों का विभाग करता है। वह आत्मा चलता है। नहीं भी चलता है। वह दूर है समीप भी है, वह भीतर और बाहर भी है। परमेश्वर को जानने वाले मनुष्य की स्थिति का वर्णन किया गया है—जो कोई संपूर्ण प्राणियों को आत्मा में देखता है और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है। जिसके लिए सर्व भूत आत्मस्वरूप हो गये हैं, वह विद्वान शोक, मोह से परे हो जाता है। वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ और स्वयंभू है। इस उपनिषद् के मंत्रों में विद्या और अविद्या का तत्त्व समझाया गया है—परमेश्वर की प्राप्ति के साधन ज्ञान को 'विद्या' के नाम से कहा है एवं स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति या भोगैश्वर्य की प्राप्ति के साधन 'कर्म' को अविद्या कहा है।

विद्या, अविद्या रूप कर्मों से अलग-अलग फल प्राप्त होता है। जो विद्या, अविद्या दोनों को इस प्रकार जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमर हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत की एकता, परमात्म ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, जीवन की सत्यता, ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा, विद्या और अविद्या का वर्णन कर संभूति और असंभूति आदि के संबंध में उपनिषद् कहता है—जो मनुष्य असंभूति अर्थात् विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदि की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो अविनाशी परमेश्वर में रत हैं यानी उनकी उपासना से मिथ्याभिमान में रत हैं वे उनसे भी मानो अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं। शास्त्र के इस तात्पर्य को समझकर संभूति और असंभूति की उपासना के फल को जो विद्वान जानता है, वह हिरण्यगर्भ की उपासना से मृत्यु को पार करके अव्यक्तोपासना से अमरता को प्राप्त कर लेता है। उस परमेश्वर की इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—

हिरण्येन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हे सूर्य! ज्योतिर्मय आवरण से सत्यात्मा का द्वार ढका है, इसे खोलो। मैं दर्शन करूँ। हे सूर्य! तू अकेले चलने वाले, हे यम आप नियंता हो, हे प्रजापति नंदन! तुम अपनी किरणों को समेटकर अपने कल्याणमय स्वरूप का दर्शन कराओ। आदित्यमण्डलस्थ जो पुरुष है वह मैं हूँ। मेरे प्राण सूत्रात्मा को प्राप्त हों, शरीर भस्मांत हो। हे अग्निदेव! मेरे कर्मों का स्मरण कर। अंत में ऋषि कहता है—हे अग्ने! हमें कर्म फल भोग हेतु उत्तरायण मार्ग से ले चल। आप हमारे संपूर्ण ज्ञान और कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे पाखंडपूर्ण कार्यों को नष्ट करें। हम तुम्हारे लिए अनेकों नमस्कार करते हैं।

इस उपनिषद् में जहाँ कण-कण में उस परमेश्वर का वास बताया है, वहाँ 'भुञ्जीथा' पद से यह बताने का प्रयास भी किया गया है कि इस सृष्टि का भोग वही कर सकता है जो जीवन भर कर्म करेगा और इस संसार को अपने निर्लिप्त कर्ममय जीवन से अधिक सौंदर्यपूर्ण और ऐश्वर्ययुक्त बनायेगा। 'एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति' अर्थात् कर्म करने के सिवा अन्य कोई दूसरा उपाय तेरे लिए नहीं है। [वि०श०]

ईश्वरपुरी

कलिपावनावतार श्री चैतन्य महाप्रभु के ये दीक्षागुरु हैं। इनका जन्म ई. 1432 में कुमार हट्ट (वर्तमान नाम हालिशहर), चौबीस परगना, जिला पश्चिम बंगाल में हुआ था। इनके पिताजी का नाम श्री श्यामसुन्दर आचार्य था। श्री ईश्वरपुरी जी का गृहस्थाश्रम का नाम ज्ञात नहीं है। इन्होंने श्रीनित्यानन्द प्रभु को गृहत्याग कराया था। परम गुणवान, सर्वशास्त्र निष्णात श्री ईश्वरपुरी जी श्री माधवेन्द्रपुरी महाराज के संन्यासी शिष्य थे। इनके विषय में 'प्रेमविलास' में निम्न प्रकार वर्णन मिलता है—

राढ़ीय ब्राह्मण श्यामसुन्दर आचार्य। कुमारहट्टवासी विप्र सर्वगुणे वर्य॥
ताँर पुत्र ईश्वरपुरी बुद्धये वृहस्पति। वेद-वेदान्तादि शास्त्रे ताँर मति गति॥
परमपण्डित ईश्वर छाड़ि गृहवास। माधवेन्द्र-शिष्य हैया करिला संन्यास॥

ईश्वरपुरी जी ने युवावस्था में ही गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया था। इन्होंने अनेक तीर्थयात्राएँ कीं। अपने श्रीगुरुदेव श्री माधवेन्द्रपुरी जी में इनकी अपार श्रद्धा थी। वे सतत श्रीगुरु सेवा में तत्पर रहते थे। पुरीपाद ने इनकी सेवा से संतुष्ट होकर आशीर्वाद दिया था कि "तुम्हें भगवत्प्राप्ति होगी और भगवान तुम्हारे शिष्य होंगे।" श्रीगुरुजी की वाणी सत्य हुई। एक दिन गयाधाम में भगवान श्रीकृष्ण के साक्षात अवतार श्री चैतन्य महाप्रभु से भेंट हुई। वहाँ श्री चैतन्यदेव ने ईश्वरपुरी जी से श्रीकृष्ण मंत्र की दीक्षा प्राप्त की।

ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की प्रतिमूर्ति थे श्री ईश्वरपुरी जी। वे नवद्वीप में प्राय: जाते रहते थे। इनकी प्रसिद्ध रचना है 'श्रीकृष्णलीलामृत'। इसके अलावा पद्यावली के 16, 62 एवं 75 संख्या श्लोक भी इनके द्वारा रचित हैं। पुरी जी महाराज ने परमधाम गमन से पहले अपने दो प्रिय शिष्यों—श्री गोविन्द दास तथा काशीश्वर जी—से कहा कि "तुम दोनों श्री चैतन्य महाप्रभु की सेवा करना।" वे दोनों गुरुदेव के अन्तर्धान के पश्चात् महाप्रभु की सेवा में निरत रहे। सन् 1512 में फाल्गुन कृष्ण एकादशी को इनका तिरोधान हुआ, ऐसी मान्यता है। इनकी जन्मस्थली पर भव्य मंदिर बना हुआ है। वहाँ एक 'चैतन्य डोबा' के नाम से छोटा-सा तालाब है, कहा जाता है कि चैतन्य देव ने अपने श्री गुरुदेव की जन्मभूमि की वन्दना कर वहाँ से थोड़ी-सी रज उठा ली थी। फिर क्या था, उनके साथ चल रहे असंख्य भक्तों ने भी मिट्टी लेना प्रारम्भ कर दिया और देखते-देखते वह स्थल विशाल गड्ढे में परिणत हो गया। बाद में तालाब का रूप ले लिया। [प्रे०द०शा०]

उ, ऊ

उज्ज्वल नीलमणि

उज्ज्वल नीलमणि रूप गोस्वामी का रससिद्धान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें भक्तिरस के शृंगार तत्त्व को उज्ज्वल रस की संज्ञा देकर गोस्वामी पाद ने पूर्ववर्ती रसशास्त्रियों से भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित कर इस क्षेत्र में नवीन दिशा निर्देश किया था। श्री रूप गोस्वामी ने 1463 शकाब्दि में 'भक्तिरसामृत सिन्धु' प्रणयन के बाद 1471 शकाब्दि के पश्चात् इस ग्रन्थ को प्रणीत किया है। इसको रसामृत सिन्धु का परिशिष्ट कहा जा सकता है। इसमें कुल श्लोक संख्या 1456 है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह प्रकरण हैं—नायक भेद, सहायक भेद, श्रीहरिप्रिया, श्रीराधा, नायिकाभेद, युथेश्वरी भेद, दूतीभेद, सखी, हरिवल्लभा, उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी, स्थायीभाव, शृंगार भेद।

श्रीकृष्ण के उज्ज्वल अर्थात् मधुर रस का विशद चित्रण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। भगवान श्यामसुन्दर तथा राधारानी के दिव्य एवं अमर माधुर्यालोक से यह आलोकित है। प्रभु कृष्ण के विभिन्न नायक रूपों तथा भगवती राधिका एवं गोपवधूटियों के नायिका-भेदोपभेदों के माध्यम से उज्ज्वल रस का सम्यक निरूपण इस ग्रन्थ में हुआ है।

उज्ज्वल अथवा 'मधुर भक्ति रस' का स्थायी भाव मधुर रति को बतलाया है। इसके विभानुभावों आदि का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। मधुर प्रेमी के रूप में श्रीकृष्ण के पच्चीस स्वरूपों को दर्शाया गया है। भगवान कृष्ण गोपांगनाओं के पति और उपपति (प्रेमी) दोनों हैं। उनमें शृंगार का सर्वोत्कर्ष विद्यमान है। भगवान कृष्ण साधारण कोटि के नायक नहीं हैं। उनका नायकत्व स्वार्थरहित रसास्वादनार्थ है। विवाहिता नायिका से अनुराग रूप गोस्वामी की दृष्टि में श्रेष्ठ है। परकीया नायिका से किया गया प्रेमी का प्रेम तभी प्रशंसनीय है जब उसे परिणय का बन्धन प्राप्त हो। कृष्ण का गोपियों के प्रति इसी प्रकार का प्रेम था। सोलह हजार ब्रज बालाएँ श्रीकृष्ण से गान्धर्व पद्धति से परिणीत थीं। रूप गोस्वामी ने ब्रजरमणियों को श्यामसुन्दर की प्रिया स्वीकार करते हुए प्रकट लीला में परकीया के रूप में मान्यता देना उपयुक्त समझा है। इसका कारण इनका प्रच्छन्न अनुराग अस्पष्ट परिणय है। श्रीकृष्ण की नायिका अभिव्यक्ति के तीन रूप हैं—पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम। द्वारिका में पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर एवं ब्रज में पूर्णतम रूप में प्रकट है। विश्वनाथादि साहित्य शास्त्रियों की भाँति रूप गोस्वामी ने भी नायिका के भेदोपभेदों की विस्तार से चर्चा की है। श्रीकृष्ण की प्रेमिकाओं को साधन सिद्धा, नित्य सिद्धा और देवी इन तीनों रूपों में विभाजित किया है। राधा भगवान कृष्ण की अन्तरंग शक्ति के रूप में परिनिष्ठित है, ये भगवान कृष्ण की आह्लादिनी शक्तिरूप है। यही तंत्र शास्त्र की महाशक्ति है। इनके स्वरूपगत वैशिष्ट्य की चारु चर्चा है। प्रेम प्रकरणों में नायक के सहयोगी चेटविट और विदूषक आदि बनते हैं। इनकी तथा नायिका की सहयोगिनी उसकी सखियों का भी वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। भेदोपभेदों के साथ दूती सदृश पात्रों को भी परिचित कराने की उपयोगिता को रचनाकार ने समझा है। श्रीकृष्ण और गोपियों की विविध विशेषताओं के परिचय संदर्भ में इस ग्रन्थ की अपनी महत्ता है। भगवान श्रीकृष्ण के नाम, रूप, लावण्य और उनकी लीलाओं से सम्बद्ध महत्वपूर्ण बातों को इस ग्रन्थ में अंकित किया गया है। वृन्दावन, यहाँ की यमुना, वन कुंज, वृक्ष, पक्षी सबकी अपनी विशेषता है।

विभिन्न दशाओं से निकालकर मधुर रति की अजस्र धारा प्रवाहित करने में रचनाकार पूर्ण सफल हुए हैं। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव इनके क्षेत्र हैं। मधुर रति का स्थाई भाव शृंगार है। शृंगार रस की तरह इस रति के भी सम्भोग मधुर रति और विप्रलम्भ मधु रति ये दो प्रकार हैं। मुख्य तथा गौण इन दो रूपों में सम्भोग मधुर रति में विभक्त है। इस उभय सम्भोग मधुर रतियों का संक्षिप्त संकीर्ण समापन तथा समृद्धिगत ये अवस्थाएँ हैं। पूर्णराग, मान, प्रेम, वैचित्य और प्रवास—ये विप्रलम्भ मधुरति की विधाएँ हैं।

भक्तिरसामृत सिन्धु की तरह उज्ज्वल नीलमणि की भी चैतन्य मत में प्रचुर प्रतिष्ठा रही। जीव गोस्वामी ने लोचनरोचनी एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती ने आनन्द चन्द्रिका नामक भाष्य लिखकर इसकी गरिमा का उद्दीपन किया है। उपसंहार में ब्रजदेवियों के श्रीकृष्ण में प्रणयपूर्ण आह्वान की सूचना देकर मंगलरूप उन नामों का कीर्तन के द्वारा ग्रन्थ समाप्ति की गई है। [शै०चौ०]

उत्तमदास

उत्तमदास जी कमलनयन जी के कनिष्ठ भ्राता श्री कुंजलाल जी के शिष्य थे। उनका महत्त्व उनकी विशिष्ट रचना 'अनन्यमाल' के कारण है। ऐसा जान पड़ता है, इसकी प्रेरणा उन्हें भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' से हुई थी। भगवतमुदित जी की कृति में राधावल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध भक्तों का चरित्र तो है, किन्तु इसमें इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी का जीवन-वृत्त नहीं है। उस अभाव की पूर्ति का प्रारम्भिक प्रयास उत्तमदास जी ने किया था। उन्होंने 'अनन्यमाल' की रचना कर उसमें सर्वप्रथम श्री हित हरिवंश जी के जीवनवृत्तांत को लिखा है; फिर उनके प्रधान शिष्यों का संक्षिप्त वर्णन कर भगवतमुदित जी द्वारा उल्लिखित भक्तों की नामावली दी है। इस प्रकार इसका आरम्भिक भाग तो भगवतमुदित जी के ग्रंथ का पूरक है; किन्तु इनका शेषांश उसकी अनुक्रमणिका मात्र है।

उत्तमदास जी ने श्री हित हरिवंश जी के जीवन-वृत्त की उन घटनाओं का कथन किया है, जो तत्कालीन भक्तजनों में प्रचलित थीं। इसका उल्लेख उन्होंने 'अनन्यमाल' के आरम्भ में ही कर दिया है। इस प्रकार इसे हित हरिवंश जी के जीवन-वृत्त का सर्वप्रथम प्रामाणिक संकलन माना जा सकता है। [रा०श०]

उद्धवदास

इस नाम के दो पदकर्त्ता हुए हैं। जो अधिक प्रसिद्ध कवि थे और जिनके पद अधिक संख्या में प्राप्त हैं, वे अठारहवीं शताब्दी में थे। इन्होंने अपने एक पद में एक अन्य उद्धवदास का उल्लेख किया है।

रूप राघुराय नाम गोकुल श्री भगवान
भक्तिमान श्री उद्धवदास।

(पदकल्पतरु, पद 3092)

ये उद्धवदास गदाधर पंडित के शिष्य थे और खेतुरी उत्सव में उपस्थित थे। इनकी निश्चित जन्मतिथि अज्ञात है। इनके दो पद पदकल्पतरु में प्राप्त हैं। (1481,1558।)

पदामृतसमुद्र में उद्धवदास के नाम से कोई भी पद नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध पदकर्त्ता उद्धवदास जिनके पद पदकल्पतरु में हैं अठारहवीं शती तक अप्रसिद्ध ही थे अथवा पदकर्त्ता नहीं थे। पदामृतसमुद्र के संग्रहकार राधामोहन ठाकुर अठारहवीं शताब्दी में थे। [वि०का०]

उद्धव-संदेश

उद्धव संदेश 130 श्लोकों में निबद्ध दूत काव्य है। इसके रचनाकार गौड़ीय सम्प्रदाय के परमाचार्य श्री रूप गोस्वामी हैं। इस ग्रंथ में श्रीकृष्ण उद्धव के द्वारा अपना संदेश ब्रज-नारियों के पास भेजते हैं, इस घटना का काव्यात्मक शैली में निबद्ध किया गया है। यह हिन्दी भ्रमर गीत परम्परा का आधार काव्य ग्रंथ है। [क०उ०]

उपनयन

उपनयन का तात्पर्य है आचार्य के समीप जाकर ब्रह्मचर्य जीवन में प्रवेश करना (छान्दोग्य 3/4) उपत्वा अयानि। उपसर्गपूर्वक नी धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाकर 'उपनयन' शब्द व्युत्पन्न हुआ। 'उप' का अर्थ समीप, 'नी' का ले जाना। बालक को आचार्य के पास ले जाना उपनयन है। 'उप समीपे आचार्यादीनां बटोनीति नयनं प्रापणं उपनयनम्'। यह षोडश संस्कारों में वर्णित है। उपनयन का उल्लेख वैदिक ग्रंथों में यथा ऋग्वेद (3/8/4-5), अथर्ववेद (11/5/15) में हुआ है। ब्राह्मण ग्रंथों में उपनयन कर्मकाण्डी हो गया (शतपथ ब्राह्मण 1/2, 2/8)। 'सूत्रकाल' में उपनयन क्रिया संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

उपनयन का समय 'आश्वलायन गृह्य सूत्र' 1/19/1-6 के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में होना चाहिए। मनुस्मृति 2/36 में इसका समर्थन हुआ है। आपस्तम्ब (10/2), शांखायन (2/6), बौधायन (2/5/2), भारद्वाज (1/1) एवं गोभिल्य (2/10) गृह्यसूत्र के अनुसार वर्ष गणना गर्भाधान से होनी चाहिए।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में (1/19/1-6) क्रमशः 16वें, 22वें एवं 24वें वर्ष तक उपनयन किया जा सकता है-'आ षोडशात्ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य।'

भारद्वाज के अनुसार बसंत ऋतु ब्राह्मण के लिये, ग्रीष्म या हेमन्त क्षत्रिय के लिये, शरद ऋतु वैश्य के लिये, वर्षा बढ़ई के लिये या शिशिर सभी के लिये मान्य है। मास के शुक्लपक्ष में शुभ नक्षत्र में विशेषतः पुष्य नक्षत्र में उपनयन होना चाहिये। हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य, धनिष्ठा, अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु, श्रवण एवं रेवती शुभ नक्षत्र मान्य हैं।

वस्त्र—ब्रह्मचारी दो वस्त्र, अधोवस्त्र एवं उत्तरीय पहनता था। ब्राह्मण का अधोवस्त्र रूई के सूत का लाल रंग का, क्षत्रिय का मजीठ रंग और वैश्य का हल्दी रंग होता था। उत्तरीय भेड़ के चर्म का या विकल्प में कम्बल होता था। आश्वलायन गृह्य सूत्र (1/19/13) एवं (1/20/1) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये पलाश, उदुम्बर एवं बिल्व का दण्ड होना चाहिये।

मेखला—गौतम (1/15), आश्वलायन (1/19/11), बौधायन गृह्य (2/5/13), मनुस्मृति (2/42) आदि ग्रंथों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये क्रमशः मुञ्ज (मेखला), मूर्वा (प्रत्यंचा में प्रयुक्त) पटुआ की मेखला होनी चाहिये। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वैकल्पिक व्यवस्था दी है—क्षत्रियों के लिये लोहे के टुकड़े से गुँथी हुई, वैश्यों के लिये सूत का धागा, जूट की रस्सी या तमाल की छाल का धागा प्रयुक्त हो सकता है।

जनेऊ/यज्ञोपवीत—गोभिल गृह्यसूत्र (1/2/1) के अनुसार विद्यार्थी सूत्रों की डोरी, वस्त्र या कुश की रस्सी यज्ञोपवीत के रूप में धारण करता है। यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं। प्रत्येक सूत्र में 9 धागे (तन्तु) बँटे हुए होते हैं। देवल स्मृति (भाग 1, पृ. 31) ने 9 तन्तुओं के 9 देवताओं के नाम—ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं सर्वेदेव दिये हैं। मनुस्मृति (2/44) एवं विष्णु धर्मसूत्र (27/19) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये क्रमशः रूई, सन और ऊन का यज्ञोपवीत होना चाहिये। देवलस्मृति के अनुसार द्विजातियों का यज्ञोपवीत कपास, अलसी या तीसी, गाय की पूँछ के बाल, पटसन वृक्ष की छाल या कुश का होना चाहिये। [उ०भा०]

उपनिषद् भाष्य

बलदेव विद्याभूषण द्वारा ईश एवं गोपालतापिनी के अतिरिक्त दशोपनिषद् भाष्य प्रस्तुति का उल्लेख हुआ है। ईशोपनिषद् के भाष्य में भाष्यकार गीताभूषण की भाँति (पूर्वोक्त) 5 तत्त्वों का उल्लेख करता है। व्याख्या में आचार्य दार्शनिकाभिव्यक्ति के साथ-साथ शब्दार्थाबोधन हेतु व्याकरणादि का भी संश्रय लेता है।

ईशोपनिषद्-भाष्य बंग लिपि में श्री केदारनाथ भक्ति विनोद के द्वारा प्रकाशित कराया गया था। कालान्तर में इसका प्रकाशन (बाबा कृष्णदास के समय में) राधाकुण्ड, कुसुम सरोवर, मथुरा से भी देवनागरी में सम्भव हुआ। [क०उ०]

उपनिषद् भाष्य (अद्वैत)

वेदांत दर्शन के तीन प्रस्थान उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद् भगवत गीता माने गये हैं। इन्हें प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। अपौरुषेय वेद के अंतिम अध्याय को उपनिषद् अथवा वेदान्त के नाम से भी जाना जाता है। उपनिषद् श्रुति प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत वर्गीकृत किये गये हैं। उपनिषद् ज्ञान का आदि स्रोत और विद्या का दिव्य अक्षय भण्डार हैं जो सृष्टि के आदि से ही मानव मात्र को ज्ञानालोक से आप्लावित करता चला आ रहा है। उपनिषदों के विवेच्य विषय जीव, जगत और ब्रह्म हैं।

पुराणों एवं उपनिषदों के अनुसार वर्तमान मन्वन्तर में वेद की कुल 1180 शाखायें आविर्भूत हुईं। इतनी ही संख्या में उपनिषद्, ब्राह्मण तथा मन्त्रभाग भी प्रकट हुये। किन्तु समय के प्रभाव से अब इतनी संख्या में उपनिषद प्राप्त नहीं हैं। मुक्तिका उपनिषद् (1: 30-39) के अनुसार विभिन्न वेदों से संबद्ध कुल उपनिषदों की संख्या 108 बतलाई गई है। इनमें भी मुख्य उपनिषद 13 माने गये हैं जिनका विवरण निम्न है—ऐतरेय, कौषीतकि ऋग्वेद से संबद्ध; छांदोग्य, केनोपनिषद सामवेद से संबद्ध; तैत्तिरीय, कठोपनिषद, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी कृष्णयजुर्वेद से संबद्ध; बृहदारण्यक, ईशोपनिषद शुक्लयजुर्वेद से संबद्ध; मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्नोपनिषद अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं।

प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत आने के कारण संप्रदायाचार्यों को अपने मत को प्रतिष्ठापित करने के लिये उपनिषद् पर भाष्य करना आवश्यक है। पूज्यपाद भगवान आद्यशंकराचार्य ने भी उपनिषदों पर भाष्य किये हैं। उन्होंने जिन प्रमुख दस उपनिषदों पर भाष्य किये उनके नाम हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद।

पूज्यपाद भगवान आद्यशंकराचार्य ने संन्यास आश्रम के दस सम्प्रदाय स्थापित किये तथा प्रत्येक सम्प्रदाय का एक प्रधान उपनिषद् भी निर्धारित किया जिसके अध्ययन और मनन से सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये रत रहते हैं। ऐसा इसलिये किया गया प्रतीत होता है क्योंकि सभी उपनिषदों का पठन तथा मनन कदाचित सभी के लिये सम्भव न हो। यहाँ यह भी उल्लेख किया जाना समीचीन होगा कि यदि समस्त उपनिषदों का ज्ञान आवश्यक माना जाय तो वेदव्यासजी की ये दिव्य कृतियाँ बहुत अंश में अगम्य हो जायें। वास्तव में कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि वेदव्यास जी ने एक ही उपनिषद् को आधार रूप में स्वीकार कर उसी पर अपने सूत्रों की रचना की है। विद्वानों के द्वारा कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरियोपनिषद जिसमें वेदान्त सिद्धांतों का पूर्णरूपेण समावेश है ही वह आधारभूत उपनिषद् निर्धारित किया गया है। अतः भगवान आद्यशंकराचार्यजी के द्वारा एक उपनिषद् को उनके द्वारा स्थापित एक सम्प्रदाय के लिये एक प्रधान उपनिषद् निर्धारित किया जाना पूर्णरूपेण तर्कसंगत प्रतीत होता है।

यदि हम पूर्व उपनिषद् काल में प्रवेश करें तो पायेंगे कि वैदिक ऋषियों ने जिन रहस्यों के विषय में चिंतन किया वह प्रायः सृष्टि के निर्माण और निर्माता तथा किस देवता की उपासना की जाये से संबंधित था। इसी क्रम में उन्होंने यज्ञ-धर्म का प्रतिपादन किया तथा यह शिक्षा दी कि सुख, संपन्नता, विजय तथा देवताओं की प्रसन्नता

एवं तुष्टि के लिये यज्ञ आवश्यक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यज्ञ कर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया। वहीं उपनिषदों का प्रधान विषय ब्रह्मविद्या अथवा आत्मविद्या है। इसीलिये कहा जाता है कि उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है।

पूज्यपाद भगवान आद्यशंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। उन्होंने इसी दार्शनिक सिद्धांत के आधार पर उपनिषदों का भाष्य किया। सरल शब्दों में कहें तो अद्वैत मत आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर आधारित है। बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् के वाक्यों तत्वमसि अर्थात् तू ही ब्रह्म है, अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ तथा अयमात्मा ब्रह्म अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है के द्वारा उन्होंने यही समझाया है कि जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है। इनमें जो भी भेद प्रतीत होता है उसका मूल कारण अज्ञान अथवा अविद्या ही है। जीव की मुक्ति अर्थात् मोक्ष इस अज्ञान का निवारण कर ज्ञान प्राप्त करने पर ही संभव है। विद्वान लोग पूज्यपाद भगवान आद्यशंकराचार्यजी कृत उपनिषदों के भाष्यों को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं तथा इन्हें वेदान्त प्रतिपादक ग्रन्थों का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं।

[ग०शं०पा०]

उपवेद

वेद हिन्दू चिंतन और दर्शन की धुरी हैं; जिनमें ज्ञान एवं कला के प्रत्येक पक्ष पर मौलिक ज्ञान संकलित है। अध्यात्म, मौलिक विज्ञान, प्रायोगिक विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा प्रशासन प्रबंधन आदि ऋग्वेद के मुख्य विषय हैं। जबकि यजुर्वेद में सांसारिक, सामाजिक नीतियों, परम्पराओं, अधिकारों तथा कर्तव्यों की मौलिक रूपरेखा है। जहाँ सामवेद में आराधना, दर्शन, योग तथा ललित कलाओं जैसे कि संगीत आदि का वर्णन है, वहीं चतुर्थ वेद–अथर्ववेद–चिकित्सा तथा शरीर सम्बन्धी विषयों पर ज्ञान देता है। उपवेद इन्हीं वेदों की शाखाएं हैं। जिनकी संख्या वेदों की तरह चार है-

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वश्चेति ते त्रयः।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, स्थापत्यवेद। वेदों में निहित ज्ञान को श्रेणीबद्ध करने, उसको अधिक बोधगम्य तथा सर्व सुलभ बनाने के लिए उपवेदों की रचना हुई। धन्वंतरि ने ऋग्वेद के ज्ञान को 'आयुर्वेद' में, यजुर्वेद के ज्ञान को विश्वामित्र ने 'धनुर्वेद' में, सामवेद के ज्ञान को भरत व नारद मुनि ने 'गांधर्ववेद' में तथा अथर्ववेद के ज्ञान को विश्वकर्मा ने 'स्थापत्यवेद' में संग्रहीत किया। पुराकथाओं के अनुसार, सृष्टि उत्पादन पूर्व ही स्वयं ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद को एक सहस्र अध्याय में शत सहस्र श्लोकों को प्रकाशित किया और पुनः मनुष्य को अल्पमेधावी समझकर इसे आठ अंगों में विभक्त किया था। आइए अब चारों उपवेदों की क्रमशः चर्चा करें–

आयुर्वेद—जीवन का ज्ञान देने वाला अथर्ववेद का यह उपवेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणालियों में से एक है। इसमें विज्ञान, कला और दर्शन का मिश्रण है। हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

आयुर्वेद का रचनाकाल अस्पष्ट है; तथापि कुछ विद्वानों ने इसे 3000 ईसा पूर्व के आस-पास का माना है। इसके अध्ययन और विकास में ऋषि च्यवन, भारद्वाज, सुश्रुत, अश्विनी कुमार, चरक, भेल, जतू, पाराशर, हारीत, अग्निवेश और क्षारपाणि आदि का अति महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। अग्निवेश ने ही 'अग्निवेश तंत्र' का निर्माण किया था। कालांतर में इस संहिता को चरक ने संशोधित-संवर्धित किया। तब इस संहिता का नाम हुआ

'चरक संहिता'। यह संहिता आयुर्वेद का आधार स्तम्भ है।

आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वास्थ्य रक्षा है। इसके आठ विभाग हैं—कायचिकित्सा (जनरल मेडिसिन), शल्यतंत्र (सर्जरी व मिडवाइफरी), शालाक्यतंत्र (ओप्थोमोलोजी, ई.एन.टी. व डेंटिस्ट्री), कौमारभृत्य (पेडिएट्रिक्स), अगदतंत्र (पोइजन थेरपी), रसायनतंत्र (रेजेनेशन), वाजीकरण (सेक्सोलोजी) व भूतविद्या (सायको थेरपी)। अभ्यंग, स्नान, लेप, धूपन, स्वेदन आदि चिकित्सा पद्धतियों के अलावा आयुर्वेद में आठ प्रकार के अन्य कर्मों का भी उल्लेख है। यथा-छेदन (काटकर दो फाँक करना या शरीर से अलग करना/एक्सिजन), भेदन (चीरना/इंसिजन), लेखन (खुरचना/स्केरिफिकेशन), वेधन (नुकीले शस्त्र से छेदना/पंक्चरिंग), एषण (प्रोबिंग), आहरण (खींचकर बाहर निकालना/एक्स्ट्रैक्शन), विस्रावण (रक्त/ड्रेनेज), सीवन (स्टिचिंग)। इनके अतिरिक्त यहाँ उत्पाटन (उखाड़ना), कुट्टन (प्रिकिंग), मंथन (ड्रिलिंग), दहन (कॉटराइजेशन) आदि उपकर्म भी वर्णित हैं।

गंधर्ववेद—भारतीय संगीत की उत्पत्ति वेदों से मानी जाती है। सामवेद में संगीत के विषय में गहराई से चर्चा की गई है। संगीत की महत्ता इस बात से भी स्पष्ट है कि इसकी चर्चा मनुष्य जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में हुई। गंधर्ववेद भी चार उपवेदों में से एक है। भारतीय आचार्यों ने इसे 'पंचम वेद' की संज्ञा दी है। इस उपवेद के अंतर्गत शास्त्रीय संगीत, राग, सुर, गायन तथा वाद्य यंत्र आते हैं। सामवेद का यह उपवेद अंतः चेतना का विकास करने वाले प्रकृति के संगीत की चर्चा करता है। खासतौर पर किसी ऋतु और समय विशेष में गाए जाने वाले रागों के आधार पर यह उपवेद मनुष्य और प्रकृति के प्रगाढ़ तारतम्य का संकेत करता है।

धनुर्वेद—विज्ञान तथा कलाओं की भाँति युद्ध कला तथा शस्त्राभ्यास का उद्गम भी वेद ही हैं। यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' पूर्णतः युद्धविद्या को समर्पित है। अग्नि पुराण में धनुर्वेद के पाँच भागों का उल्लेख किया गया है:—

यन्त्रमुक्ता—अस्त्र-शस्त्र के उपकरण जैसे धनुष और बाण।
पाणिमुक्ता—हाथ से फेंके जाने वाले अस्त्र जैसे कि भाला।
मुक्तामुक्ता—हाथ में पकड़कर किन्तु अस्त्र की तरह प्रहार करने वाले शस्त्र जैसे कि बर्छी, त्रिशूल आदि।
हस्तशस्त्र—हाथ में पकड़कर आघात करने वाले हथियार जैसे तलवार, गदा आदि।
बाहुयुद्ध—निशस्त्र होकर युद्ध करना।

प्राचीन भारत में युद्धाभ्यास केवल क्षत्रियों तक ही सीमित नहीं थे। ऋषि वात्सायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि महिलाओं को भी युद्धकलाभ्यास के लिये प्रोत्साहन दिया गया था। प्रथम शताब्दी में युद्धकला तथा शस्त्राभ्यास विषय पर संस्कृत में कई ग्रंथ लिखे गये हैं। आठवीं शताब्दी के उद्योत्ना कृत ग्रंथ 'कुव्वालय-माला' में कई-कई युद्ध क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है। भारत की युद्ध कलाएँ जैसे कि जूडो, सूमो, मल्लयुद्ध, बुद्ध प्रचारकों के साथ-साथ चीन, जापान तथा अन्य पूर्वी देशों में प्रचलित हुईं।

स्थापत्य वेद—स्थापत्य वेद का उद्गम संस्कृत के 'स्थापना' शब्द से है, जिसका अर्थ है—स्थापित करना। स्थापत्य वेद यह बताता है कि व्यक्ति स्वयं को कैसे स्थापित करे? प्राकृतिक विधानों के अनुरूप कर्म करते हुए वह किस प्रकार अपने दैनिक जीवन में पूर्ण स्वास्थ्य का, प्रसन्नता एवं सफलता का आनन्द उठाये? स्थापत्य वेद मूलतः प्राकृतिक विधानों के अनुरूप देश, नगर एवं गृह नियोजन की अति प्राचीन एवं सर्वोच्च प्रणाली है, जो व्यक्तिगत जीवन को समष्टि के साथ जोड़ती है, पृथ्वी पर ऐसे आदर्श जीवन का निर्माण करती है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करे कि 'मैं स्वर्ग में रह रहा हूँ।'

स्थापत्य वेद वह ज्ञान है जो प्रत्येक वस्तु को अत्यन्त सुव्यवस्थित तरीके से स्थापित करने का उद्देश्य लेकर चलता है ताकि प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु द्वारा पोषित हो सके। इसके लिए यह प्रकृति के मूलभूत नियमों या कहें

उचित गणितीय फार्मूलों, समीकरणों एवं समानुपातों का उपयोग करता है। स्थापत्य वेद एक विज्ञान है जिसके पास स्थल चयन, उचित दिशा, विन्यास, स्थापन एवं कमरों का उनके प्रयोजन के अनुसार नियोजन का सटीक ज्ञान एवं दीर्घकालीन परीक्षित सिद्धांत हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं कि एक भवन की दिशा का इसके स्वामियों एवं निवासियों के जीवन की गुणवत्ता पर नाटकीय प्रभाव होता है। स्थापत्य वेद प्राकृतिक विधानों पर आधारित प्रणाली है जो सहजरूप से भवन एवं इसमें रहने वाले लोगों को सृष्टि के साथ सामन्जस्य स्थापित रखती है।

[अ०श्री०]

उपेन्द्र भट्टाचार्य

ज्ञान, वैराग्य और भक्ति में इनकी कीर्ति भगवान वामन (त्रिविक्रम) के समान थी। इनकी अनासक्ति और कल्याण की भावना ने इन्हें वैष्णवों में अग्रणी स्थापित किया। उपेन्द्र भट्टाचार्य जी, श्री पद्मनाथ भट्टाचार्य जी के पश्चात निंबार्क पद पर सुशोभित हुए। इनका पाटोत्सव चैत्र कृष्ण चतुर्थी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

ऊषा

ऊषा, जिसे ऋषियों ने पूर्वाकाश की नर्तकी कहा, वैदिक कालीन धर्म और उपासना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्त्री देवी हैं। ऊषा की मान्यता आकाश की पुत्री और रात्रि की बहन के रूप में है जो सूर्य के आगमन से ठीक पहले धरती पर रात्रि का अंधकार समेटकर दिवस के प्रकाश का संदेश सुनाती हैं। प्रकाश गुण के कारण ऊषा को अग्नि के निकट माना जाता है। ऋग्वेद के एक श्लोक में ऊषा का वर्णन दिव्य एवं श्रेष्ठ ज्योति के रूप में करते हुए कहा गया है कि यद्यपि रात्रि और ऊषा एक दूसरे से विरोधी स्वभाव वाली हैं फिर भी वे एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। दोनों नित्य हैं और बारी-बारी से तारा पथ में विचरण करती हैं। ऊषा सूर्य से उत्पन्न हुई हैं इसलिए ऊषा के आगमन के पश्चात् रात्रि उसके लिए स्थान छोड़ देती है। ऊषा सर्वत्र व्याप्त है तथापि इसके गमन-आगमन को जानना अत्यंत कठिन है।

उपो रुरुचे युवर्तिन योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै।
अभूदग्नि समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि॥

(ऋग्वेद)

उदात्त नारी की तरह ऊषा प्रत्येक वस्तु को सहलाती-सँवारती आती है। सकल चराचर जीवन को जगाती हुई, वह प्रत्येक पदचारी प्राणी को गतिमान करती है और पक्षियों में उड़ान भरती है।

ऊषा संभवत: एकमात्र वैदिक देवी है जिसकी प्रशंसा या स्तुति में ऋग्वेद में 20 श्लोकों की आवृति की गयी है। ऋग्वेद में ऊषा का उल्लेख उषस् के तौर पर भी किया गया है। वस्तुत: वैदिक आर्य प्राकृतिक शक्तियों को दिव्यता से जोड़कर देखते थे इसीलिए समस्त ऋग्वैदिक देवता प्रकृति के नाना रूपों और शक्तियों के प्रतीक हैं। वैदिक देवताओं में शून्याकाश के देवता सर्वोच्च हैं। ऊषा या उषस् इसी श्रेणी की देवी हैं। डॉ. सूर्यकांत वैदिक देवशास्त्र में लिखते हैं कि 'संसार के किसी भी शास्त्र में इससे अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता, उषस् की कल्पना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है। जहाँ सूर्य उसका पीछा करते हैं किन्तु ऊषा, सूर्य के आते ही ओझल हो जाती है। वैश्विक परिपेक्ष्य में जहाँ एक ओर ऊषा की तुलना रोम की देवी 'अरोरा' से की जाती है, वहीं यूनान की देवी 'इओस' को भी वैदिक ऊषा के समतुल्य माना जाता है क्योंकि अलभ्य, अरुनामयी ऊषा की तरह 'इओस' भी एकांत विलासिनी है। जब शिकार की तलाश में भटकते ओरायन, केफालस और तिथोनस बारी-बारी से उसका शिकार बनते हैं और मृत्यु के अभाव में तिथोनस जरा से गलने लगता है, तब वह अपनी प्रेयसी से अभिशाप बने, इस वरदान का उल्लेख कर अमरत्व को प्राप्त करता है।

पुराणों के अनुसार शोणितपुर के राजा, बाणासुर नामक असुर के बल, बुद्धि एवं विवेक को नियंत्रित करने के लिए शिव और शक्ति ने ऊषा को पुत्री रूप में बाणासुर को प्रदान किया था। प्रकारांतर में यही ऊषा कृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध की पत्नी बनी। सूरसागर में ऊषा-अनिरुद्ध की कथा का संक्षिप्त वर्णन आता है (पद 4815-4816)। कथा के अनुसार पार्वती के वरदान से ऊषा ने स्वप्न में अनिरुद्ध के दर्शन किये और मानसिक रूप से अनिरुद्ध के प्रति समर्पित हो गयीं। चित्रलेखा ने योगबल से सुप्तावस्था में अनिरुद्ध का अपहरण किया और दोनों का गान्धर्व विवाह कराकर चार मास तक उन्हें गुप्त स्थान में रखा। बाणासुर इस विवाह के पक्ष में नहीं था अत: उसने अनिरुद्ध को माया युद्ध में परास्त कर बन्दी कर लिया। तब कृष्ण, बलराम तथा प्रद्युम्न ने बाणासुर से युद्ध कर उसे अपने निर्णय पर पुनर्विचार को बाध्य कर दिया। जिसका परिणाम ऊषा-अनिरुद्ध के विधिवत् विवाह के रूप में प्रकट हुआ। ऊषा-अनिरुद्ध की यह पौराणिक कथा पुरातन भारतीय साहित्य की विचित्र प्रेम-कथा है, जिसमें कोई प्रेयसी अपने प्रियतम का हरण करती है, संभवत: इसी विचित्रता के कारण कालांतर में कथा अनेक प्रेमाख्यानों की विषयवस्तु बनी। [अ०श्री०]

ऋ

ऋग्वेद

वेद विद्या भारतीय संस्कृति का पहला प्रतीक है। ऋक्, यजुस् और साम ही त्रयी विद्या है। अग्नि, वायु, आदित्य या अग्नित्रय का सम्बन्ध त्रयी विद्या से है। ऋग्वेद के मंत्र 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भुतं यच्च भाव्यम्' में विष्णु में ब्रह्म के समस्त गुणों का समावेश है। इसलिए वेद संस्कृति को वैष्णव संस्कृति कह सकते हैं। वेदों के महत्त्व के विषय में महाभारत में कहा है—वेद 'ब्रह्मविद्या के ग्रन्थभाग नहीं 'ब्रह्म' है। अर्थात् शब्द ही ब्रह्म है। वेद ईश्वर के नि:श्वास हैं। वेद का प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हुआ है। उपनिषदों में यह बात आयी कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने ब्रह्म को प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदों का ज्ञान कराया—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' ब्रह्मा की ऋषि सन्तति ने बाद में इसी शब्द-राशि का साक्षात्कार किया। देवताओं के आवाहन के निमित्त आवश्यक मंत्रों का संकलन जिस संहिता में हुआ है, वही ऋक् यानि ऋचाओं (मंत्रों) की संहिता 'ऋग्वेद' है। वेदों में प्रथम और प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद की ऋचाओं में अनेक देवताओं की उपासना ही नहीं अपितु वास्तविक रूप में उस परमशक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करना है, इन ऋचाओं द्वारा स्तुति या व्याख्या के अधिकारी वही हैं, जिन्हें ऋषि दृष्टि प्राप्त है—'अद्यापि प्रत्यक्षकृता: स्तोतारो भवन्ति।' ऋचाओं द्वारा परमात्मा यानि देवताओं के अर्चन स्वरूप की व्याख्या 'ऋष्यर्चन (रिसर्च) अर्थात् ऋषि अर्चन हैं। वेद की ऋचाओं में परमात्मा को एक मानकर उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। सम्बन्धित देवता के स्तुतिपरक मंत्र या मंत्रों के समूह, जिनमें ऋषि की सम्पूर्ण कामना का समावेश हो सूक्त कहलाते हैं।

वैदिक सूक्त चार प्रकार के होते हैं—ऋषिसूक्त अर्थात् एक ही ऋषि के मंत्रों का समूह। देवतासूक्त—अर्थात् एक ही देवता की स्तुति का मंत्र समूह। अर्थ सूक्त—अर्थात् एक ही अर्थ की समाप्ति तक के मंत्रों का समूह। छन्द सूक्त—अर्थात् समान छन्द के मंत्रों का समूह।

ऋग्वेद का प्रारम्भ 'अग्निसूक्त' से और अन्त 'संज्ञानसूक्त' से होता है। सूक्तों का ऋग्वेद में दो प्रकार से विभाजन किया गया है—(1) मण्डल, अनुवाक् और सूक्त (2) अष्टक, अध्याय, वर्ग। सम्पूर्ण ऋक् संहिता में 10 मण्डल, 85 अनुवाक् और 1017 सूक्त हैं। गायत्री, अनुष्टुप, पंक्ति, बृहती और जगती ये प्रमुख छन्द माने गये हैं। 15 प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में जो सोम पवमान यानि पावन करने वाला है, ऐसे सोम विषयक मंत्रों का संग्रह नवम् मण्डल 'पवमान मण्डल' कहलाता है। दसवें मण्डल में देवताओं की स्तुति के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी समावेश हुआ है।

ऋग्वेद की शाखाएँ व्यासकृत चरणव्यूह नामक ग्रंथ में शाकल, बाष्कल, आश्वालयन, शांखायनी एवं मांडूकेयी ये पाँच शाखाएँ बतायी गयी हैं। ऋग्वेद की 21 शाखाओं में ये पाँच ही मुख्य हैं। इनमें शाकल और बाष्कल की संहिता उपलब्ध है।

प्राचीन वेद भाष्यकारों में स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, हरिस्वामी, वररुचि, भट्टभास्कर, माधव और भरत स्वामी हैं। परन्तु इनमें से किसी का भी चारों वेदों पर सम्पूर्ण भाष्य नहीं मिलता। वेदों का सम्पूर्ण भाष्य तो सायणाचार्य के काल में ही हुआ है। सायण ने वेदों पर नहीं, ब्राह्मण ग्रंथों और कुछ आरण्यक ग्रंथों पर महत्त्वपूर्ण सुविस्तृत भाष्य

लिखे हैं। इनके भाष्यों में व्याकरण का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

वैदिक कर्मकाण्ड की फलस्वरूप स्वर्ग भोग की इच्छा न रखते हुए निष्काम भाव से भगवान की प्रसन्नता के लिये ही कर्म करते रहना चाहिए। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का अन्तिम 104वाँ सूक्त 'रक्षोघ्न' सूक्त है, जिसमें महर्षि वसिष्ठ ने इन्द्र देवता से समस्त प्रकार से रक्षा करने की प्रार्थना की है, दुष्टों से ही नहीं काम, क्रोध आदि दोषों को दूर करने की भी प्रार्थना की है। ज्ञान की पराकाष्ठा पर भक्ति का उदय होकर भक्ति के सदा परिपूर्ण होने से वृत्ति में मुक्ति की वासना भी नहीं उठती। [वि०श०]

ऋषीकेश देव

ऋषीकेश देव जी गढ़ा बालेर के सनाढ्य ब्राह्मण थे। सोलह वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने गृहत्याग कर वृंदावन की ओर प्रस्थान किया। इन्होंने कोकिलावन में श्री श्यामदेव जी से वैष्णवी दीक्षा आत्मसात की। इसके बाद रंगनाथ, जगन्नाथपुरी, पुष्कर, रामेश्वर, नीमसार और बिंदुसरोवर आदि भारतवर्ष के विभिन्न तीर्थों की यात्रा की। अपने गुरुदेव की गद्दी पर ऋषीकेश देव जी 60 वर्ष पर्यंत सुशोभित हुए। [कुं०बि०श०]

ए, ऐ

एटा जनपद के मुस्लिम धार्मिक स्थल

चिस्ती पीर बाबा का दरगाह, भारगैन, एटा—भारगैन पौराणिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थल है। प्राचीन मान्यता के अनुसार इस शहर का नामकरण भाग ऋषि के नाम पर किया गया। इसे भरगैन मशरक के नाम से भी पुकारा जाता है। चिस्ती पीर बाबा की दरगाह कई सौ वर्ष पुरानी बताई जाती है। इस दरगाह के अलावा भी यहाँ सूफी संतों की कई पुरानी कब्रें हैं। मुस्लिम समाज में इस स्थान की बहुत ही मान्यता है। सन् 1971 में इस स्थान को टाउन एरिया का दर्जा दिया गया। स्थानीय स्रोतों के अनुसार इस बस्ती का वैभवपूर्ण समय ई.पू. 1100 से लेकर मध्यकाल तक रहा।

बड़े मियां का दरगाह, जलेसर—जलेसर शहर से लगभग एक मील की दूरी पर एक दूसरा इसी प्रकार का दरगाह है जिसे बड़े मियां का दरगाह कहा जाता है। ये एक मलंग फकीर थे जिनका समय 250 वर्ष पूर्व का है और वे अजमेर से जलेसर आए। तभी से जनसामान्य की श्रद्धा है यहाँ की पूजा-अर्चना में। इस दरगाह में प्रत्येक शनिवार को एक मेला लगता है, जिसमें मुसलमानों की तुलना में हिंदू अधिक शामिल होते हैं। सुल्तान सिकन्दर का सम्बन्ध भी इसी दरगाह से माना जाता है।

मजार गफूरशाह रह, एटा—हजरत गफूरशाह एटा शहर के होली गेट मोहल्ले में रहते थे। ये यहाँ सन् 1925 में सकीट से आकर बसे। इनका पूरा नाम अब्दुल गफूर शाह रह था, इनका जन्म मूलत: हरिद्वार के ज्वालापुर नामक स्थान पर सन् 1860 में एक जमींदार परिवार में हुआ था। होली दरवाजा स्थित बस्ती में आप सादा जीवन व्यतीत करते हुए लोगों को नसीहतें फरमाते हुए दीनदुखियों को कल्याण का मार्ग बताते हुए जीवन भर यहीं रहे। सन् 1940 तक मानव सेवा करते हुए उन्होंने अपने जीवन का सफर तय किया। इनकी कब्र होली दरवाजे में ही 'तकिया रोशनशाह' में बनाई गई और बाद में यहाँ दरगाह का निर्माण कराया गया। दरगाह का निर्माण गफूर शाह रह के मुरीद हाजी इस्माइल शाह साहब तथा मौलवी हबीबुल्लाह कल्लन साहब ने कराया। आज जिस स्थान पर दरगाह स्थित है इस जगह रोशन शाह का मजार भी बना हुआ है तथा इसी स्थान पर प्राचीन मकबरा भी बना हुआ, जिसकी ऊँचाई लगभग 55 फीट है।

सैयद इब्राहिम रह, जलेसर, एटा—भारतीय इतिहास के मध्यकाल में जलेसर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सैयद वंश के खिज्र खान के शासनकाल (1414-1421 ई.) में वजीर ताजुलमुल्क के नेतृत्व में एक दल जलेसर भेजा गया जिसने राजपूतों को हराकर जलेसर पर कब्जा कर लिया। इस दल के द्वारा जलेसर की धरती पर सन् 1420 में सैयद इब्राहिम रह के नेतृत्व में चौहान शासकों के विरुद्ध युद्ध हुआ, ऐसा माना जाता है कि युद्ध के दौरान इब्राहिम का सर जलेसर में कटकर गिर गया जबकि उनका शरीर घोड़े पर सवार रहकर ही बदायूँ जिले के सहसवान तक पहुँच गया। उनके शरीर को सहसवान तथा सिर को जलेसर में दफन किया गया। इस घटना को अजीम बनाने तथा अमर करने के लिए इस जगह का नाम 'जलवा-ए-सर' पुकारा जाने लगा जो कालांतर में जलेसर हो गया और आज भी यह नाम प्रचलित है। सैयद इब्राहिम रह का मजार जिस जगह स्थित है वह जलेसर के पश्चिम में है और आज मोहल्ला राजगान के नाम से जाना जाता है। पुरातत्त्व विभाग के अनुसार इस दरगाह की गुम्बद का निर्माण 9वीं हिजरी अर्थात् 14वीं सदी के लगभग हुआ बताया जाता है। इस आहते में सालाना उर्स का आयोजन बहुत प्रसिद्ध है।

सैयद शाह अब्दुल अजीज रह की दरगाह, मारहरा, एटा—यह विश्व प्रसिद्ध दरगाह एटा जिले के मारहरा नामक कस्बे में स्थित है जो कि एटा शहर से लगभग 21 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। मारहरा कस्बे की बुनियाद अलाउद्दीन खिलजी के काल में सन् 1296 से 1316 के मध्य में पड़ी। ख्वाजा इमादउद्दीन उर्फ इमाद काम्बोह अपने परिवार के साथ मुल्तान से आकर मारहरा में बस गए और मखदूम शेख जहीरउद्दीन रह के मुरीद होकर यहीं रहने लगे। सन् 1542 में शेरशाह सूरी ने इसी खानदान के ख्वाजा हसन जुबैरी कम्बोह को परगना मारहरा की कानूनगोई और चौधराहट प्रदान की। सैयद शाह अब्दुल अजीज, अतरंजीखेड़ा के किले के नीचे हसनैन शहीद के मजार के पास रुके। कुछ वर्ष इबादत के बाद सन् 1597 में मारहरा आ गये। यहाँ पर उन्होंने बहुत ख्याति प्राप्त की। इन्हीं का स्मारक है मारहरा का दरगाह 'खानकाहे बरकातिया' यह तीन सौ साल से ज्यादा समय बाद भी इस्लाम धर्मानुयायियों के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में सभी धर्मों के मानने वाले आते हैं और सुकून प्राप्त करते हैं।

सैयद शाह बरकत उल्लाह की दरगाह, मारहरा—लगभग 300-400 वर्ष पूर्व प्रसिद्ध पुस्तक सबा सनाबिल के लेखक हजरत मीर सैयद अब्दुल शाहिद बिलग्रामी के पौत्र हजरत सैयद शाह बरकत उल्लाह का जन्म 26 जमादि-उल-आखिर 1070 हिजरी अर्थात सन् 1650 ई. को हरदोई के बिलग्राम जिले में हुआ था। वे वहाँ से मारहरा तशरीफ लाए और यहीं पर खानकाह स्थापित कर 42 वर्षों तक लोगों को नेक रास्ते पर चलने तथा सद्कर्म की शिक्षा देते रहे। हिजरी 1017 में विसाल के बाद इन्हें इसी खानकाह में दफनाया गया तब से यह स्थान खानकाह बड़े पीर के नाम से विख्यात है।

हजरत हसन शाह रहमतुल्लहा अलैह, एटा—हजरत सैयदना सैयद हसन शाह वासी का जन्म सन् 1835 ई. में हुआ। हसन शाह साहब हाजी सैयद वारिस अली रह से बैअत थे। आपने जीवनभर शादी न कर स्वयं को अल्लाह की सेवा में में समर्पित कर दिया। इनकी दरगाह आबादी क्षेत्र से दूर मारहरा गेट, एटा के पास मालगोदाम को जाने वाली सड़क पर स्थित है। इस मार्ग को कभी मारहरा कस्बे की ओर जाने के लिए उपयोग में लाया जाता था। इसी के कारण इसका नाम मारहरा गेट पड़ा। इस आहते में यह दरगाह स्थित है। इसकी लंबाई पूर्व से पश्चिम तक लगभग 150 फीट है तथा चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक लगभग 75 फीट है।

हसनैन शहीद का मजार, अतरंजीखेड़ा, एटा—अतरंजीखेड़ा राजा बैन का राज्य क्षेत्र था, जब मुस्लिम सुलतान शहाबुद्दीन गौरी ने राजा बैन से उसकी गुलामी स्वीकार करने के लिए कहा तो उसके मना करने पर गौरी ने अतरंजीखेड़ा पर हमला कर दिया और किले को बारूद से उड़ा दिया। किले के भग्नावशेष अभी भी मौजूद हैं। यहीं नदी के किनारे एक बुजुर्ग हसनैन शहीद का मजार है। मुस्लिम ही नहीं सर्वधर्म समाज के लोगों की इस मजार के प्रति बहुत श्रद्धा है। सन् 582 हिजरी अर्थात् 1186 ई. से यह खेड़ा वीरान पड़ा है। [वि०प्र०सिं०]

एटा जनपद के सिक्ख धार्मिक स्थल

गुरुनानक देव गुरुद्वारा, एटा—इस गुरुद्वारे की स्थापना 1966 में रावलपिंडी के सरदार शूरी विशनसिंह के पुत्र श्री संत साईंलाल जी महाराज ने कराई थी। इसमें लंगर हेतु एक हॉल, एक छोटा हॉल तथा एक कमरा ग्रंथी के लिए है। इसका निर्माण विभिन्न चरणों में ट्रस्ट के पदाधिकारियों के माध्यम से हुआ है और आगे भी किया जा रहा है। इस गुरुद्वारे में वर्ष भर में तीन धार्मिक-सांस्कृतिक आयोजन वैशाखी, सिक्ख स्थापना दिवस तथा गुरु गोविन्दसिंह जयन्ती पर किए जाते हैं। [वि०प्र०सिं०]

एटा जनपद के हिन्दू धार्मिक स्थल

एटा प्राचीन और ऐतिहासिक नगर है। एटा नगर में हिन्दुओं के विभिन्न मतों-सम्प्रदायों यथा शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि के मन्दिर शासक और उनके अनुयायी अपनी-अपनी आस्था और श्रद्धा से बनवाते आये हैं। कालान्तर में नगर के विकास के साथ-साथ विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिर लगातार बनते आ रहे हैं। साथ ही पुराने मन्दिरों के रूप-स्वरूपों को बदलने के साथ उनके परिसरों में अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी लगती रही हैं। इनमें कुछ मन्दिरों का निर्माण कुछ दशक या सैकड़ों वर्ष पुराना हो, लेकिन उनमें स्थापित प्रतिमा हजार साल से भी प्राचीन होने के अनुमान हैं।

कैलाश मंदिर, एटा—एटा शहर के कैलाशगंज नामक मुहल्ले में स्थित इस मंदिर का निर्माण संवत् 1924 में राजा दिलसुख राय बहादुर द्वारा कराया गया था। मंदिर निर्माण के साथ ही इसके आसपास के पूरे क्षेत्र का नामकरण भी कैलाशगंज हो गया है। धरातल से इस मंदिर की चोटी की ऊँचाई करीब 200 फीट है, जबकि शिवजी की चतुर्मुखी मूर्ति धरातल से लगभग सवा सौ फीट की ऊँचाई पर स्थित है। धरातल से शिवजी की चतुर्मुखी मूर्ति तक के गर्भस्थल में किसी प्रकार का खोखलापन नहीं है, इस ठोस गर्भ पर ही दीप के आकार में शिवजी के चारों दिशाओं में उभरे मुखों की सफेद पत्थर से निर्मित मूर्ति रखी गयी है, मूर्ति के समीप ही सफेद पत्थर से निर्मित नंदी की मूर्ति स्थापित है। इसके अलावा मूर्ति की दो विपरीत दिशाओं उत्तर व दक्षिण में क्रमशः गणेश व माँ पार्वती की सफेद पत्थर से निर्मित आदमकद मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। मंदिर की छत पर अजन्ता व एलोरा की तरह ही शानदार भित्ति चित्रों को उकेरा गया है। मंदिर के धरातल के प्रांगण में एक ओर काफी विशाल सरोवर है जिसमें उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गयी हैं। मंदिर में ऊपर चढ़ने के लिए श्रद्धालुओं को 108 सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। फाल्गुन माह में शिवरात्रि पर्व और श्रावण मास के दौरान मंदिर में मेले लगते हैं। श्रावण के सोमवार और महाशिवरात्रि के दौरान भक्तजन काँवरों में गंगाजल भरकर कोसों दूर की लम्बी पदयात्रा करके कैलाश मंदिर में जलाभिषेक करते हैं।

चिंताहरण मंदिर, जलेसर—यह मंदिर शहर के नाला बाजार स्थित सरकारी अस्पताल के निकट स्थित है। नागवंश कालीन लिंग जलेसर में चिंताहरण के मंदिर में भी पाया गया है। इसका मुख दक्षिण दिशा की ओर करके स्थापित किया गया है। मान्यता है कि यह मंदिर बहुत जागृत मंदिर है तथा भक्तों की मनोकामना पूर्ति के हिसाब से यहाँ भक्तों का तांता लगा रहता है।

धौलेश्वर मंदिर, निधौलीकलां, एटा—एटा शहर से निधौलीकलां मार्ग पर स्थित 4 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। यहाँ स्थित मंदिर भगवान शंकर का मंदिर है। कर्पूरगौर वर्ण भगवान शंकर के कारण ही इस मंदिर का नाम धवल ईश्वर दिया गया है। स्थानीय किंवदंती के अनुसार गाँव बसाने वालों ने ही इसका नाम धौलेश्वर रखा था। यह यहाँ के सामंत रूपदेव, धोकलसिंह का राजक्षेत्र रहा है, जो कि चौहान वंशीय राजा थे। इनका शासनकाल 1687 के लगभग का माना जाता है। यह मंदिर उत्तरमुखी है। मंदिर परिसर में हनुमान जी तथा कई देवी-देवताओं की भग्न मूर्तियाँ अभी भी उपलब्ध हैं। मंदिर का गुम्बद दुहरी महराबी दीवार से बना है।

लक्ष्मीनारायण मंदिर, जलेसर—जलेसर के नाला बाजार मुहल्ले में सरकारी अस्पताल के पास ही लक्ष्मी एवं विष्णु के इस मंदिर का निर्माण 35 वर्ष पूर्व सन् 1979 में हुआ था। ये जलेसर का एकमात्र मंदिर है जिसमें सांईबाबा की मूर्ति है।

रूक्मिणी मंदिर, नूंहखेड़ा—यह स्थान एटा से 21 कि.मी. की दूरी पर एटा-निधौली-जलेसर मार्ग पर स्थित है। इस स्थान पर दक्षिण की ओर गुप्त एवं मध्य काल के खंडहर एक विशाल ढूह के रूप में पड़े हुए हैं। यहाँ के खंडहरों में से एक महत्त्वपूर्ण नारी मूर्ति मिली है, जिसे स्थानीय लोग 'रूक्मिणी' कहते हैं। एक अनुश्रुति के

अनुसार इस स्थान के समीप महाभारतकालीन 'कुंडलपुर' या 'कुंडिनपुर' नामक नगर बसा हुआ था, जिसका सम्बन्ध राजा भीष्मक की कन्या रूक्मिणी की मनोरंजक कथा से बताया जाता है। एटा की जलेसर तहसील में स्थित ग्राम भोजकट (वर्तमान खेड़ानूह) के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ की राजकुमारी रूक्मिणी भगवान श्रीकृष्ण को बाल्यकाल से ही पति मान चुकी थीं परन्तु पिता के विरोध करने पर रूक्मिणी ने श्रीकृष्ण से विवाह का निवेदन किया। भगवान श्रीकृष्ण यहाँ से रूक्मिणी का अपहरण कर मथुरा ले गए। रास्ते में पटना पक्षी विहार के सरोवर के निकट जब श्रीकृष्ण को श्रीपूर्णइच्छेश्वर महादेव मंदिर नजर आया तो उन्होंने भगवान महादेव को ही साक्षी मानकर परिणय किया।

शिवमंदिर, पटनापक्षी विहार, जलेसर—प्रवासी व अप्रवासी पक्षियों की शरणस्थली बन चुका पटना पक्षी विहार उत्तरप्रदेश के एटा जिले की जलेसर तहसील में स्थित है। जलेसर-सिकन्दराराऊ राजमार्ग पर एटा से 47 कि.मी. दूर तथा जलेसर से 5 कि.मी. दूर स्थित इस अभयारण्य को सन् 1990 में एक संपूर्ण अभयारण्य घोषित किया गया था। धार्मिक दृष्टि से यहाँ स्थित शिवमंदिर का चमत्कारिक महत्त्व है। यहाँ 30 फुट से भी अधिक गहराई तक लम्बा एक शिवलिंग भी है। मान्यता के अनुसार यह शिवलिंग जिसके आलिंगन में पूरा आ जाता है उसकी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। शिवतेरस को यहाँ मेला लगता है। इसी पटना पक्षी विहार में स्थित श्रीपूर्णइच्छेश्वर महादेव मंदिर में भगवान श्रीकृष्ण ने रूक्मिणी के साथ विवाह किया था। शिवलिंग परिसर में ही माँ जगदम्बे का उत्तरमुखी मंदिर भी है। [वि०प्र०सिं०]

एनी बिसेण्ट

1 अक्टूबर 1847 को लंदन में जन्मी एनी बिसेण्ट के पिता पेशे से चिकित्सक थे। उनकी माँ आयरिश थीं। माता-पिता के धार्मिक विचारों का उन पर गहरा असर हुआ। निर्धनता के कारण एनी को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। उनकी शिक्षा मिस मैरियट के संरक्षण में हुई। वे उन्हें फ्रांस और जर्मनी ले गईं जहाँ उन्होंने फ्रेंच और जर्मन भाषाएँ सीखीं। सत्रह वर्ष की अवस्था में वे पुनः अपनी माँ के साथ वापस आ गईं। इसी समय उनका परिचय एक युवा पादरी रेवरैण्ड फ्रैंक से हुआ। बाद में दोनों ने विवाह कर लिया। वैचारिक मतभेद के कारण दोनों का विवाह-विच्छेद हो गया। उन्होंने समाज के निर्धन वर्ग की सेवा को अपना उद्देश्य बनाया। सन् 1883 में उनका झुकाव समाजवादी विचारधारा की ओर हुआ। इसी समय उन्होंने 'सोशलिस्ट डिफेंस ऑरगनाइजेशन' संस्था का गठन किया।

सन् 1889 में वे थियोसाफी विचारधारा की ओर आकर्षित हुईं। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन इस विचारधारा को समर्पित कर दिया। सन् 1907 में वे थियोसॉफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा भी रहीं। सन् 1893 में वे भारत आईं और भारत की ही होकर रह गईं। हिंदू धर्म के प्रति उनमें अगाध आस्था थी, जो न केवल उनके विचारों में बल्कि उनकी वेशभूषा, भोजन और कर्म में भी दिखाई पड़ती थी। वे पुनर्जन्म में विश्वास करती थीं और उनका मानना था कि वे पिछले जन्म में हिंदू परिवार में जन्मी थीं। उन्होंने आत्महीनता से ग्रस्त हिंदू समाज को आत्मविश्वास और आत्माभिमान से परिपूर्ण कर दिया।

एनी बिसेण्ट का राजनीतिक जीवन सन् 1914 से आरंभ होता है जब उन्होंने बाल गंगाधर तिलक के साथ 'होमरूल आंदोलन' में सक्रिय भाग लिया। जिसके कारण मद्रास सरकार ने उन्हें नजरबंद किया। इसी वर्ष उन्होंने 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के सभापति पद को भी सुशोभित किया। जब गांधी जी ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व सँभाला तो वे बदलते परिवेश के अनुरूप बदलती जन-आकांक्षाओं को समझने में असमर्थ रहीं। वे धीरे-धीरे इस समूचे परिदृश्य में धुँधलाती चली गईं। 20 सितम्बर 1933 को वे चिर निद्रा में लीन हो गईं।

श्रीमती एनी बिसेण्ट ने लगभग 505 लेखों और ग्रंथों का प्रणयन किया। इनमें आत्मकथा (1893), द एशियेंट

विज्डम (1897), सम प्रॉब्लम ऑफ लाइफ (1900), वेकअप इंडिया (1913), इंडियाज अपलिफ्ट (1914), इंडिया ए नेशन (1915)—इस ग्रंथ को अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंधित कर जब्त कर लिया था विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्रीमती एनी बिसेण्ट भारतीय नवजागरण के आधार स्तम्भों में एक थीं। उनके विराट् व्यक्तित्व में एक दार्शनिक, एक समाज सुधारक, एक राजनेता, एक राष्ट्रभक्त और सबसे बढ़कर भारत और भारत के लोगों के प्रति अगाध स्नेह सभी कुछ अपने पूरे उत्कर्ष के साथ विद्यमान था। [ज०सिं०नी०]

ऐश्वर्यकादम्बिनी

भगवान श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाओं की काव्यात्मक प्रस्तुति इस काव्य ग्रंथ में हुई है। श्रीकृष्ण के पूर्वजों का क्रमिक परिचय देने के कारण इसकी ऐतिहासिक महत्ता भी मान्य है। इसका प्रसार 7 वृष्टियों (सर्गों) में हुआ है। प्रथम वृष्टि में त्रिपाद विभूति का अंकन है। पाद विभूतिगत पुरुषों का लक्षण द्वितीय वृष्टि में निरूपित है। वासुदेव एवं नन्द के वंश का विवेचन तृतीय वृष्टि में किया गया है। नन्द की राजधानी आदि से सम्बद्ध बातें चतुर्थ वृष्टि में आ सकी हैं। श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का वर्णन पंचम वृष्टि का विषय है। षष्ठ वृष्टि में प्रभु श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का सजीव चित्रण है। श्रीकृष्ण की द्वारका से पुनः ब्रज आगमन की कथा सातवीं वृष्टि में निबद्ध है।

इसके नायक श्रीकृष्ण की नायकता धीरललित प्रकारक है। श्रीकृष्ण का बाल चरित्र अत्यन्त मनोहर शैली में यहाँ प्रस्तुत हुआ है। संस्कृत काव्य परम्परा में श्रीकृष्ण की बाल-लीला प्रस्तुत करने में यह अनूठी काव्य कृति है। यह वैदर्भी रीति का काव्य है। भाषा मधुर और सरल है। शब्दों में स्निग्धता के साथ प्राञ्जलता भी दृष्टिलब्ध है। अलंकारों का प्रचुरतः प्रयोग हुआ है। श्री हरिदास (नवद्वीपवासी) के द्वारा एक बार यह बड़ाक्षरों में प्रकाशित हुआ था।

साहित्य शास्त्र की परम्परा में लिखे गये दो काव्य शास्त्रीय ग्रंथ भी—साहित्य कौमुदी तथा काव्यकौस्तुभ—बलदेव विद्याभूषण की मौलिक रचनाओं में अभिगण्य हैं। [क०उ०]

औ

औदुम्बर संहिता

औदुम्बर संहिता के प्रणेता श्री औदुम्बराचार्य ऋषि थे। निम्बार्क संप्रदाय में श्री निम्बार्काचार्य के साक्षात शिष्यों में एक औदुम्बराचार्य हुए। इन्होंने 'औदुम्बर संहिता' नामक ग्रन्थ का संकलन किया था। इस ग्रन्थ में पुराण, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और अन्यान्य स्मृति आदि के प्रमाणानुसार साधना करने की एक पद्धति लिखी है। इसमें भगवान श्री राधाकृष्ण की नित्य पूजा उपासना, उनके बारह महीनों के उत्सव, महोत्सव तथा एकादशी, महाद्वादशियों के व्रत और वैष्णवों के विशेष पंचसंस्कार आदि का संक्षिप्त होते हुए भी सुन्दर एवं सुचारु रूप से वर्णन किया गया है।

औदुम्बराचार्य भगवान निम्बार्काचार्यर के कृपापात्र थे और उनकी कृपा से ही ये समस्त शास्त्रों में पारंगत हुए थे। इनकी कृतियों में एक 'निम्बार्क विक्रान्ति' और दूसरी 'औदुम्बर संहिता' है। निम्बार्क विक्रान्ति में श्री निम्बार्काचार्य की जीवनी के कुछ चमत्कारों का वर्णन किया गया है और औदुम्बर संहिता में इस संप्रदाय के सज्जन भक्तों के करने योग्य भगवान की सेवा-पूजा, आराधना, एकादशी, महाद्वादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, भगवत जयन्ती महोत्सवों का विधान, वैष्णवों के संस्कार आदि की विवेचना, पुराण, महाभारत, रामायण, पंचरात्र आदि आर्ष ग्रन्थों के वचनों का संकलन किया गया है। अतः यह ग्रन्थ निम्बार्क संप्रदाय का धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ कहलाता है। इससे पूर्व इस प्रकार का ग्रन्थ इस समय, श्री निम्बार्काचार्य विरचित 'सदाचार प्रकाश' उपलब्ध नहीं है। उससे संक्रान्ति सदाचार संग्रह नामक उनके ग्रन्थ का सारांश पूर्व पृष्ठों पर दिया गया है। सदाचार सार संग्रह की भाँति औदुम्बर संहिता में आचार्य के सभी पक्षों पर विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में पाँच व्रतों का वर्णन है, इस कारण इसे 'व्रतपंचक' नाम से भी संबोधित किया जाता है।

श्री निम्बार्काचार्य कृत 'सदाचार प्रकाश' था, जिसका उल्लेख 'वेदान्तरत्न मंजूषा' प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। वर्तमान में उपलब्ध ऐसे ग्रन्थों में वैष्णव धर्म, सुरद्रुम मंजरी, सद्धर्म सूचनिका, श्रीनिम्बार्क व्रत निर्णय, स्वधर्मामृत सिन्धु आदि कई एक ग्रन्थ हैं, किन्तु उन सबमें प्राचीनता इसी की है। प्रायः सभी ग्रन्थों में इस संहिता के वचन और औदुम्बराचार्य नामोल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों में सबसे विस्तृत श्रीशुकसुधीकृत स्वधर्मामृत सिन्धु है, उसका प्रणयन विक्रम सं. उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शताब्दी का आरंभ काल माना गया है। श्री शुकसुधी का परमधामवास विक्रम सं. 1926 में हुआ था। वे मथुरा स्थित परशुरामद्वारा में रहते थे। उनके पश्चात् उनके शिष्य श्री भगवानदास जी वहाँ के स्थानापन्न रहे थे। उनके पश्चात उनके शिष्य श्री ठाकुरदासजी रहे। श्रीजी मंदिर वृन्दावन के वि. सं. 1929, 1930 की रोकड़ बहीखातों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सुना जाता है कि श्री शुकसुधी की जन्मभूमि मथुरा ही थी। यहाँ के गौड़ द्विजवंश परिवार में उनका जन्म हुआ था, वे बड़े विद्वान और त्यागी थे।

श्री धनीराम कृत 'निम्बार्क व्रत निर्णय' स्वधर्मामृत सिन्धु से सूक्ष्म और प्राचीन है, वह औदुम्बर संहिता के अनुसार है, किन्तु कई स्थल औदुम्बर संहिता से विस्तृत हैं। उसमें औदुम्बराचार्य का केवल आचार्य नाम से उल्लेख करके इनके वचन उद्धृत किये गये हैं। माघ मास के प्रकरण में अर्धोदय का विवेचन है। वहाँ निर्णयामृत मदनरत्न,

श्रीरामचन्द्र भट्ट, श्री नारायण भट्ट आदि के नामों से ज्ञात होता है। संभवत: वह ग्रन्थ नारायण भट्ट वि.सं. 1600 के पश्चात् और विक्रम सं. 1800 के मध्यकाल में संकलित किया गया होगा।

'श्रीसंकर्षणदेव कृत 'वैष्णव धर्म सुरद्रुम मंजरी' कुछ अंशों में इसी ढंग का है, वस्तुत: वह विष्णु धर्म और भगवान विष्णु और श्रीकृष्ण का परत्वदर्शक है। इसमें एकादशी, जन्माष्टमी, वामन द्वादशी, श्रीनृसिंह जयंती, बहुत कम उत्सव- महोत्सवों का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में एकादशी आदि उपवास करने योग्य तिथियों के वेध के प्रकरण में ''निम्बार्को भगवन्येषां'' इस श्लोक के प्रसंग में भट्टो जी दीक्षित का और उनकी कृति 'तिथि निर्णरू' का नामोल्लेख है। एकादशी वेध के विषय में मुहूर्त चिन्तामणि का और कालनिर्णय दीपिका का नामोल्लेख है। वैष्णवों के पंच संस्कारों का वर्णन थोड़ा बहुत इन ग्रन्थों में है। उनके सम्बन्ध का यह श्लोक ''तापं पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रों यागश्र पंचम:। अभी हिपंच संस्कारा: परमैकान्त-हेतव:।'' औदुम्बर संहिता आदि ग्रन्थों में है। किन्तु वैष्णव धर्म सुद्रुम मंजरी में वह नहीं है। उसमें वैष्णवों के बाह्य चिह्नों में तुलसी की माला, कण्ठी धारण करना, ताप और पुण्ड्र की चर्चा तो है किन्तु औदुम्बर संहिता में तुलसी की कंठी धारण करने या न करने का विशेष विवेचन नहीं है।

संभव है कि औदुम्बर संहिता के प्रणयकाल में कंठी के सम्बन्ध में विशेष विवेचन नहीं होगा। उनकी रचना के बाद ही कुछ सज्जनों ने कंठी सदा न धारण करने पर बल दिया हो। उसके विपरीत अन्य पक्षवालों ने विधि-निषेध वाक्यों का समन्वय किया। उत्तरोत्तर ग्रन्थों में यह चर्चा विशेष रूप से होने लगी।

औदुम्बर संहिता में आरोपण, सेचन, धारण आदि नव प्रकार से तुलसी की आराधना का विधान है। अत: तुलसी काष्ठ की कण्ठी माला का धारण करना वैष्णवों में एक सर्व साधारण नियम होने के कारण औदुम्बर संहिता के प्रणयन काल में तुलसी की कण्ठी सदा धारण रखने का जब प्रतिवाद ही नहीं था, तब उसके धारण करने न करने के विवेचन की उस समय अपेक्षा ही नहीं रही होगी। सम्भवत: इसी कारण औदुम्बर संहिता में उसकी विशेष चर्चा नहीं की गई।

औदुम्बर संहिता अत्यंत प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें पुराण और उपपुराणों के अतिरिक्त किसी ऐसे ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं हुआ है जो विक्रम सं. की छठी या सातवीं शती से अर्वाचीन माना जाता हो। इसमें जिन ग्रन्थों का और व्यक्तियों का नामोल्लेख है, उसका उल्लेख विषय सूची के साथ प्रकाशित है। उनमें एक नाम तत्वासार एवं तत्वगुण सार भी है, किन्तु वह किसी आधुनिक व्यक्ति का रचा हुआ नहीं है। वह पुराण एवं उपपुराणों के ही अन्तर्गत है। कुछ सज्जन औदुम्बर संहिता को अर्वाचीन मानते हैं। उनका कहना है कि यदि यह संहिता प्राचीन है तो ऋषि एवं मुनियों के स्मृति आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख होना चाहिए। किन्तु किसी ग्रन्थ को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिये यह तर्क ठीक नहीं है। जब तक किसी अर्वाचीन ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नामोल्लेख या उसके वचन न मिले तब तक वह अर्वाचीन सिद्ध नहीं हो सकता है।

श्री औदुम्बराचार्य की शैली अपने ही ढंग की है। पुराणों के वचनों का उद्धरण देकर अपने भावों को भी उसके साथ पद्यात्मक रूप से ही सम्बन्धित कर दिया है। इस संप्रदाय में अन्यान्य लेखकों ने भी इस परंपरा-सम्प्राप्त पद्धति का संरक्षण किया है। श्री नारायण देवाचार्य जी द्वारा प्रणीत 'आचार्य चरित' में यही पद्धति अपनाई गई है।

औदुम्बर संहिता में राधाकृष्ण युगल की आराधना पर बल दिया है। वह सनतकुमारों के सनतकुमारीय गुण रहस्य, सनतकुमार संहिता, नारदीय पुराण आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों और उपदेशों के अनुसार है। इसके पठन-पाठन से वैष्णव साधकों का बड़ा हित होगा। श्रीराधाकृष्ण युगल अर्चन का व्रत इस ग्रन्थ का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है। श्री औदुम्बराचार्य जी कहते हैं कि हम सभी ब्रजवासियों को नित्य वृन्दावन बिहारी श्री श्यामाश्याम की उपासना करनी चाहिये। जिस प्रकार पवन के प्रसंग से जल की चंचल लहरें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं, परन्तु

वास्तव में उनमें एक ही तत्व है—ठीक उसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण युग्म को समझना चाहिये। उन दोनों का न तो कभी वियोग होता है न पार्थक्य। परन्तु इस युग्म तत्व के रहस्य को कोई बुद्धिमान ही जान सकता है। औदुम्बर संहिता के प्रतिपाद्य में अनुगमन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों के समय में श्रीकृष्ण के साथ उनकी युगल अर्चा में ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवी श्री रूक्मिणी जी की प्रतिमा विराजमान करने की प्रथा थी। श्री औदुम्बराचार्य जी ने श्रीकृष्ण जी के साथ सर्वेश्वरी श्रीराधा की प्रतिष्ठा अनिवार्य बतलाई है। औदुम्बर संहिता में इस विषय की स्थापना करते हुए, उन्होंने सनत कुमार संहिता से प्रमाण का निर्माण कराकर उनकी श्रीकृष्ण के साथ प्रतिष्ठा कराना एवं उनकी पूजा करना इस दृष्टि से भी सर्वथा उचित है, क्योंकि उन दोनों में परस्पर न्यूनाधिक भाव है ही नहीं। दोनों में भेदभाव रखने से साधक की हानि होती है। [शै०चा०]

औदुम्बराचार्य

औदुम्बराचार्य जी श्री निम्बार्काचार्य जी के दूसरे शिष्य थे। इनका परिचय इनके विरचित ग्रंथों से मिलता है, यद्यपि औदुम्बराचार्य जी के जन्मतिथि का कोई विशिष्ट पता नहीं लग सका है। किन्तु 'निम्बार्क-विक्रान्ति' ग्रंथ के 90 और 91 श्लोकों से यह ज्ञात होता है कि जिस समय निम्बार्काचार्य तपोवन में एकान्त स्थल में गूलर के वृक्ष के नीचे एकाकी भगवान की भगवत्सेवा एवं आराधना कर रहे थे, उसी समय असुरों (दैत्य) के एक समूहों ने उन पर हमला कर दिया। ठीक उसी समय गूलर का एक फल निम्बार्काचार्य जी के चरणों के निकट आ गिरा। चरण नख से स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्य आकृति और अमित प्रभापूर्ण गुण रूपवान एवं सुन्दर पुरुष के रूप में प्रकट हो गया। यह देखते ही असुरों का समूह भयभीत होकर वहाँ से भाग गया। वही पुरुष औदुम्बराचार्य कहलाए। औदुम्बर (गूलर) से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम औदुम्बराचार्य प्रसिद्ध हुआ। औदुम्बराचार्य निम्बार्काचार्य जी के साथ-साथ ही रहते थे।

यद्यपि औदुम्बराचार्य की जन्मतिथि, मास, वर्ष और जीवनी का कोई विशिष्ट पता नहीं लग सका है। ये आचार्य पीठ पर आरूढ़ नहीं हुए थे, इसलिए इनका आचार्य उत्सव नहीं मनाया जाता है। आचार्य उत्सव उन्हीं आचार्यों का मनाया जाता है जो कि निम्बार्काचार्य के अनन्तर पीठासीन होते आए हैं। श्री औदुम्बराचार्य पीठ पर आरूढ़ नहीं हुए थे।

श्री औदुम्बराचार्य ऋषि अयोनिज थे अर्थात् निम्बार्काचार्य के तेज पुञ्ज का ही एक विशेष अंश थे, अतएव बिना अध्ययन किये भी निखिल निगमागम के पूर्ण वेत्ता और प्रतिक्षण आत्म-परमात्म आदि तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले थे। श्री औदुम्बर ऋषि का जिस प्रकार आविर्भाव हुआ था वैसे तिरोभाव नहीं हुआ अपितु बहुत समय तक निम्बार्क भगवान की सेवा में रहने के अनन्तर उनका तिरोधान हुआ।

औदुम्बराचार्य राधाकृष्ण के उपासक थे। उनके नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ 'औदुम्बर संहिता' में राधाकृष्ण के युगल तत्त्व का भावपूर्ण कथन किया गया है। तदनुसार राधाकृष्ण की यह जोड़ी सदा विद्यमान रहती है। यह नित्य वृन्दावन में नित्य विहार करती है। राधा और कृष्ण दोनों समभावेन अवस्थित रहते हैं। वे सरिता की दो लहरों की भाँति अलग-अलग दीखने पर भी वास्तव में एक हैं।

श्री औदुम्बराचार्यजी ने जितना बल राधाकृष्ण के नाम जप के ऊपर दिया उतना ही 'राधा' की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने पर भी आग्रह दिखलाया है। उनका यह कथन है कि कृष्ण के संग में हरिप्रिया राधा की भी प्रतिमा बनानी चाहिए, क्योंकि दोनों के एक संग अर्चन के ही द्वारा साधक परम गति को प्राप्त करता है।

औदुम्बराचार्य की रचना से ज्ञात होता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय से पूर्व यह 'युगलोपासना' अत्यन्त गुप्त थी और उन्होंने ही इस उपासना का प्रवर्तन किया है। औदुम्बराचार्य जी गुरु के मत के समर्थन में कहते हैं कि ''जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल में चंचल तरंग दृष्टिगोचर होती है, वे जल से भिन्न दीखती हुई भी वस्तुत: जल रूप होती हैं, उसी प्रकार राधाकृष्ण युगल तत्त्व है। इनका वियोग किसी काल में नहीं होता।

यह कुरुक्षेत्र के समीप पवनावा ग्राम में रहते थे। संभवत: वहीं इन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की। इनके 'औदुम्बर संहिता', 'निम्बार्क स्तोत्र', 'निम्बार्क विक्रान्ति' आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं। व्रतपंचक उपासना ग्रंथ है। ये दोनों लिखित रूप से उपलब्ध हैं निम्बार्क स्तोत्र मुद्रित हो चुका है। निम्बार्क-विक्रान्ति काव्यकृति है जो मुद्रित हो चुकी है।

श्री औदुम्बराचार्य ने प्रतिमा पूजन प्रणाली की सुदृढ़ता के लिये कई एक मंदिरों की स्थापना की थी। जिनमें कुरुक्षेत्र के निकट 'पपनावा' नामक ग्राम में एक मंदिर अभी तक विद्यमान है। यह मंदिर यद्यपि आचार्य पीठ नहीं माना जाता है, तथापि साम्प्रदायिक मंदिरों में एक अत्यन्त प्राचीन मंदिर माना जाता है। इसकी सेवा-पूजा पूर्वकाल से दाक्षिणत्य ब्राह्मण वंशज विरक्त निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी महात्मा ही करते आए हैं। [शै०च०]

क

कंस मेला

कार्तिक शुक्ल दशमी को मथुरा में चतुर्वेदी ब्राह्मणों के द्वारा 'कंस वध' मेले का आयोजन किया जाता है। इस दिन चौबे (चतुर्वेदी) परिवार के पुरुष नाना प्रकार के पारम्परिक आभूषण तथा वस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा हाथों में लम्बी-लम्बी लाठियाँ लेकर इस आयोजन में सम्मिलित होते हैं। इस अवसर पर कागज से बने कंस के पुतले का जुलूस निकाला जाता है और उस पुतले को नगर के बाहर कंस टीला नामक स्थान पर खड़ा किया जाता है। उसके पश्चात् चतुर्वेदी समाज के व्यक्ति कृष्ण और बलराम की सवारी के साथ वहाँ पहुँचते हैं तथा लाठियों से कंस के पुतले को पीटते हैं तथा ध्वंसावशेषों को लेकर धूमधाम के साथ कंसखार नामक स्थल पर जाते हैं और उन्हें नष्ट कर देते हैं। यह मथुरा का प्रसिद्ध मेला है। इस अवसर पर चतुर्वेदी ब्राह्मणों के पारम्परिक जयघोष 'कंसा के घर के घबराये . . . एवं छज्जू लाए खाट के पाए...' लोक मान्यता में इस मेले की प्राचीनता के द्योतक हैं। [प्र०श०]

कड़चा

कड़चा एक विशिष्ट साहित्य विधा है। जिसमें किसी घटना को सूत्र रूप में लिखा जाता है। चैतन्य सम्बन्धी साहित्य का इस विधा में सृजन हुआ है। मुरारि गुप्त द्वारा लिखित 'श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत' ग्रंथ अति प्रसिद्ध है। जो कड़चा के नाम से प्रख्यात है। चैतन्य महाप्रभु के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं को सर्वप्रथम इस ग्रंथ में पद्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस रचना का इसलिए भी अधिक महत्व है कि यह रचना चैतन्य महाप्रभु के जीवन काल में रची गई थी। परवर्ती युग में स्वरूप दामोदर विरचित 'कड़चा' और श्री रामाई ठाकुर का 'कड़चा' उल्लेखनीय है।

[क०उ०]

कन्हरदेव

श्री मत्स्य देश के विराट नगर में सारस्वत द्विजकुल में आपका आविर्भाव हुआ। कन्हरदेव जी किशोरावस्था में ही वृंदावन आकर गुरुदेव श्री ललितभानुदेव जी के शरणागत हो गए। साठ वर्षों तक इन्होंने श्रीगुरुदेव की परंपरा का निर्वहन किया। श्रीहरिदासी संप्रदाय की रहनी करवा-गुदड़ी का प्रवर्तक श्री कन्हरदेव जी को ही माना जाता है।

[कुं०बि०श०]

कठोपनिषद्

उपनिषदों में कठोपनिषद् सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस उपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद के माध्यम से परमात्म तत्त्व का हृदयग्राही वर्णन है। बहुत से दूसरे उपनिषदों में ही नहीं, गीता में भी कठोपनिषद् के वाक्य अक्षरश: अथवा अत्यल्प अंतर के साथ उद्धृत मिलते हैं। गरुड़ पुराण का तो एक पूरा का पूरा खंड ही कठोपनिषद् का अंश है। कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से संबंधित होने के कारण इस उपनिषद् को कठोपनिषद् कहा गया। दो अध्यायों और प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियों वाला यह उपनिषद् है।

स्वयंभू परमात्मा ने इंद्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, जिससे जीव बाह्य विषयों को देखता है, अंतरात्मा को नहीं। किन्तु जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इंद्रियों को अंतर्मुख कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मरूप परमात्मा को देख सकता है। ज्ञान कहते हैं 'ज्ञप्ति' को और ज्ञाप्त कहते हैं उसको जिसकी सब प्रकार की ग्रंथियाँ टूट जाती हैं। ग्रंथियों का टूटना या उनका न रहना, सर्वथा अभाव होना यानि सारे संशय मिट जाना ही सच्ची मुक्ति है। ये ग्रंथियाँ क्या हैं और इनका उच्छेद कौन करता है, इस बात का उत्तर कठोपनिषद् में दिया है।

मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है—कार्य-कारणरूप उस परात्पर परमेश्वर को तत्त्व से जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है, संपूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिसे जानकर मृत्यु को सर्वथा पार करके अमर हो जाता है। ईशोपनिषद् के समान ही केन उपनिषद् एवं यहाँ कठोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या के संबंध में बताया है तथा एक दूसरे के विपरीत इन दोनों के मार्ग बताये हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् के समान ही कठोपनिषद् में भी कहा है कि ब्रह्म के भय से देव दौड़कर जल बरसाना, प्राणियों को जीवन शक्ति प्रदान करना, जीवों के शरीरों का अंत करना आदि अपना-अपना कार्य सावधानीपूर्वक कर रहे हैं। भय से अनुशासन में रहने वाले देवों में मृत्यु का नाम पाँचवें स्थान पर है। देवता हों या मनुष्य इन सब में भय का कारण आत्मबोध का न होना ही है। जीव को जब यह ज्ञान हो जाता है कि उसका आत्मस्वरूप वही है, तब यही भय अभय में परिवर्तित हो जाता है।

नचिकेता महर्षि (अरुण के पुत्र) उद्दालक का पुत्र एक ऐतिहासिक पुरुष था, जिसके मन में महती श्रद्धा का प्रादुर्भाव हुआ और प्राणी और जीवों के जीने- मरने जैसी घटनाओं को देखकर खोज की इच्छा पैदा हुई कि मरने के बाद जीव का सर्वथा नाश हो जाता है या उसका अस्तित्व बना रहता है और आखिर खोज करते-करते उसने इसकी थाह पा ली, जिसे उसने इस रूपक के माध्यम से ऋग्वेद में प्रकट किया। जिसका विशद वर्णन कठोपनिषद् में किया गया है। यहाँ कठोपनिषद् में यह बात स्पष्ट की गयी है कि यम अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना ही यम के पास जाना और उससे ज्ञान प्राप्त करना है। जो भी हो, बाल्यकाल में जो श्रद्धा नचिकेता के मन में उत्पन्न हुई, वह यम के ब्रह्मविद्या प्रदान करने से एवं उसके द्वारा किये आत्म-चिंतन से इतनी वीर्यवती हुई कि वह ब्रह्म के समान हो गया। कठोपनिषद् का ''उत्तिष्ठतजाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'' इत्यादि मंत्र आत्मबोध प्राप्त करने के लिए सजग करता है। [वि०श०]

कर्णहर देवाचार्य

श्री स्वभूराम देवाचार्य जी के शिष्य श्री कर्णहर देवाचार्य जी (कन्हर देवाचार्य) का जन्म पंजाब के बूढ़िया ग्राम में हुआ था। विप्रवंशी इनके माता-पिता श्री स्वभूराम देवाचार्य जी के शिष्य थे। इनके पिता के तीन विवाह हुए किन्तु कोई भी संतान नहीं थी। परम वैष्णव तथा गुरु और संतों के चरणाश्रित इनके पिता का लोग उपहास करते थे। ऐसे में इन्होंने अपने गुरुदेव से पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की, जिस पर उन्होंने सबसे छोटी पत्नी के गर्भ से पुत्र होने का वरदान दिया। नवजात बालक को सर्प ने डस लिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई किन्तु श्रीस्वभूराम देवाचार्य जी की कृपा से बालक को पुनः जीवन मिल गया और आगे चलकर श्री स्वभूराम देवाचार्य जी के शरणापन्न होकर कन्हर देवाचार्य के नाम से विख्यात हुए और श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ बने। कन्हर देवाचार्य जी दूध के अतिरिक्त और किसी वस्तु का आहार नहीं करते थे। ये अपने आराध्य राधामाधव को भी भोग में केवल दूध ही अर्पित करते थे। अतः इनका एक नाम दूध आहारी भी पड़ गया तथा जहाँ ये विराजते थे उस स्थान को लोग दूधाधारी के नाम से जानने लगे। निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद कन्हर देवाचार्य जी का प्रेम और सद्भावना अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायों में समान थी। धर्म, सम्प्रदाय और जाति का भेद उनकी दृष्टि में अमान्य था। श्रीराधाकृष्ण युगल की भक्ति में आचार्यश्री स्तम्भ के सदृश थे। दया, क्षमा, गांभीर्य, भजन और कृपा की प्रतिमूर्ति श्री कर्णहर देवाचार्य जी भविष्यदृष्टा

संत थे। कहा जाता है कि श्रीकर्णहर देवाचार्य जी द्वारा हरियाणा, पंजाब और राजपूताना प्रांतों में लगभग छः-सात सौ आश्रमों तथा मंदिरों की आधारशिला रखकर सनातन धर्म तथा निम्बार्क सम्प्रदाय की अभिवृद्धि की। भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों में अपने शिष्य भेजकर इन्होंने तत्कालीन भारत में व्याप्त कुप्रथाओं, धर्मविरोधी गतिविधियों का न सिर्फ उन्मूलन किया बल्कि राधाकृष्ण की भक्ति और वैष्णव धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया।

इनके शिष्यों में श्री परमानंद देवाचार्य, श्री माथुर देवाचार्य, श्री नारायण देवाचार्य, श्री रामगोपाल देवाचार्य और श्रीधर्म देवाचार्य जी आदि प्रमुख हैं। श्री माथुर देवाचार्य जी ने सोनपुर (उड़ीसा) का रुख किया तो श्री नारायण देवाचार्य जी संबलपुर (उड़ीसा) और श्री रामगोपाल देवाचार्य जी ने कटक (उड़ीसा) जाकर कुप्रथाओं का शमन कर कृष्णभक्ति का प्रचार-प्रसार किया और गोपाल जी के मंदिर स्थापित किए। 95 वर्ष की अवस्था में इन्होंने गोलोकगमन किया। [कुं०बि०श०]

कर्णानंद

यह ग्रंथ श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र गो० कृष्णदास जी द्वारा प्रणीत है। इसकी मूल विषयवस्तु श्यामा-श्याम की प्रेम केलि है। किन्तु ग्रंथ के मंगलाचरणात्मक श्लोकों में रसोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य के ऐहिक जीवन से संबंधित कतिपय तथ्यों का भी प्रकाश होता है। इस आधार पर यह ग्रंथ श्री हिताचार्य का ऐहिक जीवन परिचय जानने के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। इसका रचनाकाल शकाब्द 1500 भादौं कृष्णाष्टमी (वि.सं.1635) है। [रा०श०]

कमलनयन

कमलनयन स्वामी जी तैलंग ब्राह्मण थे। इन्होंने 90 वर्षों तक ब्रज वृंदावन में निवास कर युगल सरकार को सखी भाव से लाड़ लड़ाया। एक बार कमलनयन स्वामी उज्जैन में थे। शाक्तों ने भगवान राम की अवज्ञा करते हुए कहा कि जल में शिला तैरने वाली रामसेतु की यशगाथा मिथ्या है। इस पर स्वामी जी ने कह दिया कि यदि हृदय में लेशमात्र की भगवद् भक्ति हो, तो किसी के भी नाम से जल में शिला तैर सकती है। शाक्त संप्रदायवादियों ने कमलनयन नाम लिखकर कुछ शिलाएँ जल में प्रवाहित कर दीं। सभी पत्थर तैरने लगे। शाक्त विस्मित हो गए और स्वामी जी के चरणों में गिर पड़े। [कुं०बि०श०]

कमलनयन गोस्वामी

कमलनयन गोस्वामी श्री रासदास जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार उनका जन्म संवत 1692 में हुआ था। संवत 1725 के लगभग आचार्य गद्दी को सुशोभित किया। उनका देहावसान संवत 1754 में हुआ था। उनका कोई पुत्र नहीं था अतः अपने भतीजे ब्रजलाल को गोद लिया था। उनके निकुंजवास के बाद ब्रजलाल जी ही गद्दी के आचार्य बने। कमलनयन जी के दो छोटे भाई श्री बिहारीलाल और कुंजलाल थे। बिहारीलाल जी के तीन पुत्र और कुंजलाल जी के सात पुत्र थे।

कमलनयन जी के काल में ही औरंगजेब की तानाशाही के कारण राधावल्लभ मंदिर का दमनचक्र तीव्रगति से चल रहा था। उनके संपूर्ण आचार्यत्व काल पर औरंगजेब के संकट की काली छाया रही। बड़ा कठिन समय था किन्तु कमलनयन जी ने बड़े धैर्य और साहस के साथ उसका सामना किया। संवत 1726 में ब्रज के मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा। अतः यहाँ स्थित सभी देवमूर्तियों को गुप्त रूप से सुरक्षित स्थानों पर पहुँचा दिया गया।

साम्प्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि राधावल्लभ जी को कामवन पहुँचाया गया। संवत् 1739 में उन्हें मंदिर में विराजमान किया गया। इस सम्बन्ध में संपूर्ण तथ्यों का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः संवत 1726 से 1739

तक राधावल्लभ जी को वृन्दावन में रखा गया या तत्काल कामवन पहुँचाया गया, यह ज्ञात नहीं है। कमलनयन जी और उनके समकालीन विलासवंशीय आचार्य श्यामलाल जी और उनके भाई-भतीजों को क्या-क्या कष्ट झेलने पड़े, यह सब विवरण उपलब्ध नहीं है। साम्प्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि 103 वर्ष तक राधावल्लभ जी कामवन में विराजे। इसके बाद संवत 1842 में वृन्दावन लाकर नये मंदिर में प्रतिष्ठित किया, जिसका निर्माण गोस्वामी किशोरीलाल जी के शिष्य सेठ लल्लू भाई ने करवाया था। औरंगजेब के आक्रमण में सात प्रमुख भक्त मारे गये जो इस सम्प्रदाय से जुड़े थे।

गोस्वामी कमलनयन जी के अनेक शिष्य हुए। राधावल्लभ भक्तमाल नामक ग्रंथ में इनका उल्लेख हुआ है। जिनमें श्रीकृष्ण अलि, बाबरी सखी, सहचरि सुख और हित अनूप नाम के शिष्य अधिक प्रसिद्ध हुए। कमलनयन जी ने अनेक भावपूर्ण पद, रचनाएँ, अष्टयाम तथा वर्षोत्सव इत्यादि के पदों की रचना की। गोस्वामी कमलनयन कृत 'समय प्रबंध' हस्तलिखित प्रति में वर्षोत्सव का उल्लेख है। [उ०भा०]

कर्म

सामान्य अर्थ में 'कर्म' शब्द का अर्थ किसी क्रिया द्वारा सम्पन्न काम (कर्म) है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव की मानसिकता संज्ञानात्मक प्रक्रिया के तीन पक्ष होते हैं ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक। मानव के शरीर की रचना ही जिन तत्वों से हुई है उसके कारण कर्म या क्रिया करना स्वाभाविक धर्म है। बिना कर्म के मानव शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता।

श्रीमद् भगवत गीता (अध्याय 3 श्लोक 5) ''न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत कर्म कृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।'' प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कार्य करना पड़ता है, अतः कोई भी मनुष्य या प्राणी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। यह आत्मा का भी स्वभाव है।

प्रायः कर्म का अर्थ 'कर्तव्य' मान लिया जाता है। कर्तव्य को नियत कर्म माना जा सकता है जो समाज, धर्म आदि के द्वारा निश्चित किए जाते हैं। कर्तव्यों का पालन करने वाले व्यक्ति को निष्ठावान माना जाता है। स्वयं भगवान अपने कर्तव्यों या नियत कर्मों को करने के लिए बाध्य हैं ऐसा गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन को बताया है।

कर्म साधारण रूप से शारीरिक, मानसिक या भावात्मक होते हैं जबकि 'प्रारब्ध' के साथ पाप और पुण्य की कल्पना जुड़ी हुई है। जिसे हम प्रारब्ध कहते हैं वह पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है, जिसे भोगना ही पड़ता है।

चैतन्य महाप्रभु दर्शन में पंचतंत्र माने गए हैं–

''विष्णु शक्तिः पर प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्म संज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिशिष्यते।।''

तीन शक्तियाँ हैं–परा, अपरा और अन्या। विष्णु शक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ (जीव) नामक शक्ति अपरा है और कर्म नामक माया है जो शक्ति अन्या है। कर्म का संबंध माया से माना गया है। इस दृष्टि से कर्म की प्रेरक भी माया है और संसार की प्रवृत्ति का मुख्य कारण भी कर्म है।

मानव दर्शन में कर्म के तीन प्रकार माने गए हैं –1. विहित, 2. प्रतिविद्ध, 3. उदासीन। वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि प्रामाणिक शास्त्रों के कर्तव्य रूप से निर्दिष्ट विहित कर्म कहलाते हैं। अकर्तव्य रूप से किए जाने वाले कर्म प्रतिविद्ध कहे जाते हैं और जिन कर्मों के बारे में कर्तव्यता अथवा अकर्तव्यता का निर्देश नहीं किया जाता है वे

उदासीन कर्म कहे जाते हैं। इन्हीं कर्मों से जो फल प्राप्त होते हैं उनके अनुसार तीनों कर्म काम्य और अकाम्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। ये हैं–प्रारब्ध और संचित। इनमें भी दो प्रकार के भेद होते हैं–इष्ट और अनिष्ट। प्रारब्ध कर्म भोग से नष्ट होते हैं, जबकि संचित कर्म को ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है।

श्रीमद् भगवत गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं–कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्म की बारीकियों को जानना अत्यन्त कठिन काम है इसलिए कर्म, अकर्म और विकर्म की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। कर्म के विषय में जानने के लिए मनुष्य (जीव) को परमात्मा के साथ अपने संबंध को जानना होगा। साधारण रूप से मनुष्य कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को मान बैठता है। कर्म-अकर्म का भेद केवल बुद्धि से जाना जा सकता है।

गीता के अनुसार जो व्यक्ति कार्य करने वाले सारे कर्म भगवान के लिए करते हैं–वे स्वभावतः कर्म-बंधन से मुक्त होते हैं। अतः कर्म के फल से उन्हें लाभ या हानि नहीं होती। अकर्म का अर्थ है कर्म न करना। निष्क्रिय हो जाना। विकर्म–वे सभी कर्म जो धर्म विरुद्ध या निषिद्ध कर्म माने जाते हैं विकर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों को करने के लिए मनाही है जैसे - असत्यवादन, छल, कपट, प्रपंच, अधर्म, अनीति, अत्याचार, व्यभिचार आदि। इनके करने का फल नरक होता है। सुकर्म के अंतर्गत वे सभी कर्म आते हैं जो शास्त्रसम्मत माने गए हैं। जैसे - सत्य, धर्म पर आधारित सदाचार, सेवा, न्याय और नीति के अनुसार किए गए कर्म। इनका फल स्वर्ग प्राप्ति होता है।

कर्मकाण्ड के लिए किए कर्म सकर्म होते हैं। उनसे मुक्ति की कामना करना व्यर्थ है। कर्म, अकर्म और विकर्म का वर्गीकरण कर्मवाद के अनुसार कर्मफलों का आधार माना जा सकता है। पुण्य कर्म और पाप कर्म आदि की विवेचना भी कर्मफल पर ही आधारित है। सामान्य रूप से दैहिक कर्म शारीरिक स्वास्थ्य और उसे सक्रिय बनाए रखने के लिए किए जाते हैं। इन्हें नित्य कर्म भी कहते हैं।

कर्मक्षेत्र का वर्णन गीता के अध्याय 13 में मिलता है। श्लोक 3 ''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥'' स्वयं कृष्ण भगवान कहते हैं कि ''मैं प्रत्येक शरीर के कर्म क्षेत्र का ज्ञाता हूँ।'' वे समस्त शरीरों के ज्ञाता भी हैं। वैदिक ग्रंथों में वर्णन है कि-''क्षेत्राधि हि शरीराणि बीज चपि युमाशुमे। तानि वेत्तिस योगात्मा तत क्षेत्रज्ञ उच्चते।।'' यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इस शरीर के भीतर इसका स्वामी तथा उसके साथ ही परमात्मा का वास है, जो शरीर और शरीर के स्वामी दोनों को जानने वाला है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार क्षेत्र के विषय में ''ब्रहम्म पुच्छं प्रतिष्ठा'' बतायी गई है। ये पाँच प्रकार की बताई गई हैं–अन्नमय, प्राणमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय और आनंदमय। इनमें से प्रथम तीन–अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय अवस्थाएँ जीवों के कार्य-कलाप का क्षेत्र हैं। अन्य से परमात्मा के आनंद स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति होती है।

गीता के श्लोक 6 और 7, अध्याय 13 के सारांश के रूप में कर्म क्षेत्र को ''पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, तीनों गुणों की अप्रकट अवस्था, दसों इंद्रियों तथा मन, पाँच इंद्रियों विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, जीवन के लक्षण तथा धैर्य इन सबको संक्षेप में कार्यक्षेत्र तथा उसकी अंतः क्रियाएं कहा जाता है।'' (पृ. 523-524, गीता यथासंभव)

मानव को कर्म करने का अधिकार है या नहीं, इस विषय में श्रीकृष्ण ने गीता के अध्याय 2, श्लोक 47 में स्पष्ट कहा है - 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'। हे अर्जुन ! तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। अतः तुम न तो अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ। (पृ. 114)

गीता के अध्याय 3 के श्लोक 6 और 7 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिसने इंद्रियों पर नियन्त्रण तो कर लिया पर उनका स्मरण-चिंतन करता रहा है वह स्वयं को धोखा देता है। सच्चा कर्मयोगी वही है जिसने

निष्ठापूर्वक अपने मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों को वश में कर लिया है और बिना किसी आसक्ति के कर्मयोग में रत है। [पु०श्री०]

करौली के हिन्दू धार्मिक स्थल

पूर्वी राजस्थान की करौली रियासत अरावली पर्वत श्रृंखला से घिरा एक पहाड़ी क्षेत्र है। मान्यता है कि यहाँ का राजपरिवार चन्द्रवंशी है, जो भगवान श्रीकृष्ण की परम्परा से सम्बन्ध रखता है। उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भू-भाग और मध्यप्रदेश के पूर्वोत्तर भाग से सटे इस क्षेत्र की भाषा ब्रज भाषा है, जिसमें कुछ असर मध्य प्रदेश का भी है। ब्रज संस्कृति के पूर्ण प्रभाव के कारण इस क्षेत्र के लोग राधा और कृष्ण के भक्त हैं। इस आध्यात्मिक भूमि में अनेक मन्दिर हैं, जिनमें से प्रमुख मन्दिर निम्न प्रकार हैं:—

मदन मोहन जी का मन्दिर—करौली का विश्व प्रसिद्ध मन्दिर गौड़ीय सम्प्रदायानुयायी षड गोस्वामियों में से एक सनातन गोस्वामी द्वारा पूर्व में वृन्दावन के द्वादशादित्य टीले का सेवित यह विग्रह करौली में स्थित है। औरंगजेब के द्वारा वृन्दावनस्थ मंदिरों के विनाश के दौरान गोविन्द देव और गोपीनाथ जी के साथ ही मदन मोहन जी को भी जयपुर ले जाया गया था। कालान्तर में वर्ष 1942 ई. में करौली नरेश गोपाल सिंह ने स्वप्नादेश के फलस्वरूप जयपुर महाराज सवाई जयसिंह से इस विग्रह को करौली ले जाने की याचना की थी, जिसे स्वीकार कर जयपुर नरेश ने इस विग्रह को करौली ले जाना स्वीकार कर लिया था। तब से मदनमोहन जी करौली के राजप्रासाद के एक भाग में बने विशाल मन्दिर में विराजमान हैं। इनके वाम पार्श्व में राधा रानी और दाहिनी ओर ललिता सखी के विग्रहों की भी स्थापना बाद में की गई। इस मन्दिर में प्रमुख रूप से जहाँ मदन मोहन जी विराजमान हैं, वहाँ पहले गोपाल जी विराजमान थे। कहा जाता है कि मदन मोहन जी के करौली आगमन के उपरान्त उन्हें अतिथि रूप में सम्मान देते हुये मध्य में विराजित कराया गया तथा गोपाल जी को उनके दाहिने पार्श्व में सीमित किया गया। परम्परानुसार राधा रानी और ललिता सखी के विग्रह मदन मोहन जी से पृथक वाम पार्श्व में विराजमान होते हैं तथा उन्हें एक साथ विराजमान कराने हेतु जुगल करने की परम्परा है, जिसमें निर्धारित भोग आदि पधराया जाता है। शेष सभी त्यौहार आदि आयोजन यहाँ सम्पन्न होते हैं। गौड़ीय पद्धति से सेवित मदन मोहन जी के कारण यहाँ का सम्पूर्ण भू-भाग ब्रज संस्कृति से ओतप्रोत है। स्थानीय लोग इन्हें श्री जी के नाम से स्नेहवश सम्बोधित करते हैं।

कैला देवी मन्दिर— करौली नगर से 23 किलोमीटर की दूरी पर दक्षिणी भू-भाग में अरावली पर्वत श्रृंखला के ही अन्तर्गत कैला देवी मन्दिर स्थित है। यह देवी मन्दिर इस क्षेत्र का प्रमुख शक्तिपीठ है। विभिन्न संदर्भों के अनुसार वर्ष 1114 ई. में गोस्वामी केदारगिरी द्वारा यहाँ इस प्रतिमा की स्थापना की गई थी। पश्चात् इस क्षेत्र के तत्कालीन खींची राजा रघुनाथ दास ने कैला देवी के दक्षिण में चम्बल नदी के उस पार बसे बांसीखेड़ा गाँव से देवी चामुण्डा की प्राचीन प्रतिमा को भी कैला देवी के सम पार्श्व में विराजित करवा दिया। जहाँ संयुक्त रूप में इन दोनों देवियों की पूजा की जाती है। कालान्तर में इस मन्दिर की सेवा, पूजा व अन्य व्यवस्था का उत्तरदायित्व करौली के यदुवंशी नरेशों के अधीन हो गया। देवी मन्दिर में ही भैरव स्वरूप लांगुरिया की प्रतिमा भी पूजनीय है। शारदीय विशेषकर चैत्र नवरात्र में लगने वाला विशाल मेला यहाँ की विशेषता है। कैला देवी को ब्रज की देवी के रूप में लोक में मान्यता प्राप्त है। कैला देवी से 2 कि.मी. दूर कैला देवी के मूल प्राकट्य स्थान केदारगिरि पर भी सेवा-पूजा का विधान आज तक कायम है।

करौली क्षेत्र के अन्य मन्दिर—करौली क्षेत्र के अन्तर्गत अन्य भी अनेक मन्दिर हैं, जिनमें बीजासन माता का मन्दिर, गुमानो देवी, खोहरी देवी, अंजनी देवी, पाताली हनुमान, श्री राधा गोपाल जी, प्रताप नवल बिहारी जी, गोपीनाथ जी, मुरली मनोहर जी, गोपाल जी, हरदेव जी, कल्याण राय जी, नृसिंह जी, वाराह जी, बिहारी जी, कुंज

खटफ पंथी, अर्जुन सूर्यशिरोमणि, राजौर बाग, मदन फूल बिहारी, लक्ष्मण जी, बैठे हनुमान, गणेश जी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें अनेक मन्दिर देवस्थान विभाग, राजस्थान शासन द्वारा वित्त पोषित भी हैं। [कृ०च०च०]

कलिसंतरणोपनिषद्

कलिसन्तरणोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ "ॐ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"—इस शान्ति पाठ से होता है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने हिन्दू जाति का पतन होते देख इसी उपनिषद् का सहारा लिया और इस उपनिषद् के महामन्त्र हरे राम आदि के जप और कीर्तन कराकर लोगों को जगाया। हरिनाम की शक्ति के बल पर हिन्दू जाति ही नहीं विश्व के मानवों का भी कल्याण किया। राम नाम की महिमा से परिचित होकर गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयं प्रभु श्रीराम के दर्शन का सौभाग्य पाया। उन्होंने असंख्य जनों को श्रीराम का मन्त्र देकर सन्मार्ग पर लगाया और रामचरित मानस की रचना कर सारे विश्व में रामभक्ति का प्रचार किया। इस उपनिषद् का प्रथम श्लोक है—

यद्दिव्यनाम स्मरतां संसारो गोष्पदायते।
सा नव्यभक्तिर्भवति तद्रामपदमाश्रये॥

इस उपनिषद् में "हरे राम आदि" सोलह नामों के मन्त्र का अद्भुत माहात्म्य वर्णित है। द्वापर युग समाप्त होने वाला था। यतियों में श्रेष्ठ नारद जी महाराज ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उन्होंने उनसे प्रार्थना की—"हे भगवन! मैं भूलोक में पर्यटन करता हुआ किस प्रकार त्राण पा सकता हूँ।" ब्रह्माजी बोले—"वत्स! तुमने मुझसे आज बहुत अच्छी बात पूछी है। अब तुम सारी श्रुतियों का जो रहस्य है, उसे सुनो, जिससे कलियुग में भवसागर को पार कर लोगे। भगवान आदि-पुरुष नारायण के नाम का उच्चारण करने मात्र से मनुष्य कलियुग के दोषों का नाश कर सकता है। हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा—"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥" कलियुग के सारे पापों का नाश करने वाले ये भगवान के सोलह नाम हैं। इन सोलह नाम मन्त्र में से श्रेष्ठ कोई दूसरा उपाय सारे वेदों में भी देखने में नहीं आता।

इन नामों के उच्चारण करने से षोडश कलाओं से आवृत जीव के आवरण नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात, जैसे मेघ (बादल) के विलीन होने पर सूर्य की किरणें प्रकाशित होने लगती हैं, उसी तरह से परब्रह्म का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। इसके बाद नारद जी ने भगवान विष्णु के इस मन्त्र के जप की विधि के बारे में पूछा। ब्रह्मा जी ने कहा—इस मन्त्र का पवित्र हो या अपवित्र निरन्तर जप करने वाला सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्त करता है। जब साधक इस सोलह नामों वाले मन्त्र का तीन करोड़ जाप कर लेता है, तो वह वीर हत्या के पाप से तर जाता है, स्वर्ण की चोरी के पाप से छूट जाता है। पितर, देवता और मनुष्यों के प्रति किये गए अपकार के दोष से भी छूट जाता है। सब धर्मों के परित्याग के पाप से तत्काल ही पवित्र हो जाता है। शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यह कलिसन्तरणोपनिषद् है। [नि०श०]

कल्पसूत्र

'कल्पसूत्र' जैन धर्म के संस्कृत ग्रंथों की दीर्घा में प्रतिष्ठित एक प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। 'कल्पसूत्र' की रचना लगभग चौथी शताब्दी ई.पू. में अंतिम श्रुतकेवलिन 'भद्रबाहु' के द्वारा संस्कृत में की गयी। यह ग्रंथ प्रमुख रूप से दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक अपूर्व रचना है। भद्रबाहु ने जैन धर्म के जन्म

से अपने समय तक के उत्थान और विकास से सम्बन्धित अत्यन्त प्रामाणिक जानकारी 'कल्पसूत्र' में उपलब्ध करायी है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में महावीर स्वामी से पूर्ववर्ती 23 तीर्थंकरों की जीवनी का विवरण दिया गया है। दूसरे भाग में थेरावली-गणों एवं गणाध्यक्षों की सूची है तथा तीसरे भाग में जैन संन्यासियों के लिए नियमों का वर्णन किया गया है।

'कल्पसूत्र' महावीर की कठिन तपस्या का वर्णन करता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 20 वर्ष बाद सुधर्मण की मृत्यु हुई (प्रमुख गणधर) एवं जम्बू 44 वर्षों तक संघ का अध्यक्ष रहा। यह ग्रंथ 'गणधरों' के नामों की सूची उपलब्ध कराने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। 'कल्पसूत्र' प्रमुखत: पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी का जीवन चरित है। [शि०श०]

कल्याण पुजारी

श्री कल्याण पुजारी श्री वनचन्द्र गोस्वामी के शिष्य थे। यह रसिक भक्त, साधुसेवी, सुकवि एवं सेवापरायण महात्मा थे। रसिक अनन्यभक्ति में भगवत मुदित जी ने 'श्री कल्याण पुजारी जी की परचई' में लिखा है कि ये राधावल्लभ जी के पुजारी थे। मंदिर में दिन-रात रहकर भक्ति-भावना से सेवा-पूजा करते थे। ठाकुर जी का प्रसाद साधुओं को खिलाते थे और स्वयं उनकी जूठन ग्रहण कर उदरपूर्ति करते थे। उनका यह आचरण अनेक लोगों को मर्यादा के विरुद्ध प्रतीत हुआ जिसकी शिकायत वनचन्द्र जी के पौत्र दामोदरवर जी से की। दामोदरवर जी ने वनचन्द्र जी से यह बात कही परन्तु गुसाईं जी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। परन्तु लोगों का विरोध बढ़ता देखकर स्वयं कल्याण पुजारी वनचन्द्र जी के पास गए और मन्दिर की चाबियाँ सौंप दीं। परन्तु राधावल्लभ जी ने किसी अन्य से सेवा स्वीकार नहीं की और दामोदरवर जी को स्वप्न में कहा कि ''हम कल्याण के बिना अत्यन्त भूखे और दु:खी हैं। वह हममें और हमारे भक्तों में कोई अन्तर नहीं मानता है। तुम कल्याण को बुलाकर हमारा कष्ट दूर करो।'' अत: दामोदरवर जी ने प्रभु आज्ञा से कल्याण पुजारी को बुलाकर मंदिर की चाबी सौंप दी और उनसे कहा कि तुम जैसा करते आए हो वैसा करो। उनका जन्म संवत 1600 में तथा अवसान 1690 में हुआ। संवत 1620 में वनचन्द्र जी से दीक्षा ली थी। कल्याण पुजारी जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। रसिक अनन्य माल में इनके चरित्र से सम्बद्ध ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं-

बड़े रसिक कल्याण पुजारी, रहनि कहनि सबही ते न्यारी।
द्विज सनाढ्य रहे शुभ रीत, गुरु सु कृपातें भये विख्यात॥
श्रीवनचन्द्र तें पायो नाम, सेवा ही सों पूरन काम।
श्री जी की अंग सेवा करें, निज मंदिर ते नैकु न टरैं।
अपने प्रभु को भोग लगावैं, सन्तन जिवाइ उच्छिजू ही पावैं॥

कल्याण पुजारी इष्ट के अनन्य भक्त थे अत: अन्य किसी देवी-देवता की न तो पूजा करते न ही अन्य मंदिरों में दर्शन करने जाते थे। दूसरों को भी इधर-उधर भटकने से रोकते थे। कल्याण पुजारी का महत्त्व भक्ति भाव के साथ-साथ उनकी वाणी के कारण भी है। उनके द्वारा लिखे गये 200 पद छंदादि मिलते हैं, जो अनन्य निष्ठा और काव्य-कौशल दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी वाणी काव्य की दृष्टि से ललित, प्रवाहमयी एवं सारगर्भित है। आपकी वाणी का सम्पूर्ण संग्रह वृन्दावन में बाबा तुलसीदास के पास सुरक्षित है। इनकी कविता में 'कल्याण और कली' दो छाप हैं। कवित्त, सवैया, छप्पय छन्दों एवं शृंगार और शान्त रस में पद रचना की। रूपक शैली में

श्याम की वंशी का वर्णन करते हुए उसे काले सर्प का विष कहा है, जिसको उतारने के लिये घनश्याम का दर्शन ही एकमात्र उपाय है।

भाव व्यंजना के लिये अप्रस्तुत योजना का आधार शुद्ध काव्यमय रखा है। भक्ति का उत्कर्ष और रस मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादन अनेक पदों में सरस काव्य शैली से उपमानों और प्रतीकों के माध्यम से किया है। [उ०भा०]

कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूर का जन्म संवत 1581 में बंगाल के नदिया जिला के कांचरामाडा नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री शिवानन्द सेन चैतन्य महाप्रभु के भक्त थे। इनके बचपन का नाम 'पुरीदास' था परन्तु चैतन्य महाप्रभु ने इनकी काव्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर बाल्यावस्था में ही इन्हें कर्णपूर नाम से सम्बोधित किया था। कर्णपूर जी ने श्रीनाथ जी से दीक्षा ग्रहण की। ये वृन्दावन यात्रा करते रहते थे। श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत, कृष्णाह्निक कौमुदी, आनन्द-वृन्दावन चम्पू, चैतन्य चन्द्रोदय नाटक, अलंकार कौस्तुभ तथा गौरगणोद्देशदीपिका इनकी प्रमुख रचनायें हैं। [जि०कु०]

कादाचित्की लीला

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के व्रज में वापस लौट आने का स्पष्ट उल्लेख न रहने से व्रजोपासक अतिशय कष्ट भोग करते रहते हैं। व्रज-परिकरों के साथ श्रीकृष्ण के नित्य अप्रकट-लीला में प्रवेश के रहस्य को भी न जानकर, द्वारका में उनकी अवस्थिति तथा लीला-परिसमाप्ति का उल्लेख देख-सुनकर व्रजोपासकों की इस वेदना का अनुभव कर व्रजोपासना निष्ठ स्वयं श्री रूप गोस्वामी को श्रीमहाप्रभु-कृपा से एक दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। उस दिव्यदृष्टि में श्री रूप गोस्वामी ने भगवान व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की 'कादाचित्की-लीला' का साक्षात्कार किया। कादाचित्की अर्थात् जो लीला कभी-कभी कदाचित् होती है। गत द्वापर में यह लीला नहीं हुई, किसी दूसरे कल्प में हुई होगी। कादाचित्की लीला में व्रज परिकर तथा द्वारका परिकर भिन्न विग्रह होते हुए भी योगमाया द्वारा एक तत्त्वात्मक एवं समान रूप में प्रतिभात होते हैं। इस लीला में श्रीकृष्ण के व्रज से द्वारका आने पर व्रजवासी गण भी द्वारका में आकर श्रीकृष्ण से मिलते हैं—उनका विरह सन्ताप सब दूर हो जाता है और सब व्रज में लौट आते हैं। इस प्रकार रस का अद्भुत रूप में यथेष्ट पोषण होता है।

श्री रूपगोस्वामिपाद ने द्वारका लीला को व्रजलीला के क्रोड़ में स्थापन कर इस कादाचित्की लीला का सन्निवेश किया है। अपनी इस अद्वितीय रचना 'श्रीललितमाधव नाटक' में श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी ने जब इस कादाचित्की लीला को सुना तो विरहोन्मत्त होकर कई दिन तक मूर्छित पड़े रहे। और तो और स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने जब नीलांचल में श्रीसार्वभौम, श्रीरामानन्दराय तथा श्री स्वरूप दामोदर के साथ श्रीरूप से 'श्रीललितमाधव नाटक' के कुछ अंशों को सुना तो वे प्रेमाविष्ट हो उठे थे। वास्तव में कवित्व में वृहस्पति, तत्त्व विचार में श्रीव्यास और प्रेम शृंगार की व्यंजना में श्रीशुकदेव के समान श्रीमद्रूपगोस्वामी की इस अद्भुति कृति में तीनों बातें—कवित्व, तत्त्व एवं प्रेम की एक साथ चमत्कारी झांकियाँ मिलती हैं। [क०उ०]

कादिरी संप्रदाय

इस संप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक सैयद अब्दुल कादिर अल जीलानी हैं। इनका जन्म सन् 1078 ई. में हुआ। यह जीलान (फारस) के रहने वाले थे। इनकी मृत्यु सन् 1166 ई. में हुई। इनकी मृत्यु के तीन सौ वर्ष के बाद इस संप्रदाय का प्रवेश भारत में हुआ। भारत में इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक मुहम्मद गौस थे। ये आदि प्रवर्त्तक के वंशज थे, शेख अब्दुल

कादिर जीलानी के प्रति मुस्लिम समाज में बड़ा ही आदर-सम्मान पाया जाता है। मुस्लिम समाज में वह 'गौस उल आजम', 'पीर दस्तगीर' और 'पीराने पीर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस संप्रदाय में गुलाब के फूल का बड़ा महत्त्व है। इस संप्रदाय के लोग अपनी टोपी में गुलाब का फूल लगाये रहते हैं। संगीत को इस संप्रदाय में कोई स्थान न मिल सका, ये लोग हरे रंग की पगड़ी बाँधते हैं, गेरुआ रंग भी चलता है।

इस संप्रदाय में अल्लाह के स्मरण के चार उपाय बताए गए हैं—यक जरबी, दो जरबी, सह जरबी और चहार जरबी। साधक का स्वर ऐसा होना चाहिए जो सोने वालों की नींद में बाधा उत्पन्न न करे। डॉ. रामचंद्र वर्मा के अनुसार "इस संप्रदाय की गद्दी तो उच्च शरीफ में है परंतु इसका प्रचार केन्द्र कश्मीर रहा है।" यक जरबी में साधक अपने गले और मन से अल्लाह शब्द का उच्चारण करता है। ऐसा करने में आवाज और उच्चारण करने के समय की एक विशेष परिस्थिति है। वह एक बार 'अल्लाह' कहता है और तब तक फिर नहीं कहता, जब तक उसकी साँस स्वाभाविक रूप से न आने-जाने लगे। इसके बाद वह फिर अल्लाह कहता है और उसी प्रकार उसकी क्रिया चलती रहती है। दो जरबी में वह नमाज पढ़ते समय जैसे बैठता है, वैसे ही बैठ जाता है और अल्लाह का नाम लेता है। इसमें एक बार सिर को वह दाहिनी तरफ घुमाकर 'अल्लाह' कहता है और फिर हृदय की ओर घुमाकर कहता है। सह जरबी में वह पालथी मारकर बैठ जाता है और एक बार फिर दायीं तरफ, फिर बायीं ओर और फिर हृदय की तरफ सिर करके जोर से 'अल्लाह' कहता है। चहार जरबी में भी वह सह जरबी की ही भाँति कहता है, परंतु हृदय की ओर सिर करके 'अल्लाह' कहता है। सैयद अब्दुल कादिर जीलानी ने सूफी-साधना की तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं—

पहली अवस्था में साधक प्रभु नाम का जिक्र (जाप) करे। दूसरी में वह प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की विद्यमानता का अनुभव करे। किसी भी वस्तु का उनके लिए कोई महत्त्व न रहे, हर जगह उसे ईश्वर का ही जलवा दिखाई दे। तीसरी में साधक विचारशून्य हो जाए। उसके लिए हर ओर दिखाई दे रहा ईश्वर का जलवा ईशरूप हो जाए। वह प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का जलवा देखने के स्थान पर प्रत्येक वस्तु में स्वयं ईश को देखे।

इस संप्रदाय में जिक्रे सूफी और जिक्रे जली, दोनों का प्रचलन है। अब्दुल कादिर अल-जीलानी ने सात तौर (अवतारे सबा) बतलाये हैं। जिक्र के समय साधक अल्लाह के सात नामों का उच्चारण करता है। इसमें बतलाया गया है कि कितनी बार नाम का उच्चारण होगा और कौन-सी प्रार्थना करनी होगी तथा उसका रंग कैसा है। इस संप्रदाय के अन्य प्रमुख सूफी इस प्रकार हैं-शेख इस्हाक कादिरी, सैयद ईस्माईल जीलानी, शेख बहलोत दरिया, शेख हुसैन लाहौरी, शेख माधो, शेख तकी कादिरी, शाह कमाल केथली, शेख अब्दुल फतह आदि। [आ०स०]

कामवन के हिन्दू धार्मिक स्थल

कामेश्वर महादेव मंदिर—यह मंदिर कामवन में मथुरा दरवाजे के पास स्थित है। श्रीकृष्ण के गोलोकवास के पश्चात् वज्रनाभ मथुरा के राजा हुए। उस काल में वज्रनाभ ने परीक्षित और शांडिल्य ऋषि की सहायता से श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों की पुनर्स्थापना की और कामवन में उनके द्वारा तीन विग्रह पधराये। जिनमें से कामेश्वर महादेव जी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। गर्भगृह में कामेश्वर महादेव का आदि विग्रह विराजमान है। मंदिर के सेवायत का कहना है कि यह शिवालय पाँच हजार वर्ष प्राचीन है। वज्रनाभ ने इन्हें यहाँ स्थापित किया था। श्रीमद् भागवत में इसका वर्णन है। इसी स्थान पर भगवान शिव ने कामदेव को भस्म किया था।

गोकुल चंद्रमा मंदिर—यह मंदिर कामवन में देवकीनन्दन मार्ग पर स्थित है। गर्भगृह में गोकुल चंद्रमा जी के विग्रह विराजमान हैं, साथ ही ललित त्रिभंगी मुद्रा में वेणुनाद करते रासेश्वर की मनोहारी झाँकी है। कामवन में गोकुल चंद्रमा जी को पुष्टिमार्ग की पंचम पीठ माना जाता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोकुल चंद्रमा जी के स्वरूप को नारायण दास ब्रह्मचारी को सौंप दिया था। वृद्धावस्था के कारण ब्रह्मचारी जी ने इस स्वरूप को गुसाईं विट्ठल नाथ जी को सौंप दिया

और गुसाईं जी ने अपने पंचम पुत्र रघुनाथ जी को गोकुल चंद्रमा जी की सेवा सौंप दी। रघुनाथ जी द्वारा सन् 1575 में 'गोकुलेन्द्र' जी को कामवन में पधराया। देवकीनन्दन महाराज द्वारा गोकुलेन्द्र जी के श्रीविग्रह को सन् 1765 में जयपुर में पधराया। कुछ समय बाद इन्हें बीकानेर में पधराया और उसके पश्चात् गोकुल चंद्रमा जी के विग्रह को सन् 1811 में पुनः कामवन में पधराया तब से यहीं विराजित हैं। गोकुलेन्द्र जी वर्ष में चार दिन कुंज एकादशी, दान एकादशी, शरद पूर्णिमा और गोपाष्टमी को वेणु धारण करते हैं।

चौरासी खंभा मंदिर—चौरासी खंभा ऐतिहासिक स्थल कामां चौराहे से लगभग 2 कि.मी. दूर स्थित है। यह स्थल चौरासी खम्भों द्वारा बना हुआ है। इन खंभों के पत्थरों की बेजोड़ कारीगरी की गयी है तथा खंभों पर नक्कासी के साथ मूर्तियां भी बनी हुई हैं। इन खंभों में कला, धर्म, इतिहास सब छुपा हुआ है। परिसर के एक हिस्से में झाड़ियाँ हैं। जनश्रुति के अनुसार चौरासी खंभा को राजा कामसेन की कचहरी माना जाता है। जिसने कामवन को पुनः बसाया था।

चौरासी कोस की यात्रा की शुरुआत चौरासी खंभा से ही की जाती है। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि देवता और असुरों ने मिलकर यहाँ 168 खंभों का निर्माण करवाया था। इस देव स्थल को चौरासी खंभा मंदिर कहा जाता है। वर्तमान समय में यह मंदिर पुरातत्व विभाग द्वारा संरक्षित है।

बूढ़ाबद्री मंदिर—बूढ़ाबद्री का मंदिर कामवन में डीग जाने वाले मार्ग पर स्थित है। गर्भगृह में श्रीबद्रीनारायण भगवान का विग्रह विराजमान है। इस मंदिर का निर्माण वज्रनाभ द्वारा करवाया गया था। इस मंदिर के पास ही अलकनन्दा कुण्ड स्थित है। ऐसा कहा जाता है कि उत्तराखण्ड में स्थित बद्रीनाथ जी यहीं आकर रहे। नागा बाबा ने अपनी सेवा से बद्रीनाथ जी को यहाँ प्रसन्न रखा।

मदनमोहन मंदिर—वल्लभ कुल की सप्तम निधि श्री मदनमोहन जी हैं। यह मंदिर कामवन में देवकीनन्दन मार्ग पर स्थित है। मंदिर लगभग 700 वर्ष प्राचीन माना जाता है। गर्भगृह में श्रीमदनमोहन जी का श्रीविग्रह विराजमान है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पूर्वजों द्वारा किए गये सोमयज्ञ की पूर्णाहुति करते समय पुरुषोत्तम जी ने दर्शन देते हुए कहा—'मैं सोमयज्ञ पूर्ण होने पर स्वयं आपके कुल में वैश्वानर स्वरूप में प्रकट होऊँगा।' इतना कहकर वह स्वरूप लुप्त हो गया और उस स्थान से जो स्वरूप प्रकट हुआ वह श्रीमदनमोहन प्रभु का था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने सप्तम पुत्र घनश्याम जी को मदनमोहन जी का स्वरूप पधराया। जब घनश्याम जी के पुत्र चाचा गोपेश्वर ने गोकुल से कामवन रहने का निश्चय किया तब वह सन् 1635 में मंदिर सिद्ध कराके सन् 1636 में कामवन में विराजे। सन् 1765 में गोस्वामी ब्रजरमण ने मदनमोहन जी को जयपुर स्थापित किया। कुछ समय बाद सन् 1865 में इन्हें बीकानेर पधराया। उसके बाद सन् 1871 में गोस्वामी ब्रजपाल द्वारा श्रीमदनमोहन जी के श्रीविग्रह को पुनः कामवन में स्थापित किया, तब से यहीं पर हैं। मदनमोहन जी का मुख्य शृंगार मुकुट का है।

वृन्दा देवी—यह मंदिर कामवन के गोविन्द मुहल्ले में स्थित है। वृन्दा देवी के वर्तमान मंदिर के गर्भगृह में श्री वृन्दा देवी का विग्रह विराजमान है। जनश्रुति के अनुसार लगभग 500 वर्ष पूर्व श्री रूप गोस्वामी की कृपा से वृन्दावन के गोमा टीला से सन् 1535 में गोविन्द देव के विग्रह का प्राकट्य हुआ। उसी टीले पर गोविन्द देव की पूजा-अर्चना प्रारम्भ की, बाद में जयपुर के राजा मानसिंह द्वारा वृन्दावन में गोविन्द देव के भव्य मंदिर का निर्माण कराकर श्रीविग्रह को पधरा दिया। श्री रूप गोस्वामी ने ही वृन्दा देवी का प्राकट्य किया। औरंगजेब के अत्याचार के कारण जयसिंह के पुत्र कीरतसिंह द्वारा गोविन्द देव तथा वृन्दा देवी विग्रहों को कामवन में विराजित कराया गया।

सन् 1675 में जब जयसिंह ने इन विग्रहों को आमेर ले जाने का प्रयास किया तो वृन्दा देवी ने ब्रज छोड़कर जाने से मना कर दिया। राजा के काफी प्रयासों के बाद भी वृन्दा देवी का रथ हिला तक नहीं। जब से वृन्दा देवी कामवन में ही हैं तथा राधागोविन्द देव जी को आमेर में पधरा दिया गया। [जि०कु०]

कार्तिक नियम सेवा

कार्तिक नियम सेवा ब्रज का अपना पारम्परिक मनोरथ है। गौड़ीय सम्प्रदाय के अंतर्गत ब्रज के वृन्दावन, राधाकुंड एवं गोवर्धन में इस परंपरा का विशेष महत्व है। न केवल भारत के विभिन्न क्षेत्रों बल्कि यूरोपियन वैष्णव भी इस नियम का पालन करते हुए माहपर्यन्त ब्रजवास कर नियम, साधना करते हैं। जिसमें प्रतिदिन निश्चित क्रम में परिक्रमा, यमुना स्नान, देव दर्शन एवं भजन तथा कीर्तन का विधान है। कुछ वैष्णव जन यमुना किनारे अस्थाई कुटिया बनाकर, वहीं नियम सेवा का अनुष्ठान पूर्ण करते हैं। न केवल गौड़ीय वैष्णव बल्कि वर्तमान में आम श्रद्धालु भी इस पुण्यदायक मनोरथ को उत्साह से करते देखे जा सकते हैं। नियम सेवा के अंतर्गत वैष्णव देवालयों में लीलापरक झाँकियों का विशेष माहात्म्य है। जिनके दर्शन कर सैकड़ों की तादाद में जनसमुदाय पुण्य लाभ अर्जित करता है। इस दौरान मंदिरों में राधाकृष्ण की लीलाओं से संबंधित अनेक झाँकियाँ होती हैं। जिनमें होली, बाजीगर वेश, शिव का गोपी वेश, शृंगार लीला एवं महारास सहित झाँकियों की एक लंबी शृंखला है। ब्रज में कार्तिक नियम सेवा की प्राचीन परम्परा है। [प्र०श०]

कार्तिक पूर्णिमा

पूरे भारत में कार्तिक पूर्णिमा का आयोजन अपनी-अपनी तरह से होता है। ब्रजभूमि में कार्तिक पूर्णिमा का महत्व इस संदर्भ से और अधिक बढ़ जाता है कि इसी दिन आज से 500 वर्ष पूर्व प्रेमावतार चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन पधारे थे। मान्यता के अनुसार उन्होंने इसी दिन वृन्दावन का प्रकाश किया था। ब्रज में इस दिन यमुना में दीपदान का विशेष माहात्म्य है। पौराणिक मान्यता के अनुसार इसी दिन भगवान ने गज की रक्षा करते हुए ग्राह का मोक्ष किया था। इसे देव दीपावली भी कहते हैं। कार्तिक मास में प्रात:काल जल में डुबकी लगाने और सायंकाल दीप जलाने का बड़ा महत्व है। कहा जाता है कि इसी तिथि को पुराण-प्रसिद्ध गज-ग्राह का जीवन-मरण युद्ध गंगा-गंडकी के संगम पर हुआ था। इसी दिन भगवान विष्णु ने धरती पर उतरकर गज का उद्धार किया था। भगवान के द्वारा गज का उद्धार इस बात की ओर संकेत करता है कि ईश्वर धर्म का साथ देते हैं और भक्तों पर कृपा करते हैं। [प्र०श०]

काव्यकौस्तुभ

यह विशुद्ध अलंकार शास्त्रीय ग्रंथ है। इसमें सब 9 प्रमा हैं। इनमें शब्द और अर्थ के अलंकारों की सोदाहरण व्याख्या है। कई नये अप्रचलित अलंकारों को भी प्रविष्टि मिली है। बहुत से उदाहरणों का ग्रहण चैतन्यमतीय षट्-गोस्वामियों की कृतियों से हुआ है। भाषा सरल होते हुए भी शास्त्रोचित प्राञ्जलता से मण्डित है। भारतीय अलंकार परम्परा के प्रेमियों हेतु भी यह उपादेय ग्रंथ है।

स्वर्गीय बाबा कृष्णदास (कुसुमसरोवर वाले) के कथनानुसार इस ग्रंथ की हस्तलिपि उन्हें जयपुर के गलता मठ से हस्तगत हुई थी। श्री हरिदास के प्रयत्न स्वरूप वृत्ति के साथ देवनागरी में इसका प्रकाशन सम्भव हो पाया था। [क०उ०]

कासगंज के ईसाई धार्मिक स्थल

सी.एन.आई. चर्च—सी.एन.आई. सदर चर्च कासगंज क्रिश्चियन समुदाय की प्रार्थना का मुख्य स्थल है। चर्च की स्थापना सौ वर्ष पूर्व की गई थी। सन् 1954 में नॉर्थ इंडिया चर्च आगरा के पादरी आर.टी. रेव. एस.आर. कटिंग ने चर्च कैम्पस की स्थापना की। इस चर्च का नवीनीकरण 1986 में हुआ। कासगंज चर्च के अधीन मिशन

अस्पताल आगरा के डिसूजा की पुरानी सम्पत्ति है, मिशन समुदाय के सभी जाति-धर्म के लोगों की सेवा में कार्य कर रहा है।

यह चर्च लगभग सात बीघा जमीन पर विस्तृत है। एक तरफ हॉल ही में चर्च के कार्यालय का निर्माण हो रहा है। चर्च में कार्यक्रम होते रहते हैं। 25 दिसम्बर (यीशु के जन्मदिन से जनवरी तक) क्रिश्चियन लोग ईसा मसीह अर्थात यीशु का जन्मोत्सव मनाते हैं। [कु०रं०]

कासगंज के जैन धार्मिक स्थल

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर -कासगंज जिले के नदरई गेट स्थित मुख्य बाजार में पार्श्वनाथ जी दिगम्बर जैन मंदिर स्थित है। लगभग 80 साल पहले इस मंदिर का निर्माण हुआ था। इस जैन मंदिर की स्थापना स्व. नारायन लाल जी द्वारा की गई। यह जैन मंदिर द्वितीय तल पर स्थित है तथा इसके नीचे धर्मशाला बनी है। इस मंदिर का क्षेत्रफल 1200 वर्ग फुट है। मंदिर में 6 जैन देव प्रतिमाएँ हैं जो अष्ट धातु से निर्मित हैं। मूल प्रतिमा पाषाणकालीन धातु से निर्मित है।

मंदिर के मुख्य प्रवेश द्वार पर दो द्वारपाल जय और विजय जिन्हें भगवान के रक्षक कहा जाता है उनके चित्र भी मौजूद हैं। मंदिर में एक तरफ अखण्ड ज्योति जलती रहती है जो ज्ञान के प्रकाश का आधार मानी जाती है। मंदिर में प्रवेश करते ही बायीं तरफ माता के सोलह स्वप्न का चित्र है जिसके ऊपर स्वामी जी का प्रहार दान का चित्र अंकित है। मंदिर के नीचे बनी धर्मशाला में जैन उत्सव आदि कार्यक्रम होते रहते हैं।

श्री 1008 चंद्र प्रभु दिगम्बर जैन मंदिर—कासगंज जिले में बिलराम गेट पर स्थित यह मंदिर श्री परशादी लाल जायसवाल ने सन् 1901 में बनवाया था। कुँवर प्रताप सिंह जैन की स्मृति में, धर्म-पत्नी रामप्यारी कुँवर व पुत्री किरन कुँवर ने चौक व बरामदे का फर्श निर्माण सन् 1966 में कराया। मंदिर में तीन मूल प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। दीवारों पर जिन वाली माता की तथा श्री 1008 बाहुबली स्वामी जी की आरती लिखी है। भाद्रपद शुक्ल पंचमी जैन संवत्सरी को क्षमावाणी पर्व का प्रारम्भ होता है इसके पश्चात रथ यात्रा का नगर भ्रमण कराया जाता है। [कु०रं०]

कासगंज के मुस्लिम धार्मिक स्थल

चिश्ती पीर बाबा की मजार—कासगंज जिले के भारगैन, नगर पंचायत भारगैन से 15 किमी. पश्चिम दिशा में चिश्ती पीर बाबा की मजार बनी हुई है जो बहुत ही प्रसिद्ध है। इनका मूल नाम हजरत चिश्ती रहमतुल्ला अलैह है, जो बगदाद शरीफ (ईरान) से लगभग 800 वर्ष पहले आए थे, जो चिश्ती खानदान से थे। यहाँ हर साल इस्लामी महीने के हिसाब से रज्जब की 7 तारीख को वार्षिक उर्स का आयोजन होता है। उर्स के समय भारत के कोने-कोने से श्रद्धालु मजार के दर्शन करने आते हैं।

जामा मस्जिद—कासगंज के मौहल्ला नबाब में ऐतिहासिक जामा मस्जिद स्थित है। ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा (अरबी, फारसी, उर्दू) के दृष्टिकोण से इसका विशेष महत्व है। नबाब याकूतखान फर्रुखाबाद जनपद के कस्बा याकूतगंज के थे। यह स्थान नबाब के द्वारा बसाया गया तथा इस आलीशान मस्जिद का निर्माण कराया। जिसमें दीन इस्लाम धर्म के मानने वाले सज्दा (नमाज पढ़ना) करते थे जो कि याकूतगंज की शान और रहमत थी। मस्जिद की तामीर 1151 हिजरी आती है अर्थात् मस्जिद को बने हुए 281 वर्ष हो चुके हैं। जामा मस्जिद उड़पठ सन्नी वक्फ बोर्ड लखनऊ से जुड़ी है। जिसकी देखरेख मस्जिद की कमेटी करती है। इसके परिसर में इतना स्थान है कि लगभग 5000 लोग एक साथ बैठकर नमाज अदा कर सकते हैं। [कु०रं०]

कासगंज के सिक्ख धार्मिक स्थल

गुरुद्वारा गुरुनानक सत्संग सभा—यह गुरुद्वारा कासगंज का सबसे बड़ा गुरुद्वारा है। यह गुरुद्वारा नदरई गेट अग्रसेन चौराहा से लगभग 100 मीटर दूरी पर स्थित है। इस गुरुद्वारे की स्थापना सन् 1939 को श्री दीवान सिंह एवं उनके सहयोगी केशव आदि द्वारा की गई थी। यह गुरुद्वारा मात्र दो बीघा जमीन पर स्थित है। इस गुरुद्वारे में दो बड़े हाल व सात कमरे व एक कमरा ग्रंथी हेतु निर्मित है।

गुरु सिंह सभा गुरुद्वारा—यह गुरुद्वारा कासगंज की ठण्डी सड़क बस स्टैण्ड के दक्षिण की ओर स्थित है। इसकी स्थापना चौदह अप्रैल सन् 1998 में सरदार ज्ञानी लाखन सिंह द्वारा कराई गई। इस गुरुद्वारे में चार कमरे तथा एक बड़ा कमरा ग्रंथी हेतु निर्मित है। कमरों के सामने बरामदा और बरामदे के सामने आंगन में बीचोंबीच सिख स्तम्भ सहित ध्वज (निशान साहब) स्थापित है। [कु०रं०]

कासगंज के हिन्दू धार्मिक स्थल

काली माता का मन्दिर—यह काली माता मन्दिर, कासगंज रेलवे जंक्शन के लाइन पार, शान्तापुरी कालोनी में स्थित है। यहाँ हर पूर्णिमा, अमावस्या को एवं प्रत्येक सोमवार को हवन एवं प्रसाद वितरण किया जाता है।

चामुण्डा देवी मन्दिर-माँ चामुण्डा देवी के मन्दिर की स्थापना स्वर्गीय ठाकुर वीरी सिंह के द्वारा 19वीं शताब्दी में की गई थी। यह कासगंज नगर के उत्तर क्षेत्र में स्थित है। यह जिले का सबसे बड़ा मन्दिर है। मन्दिर से पूर्व यह स्थान एक बाग था। यह स्थान तरौरा ग्राम के अन्तर्गत आने के कारण यह मन्दिर माँ चामुण्डा देवी, तरौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अब यह मन्दिर जिला कासगंज के अन्तर्गत है। जिले के लोगों में देवी के प्रति अगाध आस्था है और विशेषत: चैत्रमास के नवदुर्गा पर्व पर यहाँ प्रतिवर्ष मेले का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर दूर-दराज क्षेत्र से लोग माता का आशीर्वाद प्राप्त करने आते हैं।

सीताराम मन्दिर (सोरों)—श्रीसीताराम मन्दिर, सोरों दक्षिण पंचाल के गौरवपूर्ण काल की स्मृति का अवशेष है। जिस दुर्ग के ध्वंसावशेष पर इसका निर्माण हुआ है वह सोलंकी वंश की कीर्ति का स्मारक है। भीमदेव बाघेला ने चालुक्य वंश प्रदीप में ''सोलंकी वंश के मूल पुरुष माण्डव्य हरिति का अर्बुद गिरि के यज्ञ से उत्पन्न होना लिखा है।'' मंदिर को देखने से यह अनुमान होता है कि इसका निर्माण दुर्ग के ध्वस्त होने के उपरांत हुआ होगा क्योंकि मंदिर के निर्माण में दुर्ग के अवशिष्ट पत्थर-कंकड़ आदि का उपयोग किया गया है। जब हम भुवनादित्य का समय सन् 913-943 के लगभग मानते हैं तो सीताराम मंदिर के निर्माण का समय भुवनादित्य के पश्चात ही मानना पड़ेगा। उस समय तक दुर्ग का ध्वंस हो चुका होगा। एटा गेजेटियर में लिखा है कि मंदिर का निर्माण सन् 1000 ईसवी के बाद ही माना जा सकता है।

हुलका देवी मन्दिर—कासगंज नगर के उत्तर क्षेत्र में बिलराम गेट चौराहे के निकट लगभग 350 वर्ष पुराना माता हुलका देवी का मन्दिर अगाध श्रद्धा एवं भक्ति का प्रतीक है। इस मन्दिर के बारे में मान्यता है कि अच्छी फसल के लिए ताँबे के पात्र में जल के साथ मन्दिर की पाँच बार परिक्रमा लगाने पर फसल अच्छी होती है। यह भी मान्यता है कि माता रानी के हवन कुण्ड की भभूति यदि शरीर पर लगाई जाए तो चर्मरोगों से मुक्ति मिल जाती है। हिन्दू धर्म की मान्यताओं के अनुसार बासौड़ा पूजा के अवसर पर माता हुलका की पूजा- अर्चना का विशेष महत्व है। इस मन्दिर में प्रतिवर्ष आषाढ़ मास शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर मुढ़िया पूर्णिमा तक विशेष मेले का आयोजन किया जाता है। [कु०रं०]

किशोरदास

किशोरदास जी श्री पीतांबरदास जी के शिष्य थे। उनका जन्म जयपुर राज्य के आमेर नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम घासीराम और माता का नाम खेमादेवी था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके जन्म और देहावसान के यथार्थ तिथि-संवत् उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'निजमत सिद्धांत' में अपना दीक्षा-प्राप्ति का सं० 1791 लिखा है। उनके कथन से ज्ञात होता है कि वे किशोरावस्था में ही दीक्षित हो गये थे। इससे उनका जन्मकाल सं०1770 के लगभग अनुमानित किया जा सकता है। उन्होंने देश के अनेक स्थानों में भ्रमण किया था। इससे उनका ज्ञान बहुत विस्तृत था। यद्यपि उन्होंने श्री पीतांबरदास जी से हरिदासी मत की दीक्षा ली थी; तथापि वे निम्बार्क संप्रदाय के प्रचार के प्रबल आग्रही थे। उन्होंने 'निजमत सिद्धांत' में स्वामी हरिदास जी और उनकी परंपरा के आचार्यों को निम्बार्क संप्रदाय के अंतर्गत सिद्ध किया है।

उनका रचा हुआ 'निजमत सिद्धांत' हरिदासी परंपरा का विशाल संदर्भ ग्रंथ है। इसमें श्री निम्बार्काचार्य और उनकी शिष्य-परंपरा से लेकर स्वामी हरिदासी जी और उनकी परंपरा के अष्टाचार्यों का विस्तृत वर्णन तिथि-संवत् सहित किया गया है। इसमें लिखे हुए तिथि-संवत् प्राय: आनुमानिक जान पड़ते हैं। निम्बार्क संप्रदाय के उत्कट आग्रह और तिथि-संवत् की कहीं-कहीं गड़बड़ी होने के कारण उनके ग्रंथ की कटु आलोचना भी हुई है; किंतु हरिदासी मत से संबंधित बहुमूल्य सामग्री के कारण इसका महत्व निर्विवाद है। इसके रचनाकाल का उल्लेख नहीं मिलता है; किन्तु इसे सं० 1820 के लगभग रचा हुआ माना जा सकता है।

किशोरदास जी के महत्व को चिरस्थायी करने के लिए 'निजमत सिद्धांत' ही पर्याप्त है; किंतु उनका रचा हुआ वाणी साहित्य भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। 'सिद्धांत-रत्नाकर' ग्रंथ में प्रकाशित सिद्धांत सरोवर, सिद्धांत सार संग्रह, उपदेश आनंद सत, सवैया पच्चीसी, सिद्धांत के कवित्त आदि रचनाओं से उनकी विद्वता, भक्ति-भावना और काव्य-प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। श्री किशोरदास हरिदासी मत की विरक्त परंपरा में निश्चय ही एक महत्वपूर्ण भक्त-कवि हुए हैं।

श्री किशोरदास जी की रचना का एक उदाहरण—

धर्म सहित धन धारियै, ज्यौं अम्रत जल कूप।
किसोरदास निकसत रहत, त्यौं त्यौं धर्म अनूप॥
किसोर दास धन विन, उपजावत मन त्रास।
मरे होत ता परि अचल, सर्प सु प्रेत पिसाच॥
अर्थ होत धन तैं प्रबल, जो सेवत सुख संत।
किसोरदास पल संग तैं, वनत अनर्थ अनंत॥
धन तैं बनत अनर्थ अति, धन ही अर्थ निवास।
किसोरदास ता संग तैं, तैसौं करत प्रकास॥ [वि०कृ०भ०]

किशोरीदास गोस्वामी

ब्रज के भक्त गोस्वामी किशोरीदास जी का जन्म वि.सं. 1680 में हुआ। ये गोस्वामी वंशीदास जी के परम शिष्य थे। वि.सं. 1720 में ये श्री मदनमोहन जी के चतुर्थ सेवायत के रूप में गद्दी पर विराजमान हुए। सब लोग इन्हें 'दास गुसाईं' के नाम से सम्बोधित करते थे। इन्होंने श्री मदनमोहन जी के लिए बहुत-सी सम्पत्ति उपार्जित की। बादशाही शासनकाल में इन्हें अनेकों प्रमाणपत्र भी मिले। यह संगीत और कविता के बड़े प्रेमी थे। वि.सं. 1750 के लगभग इनका गोलोकवास हो गया। [जि०कु०]

कीलदास

स्वामी कीलदास जी (संवत् 1581-1691 वि.) स्वामी रामानंद जी की परंपरा में स्वामी कृष्णदास पैहारी (पयहारी) के शिष्य तथा स्वामी अनंतानंद के प्रशिष्य थे। स्वामी अनंतानंद जी एवं कीलदास का मथुरा से घना संबंध था। दोनों रामोपासक होते हुए गोस्वामी तुलसीदास की भाँति 'तुलसी माथा तब नवै धनुष बान लेहु हाथ' कट्टरता के दास नहीं थे। वे रामानंद जी की भाँति ही कृष्ण के प्रति भी समादरभावी थे।

मथुरा निवासी गलता कुंज के अध्यक्ष परांकुशाचार्य ने एक लघु कलेवरी पुस्तक लिखी थी, जिसमें स्वामी कीलदास का विवरण दिया था। स्वामी कीलदास का जन्म संवत् 1581 की आषाढ़ सुदी 15 को राजस्थान में बांदीकुई के बड़ियाल नामक ग्राम में पारीख ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके जन्म का नाम सुखराम तथा पिता का नाम सुमेरूदेव और माता का नाम गंगाबाई था।

स्वामी कीलदास जब 8 वर्ष के थे तब ही इनके पिता ने इनका उपनयन संस्कार कराकर मथुरास्थ स्वामी अनंतानंद की संस्कृत पाठशाला में विद्याध्ययनार्थ भेज दिया था। मथुरा में इन्होंने पयहारी जी से दीक्षा ली थी। आरंभ में आपकी बुद्धि मंद थी जिसे तीव्र करने हेतु इनके गुरु जी ने मंत्रमयी खदिर कील से इनकी जीभ पर सरस्वती का बीज मंत्र लिखा था। उस दिन से इनका नाम सुखराम की अपेक्षा 'कीलदास' प्रसिद्ध हो गया था।

स्वामी कीलदास जब कृष्णदास पैहारी (पयहारी) के शिष्य थे, दुग्धपान व्रती होने के कारण कृष्णदास पयहारी (पैहारी) नाम से चर्चित थे। स्वामी कीलदास के गुरुजी के निधन के अनंतर वे 'गलताकुंज आश्रम' जयपुर के आचार्य बनाये गये। परंतु अतिशय त्यागवृत्ति और एकांतप्रियता के कारण वे वहाँ बहुत कम टिकते थे। उन्होंने आश्रम का प्रबंध छोटे कृष्णदास को सौंप दिया था। वे प्राय: मथुरा में रहते थे। यमुना के निकट एक गुफा में साधना किया करते थे। नाभाजी ने उनके संबंध में कहा है—''वे दिन-रात भगवान श्रीरामचंद्र के भजन-ध्यान में मग्न रहते थे। सांसारिक विषय वासना और अहं-मोह को जीतकर उन्होंने भजनानंद प्राप्त किया था। सांख्य योग और भक्ति का प्रौढ़ ज्ञान उन्हें हस्तामलकवत प्राप्त था। उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति मृत्यु को वशीभूत कर लिया था।''

वे परम तपस्वी और सिद्धयोगी थे। मथुरास्थ प्रयागघाट के निकट जिस गुफा में वे साधना किया करते थे मथुरा का वह स्थान 'कीलमठ' के नाम से अद्यावधि विख्यात है। मुगल सम्राट अकबर के प्रधान सेनापति आमेर नरेश मानसिंह कीलदास के परम भक्त थे। जब वे आगरा में रहते थे, तब वे आपके दर्शनार्थ मथुरा में प्राय: पधारते थे। कीलदास का देहावसान माघ शुक्ल 12 संवत् 1691 को मथुरा में ही हुआ था। गलताकुंज की गुरु परंपरा कीलदास से मानी जाती है। आप गलता गद्दी के 13वें आचार्य थे। [प्रे०द०मि०मै०]

कुंजलाल

कुंजलाल गोस्वामी का जन्म वि.सं. 1697 आषाढ़ कृष्ण दशमी को श्रीधाम वृन्दावन में हुआ था। इनके पिता का नाम रामदास गोस्वामी था। आप अपने पिता के तृतीय पुत्र माने जाते हैं। इनका परिवार भक्त था और अपनी कुल परम्परानुसार ये बाल्यकाल से ही भक्तिभाव में स्थित हो गये थे।

किशोरीशरण अलि ने इनका जन्म सम्वत् 1696 में आषाढ़ वदी दशमी को वृन्दावन में माना है। अत: इतना स्थिर होता है कि कुंजलाल गोस्वामी जी का जन्म 17वीं शती के अन्तिम दशक का निश्चित है। अलि जी का जन्म काल उचित प्रतीत होता है।

कुंजलाल जी का परिचय देते हुए 'रसिक अनन्य अलि परिचावली' में चाचा वृन्दावनदास ने लिखा है—

महाभजन तप तेज वदन पर दिपत सदाई।
हिये जुगल जगमगत नैन झलकत सो झांई।
जिन की रहन अपार कहन में आवत नाहीं।।
दरसत विपुल प्रताप यह सरनागत सब रस पगे।
उग्र तेज रस भजन हृद, श्री कुंजलाल जग जगमगे।।

चाचा हित वृन्दावनदास कुंजलाल के भक्तिभाव और उसके प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुंजलाल के श्रीमुख पर सदैव भजन का तेज चमकता रहता था। उनके हृदय में सदा विराजमान युगल श्यामा-श्याम उनके नेत्रों में जगमगाते रहते थे। उनकी रहनी अद्‌भुत और सर्वथा अकथनीय थी। उनके गुण चरित्र मंगलमय थे। उनके पुत्र तथा शिष्य सभी भजन मार्ग में पूर्ण समर्थ हुए।

कुंजलाल ने गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी पूर्ण वैराग्य का आचरण करके दिखाया था। उन्होंने देह के सुख व स्वाद (भोगों) का पूर्ण त्याग कर दिया था। वे हर समय अधिक जन-सम्पर्क से बचा करते थे। ऐसा करने के लिए उन्होंने वक्र वचनों की बाड़ अपने चारों ओर खड़ी कर ली थी। वे अधिकांश लोगों से टेढ़े बोलते थे। साथ ही श्रेष्ठ अधिकारीजनों के हृदय में उन्होंने प्रेमामृत प्रवाहित कर दिया था। उनके विपुल प्रताप का यह स्पष्ट प्रमाण है कि उनके शरणागत सब जीव श्री श्यामा-श्याम के प्रेम रस में पग गये।

इनके कतिपय पद वर्षोत्सवों के संग्रह में संकलित मिले हैं। इनकी कोई गद्य रचना भी है, ऐसा रसिक भक्तों से सुना जाता है, किन्तु अभी तक कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। [अ०सिं०सै०]

कुंजो देवी

कुंजोदेवी चरणदासी संप्रदाय के प्रवर्तक चरणदास जी की माता थीं। आपका जन्म संवत् 1743 में अलवर के निकट बहादुरपुर में हुआ था। आपके पिता का नाम भिखारीदास भार्गव तथा माता का नाम अम्बिका देवी था। आपके घर में पहले से ही धार्मिक माहौल था। वहाँ नित्य श्रीमद् भागवत का पाठ तथा सदाव्रत बँटा करता था। आपके ऊपर घर के इस माहौल का गहरा प्रभाव पड़ा।

आपके पिता ने मात्र सात वर्ष की आयु में डेहरा निवासी पं. मुरलीधर से आपका विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् इनके रणजीत नामक एक पुत्र रत्न हुआ जो कि आगे चलकर चरणदास जी के नाम से विख्यात हुआ। पुत्र के जन्म के कुछ समय बाद ही इनके पति परलोक सिधार गए। ये पुत्र को लेकर अपने मायके आकर रहने लगीं। आपके पुत्र रणजीत द्वारा वैराग्य मार्ग का अवलम्बन करने की आपसे अनुमति माँगी गई। आपने सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। चरणदास जी ने कई चमत्कार भी दिखलाये, उन्होंने घर बैठे गंगा स्नान करवाया तथा राधाकृष्ण की रासलीला के दर्शन कराये। चरणदास जी ने इनकी हमेशा सेवा की। संवत् 1819 को यह परमधाम को गमन कर गईं। [क०उ०]

कुम्भनदास

वल्लभ संप्रदाय के ग्रंथ चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार कुम्भनदास जी ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावता' ग्राम में रहा करते थे तथा गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता से यह पता चलता है कि कुम्भनदास जी का जन्म 'जमुनावता' ग्राम में ही हुआ था। ये 'गोरवा' क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। परसौली, चन्द्र सरोवर के पास इनके खेत थे तथा ये वहाँ से ही श्री नाथ जी के मंदिर में समय-समय पर कीर्तन सेवा हेतु जाते थे। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। इनकी धर्मपत्नी जैत गाँव के पास बहुलावन की रहने वाली थी। इनका पूरा

परिवार बहुत बड़ा था। इनके सात पुत्र तथा सात ही पुत्रवधू थीं। इनके यहाँ सदैव धन का अभाव ही रहता था, खेती से प्राप्त आय से ही ये अपना निर्वाह करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी के अष्टछापी चार शिष्यों में कुम्भनदास जी ही आचार्य जी के प्रथम शिष्य थे।

इनके एक चाचा धर्म दास नाम से थे जो बड़े भगवत् भक्त थे, इन्होंने ही कुम्भनदास जी को बाल्यकाल से भगवत् भक्ति की शिक्षा दी। धर्म दास जी कृष्ण भक्त नागा चतुरदास जी के शिष्य थे। नाभादास जी ने भी इनकी भक्ति का वर्णन किया है। वल्लभ संप्रदाय में आने के बाद कुम्भनदास जी ने वल्लभाचार्य जी के उपदेशों को बड़ी एकाग्रता के साथ ग्रहण किया। उन्होंने आचार्य जी के सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर अपना पाण्डित्य ही नहीं बढ़ाया वरन् उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में लाकर स्वयं को भगवान का उच्चकोटि का भक्त और सेवक भी बनाया था। कुम्भनदास जी को वल्लभाचार्य जी ने सुमधुर कंठ होने के कारण कीर्तन की सेवा प्रदान की (ये श्री नाथ जी का कीर्तन किया करते थे।) कुम्भन दास जी ने सम्पूर्ण कीर्तन युगल स्वरूप सम्बन्धी रस के ही किये थे। इनके जीवनकाल में ही उनके पद देश में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। कुम्भन दास जी ने अन्त समय में भी युगल स्वरूप का ही वर्णन किया है। एक पद गाते हुये उन्होंने देह का त्याग किया। [रा०श०]

कुरान-ए-शरीफ

कुरान इस्लाम की पवित्र पुस्तक है और यह एक प्रकार से इस्लाम की बुनियाद है। इसे अल्लाह ने जिबराइल नामक फरिश्ते के द्वारा पैगम्बर हजरत मुहम्मद को सुनवाया। इस्लाम धर्म के मानने वाले मानते हैं कि कुरान ही अल्लाह के द्वारा भेजी गई अन्तिम और सर्वोच्च पुस्तक है। इस्लाम की मान्यताओं के अनुसार कुरान का अल्लाह के फरिश्ते जिबराइल द्वारा हजरत मुहम्मद को सन् 610 से 632 ई. यानि उनकी मृत्यु तक उतारा गया अर्थात् सुनाया गया। भले ही शुरू में इस का प्रसार मौखिक रूप से हुआ परन्तु हजरत मुहम्मद के निधन के पश्चात् सन् 633 ई. में इसकी प्रतियाँ छपवाकर बाँटी गईं। इस धर्म के अनुयायियों का मानना है कि ईश्वर द्वारा भेजे गए पवित्र सन्देशों का अन्तिम रूप कुरान की शक्ल में आ चुका है। इन सन्देशों का आरम्भ प्रथम व्यक्ति हजरत आदम से माना जाता है। हजरत आदम इस धर्म के मानने वालों के अनुसार प्रथम नबी थे। हिन्दू धर्म के प्रथम व्यक्ति मनु के साथ इनकी तुलना एक सीमा तक की जा सकती है। जिस तरह मनु की सन्तानों को मानव कहा जाता है, उसी प्रकार आदम की सन्तानों को आदमी कहा जाता है। ईसाई धर्म के मानने वाले आदम को एडम के नाम से संबोधित करते हैं।

कुरान शब्द का प्रथम उल्लेख हमें इस ग्रन्थ के अन्दर ही देखने को मिल जाता है, जिसका अर्थ है उसने पढ़ा। यह शब्द इसके सीरियाई मिलते-जुलते शब्द कुरियाना का अर्थ लेता है जिसका अर्थ होता है—ग्रन्थों का पढ़ना। अधिकांश मुसलमान मानते हैं कि इसका मूल शब्द कुरा ही है। चाहे लोग कुछ भी कहें पर यह शब्द हजरत मुहम्मद के जन्म के समय ही अरबी शब्द हो गया। स्वयं कुरान में इस शब्द का लगभग 70 बार जिक्र हुआ है। इसके अलावा भी कुरान को कई नामों से जाना जाता है जैसे—अल फुरकान (कसौटी), अल हिक्म: (बुद्धिमता), धिक्र (याद) और मशहफ (लिखा हुआ) यह भी इसके दूसरे नाम हैं।

कुरान के अन्दर 114 अध्याय मौजूद हैं, जिन्हें सूरा कहकर पुकारा जाता है। बहुवचन में इन्हें सूरत कहा जाता है। यानि पन्द्रहवें अध्याय को सूरत पन्द्रह कहेंगे। प्रत्येक अध्याय में कुछ श्लोक हैं जिन्हें आयत कहा जाता है। कुरान की 6,666 आयतों में से (कुछ के अनुसार 6,238) अभी तक 1000 आयतें वैज्ञानिक तथ्यों पर बहस करती हैं। ऐतिहासिक रूप से यह साबित हो चुका है कि इस धरती पर प्रत्येक कुरान की प्रति वही मूल प्रति का प्रतिरूप है जो हजरत मुहम्मद पर उतारी गई थी।

कुरान के अनुसार इस धरती पर मनुष्य की क्या स्थिति है, इन विचारों पर हम प्रकाश डालते हैं। खुदा ने इस

धरती पर मनुष्य को अपना खलीफा (प्रतिहारी) बनाकर भेजा है। भेजने से पूर्व उसे यह भी बता दिया गया है कि कुछ समय के लिए ही धरती पर भेजा जा रहा है, उसे वापस फिर यहीं आना है और धरती पर किए गए अच्छे बुरे-कार्यों का हिसाब यहीं देना है। कुरान के इस रूप को जानने के बाद यह समझ लेना चाहिए कि यह ग्रन्थ रूप में मुहम्मद साहब को नहीं दी गई कि इसे पढ़कर लोगों को सुना दें और छपवाकर घरों में रख दें। बल्कि लगातार 23 वर्षों तक समय-समय पर इसे हजरत मुहम्मद के पास सन्देशों की शक्ल में हजरत जिबराइल द्वारा भेजा गया और पैगम्बर साहब ने अल्लाह की इच्छा द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना की जैसा ईश्वर ने कहा।

पाश्चात्य विद्वान एच.जी. वेल्स मानते हैं कि इस धरती पर प्रवचन तो बहुत दिए गए किन्तु उन प्रवचनों के आधार पर एक समाज की रचना पैगम्बर साहब ने ही की। हमें यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि वेल्स इस्लाम के कट्टर विरोधी हैं न कि इस्लाम प्रेमी, उनकी अधिकतर पुस्तकें इस्लाम के विरोध में ही प्रकाशित हुई हैं। [आ०स०]

कूर्मपुराण

कूर्म रूपधारी भगवान विष्णु ही इस पुराण के वक्ता हैं। कूर्मपुराण में कूर्मरूप भगवान विष्णु ने शिव को ही परम तत्व तथा मुख्य देव के रूप में प्रतिपादित किया है। रोमहर्षण सूत और शौनक महर्षि के संवाद के माध्यम से इस पुराण की अभिव्यक्ति हुई है। वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों सम्प्रदायों का इस पुराण में सुन्दर समन्वय है। श्रीमद् भगवद्गीता की तरह शिव द्वारा वर्णित 'ईश्वर गीता' इस पुराण का एक महत्वपूर्ण अंग है। 18 महापुराणों में इसका पन्द्रहवाँ स्थान है। इसके पूर्व भाग में 51 और अपर भाग में 44 अध्याय हैं और यह 6000 श्लोकों से सिमटे हुए हैं। इस पुराण में भगवान विष्णु के कूर्म अवतार का वर्णन है।

इस पुराण के अंतर्गत भूत, वर्तमान तथा भविष्य के वृत्तान्तों को विस्तार से बताया गया है। सर्वप्रथम लोक पितामह ब्रह्मा का भगवान विष्णु की नाभि से आविर्भाव, रुद्र और महालक्ष्मी का प्राकट्य, ब्रह्मा द्वारा नौ मानस पुत्रों द्वारा सृष्टि आदि का वर्णन है। तदनन्तर भगवान विष्णु के वराह आदि विभिन्न अवतारों की लीलाओं का वर्णन है। देवी भगवती के चरित्र का वर्णन करते हुए दक्ष द्वारा किये जाने वाले यज्ञ का भी वर्णन है।

यदु वंश का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिये शिव की तपस्या का वर्णन है। शिव की कृपा से उन्हें जाम्बवन्ती से साम्ब नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। मार्कण्डेय मुनि और श्रीकृष्ण की आध्यात्मिक वार्त्ता का मार्मिक चित्रण है। मार्कण्डेय जी ने पूछा : कर्मों द्वारा आपकी पूजा होती है और आपकी प्राप्ति सब योगियों का उद्देश्य है, फिर भी आप किसकी पूजा करते हैं। इसके उत्तर में भगवान श्रीकृष्ण ने लिंगार्चन की महिमा का वर्णन किया।

कूर्मपुराण के उत्तर भाग में ईश्वर गीता का उपाख्यान है। प्राचीनकाल में सनतकुमार आदि ऋषियों द्वारा जिज्ञासा करने पर स्वयं महादेव ने उपदेश दिया था। इस पुराण में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की उपासनाओं का निरूपण किया गया है। इस पुराण के परायण का बहुत पुण्य है। एक अध्याय का भी मननपूर्वक परायण की बहुत महिमा है। त्रिदेवों की एकता, विशेषकर हरि-हर की एकता का अद्भुत चित्रण है। यह दिव्य संहिता नारद ऋषि ने नारायण से प्राप्त की और ऋषिवर गौतम को इसका उपदेश दिया। उनसे पराशर को यह शास्त्र प्राप्त हुआ। कालान्तर में वेद-व्यास तक यह पुराण पहुँचा। [क०उ०]

कृपाचार्य

अयोध्या धाम के सारस्वत द्विज कुल में इनका जन्म हुआ। इन्हें साक्षात मुकुन्द भगवान का ही अवतार माना जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार होते ही कृपाचार्य जी अयोध्या से भागकर वृन्दावन आ गए। उस समय गोपालाचार्य जी

मानसरोवर में विराज रहे थे। यमुना जी का दर्शन, आचमन और पान करने के बाद गुरुदेव के प्रति शरणागत भाव व्यक्त किया। गुरुदेव ने इन्हें कृपापात्र जानकर पंच संस्कार कर वैष्णवी दीक्षा प्रदान की। गुरुदेव की आज्ञानुसार ब्रज भ्रमण कर लौटने के पश्चात् समस्त जीवनपर्यंत वृंदावन वास किया। इनकी रहनी सखी भाव की थी और सदैव दशधा भक्ति में निरत रहते थे। कृपाचार्य की कीर्ति इतनी उज्ज्वल थी कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इनका पाटोत्सव मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

कृष्ण कर्णामृत

भक्त महाकवि श्री लीलाशुक विल्बमंगल द्वारा रचित और महाप्रभु श्री चैतन्यदेव की कृपा प्रसाद से उपलब्ध श्रीकृष्ण कर्णामृत ब्रज रस का अनूठा ग्रंथ है। संस्कृत के भक्ति साहित्य में श्रीकृष्ण लीलाओं का वर्णन गीत गोविंद के बाद इसी ग्रंथ में हुआ है। ग्रंथ की रचना परिपाटी अतीव उत्कृष्ट है। जैसा नाम वैसा वर्णन, श्रीकृष्ण कर्णामृत वह अमृत है जो श्रीकृष्ण के कर्णों को अनुपम रस का आस्वादन कराता है। श्री चैतन्य महाप्रभु जब दक्षिण यात्रा करते हुये कृष्णावेना नदी तीरस्थ देव मंदिरों के दर्शन कर रहे थे, वहाँ उन्होंने वैष्णव ब्राह्मणों को स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण कर्णामृत के श्लोकों का पाठ करते हुए देखा और सुना। महाप्रभु श्लोकों को सुनकर अत्यंत आनन्दित हुये। महाप्रभु जी ने इन श्लोकों का संग्रह करवाया और एक हस्तलिखित प्रति अपने साथ नीलांचल ले आये।

नीलांचल में अपने भक्तों और श्री राय रामानंद तथा श्री रूपदामोदर को हस्तलिखित ग्रंथ दिखाकर बोले यह ग्रंथ साध्य, साधन विषयक समस्त सिद्धांतों का स्वरूप है। श्रीकृष्ण से साक्षात् करने वाले श्री लीलाशुक का प्रलाप होते हुए भी यह ग्रंथ शुद्ध कृष्ण प्रेम का द्योतक प्रतिरूप है। श्रीमन्महाप्रभु ने इस ग्रंथ का निरंतर आस्वादन किया और अपने भक्तों को कराया। यह ग्रंथ एक अनिर्वचनीय रसमयी कथावस्तु है। यह ग्रंथ श्रीकृष्ण के शुद्ध प्रेम, सौंदर्य, माधुर्य तथा लीलाओं में प्रवेश कराता है। इसके भाव सरल होते हुए उच्चतम गंभीर भी हैं। इसकी भाषा अपनी पवित्रता को लेते हुए सुललित और सुमधुर है। यह ग्रंथ वृंदावनीय माधुर्य रस की अक्षय प्रवाह धारा है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद ने श्री गोविन्द लीलामृत, श्री चैतन्य चरितामृत की भाँति श्रीकृष्ण कर्णामृत की रसमयी टीका में अमृत का प्रभाव उँड़ेला है। श्रीकृष्ण कर्णामृत ग्रंथ पर अनेक प्रमुख संत-विद्वानों ने टीकायें की हैं, जिनमें श्रीमद्गोपाल भट्ट गोस्वामीपाद की कृष्णवल्लभा टीका, श्री चैतन्यदास की सुबोधिनी टीका, श्री वृन्दावनदास कृत टीका तथा श्रीशंकर कृत टीकायें प्रमुख हैं। अन्य टीकाओं का उल्लेख संभव नहीं है। श्रीकृष्ण कर्णामृत के प्रथम शतक के 112 श्लोकों के अतिरिक्त दो अन्य शतकों का प्रचार दक्षिण के प्रदेशों में देखने को मिलता है किंतु श्री चैतन्य महाप्रभु जी ने केवल प्रथम शतक को ही आत्मसात किया और श्रीकृष्णदास कविराज ने भी प्रथम शतक की ही टीका लिखी है। अन्य दो शतकों पर विद्वान एकमत नहीं हैं।

श्रीकृष्ण कर्णामृत के प्रथम श्लोक में मंगलाचरण, दूसरे श्लोक में वस्तु निर्देश तथा तीसरे श्लोक में आत्मप्रवेशानुभव का वर्णन है। चौथे श्लोक में स्फूर्ति प्रार्थना है। बाईसवें श्लोक में आत्म निश्चय, तेईसवें श्लोक से लेकर पचपनवें श्लोक तक स्फूर्ति दर्शन प्रार्थना, छप्पनवें श्लोक से साठवें श्लोक तक स्फूर्ति साक्षात्कार भ्रम, इकसठवें श्लोक से सड़सठवें श्लोक तक पुनः दर्शनोत्कंठा, अड़सठवें श्लोक से पिचानवें श्लोक तक भागवत रूप वाणी मन द्वारा अगोचरत्व वर्णन, छियानवें श्लोक से एक सौ बारह श्लोक तक श्रीकृष्ण के साथ कथनोपकथन का वर्णन है।

श्रीकृष्ण कर्णामृत में प्रवेश करने पर हमें श्री लीलाशुक विल्बमंगल की तीन अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। प्रथम श्रीकृष्ण स्फूर्ति में स्फूर्ति ज्ञान। द्वितीय स्फूर्ति और साक्षात्कार के महत्व की भ्रम दशा। श्रीकृष्ण कर्णामृत में श्री लीलाशुक मधुर भाव के परिकर हैं। अंतर में लालसा की स्फूर्ति होने पर रासविलासी श्रीकृष्ण की स्फूर्ति के लिये दैन्य और विकलता भाव का उदय देखने को मिलता है, अतः कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण दास कविराज गोस्वामी ने

श्रीकृष्ण कर्णामृत की व्याख्या कर रसिक समाज को माधुर्यामृत का आस्वादन कराकर कृतार्थ किया है। [श०बि०दु०]

कृष्ण-कर्णामृत टीका

लीला-शुक बिल्वमंगल कृत सुप्रसिद्ध स्तोत्र काव्य 'कृष्ण कर्णामृत' की यह सर्वोत्तम टीका है। इसका नाम 'सारंग रंगदा' है। इसमें चैतन्य मत की रागानुगा भक्ति का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। यह कृष्णदास कविराज की प्रौढ़ावस्था की रचना है। [क०उ०]

कृष्णचंद्र

श्री कृष्णचंद्र हित हरिवंश जी के द्वितीय पुत्र के रूप में जाने जाते हैं। आपका जन्म संवत 1587 माघ शुक्ला नवमी मंगलवार को देववन में हुआ था। वनचन्द्र इनके ज्येष्ठ भ्राता थे। गोपीनाथ, मोहनचन्द्र इनके दो छोटे भाई और बहिन साहिब दे थीं। कृष्णचंद्र जी संस्कृत भाषा एवं ब्रजभाषा के प्रौढ़ विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत में अनेकों रचनायें कीं।

इनकी रचनाओं में उपराधासुधानिधि, राधानुनय विनोद, आशास्तव, कर्णानन्द, अष्टपदी, बृहदराधाभक्ति मंजूषा, अर्थ कौमुदी, व्यासनन्दनाष्टक, पदावली, हरिवंशाष्टक प्रमुख हैं। इनमें से कर्णानन्द, उपराधासुधानिधि, राधानुनय विनोद एवं आशास्तव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुश्रुति है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के कुछ अंश का भाष्य भी लिखा। ब्रज के धर्म-सम्प्रदाय ग्रंथ में यह उल्लेख है। कर्णानन्द सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस ग्रंथ की टीका भी उन्होंने स्वयं की। इस टीका को प्रबोधानन्द जी ने पूर्ण किया था। 'कर्णानन्द' का संस्करण फ्रेंच भाषा में भी प्रकाशित हो चुका है। इसकी एक प्रति गोलकुण्डा संग्रहालय में मिलती है।

कर्णानन्द में एकाक्षर से लेकर सत्ताईस अक्षर वाले दण्डक छन्द का प्रयोग हुआ है। ग्रंथ की शैली गंभीर और मर्मस्पर्शी है। इस ग्रंथ की ब्रजभाषा टीका गोस्वामी रसिक लाल तथा गोस्वामी चन्द्रलाल जी ने की। उपराधासुधानिधि की टीका भी चन्द्रलाल जी ने ब्रजभाषा में की थी। इनके कुछ स्फुट पद भी उपलब्ध हैं।

श्री वनचन्द्र गोस्वामी के वृन्दावन आगमन के कुछ समय बाद ही आप भी वृन्दावन आ गये। काशी में रहकर संस्कृत शिक्षा ग्रहण की। अल्पायु में ही धर्म प्रचार एवं ग्रंथ रचना आरंभ कर दी थी। श्रीहित हरिवंश जी ने समस्त साहित्य कृष्णचन्द्र जी को समर्पित कर दिया था। इन्होंने राधावल्लभ मंदिर के निकट राधामोहन मंदिर बनवाया जिसमें अपने सेव्य राधामोहन विग्रह की स्थापना की। यह मंदिर आज भी विद्यमान है।

धर्मप्रचार हेतु इन्होंने अनेक यात्रायें कीं। गया (बिहार) तक सम्प्रदाय के अनेक केन्द्रों की स्थापना की। ऐसी ही यात्रा से वृन्दावन लौटते हुए इलाहाबाद में शरीर का त्याग किया। त्रिवेणी संगम तट पर इनकी समाधि बनी हुई है।

चाचा वृन्दावन दास ने आपके रसभक्तिरंजित, पाण्डित्य पुष्ट व्यक्तित्व का मनोहारी चित्रण किया है। इनमें तल स्पर्शिनी बुद्धि, मार्मिक रसिकता और प्रचण्ड भक्ति तेज का दुर्लभ संयोग था। इनसे सम्बद्ध कुछ मार्मिक बातों का उल्लेख अपने छप्पय में किया है। जब इनके हृदय में आनंद उदधि उमड़ पड़ा तो संपूर्ण छिछली कर्म विधियाँ इसमें डूब गईं। [उ०भा०]

× × ×

हित हरिवंश महाप्रभु जी के द्वितीय पुत्र श्री कृष्ण चंद्र जी का जन्म माघ शुक्ल नवमी सं० 1546 का है। ये बहुत बड़े विद्वान् थे परन्तु स्वयं को तुच्छ मानते थे और साधु, संत रसिकों को अपना सर्वस्व मानते थे। इन्होंने वेदान्त सूत्रों पर

श्री राधावल्लभ भाष्य एवं कर्णानन्द उप-सुधानिधि और कई ग्रंथों का निर्माण किया परन्तु बहुत से अप्राप्य हैं। कुछ दिन वृन्दावन निवास करने के पश्चात् श्री कृष्णचंद जी देशाटन व दिग्विजय करने निकले। देश-देशान्तरों में विजय पताका फहराते हुये ये काशी पहुँचे। वहाँ इन्होंने एकादश दिन शास्त्रार्थ करते हुए काशी जीत कर और वहाँ से दिग्विजय पत्र लिखवाकर प्रयागराज को प्रस्थान किया। प्रयाग में ही इन्होंने यमुना स्नान किया तथा राधावल्लभ जी का ध्यान किया और अंतर्ध्यान हो गये, उसी जगह इनकी बैठक अद्यावधि मौजूद है। इनके दो पुत्र श्री वृन्दावनदास जी तथा छबीलेदास जी थे तथा इनके मुख्य शिष्य—श्री रामदास जी, अनन्त भट्ट जी, श्री भावन भट्ट जी, श्री गोपालदास जी, श्री रामरतन, नायक मुकुन्द, हीरानन्द मिश्र, जगन्नाथ जी, लाल सखी, चिन्तामणि दास जी, गौरीदास, भोलानाथ जी हुये।

[प्र०श०]

कृष्णचरणदास गोस्वामी

गोस्वामी कृष्णचरण दास जी श्री सुबलदास जी के शिष्य थे। ये सुबलदास जी के उत्तराधिकारी तथा श्री मदनमोहन जी के षष्ठम् सेवायत गुसाईं थे। ये अत्यधिक शील स्वभाव के व्यक्ति थे। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले यह श्री मदनमोहन जी के प्रथम सेवायत थे। इनके बाद जो भी इस गद्दी के अधिकारी हुए वे सब विवाहित हुए। श्री सनातन गोस्वामी जी पहले ही अपने अनुमान से यह बात कह चुके थे कि मेरी गद्दी पर अगली सात पीढ़ी तक शिष्य प्रणाली ही चलेगी ततपश्चात् श्री मदनमोहन जी की इच्छा होगी वही सेवायत होंगे। [जि०कु०]

कृष्णदास (प्रथम)

कृष्णदास नाम के अनेक भक्त-कवि हुए हैं। हरिदासी कृष्णदास श्री नागरीदास जी के शिष्य थे। उनकी एक रचना 'गुरु मंगल' प्राप्त है। जिसकी एक बानगी प्रस्तुत है—

जै-जै श्री वृन्दावन, सहज सुहावनौ।
नित्य बिहार अधार, सदा मन भावनौ॥
परम सुभग श्री जमुना पुलिन मंजुल जहाँ।
बिमल कमल कुल हंस, सकल कूजित तहाँ॥ [वि०का०]

कृष्णदास (द्वितीय)

वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्टछाप के कवियों में से एक हैं। इनका जन्म संवत् 1553 में गुजरात के चिलोत्तरा नामक ग्राम में तथा देहावसान संवत् 1636 में हुआ था। इनकी प्रसिद्धि कवि की अपेक्षा मंदिर प्रबंधक के रूप में अधिक है। वल्लभाचार्य जी ने मंदिर की व्यवस्था का अन्य कार्यभार अधिकारी कृष्णदास को सौंपा गया जिन्होंने मंदिर के ऐश्वर्य एवं वैभव में चार चाँद लगाये। आचार्य जी की मृत्यु के पहले उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ गद्दी पर बैठे किंतु थोड़े समय बाद ही इनकी मृत्यु हो गई, अत: लगभग सन् 1539 में आचार्य जी के दूसरे पुत्र विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। इस समय तक कृष्णदास जी के प्रभाव में और अधिक अभिवृद्धि हो गई। इन्होंने मंदिर की व्यवस्था एवं साज-सज्जा में असाधारण परिवर्तन किया। इन्होंने परंपरागत बंगाली पुजारियों को जो कि भक्ति के स्थान पर रसिकता के विरोधी थे, क्रूरतापूर्वक उन्हें भगा दिया। इन्होंने ठाकुर जी के मनोरंजन के लिए विभिन्न

साधनों के साथ-साथ वेश्याओं तक को मंदिर में स्थान दिया। ठाकुर जी की सभा मंडली अकबर के नवरत्नों से समानता रखती थी। नवरत्नों की भाँति यहाँ भी आठ कवियों से अष्टछाप की स्थापना की गई। ठाकुर जी के दैनिक कार्यक्रमों को भी आठ प्रहरों में बाँटा गया तथा विभिन्न व्यक्तियों को उनकी व्यवस्था का कार्यभार सौंपा पर ठाकुरजी की रासलीला संबंधी विशेष कार्यक्रम को कृष्णदास जी ने अपने हाथ में रखा। ठाकुर जी मंदिर शासन व्यवस्था, ऐश्वर्य, वैभव एवं राग-रंग में इतनी प्रगति कर गया कि बड़े-बड़े नरेशों को भी उससे जलन होने लग गई। जब आचार्य विट्ठलनाथ जी ने इस अति शृंगारिकता का विरोध किया तो कृष्णदास ने इनका मंदिर में प्रवेश निषेध कर दिया, बाद में सरकारी सिपाहियों की सहायता से पुन: प्रवेश कर सके। श्रीनाथ जी मंदिर को भक्ति के स्थान पर विलासिता का केन्द्र बनाने में इनका बड़ा योगदान रहा। इन्होंने भी और सब कृष्ण भक्तों के समान राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार रस के ही पद गाये हैं। 'जुगलमान चरित्र' नामक एक छोटा-सा ग्रंथ इनके द्वारा रचा गया है। इसके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और कहे जाते हैं। 'भ्रमरगीत' और 'प्रेम तत्त्व निरूपण'। फुटकल पदों के संग्रह इधर-उधर मिलते हैं। सूरदास और नंददास के समक्ष इनकी रचनायें साधारण कोटि की हैं।

तरनि तनया तट आवत है प्रात समय
कंदुक खेलत देख्यो आनंद को कँदवा।
नूपुर पद कुनित पीतांबर कटि बाँधे
लाल उपरना सिर मोरन के चँदवा॥

कृष्णदास जी को कहीं-कहीं वार्ताओं में प्रेत की संज्ञा भी दी गई है वह शायद उनके कृत्यों की वजह से हो।

[नि०क०]

कृष्णदास (तृतीय)

ये जीव गोस्वामी जी के शिष्य थे। वृन्दावन शोध संस्थान में संरक्षित दस्तावेजों से ज्ञात होता है कि जीव गोस्वामी के उपरान्त राधा दामोदर सेवा के साथ ही उनका अभिलेखागार भी इनके संरक्षण में रहा। इन्होंने गौर नाम रस चम्पू तथा लघु गोपाल चम्पू भाषा में अपने सन्दर्भ में लिखा है। जीव गोस्वामी का उपस्थिति काल वि०सं० 1568 से 1671 के लगभग है। अत: ये जीव गोस्वामी के शिष्य वि०सं० 1671 के पूर्व हुए होंगे। और उनकी आयु उस समय 40 के लगभग रही होगी। इस प्रकार इनका उपस्थिति काल वि०सं० 1660 से 1690 के आसपास माना जा सकता है और इनका रचनाकाल वि०सं०1660 के पूर्व। श्रीराधादामोदर इनके आराध्य थे। गौरनामरस चम्पू में इन्होंने अपने ब्रजवास और ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। इनकी रचनाओं में कृष्णदास तथा कृष्ण कवि दोनों की ही छाप मिलती है। कदाचित कृष्ण कवि इनका उपनाम हो। 'लघु गोपाल चम्पू' जीव गोस्वामी के 'गोपाल चम्पू' का अति संक्षिप्त ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। गोपाल चम्पू जैसे प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ का काव्यमय संक्षिप्त अनुवाद उनके पाण्डित्य का द्योतक है। [रा०श०]

कृष्णदास (चतुर्थ)

गोस्वामी श्रीकृष्णदास जी का जन्म बंगाल के एक धनी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बंगाल से ब्रज की यात्रा करने आये तो श्रीमदनमोहन जी तथा सनातन गोस्वामी के दर्शनों से प्रभावित होकर वृन्दावन में ही वैराग्यमय जीवन व्यतीत करने लगे। सनातन गोस्वामी जी ने अपने जीवनकाल में मदनमोहन जी की सेवा अपने शिष्य कृष्णदास को सौंपकर वे गोलोकवासी हो गए।

इनके सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय रूप से वर्णित है—एक दिन एक भक्त ठाकुर जी के लिए कुछ वस्त्र, आभूषण तथा पगड़ी लाये। गोस्वामी जी जब ठाकुर जी को वस्त्र धारण करवा रहे थे तो दो बार पगड़ी फिसल गयी। गुस्से में आकर गोस्वामी जी ने मदनमोहन जी को एक थप्पड़ मार दिया और पगड़ी रख दी। रात्रि के समय ठाकुर जी एक भयंकर रूप धारण कर कृष्णदास जी के पास आये और बिस्तर से नीचे पटक दिया। तब मदनमोहन जी बोले—'क्यों रे! तू मेरी सेवा उन्मत्त होकर करता है।' गुसाईं जी हाथकर जोड़कर बोले—'हे प्रभु! हम बंगाली लोग बड़े क्रूर और क्रोधी होते हैं, हमने कभी पाग बाँधने का कार्य नहीं किया। हमसे अपराध हो गया। इस बार क्षमा करो प्रभु। श्री मदनमोहन जी बोले—'अरे गँवार मेरा शृंगार जैसे तू करता है ना वैसे नहीं होता। देख, जब मेरी मैय्या मेरा शृंगार करती थी तो मुझे कुछ खबाती जाती थी, तो उस समय मेरा शृंगार शीघ्र हो जाया करता था। इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। प्रात:काल गुसाईं जी ने खोवा में खाँड़ मिलाकर खीरसा का भोग लगाया। तब से शृंगार के समय मदनमोहन जी को खीरसा का भोग प्रतिदिन लगता आ रहा है। [जि०कु०]

कृष्णदास पयहारी

कृष्णदास पयहारी, स्वामी रामानंदी शिष्य परंपरा से समवायित थे। कृष्णदास नाम होने के कारण भ्रांतिवश, कृष्णोपासक समझा जा सकता है क्योंकि ऐसा होना संप्रदायों में स्वाभाविक रूप से संभावित होता है।

पय यानी दूध का आहार (भोजन) करने के कारण वे स्व-संप्रदाय में पयहारी संज्ञा से चर्चित हो गये थे। ये स्वामी अनंतानंद के प्रमुख शिष्य थे और इनके शिष्य कीलदास थे। स्वामी अनंतानंद की विद्यमानता 16वीं शताब्दी में मानी जाती है, अत: आपका स्थितिकाल भी 16वीं शताब्दी ही होगा। इन सबका ब्रज से घनिष्ठ संबंध था। जैसा कि परांकुशाचार्य ने 'सिद्धयोगी कीलदास' कृति में लिखा है।

श्री परांकुशाचार्य ने अपने मत के समर्थन में तो कोई प्रमाण नहीं दिया है, अत: स्वामी अनंतानंद और उनके विद्यालय के विषय में निश्चयपूर्वक कोई बात नहीं की जा सकती है किन्तु कीलदास का मथुरा से घनिष्ठ संबंध रहा था। डॉ. भगवती सिंह जी ने स्वामी अनंतानंद की ग़द्दी का स्थान 'अनंत गुफा' मथुरा बतलाया है। मथुरा में इस नाम की कोई गुफा नहीं है। मथुरा नगर के कीलमठ मुहल्ले में जो प्राचीन गुफा है उसे कीलदास जी की साधना स्थली कहा जा सकता है। ऐसा विदित होता है, आरंभ में वह स्वामी अनंतानंद जी की भजनस्थली थी। बाद में उसका संबंध कीलदास से हो गया। अत: वह गुफा मथुरा में ऐतिहासिक महत्त्व की हो गयी।

दाहिमा ब्राह्मण स्वामी कृष्णदास पयहारी उनके नाम तथा दुग्धाहार व्रत से ऐसा अनुमान होता है कि वे गोपाल कृष्ण और उनके जन्मस्थान मथुरा के प्रति बड़े श्रद्धालु थे। उनका स्थितिकाल 1559-1645 माना जाता है। स्वामी कृष्णदास पयहारी जी के अनेक शिष्य थे जिनमें 24 का नामोल्लेख नाभा जी ने किया है। उनमें कीलदास, अग्रदास, नारायण दासादि का मथुरा से घनिष्ठ संबंध रहा था।

स्वामी कृष्णदास जी ने जयपुर में 'गलताश्रम' नामक प्रसिद्ध श्री वैष्णव संस्थान की स्थापना की थी। उनकी स्मृति में मथुरा के प्रयागघाट पर 'गलता कुंज' का निर्माण सं. 1645 में किया था। यह भी संप्रदाय का प्रसिद्ध देवस्थान है। श्री श्रीजी मंदिर, वृंदावन से प्रकाशित भक्तमाल में पयहारी (कृष्णदास) संबंधी कथावार्ताओं का उल्लेख मिलता है।

पयहारी कृष्णदास की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। स्वामी पयहारी के आविर्भाव एवं तिरोधान के सन्-संवतों का पता लगना कठिन है किंतु भक्तमाल के छप्पय 38 तथा 185 से इतना पता अवश्य चलता है कि वे दाहिमा (दाधीच) ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके कुल के ब्राह्मण प्राय: राजस्थान में अधिक मिलते हैं, अत: यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका जन्म राजस्थान में हुआ होगा। आमेर के राजा

पृथ्वीसिंह ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। पयहारी जी गलता गद्दी, जयपुर के संस्थापक थे।

[प्रे०द०मि०मै०]

कृष्णदास (बाबा)

रनवारी ग्राम मथुरा जिले की छाता तहसील के अंतर्गत छाता से गोवर्धन मार्ग पर 3 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। ग्राम के पास से लगभग 2 फर्लांग दूरी पर मंदिर तक पक्की सड़क गयी है। विभिन्न मतानुसार एक बार इस सिद्ध क्षेत्र में श्रीकृष्ण सखाओं सहित छत्रवन छाता से तथा राधाजी सखियों के समूह सहित गाँव अलवाई से फाल्गुन एकादशी को रंगीली होली खेलने के लिए एकत्र हुए और उनमें प्रेममय रंग युद्ध छिड़ गया। इस प्रेम लीला के कारण इस गाँव का नाम रंगवाड़ी हो गया जो कालांतर में अपभ्रंश रूप रनवारी कहलाया। इस रंग युद्ध के समय प्यास लगने पर जलापूर्ति हेतु श्रीकृष्ण ने अपनी बंशी से एक कुंड की सृष्टि की जिसका नाम श्याम कुंड हुआ। वर्तमान में इसी श्याम कुंड के उत्तरी तट पर श्री सिद्धबाबा की समाधि एवं श्रीराधाविनोद मंदिर, पूर्वोत्तर छोर पर गिरधारी बगीची तथा दक्षिणी छोर पर श्री गोपाल जी मंदिर का गुरुद्वारा स्थित है। आज रनवारी वाले बाबा और उनका स्थान गौड़ीय संप्रदाय का ब्रज प्रसिद्ध सिद्धतीर्थ बन चुका है।

श्री सिद्धबाबा श्री कृष्णदास बाबा का पूर्व नाम श्री कृष्ण प्रसाद चट्टोपाध्याय था। आज से लगभग 221 वर्ष पूर्व सन् 1792 ई. बंगदेश (वर्तमान बंगलादेश) के जशोहर जिले के अंतर्गत मुहम्मदपुर ग्राम में इनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम गोकुलेशचंद्र चट्टोपाध्याय था। किशोर अवस्था होने पर जब उनके विवाह का प्रस्ताव हुआ, तभी वे एक दिन शेष रात्रि में घर से निकल पड़े और पैदल ही चलकर वृंदावन पहुँच गए। उस समय लगभग उनकी अवस्था 20 वर्ष की थी। उस समय यातायात के साधन नहीं थे इसलिए पैदल यात्रा होती थी। उनके पिता द्वारा सेवित विग्रह श्री हरेकृष्णराय की सेवा में यह बचपन से ही तन्मय रहे। परिवार द्वारा भक्ति संस्कार पड़ने के कारण इनका मन विरक्ति की ओर गया। वृंदावन में श्री मदनमोहन जी की सेवा में कुछ दिन रहकर किसी महात्मा के निर्देशानुसार एक साल बाद रनवारी ग्राम चले आये। रनवारी ग्राम के आसपास उस समय भीषण जंगल था। वहाँ ग्राम के उत्तरी छोर पर जंगल में एक घनी झाड़ी में छोटी-सी कुटिया बनाकर उसमें भजन करने लगे। संध्या समय मधुकरी माँग लाते थे तथा अपने प्रयोजन अनुसार रखकर बाकी गायों को खिला देते। मधुकरी इतनी मिलती कि रास्ते भर गायों को खिलाते आते, क्योंकि प्रत्येक ब्रजवासी मधुकरी के लिए आग्रह करता और वे उसे मना न कर पाते।

रनवारी में कठोर भाव से राधामाधव का भजन करते-करते प्राय: पचास वर्ष व्यतीत हो गये। किशोरावस्था से ही गृह त्याग कर ब्रज में आने के बाद हृदय में एक बार चारों धाम के दर्शन करने की कामना जागी। श्रीराधा जी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा—तुमने वृंदावन में मेरी शरण ली है, तुम्हें और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। यहीं रहकर भजन करो, तुम्हें सर्वसिद्धि लाभ होगा। बाबा ने राधाजी के स्वप्न को अपने मन की कल्पना जान अवहेलना की और तीर्थयात्रा को निकल पड़े। भ्रमण करते-करते द्वारिका पहुँचे। चारों संप्रदाय के वैष्णव द्वारिका जाकर तप्त धारण किया करते हैं परंतु वह शास्त्रीय विधि होते हुए भी रागानुगी वैष्णवों की परंपरा नहीं है। यद्यपि 'हरिभक्ति विलास' में इसकी व्यवस्था दी हुई है। बाबा ने ब्रज के सदाचार की उपेक्षा कर 'हरिभक्ति विलास' के मतानुसार तप्त मुद्रा धारण कर ली। बाद में उनके मन में विक्षेप आया तथा तीर्थभ्रमण से अरुचि हो गयी। वे ब्रज लौटकर पुन: रनवारी ग्राम में आ गये। जिस दिन बाबा लौटे उसी दिन रात्रि में फिर राधारानी ने कहा—तुम द्वारिका में तप्त मुद्रा धारण कर रुक्मिणी के गणों में शामिल हो गये हो, ब्रजधाम के उपयुक्त अब नहीं रहे, द्वारिका चले जाओ। इस बार उन्हें स्वप्न काल्पनिक नहीं लगा। असमंजस में पड़े हुए वे गोवर्धन के सिद्ध श्रीकृष्ण दास बाबा के पास गये और उन्हें अपनी सारी मनोव्यथा बतायी तथा पूछा कि मुझे अब क्या करना चाहिए? गोवर्धन वाले बाबा प्रकांड विद्वान थे तथा रागानुगी वैष्णवों में उनका

विशेष सम्मान था। बाबा को श्रीराधाजी के चरणों में जाने को कहा आज से आप को स्पर्श करने की योग्यता मेरी नहीं रही। कहाँ आप महाराज राजेश्वरी की सेविका? कहाँ मैं ग्वालिनि की दासी? ब्रज में उस समय और भी कई महात्मा थे। बाबा ने उनसे भी अपनी मनोव्यथा जाहिर की, लेकिन सभी ने यही कहा कि श्रीराधारानी की शरण में जाओ, अन्य कोई उपाय नहीं है। प्रियाजी के आदेश के ऊपर उपदेश देने की हमारी क्षमता कहाँ?

श्रीजयकृष्णदास बाबा कामवन, श्री मधुसूदन दास बाबा सूर्यकुंड भरना खुर्द, श्रीकृष्णदास बाबा, चकलेश्वर गोवर्धन, रनवारी वाले बाबा, सिद्धबाबा श्रीकृष्णदास चारों समकालीन थे तथा चारों ही सिद्ध हुए थे। एक दूसरे से मिलते रहने के प्रमाण मिलते हैं। श्रीकृष्णदास बाबा चकलेश्वर गोवर्धन के दर्शन हेतु भरतपुर के तत्कालीन जाट राजा यशवंतसिंह सन् 1853-1893 ई. अपनी रानी लक्ष्मिणी के साथ आये थे। काम्यवन कामां भी उस समय भरतपुर के राजा के अधीन था। उस समय कम्पनी का अधिकार समाप्त होकर महारानी विक्टोरिया का शासन हो गया था। मथुरा में उस समय रेल नहीं थी। श्री सिद्धबाबा के समकालीन गोवर्धन सिद्धबाबा श्री कृष्णदास बाबा द्वारा चरित्र ग्रंथों का रचनाकाल भी सन् 1878-1883 है। अस्तु इनके गुरुजी कौन थे? इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जबकि रागानुगी वैष्णव परंपरा में गुरु दीक्षा के बिना परंपरा नहीं चलती है।

श्री सिद्धबाबा को राधा तत्त्व की महिमा ज्ञात थी। हताश होकर बाबा रनवारी लौट आये। अन्न-जल त्याग कर वे कुटिया में जा पड़े। पश्चाताप और प्रियाजी के विरह की अग्नि में उनका हृदय जलने लगा। उसी अवस्था में पड़े-पड़े बाबा को तीन माह बीत गये। तब भीतर की विरहाग्नि बाहर फूट पड़ी। तीन दिन में अग्नि चरणों के अँगूठे से लेकर कंठ तक फैल गई। चौथे दिन जब यह आश्चर्यजनक दैवीय घटना घटी उस समय सिद्ध श्री जगन्नाथदास बाबा और उनके शिष्य श्री बिहारीदास बाबा रनवारी में श्री सिद्धबाबा के निकट, जो आजकल गिरधारी मढी कहलाती है, एक कुटिया में ठहरे हुए थे। रात्रि के अंतिम प्रहर श्री जगन्नाथ दास बाबा ने बिहारी दास बाबा से कहा—बिहारी! कृष्णदास बाबा की कुटिया में जाकर देखो, क्या हो रहा है? बिहारीदास ने वहाँ जाकर देखा कि बाबा सिद्धासन की मुद्रा में बैठे हुए हैं, उनका शरीर जल रहा है और मुख से हरिनाम का उच्चारण हो रहा है। बिहारीदास दौड़कर गुरुजी के पास गये और कहा कि श्रीकृष्णदास बाबा का शरीर दग्ध हो रहा है। गुरुजी विरहानल की स्थिति को समझ गये। उसी समय आवाज सुनकर पड़ौसी ब्रजवासी दौड़ पड़े। बाबा की कुटिया का दरवाजा तोड़ा और भीतर जाकर देखा कि अग्नि धक-धक् कर जलते हुए बाबा के कंठ तक आ गई है, फिर भी मुख से नाम उच्चारण स्पष्ट रूप से हो रहा है। ब्रजवासी कौतूहल भाव से उनकी ओर देखते रह गये। तब बाबा ने मशाल की तरह जलते हुए अपने हाथों को उठाकर आशीर्वाद देते हुए कहा—रनवारी गाँव में कभी किसी प्रकार का संकट नहीं आयेगा। सर्वत्र अकाल और महामारी होने पर भी गाँव सुरक्षित रहेगा। गाँव वालों को बाबा के आशीर्वाद से बेहद प्रसन्नता हुई तथा अपने घरों से देशी घी लाकर बाबा के ऊपर डालने लगे।

श्री जगन्नाथ बाबा ने देखा कि अग्नि बाबा के कंठ तक आ गयी है, तब उन्होंने रुई की तीन बत्तियाँ बनाकर माथे पर रख दीं। बत्तियाँ जलने लगीं और उनके साथ ही बाबा का सारा शरीर भस्मीभूत हो गया। इस समय बाबा की उम्र लगभग 72 वर्ष की थी। भस्मराशि शीतल हो जाने के कई दिन बाद उनके गुरु भाई (जैसा सुना जाता है) श्री प्रेमदास बाबा आये और भस्म के निकट जाकर दंडवत कर बोले—दादा! आपने मेरे हाथ की लकड़ी तो ली नहीं, लो मैं लकड़ी दे रहा हूँ। भस्म राशि से स्पर्श होते ही लकड़ी जलने लगी और भस्म हो गई। ऐसा सुना जाता है कि रनवारी ग्राम में सिद्धबाबा की देह दग्ध होने का समाचार पाकर एक स्थानीय यवन दरोगा तथा हिन्दू तहसीलदार वहाँ आकर उपस्थित हुए। बाबा के पास यवन दरोगा के जाते ही अग्नि शांत तथा दूर हटते ही प्रज्ज्वलित हो जाती थी। यह देखकर हिन्दू तहसीलदार ने दरोगा को अलग कर बहुत-सा घी मँगाकर सिद्धबाबा की देह पर अर्पण किया।

इस घटना को हुए 150 वर्ष हो गए हैं, कालगणनानुसार सन् 1864 ई. के अनुसार बाबा की जिस प्रकार सिद्धासन

पर बैठकर देह भस्म हुई थी आज भी उसी भाव में समाधि के दर्शन होते हैं। आज भी श्री सिद्धबाबा की तिरोभाव तिथि के उपलक्ष्य में पौषी अमावस्या को प्रतिवर्ष रनवारी गाँव में विशाल उत्सव तथा भंडारा आयोजित होता है। बाबा ने यहाँ ब्रजवासियों को फाल्गुन शुक्ल एकादशी तिथि का पालन कर रात्रि में जागरण करने का आदेश दिया था। आज भी गाँव के सभी ब्रजवासी इस तिथि का विशेष रूप से पालन करते हैं।

श्री ठाकुर राधाविनोद जी महाराज विराजमान मंदिर के सेवायत पुजारी पूर्वकाल से ही ठाकुर सेवा तथा साधु सेवा करते चले आ रहे हैं। पुजारी परंपरा के अनुसार श्री नित्यानंद सन् 1940-1955 श्री नरहरिदास सन् 1955-1961, श्री गोरगोपालदास 1961-1978, श्री राधाविनोद दास 1978-2000 और इनके बाद वर्तमान में कृष्णदास कृष्णाबाबा ने मंदिर की व्यवस्था सँभाल रखी है। [म०सिं०य०]

कृष्णदास (भावुक)

श्री कृष्णदास जी के लोक जीवन परिचय की सारी बातें प्राय: अज्ञात ही हैं। इनकी वाणियों के अन्त:साक्ष्य से यह जानकारी मिलती है कि ये हित कुल में उत्पन्न गोस्वामी विनोदवल्लभ जी के शिष्य थे तथा चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इनका परिचय देते हुये इनके गुरुवर का नाम ये ही बताया है। श्री कृष्णदास जी भावुक द्वारा ही मथुरा मंडल के बाद ग्राम में प्रथम बार श्रीहित हरिवंश जी का जन्मोत्सव मनाया गया था। आज भी बाद ग्राम में इनकी भजन कुटी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित है। अन्य रसिक वाणीकारों ने भी इनका जीवन चरित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। यह संगीतकार और मर्मज्ञ वाणीकार भी थे। उन्होंने हित प्रभु की अनेक सुन्दर बधाइयाँ भी लिखी हैं। अन्य उत्सवों के भी इनके अनेक पद मिलते हैं। जो समाज के दौरान आज भी गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त दो अष्टकों- वृन्दावनाष्टक, श्री हरिवंशाष्टक की रचना भी इन्होंने की है। इनका निकुंज गमन काल वि.सं. 1813 के यवनोत्पात में माना जाता है। इनकी अन्य प्रमुख रचनायें—पदावली, फाग खेल बरनन अष्टक, वृन्दावन अष्टक, विपिन विहार बत्तीसी, मान लीला, समय प्रबन्ध (अष्टयाम) आदि हैं। [प्र०श०]

कृष्ण द्वैपायन व्यास

वेदों के रहस्य का सरलीकरण कर मानव कल्याण के लिए पुराण रूप में वर्गीकृत करने वाले महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास माता सत्यवती एवं महर्षि पाराशर के पुत्र थे। इनका जन्म यमुना के द्वीप में होने के कारण ये 'द्वैपायन' भी कहलाए। वेदव्यास विष्णु के अंशावतार माने जाते हैं। व्यासजी ने कलियुग में वेदों के रहस्य की गंभीरता के दृष्टिगत इनका विस्तार किया। अट्ठारह पुराणों तथा महाभारत की उन्होंने रचना की। व्यास जी के शिष्यों में विदेहराज जनक, सुमन्तु, जैमिनी, पैल, वैशम्पायन, असित, देवल तथा पुत्र शुकदेव प्रमुख हैं। महर्षि व्यास संसार में अमरों की श्रेणी में हैं। वह चिरंजीवी हैं। शास्त्रों में वर्णित है कि महर्षि व्यास ने महाभारत का लेखन गौरीपुत्र श्री गणेश जी से कराया, जिसमें उन्होंने यह शर्त रखी कि यदि लेखन करते समय मेरी गति (कलम) रुक गई, तो मैं पुन: लेखन कार्य नहीं करूँगा। महर्षि पाराशर से सत्यवती के गर्भ से व्यासजी का जन्म तो हुआ किंतु पाराशर जी के तपोबल से इनका कौमार्य नष्ट नहीं हुआ। संसार में यह रहस्य होने के कारण ही सत्यवती का विवाह कुरुवंशीय महाराज शांतुन के साथ हुआ। शांतनु की पहली पत्नी गंगा से उत्पन्न देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा के कारण ही महाराज शांतनु का विवाह सत्यवती से हो सका। माता सत्यवती की आज्ञा से ही महर्षि वेदव्यास ने कुरुवंश का विस्तार किया। महाराज शांतनु और सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों को धृतराष्ट्र और पांडु की प्राप्ति महर्षि वेदव्यास के तेज से ही हुई। इन्हीं की कृपा से दासीपुत्र विदुर की उत्पत्ति हुई। [उ०सा०]

कृष्ण भट्टाचार्य

श्रीवामन भट्टाचार्य जी के शिष्य श्रीकृष्ण भट्टाचार्य जी का पाटोत्सव आषाढ़ कृष्ण नवमी को होता है। श्री अनंतराम जी द्वारा परंपरा स्रोत में इन्हें साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण की उपमा से सुशोभित किया गया है। जिस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मृत गुरुपुत्रों को यमपुरी से लाकर गुरु सांदीपनि जी को गुरु दक्षिणा में समर्पित कर दिया था, उसी प्रकार संसार दावानल से दग्ध श्रद्धालुजनों और भगवद् विमुखों को भगवान श्रीराधासर्वेश्वर के शरणापन्न कर दिया था। [कुं०बि०श०]

कृष्ण सम्बन्धी जैन साहित्य

जैन परम्परा में कृष्णचरित का वर्णन करने वाले साहित्य के दो वर्ग हैं—(क) आगम साहित्य, और (ख) आगमेतर साहित्य।

(क) आगम साहित्य

प्राकृत भाषा में निबद्ध आगम साहित्य के अन्तर्गत सिद्धान्तकरण प्रक्रिया में कृष्णचरित का वर्णन हुआ है। जैन धारणा के अनुरूप आगमिक कृतियों में कृष्णचरित शलाकापुरुष वासुदेव के व्यक्तित्व की गरिमा और औदात्य से अनुप्राणित है। इसमें कृष्ण के जीवन-प्रसंगों का भिन्न-भिन्न संदर्भों में वर्णन हुआ है। कृष्णचरित सम्बन्धी आगमिक कृतियों में स्थानांग सूत्र, समवायांग सूत्र, ज्ञातधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण, निरयावलिका और उत्तराध्ययन प्रमुख हैं। उल्लेखनीय है कि ये कृतियाँ जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही मान्य हैं।

स्थानांगसूत्र के आठवें अध्याय में श्रीकृष्णचरित वर्णित हुआ है। इससे कृष्ण की आठ पटरानियों अथवा अग्रमहिषियों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इनके नाम क्रमशः पद्मावती, गौरी, लक्ष्मणा, सुसीला, जाम्बवती, सत्यभामा, गांधारी और रूक्मिणी बताए गए हैं।

समवायांग सूत्र जैनियों का चतुर्थ अंग ग्रंथ माना जाता है। जैन सिद्धान्त प्रतिपादक इस ग्रंथ में शलाकापुरुषों का नामोल्लेख करते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ के सूत्र 207 में बलदेव और वासुदेव का वर्णन है। समवायांगसूत्र में कृष्ण का व्यक्तित्व वासुदेव के लक्षणों से युक्त है।

ज्ञातधर्मकथा—जैन परम्परा में छठे अंग ग्रंथ के रूप में मान्य है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलहवें अध्याय में द्रौपदी चरित का वर्णन हुआ है। इसमें कृष्ण वासुदेव एक श्रेष्ठ राजपुरुष के रूप में वर्णित हुए हैं और उनके व्यक्तित्व में अर्द्धचक्रवर्ती राजा वासुदेव के गुणों का निरूपण हुआ है। 'ज्ञातधर्मकथा' के उन्नीसवें सूत्र में पाण्डवों के द्वारा कृष्ण के स्वामित्व की स्वीकृति का उल्लेख है और पाण्डव उन्हें 'स्वामी' कहकर सम्बोधित करते हैं। इसके दूसरे श्रुतस्कन्ध में पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत धावच्चापुत्र की प्रव्रज्या का प्रसंग वर्णित है। ज्ञातधर्मकथा से कृष्ण और अरिष्टनेमि के सम्बन्धों के विषय में भी जानकारी मिलती है।

अन्तकृद्दशा जैनियों का आठवाँ अंग ग्रंथ है। इस ग्रंथ में मोक्ष प्राप्त करने वाले उदात्त जैन तपस्वियों के चरित वर्णित हैं। अन्तकृद्दशा आठ वर्गों तथा नब्बे अध्यायों में विभाजित है। इसके प्रथम पाँच वर्गों में कृष्ण वासुदेव और उनकी रानियों, पुत्रों आदि का वर्णन हुआ है। कृष्ण के व्यक्तित्व और वैभव के वर्णन- क्रम में उनकी राजधानी द्वारावती, उनके यशस्वी राजसी व्यक्तित्व, उनकी रानियों, पुत्रों, प्रपौत्रों, पुत्र-वधुओं आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त द्वारावती में कृष्ण की सेना, सेनापतियों, श्रीसम्पन्न नागरिकों, योद्धाओं आदि का भी विवरण मिलता है। अरिष्टनेमि और कृष्ण सम्बन्धों के वर्णन क्रम में अरिष्टनेमि द्वारा द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी, कृष्ण के देहावसान की घटना, भावी जन्म आदि का उल्लेख किया गया है। अन्तकृद्दशा के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में द्वारावती के राजा अन्धकवृष्णि तथा रानी धारिणी के पुत्र गौतमकुमार का चरित वर्णित है। ग्रंथ के तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में गजसुकुमाल की कथा दी गई है।

प्रश्नव्याकरण जैनियों का दशम मंत्र ग्रंथ है। इसकी विषयवस्तु दो द्वारों, आस्रव और सम्वर में विभाजित है। प्रत्येक द्वार में पाँच अध्ययन हैं। 'आस्रव' के रूपकात्मक स्वरूप में आत्मारूपी सरोवर में जलस्वरूप कर्मों का आगमन होता है। प्राणी की कुत्सित वृत्तियाँ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह—आस्रव के पाँच द्वार हैं। सम्वर में आस्रव के विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्म द्वारों से आत्मारूपी सरोवर में कर्मजल के आगमन को रोका जाता है।

प्रश्नव्याकरण में आस्रव द्वार के चतुर्थ अध्ययन में कृष्णचरित का वर्णन हुआ है। इसके छठे सूत्र में कृष्ण का अर्द्ध-चक्रवर्ती राजसी रूप, उनकी रानियों, पुत्रों और अन्य परिजनों का वर्णन है। सातवें सूत्र में कृष्ण के असुर संहारक रूप का निरूपण हुआ है जिसमें उन्हें चाणूर मल्ल, रिष्ट बैल और विषैले कालिय नाग का हन्ता कहा गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के पौरुष का निरूपण करते हुए उन्हें यमलार्जुन को मारने वाला, महाशकुनि और पूतना का शत्रु, कंस-मर्दक, राजगृह का अधिपति और वीर राजा जरासंध को नष्ट करने वाला बताया गया है। इस सूत्र में कृष्ण के उदात्त गुणों का निरूपण हुआ है। आठवें सूत्र में कृष्ण के शस्त्रास्त्रों और उनके श्रेष्ठ लक्षणों का वर्णन है।

निरयावलिका पाँच वर्गों, तदन्तर पाँच उपांगों में विभाजित जैन आगमिक कृति है। 'निरयावलिका' अन्तकृद्दशांग का, कल्पावतंसिका अनुत्तरोपदातिक का, पुष्पिता प्रश्नव्याकरण का, पुष्पचूलिका विपालसूत्र का एवं वृष्णिदशा पृष्टि वाछांग का उपांग है। निरयावलिका के पाँचवें वर्ग वृष्णिदशा के प्रथम अध्ययन में निषधकुमार का चरित वर्णित हुआ है। जो कृष्ण के बड़े भाई राजा बलदेव और रानी रेवती के पुत्र थे। निषधकुमार ने भी अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ली थी। निरयावलिका में द्वारावती नगरी और उसके कृष्ण वासुदेव के माहात्म्य का भी वर्णन हुआ है। इसमें अर्हत अरिष्टनेमि और कृष्ण के परस्पर सम्बन्धों की व्यंजक घटनाओं के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं।

उत्तराध्ययन जैन परम्परा में मूल सूत्रों के रूप में मान्य है। कुल 36 अध्ययनों में विभाजित इस कृति के बाईसवें अध्ययन में नेमिनाथ चरित वर्णित है। इस अध्ययन की गाथा 1, 2, 3, 6, 8, 10, 11, 25 और 27 में कृष्ण सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन में कृष्ण के व्यक्तित्व और कृष्ण कथा के जिन प्रसंगों का वर्णन मिलता है, वे इस प्रकार हैं—कृष्ण के माता-पिता और जन्मस्थान, कृष्ण की वासुदेव रूप में स्वीकृति, नेमिनाथ के लिए राजीयती की याचना, कृष्ण द्वारा नेमिकुमार का विवाहोत्सव आयोजन तथा नेमिकुमार के प्रव्रजित होने पर कृष्ण का आशीर्वाद देकर तथा अर्हत अरिष्टनेमि की वन्दना कर द्वारावती लौट आना।

जैन आगमिक कृतियों में कृष्ण का व्यक्तित्व और कृष्ण कथा के विविध प्रसंग सर्वथा निरपेक्ष नहीं कहे जा सकते। इनमें निरूपित कृष्ण कथा के विविध प्रसंग, जैन दर्शन और उसके उदात्त चरित्रों, विशेषकर अर्हत अरिष्टनेमि के व्यक्तित्व के व्यंजक कथा प्रसंगों से सम्पृक्त हैं। अतः जैन आगम ग्रंथों में कृष्णचरित का विशृंखलित रूप ही मिलता है। उनके आधार पर उसका क्रमिक विकास निरूपित कर पाना कठिन है।

(ख) आगमेतर साहित्य

आगमेतर कृष्णपरक जैन साहित्य आगम साहित्य का परवर्ती है। इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा उसकी परवर्ती तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि देश भाषाओं में हुई है। आगमेतर जैन ग्रंथों में कृष्ण को अत्यन्त शुभ्र, धवल, करुणाशील और धर्मनिष्ठ पराक्रमी पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। चूँकि आगमेतर जैन कृष्ण साहित्य का आधार आगम साहित्य ही है, अतः दोनों में वर्णित कृष्ण कथा के विविध प्रसंगों में पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। परन्तु आगमेतर जैन रचनाओं में कृष्णचरित को सुसम्बद्ध रूप में वर्णित करने की प्रवृत्ति पल्लवित हुई है।

आगमेतर जैन साहित्य में कृष्णचरित का वर्णन करने वाली कृतियाँ दो प्रकार की हैं। प्रथम वर्ग की कृतियाँ श्रेष्ठ शलाकापुरुषों के चरित्र वर्णन से सम्बद्ध हैं जो 'चरित' और 'पुराण' संज्ञक हैं। यह उल्लेखनीय है कि कृष्णचरित का वर्णन करने वाली आगमेतर कृतियाँ अधिकतर दिगम्बर जैन कवियों के द्वारा रची गयी हैं। हरिवंशपुराण नाम से मिलने

वाली कृतियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इन कृतियों में शलाकापुरुषों और महान चरित्रों के वर्णन-क्रम में कृष्णचरित का भी अंकन हुआ है। द्वितीय वर्ग की आगमेतर जैन रचनाओं में कृष्णचरित अर्हत अरिष्टनेमि, गज, सुकुमाल, पाण्डव, प्रद्युम्न आदि से सम्बद्ध है। इनमें द्वारावती के शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ अधिपति के रूप में कृष्ण का चरित्र उद्घाटित हुआ है। इस वर्ग की रचनाएँ सीमित कथानकों पर आधारित होने के कारण प्रथम वर्ग की कृतियों की तुलना में आकार में छोटी हैं। इस प्रकार उक्त वर्गों की आगमेतर जैन कृतियों में वर्णित कृष्णचरित पूर्ण अथवा आनुषांगिक दोनों ही रूपों में निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। 'हरिवंशपुराण' संज्ञक कृतियों तक में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी की आगमेतर जैन कृतियों में कृष्णचरित का ग्रहण इसी रूप में हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि आगमेतर जैन कृष्ण साहित्य में पाण्डव कथा के वर्णन में रचनाकारों ने महाभारत और जैन स्रोतों से प्राप्त कथाओं का मिश्रण कर दिया है। इन रचनाओं में निर्माताओं का जैन संस्कार प्रखर है तथा कृष्ण का चरित्र जैन धर्म की वासुदेव की धारणा के अनुरूप है। इनमें कृष्ण कथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से जैन सिद्धांतानुकूल जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित करना रचनाकारों का उद्देश्य रहा है।

कृष्णचरित विषयक आगमेतर साहित्य की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। इस वर्ग की अनेक रचनाएँ जहाँ ज्ञात हैं, वहीं अप्राप्य रचनाएँ भी खोज-रिपोर्टों और जैन ग्रंथों में बहुत बड़ी संख्या में संदर्भित हुई हैं। यहाँ कृष्णचरित परक सभी आगमेतर रचनाकारों की सूचना दे पाना न तो सम्भव ही है और न ही प्रयोजनीय ही। नीचे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में रचित कृष्णचरित विषयक प्रमुख आगमेतर रचनाओं की रचनाकारों के नाम निर्देश सहित सूची प्रस्तुत की जा रही है।

यह सूची डॉ. महावीर कोटिया की पुस्तक 'जैन साहित्य में कृष्ण' और श्री राजेन्द्रमुनि जैन के शोध प्रबन्ध 'जैन परम्परा में श्रीकृष्ण साहित्य' के आधार पर तैयार की गई है।

प्राकृत रचनाएँ—वसुदेव हिन्डी (संघदास गणि, 5वीं शती ई.), चउघन महापुरिस चरिय (आचार्य शिलांग, 868 ई.), भव-भावना (आचार्य हेमेन्द्र सूरि, 1123 ई.), चउपन्न महापुरिस चरिय (आम्रकवि, 1133 ई.), उपदेशमाला प्रकरण (आचार्य मल्लधारी, अज्ञात), कुमारपाल पडिबोह (सोमप्रभ सूरि, 1184 ई.), कण्ह चरिय (देवेन्द्र सूरि, 13वीं शती ई.)।

संस्कृत रचनाएँ—हरिवंश पुराण (जिनसेन, 783 ई.), महापुराण (उत्तरपुराण, जिनसेन व गुणभद्र 853 ई.), महापुराण (मल्लिषेण सूरि, 912 ई.), प्रद्युम्न चरित (महासेन सूरि, 974 ई.), अरिष्टनेमि चरित (रत्नप्रभ सूरि, 1166 ई.), नेमि निर्वाण काव्यम् (वागा भट्ट प्रथम 1171 ई.), पाण्डव चरित (देवेन्द्रप्रभ सूरि, 1200 ई.), पाण्डव चरित (देवप्रभ सूरि, 1213 ई.), त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित (हेमचन्द्र, 1228 ई.), नरनारायणनन्द महाकाव्यम् (वस्तुपाल, 1230 ई.), नेमिनाथ चरित (उदयप्रभ सूरि, 1238 ई.), नेमिदूत (विक्रम, 13वीं शती), हरिवंशपुराण (भट्टारक सकलकीर्ति, 14वीं शती), प्रद्युम्न चरित (सोमकीर्ति, 1473 ई.), पाण्डव पुराण (रामचन्द्र, 1503 ई.), नेमिनाथ पुराण (ब्रह्मनेमिदत्त, 1518 ई.), पाण्डव पुराण (शुभचन्द्र, 1551 ई.), प्रद्युम्न चरित (रवि सागर, 1588 ई.), पाण्डव पुराण (भट्टारक वाद्रि चन्द्र, 1597 ई.), पाण्डव पुराण (श्री भूषण, 1600 ई.), नेमिनाथ चरित (गुण विजय, 1611 ई.), अरिष्टनेमि चरित (विजय मणि, 1611 ई.), प्रद्युम्न चरित (रतनचन्द्र, 1614 ई.), हरिवंश पुराण (कीर्ति भट्टारक, 1614 ई.), हरिवंश पुराण (भट्टारक यशकीर्ति, 1614 ई.), हरिवंश पुराण (भट्टारक श्रीभूषण, 1614 ई.), हरिवंश पुराण (ब्रह्मनेमिदत्त, 1617 ई.), नेमिनाथ चरित (कीर्तिराज, 1638 ई.), प्रद्युम्न चरित (मल्लि भूषण, 17वीं शती ई.), सप्तसन्धान काव्यम् (मेघविजय उपाध्याय, 1703 ई.), लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित (मेघविजय, 1752 ई.), प्रद्युम्न चरित (रत्नचन्द्र गणि, 1877 ई.)

अपभ्रंश रचनाएँ—रिट्ठनेमि चरिउ (स्वयंभू, 8वीं शती ई.), तिसट्ठि- महापुरिसगुणालंकार (पुष्पदंत, 959-965 ई.), हरिवंश पुराण (धवल, 11वीं शती ई.), नेमिनाह चरिउ (हरिभद्र, 1160 ई.), णेमिणाह चरिउ (दामोदर, 1230 ई.), पज्जुण चरिउ (कवि सिंह, 13वीं शती ई.), पाण्डव पुराण (यशकीर्ति, 1440 ई.), हरिवंश पुराण (श्रुति कीर्ति, 15वीं शती ई.), णेमिणाह चरिउ (लखनदेव, 15वीं शती ई.), णेमिणाह चरिउ (रइधू, 16वीं शती ई.)।

हिन्दी रचनाएँ—नेमिनाथ रास (सुमतिगण, 1268 ई.), गजसुकुमालरास (कवि देल्हण (देवेन्द्र सूरि, 13वीं शती ई.), प्रद्युम्न चरित (कवि सुधारु 1354 ई.), रंगसागर नेमि फागु (सोमसुन्दर सूरि, 1426 ई.), संरंगामिथनेमि फागु (धनदेव गणि, 1445 ई.), हरिवंश पुराण (ब्रह्मजिनदास, 1463 ई.), नेमिनाथ फागु (जयशेखर सूरि, 15वीं शती ई.), बलभद्र चौपई (कवि यशोधर, 1528 ई.), नेमिनाथ रास (मुनि पुण्य रत्न, 1529 ई.), नेमिश्वर रास (ब्रह्मराय मल, 1558 ई.), प्रद्युम्न रासो (ब्रह्मराय मल, 1573 ई.), नेमिश्वर की बेलि (कवि ठाकुरसी, 16वीं शती ई.), बलभद्रबेलि (कवि सालिग, 1612 ई.), नेमिश्वरचंद्रायण (नरेन्द्र कीर्ति, 1633 ई.), नेमिनाथ रास (कनक कीर्ति, 1635 ई.), नेमिनाथ रास (मुनि केसर सागर, 1635 ई. प्रतिलिपि), हरिवंश पुराण (शालिवाहन, 1638 ई.), प्रद्युम्न प्रबन्ध (देवेन्द्र कीर्ति, 1665 ई.), पाण्डव पुराण (बुलाकीदास, 1697 ई.), नेमिश्वर रास (नेमिचंद, 1712 ई.), हरिवंश पुराण (खुशालचंद काला, 1732 ई.), उत्तरपुराण (खुशालचंद काला, 1732 ई.), नेमिनाथ चरित (अजयराज पाटनी, 1736 ई.), नेमिनाथ चरित (जयमल, 1757 ई.), नेमिनाथ रास (रतनमुनि, 1767 ई.), नेमिनाथ रास (विजयदेव सूरि, 1769 ई.), नेमिचन्द्रिका (मनरंगलाल पल्लीवाल, 1823 ई.), प्रद्युम्न चरित (मन्ना लाल, 1844 ई.), कृष्ण की रिद्धि (बुद्धमल, 1844 ई.)।

इनके अतिरिक्त कृष्णचरित विषयक अन्य रचनाएँ जैन ग्रंथागारों में सुरक्षित हैं, परन्तु प्रामाणिक सूचनाओं के अभाव में उनके सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है। (साभार :- भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण: सं. प्रो. भगवती प्रसाद सिंह)

कृष्णादासी

कृष्णादासी वल्लभ सम्प्रदाय की श्रेष्ठ भक्त मानी जाती हैं। इनका जन्म सन् 1520 ई. के लगभग पटना (बिहार) के एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री हरिवंश पाठक था। बाल्यावस्था में जब वे अपनी माँ के साथ गंगा स्नान हेतु गंगातट पर गईं तो तीव्र वर्षा होने के कारण गंगा का किनारा टूट गया और कृष्णा तथा उनकी माँ दोनों ही गंगा की तेज धारा में बह निकलीं। कृष्णा की माँ का तो नदी में गिरते ही देहान्त हो गया परन्तु कृष्णा बहते-बहते प्रयाग के निकट अड़ैल नामक ग्राम के निकट पहुंच गईं। महाप्रभु जी वहाँ पर संध्या-वंदन कर रहे थे। श्री कृष्णदास अधिकारी इन्हें पानी से निकालकर महाप्रभु के पास ले आए। आचार्य जी के उपचार करने के पश्चात इन्हें 'श्री कृष्ण: शरणम् मम्' अष्टाक्षर मंत्र प्रदान कर इनके घर का पता पूछकर पटना भिजवा दिया।

10 वर्ष की अवस्था में ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पास गयीं और वहाँ दिन-रात गोसाईं जी पत्नी के काम-काज में हाथ बँटवाती थीं। उन्होंने अपना सारा जीवन गोसाईं जी की सेवा में व्यतीत कर दिया। [जि०कु०]

कृष्णाह्निक कौमुदी

इसमें राधामोहन की अष्टकालीन लीलाओं की आकर्षक शैली में प्रस्तुति हुई है। इसके प्रतिपादित विषय 6 प्रकाशों में विभक्त हैं। इन प्रकाशों में ईश-कृष्ण की विभिन्न काल की लीलाओं का कालक्रमानुसार विश्लेषण है। किशोरी जी तथा प्रभु कृष्ण के जागरण से प्रारम्भ होने वाली निशान्त लीला का सम्बन्ध प्रथम प्रकाश से है। राधाकृष्ण की प्रात: लीला का अंकन द्वितीय प्रकाश में हुआ है। पूर्वाह्न लीला, तृतीय प्रकाश में प्रकाशित है। मध्याह्न लीला चतुर्थ प्रकाश से सम्बद्ध है। ईश श्यामसुन्दर एवं राधिका और गोपांगनाओं की रत्यात्मक लीला इस प्रकाश का प्रतिपाद्य है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सौन्दर्य, राधा अभिसार एवं इतरान्य लीलाओं का चित्रण है। अपराह्न तथा सायंकालिक

लीलाओं का गुम्फन पंचम प्रकाश में है। अपराह्ण काल में श्रीकृष्ण के गृह आगमन से इस प्रकाश का प्रारम्भ होता है। भगवान श्रीकृष्ण के वस्त्र परिवर्तन, शरीर-मर्दन, स्नान, संध्या-भोजन, गोशाला गमन और शयनागार आगमन आदि की लीलाएँ इसमें वर्णित हुई हैं। प्रदोष लीला का अधिग्रहण षष्ठ प्रकाश में हुआ है। यहाँ की नैश-लीला में प्रभुकृष्ण एवं राधारानी की रतिक्रीड़ा निबद्ध है। [क०उ०]

कृष्णाश्रयः

इसमें ग्यारह श्लोक हैं। इसमें वल्लभ ने कलियुग का चित्र खींचा है। इस कलियुग में काल, प्रदेश, वित्त, धर्म, व्यक्ति और समाज सभी कुछ भ्रष्ट और दोषग्रस्त हो गये हैं। किसी क्रिया, किसी अनुष्ठान की पवित्रता सुरक्षित नहीं रही। इस दुर्दशा में एकमात्र श्रीकृष्ण ही सर्वदोषविनिर्मुक्त और प्रभु होने से जीव के एकमात्र आश्रय हैं। [क०उ०]

कृष्णोपनिषद्

इस उपनिषद् का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ ''ॐ भद्रं कर्णेभिः'' इस शान्ति पाठ से होता है। इस उपनिषद् में पच्चीस श्लोक हैं। उपनिषद् का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

यो राम कृष्णतामेत्य सार्वात्म्यं प्राप्य लीलया।
अतोषयद्देवमौनिपटलं तं नतोऽस्म्यहम्॥

इस उपनिषद् में भगवान श्रीकृष्ण के परिवारों के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं का अवतरण और श्रीकृष्ण के साथ उनकी एकरूपता का वर्णन किया है। कृष्णावतार से पूर्व भगवान ने समस्त देवताओं से धरती पर अवतरित होने के लिए कहा तो जन्म लेने से भयभीत हुए देवताओं ने एक साथ मिलकर भगवान से निवेदन किया—''हे भगवन! हम देवता होकर पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करें, यह हमारे लिए अत्यधिक निन्दा की बात है। हम अपनी इच्छा से तो धरती पर जन्म नहीं ले सकते, पर यदि आपकी आज्ञा है तो इसलिए हमें वहाँ जन्म लेना पड़ेगा। तथापि हमारी आपसे एक प्रार्थना है कि हमें गोप (गँवार मनुष्य) तथा स्त्री के रूप में वहाँ उत्पन्न न करें। जिसे आपके अंग के स्पर्श से वंचित रहना पड़ता हो, ऐसा आपके सान्निध्य से दूर रहने वाला मनुष्य हममें से बनकर कोई भी शरीर धारण नहीं करेगा, हमें सदा अपने अंगों के स्पर्श का अवसर अवश्य दें, तभी हम धरती पर जन्म लेंगे।'' रुद्र आदि देवों का परम स्नेह से पूर्ण इस वचन को सुनकर स्वयं भगवान ने कहा—''देवताओ! मैं आप सभी को अपने अंग स्पर्श का अवसर दूँगा। तुम्हारे वचनों को पूर्ण अवश्य करूँगा।''

भगवान का यह आश्वासन पाकर सभी देवता अत्यधिक प्रसन्न हुए और बोले—''अब हम सभी कृतार्थ हो गये।'' इसके बाद सभी भगवान की सेवा के लिए प्रकट हुए। भगवान का परमानन्दमय अंश नन्दरायजी के रूप में प्रकट हुआ। नन्दरानी यशोदा के रूप में अवतरित हुईं, सुप्रसिद्ध माया सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की बतायी गयी हैं। सात्त्विकी माया भगवान के भक्त श्री रुद्रदेव हैं, ब्रह्माजी में राजसी माया है और दैत्यवर्ग में तामसी माया का आविर्भाव हुआ है। इससे भिन्न जो वैष्णवी माया है, जिसको जीतना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है, जिसे पूर्वकाल में ब्रह्माजी भी पराजित नहीं कर सके और देवता भी सदा जिनकी स्तुति करते हैं ब्रह्मविद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी के रूप में प्रकट हुई। सदा नारायण का चिन्तन स्तवन करने वाले निगम (वेद) ही वसुदेव हैं, जो मुझ नारायण के स्वरूप का स्तवन करते हैं। वेद की ऋचाएँ ही श्रीकृष्ण की गाएँ और गोपिकाएँ हैं। ब्रह्मा लकुटी और रुद्र वंश अर्थात् वंशी बने हुए हैं। देवराज इन्द्र सिंगा (शृंग) बने हुए हैं, साक्षात् वैकुण्ठ के रूप में गोकुल नामक वन है। वृक्षों के रूप

में तपस्वी सन्त-महात्मा हैं। लोभ, क्रोध आदि ने दैत्यों का रूप धारण किया है जो कलियुग में भगवान के नाम लेने मात्र से नष्ट हो जाते हैं।

स्वयं गोप के रूप में भगवान लीलाविग्रह धारण किये हुए हैं। बलराम के रूप में शेष हैं और स्वयं सनातन ब्रह्म कृष्ण बने हैं। सोलह हजार एक सौ आठ रूक्मणि आदि भगवान की रानियाँ वेद की ऋचाएँ तथा उपनिषद् हैं। इन सबके अतिरिक्त जो वेदों की ब्रह्मरूपा ऋचाएँ हैं उन्होंने गोपियों के रूप में अवतार लिया है। द्वेष चाणूर मल्ल है और मत्सर दुर्जय मुष्टिक है और दर्प ही कुवलयापीड़ हस्ति है। बकासुर गर्व के रूप में है। साक्षात् दया रोहिणी माता के रूप में अवतरित हुई है। पृथ्वी माता ही साक्षात भामा बनी हुई हैं। अघासुर महाव्याधि है। कलि के रूप में राजा कंस है। शम की मूर्ति सुदामा हैं, सत्य के रूप में अक्रूर हैं, शंख विष्णु हैं और लक्ष्मी का भाई होने से लक्ष्मी रूप ही है। दुग्ध-दधि के भाण्डों को भगवान श्रीकृष्ण ने फोड़ा और उनसे दूध-दही जो प्रवाहित हुआ मानो साक्षात् क्षीरसागर को उन्होंने प्रकट किया है। उस महासमुद्र में स्वयं बालरूप में भगवान क्रीड़ा कर रहे हैं। शिव ने भगवान कृष्ण के लिए सुदर्शन चक्र को प्रकट किया है। यह ब्रह्मस्वरूप चक्र हाथ में सुशोभित है।

व्यास एवं वाल्मीकि आदि ने गुणी महात्मा-देवताओं के जितने भी स्वरूप बताये हैं और जिन-जिन लोगों को वेदस्वरूप समझकर नमन करते हैं, वे सभी देव भगवान श्रीकृष्ण के ही आश्रित हैं। भगवान के हाथ की गदा समस्त शत्रुओं की विनाशक साक्षात काली का रूप है। वैष्णवी माया ने शार्ङ्गधनुष के रूप में अवतार लिया है और प्राण संहारक काल ही उनका बाण है। गरुड़ ने भाण्डीरवट का रूप धारण किया और नारद मुनि सुदामा के रूप में भगवान कृष्ण के मित्र बने हैं। भक्ति ने वृन्दा का रूप धारण किया है। समस्त जीवों को प्रकाश देने वाली जो बुद्धि है, वही भगवान की क्रिया शक्ति है, इसलिए गोप-गोपी भगवान से भिन्न नहीं हैं और न ही विभु (परमात्मा) से भिन्न हैं। श्रीकृष्ण ने स्वर्गवासियों को तथा समस्त वैकुण्ठ धाम को भूतल पर उतार लिया है।

इस प्रकार ज्ञान रखने वाला मनुष्य समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त करता है और अन्त में इस शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह कृष्णोपनिषद् है। [वि०]

केन उपनिषद्

मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने ब्रह्म का साक्षात्कार करके ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लिया, उन्हीं की वाणी वेद और उपनिषद् हैं। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ही एक अध्याय है तो केन उपनिषद् सामवेद के एक ब्राह्मण तवलकार का नवम् अध्याय है। अतः इसे 'तवलकार' और 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। ईश उपनिषद् के बाद मुख्य उपनिषदों में केन उपनिषद् की मान्यता है। केन उपनिषद् का अवलोकन करने पर इसमें ऐसा कोई भी पद देखने को नहीं मिलता जिससे यह समझा जा सके कि यह विद्या सबके लिए नहीं है। प्रत्युत यह मनुष्य मात्र के हितार्थ है। इस बात का ज्ञान ऋषि के वाक्य से होता है—जिसमें कहा गया है-यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तो ठीक है, किंतु यदि उसे इस जन्म में भी नहीं जाना तो बहुत बड़ी हानि है। जो बुद्धिमान और धैर्यवान होते हैं उस (ब्रह्म) को प्रत्येक भूत में देखकर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि उपनिषद् के वक्ता ने यह कथन उस समय किया है जब उन्होंने ब्रह्मस्वरूप का निरूपण समाप्त कर दिया। यह वाक्य उपसंहार रूप है, ऐसा कह सकते हैं। सत्य ब्रह्म को जानने के बाद यह सत्य या ब्रह्म इतना ही है, नहीं कहा जा सकता, सत्य ब्रह्म की व्यापकता इसके अविनाशी अर्थ में छिपी है। परब्रह्म ज्ञान को पाने की सामर्थ्य सभी मनुष्यों में होना आवश्यक है। इसके अनुसार शिष्य को ब्रह्मस्वरूप बताने के उपरांत उसके ब्रह्म ज्ञान की परीक्षा लेने के लिए गुरु कहता है कि यदि तू समझता है कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्म का थोड़ा-सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप तू जानता है और इसका जो रूप देवताओं को विदित है (वह भी थोड़ा ही

है)। इसलिए तुम्हारे लिए ब्रह्म का रूप विचारणीय ही है यानी अभी उसे अच्छी तरह नहीं जानता है। गुरु के कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान होने पर उसके स्वरूप को यथावत् बताना असंभव है, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है, अनुभवगम्य और अनिर्वचनीय है।

केन उपनिषद् में बुद्धिमत्ता के साथ परब्रह्म के स्वरूप का विरोधाभासात्मक वर्णन इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए किया गया है कि पूर्ण परब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव पर ही निर्भर है। 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' अर्थात् जानने का अभिमान नहीं है, उनका (वह ब्रह्मतत्त्व) जाना हुआ है अर्थात् उनके लिए वह परोक्ष है। आचार्य शंकर कहते हैं कि "वह ब्रह्म जाने हुए से भी अन्य है तथा बिना जाने हुए से भी परे है।" विदित से अन्य एवं अविदित से भी ऊपर उस परमेश्वर का साक्षात्कार उन्हीं भाग्यवानों को होता है, जिनमें जानने का अभिमान किंचित भी नहीं रह गया है।

केन उपनिषद् का उपदेश है कि—प्रतिबोधिविदितं मतममृतम् हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।' जो प्रत्येक बोध (संकेत में प्रत्यगात्म रूप से जाना गया है, वही ब्रह्म है। यही उसका ज्ञान है, क्योंकि उस ब्रह्मज्ञान से अमृत्व की प्राप्ति होती है। परमात्मा का ज्ञान कराने की यह जो ज्ञानरूपी शक्ति है वह मनुष्य को अन्तर्यामी परमात्मा से ही मिलती है। जिस समय साधक को 'ब्रह्मात्मैक्य' का अनुभव हो जाता है, तब वही साधक प्रतिबुद्ध कहलाता है। केन उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में अगणित बार अनेकशः परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन उपलब्ध है। केन उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का अध्ययन और विचार, अपने आप में परिपूर्ण है।

इस उपनिषद् के तृतीय खंड का आरंभ ऐसी आख्यायिका से होता है जिसके आदि का कोई पता नहीं। इस उपनिषद् के पहले और दूसरे खंड में शुद्ध निर्गुण ब्रह्म का निरूपण पद्यात्मक है। इसी ब्रह्म का स्वरूप वर्णन तीसरे और चौथे खंड में गद्य में है। ब्रह्मविद्या का साक्षात्कार होने तक केनोपनिषद् का तीसरा खंड समाप्त होता है और चतुर्थ खंड के आरंभ में इंद्र के प्रश्न के उत्तर में उमा इंद्र को निमित्त बनाकर समस्त मानव जाति की आँखें खोल देती हैं।

उपनिषद् का यहाँ अभिप्राय यह है अग्नि, वायु तथा अन्य सब के देवता भले ही कम शक्ति वाले हों या फिर बहुत अधिक शक्ति संपन्न हों, तो भी वे तिनके के समान हैं। सारी की सारी शक्ति तो परमेश्वर की है जिसकी शक्ति से सभी भूत शक्तिवान बने हुए हैं। उस अचिन्त्य शक्ति से इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि सारी क्रियायें हैं। इस जगत में जो कुछ विभूतिमान है, उसी की महिमा है। [वि०श०]

केवलराम

केवलराम जी गोस्वामी तुलसीदास जी (लालजी) के पौत्र तथा गोस्वामी मथुरानाथ जी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् 1674 चैत्र शुक्ल एकादशी को रामनवमी के उत्सव के उपरान्त हुआ था। इसीलिए इनका नाम केवलराम रखा गया। नाभादास जी के भक्तमाल के छप्पय 43 में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।

इनका विवाह रूक्मिणी नामक कन्या से हुआ था। इनके दो पुत्र गोस्वामी मदनमोहन तथा गोस्वामी जगन्नाथ थे। इनके छोटे पुत्र जगन्नाथ की मृत्यु इनके सामने ही हो गई थी। उनकी विधवा पत्नी सुखनबाई को इन्होंने वृन्दावन भेज कर भजन करने का निर्देश दिया। वह गली भी सुक्खन माता की गली के नाम से प्रसिद्ध है। अपने बड़े भाई गोकुलनाथ की मृत्यु के बाद इन्होंने आचार्य पद ग्रहण नहीं किया। अपने भतीजे को आचार्यत्व ग्रहण कराया। उसकी अकाल मृत्यु के बाद अपने पुत्र गोस्वामी मदनमोहन को आचार्य पद ग्रहण करने का आदेश दिया।

बाद में ये सिन्धु नदी के तटीय क्षेत्र में 'विलोट' नामक स्थान पर एकान्त में साधना करने चले गये। वहाँ पर एक 'ईशा शाह' नाम का फकीर रहता था। उसको इन्होंने कई चमत्कार दिखाये जिससे प्रभावित होकर उस फकीर ने इनसे आशीर्वाद देने की विनती की। इनके आशीर्वाद से उसके सन्तान हुई। इस घटना के बाद हिन्दू-मुसलमान

सभी इन्हें 'सती बोहड़ी वाला' के नाम से जानने लगे। इनका तिरोधान संवत् 1733 से 1740 के मध्य कभी हुआ था। इनकी समाधि पर आज भी पाकिस्तान में मेला लगता है।

इन्होंने केवल, केवलजन, केवलराम उपनाम से रचनाएँ की हैं। इनकी 21 रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-नारायण स्तोत्र, प्रिया-प्रीतम विवाह, लाल पचीसी, लाल शतक, मुल्तानी मांझ, प्रेम मंजरी, रसमंजरी, सार पचीसी, बारहमासा, मानलीला, दानलीला, प्रेम परीक्षा, स्नेहसागर, रत्नसागर, ज्ञानदीपक, उत्सव मालिका, जोगलीला, ब्याहलीला, लीला सम्बन्धी फुटकर पद, मान सम्बन्धी फुटकर पद एवं मथुरानाथ जी की स्तुति इत्यादि। [वं०तै०]

केशव देवाचार्य

निम्बार्क सम्प्रदाय में केशवदेवाचार्य जी श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी के द्वादश शिष्यों में से थे। इन द्वादश शिष्यों ने अपनी आत्मशक्ति और विद्याशक्ति से समस्त भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार किया और विधर्मियों को नीचा दिखाकर धर्म की रक्षा की। इनके नाम पर कभी द्वारे हुआ करते थे किन्तु अब वे विलुप्त हो गये हैं।

श्रीकेशव देवाचार्य का नाम केशव विभानी भी प्रसिद्ध है। हरियाणा में विभानी नामक स्थान पर इनका कभी द्वार रहा होगा। इनके बारे में भी कुछ खास पता नहीं चल पाया है। न तो इनके जन्म के बारे में पता चल पाया है और न मृत्यु के बारे में। करीब-करीब इनकी परम्परा भी लुप्त हो गयी है। [शै०च०]

केशव भट्टाचार्य

परम शरणागत प्रतिपालक त्रैलोक्य वंदित भगवान केशव के तुल्य ही श्रीकेशव भट्टाचार्य जी की कीर्ति थी। श्री केशव भट्टाचार्य जी निंबार्क पीठ के 27वें पीठासीन आचार्य थे। इनका स्वभाव इतना सरल था कि शरणागतजनों के त्रिविध तापों का शमन करना ही मानो इनका धर्म था। इन्हें स्वयं भगवान केशव का अंशावतार माना जाता है। इनका पाटोत्सव चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

कोसीकलां के हिन्दू धार्मिक स्थल

कोकिलावन बिहारी मंदिर—कोकिलावन कोसी नगर से नंदगाँव जाने वाली सड़क पर 6 कि.मी. दूरी पर जाव (जावक) गाँव के सामने से 2 कि.मी. पश्चिम की ओर स्थित है। ब्रज क्षेत्र के वनों के नाम तथा संख्या के बारे में भिन्न उल्लेख मिलते हैं। 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' में तथा 'ब्रज भक्ति विलास' के अनुसार कोकिलावन की गणना उपवनों में की गई है। ब्रज की वन परंपरा में कोकिलावन भगवान श्रीकृष्ण-राधा की लीलास्थली के रूप में प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि पूर्वकाल में यह वन सदाबहार, सुगंधित वृक्षों से सुशोभित था तथा इसमें अनेक प्रकार के पक्षी स्वतंत्र कलरव करते रहते थे। इसी वन में श्रीकृष्ण कोयल बनकर मधुर आवाज में अपनी आल्हादिनी श्रीराधा जी को लीला करने के लिए पुकारते थे। इसीलिए इस वन का नाम कोकिलावन पड़ गया। इसकी परिक्रमा 3 कि.मी. की है।

कोकिलावन के मध्य में श्री कोकिलावन बिहारी जी का मंदिर स्थित है। छत्तीसगढ़ शैली में बने इस मंदिर के बारे में बताया जाता है कि मंदिर का निर्माण भरतपुर नरेश के राजपुरोहित पं. रूपराम कटारा जी ने कराया था। यह मंदिर निंबार्क संप्रदाय का प्रमुख स्थान है। वर्तमान में इस मंदिर का जीर्णोद्धार महंत श्री प्रेमदास जी महाराज ने कुछ साल पहले कराया था। मंदिर के अंतर्गत श्रीराधाकृष्ण बिहारी जी, गोपाल जी तथा शालिगराम जी विराजमान हैं। बिहारी जी की दायीं ओर माँ दुर्गा जी तथा बायीं ओर नृसिंह जी, प्रहलाद जी तथा कपिल देव जी विराजमान हैं। बिहारी जी मंदिर

से थोड़ी दूर पर पूर्व दिशा में बिहारी जी का बगीचा लगभग एक हेक्टयर क्षेत्रफल में फैला है। बिहारी जी मंदिर के समीप श्री नागा जी की गद्दी मौजूद है। मंदिर के प्रवेश द्वार के पास श्री महंतजी की गद्दी है।

रत्नाकर कुंड—श्रीबिहारी जी मंदिर से दक्षिण की ओर लगभग 50 गज दूरी पर यह कुंड स्थित है। प्राचीनकाल में इस कुंड को कृष्ण कुंड भी कहते थे। इस कुंड का निर्माण श्रीकृष्ण ने स्वयं किया था। किंवदंती है कि ओरछा नरेश वीरसिंह बुंदेला निसंतान थे। पुत्र प्राप्ति की कामना से राजा ने कोकिलावन की परिक्रमा कर रत्नाकर कुंड में स्नान किया, जिससे उसे पुत्र प्राप्ति हुई। इस खुशी में उसने सरोवर के घाटों को पक्का कराया।

रासमंडल—श्रीबिहारी जी मंदिर के पास रासमंडल बना है। कहा जाता है कि इस रासमंडल पर श्रीकृष्ण राधाजी तथा सखियों सहित रासक्रीड़ा करते थे।

श्रीवल्लभाचार्य जी बैठक—यह बैठक कृष्ण कुंड तट पर स्थित शमी वृक्ष के नीचे श्रीबिहारी जी मंदिर के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित है। यहाँ पर श्री वल्लभाचार्य जी ने एक माह तक श्रीमद्भागवत पारायण किया तथा वैष्णवों को ब्रज जीवन संबंधी ज्ञान कराया। यहाँ प्रतिवर्ष पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के भक्त ब्रज परिक्रमा करते हुए आते हैं तथा गद्दी के दर्शन कर सेवा-पूजा करते हैं। इस गद्दी की पूजा बठैन ग्राम के लोग करते हैं।

सूरज कुंड—बिहारीजी मंदिर से उत्तर दिशा में सूरज कुंड स्थित है। किंवदंती है कि यहाँ सूर्य भगवान ने तपस्या की तथा इस कुंड में ही स्नान करते थे। कहा जाता है कि पहले यह कुंड कच्चा था, बाद में भरतपुर नरेश सूरजमल ने पक्का कराया, जिससे इसका नाम सूरज कुंड हो गया। इसमें स्नान का विशेष महत्व है।

श्री शनिदेव मंदिर-शनिदेव मंदिर कोकिलावन का प्रमुख तीर्थ है। प्रत्येक शनिवार को दूर-दराज क्षेत्रों से लाखों श्रद्धालु कोकिलावन की परिक्रमा कर शनिदेव पर तेल चढ़ाते हैं तथा पूजा करते हैं। कोकिलावन शनिदेव मंदिर के कारण अधिक प्रसिद्ध हो रहा है।

चतुर्भुज मंदिर—छाता (छत्रवन) दिल्ली-आगरा राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर मथुरा दिल्ली की ओर लगभग 33 कि. मी. दूरी पर स्थित है। छाता हरियाणा तथा राजस्थान से लगी सीमाओं पर मथुरा जिला की एक तहसील है। छाता श्रीकृष्ण लीला से संबद्ध एक पौराणिक स्थान है। विवरण मिलता है कि छत्रवन में ग्वाल- बालों द्वारा श्रीकृष्ण को छत्र धारण कराकर ब्रज का राजा घोषित किया था। जिससे यह छत्रवन कहलाया। कालांतर में छत्रवन से छाता नाम हो गया। इसके बारे में एक ऐतिहासिक विवरण भी मिलता है कि शेरशाह सूरी ने लगभग 1540 ई. में छाता में एक विशाल सराय बनाई थी। जिसके दोनों सिरों पर मुख्य दरवाजों (देहली गेट तथा आगरा गेट) पर विशाल छतरियों का निर्माण कराया जिसके कारण छाता नाम पड़ा।

चतुर्भुज मंदिर छाता का प्रमुख मंदिर है तथा कस्बे के मध्य सराय शाही की पूर्वी चारदीवारी से लगा हुआ है। काफी खोज करने के बाद भी इस मंदिर का कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता है। मंदिर के वर्तमान मुख्य पुजारी पंडित श्रीरामजी ने मंदिर का इतिहास बताया। यह मंदिर निंबार्क संप्रदाय से संबंधित है। वर्तमान में छाता कस्बे के 50 ब्राह्मण परिवारों द्वारा क्रमशः पूजा होती है। वर्ष के प्रमुख त्योहारों पर विशेष आयोजन होते हैं। पूर्वकाल में छाता में मिर्धा जाति का वर्चस्व था। मिर्धा जाति के बालकृष्ण मिर्धा जयपुर नरेश के दरबार में दीवान थे। एक बार जयपुर नरेश ने मूर्तिकारों को दो मूर्तियाँ (चतुर्भुजी, द्विभुजी) बनाने का आदेश दिया। सफेद रंग की एक मूर्ति बनकर तैयार हो चुकी थी। इधर बालकृष्ण ने मूर्तिकारों से मूर्ति प्राप्त करने के बारे में गुप्त सलाह की। मूर्तिकारों ने निश्चित अवधि में राजा को मूर्ति सौंपने की बात बताई और कहा यदि समय पर मूर्तियाँ नहीं पहुँचेंगी तो राजा हमें सपरिवार मृत्युदंड देगा। दीवान ने भी निश्चित दिन और मुहूर्त में मूर्ति स्थापन की अपनी समस्या जाहिर की। समय की परिस्थिति को देखते हुए कारीगरों को कुछ प्रलोभन देकर राजा को संतुष्ट करने के लिए राजी कर लिया। अब समस्या थी कि मूर्ति को चोरी-छिपे जयपुर से छाता तक कैसे लाया जाये? क्योंकि उस समय आजकल जैसे यातायात के साधन नहीं थे। योजनानुसार ऊँट गाड़ी

में नीचे घास बिछाकर मूर्ति को रख दिया तथा ऊपर से उसे घास से ढक दिया। टेड़े-मेड़े रास्तों से दिनभर चलकर मूर्ति को छाता लाकर समयानुसार मंदिर में स्थापित कर दिया। उधर किसी जासूस द्वारा राजा को ज्ञात हुआ कि मूर्ति को दीवान जी चोरी-छिपे छाता ले गये हैं। राजा ने दीवान को दरबार में बुलाकर मूर्ति ले जाने के बारे में पूछा तो दीवान ने मूर्ति का ध्यान कर झूठ बोला कि महाराज मैंने कोई मूर्ति नहीं चुराई है। आपको यदि विश्वास नहीं हो तो स्वयं चलकर देख सकते हैं। राजा ने दीवान तथा जासूस को इंगित कर घोषणा की कि दोनों में से जो भी झूठा साबित होगा उसे मृत्युदंड दिया जाएगा। राजा अपने सेवकों के साथ रात्रि समय छाता में आकर ठहर गये। इधर दीवानजी झूठ बोलने के कारण भयभीत थे, लेकिन उसे भगवान पर पूरा भरोसा था। रात्रि के समय दीवान जी उस चतुर्भुजी मूर्ति के सामने अपने तथा परिवार के जीवनदान के लिए करुण याचना करने लगे, लेकिन मूर्ति में कोई हलचल नहीं हुई। दूसरे दिन राजा स्वयं मूर्ति देखने के लिए मंदिर में पहुँचा तो दीवान जी अपना ध्यान उसी मूर्ति में लगाये मन में अपने प्राणों की भीख मांग रहा था। राजा जैसे ही मूर्ति के सामने पहुंचा तो देखा कि चतुर्भुजी मूर्ति पूर्णतः काली है। राजा को विश्वास हो गया कि यह जयपुर वाली मूर्ति नहीं है। वह तो पूरी सफेद रंग की थी। राजा ने दीवान जी को माफ कर दिया तथा जासूस को झूठ बोलने के कारण सपरिवार मृत्युदंड देने की घोषणा की। चतुर्भुजी भगवान के अलौकिक चमत्कार को देखकर भगवान में दीवान जी का विश्वास दृढ़ हो गया। दीवान ने मन में सोचा कि यदि मैं इस भेद को गुप्त रखूँगा तो सत्य बोलने वाला जासूस परिवार मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा, इसका सारा पाप मुझे लगेगा। अतः दीवान ने सारी घटना राजा को बता दी। राजा भी दीवान की निष्ठा तथा चतुर्भुजी भगवान के चमत्कार को देखकर मूर्ति के सामने चरणों में नतमस्तक हो गया तथा जासूस और कारीगरों को क्षमादान दे दिया। पुजारी आज भी इस मूर्ति का चमत्कार देखते हैं। मूर्ति से मुकुट उतारने पर मूर्ति में सफेदाई दिखाई देती है और मुकुट पहनाने पर मूर्ति फिर से काली हो जाती है।

मंदिर निर्माण के बारे में बताया कि जिस समय बादशाह ने शाही सराय का निर्माण कराया उस समय छाता के एक ब्राह्मण ने शुभ मुहूर्त में इसकी नींव रखी थी। नींव रखते समय उस ब्राह्मण ने बादशाह के वजीर से दक्षिणा में यह शर्त रखी थी कि शाही सराय का निर्माण पूरा होने पर जो भवन निर्माण संबंधी सामान शेष रहेगा, उससे मंदिर का निर्माण कराना होगा। तदन्तर जब शाही सराय का निर्माण पूरा हो गया, तब शाही सराय की पूर्वी दिशा में खाली स्थान पर एक मंदिर तथा छाता की वर्तमान सब्जी मंडी के निकट मस्जिद का निर्माण कराया। इन दोनों को बने हुए लगभग 700 वर्ष हो चुके हैं। उसी ब्राह्मण के वंशधर आज तक मंदिर में सेवा-पूजा करते चले आ रहे हैं।

मंदिर के गर्भगृह में अष्टधातु की चतुर्भुजी भगवान की काले रंग की बहुत सुंदर तथा आकर्षक मूर्ति स्थापित है। मूर्ति बहुत वजनदार है। गर्भगृह के दाहिनी ओर हॉल में गणेश, दुर्गा तथा हनुमान जी की मूर्तियाँ हैं। परिक्रमा मार्ग के पश्चिमी कोण पर शनिदेव तथा पूर्व में शिव परिवार के छोटे मंदिर हैं। समय-समय पर श्रद्धालुओं द्वारा प्राचीन जीर्ण मंदिर के स्थान पर नवीन मंदिर का निर्माण करा दिया गया है। यह मंदिर विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है तथा क्षेत्रीयजनों की आस्था का प्रमुख केन्द्र है। चार भुजावारौ मंदिर के नाम से भी इसे बोला जाता है।

पुजारी जी द्वारा मूर्ति संबंधी कथा की यदि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विवेचना करें तो सराय शाही का निर्माण शेरशाह सूरी ने किया था, जिसका शासन काल सन् 1540 से 1545 का निश्चित है। यदि उस समय मंदिर बना है तो आज तक 474 वर्ष होते हैं, पुजारी द्वारा बताया गया समय 700 वर्ष नहीं। दूसरे शेरशाह सूरी के काल में आमेर राज्य था, जयपुर राज्य नहीं था। जयपुर नगर का निर्माण आमेर के राजा सवाई जयसिंह ने सन् 1727-1729 ई. में कराया था। इसके पूर्वज आमेर के राजा मिर्जा कहलाते थे। पूर्व में जयपुर आमेर राज्य के अंतर्गत आता था। इस काल का हिसाब लगाने पर 285 वर्ष होते हैं। इन दोनों कालों में काफी अंतर है। निष्कर्षतः शेरशाह के समय में ही आमेर (जयपुर) के किसी राजा सवाई जयसिंह के पूर्वज द्वारा मूर्ति बनवाई गई होगी। लेकिन मंदिर काफी प्राचीन है।

[म०सिं०य०]

क्रम दीपिका

निम्बार्कीय उपासना की दृष्टि से उक्त श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य विरचित यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अब तक इस पर सात टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। गोपाल मंत्र उपासना का इसमें अधिक विस्तार से एवं प्रामाणिक रूप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। गोपाल कृष्ण के परात्परपत्त्व वर्णन के साथ ही अन्य सिद्धान्त पक्षों का भी उल्लेख इसमें किया गया है। यह ग्रंथ मुद्रित एवं उपलब्ध है। [क०उ०]

ख

खिचरी उत्सव

पौष माह के दौरान आयोजित राधावल्लभ मंदिर का खिचरी महोत्सव स्वयं में अद्‌भुत है। भोर बेला में श्रीविग्रह की विभिन्न स्वरूपों की झाँकियाँ जिनमें कभी शिव का गोपीवेश, कभी बलदाऊ जी तो कभी बाँकेबिहारी बनने की शृंखला मानव मन को विमोहित करने वाली है। हेमन्त ऋतु में खिचरी उत्सव के आयोजन की परंपरा राधावल्लभीय सम्प्रदाय में काफी प्राचीन है। 18वीं शतादी में संत भक्तों द्वारा रचित साहित्य से इस प्राचीन परंपरा के संदर्भ उद्‌घाटित होते हैं। खिचरी महोत्सव ठाकुरजी का प्राचीनतम प्रिय उत्सव है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में खिचरी उत्सव के मनोरथ केवल दर्शन/प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं अपितु लिखित परम्परा के रूप में प्राचीन पाण्डुलिपियों के रूप में विद्यमान खिचरी उत्सव विषयक सैकड़ों पदावलियाँ यहाँ की अपनी विशेषता है। एक उदाहरण-

राधालाल भोर ही जैंवत, खिचरी री! रुचिमान परस्पर।
उनमद प्रेम रसिक दोऊ नागर, ये उनकैं वे इनकैं कर वर॥

[प्र०श०]

ग

गंगा दशहरा

ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को गंगा दशहरा होता है। कृष्ण प्रिया कालिन्दी की भूमि ब्रजमण्डल में गंगा दशहरा का मनोरथ उत्सवधर्मी ब्रज संस्कृति का अपना वैशिष्ट्य है। गोवर्धन की मानसी गंगा सहित वृन्दावन के गंगा मंदिरों में इस उत्सव का उत्साह देखते ही बनता है। वृन्दावन के गंगा मंदिरों में हिम्मत गिरि गुसाईं के गंगा विग्रह सहित पुराने शहर के गंगा मंदिर का नाम उल्लेखनीय है। हिम्मत गिरि बहादुर ब्रिटिशकाल के आरम्भिक दौर में शक्तिशाली योद्धा थे जिनके पास नागा साधुओं की सशस्त्र जमात थी। ये गंगा के उपासक थे। कालांतर में इनकी कुंज के एक हिस्से पर वृन्दावन का प्रसिद्ध शाह जी मंदिर बना। यहाँ हिम्मत गिरि बहादुर की उपास्य गंगा का विग्रह अद्यतन विद्यमान है। दतिया के महाराजा राव पारीछत देव जू महाराज ने अपनी ब्रजयात्रा के दौरान वृन्दावन मुकाम के अवसर पर इनके दर्शन किये थे जिसका उल्लेख उनके राजकवि नवल सिंह प्रधान ने अपनी ब्रजयात्रा की पाण्डुलिपि ब्रजभूमि प्रकाश में किया है। ब्रज चौरासी कोस की प्रदक्षिणा में भी गंगोत्री के दर्शन का विशेष महात्म्य है। ब्राह्मणों एवं गरीबों को इस दिन दान दिया जाता है। इस दिन मन्दिरों में स्नान करके दही, चावल, मिश्री, अन्न, वस्त्र, छाता, जूता, खड़ाऊँ, पंखा, मिट्टी का जल पात्र, खरबूजा, ककड़ी, तरबूजा आदि का दान दिया जाता है। इस महीने में प्याऊ, कुआँ, तालाब, बाबड़ी, छायादार वृक्ष आदि लगाने का विशेष फल मिलता है। [रा०श०]

गंगानारायण चक्रवर्ती

गंगानारायण चक्रवर्ती गौड़ीय सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं भक्त नरोत्तम ठाकुर के शिष्य थे। ये बंगाल में मुर्शिदाबाद के निकट गंगा के तट पर स्थित गमला या गम्पिला नामक गाँव के निवासी थे। इनके परिवार में इनकी पत्नी नारायनी देवी तथा विधवा कन्या विष्णुप्रिया थीं।

इन्होंने नरोत्तम ठाकुर से भक्ति शास्त्र के ग्रंथों का अध्ययन किया था। ये अपने समकालीन वैष्णव समाज में श्रेष्ठ विद्वान एवं भक्त के रूप में पूज्य थे। इन्होंने स्वयं अपनी पत्नी और पुत्री को दीक्षा प्रदान की थी। नरोत्तम ठाकुर के तिरोधान के बाद ये अपने परिवार सहित वृन्दावन आकर रहने लगे। वृन्दावन में ये श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के सान्निध्य में रहे। [क०उ०]

गंगाविष्णुदास

गंगाविष्णुदास चरणदास जी की सुप्रसिद्ध शिष्या सहजोबाई के भाई थे। इन्होंने भी अपने पिता तथा भाइयों के साथ ही चरणदास जी से दीक्षा ली थी। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इन्हें 'भक्ति उजागर' कहा है। इनका जीवन बहुत ही वैराग्यपूर्ण था। इन्होंने भी अपने बड़े भाई राधाकृष्णदास की तरह कोई गद्दी स्थापित नहीं की तथा अपने भाई के साथ अपनी बहन सुश्री सहजोबाई को प्राप्त जागीर एवं चल-अचल सम्पत्ति की देखभाल में लगे रहे।

इनकी आतमराम इकंगी से अधिक घनिष्ठता थी। ये उनके पास जयपुर स्थित आतमकुंज में अधिकांश समय व्यतीत

किया करते थे। इनकी कुछ बानियाँ प्राप्त हैं जिन्हें देखने से पता चलता है कि ये भाषा एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर अच्छे बानीकार एवं कवि थे। इनके अंदर वैराग्य भाव अधिक होने के कारण इन्होंने सांसारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों तथा वैभव की निस्सारता का वर्णन अपनी बानियों में किया है। [क०उ०]

गर्ग

गर्ग नाम से कई व्यक्तियों का उल्लेख हमें पुराण साहित्य में प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में हमें गर्ग नामक आचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है जोकि यदुवंश के कुल पुरोहित थे। भगवान कृष्ण के जन्म तथा नन्द के घर उनको पहुँचाने के उपरान्त वसुदेव के आग्रह पर नन्द के घर पधारे और समस्त गोपों से छिपकर गौशाला में यशोदा के पुत्र एवं रोहिणी के पुत्र का नामकरण संस्कार सम्पन्न कराया। उन्होंने रोहिणी के पुत्र का नाम बलराम एवं यशोदा के पुत्र का नाम कृष्ण रखा। उन्होंने ही नन्द एवं यशोदा को बताया कि यह बालक पूर्ण ब्रह्मस्वरूप एवं पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतरित हुआ है। इसके उपरान्त वे कृष्ण को एकान्त में ले गये और उन्होंने पूर्ण भक्ति से अपने आराध्य श्रीकृष्ण को प्रणाम कर स्तुति की। उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की "आपके पिता ने मुझे धन अर्पित किया है किन्तु मुझे धन से प्रयोजन नहीं। आप मुझे निश्चला भक्ति प्रदान करें।" बलराम एवं कृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार भी आचार्य गर्ग ने ही उपयुक्त समय पर सम्पन्न कराया था।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अतिरिक्त नारद पुराण, स्कन्दपुराण, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण, वायुपुराण, शिवपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण में गर्ग नाम के कई आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु इनमें प्राप्त गर्ग का कृष्णकथा आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके नाम पर एक गर्गसंहिता नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में कृष्ण की ब्रजलीलाओं का विशेष वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि गर्ग जी राधाकृष्ण के परम भक्त थे। उन्होंने ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि "राधा नाम की व्युत्पत्ति पहले स्वयं नारायण ने ब्रह्मा को बताई थी। ब्रह्मा ने शिव को बताया तथा स्वयं देवाधिदेव महादेव ने उन्हें राधा नाम की व्युत्पत्ति का उपदेश किया।" [र०सा०]

गर्ग संहिता

गर्ग संहिता नाम के दो ग्रंथ प्राप्त होते हैं-जिनमें से एक ज्योतिष विद्या पर आधारित है, तो दूसरा कृष्ण लीला पर। इन दोनों में दूसरी गर्ग संहिता अधिक प्रचलित है। जिसकी रचना यदुवंशियों के आचार्य गर्ग मुनि ने की थी। इसके पन्नों में सुमधुर कृष्णलीला की दिव्य अनुगूँजें सहेजी गयी हैं। कृष्ण के साथ-साथ यहाँ राधा की माधुर्यपूर्ण लीलाओं का भी सरस वर्णन है। कृष्ण और राधा की लीला के विषय में श्रीमद्भागवत गीता में जो कुछ सूत्ररूप में कहा गया है, गर्ग संहिता में उसी का विस्तार मिलता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ भागवतोक्त श्रीकृष्णलीला का महाभाष्य है। श्रीमद्भगवत गीता में महर्षि व्यास ने कहा कि कृष्ण स्वयं भगवान हैं-कृष्णस्तु भगवान स्वयम्, जबकि गर्ग ऋषि ने कहा है कि श्रीकृष्ण वे हैं, जिनके तेज की विराटता में मनुष्य का तेज विलीन हो जाता है।

श्रीमद्भागवत और गर्ग संहिता, इन दोनों ग्रंथों का मूल रस है-रास। लेकिन श्रीमद्भागवत में महारास की उस दिव्य घटना का वर्णन मात्र एक बार है, जबकि गर्ग संहिता में, यह वर्णन कई अध्यायों तक विस्तृत है। श्रीकृष्ण की मधुरलीलाओं का यह दिव्य रस ही गर्ग संहिता को सरस बनाता है। भगवान श्रीकृष्ण की रासरासेश्वरी श्रीराधा एवं गोपिकाओं के साथ रासलीला का जो सुन्दर और सरस वर्णन गर्ग संहिता में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गर्ग संहिता के निम्नलिखित खण्ड (अध्याय) हैं-गोलोक खण्ड, वृन्दावन खण्ड, गिरिराज खण्ड, माधुर्य खण्ड, मथुरा खण्ड, द्वारका खण्ड, विश्वजीत खण्ड, बलभद्र खण्ड, विज्ञान खण्ड एवं अश्वमेध खण्ड।

इन समस्त अध्यायों में जन के मन को सबसे ज्यादा मोहता है-माधुर्य खण्ड। गर्ग संहिता का यह खण्ड महारास की दिव्यलीला के साथ पूर्वजन्म में गोपिकाओं द्वारा श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति के लिये की गयी तप कथाओं का अनुपम रस बाँटता है। यह संहिता भक्तों के लिए परम समादर की वस्तु है, क्योंकि इसमें श्रीमद्भगवत गीता के गूढ़ तत्त्वों का स्पष्ट रूप में उल्लेख है। यथा गर्ग संहिता के गोलोक खण्ड में भगवद-ब्रह्म संवाद बताता है कि जो लोग गाय का पालन करते थे और गायों से ही अपनी आजीविका चलाते थे, उन्हें गोपाल कहा जाता था। सहायक ग्वालों के साथ 9 लाख गायों का पालन करने वाले व्यक्ति को नंद और 5 लाख गायों का पालन करने वाले को उपनंद कहते थे। जबकि 10 लाख गाय पालने वाला व्यक्ति वृषभानु कहा जाता था। एक करोड़ गायों का संरक्षण करे, ऐसा व्यक्ति नंदराज था और 50 लाख गायों का पालक वृषभानुवर।

सामान्यत: लोग राधा को श्रीकृष्ण की प्रेयसी के रूप में जानते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के गुरु गर्गाचार्य जी द्वारा रचित गर्ग संहिता में राधाकृष्ण विवाह का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि एक बार नन्द बाबा कृष्ण जी को गोद में लिए हुए गाएँ चरा रहे थे। गाएँ चराते-चराते वे वन में काफी आगे निकल आए। तभी वहाँ राधा प्रकट हुईं। नन्द जानते थे कि उनके घर में पल रहा बालक कोई साधारण शिशु नहीं, बल्कि साक्षात श्रीहरि हैं। उनको गर्ग जी ने यह रहस्य बता दिया था। राधा को प्रणाम करने के बाद, नन्द कृष्ण को राधा के हाथ में सौंपकर चले गए। तब भगवान कृष्ण युवा रूप में प्रकट हुए। वहाँ एक विवाह मण्डप बना था, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण राधा के साथ सुंदर सिंहासन पर विराजमान हो गए। वहीं ब्रह्मा जी द्वारा उनका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न कराया गया। लोकश्रुतियाँ इस स्थान की पहचान 'भाण्डीर वन' के रूप में करती हैं। कई स्थानों पर राधाकृष्ण की इस मिलन स्थली का भौगोलिक सीमांकन नंदगांव और बरसाना के मध्य में किया गया है। [अ०श्री०]

गदाधर भट्ट

श्रीगदाधर भट्ट जी के जन्मस्थान और जन्मतिथि का कुछ पता नहीं चल पाया है। ये अपनी वाणी से जाने जाते हैं। श्री गदाधर भट्टजी का स्थान छके हुए अनन्य रसिक भक्तों तथा कवियों में बहुत ऊँचा है। ये परोपकार की मूर्ति, गुणों के सागर तथा सबके प्रिय थे। श्रीमद्भागवत के अनुपम रंगीले रसीले वक्ता थे। ये गौड़ेश्वर सम्प्रदायानुयायी थे। इनका परिचय भक्तमाल में नाभाजी ने बड़े अच्छे ढंग से दिया। भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास जी ने कवित्त छन्दों में विस्तारपूर्वक श्री भट्टजी की रहनी गहनी पर प्रकाश डाला है।

इन्होंने प्रथम अपने घर में ही ''सखी हौं श्याम रंग रंगी, देख बिकाय गई यह गूरत सूरत मांहि पगी।'' यह पद बनाया, जिसकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई थी। श्री वृन्दावन में किसी साधु के मुख से इस पद को सुनकर श्री जीव गोस्वामी पाद ऐसे चकित और मोहित हुए कि इन्होंने एक पत्र लिखा कि ''जिसने श्री राधिका के चरण कमल रज की आराधना नहीं की तथा जो श्री राधाचरण कमलांकित श्रीवृन्दावन के आश्रित नहीं हुआ और जिसने राधा भाव रस से गम्भीर चित्त वाले रसिकों का संग नहीं किया वह कैसे श्री श्याम रस रूप के महासमुद्र में गोता लगा सकता है।''

इस पत्र को लेकर दो साधु श्री भट्टजी महाराज के पास आये। वे उस समय एक कूप के ऊपर बैठे दाँतुन कर रहे थे। वे दोनों साधु उनसे ही पूछने लगे कि गदाधर भट्टजी कहाँ रहते हैं? भट्टजी महाराज ने पूछा आप कहाँ रहते हैं, सन्तों ने उत्तर दिया सिरमौर श्री वृन्दावन धाम में। श्री वृन्दावन धाम का नाम सुनते ही भट्ट जी प्रेमावेश से मूर्च्छित हो गिर पड़े। इनकी दशा देखकर वह सन्त बड़े आश्चर्यचकित हुए। उन सन्तों में एक ने कहा कि यही गदाधर भट्टजी हैं। तब सन्तों ने उनको प्रणाम करके वह पत्र दिया। भट्टजी खड़े हो गए तथा पत्र लेकर सिर और नेत्रों से लगाया। प्रेमानन्द से पढ़ा और वहाँ से सीधे वृन्दावन को चल दिये। वहाँ श्री जीव गोस्वामी से मिलकर

भागवत रस का आस्वादन किया। उस समय श्रीधाम वृन्दावन में गौड़ीय आचार्यों का पूरा आधिपत्य था तथा श्री गोविन्द, गोपीनाथ, मदन मोहन, दामोदर, राधारमण आदि वृन्दावन के वैभव रूप भगवद् विग्रहों का प्राकट्य हो चुका था। भट्टजी के मधुर भाषण का श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। जिसे सुनकर बहुत लोग संसारी सुख को तुच्छ समझकर भागवत रंग में रँग जाते थे तथा उनमें सहज ही मूर्च्छादित अष्ट सात्विक भाव उदय हो जाते थे।

श्रीमन महाप्रभु गौरांगदेव परिकर प्रधान है, गोस्वामियों में एकतम श्रीपाद रघुनाथ भट्ट गोस्वामी जी, जो उस समय भागवतादि वैष्णव शास्त्रों के धुरंधर विद्वान तथा अलौकिक वक्ता थे, उस समय वृन्दावन में विराजमान थे। इन्होंने निज शिष्य जयपुर के राजा मानसिंह जी को कहकर श्री गोविन्ददेव जी का मंदिर लाल पत्थर से बनवाया था। गदाधर भट्टजी श्रीपाद रघुनाथ भट्टजी के अनुगत शिष्य थे।

श्री वृन्दावन में राधावल्लभ जी मंदिर के सामने भट्ट मुहल्ला में एक मनोहर मंदिर है। श्री भट्टजी के सेवित विग्रह 'श्री मदनमोहन जी' इस मंदिर में विराज रहे हैं। श्री मदनमोहन जी की सेवा-पूजा श्री भट्टजी के वंशज गोस्वामी लोग करते हैं। वहाँ परम समारोह के साथ नित्यप्रति विशेष करके झूलन, होरी, रास आदि दिवसों में पदों से लीलागान होता रहता है।

भट्टजी की वंश परम्परा में अब तक प्राय: बड़े-बड़े भागवत के प्रसिद्ध वक्ता हो गये हैं और हैं। इनके घराने में श्री गोवर्धन भट्टजी थे जिन्होंने वाणी-मन्दाकिनी से त्रिजगत् आप्लावित कर दिया था। उनके द्वारा विरचित 'मधु केलिवल्ली' नामक ग्रन्थ की श्लोकावली देखकर पंडितों के मस्तक घूम जाते थे। वह ग्रन्थ 'श्री रूपसनातन स्रोत' तथा 'राधाकुण्ड स्तव' इन दोनों ग्रन्थों के साथ 'श्रीगोवर्धन भट्ट ग्रन्थावली' नाम से प्रकाशित हो गया है। भट्टजी के शिष्य वल्लभ रसिक जी ने भी भाषा छन्दों से अनेक पदों की रचना की थी। इस प्रकार के यमक का प्रचुर प्रयोग अन्यत्र भाषा पदों में आया। वह सब 'वल्लभरसिक जी की वाणी' नाम से प्रकाशित हो गए हैं।

भट्टजी के शिष्य व पुत्र रसिक वल्लभ जी हुए। जिन्होंने प्रसिद्ध 'प्रेमपत्तन' नामक मनोहर रस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ भी बनारस संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हो गया है। श्री भट्टजी संस्कृत के महाधुरन्धर विद्वान होते हुए भी ब्रजभाषा साहित्य में अत्यधिक कुशल थे। इनके अधिकांश पद संस्कृत में रचे हुए मिलते हैं। इनके द्वारा संस्कृत में बने हुए पदों में उपदेश, श्री यशोदाजी की वन्दना, नन्दब्रज के परिकर वृन्दों का वर्णन, यमुनाजी की महिमा का वर्णन, हरिचरणों की वन्दना आदि अत्यन्त सरस तथा यमक-अनुप्रास-उपमादि अलंकारों से जड़ित परम आस्वादनीय है। इनके द्वारा विरचित श्री राधागोविन्द देव का योगपीठ वर्णन भी रसिक उपासकजनों के लिये अनुभवनीय वस्तु है। ब्रजभाषा में रचित परिहासात्मक 'गाली' अत्यन्त भावपूर्ण परम मनोहर है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लगभग संस्कृत तथा ब्रजभाषा के मिलकर 85 पद संग्रहीत हैं। भट्टजी के द्वारा विरचित बहुत पद यत्र-तत्र मिलते हैं।

इनके गोलोकवासी होने का कोई दिन-तिथि का पता नहीं चल पाया है। ये बहुत बड़े महात्मा एवं दयालु थे। एक कथा के द्वारा इस बात का पता चलता है कि एक बार भट्टजी के यहाँ एक चोर आया, उसने घर की समस्त संपत्ति लेकर एक बहुत बड़ी गठरी बाँधी पर उसे उठाने में वह असमर्थ हो गया। भट्टजी ये सब लीला देख रहे थे। ये चोर के पास आये और चुपचाप गठरी उठा दी। चोर पर इनकी दया का भारी प्रभाव पड़ा। वह इनके चरणों में लोट गया और शिष्य हो गया। अपने महान भावों से इन्होंने चोर को झुका दिया। [शै०चौ०]

गरीबदास

चरणदास जी ने अपने परीक्षितपुरा के प्रवास के समय ढूसर वंशीय तीस लोगों को दीक्षा दी थी। इनमें से एक गरीबदास जी भी थे। 'लीलासागर' नामक सांप्रदायिक ग्रंथ में जोगजीत जी ने यह सभी तीस संतों के नाम एक साथ दिये हैं। इन सभी का व्यक्तिगत परिचय अप्राप्त है। जोगजीत जी ने ''गरीबदास उज्जैन में'' कहकर इनके उज्जैन

निवास की ओर संकेत किया है। उज्जैन में इन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की थी। उज्जैन के थावरा मोहल्ले में इनका बनवाया हुआ शुकदेव मंदिर वर्तमान में है। इनकी साहित्यिक रचनाओं के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

[क०उ०]

गरुड़ पुराण

भक्तजन श्रीमद्भागवत को तो श्रीकृष्ण का वाङ्मय वपु मानते ही हैं। अन्य पुराण भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। यह कथन है पद्मपुराण का। जैसे श्रीहरि सूर्य नारायण का रूप धारण कर जगत् को आलोकित करते हैं, वैसे ही वे लोगों के अन्त:करणों को प्रकाशित करने के लिए पुराणों को अपने अवयव बनाकर प्राणियों में संचरण करते हैं।

मूल गरुड़ पुराण एक विशाल ग्रंथ है। इसकी सम्पूर्ण पुस्तक सम्प्रति समुपलब्ध नहीं है। बंगला भाषा के विश्वकोश को जो ग्रंथ मिला था, उसमें उन्नीस हजार श्लोक थे। ये मूल से सात हजार श्लोक कम थे। इस प्रकार गरुड़ पुराण की कुल श्लोक संख्या छब्बीस हजार अनुमानित होती है। इस पुराण के मुख्य देव विष्णु हैं। ग्रंथ के तीन खंड हैं-पूर्वखण्ड (आचार काण्ड), उत्तरखण्ड (धर्मकाण्ड- प्रेतकल्प) और ब्रह्मकाण्ड।

पुराण के पूर्वखण्ड (आचार काण्ड) में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार तथा निष्काम कर्म की महिमा, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, देवपूजन, श्राद्ध, तर्पण आदि शास्त्रसम्मत सात्विक शुभ कर्मों में जनसामान्य को प्रवृत्त करने के उद्देश्य से विविध इहलौकिक एवं पारलौकिक पुण्य प्रदायक फलों का वर्णन किया गया है।

गरुड़ पुराण के उत्तरखण्ड में प्रमुख रूप से प्रेतकल्प का महत्त्वपूर्ण विवेचन है। इसमें मृत्यु का स्वरूप, मरणासन्न व्यक्ति की दशा, उसके कल्याण हेतु अंतिम समय में करणीय कृत्यों एवं दानों का निरूपण किया गया है। मृत्यु के पश्चात और्ध्व दैहिक संस्कार, पिण्डदान, श्राद्ध सपिण्डीकरण, कर्म विपाक, पापों के प्रायश्चित के विधानों का वर्णन है।

ब्रह्मकाण्ड में भगवान श्रीहरि की महिमा, उनके प्रिय पुराणों के नाम, गरुड़ पुराण का माहात्म्य, श्रीकृष्ण द्वारा गरुड़ जी से भगवान विष्णु की महिमा का कथन, योगनिद्रा से उनकी जागृति हेतु स्तुति, नारायण से प्राकृत तथा वैकृत सृष्टि का विस्तार, श्रीकृष्ण की पत्नी नीला देवी, भद्रा, मित्रविन्दा, कालिन्दी, लक्ष्मणा, जाम्बवती आदि के विवाहों की कथाओं का वर्णन है। इसके अलावा भगवान के विभिन्न अवतारों की कथाएँ, पतिव्रता माहात्म्य, श्रीरामचरित, हरिवंशवर्णन, महाभारत की कथा और बुद्ध अवतार का वर्णन भी प्राप्त होता है।

गरुड़ पुराण के प्रणेता विनतानन्दन गरुड़ जी हैं। नागों ने छलपूर्वक गरुड़ की माता विनता को दासी बना लिया था। मातृभक्त गरुड़ ने पृथ्वी पर तपस्या और आराधना करके भगवान विष्णु को प्रसन्न किया। संतुष्ट श्रीहरि से उन्होंने वर माँगे कि वह अमृत लाकर अपनी माता को नागों की माता की दासता से मुक्त करा सकें, नागों का विनाश कर सकें, भगवान विष्णु के वाहन बनें और पुराण संहिता के रचनाकार हों। भगवान ने उन्हें सभी अभीष्ट वर दिये।

भगवान ने कहा कि पुराण का नाम आपके नाम के अनुरूप गरुड़ पुराण होगा। जैसे देवों में मैं विख्यात हूँ वैसे ही पुराणों में गरुड़ पुराण ख्याति प्राप्त करेगा। मेरी तरह ही आप भी संसार में कीर्तनीय होंगे।

गरुड़ पुराण के माहात्म्य में कहा गया है-

''विद्या कीर्तिः प्रभा लक्ष्मी जया रोगादि कारकम्।
यः पठेत् श्रुणुयाद्वुद सर्ववित् स दिवं व्रजेत॥''

जिस मनुष्य के हाथ में गरुड़ पुराण है उसके हाथ में नीतियों का कोश है। जो प्राणी इस पुराण का पाठ करता है या

सुनता है वह भोग और मोक्ष दोनों को पा लेता है। जैसे देवों में जनार्दन श्रेष्ठ हैं, आयुधों में सुदर्शन श्रेष्ठ है वैसे ही तत्वदर्शन में गरुड़ पुराण श्रेष्ठ है। **'यथासुराणां प्रवरो जनार्दनः, यथा युधानां प्रवरः सुदर्शनम् तथा पुराणेषु च गारुड़ं च मुख्यं तदाहुर्ह रितत्त्व दर्शने।'**

[क०उ०]

गांगल भट्टाचार्य

पतित पावन, उदार हृदय, शरणागत वत्सल और उदार कीर्ति श्री गांगल भट्टाचार्य जी स्वयं गंगा माता तुल्य थे। इन्होंने गंगा की ही तरह भक्तों के पाप-तापों को धोकर सर्वेश्वर चरणारविंद की सन्निधि में पहुँचाया। यह निंबार्क संप्रदाय के 28वें पीठाधीश्वर माने जाते हैं। इनका पाटोत्सव चैत्र कृष्णा द्वितीया को मनाया जाता है।

[कुं०बि०श०]

गायत्री उपासना

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

(यजुर्वेद 36.3)

उस प्राणस्वरूप दु:खनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अंतर्रात्मा में धारण करें। वही परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।

आदि युग में ब्रह्मा की स्फुरण से आदि शक्ति का आविर्भाव हुआ, इसी को माँ गायत्री कहते हैं। ब्रह्मा ने तीन भागों में अपने को विभाजित किया। 'सत' जिसे ह्रीं या सरस्वती कहा जाता है। 'रज' जिसे श्रीं या लक्ष्मी कहते हैं। 'तम' जिसे क्लीं या महाकाली कहते हैं।

गायत्री महामंत्र की महिमा को सभी हिन्दू धर्म संप्रदायों के मूर्धन्य महर्षियों, विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। श्रीमद् देवीभागवत, मार्कण्डेय पुराण का अधिकांश भाग भगवती गायत्री की महिमा से परिपूर्ण है। अथर्ववेद में बताया गया है कि आयु, प्राण, संतान, संपत्ति, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज प्रदान करने वाली गायत्री माँ हैं।

भगवती की महिमा में महर्षियों के विचार-

महर्षि विश्वामित्र-गायत्री महामंत्र के समान चारों वेदों में कोई भी मंत्र नहीं है।
महर्षि याज्ञवल्क्य-गायत्री की श्रेष्ठता एवं समानता की शक्ति किसी भी मंत्र में नहीं है।
महर्षि पाराशर-वेद एवं गायत्री की तुलना में गायत्री अधिकतम श्रेष्ठ है।
महर्षि शंख- दुर्गुणों के समुद्र से उद्धार करने की महान शक्ति गायत्री में है।
महर्षि अत्रि-गायत्री आत्मा का शोधन करने में पूर्णरूपेण सक्षम है।
महर्षि वेदव्यास-पुष्पों में शहद एवं दूध में घृत है, उसी प्रकार वेदों का तत्व गायत्री मंत्र है।
महर्षि चरक-ब्रह्मचर्य युक्त साधन अपनाते हुए गायत्री की साधना दीर्घ जीवन प्रदान करती है।
देवर्षि नारद-जहाँ भक्ति स्वरूपिणी माता गायत्री की उपासना होती है। वहाँ श्रीमन्ननारायण निवास करते हैं।
महर्षि वशिष्ठ-दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति गायत्री उपासना से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।
महर्षि भारद्वाज-ब्रह्म एवं समस्त देव गायत्री जप की साधना से ही विश्व में पूजे जाते हैं।
भगवान मनु-ब्रह्माजी द्वारा तीन चरणों में वेदों का तत्व गायत्री महामंत्र निकाला है। इसकी तीन माला प्रतिदिन के हिसाब से तीन साल तक करने से व्यक्ति ईशत्व की प्राप्ति कर सकता है।

गायत्री महामंत्र के विषय में वर्तमान शती के मनीषियों के विचार-

महात्मा गांधी-गायत्री जप से बुरा समय नष्ट हो जाता है।

लोकमान्य तिलक-गायत्री जप से सत्मार्ग की प्रेरणा मिलती है।
मदनमोहन मालवीय-गायत्री जप साक्षात ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है।
रवीन्द्रनाथ टैगोर-गायत्री साधना से मानव को सुख-शांति की प्राप्ति एवं उसकी समस्त बाधाएँ नष्ट होती हैं।
अरविंद घोष-गायत्री जप में दैवीय शक्ति विद्यमान है, जो मानव को नवीन शक्ति प्रदान करती है।
स्वामी रामकृष्ण परमहंस-अन्य साधनाओं की अपेक्षा गायत्री साधना सर्वश्रेष्ठ है।
स्वामी विवेकानंद-गायत्री मंत्र सभी मंत्रों का शिरोमणि है। इसके जप से सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।
जगद्गुरु शंकराचार्य-भगवती गायत्री की कृपा से मानव विकृतियों का त्याग कर समृद्धि एवं सुख-शांति प्राप्त कर सकता है।
स्वामी रामतीर्थ-भगवती गायत्री का जप मानव को मानसिक, आत्मिक, आर्थिक एवं शारीरिक तथा बौद्धिक विकास करता है।
स्वामी शिवानंद-ब्रह्ममुहूर्त में गायत्री जप से मन, मस्तिष्क, हृदय एवं शरीर निरोगी रहता है।
महर्षि रमण-गायत्री मंत्र जप से आध्यात्मिक एवं भौतिक लाभ होता है।
स्वामी विशुद्धानंद काली कमली वाले बाबा-ईश्वरीय शक्ति का लाभ प्राप्त करने हेतु गायत्री साधना परमावश्यक है।
स्वामी करपात्री जी-गायत्री की साधना सभी की मनोच्छा पूर्ण करती है।
टी.सुब्बाराव जी-गायत्री की साधना योग का प्रथम अंग है।
स्वामी विद्यानंद जी-गायत्री का जप बुद्धि को पवित्र करने में सक्षम है।
राधाकृष्णन- गायत्री साधना से मानव का समस्त कल्याण होता है।
महर्षि सर्वानंद-गायत्री पूजन, मंत्र जप ही आर्यों की आदि रीति है।
स्वामी दयानंद-गायत्री महामंत्र समस्त धार्मिक ग्रंथों वेद, पुराण, शास्त्र आदि की प्रमुख मूल है।
प्रो. आर. श्रीनिवासन-हिन्दू सनातन धर्म में गायत्री साधना के अलावा कोई उपासना है ही नहीं, यह समस्त वस्तु प्रदाता कल्पवृक्ष है।

उपर्युक्त मनीषियों के मतों से स्पष्ट है कि गायत्री उपासना मानव कल्याण का प्रमुख सोपान है। गायत्री महामंत्र में विद्यमान 24 अक्षरों में 24 प्रकार की शक्तियाँ विराजमान हैं।

आद्याशक्ति, ब्राह्मणी शक्ति, वैष्णवी शक्ति, शांभवी शक्ति, वेदमाता शक्ति, देवमाता शक्ति, विश्वमाता शक्ति, ऋतंभरा शक्ति, मंदाकिनी शक्ति, अजपा शक्ति, ऋद्धि शक्ति, सिद्धि शक्ति, सावित्री शक्ति, सरस्वती शक्ति, लक्ष्मी शक्ति, महाकाली शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, प्राणाग्नि शक्ति, भुवनेश्वरी शक्ति, भवानी शक्ति, अन्नपूर्णा शक्ति, महामाया शक्ति, पयस्विनी शक्ति, त्रिपुरा शक्ति।

प्रथम 12 शक्तियाँ गायत्री की वैदिक साधनाओं की दिशा निर्देशित करती हैं और इनके अलावा 12 शक्तियाँ तांत्रिक साधनाओं की अधिष्ठात्री हैं।

गायत्री उपासना का ब्रज में स्वरूप-

भगवती गायत्री (सद्बुद्धि रूपिणी) माता एवं यज्ञरूपी पिता को जिन्होंने अपना माता-पिता समझ लिया है। जीवन की वस्तु समझकर परमार्थ एवं आत्म-कल्याण का साधन स्वीकार किया है, वही भगवती की सच्ची साधना का अधिकारी है। यज्ञोपवीत ही गायत्री प्रतिमा का स्वरूप है।

यज्ञोपवीत धारण करना, विद्वान से गुरुदीक्षा ग्रहण करना एवं उनका पूजन करना, गुरु त्रिदेव तुल्य हैं। षोडोषपचार से भगवती गायत्री की पूजा करना। कुमकुम, रोली, चावल, पान, सुपारी, पुष्प, वंदनवार, फल, मिष्ठान्न, धूप,

अखण्ड दीपक, माता गायत्री की प्रतिमा या चित्रपट आदि। पवित्र आसन पर बैठकर भक्त ब्रह्मसंध्या, पूजा, प्रार्थना द्वारा उपासना, संकल्प सहित करें। शरीर के पाँच तत्वों को शुद्ध करके भूत शुद्धि की जाती है। यह क्रिया ब्रह्मसंध्या कहलाती है। संध्या के पाँच कृत्य करने होते हैं।

पवित्रीकरण-बायें हाथ में जल लेकर दायें हाथ से जल को संपूर्ण शरीर को छिड़का जाता है, गायत्री मंत्र उच्चारण करते हुए।

आचमन-पंचपात्र के जल को संघपात्री के द्वारा तीन बार मुँह में डालना चाहिये गायत्री मंत्र उच्चारण करते हुए।

शिखाबंधन-गायत्री मंत्र उच्चारण करते हुए भक्त शिखा में गाँठ लगायें। अगर साधक की शिखा नहीं है तो शिखा के स्थान पर कुशा का टुकड़ा या तुलसी का पत्ता रख महामंत्र का उच्चारण करें।

प्राणायाम-मुख बंदकर श्वास को नासिका के एक छिद्र द्वारा धीरे-धीरे खींचना चाहिये। दूसरे छिद्र पर उँगली या अँगूठा रख लेना चाहिये। कुछ समय रुक कर दूसरे नासिका छिद्र से वायु धीरे-धीरे निकालना चाहिये। उस समय उँगली या अँगूठा पहले छिद्र पर रखें। यह पाँच से सात बार करें। गायत्री मंत्र मन- ही-मन उच्चारण होता रहे।

न्यास-गायत्री मंत्र उच्चारण करते हुए शरीर के प्रमुख अंगों का हाथों से स्पर्श करें।

माता गायत्री का आवाहन-पूजा हेतु माता का आवाहन किया जाता है।

निम्न मंत्र से-

आयातु वरदे देवि! त्रयक्षरे ब्रह्मवादिनी।
गायत्रीच्छदसां मातः ब्रह्मयोने नमोस्तुते॥

जप करने वाला नियमित 1 माला (108) महामंत्र या स्वयं की शक्ति के अनुसार जप करें।

नित्य जप के साथ यज्ञ भी करना चाहिए। अग्नि प्रदीपनम्, समिधाधानम्, जलप्रसेचनम् कर वेदी एवं माता को नमस्कार करना चाहिए। पूर्णाहुति, घृत अवधारण विधि, भस्मधारण, अनुष्ठान करते समय जो त्रुटियाँ हो जाती हैं, उनके लिये आद्याशक्ति से क्षमायाचना एवं शांति पाठ करना चाहिए। [र०चं०दी०]

गिरधर जी

श्री गिरधर जी आचार्य श्री गोविन्द जी के सुपुत्र थे। श्री गिरधर जी आचार्य जी के बाद वल्लभ कुल की गद्दी पर विराजमान हुए। इनका जन्म वि.सं. 1825 आषाढ़ कृष्ण अमावस्या को हुआ था। इनका स्वरूप साँवला था। आप सादा जीवन व्यतीत कर प्रभु की सेवा में अधिक समय बिताते थे। कुछ लोगों को आप में चमत्कार दिखाई पड़ता था। सिन्धिया की सेना के आक्रमण के कारण इन्होंने ही श्रीनाथ जी, श्री विट्ठलनाथ जी एवं श्री नवनीतप्रिया जी को उदयपुर पधराया था परन्तु वहाँ भी सुरक्षित न होने के कारण धस्यार नामक ग्राम में एक विशाल मंदिर की स्थापना करवाकर प्रभु के विग्रहों को मंदिर में स्थापित किया। जलवायु की अनुकूलता न होने के कारण आपने श्रीनाथ जी को पुनः नाथद्वारा स्थापित किया। [जि०कु०]

गीतातत्त्व प्रकाशिका

यह श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य द्वारा की गई श्रीभगवद् गीता की टीका है। इसमें प्रौढ़ संस्कृत भाषा में द्वैताद्वैतमत और ज्ञान भक्ति का समर्थन किया गया है। इसके अन्तिम श्लोक में निम्बार्क कृत 'गीतावाक्यार्थ' का भी उल्लेख मिलता है। यह प्रकाशित ग्रंथ है। [क०उ०]

गीताभूषण

गीता के ऊपर गौड़ीय मतानुकूल व्याख्या प्रस्तुत करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें श्रीमद्भागवत गीता के अट्ठारहों अध्यायों की टीका है। अपनी मूल तात्त्विक रचनाओं की भाँति विद्याभूषण इसके भी प्रारम्भ में पंच-ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म तत्त्वों की संस्थापन करते हैं। यहाँ इन तत्त्वों के स्वरूप निर्देशन के साथ भेदभाव तथा सांसारिक पदार्थों के याथार्थ्य का प्रतिपादन हुआ है। उपासना की विशिष्ट चर्चा के साथ-साथ कर्म सिद्धान्त पर आचार्य की दृष्टि गई है। गीता सम्मत कर्म विज्ञान की समीक्षा करते हुए भाष्यकार ने अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह फलापेक्षा से ही कर्म की ओर प्रवृत्त होता है।

गीता के 'नहिं कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्' का अनुमोदन करते हुए गीताभूषणकार का अभिधान है-चूँकि जीव कर्म करना छोड़ नहीं सकता, अत: उसे चाहिए कि वह कर्म को निष्काम भाव से स्वीकार करे। इस भाष्य की कई बातें ध्यातव्य हैं-यथा यहाँ निष्काम कर्मयोग को निष्काम उपासना से संयोजित किया गया है। वैराग्य, ज्ञान और निष्काम कर्म भक्ति के अंग साधन के रूप में भी मान्य हुए हैं। वास्तविक ज्ञानी के लिए मात्र ज्ञान ही जरूरी है, ऐसी बात नहीं। भक्ति से पूत अन्त:करण वाले व्यक्ति को साधु अथवा ज्ञानी कहा जाना सर्वथा समीचीन होगा। बाबा कृष्णदास ने सन् 1968 ई. के आसपास राधाकुण्ड, कुसुमसरोवर, मथुरा से देवनागरी में इसे प्रकाशित किया था।

[क०उ०]

गुरु ग्रन्थ साहिब

सिक्ख समुदाय में गुरु ग्रन्थ साहिब नामक ग्रन्थ का अद्वितीय महत्व है। यह सिक्ख पूर्ववर्ती गुरुओं की भाँति जीवित गुरु के रूप में स्वीकार्य तथा पूजनीय है। यह ग्रन्थ दो चरणों में पूर्ण हुआ। प्रथम संकलन का श्रेय सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन को जाता है जिनके मार्गदर्शन में भाई गुरुदास ने इसे गुरुमुखी लिपि में लिखा। सन् 1604 ई. में इसका प्रथम संस्करण पूर्ण हुआ तथा इस ग्रन्थ को हरमिंदर साहिब (अमृतसर) में स्थापित किया गया तथा उक्त ग्रन्थ की सेवार्थ प्रथम ग्रन्थी बाबा बोधा को नियुक्त किया गया। सिक्खों के दसवें गुरु, गुरु गोविन्दसिंह ने अपने उपरान्त गुरुपद समाप्त करते हुए आदि ग्रन्थ जो कि अर्जुन द्वारा संगृहीत था में गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ जोड़कर इसे विशाल रूप प्रदान किया तथा सिक्ख गुरु की उपाधि देते हुए इस ग्रन्थ का नाम गुरु ग्रन्थ साहिब रखा गया। सन् 1708 ई. में इस ग्रन्थ को सिक्ख समुदाय का सार्वभौम गुरु स्वीकार कर लिया गया।

गुरु ग्रन्थ साहिब की लिपि गुरुमुखी है जो सिक्खों के दूसरे गुरु अंगद द्वारा प्रचलित की गयी थी। सम्पूर्ण ग्रन्थ 1430 अंग में विभाजित है। 705 में इसका आधा पाठ माना जाता है जिसे मद कहा जाता है। गुरु ग्रन्थ साहिब में ब्रजभाषा, खड़ी बोली, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं एवं बोलियों की रचनाएँ भी समाहित हैं। इस ग्रन्थ में सिक्ख गुरुओं के साथ-साथ शेख फरीद, कबीर, रविदास, रामानन्द, धन्ना, सेन आदि हिन्दू और मुसलमान भक्तों के पद भी संकलित हैं। गुरु ग्रन्थ में सबद, छन्द, श्लोक, अष्टपदियाँ तथा भक्तों की बानियों में काव्य रचना है। सिक्खों के 6 गुरु, 15 भगत, 11 भट् तथा 03 या 04 गुरु सिक्ख के पद संकलित हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर 36 बानियाँ कही जाती हैं।

ग्रन्थ साहिब का प्रारम्भिक भाग मूल मन्त्र, जपुजी साहब जैसी गुरु नानक द्वारा रचित उत्कृष्ट रचनाओं को समाहित करता है। गुरु ग्रन्थ साहिब की विशेषता यह है कि ये गेय है तथा उनके शास्त्रीय राग जैसे-श्री, गौरी, बैरारी, बिलावल, गोंड, देव, गन्धारी आदि इसके पदों के गायन हेतु निर्दिष्ट हैं। गुरु ग्रन्थ साहिब एक ईश्वर, समानता, नारी सम्मान, सत्यवान व चरित्रवान, प्रेम, करुणा, सहानुभूति, मानवता तथा ईश्वराधीन रहने जैसी शिक्षापरक रचनाओं से परिपूर्ण एक कालजयी ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ एक अद्भुत ऐतिहासिक पुस्तक है। इसमें धार्मिक साहित्य बिना परिक्षिप्त मिश्रण हुए मौलिक रूप में सुरक्षित है। ग्रन्थ साहिब सिक्खों के लिए परमेश्वरीय ज्ञान का ग्रन्थ, प्रार्थना का ध्येय व साधन दोनों है।

[शि०श०]

गुरुग्राम के हिन्दू धार्मिक स्थल

शनिदेव मंदिर-वैसे तो गुड़गाँव में शनिदेव महाराज के कई मंदिर हैं परंतु सबसे बड़ा प्रसिद्ध और पुराना शनिदेव मंदिर नेशनल हाईवे नं. 8 दिल्ली-जयपुर मार्ग, गाँव नरसिंहपुर राजीव चौक के समीप है। इस मंदिर की स्थापना श्री इन्द्र कुमार बंसल जी, सिरसा निवासी ने सन् 1994 में किसी अन्य के सहयोग के बिना की। रामानंद मंडल नामक व्यक्ति से जो इस मंदिर के स्थापना दिवस तथा निर्माण के समय से मंदिर परिसर में रहता है, बड़ी रोचक जानकारी मिली। श्री मंडल के द्वारा बताया गया कि श्री इन्द्र कुमार बंसल जी ने कई प्रकार के गुड़गाँव में उद्योग लगाये परंतु सफलता नहीं मिली। उन्हें एक दिन स्वप्न में शनि महाराज ने दर्शन दिये तथा मंदिर बनाने के लिए कहा। बंसल जी यद्यपि कठिन आर्थिक स्थिति में थे परंतु उन्होंने इस मंदिर के लिए लगभग 1 हजार वर्ग गज भूमि खरीदी और निजी सीमित साधनों से शनिदेव जी के इस मंदिर का निर्माण विषम परिस्थितियों में करवाकर शनि महाराज की मूर्ति स्थापना सन् 1994 ई. में श्रावण मास में बड़ी धूम-धाम से कराई। आज श्री बंसल जी पर शनि महाराज की बड़ी कृपा है। उनकी कई औद्योगिक इकाईयाँ गुड़गाँव क्षेत्र में चल रही हैं।

शनि महाराज का गुड़गाँव शहर में केवल यही एकमात्र मंदिर है जहाँ पर केवल शनि महाराज विराजमान हैं। अन्य किसी भी देवी-देवता की प्रतिमा इस मंदिर में नहीं है। वैसे शनि महाराज के अन्य मंदिर सैक्टर-4, सैक्टर 38, कनहई गाँव जोहड़ तथा सैक्टर-44 झाड़सा गांव के पास भी हैं परंतु उनमें शनि महाराज के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी हैं।

पं. महावीर दीक्षित पुजारी से ज्ञात हुआ कि यहाँ पर शनिवार को विशेष पूजा होती है जिसमें काफी भक्तगण शनि महाराज की कृपा पाते हैं, भक्तगण अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए शनि महाराज पर सरसों का तेल, काला कपड़ा, काले तिल तथा छत्तर आदि चढ़ाते हैं। अन्य दिनों में प्रात: 6 बजे से 9 बजे तक तथा सायं 5:30 बजे से रात्रि तक शनि महाराज का यह मंदिर दर्शनार्थियों के लिए खुला रहता है। प्रात: चना-हलवा और रात्रि को चावल की खिचड़ी का भोग लगाया जाता है जो भक्तों में प्रसाद के रूप में वितरित किया जाता है। चैत्र माह में प्रत्येक वर्ष शनि जयंती बड़े धूमधाम से यहाँ पर मनाई जाती है।

शीतला माता मंदिर-पूरे भारतवर्ष में शक्ति पूजा का बहुत महत्व है। देश में अनेक लोकप्रिय पूजा स्थल प्रसिद्ध है जहाँ देश-देशान्तर से लाखों लोग देवी पूजा के लिए आते हैं। भारत में ऐसे अनेक प्रसिद्ध देवी पूजा स्थल हैं जिनमें से एक गुडगाँव का शीतला माता मंदिर प्रसिद्ध है जो शक्ति पीठ के नाम से भी जाना जाता है।

शीतला कौन है? शी-शांति, शयन, भक्ति अर्थात शीतला का अर्थ शांत, प्रसन्न, संतुष्ट चंद्रमा (अमृत का आधार) मुक्ति है। शीतला शब्द में भी अपार गहराई छिपी हुई है जो शक्ति सभी जीवों को संसार के तीनों तापों को नष्ट कर शीतलता प्रदान करती है वही शीतला है। 'कल्याण' के शक्ति उपासना अंक संख्या 1 वर्ष 1961 के 'शक्ति के विभिन्न स्वरूपों के ध्यान' शीर्षक अनुसार

ध्यायेज्ज शीतलां देवी रास भस्थां दिगम्बरम्।
मार्जनीकल शोपेता शूर्पालकृत मस्तकाम॥

हिन्दुओं के प्रमुख तीर्थ-स्थलों में श्रीमाता शीतला देवी मंदिर गुरुग्राम (गुडगाँव) गुरु द्रोणाचार्य की धर्मस्थली एवं

कर्मस्थली में स्थित है। जिसे लगभग 2000 वर्ष पुराना बताया जाता है। इसे शक्ति-पीठ के रूप में माना जाता है। श्रावण मास के अतिरिक्त यहाँ पर चैत्र मास में भक्तों के मेले की कुंभ जैसी स्थिति हो जाती है। ऐसा कथन है कि मुगल शासन काल में माता श्री शीतला देवी की मूर्ति को तलाब में फिंकवा दिया गया था। लगभग 450 वर्ष पूर्व माता शीतला की कृपा सिंघारामसिंह कटारिया जो अंधे थे पर हुई, जिन्होंने मूर्ति को बाहर निकलवाया और एक मढ़ी बनाकर रख दिया। शीतला माता ने भक्त सींघा की भक्ति भावना और उपासना से प्रसन्न होकर स्वप्न में दर्शन दिये और कहा कि मेरी मूर्ति पंचौकरा जोहड़ जो पाँच पांडवों के नाम पर है, में दबी हुई है, उसे वहाँ से निकाल कर मेरा भवन बनवाओ तथा वरदान दिया कि तू जिसे स्पर्श करेगा वह स्वत: कष्ट मुक्त हो जायेगा। भक्त सिंघा ने ग्रामीणों की सहायता से जोहड़ की खुदाई करवाई। जैसे ही खुदाई कुछ नीचे पहुंची पिंडी के रूप में जैसे ही उन्होंने माता का स्पर्श किया, उनके दोनों नेत्र खुल गए तथा उन्हें शीतला माता के दर्शन हुए। पहले भगत सिंघा ने पिंडी को अपने घर में लाकर पूजा-अर्चना शुरू की परंतु श्रद्धालुओं की अपार भीड़ और परिक्रमा देने की प्रथा के कारण परिवार के लोगों ने एतराज करना शुरू कर दिया क्योंकि वे अपने घरेलू कार्य तथा खेतीवाड़ी की भी देखभाल नहीं कर पाते थे। अत: शीतला माता को पंचौकरा तालाब पर स्थापित कर दिया गया। परंतु ऐसा कहा जाता है कि शीतला जी ने सिंघा को पुन: स्वप्न में दर्शन दिये और कहा कि यह स्थान देवताओं का है अत: मुझे यहाँ से अलग रखो। तत्पश्चात् गुडगाँव में स्थित दूसरे तालाब जिसे मसाणी तालाब कहते हैं, पर रखा गया।

यहीं पर भक्त सिंघा ने कच्ची मढ़ी बनवाकर माता शीतला की पूजा शुरू की, आज यहीं पर माता का मंदिर है। शीतला माता मंदिर गुडगाँव के मुख्य द्वार पर स्थित बड़ का पेड़ (वट वृक्ष) जो सैकड़ों वर्ष पुराना है। जिसके बारे में कहा जाता है कि सच्चे मन से जो व्यक्ति चुन्नी, मौली आदि बाँधकर शीतल जल चढ़ाकर जाता है उसकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होती है। इसका प्रमाण है वे हजारों चुन्नियाँ जो इस वट वृक्ष की विभिन्न शाखाओं पर बँधी हुई दिखाई देती हैं। जिन भक्तों की मनोकामना पूर्ण हो जाती है वे इन्हें पुन: माता के दर्शन कर खोलते हैं। शीतला अष्टमी के दिन शीतला माता के निम्ब वृक्ष (नीम का पेड़) की भी पूजा की जाती है। मान्यता है कि पूजा स्थल की मिट्टी या जल ग्रहण करने से फोड़े, फुंसी, दाद, खाज, खुजली और छोटी माता जैसी बीमारियों से छुटकारा मिल जाता है। शीतला माता के मंदिर में बाल मुंडन की भी प्रथा है। पाँच वर्ष की आयु तक के बच्चों के बाल उतरवाकर यहाँ तालाब में विसर्जित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नव-विवाहित जोड़े यहाँ आकर गठजोड़े की जात लगाते हैं और अपने अंश वंश की बेल बढ़ोत्तरी के लिए माँ शीतला से प्रार्थना करते हैं। शीतला माता का भारतवर्ष में दो बार शीतला अष्टमी का व्रत किया जाता है। पहला चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा दूसरा वैशाख मास के कृष्ण पक्ष के किसी सोमवार अर्थात सोम, बुध, गुरु या शुक्रवार को किया जाता है। लोकाचार में होली के पश्चात् सोमवार को माता शीतला का बासोड़ा किया जाता है। मंदिर की व्यवस्था मंदिर समिति द्वारा की जाती थी परंतु सन् 1992 से इस मंदिर को हरियाणा सरकार ने अधिग्रहण कर मंदिर की व्यवस्था सँभाल रखी है। मंदिर प्रांगण में सीताराम कंठी माता और भैरों जी का मंदिर भी है। यह मंदिर लगभग 6 से 7 एकड़ में फैला हुआ है। सरकार द्वारा मंदिर व्यवस्था सराहनीय है।

सांईनाथ मंदिर, गुड़गांव-साईंनाथ मंदिर, सुशांत लोक ई-ब्लॉक फेस-1 गुड़गांव में स्थित है, जो 'सांई राम आंगन' के नाम से जाना जाता है। यह मंदिर बहुत ही शांत और स्वच्छ वातावरण में स्थापित है जहाँ पर सैकड़ों भक्तजन अपनी मनोकामना पूर्ण हेतु बाबा की शरण में प्रतिदिन नतमस्तक हो पूजा-अर्चना करते हैं। 'सांईराम आंगन' का निर्माण 'सांई प्रकाश चैरिटेबिल ट्रस्ट' नामक संस्था द्वारा अप्रैल 2000 में पारिवारिक ट्रस्टियों के दान द्वारा शिरड़ी साईं बाबा के कृपा से किया गया है। यह सांई आंगन लगभग तीन हजार वर्ग गज में फैला हुआ है। यहाँ पर पहुँचने पर वास्तव में मन को अति शांति मिलती है। मंदिर के मुख्य द्वार में प्रवेश करते ही दक्षिणमुखी हनुमान जी के चावड़ी मंदिर में दर्शन होते हैं। हनुमान जी की प्रतिमा अति मनमोहक है। हनुमान जी के भवन के दक्षिण में एक हॉल है जिसमें सांई

जी द्वारा दैनिक प्रयोग की जाने वाली प्रतीकात्मक वस्तुएँ जैसे बाबा का हुक्का, चौकी, लोटा, आटे की बोरी आदि रखी हुई है तथा मूर्ति स्थापित है जो वास्तव में जीवन्त जैसी प्रतीत होती है।

मंदिर के उत्तरी भाग में सांई जी की गुफा है जिसमें अंदर जाकर सांई जी विराजमान हैं जिनके दर्शन पाकर मनुष्य धन्य हो जाता है। गुफा में मौन धारण करना आवश्यक है। सांई राम आंगन में एक नि:शुल्क औषधालय तथा दूसरे स्थान पर सांई जी संबंधी साहित्य उपलब्ध है। मंदिर में दिन में तीन बार पूजा की जाती है प्रात: 8 बजे, दोपहर 12 बजे और सायं 6 बजे, मंदिर की ख्याति सारे क्षेत्र में ही नहीं अपितु दूर-दूर तक है। लोगों का विश्वास है जो भक्त सच्चे मन से सांई जी की शरण में यहाँ आता है उसकी मनोकामना सांई जी की कृपा से अवश्य पूर्ण होती है।

[न०सिं०ब०]

गुरुनानक देव

हमारे देश में आध्यात्मिक चेतना एवं नैतिक गुणों को पोषित करने के लिए अनेकों संत-महात्माओं का जन्म हुआ है जिसमें गुरुनानक देव का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। गुरुनानक देव सिक्खों के आदि गुरु थे जिन्हें कोई गुरुनानक देव, कोई बाबा नानक तो कोई नानक शाह तो कोई नानक साहब कहते हैं। गुरुनानक देव का जन्म लाहौर के पास खुपुरा जिले में रावी नदी के दायीं ओर तलबण्डी नामक स्थान में 15 अप्रैल 1469 ई. (वैशाख सुदी 3, संवत् 1526 विक्रमी) को कार्तिक पूर्णिमा के दिन हुआ था। तलबण्डी को सिक्ख समुदाय के व्यक्ति 'ननकाना साहब' के नाम से भी पुकारते हैं। यह स्थान पाकिस्तान के लाहौर जिले में स्थित है। अब ये स्थान सिक्खों के एक पवित्र तीर्थस्थल के रूप में जाना जाता है। जनश्रुति है कि नानकदेव के एक बड़ी बहन का जन्म अपने नाना के घर हुआ था जिसे सब नानकी कहते थे इसलिए गुरुनानक जी को नानक कहकर पुकारने लगे, तभी से उनका नाम नानक पड़ा।

गुरुनानक देव के पिता का नाम कालू एवं माता का नाम त्रिप्ता था। उनके पिता खत्री वंश के थे। वे कृषि एवं साधारण व्यापार करते थे। गुरुनानक देव जी की बाल्यावस्था गाँव में ही व्यतीत हुई। बाल्यकाल में उनमें असाधारणता एवं विचित्रता देखने को मिलती थी। गुरुनानक देव नेत्र बंद करके आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाते थे। जिससे नानक जी की इस प्रवृत्ति को देखकर उनके पिता कालू बहुत चिन्तित रहने लगे।

नौ वर्ष की अवस्था में गुरुनानक देव का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। सन् 1485 में गुरुनानक जी का विवाह बटाला निवासी मूला की कन्या सुलक्खनी से हुआ। 28 वर्ष की अवस्था में उनके बड़े पुत्र श्रीचन्द का जन्म हुआ और 31 वर्ष की अवस्था में उनके दूसरे पुत्र लक्ष्मीचंद्र का जन्म हुआ। गुरुनानक के पिता ने उन्हें कृषि-व्यापार में लगाना चाहा किन्तु उनके सारे प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। गुरुनानक देव नित्यप्रति नदी में स्नान करने जाया करते थे। कहते हैं कि एक दिन स्नान करने के पश्चात वे वन में अन्तर्ध्यान हो गये। उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हुआ। इस घटना के पश्चात वे अपने परिवार का भार अपने श्वसुर मूला को सौंपकर धर्मप्रचार करने के लिए निकल पड़े।

गुरुनानक देव जी की पहली यात्रा अक्टूबर 1507 ई. से 1515 ई. तक रही। इस यात्रा में उन्होंने हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी, गया, पटना, आसाम, पुरी, रामेश्वर, सोमनाथ, द्वारिका, बीकानेर, पुष्कर तीर्थ, दिल्ली, द्वारका, पानीपत, कुरुक्षेत्र, मुल्तान, लाहौर इत्यादि स्थानों में भ्रमण किया। उन्होंने बहुत से लोगों का हृदय परिवर्तन किया। कर्मकाण्डियों को बाह्याडम्बरों से निकाल कर रागात्मिकता भक्ति में लगाया।

अगस्त 1512 ई. में गुरुनानक देव अपने शिष्य मरदाना व बाला के साथ इस पवित्र ब्रजभूमि में भी पधारे। सबसे पहले वह वृन्दावन गए जहाँ पर आज नानक टीला गुरुद्वारा है। यहीं पर उन्होंने रासलीलायें देखीं और भक्तों को उपदेश भी दिए। बाद में मथुरा में यमुना किनारे गऊघाट पर शिवलिंग के पास आसन लगाकर बैठ गये। यहाँ

के पश्चात नानक जी मसानी स्टेशन के पास गुरुनानक बगीची के पास पहुँचे। जनश्रुति है कि गुरुनानक देव जी मसानी के पास एक कुएँ के पास बैठ गये तभी लोगों ने कहा गुरु जी यहाँ से तो अच्छा है यमुना घाट पर चलो क्योंकि यहाँ तो कुआँ का पानी खारा है। नानक देव ने कहा अब तो हमने यहीं आसन जमा दिया है और अब हम इसी कुएँ का पानी पियेंगे। उन्होंने लोटा-डोर लेकर कुएँ से पानी निकाला और लोगों को पिलाया। भक्तों के पानी पीते ही आश्चर्य का ठिकाना न रहा क्योंकि कुएँ का पानी मीठा हो गया। तब से आज भी उस कुएँ का पानी मीठा है। इस बगीची पर नानक जी तीन महीने तक रहे और जनमानस को उपदेश दिया।

गुरुनानक देव जी सर्वधर्म समभाव का संदेश देने वाले देश के महान और अलौकिक संत थे। गुरुनानक देव अपने शिष्य मरदाना और बाला के साथ ब्रज के मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, राधाकुण्ड, गोवर्धन, जतीपुरा में रुककर चातुर्मास भी किया था। गुरुनानक देव सन् 1539 ई. में गुरु अंगद देव को गुरु गद्दी का भार सौंपकर 1539 ई. में करतारपुर में ब्रह्मलीन हो गए। [कृ०उ०]

गुरु पूर्णिमा (व्यास पूर्णिमा)

पूरे भारत में गुरु पूर्णिमा अथवा व्यास पूर्णिमा के नाम से संज्ञित यह पर्व ब्रज में मुड़िया पूनों के नाम से संज्ञित है। यहाँ निम्बार्क, वल्लभ, राधावल्लभ, ललिता हरिदासी एवं अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में इस दिन आचार्य पूजन की परम्परा अद्यतन देखी जा सकती है। ब्रजमण्डल का गोवर्धन आज मुड़िया पूनों का प्रमुख केन्द्र है लेकिन आज से सैंकड़ों साल पहिले चैतन्य महाप्रभु की परम्परा से सम्बद्ध षड गोस्वामियों में प्रमुख सनातन गोस्वामी जी की तिरोभाव (देहावसान) तिथि पर उनके अनुयायियों ने वृन्दावनस्थ मदनमोहन मंदिर के निकट उनकी समाधि पर मृदंगों की सुमधुर ध्वनि के मध्य मुण्डन करवाकर दिव्य कीर्तन करते हुए गिरि गोवर्धन की परिक्रमा करी, उसी समय से इस तिथि पर मुड़िया होकर गोवर्धन की परिक्रमा किए जाने की परम्परा चल पड़ी। वि.सं. 1900 में गोपाल राय द्वारा रचित अप्रकाशित पाण्डुलिपि वृन्दावन धामानुरागावली से ज्ञात होता है कि उस समय तक यहाँ साधु-संतों का विशाल भण्डारा तथा भजन-कीर्तन होते थे और यह उत्सव ब्रजवासियों के मध्य सनातन के धीओ-धीओ के नाम से प्रचलित था—

वहीं व्यास पूनौ के दिन यक धीओ-धीओ होई।
कहत सनातन कौ उत्सव तिहि जुरत सदा सब कोई।।
संत महंत विरक्त सेवक तहाँ हजारन जैमें।
कीर्तन भजन नृत्य करि विकल होत सदा यह नैमें।।

(वृन्दावनधामानुरागावली प्रकाशित पांडुलिपि, गोपाल राय)

ब्रिटिशकाल में भी वृन्दावन का यह मेला चरम पर था। मथुरा के तत्कालीन जिलाधिकारी एफ.एस.ग्राउस ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर के अन्तर्गत इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि आषाढ़ पूर्णिमा (फुलमून) वाले दिन मदनमोहन मंदिर के पास यह आयोजन भव्यतम होता है। आषाढ़ शुक्ल पक्ष पूर्णिमा को शिष्यगण अपने गुरु की पूजा-अर्चना करते हैं। इसलिये इस दिन को गुरु पूर्णिमा कहा जाता है। आज ही के दिन भगवान व्यासदेव जी का जन्म दिवस मनाया जाता है। इस कारण से इस दिन को व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। वर्तमान में गोवर्धन इस मेले का प्रमुख केन्द्र है। इस दिन समस्त ब्रज तथा उसके आस-पास के अनेक गाँवों से लाखों लोग ग्रामीण

नर-नारी पैदल चलकर गोवर्धन पहुँचते हैं और वहाँ मानसी गंगा में स्नान कर श्री गिर्राज जी की परिक्रमा करते हैं। सैकड़ों भक्त दण्डौती परिक्रमा भी लगाते हैं। यह ब्रज में ग्रामीण जनता का सबसे बड़ा उत्सव है। इस अवसर पर परिक्रमा करती हुई ग्रामीण स्त्रियाँ भक्ति सम्बन्धी लोकगीत गाती हैं। वर्तमान में गोवर्धन परिक्रमा के दौरान प्रात:काल निकलने वाली गौड़ीय वैष्णवों की मुड़िया इसका प्रमुख आकर्षण है। — प्र०श०

गुरु प्रसाद

गुरुप्रसाद संत चरणदास जी के शिष्य थे। ये बचपन से भगवद् भक्ति की ओर झुकाव रखते थे। जब इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ तो यह चरणदास जी के पास दिल्ली चले आये और उनसे दीक्षा ग्रहण कर विरक्त वेश धारण कर लिया। ये जाति के गौड़ ब्राह्मण तथा कांधला जिला मुजफ्फरनगर के रहने वाले थे।

गुरु के सान्निध्य में रहकर ज्ञान, ध्यान और योग की शिक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु आज्ञा से धर्म-प्रचार के लिए निकल पड़े। धर्म-प्रचार करते हुए ये लखनऊ पहुँच गये। वहाँ पहले से ही इनके कई गुरु भाई अपनी-अपनी गद्दी स्थापित करके धर्म-प्रचार में रत थे। ये भी वहाँ पर चौक बाजार में अपना स्वतंत्र स्थान बनाकर धर्म-प्रचार में रत हो गये तथा इनके उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक नर-नारी इनके शिष्य हो गये। एक बार गुरु चरणों के दर्शन की इच्छा से ये दिल्ली गये। अचानक ही इनकी पत्नी वहाँ पहुँचकर रो-बिलखकर चरणदास जी से इनके साथ रहने की अनुमति माँगने लगी। तब चरणदास जी ने उन्हें साथ रहने की अनुमति प्रदान कर दी। गुरु प्रसाद ने यदि कुछ बानियां रची होंगी तो वे अभी तक अनुपलब्ध हैं। [क०उ०]

गुरुमुखदास

गुरुमुखदास जी श्री सुखविलास 'मस्तराम' की प्रेरणा से चरणदास जी के शिष्य बने थे। चरणदास जी के आदेश से यह मुजफ्फरनगर के निकट तीसा नामक स्थान पर गद्दी स्थापित कर धर्म-प्रचार में रत हो गये। तीसा के गंगातट के निकट इनकी गुफा आज भी सुरक्षित है, जिसमें रहकर ये साधना किया करते थे। शुकताल आने वाले चरणदासी संतों एवं गुरु भाईयों का ये बहुत सम्मान एवं सत्कार करते थे।

इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके एक चमत्कार का वर्णन किया है, जिसके अनुसार इन्होंने एक बार अकाल पीड़ित जनता के लिए एक यज्ञ कराकर वर्षा कराई थी। इन्होंने तीसा के अलावा नजीबाबाद के निकट हेजरपुर नामक स्थान पर भी एक गद्दी स्थापित की थी। हेजरपुर नामक ग्राम बिजनौर जिले में नगीना और नजीबाबाद स्टेशनों के मध्य नगीना से लगभग 7 से 8 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। [क०उ०]

गुरुसेवक

गुरुसेवक जी अपने नाम के अनुरूप अपने गुरु की सेवा पूर्ण मन एवं भक्ति से करते थे। शायद इसी कारण इनका नाम गुरुसेवक पड़ा होगा। जब तक चरणदास जी इस भूमि पर रहे तब तक ये धर्म-प्रचार के लिए दिल्ली आश्रम से ज्यादा दूर नहीं जाते थे। उतनी ही दूर जाते थे कि रात को लौट-कर आश्रम आ सकें। गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन बिना आलस्य के करते थे। यदि कभी गुरु ने इन पर क्रोध भी किया होगा उसे भी उन्होंने पूरी विनम्रता के साथ सहन किया। चरणदास जी के परलोक गमन के बाद भी यह दिल्ली आश्रम में रहते रहे। [क०उ०]

गोकुल के हिन्दू धार्मिक स्थल

गोकुल के मंदिरों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है- (अ) वह मंदिर (सात) जो महाप्रभु श्रीमद् बल्लभाचार्य जी एवं उनके सुपुत्र श्री विट्ठल नाथ जी द्वारा सेवित देवविग्रह हैं जिन्हें पुष्टिमार्गीय भाषा में निधि अथवा सेव्य स्वरूप कहा गया है। (ब) सात स्वरूपेतर पुष्टिमार्गीय देवालय (स) पुष्टिमार्गेतर अन्य देवालय।

(अ) पुष्टिमार्गीय निधियाँ-

गोकुलचंद्रमा जी का मंदिर-इस मंदिर को अब नंदराय (नंदभवन) का रूप दे दिया गया है। इसमें पुष्टि मार्गेतर प्रतिमाएँ विराजमान हैं। उसके बड़े भाग में जयगोपाल का नया मंदिर बन गया है। इसके एक भाग में श्री बल्लभाचार्य जी मंदिर भी प्राचीनकाल में था।

गोकुलनाथ जी का मंदिर-'गोकुलेश लीला चरित्र अवगाह' के अनुसार श्री गोकुलनाथ जी ने 'देवो देवाडो' द्वारा अर्पित घर में अपनी बैठक बनायी। रंगाबाई सौनी तथा धनाभाई राजपूत ने मथुरा से घंटा, झालर और आरती भेंट किये। संवत् 1658 के फाल्गुन मास में श्री गोकुलनाथ ने श्री गोकुलनाथ जी के मंदिर का मुहूर्त किया। मंदिर का निर्माण सिरिया मिस्त्री द्वारा किया गया। इसके निर्माण में 6 महीने लगे। इस तिमंजिले मंदिर के निर्माण पर प्रसन्न होकर गोकुलनाथ जी ने मिस्त्री को पाँचों वस्त्र, सोने के कड़े, कान की बालियाँ और काफी मात्रा में धन दिया। संवत् 1658 की आषाढ़ सुदी नवमी को गृह प्रवेश, कलश स्थापना कर मंदिर में ठाकुर जी को पधराया गया। वर्तमान में यह मंदिर अपने नये रूप में है। पुष्टिमार्ग की सातों निधियों में मात्र गोकुलनाथ जी ही गोकुल में विराजमान हैं। स्वरूप छोटा सा है। वर्तमान में चतुर्थ पीठाधीश्वर देवकीनंदन महाराज हैं। उपरोक्त सभी देवालयों में अष्टयाम सेवा का विधान है तथा सेवा पूजा-भोग एवं राग पुष्टि संप्रदाय के अंतर्गत ही होती है। इसमें कीर्तन का विशेष महत्व है।

द्वारिकानाथ जी का मंदिर-इस मंदिर में ही श्री बल्लभाचार्य जी की शैय्या बैठक विद्यमान है। इसका उल्लेख श्री द्वारकेश रचित नामामृत स्तोत्र में भी है। तृतीय पीठ के गोस्वामी श्री द्वारिकेश जी जिनका उपनाम 'वागधीश लाल' तथा 'केसरिया लाल जी' था ने इसका नये रूप में पुन: निर्माण संवत् 1647 में कराया। इस मंदिर का प्राचीन स्वरूप आज भी देखने को मिलता है।

नवनीतप्रिय जी का मंदिर-गोकुल में सबसे पहले नवनीतप्रिय जी के मंदिर का निर्माण हुआ और संवत् 1602 से लेकर संवत् 1936 तक अष्टछाप के आठों कवियों के विद्यमान रहने की अभिलेखों में चर्चा है। यह भी स्पष्ट है कि नंददास जी के अष्टछाप में शामिल होने से पूर्व विष्णुदास छीपा श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा में रहे और अपने जीवन के अंतिम काल में वे गोकुल के नवनीतप्रिय जी के मंदिर में ड्यौढ़ीवान नियुक्त हुए। जानकार और वरिष्ठ लोगों ने बताया कि यादवेंद्र दास ने इस मंदिर की नींव एक ही रात में खोद दी थी। अब इस मंदिर को राजा ठाकुर के मंदिर के नाम से भी जानते हैं। आज भी इस मंदिर में सातों स्वरूपों के विराजने के उस समय के आले बने हुए हैं। वर्तमान में पुष्टि संप्रदाय के तिलकायत नाथद्वारा स्थित तिलकायत दाऊजी महाराज के अधिकार में है। संवत् 1640 में सातों स्वरूपों का छप्पन भोग वाला उत्सव इसी मंदिर में हुआ था। संवत् 1646 की बसंत पंचमी के दिन गोस्वामी गोकुलनाथ जी अलग होकर श्री विट्ठलनाथ जी एवं श्री मदनमोहन जी के स्वरूपों को साथ लेकर गुसाईं जी की बैठक में आ गये। गुसाईं जी के तीसरे पुत्र श्री बालकृष्ण जी द्वारिकानाथ जी को लेकर अलग हो गये। छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी गोकुलनाथ जी के पास आ गये। गुसाईं जी के पुत्र श्री बालकृष्ण जी, श्री गोविन्दराम जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री घनश्याम जी संवत् 1646 तक एक साथ रहे। तब तक श्री द्वारिकाधीश जी, विट्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी, कल्याणराय जी और मदनमोहन के मंदिरों का निर्माण नहीं हुआ था। गुसाईं जी के पाँचवें पुत्र श्री रघुनाथ जी के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी की उस समय की स्थिति का अधिक पता नहीं चलता। यहाँ पर सेवा-पूजा पुष्टि संप्रदाय के अनुसार होती है। मंदिर में शिखर नहीं है और इस देवालय को हवेली नाम से जाना जाता है।

मथुरेश जी का मंदिर-उल्लेख है कि संवत् 1647 में यमुना के प्रवाह से द्वारिकाधीश मंदिर की नींव धसक गयी। मंदिर को क्षति पहुँचने की आशंका से द्वारिकाधीश की मूर्ति वहाँ से हटाकर मथुरेश जी मंदिर में पधरायी गयी; फिर द्वारिकाधीश मंदिर का पुन: निर्माण किया गया। यह प्राचीन ऐतिहासिक मंदिर वर्तमान में सामान्य भवन की भाँति निजी संपत्ति है। अग्रभाग में निज मंदिर है।

विट्ठलनाथ जी, मदनमोहन जी, कल्याणराय जी का मंदिर-उक्त तीनों ही प्राचीन मंदिर रतन चौक स्थित सिंहपौर के घेरे में श्री हरिराय महाप्रभु की बैठक सहित हैं। इनके निज मंदिर वर्तमान में निजी निवास बन गये हैं। यह एक ही सीध में लाल पत्थर से एक ही शैली में निर्मित हैं। इनके जगमोहन में लगे छज्जों की कलात्मकता दर्शनीय है। इसमें मौजूद पटाव, तहखाने आदि तत्कालीन वास्तुकला को प्रदर्शित करते हैं।

(ब) सात स्वरूपेतर पुष्टिमार्गीय देवालय-

कटरा का मंदिर-यह मंदिर अत्यंत समृद्ध और वैभवशाली था। इस मंदिर की गोस्वामिनी रत्नप्रिया बहूजी महाराज ठाकुर सेवा में संलग्न रहीं। दत्तक उत्तराधिकारी गोवर्धनेश जी की व्यवस्था के अधीन होने पर मंदिर सामान्य भवन में परिवर्तित हो गया।

काकाजी का मंदिर-काकाजी के नये और पुराने दो मंदिर एक-दूसरे से कुछ ही दूरी पर स्थित हैं। मंदिर में महाप्रभु जी के सेव्य प्रभुदास जलौटा के ठाकुर मदनमोहन जी विराजमान थे। काकाजी महाराज की प्राचीन समय में एक बड़ी गौशाला भी थी। पुराने मंदिर में सूक्ष्म में सेवा जारी है।

गंगाबेटी का मंदिर-पूर्व में यहाँ सूक्ष्म रूप में ठाकुर सेवा होती रही। यह मंदिर साहित्य और संगीत के आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ एक समृद्ध पुस्तकालय और हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह विद्यमान था। अब यह केवल आवासीय भवन है।

गंगा मंदिर-यह मंदिर दाऊजी की गली के प्रवेश स्थल के पार्श्व में स्थित था। यह कुछ समय तक आवासीय भवन था; अब भी है लेकिन वर्तमान में इसके निचले भाग में दुर्गा जी की मूर्ति स्थापित है।

गिरिराज मंदिर-यह मंदिर चौक में है। यहाँ श्री गिरिगोवर्धन की पवित्र शिला शृंगारित रूप में विराजमान है।

गोपाल लाल का मंदिर-इस मंदिर के दो भाग हैं प्राचीन और नवीन। नंद चौक में स्थित इस मंदिर में कलात्मक द्वार देखने योग्य है। नवीन मंदिर का निर्माण गोस्वामी रणछोड़ लाल जी ने कराया। मंदिर भव्य और विशाल है। नये मंदिर के चौक के एक कक्ष में श्री दाऊजी की विशाल मूर्ति स्थापित है। चिम्मनलाल जी के मंदिर से स्थानांतरित मूर्तियों के अतिरिक्त श्री महाप्रभु के सेव्य राणा व्यास के ठाकुर नवनीत प्रिय तथा गुसाईं जी के सेव्य श्री मथुराधीश के स्वरूप विराजमान थे, बाद में यहाँ की वर्तमान गोस्वामिनी रत्नप्रभा बहूजी मूर्तियों को मुंबई ले गयीं और अब इसे आवासीय रूप दे दिया गया है।

गोवर्धननाथ मंदिर-यह मंदिर नंद चौक से बीच चौक की ओर जाने वाली बजरिया में स्थित है। श्री गोकुलनाथ जी मुंबई वालों के अधीन था। वर्तमान में इसमें सेवा नहीं होती मात्र आवासीय भवन है।

चिंतामणि माधव मंदिर-यह मंदिर प्राचीन सिंहपौर के घेरे में है। जिसमें श्री विट्ठलनाथ जी, मदनमोहन जी और कल्याणराय जी के मंदिर अवस्थित हैं। मूर्ति 10वीं या 12वीं सदी की हो सकती है। यहाँ के सेवायत मालाकार (माली) रहे हैं।

चिम्मनलाल जी (पट्टा बहू जी) का मंदिर-यह मंदिर बहुत विशाल है; किंतु वर्तमान में इसे आवासीय भवन का रूप दे दिया गया है। इसमें हरिराय महाप्रभु के सेव्य श्री नवनीत लाल, श्री गोवर्धननाथ जी तथा श्री नटवरलाल के स्वरूपों की सेवा होती थी। इसमें विराजमान सभी मूर्तियाँ इत्यादि गोकुल के गोपाल लाल मंदिर में स्थानांतरित कर दी गयीं। यह मंदिर अष्टसखी घाट को जाने वाले मार्ग के बराबर में बाजार के रास्ते पर स्थित है।

जयगोपाल मंदिर–ये मंदिर पंचम पीठाधीश्वर श्री रघुनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी श्री गोपाललाल जी का है। यहाँ मुख्यत: श्री गोकुलनाथ जी की गद्दी की तरह श्री गोपाललाल जी की गद्दी की सेवा होती है। साथ ही श्रीबालकृष्ण जी और नवनीतप्रिय जी के स्वरूप अलग से विराजते हैं। कंसारा समुदाय के गुजराती भक्तजनों का ट्रस्ट यहाँ अनन्य भाव से सेवा व्यवस्था का संचालन करता चला आ रहा है। प्राचीन मंदिर को विस्तारित करके और अधिक भव्य रूप दिया गया है। यहाँ भगवान का चाँदी का पालना भी दर्शनीय है। इस मंदिर का बगीचा जो गोपाल बाग कहलाता है, अब इसमें खेती होती है।

जीवनलाल जी का मंदिर–राजा ठाकुर मंदिर के बगल में स्थित इस मंदिर में श्री महाप्रभु के सेव्य मदनमोहन जी विराजमान थे। यह मंदिर अब खंडहर बन गया है। प्राचीन द्वार अब भी शेष है। इसके पार्श्व में नया निर्माण हो गया है जो निजी आवास के रूप में है।

दाऊजी का मंदिर–इस मंदिर की व्यवस्था राजा ठाकुर मंदिर की व्यवस्था के अधीन है। इसमें दाऊजी की विशाल और भव्य प्रतिमा विराजमान है। मंदिर नंद चौक पर स्थित है। मंदिर के कारण गली का नाम दाऊजी की गली हो गया है।

दानबिहारी दाऊजी का मंदिर–वर्तमान राजा ठाकुर मंदिर के निकट छोटे से भवन में है। इसमें संप्रदाय की पद्धति के अनुसार कीर्तनिया स्व. राधेश्याम जी अत्यंत निष्ठापूर्वक प्रभु सेवा करते रहे। अब लगभग बंद है।

नटवरलाल जी का मंदिर–यह मंदिर मथुरेश जी के प्राचीन मंदिर के निकट है। मुख्य द्वार अष्टसखी घाट के रास्ते पर है। इसे गोस्वामी पन्नालाल जी मांडवी वालों का मंदिर कहा जाता है। वर्तमान में ठाकुर सेवा मंदिर के अंदर निजी रूप में होती है। श्री नटवर जी के स्वरूप का संबंध आरंभ में प्रथम गृह से रहा। श्री पीताम्बर जी (सं. 1843) ने नटवर लाल जी की सेवा की। प्रथम गृह के श्री श्रीकृष्ण जी उपनाम श्री छोटे जी ने श्री नटवर लाल को मांडवी से गोकुल में पधराया तथा छप्पन भोग का अपना मनोरथ पूर्ण किया।

नत्थूजी का मंदिर–यह मंदिर नंद चौक में स्थित है। इसमें विराजमान ठाकुर जी को 'ग्वारिया ठाकुर' कहा जाता था। प्रथम श्री गिरधर जी के सेव्य थे। प्रथम गृह के श्री जगन्नाथ जी उपनाम नत्थूजी ने या तो इस मंदिर का निर्माण कराया या फिर उन्होंने इस स्वरूप की सेवा की, इसी से 'नत्थूजी का मंदिर' कहा जाने लगा होगा। वर्तमान में इसका रूप आवासीय है।

नया श्रीलाल जी का मंदिर–यहाँ श्री लालजी के दो स्वरूप प्रभुकरन लाल जी तथा श्री मदनमोहन जी विराजमान थे। यह पुराने मंदिर से कुछ ही दूरी पर है। इसमें जीवराज भाई नामक गुजराती वैष्णव सेवा व्यवस्था करते थे। अब यह सामान्य भवन की भाँति है।

पुराना श्रीलाल जी का मंदिर–गिरधर जी (प्रथम) के वंश में श्रीरामकृष्ण जी के पुत्र ब्रजराय (संवत् 1857) ने श्री लालजी के स्वरूप की सेवा की। उसके बाद उसी गृह के गोपेश्वर जी ब्रजाभरण जी (संवत् 1879) ने भी इनकी सेवा की। यह प्राचीन चंद्रमा जी के मंदिर की गली में स्थित है। अब यहाँ नंदराय स्थापित है।

फूटरा मंदिर–पंचम पीठ से 'जयगोपाल' मत के प्रवर्तक श्री गोपाल लाल के पुत्र श्री गोपेन्द्र लाल जी की पुत्री जमनेश जी का यह मंदिर है। लाल पत्थरों से निर्मित इस मंदिर के नीचे बहुत लंबी सुरंग बताई जाती है। इसकी देखभाल जयगोपाल मंदिर के व्यवस्थापकों के द्वारा की जाती है। यहाँ पर कोई मूर्ति अथवा चित्र नहीं है; एक चबूतरा बना है। उसी की भावात्मक सेवा होती है। जिस गली में यह स्थित है वह फूटरा मंदिर की गली कहलाती है।

बल्लभाचार्य मंदिर–प्राचीन गोकुल चंद्रमा जी के मंदिर के घेरे में था। यहाँ श्री रघुनाथ जी (पंचम गृह) के दो सेव्य स्वरूप भी श्री बल्लभाचार्य के साथ विराजते थे। अब दो स्वरूप जयगोपाल मंदिर में विराजमान हैं।

बालकृष्ण लाल का मंदिर–इस मंदिर में महाप्रभु के सेव्य एक क्षत्राणी वृद्धा के श्री बालकृष्ण जी मदनमोहन जी

विराजमान हैं। मंदिर से दुकानें भी संलग्न हैं। यह मंदिर गोस्वामी ब्रजभूषण लाल जामनगर वालों का मंदिर है। मंदिर का एक बगीचा भी है; जिसमें अब खेती होती है।

बेनी बेटी का मंदिर–पूर्व में इस मंदिर में उज्जैन निवासी वैष्णव परिवार ठाकुर सेवा करता था। अब मंदिर रूप में न होकर यात्री निवास के रूप में प्रयोग होता है। यह मंदिर नंदचौक में स्थित है। इस मंदिर में श्री मुरलीधर महाराज के सेव्य श्री बालकृष्ण जी और नवनीत लाल विराजमान थे। मंदिर गोपाल प्रसाद गोस्वामी मथुरा वालों का था।

ब्रजेश्वर जी का मंदिर–यह मंदिर इंदौर वाले गोस्वामी बच्चू बाबा का है तथा नंद चौक में स्थित है। इस मंदिर में हरजी भाई कोठारी के सेव्य श्री मदनमोहन जी विराजमान हैं। यहाँ महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी का हस्तलेख, सुबोधिनी और पादुकाएँ विराजमान हैं। पूर्व में संप्रदायानुसार सेवा होती रही और अब सूक्ष्म रूप में सेवा होती है।

मोरवाला मंदिर–इस मंदिर में मोर पाले जाते थे। इसी कारण इसका नाम मोरवाला मंदिर पड़ा। इस मंदिर में ठाकुर जी मदनमोहन के अभूतपूर्व महोत्सव होते रहे। संभवत: यहाँ धींगरमल ठाकुर जी विराजमान थे। ऐसी मूर्तियाँ गोकुल के दो-तीन अन्य मंदिरों में विराजमान थीं। पूर्व में इस मंदिर का भव्य बगीचा रमणरेती के समीप था। इसमें एक बाराद्वारी और पृथक से मुगलकालीन छतरी विद्यमान है; जिसे ताजबीबी की छतरी कहा जाता है। ताजबीबी के ठाकुर 'उदेसर' में विराजमान बताये गये। वर्तमान में गोस्वामी रघुनाथ भट्ट जी महाराज के आधिपत्य में है। यहाँ कान्हबाई के सेव्य स्वरूप विराजमान थे।

राजा ठाकुर का मंदिर–यहाँ नवनीत प्रिय जी एवं सात स्वरूप का प्राचीन मंदिर है। इसकी नींव यादवेन्द्र दास द्वारा एक ही रात में खोद दी गयी थी। कालांतर में इसका विस्तार हुआ। यहाँ पर महाप्रभु के सेव्य रामदास वैष्णव के नवनीत लाल ठाकुर तथा श्री गुसाईं जी के सेव्य धानी पूनी वाली बाई के ठाकुर जी विराजमान हैं। गोकुल की समस्त जागीरदारी इसी मंदिर के अधीन रही। मंदिर के अनोखे ठाठ-बाट के कारण ही इसे 'राजा ठाकुर' मंदिर कहा गया। यहाँ कांच का छोटा कलात्मक हिंडोरा दर्शनीय है। मंदिर से दूर भव्य बगीचा था जो अब मंदिर के स्वामित्व में नहीं है। इस बगीचा के नीचे कमल कुंड नामक सरोवर था; जहाँ ब्रजयात्रा आकर रुकती थी। मिट्टी भर जाने के कारण कमल कुंड लुप्त प्राय हो गया है।

विलुप्त देवालय–यहाँ एक मंदिर बालमुकुंद जी का कभी था। जिसे भीष्मदास क्षत्रिय ने बनवाया था। गुसाईं जी ने उसे शिष्य बनाकर बालमुकुंद जी का स्वरूप सेवा हेतु प्रदान किया था। यह मंदिर संभवत: काल कवलित होकर भू-गर्भ में विलीन हो गया।

(स) पुष्टिमार्गेतर अन्य देवालय–

गणेश मंदिर–यह मंदिर गोकुल में पतित पावन कुंड के समीप स्थित है। इसमें विघ्न विनाशक भगवान गणपति विराजमान हैं।

चिंताहरण महादेव मंदिर–मथुरा से बलदेव जाने वाले पक्के मार्ग पर 15 कि.मी. दूर तथा बलदेव से 7 कि.मी. दूर मध्य में एक लिंक रोड से जुड़ा है चिंताहरण महादेव जी का विख्यात मंदिर। चिंताहरण महादेव का विग्रह एक शिवलिंग में एक सहस्र एक सौ आठ 'शिवलिंग दर्शनीय हैं। वहीं पर माता पार्वती, दुर्गा, हनुमान जी के मंदिर हैं। यहाँ के सेवाधिकारीगण वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी हैं तथा वैष्णव संप्रदाय के अनुसार ही यहाँ पर अष्टयाम सेवा-पूजा भोग-राग की आदि परंपरा है। श्री गणेश, कार्तिकेय, नंदीश्वर आदि के स्पष्ट दर्शन सुलभ हैं।

मंदिर में सेवायत महंत केशवदास जी ने बताया कि यह मंदिर द्वापर युग से स्थापित है। यहाँ पर श्री यशोदा मैया की चिन्ता का हरण भगवान शिव ने किया था। इस मंदिर का पुनर्निर्माण संवत् 2064 में तथा पूर्ण संवत् 2070 में हुआ। शिव चतुर्दशी को भक्तगण गंगा जल की काबर चढ़ाकर अपने मनोरथ की सिद्धि पाते हैं। श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को विशेष महोत्सव के साथ पूजा-अर्चना होती है।

नंदराय (नंदभवन)-गोकुल में नंदराय जी अथवा नंदभवन मंदिर है। इनमें प्राचीन गोकुल चंद्रमा जी मंदिर के घेरे में कृष्णमंडल नंदराय के नाम से स्थापित हैं। पन्नालाल जी इसकी सेवा-पूजा करते थे। श्रीलाल जी मंदिर में एक नंदराय अवस्थित हैं। श्री गोकुलेश्वर महादेव मंदिर के समीप मुरलीधर घाट पर एक नंदराय अवस्थित हैं। वहीं नंदकिला द्वारिकाधीश के प्राचीन मंदिर के निकट यमुना किनारे अधिक ऊँचाई पर विद्यमान है। प्राचीन समय में श्री श्यामलाल जी पूजा-पाठ करते थे।

ब्रह्माण्डबिहारी मंदिर-मथुरा से बलदेव जाने वाले पक्के मार्ग से एक लिंक रोड से जमुना किनारे ब्रह्मांड घाट पर ही श्री ब्रह्मांडबिहारी जी का मंदिर स्थित है। वैसे अब यातायात की नई व्यवस्था के अंतर्गत गोकुल बैराज वाली सड़क से गोकुल होते हुए एक पक्का मार्ग भी बन गया है जो रमणरेती होते हुए ब्रह्मांड घाट तक जाकर पुराने मथुरा-बलदेव मार्ग से जुड़ जाता है। ब्रह्मांड घाट मथुरा से 14 कि.मी. तो बलदेव से 8 कि.मी. के लगभग है।

श्रीमद्भागवत एवं अन्य पुराणों में माता यशोदा को भगवान श्रीकृष्ण द्वारा मुँह खोलकर पूरा ब्रह्मांड दिखाने की विस्तृत व्याख्या है। ग्वाल बालों द्वारा यशोदा जी को यह शिकायत करने पर कि श्रीकृष्ण ने मिट्टी खाई है और यशोदा जी के डाँटने पर जब श्रीकृष्ण ने मुँह खोला और माता को ब्रह्मांड के दर्शन करा चकित करा दिया।

श्रीब्रह्मांडबिहारी जी के मंदिर में श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाजी का अद्भुत विग्रह प्रतिष्ठित है। पास में ही एक छोटा मंदिर हनुमान जी का है। निकट ही एक मंदिर में भगवान शंकर सपरिवार विराजे हुए हैं। ब्रह्मांडबिहारी जी की परिक्रमा में उनके आयुध, शंख, चक्र, गदा एवं पद्म के बहुत ही मनोहारी दर्शन हैं। यहाँ यमुना पर दो घाट पक्के बने हैं जो श्रद्धालुओं के स्नान-आचमन हेतु सुविधाजनक हैं। यहाँ पर ब्रज रज का महा महत्त्व है। भक्तजन ब्रज-रज के बने पेड़ों को खरीदते व खाते हैं। क्योंकि यह मान्यता है कि यहीं पर भगवान श्रीकृष्ण ने ब्रज-रज का भोग लगाया था।

यहाँ पर अष्टयाम सेवा की व्यवस्था है। इस मंदिर एवं आश्रम के संस्थापक श्री ब्रह्मानंदाचार्य जी महाराज थे। उनके पश्चात् उनके बारह अन्य शिष्य भी मंदिर की सेवा-पूजा, भोग-राग एवं आश्रम की व्यवस्था सुचारु रूप से करते रहे हैं। वर्तमान महंत श्री रामशरण दास जी ने बताया कि भगवान ब्रह्मांडबिहारी युगल छबि की सेवा-पूजा रामानंदीय संप्रदाय के अनुसार होती है।

महादेव मंदिर-वर्तमान में गोकुलेश्वर महादेव का मंदिर मुरलीधर घाट पर तथा दूसरा वासुदेव द्वार के बाहर गोपाल घाट पर स्थित है। दोनों मंदिरों में ही शिवरात्रि पर भगवान महादेव का विशेष शृंगार, सेवा-पूजा और गायन-वादन होता रहा है। प्राचीन प्रतिमा उथलेश्वर घाट पर खुले स्थान में उथलेश्वर (उत्तरेश्वर) महादेव के रूप में है। अन्य मंदिर रामलीला मैदान को जाने वाले मार्ग पर है। एक भव्य मंदिर चौगानगढ़ बगीची पर यमुना किनारे बना है।

यमुना मंदिर-यह मंदिर ठकुरानी घाट के ऊपर के रास्ते में बना है।

योगमाया मंदिर-यह मंदिर यमुनाजी मंदिर के पार्श्व में स्थित है। इसमें योगमाया की भव्यमूर्ति की सेवा-पूजा और शृंगार विधिवत रूप से होता है। ये मंदिर नंद किला कमेटी के अधीन है।

रमणरेती, महावन-भगवान श्रीकृष्ण की जन्मस्थली मथुरा से महावन-गोकुल के मध्य स्थित है रमणरेती। हरियाली से परिपूर्ण प्रकृति के इस शान्त-एकान्त सुरम्य स्थल में उदासीन कार्ष्णि आश्रम है। इस रमणरेती का चयन महाप्रभु वल्लभाचार्य ने ग्वालों के साथ रमणबिहारी के कन्दुक खेलने के वार्तालाप के आधार पर प्रभु के पद चिह्न देखकर किया। जहाँ की रज (रेती) में बालकृष्ण लोटपोट हो रमण किये। इसी पावन वनखण्ड में आकर महात्मा ज्ञानदास जी को ऐसा अलौकिक आनन्द आया कि वह यहाँ निवास करने लगे। वस्तुतः रमणरेती ब्रज की प्रमुख तपोभूमि एवं सन्त-महात्माओं की तपस्थली है।

समूचे रमणरेती आश्रम परिसर में घास-फूँस से निर्मित 100 कुटियाँ हैं जिनमें साधनारत तपस्वी संत-महात्मा इनमें निवास करते हैं। ठाकुर श्री राधारमण बिहारी लाल जी का मुख्य मंदिर भी यहाँ स्थापित है। इस मंदिर के विग्रह का

निर्माण महात्मा ज्ञानदास ने साक्षात् दर्शन की छवि के अनुरूप मोम की बनी आकृति दिखलाकर जयपुर से कराया। इसके अतिरिक्त यहाँ रमणेश्वर महादेव, नवग्रह तथा धूना मंदिर, कार्ष्णि आरोग्य चिकित्सालय, गौशाला, संस्कृत पाठशाला, सरस्वती विद्या मंदिर, उद्यान एवं अन्नक्षेत्र हैं।

रमणरेती आश्रम के प्रवेश द्वार के सम्मुख सड़क के दूसरी ओर अभयारण्य पशु-पक्षी पार्क है। जिसमें हिरन, हाथी, घोड़े, सारस, बतख, मोर आदि स्वतंत्र रूप से विचरण करते हैं। इस परिसर में ठाकुर जी का बगीचा, विविध पुष्पों से सुरभित रमणवाटिका, रमण सरोवर, यमुना तट पर रमणघाट है। इस स्थल के निकट ही रसखान समाधि और गोपकुआँ भी है जिसे गोपों को प्यास लगने पर श्रीकृष्ण ने बाँसुरी से खोदा था।

इस रमणरेती आश्रम की आठ अन्य शाखायें-मथुरा, गोवर्धन, भरतपुर, कांमा, दिल्ली, भदरोहा (पठानकोट), हरिद्वार और वाराणसी में हैं। शिवरात्रि के उपरान्त फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से यहाँ पंच दिवसीय वार्षिकोत्सव श्री गोपाल जयन्ती के रूप में आयोजित होता है।

स्पष्टतः सरलता एवं शान्ति के प्रतीक इस पावन स्थली में भक्ति आस्था का सागर लहराता है और सूखी रज में रस की धारा प्रवाहित होती है। वस्तुतः रमणरेती में आकर मन रमण जाता है।

राम मंदिर-इसके संस्थापक परमंहस भगवानदास थे। आज भी सेवा-पूजा होती है। साधु-संतों के भोजन की भी व्यव्यस्था है।

राधाकृष्ण मंदिर-गोपाल घाट पर स्थित है। राधाकृष्ण की मूर्ति विराजमान थी। बंगाली साधुओं की ब्रजयात्रा भी यहाँ आती थीं।

शीतला माता मंदिर-यह मंदिर गणेश मंदिर से पहले ऊँचाई पर बना है। इस मंदिर से बाहर एक चबूतरे पर पुरातात्त्विक महत्त्व की कुछ छोटी मूर्तियाँ पूर्व में थीं जो अब नहीं हैं।

सत्यनारायण मंदिर-यह मंदिर रामलीला स्थल के पार्श्व में एक बगीची में स्थित था। अब यह अपने स्थापक के आवास में निजी रूप से सेवित है।

हनुमान मंदिर-परिक्रमा मार्ग में हनुमान जी के अनेक मंदिर हैं। विशालकाय हनुमान जी यहाँ पर विराजमान हैं। गोपाल घाट के साधु इसकी देखभाल करते हैं। दूसरा रमणरेती के समीप पतित पावन कुंड के ऊपर चौगनगढ़, दुर्बलगढ़, झाझनगढ़ इत्यादि स्थानों पर विराजमान हैं। [मृ०कु०पां०] [क०ला०पां०] [ता०चं०श०]

गोकुलदास

भक्ति रत्नाकर के अनुसार श्रीनिवासाचार्य के एक शिष्य गोकुलदास थे। इनका कवीन्द्र नाम भी मिलता है। यह काढी के मूल निवासी बताये गये हैं। जो बाद में पंचकोट के शेरगढ़ में बस गये थे। गोकुलदास द्वारा रचित केवल एक पद प्राप्त है जो कृष्ण के बहुत से नाम और उपाधियों की गणना करता है। इनकी निश्चित जन्म और मृत्यु तिथि अज्ञात है।

पंचकूटे सेरगढ़ वासी श्री गोकुल। पूर्व वास कढई कवीन्द्र भक्त्यातुल॥

(भक्ति रत्नाकर, पृ. 619)[वि०का०]

गोकुलनाथ

श्री गोकुलनाथ जी का जन्म संवत् 1608 की मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी शुक्रवार को अड़ैल में हुआ था। उनका मूल नाम बल्लभ था, किन्तु वे गोकुलनाथ जी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने वेद-शास्त्र-पुराणादि का प्रचुर

ज्ञानार्जन कर पुष्टि सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें अपने पिताजी द्वारा साम्प्रदायिक ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त हुई थी। आपके ज्येष्ठ भ्राता गिरधर जी ने आपको संध्या वंदन, हवन आदि का ज्ञान कराया था। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध संगीताचार्य गोविन्द स्वामी से साहित्य और संगीत की प्रेरणा मिली थी।

कर्नाटक के नारायण भट्ट नामक विद्वान से आपने वेदों का अध्ययन किया तथा श्रीमद् बल्लभाचार्य के ग्रन्थों का गहरा अभ्यास किया। थोड़े ही समय में उनके अध्ययन-चिंतन और योग्यता का परिचय श्रीगुसांई जी को मिल गया था। अपने पांडित्य और साम्प्रदायिक ज्ञान के कारण वे अपने पिताजी के जीवनकाल में ही सम्प्रदाय के मर्मज्ञ माने जाने लगे थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के तिरोधान के अनंतर जब उनके सातों पुत्रों ने अपने-अपने सेव्य स्वरूपों और शिष्य-सेवकों की पृथक-पृथक व्यवस्था करना आरम्भ किया, तब गोकुलनाथ जी का महत्त्व तथा प्रभाव और भी बढ़ गया था।

श्री गिरधर जी के आचार्यत्व काल में गोकुलनाथ जी पुष्टि सम्प्रदाय के सर्वमान्य व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध थे। कुटुम्ब परिवार और शिष्य-सेवकों पर उनका बड़ा प्रभाव था। श्री विट्ठलनाथ जी के वयोवृद्ध शिष्य भी उनका स्नेहपूर्ण आदर करते थे। श्री गिरधर जी की आज्ञा के बिना वे कभी कोई कार्य नहीं करते थे। वे जीवन-पर्यंत पुष्टि सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार और उसकी गौरव-वृद्धि करने में सचेष्ट रहे थे। उनके महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक घटना 'माला प्रसंग' के नाम से पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रसिद्ध है।

श्री गोकुलनाथ जी के जीवन की सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना 'माला प्रसंग' है। बादशाह जहाँगीर के अधिकारियों पर चिद्रूप नामक संन्यासी ने गहरा प्रभाव डालकर उन्हें वैष्णवों के विरोध में कर दिया था। तुलसी की माला पहनने वाले और ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगाने वाले वैष्णवों को सताया जाने लगा। जब श्री गोकुलनाथ जी को इसकी जानकारी मिली, तब आपने अनुयायियों को प्रेरणा दी कि प्राण भले ही चले जाएँ किन्तु माला और तिलक का परित्याग कभी न करें। आपके एक अनुयायी देवाभाई ने जहाँगीर के अमलदारों के विरुद्ध माला और तिलक को लेकर सत्याग्रह प्रारंभ कर दिया।

पुष्टि सम्प्रदायी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि गोस्वामी गोकुलनाथ जी 70 वर्ष की वृद्धावस्था में लंबी यात्रा करते हुए कश्मीर पहुँचे थे। उसी स्मृति में वहाँ उनकी बैठक बनी हुई है। वे कश्मीर से सम्राट जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुए और अपनी फरियाद की। उन्होंने कंठी-माला और तिलक के पक्ष में शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किये और सम्राट अकबर की धार्मिक सहिष्णुता का स्मरण दिलाया, जिसका बड़ा वांछनीय प्रभाव पड़ा था। उसके फलस्वरूप सम्राट जहाँगीर ने कश्मीर से वापस आने पर अपनी वह आज्ञा वापस ले ली थी। उसके उपरांत गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ सोरों से ब्रज वापस आ गये थे।

श्री गोकुलनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उनकी साम्प्रदायिक देन के समान उनकी ग्रन्थ रचना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा, दोनों में ग्रन्थ रचे थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' में उनके 13 ग्रन्थों के नाम लिखे गये हैं, किन्तु उन नामों के अन्तर्गत वस्तुत: अनेक ग्रन्थ हैं। ब्रजभाषा ग्रन्थों में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'हास्य प्रसंग', 'निज वार्ता', 'घरू वार्ता', 'बैठक चरित्र' और 'वचनामृत' उल्लेखनीय हैं। जो पुष्टि सम्प्रदाय की विशिष्ट साहित्यिक देन है और जिसके कारण ब्रजभाषा गद्य की उस काल में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

गोकुलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवक थे, जिनमें से 78 प्रसिद्ध हैं। उनमें भड़ौच के मोहनभाई का नाम उल्लेखनीय है। मोहनभाई गुजराती वैश्य और विख्यात राज्याधिकारी था। वह आगरा में रहता था। गोकुलनाथ जी के कई शिष्य-सेवक अच्छे कीर्तनकार एवं सुकवि भी थे। श्री गोकुलनाथ जी अपने भाइयों में सर्वाधिक दीर्घजीवी हुए थे। साम्प्रदायिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अंतिम काल में उनके नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी। उनका देहावसान

संवत् 1697 की फाल्गुन कृष्णा नवमी को हुआ था। उस समय उनकी आयु 90 वर्ष के लगभग थी। कहा जाता है कि आपका वियोग न सह पाने के कारण आपके 78 सेवकों ने भी देह त्याग कर दिया था। श्री गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने जिस पुष्टि सम्प्रदाय को भारत के कोने-कोने तक व्यापक बना दिया था, उसकी जड़ें मजबूत बनाने का कार्य श्री गोकुलनाथ जी ने किया था। [ना०ला०म०]

गोकुलनाथ की बैठकें

श्री गोकुलनाथ का जन्म संवत् 1607 में और देहावसान संवत् 1697 में हुआ था। ये गोसाईं विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र थे। विट्ठलनाथ जी के सातों पुत्रों के सात गृह और पीठ हैं। छ: भाइयों के सांप्रदायिक विचारों तथा सिद्धांतों में विशेष भिन्नता नहीं है। परंतु, इनके गृह और पीठ के सांप्रदायिक विचार अन्य पीठों की अपेक्षा भिन्न हैं। उनके अनुयायी भड़ूची वैष्णव कहलाते हैं। संप्रदाय में यह विश्वास है कि स्वामी विट्ठलनाथ के उपर्युक्त वचनों का ही यह परिणाम है कि गोकुलनाथ के अनुयायी भड़ूची वैष्णव गोकुलनाथ के पीठ को ही पूजते हैं।

गोकुलनाथ को अपने धर्म-प्रचार में यथेष्ट पर्यटन करना पड़ा था और अनेक स्थानों पर जाने के कारण वहाँ के शब्द भी स्वाभाविक रूप से इनकी भाषा में मिल गये। इतनी बात अवश्य है कि इस चित्रण में स्वाभाविकता अधिक है। हरिराय जी इनके लिपिकार और टीकाकार हैं। श्री गोकुलनाथ ने अनेकों बैठकें कीं जो इस प्रकार हैं-भीतर बड़ी बैठक, वृन्दावन, मथुराजी की बैठक, मधुवन की बैठक, कामदवन की बैठक, बहुलावन की बैठक, मानसी गंगा की बैठक, चंद्रसरोवर की बैठक, अन्जोर की बैठक, गोविन्द कुण्ड की बैठक, सुन्दर शिला की बैठक, मानसरोवर की बैठक, नंदगाँव की बैठक, संकेतवन की बैठक, भाण्डारीवन की बैठक, गोधरा की बैठक, गिरिराज जी की बैठक, अड़ैल की बैठक, मंदराचल की बैठक, व्यासगंगा की बैठक, हिमाचल की बैठक, व्यास आश्रम की बैठक, बद्री आश्रम की बैठक, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, सिद्धपुर, अवन्तिकापुर, कामवन, कोकिलावन, चरणाट, शौर्यम, चित्रकूट, गहवरवन तथा अयोध्या की बैठक आदि। बैठकों का विस्तार से परिचय इस प्रकार है-

अंजोर की बैठक-अंजोर में साधु पांडे के घर में भगवान श्रीनाथ और श्री महाप्रभु जी का प्रथम मिलन हुआ था।

अड़ैल की बैठक-इलाहाबाद में स्थित ग्राम 'देवरख' जहाँ श्री नवनीतप्रिया जी ने श्रीमहाप्रभु जी की माता को 'ब्रह्म सम्बन्ध' दिया और उनसे भेंटस्वरूप एक मोतियों का हार लिया था। यह सुनकर श्रीमहाप्रभु जी आनन्दित हो गये थे।

अवन्तिकापुर की बैठक-मध्यप्रदेश के उज्जैन स्थित गोमती कुण्ड पर इस बैठक में महाप्रभु ने पीपल का पौधा रोपा था और उस पर पानी का छिड़काव किया था

अयोध्या की बैठक-सरयू नदी के तट पर इस बैठक में महाप्रभु ने श्रीराम के रूप में हनुमान जी को दर्शन दिए। हनुमान जी को सूचित किया कि श्रीमहाप्रभु उस रूप को प्राप्त कर सकते हैं लेकिन तुम (हनुमान) श्रीप्रभु जी के रूप को प्राप्त नहीं कर सकते।

कामदवन की बैठक-महाप्रभु जी की कृपा के द्वारा भगवान श्रीनाथ जी के जलविहार में उनके अनुयायियों ने कुमुद और कुमुदिनी की झलक प्राप्त की।

कामवन की बैठक-श्रीमहाप्रभु ने स्वतंत्र और सुव्यवस्थित ढंग से जल का छिड़काव किया।

कुरुक्षेत्र की बैठक-हरियाणा के थानेश्वर गाँव के निकट महाप्रभु ने अपने हजारों अनुयायियों के द्वारा श्रीमद्भागवत के गीत गाये और 'चरनराज' का चरण वन्दन किया।

कोकिलावन की बैठक-कृष्ण कुण्ड के पास श्रीमहाप्रभु ने चतुरनाग और उनके अनुयायियों को खीर प्रदान की।

गहवरवन की बैठक-गहवर वन की बैठक में महाप्रभु ने चींटियों द्वारा काटे गये मृत पड़े अजगर को मुक्ति प्रदान की। महाप्रभु जी ने दुखी होकर दामोदरदास जी से कहा कि यह अजगर पूर्व जन्म में वृन्दावन में एक गुरु था जिसने

अपने भक्तों से अपार धन एकत्रित किया था लेकिन उसने यह धन भक्तों के लिये प्रयोग नहीं किया था। वही भक्त चींटियों के रूप में उसे खा रहे थे। महाप्रभु के स्पर्श से अजगर और चींटियों को मोक्ष प्राप्त हो गया।

गिरिराज जी की बैठक-भगवान श्रीनाथ जी के पश्चात श्रीमहाप्रभु जी के प्रस्ताव के साथ श्री स्वामिनी जी का आगमन हुआ।

गोधरा की बैठक-गोधरा की बैठक रनव्यास (गुजरात) गृह में हुई। श्रीराम व्यास जो उनके भक्त थे, उन्होंने 'चतुः श्लोकी' ग्रंथ पर विचार किया था।

गोविन्द कुण्ड की बैठक-भगवान श्रीनाथ जी ने महाप्रभु जी को श्रीकृष्ण प्रेममूर्ति ग्रंथ श्री चैतन्य को देने का उपदेश दिया।

चंद्रसरोवर की बैठक-श्री महाप्रभु जी की कृपा से भक्तों को छोंकर पेड़ के नीचे रासलीला की झलक प्राप्त होती थी।

चरणाट की बैठक-चरणाट स्टेशन से तीन कि.मी. इलाहाबाद की ओर इस बैठक में एक ब्राह्मण ने गंगा नदी से श्री डाकोर जी की मूर्ति श्रीमहाप्रभु जी को भेंट की। उसी दिन विट्ठलनाथ का जन्म चरणाट में संवत् 1572 में हुआ था।

चित्रकूट की बैठक-कामनाथ पर्वत पर श्रीरामचंद्र जी ब्राह्मण के रूप में आये और श्री महाप्रभु ने उनको केले भेंट किये।

नंदगाँव की बैठक-श्रीमहाप्रभु जी की कृपा से उनके अनुयायियों को भगवान विष्णु के द्वारा आगे बताए गये शरीर की दिव्यता की दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई।

पुष्कर की बैठक-अजमेर से सात मील दूर 'वल्लभ घाट' के पास 'ब्राह्मण कुण्ड' पर ब्रह्मा जी ने स्वयं को कमल से उत्पन्न किया। प्रतिदिन भागवत सुनने आते थे।

बद्रिकाश्रम की बैठक-हिमालय में स्थित बद्रीनाथ मंदिर के निकट गर्मपानी के कुण्ड के पास जहाँ यह बैठक हुई थी, वहाँ श्री बद्रीनाथ जी ने इच्छा व्यक्त की महाप्रभु को भोजन कराने की। उसे 'वामन द्वादशी' कहा जाता है।

बहुलावन की बैठक-महाप्रभु जी की कृपा द्वारा हाकिम की उपस्थिति में गाय के खाने वाले अनाज और घास तथा गाय की दैवीयता को चुनौती दी थी।

भांडीरवन की बैठक-महाप्रभु जी ने सात दिनों तक भागवत गीत गाये और श्री व्यासतीर्थ स्वामी के माधवाचार्य को स्वीकार किया था।

भीतर बड़ी बैठक-श्रीगोकुलबिहारी की बड़ी बैठक में सत श्याम नारदानंद जी ने श्री महाप्रभु जी के दिव्य और आध्यात्मिक दर्शन प्राप्त किए।

मंदराचल की बैठक-हिमालयों में स्थित मंदराचल पर्वत पर श्रीमहाप्रभु ने श्री मधुसूदन जी के गीत श्रीमद्भागवत में गाये।

मथुरा जी की बैठक (विश्रामघाट)-श्री चैतन्य प्रभु श्री महाप्रभु जी के संदेश के गहन ज्ञान के अर्थ के पश्चात मूर्छित हो गये।

मधुवन की बैठक-भगवान श्रीनाथ जी ने कृष्ण कुण्ड के पास कदम्ब के नीचे श्री महाप्रभु जी के भगवत् संगीत में रुचि ली।

मानसरोवर की बैठक-यहाँ श्री स्वामिनी जी नाराज और हठी हो गयी थीं। इसलिए श्रीमहाप्रभु जी ने उनको सम्मान प्रदान किया था।

मानसीगंगा की बैठक-श्री महाप्रभु जी ने श्रीकृष्ण चैतन्य और उनके अनुयायियों को ऐसी दिव्य शक्ति प्रदान की जिससे उन्हें मानसी गंगा में पानी के स्थान पर दूध प्राप्त हुआ।

वृन्दावन की बैठक-प्रभुदास जलोटा को श्रीनाथ जी की कृपा के द्वारा प्रत्येक पत्तियों और पेड़ों में भी भगवान श्रीनाथ के दर्शन प्राप्त हुए।

व्यास आश्रम की बैठक-हिमालय में स्थित श्री महाप्रभु ने 'सुबोधिनी' की रचना की।

व्यासगंगा की बैठक-ऋषिकेश से 37 मील दूर व्यासगंगा के पास व्यासगंगा पर गंगा जी ने एक सुन्दर स्त्री के रूप में हाथों से पंखा करते हुए महाप्रभु जी की सेवा की थी।

शौर्यम जी की बैठक-महाप्रभु जी के बड़े भाई श्री केशवपुरी ने पानी पर चलने की उपलब्धि प्राप्त की लेकिन दुर्भाग्यवश वह डूबने लगे तब महाप्रभु जी ने अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा उन्हें बचाया।

संकेतवन की बैठक-यहाँ श्रीमहाप्रभु जी ने संकेत द्वारा एक विशेष समय में एक सुंदर स्त्री द्वारा महाप्रभु की सेवा भागवत में रचित की थी।

सिद्धपुर की बैठक-गुजरात में सरस्वती नदी के किनारे पर स्थित सिद्धपुर ग्राम में महाप्रभु ने वेद ग्रंथों का परिचय कराया था।

सुंदर शिला की बैठक-सुन्दर शिला गिरिराज के सामने जैतपुर में स्थित है। जहाँ श्री महाप्रभु, दामोदरदास जी की गोद में विश्राम कर रहे थे और यहाँ उन्होंने भगवान श्रीनाथ जी को विघ्न न डालने को कहा। वे भगवान की उपस्थिति में जागे थे।

हिमाचल पर्वत की बैठक-हिमालय में स्थित केदारनाथ से 2 मील दूर इस बैठक में जहाँ हिमालय वस्त्र बदलकर ब्राह्मण के रूप में महाप्रभु जी को सुनने आया। [रे०मि०]

गोपदेव

श्री गोपदेव जी का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। आचार्य जी संगीत के मर्मज्ञ और भगवान राधासर्वेश्वर की लीलाभूमि के रसिक थे। इन्होंने ब्रज के वन, उपवन और सरोवरों पर अपने जीवन का अधिकांश काल गुजारा। ये पचास वर्ष तक ब्रजधाम में व्यक्त रूप से विराजे। इन्होंने संप्रदाय का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार किया। [कुं०बि०श०]

गोपाल गुरु

गोपाल युवावस्था में ही चैतन्य महाप्रभु के सान्निध्य में आ गये थे। एक बार चैतन्य महाप्रभु ने इनसे विनोदपूर्ण वार्तालाप करते हुए 'गुरु' कहकर सम्बोधित किया। तभी से इनको गोपाल गुरु के नाम से जाना जाने लगा। इनके दीक्षा गुरु श्री वक्रेश्वर जी थे।

इन्होंने श्री स्वरूप दामोदर और श्री रघुनाथ दास गोस्वामी से रस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया था। यह अपने गुरु श्री वक्रेश्वर पंडित के साथ जगन्नाथ पुरी में काशी मिश्र के घर में रहते थे। इनसे पूर्व इसी घर में चैतन्य महाप्रभु रहते थे। इन्होंने श्रीराधाकान्त की विग्रह की सेवा के लिए एक मंदिर का निर्माण कराया था। इनके प्रसिद्ध शिष्य श्री ध्यानचंद्र गोस्वामी ने कई वैष्णव भक्ति ग्रंथों की रचना की। जिसमें उन्होंने रागानुगा भक्ति से गौरांग और राधागोविन्द की सेवा की व्याख्या की है। गोपाल गुरु का तिरोभाव वृन्दावन में ही हुआ था। इनकी समाधि धीर-समीर घाट के निकट स्थित है। [क०उ०]

गोपाल चम्पू

जीव गोस्वामी विरचित 'गोपाल चम्पू' चैतन्य सम्प्रदायी वैष्णवों का सर्वमान्य ग्रंथ है। गद्यपद्यमय यह काव्य

पूर्वचम्पू तथा उत्तरचम्पू नामक दो भागों में विभक्त है। इसके पूर्व एवं उत्तर दो भाग हैं। पूर्व में 33 पूरणों (अध्यायों) में भगवान श्यामसुन्दर के बाल्य तथा कैशोर्य लीला विलास का चित्रण है। उत्तर भाग में 37 पूरणों में श्रीकृष्ण के मथुरा एवं द्वारका की लीलाओं का आलोक है। इसमें श्रीकृष्ण के समग्र चरित्र का मनोहारी विवरण दिया गया है। गोपालचम्पू जीव गोस्वामी की असाधारण प्रतिभा तथा शास्त्रवैदुष्य का परिचायक है जिसमें राधाकृष्ण के प्रति इनकी अनन्य शक्ति का सरस उन्मेष पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। इस विशाल काव्य में तीन हजार से अधिक पद्य हैं। इसमें भक्ति-तत्त्वों का विवेचन चैतन्य दृष्टि से बहुत विस्तार के साथ उदाहरण सहित दिया गया है, अत: यह सिद्धान्त ग्रंथ भी है। [क०उ०]

गोपालदास

श्री गोपालदास जी महाराज ब्रज वृन्दावन के अनन्य प्रेमी भक्त रसिक थे। इस पावन भूमि में निवास से पूर्व गोपालदास जी ने मानो यहाँ की प्राप्ति हेतु किसी श्रेणी का अर्जन किया था, जिससे उनकी श्रद्धा दृष्टिगोचर होती है। गोदाबाबा (गिरनार) के महंत श्री सेवकदास जी से दीक्षा ग्रहण करने के बाद चारों धामों की यात्रा की। काम्यवन में श्रीगोपाल मंदिर के महंत श्री रघुनाथदास जी से अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया। इसके बाद गंगा तट पर श्रीमद्भागवत का पारायण किया तत्पश्चात वृन्दावन धाम में निवास करने लगे। ब्रज और ब्रजवासियों में इनकी अनन्य निष्ठा थी। दाऊजी महाराज इनके आराध्य देव थे। जो कुछ भी भेंट में मिलता उसे दाऊजी को अर्पित कर ब्रजवासियों को खिला देते। एक दिन दाऊजी महाराज ने स्वप्नादेश के माध्यम से साधु सेवा की रीति बताई। भगवद प्रेरणा से गोपालदास जी महाराज ने श्रीनिंबार्काचार्य उत्सव का सूत्रपात किया। अब जो कुछ भगवद प्रेरणा से अर्जित होता आचार्य परम्परा के गुणानुवाद में समर्पित कर सत्संग, संकीर्तन में निमग्न रहते। इनकी सन्निधि में अनेकों भगवद विमुख वैष्णव हो गए। महाराजश्री वाक्सिद्धि सम्पन्न महात्मा थे। इनका जन्म गौड़ विप्र कुल में वि.सं. 1872 में हुआ। श्री हंसदास जी महाराज इनके प्रमुख शिष्य थे। [कुं०बि०श०]

गोपाल भट्ट

वृन्दावन के षड्गोस्वामियों में व्यंकट भट्टजी के सुपुत्र गोपाल भट्टजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी दक्षिण-यात्रा के समय चैतन्य देव ने चातुर्मास इन्हीं के घर पर किया था। वि. सं. 1582 में सब कुछ परित्याग कर ये वृन्दावन आ गए थे। इन्हें भी अन्य गोस्वामियों की भाँति चैतन्य देव ने बैठने का आसन और डोरी प्रदान की थी। इनके पास शालिग्राम शिला थी जिसकी वे वृन्दावन में सेवा-पूजा किया करते थे। वैष्णव समाज में विश्रुत है कि गोपाल भट्ट की इच्छापूर्ति स्वरूप श्रीराधारमणजी शालिग्राम शिला से प्रकट हुए थे। मान्यतानुसार स्थानीय गौड़ीय सप्त देवालयों के तीन विग्रहों की अपनी-अपनी विशिष्टता है, जिसमें रूप गोस्वामी के सेव्य गोविन्ददेव का मुखमंडल, मधु पंडितजी के गोपीनाथजी का वक्षस्थल एवं सनातन गोस्वामी के सेव्य मदनमोहन के श्रीचरणों के दर्शन का विशेष माहात्म्य है। लोकमान्यता में श्रीगोपाल भट्ट द्वारा सेवित राधारमण के श्रीविग्रह का दर्शन उन सभी अनुभूतियों को साकार करने वाला है। गोपाल भट्ट वैष्णव शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी समाधि श्रीराधारमणजी के घेरे में स्थित है। इनके द्वारा विरचित 'हरिभक्ति-विलास' ग्रंथ को वैष्णवों में काफी आदर प्राप्त है। [रा०श०]

गोपाल भट्टाचार्य

वैदिक धर्म के संरक्षक, शरणागतों के रक्षक, शास्त्रानुशीलन में निरत, दया, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और वत्सलता जैसे

गुणों से परिपूर्ण गोपाल भट्टाचार्य जी अष्टादश भट्टों में से 12वें हैं। निंबार्काचार्य परंपरा में ये 24वें आचार्य हैं। इनका पाटोत्सव पौष कृष्ण एकादशी को समारोहपूर्वक मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

गोपाल लाल

श्री गोपाल लाल जी का जन्म वि.सं. 1637 में हुआ था। इनके पिता श्री रघुनाथ जी वल्लभ पीठ के पंचम सेवायत थे। इन्होंने अपना पृथक जयगोपाल मार्ग चलाया। इनके अनुयायी अभिवादन में जय गोपाल का उच्चारण करते हैं। [जि०कु०]

गोपाल विलास

'गोपाल विलास' एक अनुपम महाकाव्य है जिसमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। यह भक्तिकाव्य परम्परा का एक अत्यन्त विशिष्ट ग्रंथ है। लगभग एक शताब्दी पूर्व लिखित यह कृति उस परम्परा की रचना है जो अपने वैराग्य भाव के फलस्वरूप उदासीन संज्ञा से जानी जाती है। यह रचना एक ओर कथा का संगुम्फन किये हुए है तो दूसरी ओर इसमें लीला तत्त्व के माध्यम से रस विस्तार की अनन्त सम्भावनायें भी घनीभूत हैं।

'गोपाल विलास' पूज्यपाद श्री ज्ञानदास जी महाराज के शिष्य कार्ष्णि गुरु स्वामी गोपालदास जी महाराज द्वारा पद्यात्मक रोचक शैली में ब्रजभाषा में रचित काव्य है। 'गोपाल विलास' ग्रंथ की टीका कार्ष्णि गुरु दादा स्वामी हरिनामदास जी महाराज ने अपने लघु गुरु बन्धु स्वामी कृष्णानंद जी महाराज के साथ सरल भाषा में लिखी। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में कार्ष्णि गुरुओं का वर्णन है तो द्वितीय खण्ड में कृष्ण लीलाओं का वर्णन है। इस ग्रंथ में मुख्यत: श्रीमद्भागवत के आधार पर भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र का कथन किया गया है। इसकी कथावस्तु में ब्रजराज श्रीकृष्ण के प्राकट्य से लेकर गोलोक गमन पर्यन्त की लीला माधुरी के दर्शन होते हैं।

स्पष्टत: भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की त्रिवेणी से निमज्जित 'गोपाल विलास' कृति का सम्पूर्ण कथानक अत्यन्त पुष्ट एवं समृद्ध है। ब्रजभाषा में दोहा-चौपाई के माध्यम से रचित इस ग्रंथ में एक ओर श्रीकृष्ण की लीला माधुरी की दिव्यता-भव्यता है तो दूसरी ओर इसमें रूप माधुरी का रस है। वस्तुत: यह कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा का एक सुप्रसिद्ध विशिष्ट ग्रंथ है। [ता०चं०श०]

गोपालाचार्य

शाक्त संप्रदाय में आस्थावान कन्नौज के कान्यकुब्ज द्विजकुल में गोपालाचार्य जी का जन्म हुआ। किंतु इनके माता-पिता परम वैष्णव थे। इससे इन्हें परिवार में विरोध और खिन्नता का सामना करना पड़ता था। एक दिन भगवान ने स्वप्न देकर कहा 'घबराओ मत' तुम्हारे पुत्र रूप में मेरी विशिष्ट विभूति अवतीर्ण होगी और इसके पश्चात् सब अनुकूल हो जाएगा। विशिष्ट चिह्नों और विलक्षण तेज संपन्न गोपालाचार्य जी के जन्म के बाद सब कुछ अनुकूल होने लगा। सबका जार और वैरभाव जाने लगा। बारह वर्ष की अवस्था तक परिवार ही नहीं अधिकांश नगर ही वैष्णव होता चला गया। गोपालचार्य जी किशोरावस्था में माँ-पिता से आज्ञा लेकर वृंदावन आए तो गुरुदेव श्यामाचार्य जी ने वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर इन्हें अपना लिया और ब्रज यात्रा का आदेश दिया। वृंदावन की परिधि से बाहर निकलते ही इन्हें एक विमान में विराजमान राधाकृष्ण के दर्शन हुए। आगे वन में बालरूप में दर्शन हुए, जहाँ माता-पिता बालकृष्ण को लाड़ लड़ा रहे हैं। गाय-बछड़ों के झुंड दिखाई दिए। इसके बाद पौगण्ड रूप से लीलाविहारी भगवान के दर्शन हुए। गोवर्धन में किशोरवय भगवान के दर्शन कुंज-निकुंजों में निज परिकर के साथ हुए। पुन: वृंदावन आगमन पर श्रीनिधिवन में विराजमान गुरुदेव को संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। तब श्री श्यामाचार्य जी ने उन्हें वृंदावन रहस्य उद्घाटित किया और

निज पद प्रदान किया। गोपालाचार्य जी 84 वर्षों तक पीठासीन रहे। इनका पाटोत्सव भाद्रपद शुक्ल एकादशी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

गोपाष्टमी

कार्तिक शुक्ल पक्ष अष्टमी को ब्रज में गोपाष्टमी का उत्सव का आयोजन किया जाता है। जो कि भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा प्रथम गोचारण दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। इस दिन श्रीकृष्ण माँ जशोदा से पहली बार गोचारण की आज्ञा माँगते हैं।

'प्रथम गोचारण चले कन्हाई।'
माथे मुकुट पीताम्बर की छवि वनमाला पहराई॥

(परमानन्द दास कवि, परमानन्द सागर 120)

इस दिन ब्रजवासीगण अपनी गायों को नहला-धुलाकर गेरू से चित्रित कर उनका श्रृंगार करते हैं। फिर कृष्ण-बलराम की सवारी के साथ उनकी शोभायात्रा निकाली जाती है। यह उत्सव मथुरा-वृन्दावन और गोकुल में विशेष धूमधाम के साथ मनाया जाता है। वहाँ पर गोशालाओं की सैंकड़ों गायों का भव्य प्रदर्शन देखा जाता है। इस दिन ब्रज के मन्दिरों में विशेष आयोजन किये जाते हैं। गोचारण के पद गाये जाते हैं। इस दिन ठाकुरजी को गोचारण की पोशाक तथा छड़ी धारण कराते हैं और ठाकुरजी सभी भक्तों को नटवर वेश में दर्शन देते हैं। ठाकुरजी को अनेक प्रकार के मिष्ठान्नों का भोग लगाया जाता है। यह उत्सव सप्त देवालयों में भी अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। कार्तिक शुक्ला अष्टमी को यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन प्रात:काल गायों को स्नान कराके गंध-पुष्पादि से उनका पूजन करते हैं और अनेक प्रकार के वस्त्रों से अलंकृत करके गायों को 'गो-ग्रास' देकर परिक्रमा करते हैं। सायंकाल जब गायें गौचारण से वापस लौटती हैं तो भी उनका पूजन किया जाता है। ब्रज संस्कृति मूलत: गौपालकों की है, इसलिये इस दिन का सम्बन्ध गौ-पालन से है, ग्वालों को इस दिन सम्मान दिया जाता है। [प्र०श०]

गोपीनाथ

श्री महाप्रभु हित हरिवंश जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी थे। इनका जन्म संवत् 1547 फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा का है। ये चारों भाई वृन्दावन आये परन्तु पिता की आज्ञा से गोपीनाथ जी देव वन वापस जाकर वहीं श्री रंगीलाल जी की सेवा में तत्पर हुये। इन्होंने भगवत् आराधना के अलावा कुछ ही ग्रंथ आदि निर्माण किये। इनके पाँच पुत्र हुये। श्री गोस्वामी मधुमंगल जी, श्री गोस्वामी रूपानन्द जी, श्री गोस्वामी मुरलीलाल जी, गोस्वामी हृदयानन्द जी, गोस्वामी श्री सदानन्द जी इन पुत्रों को सेवा सौंप कर गोपीनाथ जी वृन्दावन पधारे। यहाँ भगवत् आराधना की फिर यहाँ से आप राधाकुण्ड पधारे वहाँ कुछ दिन निवास कर निकुंज पधार गये। इनके मुख्य दस शिष्य हुये- सुन्दरदास जी, अलि कल्याण जी, हरिदास जी, श्री कुंजदास जी, प्रियादास जी, लाल स्वामी जी, ध्रुवदास जी, कल्याण जी, नायक गोपाल। [प्र०श०]

गोपीनाथ भट्टाचार्य

निंबार्क परंपरातंर्गत श्रीबलभद्राचार्य जी के पश्चात् श्री गोपीनाथ भट्टाचार्य जी निंबार्क पीठ पर आसीन हुए। वेद-शास्त्रोक्त प्रमाणों से धर्म विरोधियों की शंकाओं और विरोध का निराकरण-शमन किया। इनका स्वभाव जितना

भगवदोन्मुख था उतना ही भक्त वत्सल। इन्होंने अनेकों धर्म विमुख लोगों को सर्वेश्वर चरणारविंद में प्रीति प्रदान की। गोपीनाथ भट्टाचार्य जी का पाटोत्सव श्रावण शुक्ल सप्तमी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

गोपेन्द्र

श्री गोपेन्द्र जी के जन्म के विषय में कुछ खास जानकारी उपलब्ध नहीं होती है लेकिन ये श्री गोपाल लाल जी के पुत्र थे। इनकी बैठक और प्राचीन मंदिर गोकुल में विद्यमान है। इनकी पुत्री जयनेश को मर्दानी पोशाक पहनने और घोड़े पर सवारी करने का शौक था। [जि०कु०]

गोपेश्वर

द्वितीय गृह के गोस्वामी हरिराय जी के छोटे भाई गोपेश्वर जी थे। इनका जन्म 1649 में हुआ था। यह बहुत बड़े विद्वान और ग्रंथों के रचयिता थे। इनकी पत्नी का देहांत अल्पायु में ही हो गया था। जिससे वे बहुत अधिक दु:खी व उद्विग्न, शोकाकुल रहने लगे थे। तब उनको सांत्वना और धैर्य प्रदान करने के लिए 42 पत्र उनके बड़े भाई गोस्वामी हरिराय जी ने संस्कृत में लिखे थे, जिन्हें शिक्षा पत्र के नाम से जाना जाता है। इन पत्रों में आचार्य जी तथा गुसाईं जी की शिक्षाओं के आधार पर उपदेशात्मक कथन लिखे गए हैं। जिन्हें पढ़कर गोपेश्वर जी के अशान्त-उद्विग्न मन को शांति मिली थी और उसके बाद ही वह अपने धर्म और कर्तव्यों के कार्य को सफलतापूर्वक करने लगे। उन्होंने उन पत्रों पर ब्रजभाषा में टीका भी की थी। पुष्टि संप्रदाय में ये शिक्षा पत्र अत्यन्त लोकप्रिय रचनाओं के समान माने जाते हैं। [वं०तै०]

गोवर्धन के हिन्दू धार्मिक स्थल

गिरिराज दानघाटी मंदिर-दानघाटी, गोवर्धन गिरिराज की वह घाटी है, जहाँ होकर बरसाने की ग्वालिन अपना दधि-माखन लेकर मथुरा जाती थीं। यहीं खड़े होकर कौतुकी कृष्ण उन्हें राह में रोककर उनसे माखन का दान माँगा करते थे। श्रीकृष्ण द्वारा ब्रज गोपियों से दान लिये जाने के कारण इस घाटी का नाम 'दानघाटी' हो गया। लोकमान्यता है कि जिस गिरिराज की विशाल शिला का पूजन और श्रृंगार गोवर्धन गिरिराज के रूप में होता है वह वही शिला है जिसकी ओट में श्रीकृष्ण गोपियों के आगमन की राह देखने के लिए छुप जाते थे।

दानलीला का वर्णन श्रीकृष्ण लीला संबंधित ग्रंथों में प्रचुर मात्रा में लिखा है। अष्टछाप के सभी कवियों ने दानघाटी पर लिये दान के भावपूर्ण पदों की रचना की है, जो बल्लभकुल के मंदिरों की अष्टयाम सेवा में भक्तिभाव से गाये जाते हैं। भरतपुर राज्य की स्थापना के बाद गोवर्धन भरतपुर राज्य का एक परगना बना। सन् 1826 ई. के एक समझौते में गोवर्धन अंग्रेजों के अधीन उ.प्र. में चला गया किन्तु राज्य द्वारा गिरिराज सेवा के सभी कार्य भरतपुर की ओर से चलते ही रहे।

दानघाटी मंदिर की व्यवस्था के लिये सन् 1957 में एक समिति का गठन हुआ जो वर्तमान में भी कार्य कर रही है। मंदिर के शिखर पर विराजित स्वर्ण कलश भक्तजनों को दूर से ही दानघाटी गिरिराज का दर्शन करा रहा है।

गिरिराज मुकुट मंदिर-वैष्णव साहित्य में गिरिराज-गोवर्धन को जहाँ 'हरिदासवर्य' अर्थात् हरि भक्तों में श्रेष्ठ बताया गया है, वहीं श्रीकृष्ण द्वारा पूजित, प्रतिष्ठित होने से ब्रजवासी इन्हें विष्णु का साकार रूप मानकर इनके शिलाखंडों की घर-घर में सेवा-पूजा किया करते हैं। गोवर्धन के इस मंदिर में भी गिरिराज शिलाओं का ही पूजन है।

गोवर्धन गिरिराज की पर्वतमाला यहाँ मानसी गंगा में होकर उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है। मानसी गंगा के

पूर्व-उत्तर कोण में पर्वत के ऊपर स्थापित है गोवर्धन का यह प्रमुख गिरिराज मंदिर। मंदिर में गोवर्धन पूजा के शृंगार दर्शन होते हैं। पश्चिम की ओर आमुख छोटी शिला पूजा ग्रहण करते हुए गिरिराज देव की है। गोवर्धन पर्वत पर स्थान-स्थान पर अनेक रूप-रंग और विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक चिह्न चिह्नित अनेक शिलाएँ हैं।

भरतपुर राज्य की स्थापना के पश्चात् राज परिवार एवं पड़ौसी राजाओं द्वारा भी परिक्रमा करके इन्हीं शिलाओं की पूजा करते रहने के कारण इस मंदिर का ब्रज के प्रमुख देवालयों में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। सन् 1987 ई. में कार्ष्णि स्वामी गुरु शरणानंद महाराज ने मानसी गंगा स्वच्छता अभियान चलाकर मानसी गंगा के जीर्ण-शीर्ण घाटों का पुनर्निर्माण कराया था उसी समय उन्होंने इस मंदिर का भी पुन: निर्माण कर इसे उच्चता, भव्यता और दिव्यता प्रदान की। दीपावली पर मानसी गंगा के दीपदान के समय गिरिराज मुकुट मंदिर की भी छटा देखने योग्य होती है।

गिरिराज मुखारविंद, जतीपुरा-गोवर्धन की तलहटी में बसा हुआ गाँव जतीपुरा, पुष्टि मार्ग का उद्गम स्थल माना जाता है। यहीं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सात पुत्रों को सात स्वरूप प्रदान कर उनके लिये सात मंदिर बनवाए, जो आगे चलकर बल्लभकुल की सात गद्दी अथवा सात पीठ के रूप में प्रख्यात हुए। श्रीनाथ जी के मंदिर सहित इन सभी मंदिरों में ठाकुरजी की पुष्प सेवा के लिए बाग-बगीचा और दुग्ध सेवा के लिये गौशालाओं का निर्माण कराया गया। जतीपुरा का पहिला नाम 'गोपालपुरा' इन्हीं गोपाल जी के नाम पर था। इसका उल्लेख 16वीं शताब्दी के राजकीय अभिलेखों एवं ब्रज के शोध ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलता है। इन बल्लभकुल के मंदिरों के वैभव की चर्चा दूर-दूर तक व्याप्त थी।

औरंगजेब के आतताई काल में श्रीनाथ जी के नाथद्वारा तथा अन्य सभी स्वरूपों के समीपवर्ती राज्यों में हिन्दू राजाओं के संरक्षण में चले जाने के कारण जतीपुरा वैभवहीन और वीरान हो गया। नाथद्वारा के तिलकायत गोस्वामी गिरधर जी ने जतीपुरा में आकर और स्थाई निवास बनाकर उस वैभव को पुन: प्रतिष्ठापित किया।

गोस्वामी जी धर्माचार्य होने के साथ राष्ट्रभक्त और महान चिंतक थे। इतिहास में वर्णित घटनाओं के अनुसार 31 मई सन् 1876 ई. को महान क्रांतिवीर तात्यां टोपे अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए नाथद्वारा पहुँचे तो गोस्वामी जी ने तात्यां टोपे व उनके साथियों का वीरोचित सम्मान किया। यह बात अंग्रेजों को रास नहीं आयी इससे वह और कुपित हो गए। उन्होंने षडयंत्र रचकर गोस्वामी जी को मेवाड़ से निष्कासित करा दिया।

31 मई 1876 को निष्कासित किये गोस्वामी जी नाथद्वारा से चलकर सीधे जतीपुरा आये और जीवनपर्यंत यहीं निवास किया। उन्होंने यहाँ रहने के लिये श्रीनाथद्वारा के निवास मोतीमहल के स्वरूप का ही उत्तरी आमुख महल बनवाया जिसका नाम भी मोतीमहल रखा जिसे आज भी देखा जा सकता है। सेवा-पूजा और शृंगार श्रीनाथ जी मंदिर के नीचे तलहटी में विराज रही उस गिरिराज शिला का प्रारंभ कराया जिसे बल्लभकुल के कीर्तन साहित्य में 'सुंदर शिला खेलन की ठौर' कह कर राग-रागनियों में गाया जाता है। वर्तमान में जो गिरिराज मुखारविंद है।

संप्रदाय के सातों स्वरूपों के बाहर चले जाने के कारण उनके मंदिर धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोते जा रहे हैं। वर्तमान में तो बल्लभकुल के वैभव का केंद्र बना हुआ है गिरिराज मुखारविंद।

श्रीनाथ जी मन्दिर -प्राचीन ग्रंथों के अनुसार गोवर्धन पर्वत के तीन शिखर हैं, आदि शिखर, ब्रह्म शिखर और देवशिखर। काल के प्रभाव से उत्तर का आदिशिखर और दक्षिण का देवशिखर तो पृथ्वी में लुप्त हो गये हैं, अब तो केवल मध्य शिखर के ही दर्शन हो पाते हैं और इसी पर स्थापित है—जन-जन का श्रद्धा केंद्र श्रीनाथ जी का भव्य मंदिर।

इस भव्य मंदिर का निर्माण संवत् 1552 विक्रमी में श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को शुरू किया गया। मानचित्र बनाने के लिए स्थापत्य कला विशेषज्ञ हीरामणि उस्ताद को आगरा से बुलवाया गया था। उसने सघन वनों से आच्छादित गोवर्धन क्षेत्र का गहन अध्ययन किया और यवन आक्रमणों को ध्यान में रख दुमंजिले मंदिर का नक्शा तैयार किया।

जिसमें पहिली मंजिल में सेवा-पूजा एवं सभा-सन्निवेश की संपूर्ण व्यवस्था थी। यह मंजिल इस प्रकार दर्शाई गई थी कि बाहर से देखने पर किसी प्रकार के निर्माण का भान तक न हो। ऊपरी मंजिल खुले प्रांगण के रूप में दिखाई गई थी, जिसमें दक्षिण दिशा में उत्तरी आमुख तीन भवनों वाला श्रीनाथजी मंदिर, पिछले दो भवनों के ऊपर तुंग शिखर, उन पर फहराती केशरिया पताकाएँ और सबसे ऊपर ब्रज की रक्षा करते हुए चक्र-सुदर्शन। इस प्रकार उस समय चार लाख रुपया और तेईस वर्ष के समय में संवत् 1575 वि. में यह मंदिर बनकर तैयार हुआ। संवत् 1576 वि. में बल्लभाचार्य जी द्वारा इस मंदिर में प्रारंभ की गई सेवा व्यवस्था बल्लभ संप्रदाय के देश-विदेशों में फैले असंख्य मंदिर व हवेलियों में आज तक ज्यों की त्यों चली आ रही है।

संवत् 1576 से लेकर संवत् 1726 विक्रमी तक 150 वर्ष (जब तक श्रीनाथजी यहाँ विराजे) यह मन्दिर उत्तरी भारत के प्रमुख मन्दिरों में गिना जाता रहा। इसके वैभव की चर्चाएँ दूर-दूर तक फैलकर लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती रहीं। उस समय जो भी ब्रज में आते वह श्रीनाथ मन्दिर के दर्शन करने गोवर्धन अवश्य ही आते। यहाँ देश भर के संत-महंत, विद्वान, संगीतज्ञों के अलावा राजा-महाराजाओं, धनपति और सूवेदारों का जमघट लगा रहता। गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा अष्टछाप की स्थापना करने के बाद तो यह मंदिर पुष्टि संप्रदाय (बल्लभ कुल) का प्रसिद्ध स्थल कहलाने लगा।

औरंगजेब के आततायी शासन में मंदिरों पर होने वाले आक्रमणों के कारण सं. 1726 में आश्विन-पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) की अर्धरात्रि को भक्त महिला गंगाबाई भगवान श्रीनाथजी को रथ में बैठाकर, मंदिर के समस्त सेवकों के साथ आगरा, कोटा-बूँदी, जोधपुर होते हुए दो साल, चार महिना, सात दिन की लंबी यात्रा पूरी करके फाल्गुन कृष्णा सप्तमी शनिवार सं. 1729 वि. में मेवाड़ पहुँची, जहाँ श्रीनाथजी प्रतापी राजा राजसिंह की सेवा-सुरक्षा में नाथद्वारा में विराजे। तभी से वह नाथद्वारा में विराज रहे हैं, किन्तु उनका नित्य संबंध आज भी गोवर्धन के मन्दिर से जुड़ा हुआ है।

नाथद्वारा में आज भी संध्या आरती के बाद श्रीनाथजी को गोवर्धन जाने के लिए स्वर्ण रथ सजाया जाता है। इधर यहाँ गोवर्धन के मन्दिर में उनके शयन के लिये चंदन का पलंग बिछाया जाता है। माना जाता है कि श्रीनाथजी नित्यप्रति सायं को नाथद्वारा से आकर यहीं शयन करते हैं।

हरिदेव जी का मंदिर-श्री हरिदेव जी की प्रतिमा श्रीकृष्ण के प्रपौत्र बज्रनाभ द्वारा प्रतिष्ठापित ब्रज के चार प्रमुख देवों में प्रथमदेव के रूप में है। यह विग्रह श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण करते हुए स्वरूप का है। बाद में अनेक झंझावात आये, ब्रज की प्रेम-पगी संस्कृति पर भारी कुठाराघात हुए। मंदिर ध्वस्त कर देव मूर्तियों का तोड़ा गया। कालांतर में श्री हरिदेव जी के श्रीविग्रह का प्राकट्य विष्णु स्वामी संप्रदाय के आचार्य महात्मा केशवाचार्य ने स्वप्न में प्राप्त आदेश पर गिरिराज तलहटी स्थित श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा स्थली 'बिछुआ कुंड' से कराया और उन्हें ब्रजवासियों के सहयोग से अपनी कुटिया में लाकर सेवा-पूजा करने लगे।

महात्मा केशवाचार्य संस्कृत और ब्रजभाषा के विद्वान एवं छंदशास्त्र के प्रकांड विद्वान थे। नाभादास ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' में 'नंद सुवन की छाप, कवित केसव कौ नीकौ' कहकर उनके काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आमेर (जयपुर) के राजा भगवानदास भी उनके भक्त थे। उन्होंने आचार्य जी की प्रेरणा से वहीं गिरिराज शिखर पर उच्च लाल पत्थरों द्वारा सुदृढ़ और विशाल दिव्य मंदिर का निर्माण कराकर उसमें श्री हरिदेव जी को विराजमान कराया। संवत् 1637 वि. में बना यह मंदिर गोवर्धन में बना प्रथम देवालय है। मंदिर की सेवा व्यवस्था के लिए राजा भगवानदास ने समीप के दो गाँव ठाकुर जी को भेंट किये। चैतन्य महाप्रभु जब प्रथम बार ब्रज दर्शन को आये तो उन्होंने श्री हरिदेव जी के दर्शन कर परिकरों के साथ मंदिर में संकीर्तन किया था।

इसके बाद का समय आतताई औरंगजेब का शासन हिन्दूधर्म और मंदिर देवालयों के लिये अभिशाप बनकर आया। मूर्ति भंजकों ने श्री हरिदेव जी के मंदिर पर भी आक्रमण कर उसके शिखिर को खंडित कर जगमोहन को भी क्षतिग्रस्त

कर दिया। श्रीहरिदेव जी की प्रतिमा को छुपाकर उत्तरप्रदेश के औरेया जनपद के गाँव रजधान भदौली में पहुँचा दिया गया। वर्तमान में वहाँ भी श्रीहरिदेव जी का मंदिर है।

भरतपुर राज्य की स्थापना (सन् 1721 ई.) के पश्चात श्री हरिदेव जी पुन: गोवर्धन लाये गए, वर्तमान में वह यहीं विराजमान हैं। भरतपुर का राज्य परिवार श्रीहरिदेव जी का परम भक्त रहा है, उन्होंने नित्य दर्शन के लिये भरतपुर किले में ही श्रीहरिदेव जी का मंदिर बनवाया, जो मुख्य मंदिरों में से है। ब्रज के देव श्रीहरिदेव के रूप में तो यह ब्रज के प्रमुख देव के रूप में मान्य है ही किन्तु गोवर्धन में यह सर्वोपरि देव के रूप में प्रतिष्ठित है। यहाँ प्रचलित मान्यता है कि जो व्यक्ति श्रीहरिदेव जी के दर्शन करता है उसे संपूर्ण गिरिराज परिक्रमा का फल प्राप्त हो जाता है।

[दे०नं०कु०]

गोवर्धन देव

सखी भाव अथवा गोपीभाव की भक्ति का इनके हृदय में इतना आवेश था कि प्रिया-प्रियतम इनके पद गायन पर रीझकर नृत्य करने लगते थे। गौड़ ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। बाल्यकाल में ही गुरुदेव के शरणागत होकर वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की और चौरासी वर्षों तक सदेह निधिवन में विराजे। [कुं०बि०श०]

गोवर्धन पूजा

दीपावली के दूसरे दिन कार्तिक शुक्ल पड़वा को ब्रज के घर-घर में गायों की पूजा की जाती है। गोबर से बनाई गई गोवर्धन-गिरिराज की आकृति को पूजा जाता है और नाना प्रकार के व्यंजनों से अन्नकूट का आयोजन कर उससे ठाकुरजी का भोग लगाया जाता है। इस अवसर पर ब्रज के सभी मन्दिर-देवालयों में, समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के मन्दिरों में गोवर्धन पूजा और अन्नकूट उत्सव होते हैं। इस दिन ब्रज के गोवर्धन ग्राम में श्री गिरिराज जी के पूजन, अन्नकूट और परिक्रमा के आयोजन किये जाते हैं। मथुरा के द्वारिकाधीश जी के मन्दिर में यह उत्सव बड़े समारोह के रूप में होता है। इस दिन गोवर्धन-पूजा और कीर्तन आदि के अतिरिक्त जो विशाल अन्नकूट होता है उसमें छप्पन भोग-छत्तीसों व्यंजन प्रत्यक्ष रूप में दिखायी देते हैं। इस आयोजन के वृहद रूप का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इसकी तैयारी आश्विन शुक्ल पक्ष दशमी (विजयादशमी) से कार्तिक कृ० पक्ष 15 (दीपावली) तक होती रहती है। यह ब्रज का लोकप्रिय त्योहार है। श्रीकृष्ण के द्वारा इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा प्रारम्भ करने के अवसर पर अन्नकूट का वर्णन होता है। जिसमें श्री गिरिराज गोवर्धन को प्रचुर मात्रा में व्यंजन प्रस्तुत किये गये हैं। उसी परम्परा में वर्तमान में गोवर्धन के स्थान पर कहीं तो उसकी गोबर की प्रतिमा बनाकर पूजा की जाती है। इस पर्व पर गौवंश के साज-सज्जा करने का वर्णन भी अष्टछाप के कवियों ने किया है—

धौरी धेनु सिंगारी मोहन बडरे वृषभ सिंगारे।
परमानन्द प्रभुराई दामोदर गोधन के रखवारे॥

(परमानंद दास कवि, परमानंद सागर 262)

ब्रज की विशेषता उसके गो-धन के कारण रही है। यह उत्सव गोवंश के सम्वर्धन का है। 21 दिनों में अगणित भोज्य पदार्थ बनाये जाते हैं। जिनका भव्य प्रदर्शन कार्तिक शु० पड़वा को अन्नकूट के रूप में किया जाता है। इस उत्सव से जहाँ ब्रज में गो-वंश की वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती है, वहीं पाक विद्या की प्रगति करने का प्रोत्साहन मिला है। अन्नकूट के कारण ही ब्रज में पाक विद्या अत्यन्त समुन्नत रूप में अभी तक जीवित है।

अन्नकूट धर्‌यौ भौन सो, काहे कौन बखाने॥
बहु विधि के पकवान, विविध करि सन्मुख आने।।

(परमानंद दास कवि, परमानंद सागर 272) [प्र०श०]

गोवर्धनपीठ, पुरी

आद्यशंकराचार्य जी के द्वारा तृतीय पीठ पूर्वाम्नाय गोवर्धनमठ (गोवर्धनपीठ) पुरी, उड़ीसा में स्थापित किया गया। कालक्रमानुसार इसका स्थापना काल 485 बी.सी. माना गया है तथा स्थापना तिथि वैसाख शुक्ल नवमी है। गोवर्धनपीठ का संप्रदाय भोगवार (जीवन में विषय भोग को निरुद्ध करने वाले यति) है। इस मठ के संन्यासियों तथा आचार्यों के नाम में वन (संपूर्ण विश्व प्रपंच को त्याग कर वन में निवास करने वाले) अथवा अरण्य (आत्मानन्दरूपी नन्दनवन में रमने वाले) पद एवं ब्रह्मचारियों के नाम में प्रकाश (तत्वज्ञान के प्रकाश से जो अपने वास्तविक रूप को जानते हैं) पद होता है। मठ का क्षेत्र पुरुषोत्तम, देवता जगन्नाथ हैं तथा देवी विमला हैं। वेद ऋग्वेद तथा महावाक्य प्रज्ञानं ब्रह्म है। इसके अनन्तर आने वाले प्रदेश अंग, बंग, कलिंग, उत्कल तथा पूर्व दिशा के भाग हैं। गोवर्धनमठ (गोवर्धनपीठ) के प्रथम आचार्य पद्मपाद हैं। श्री शारदापीठ, श्रंगेरी के अनुसार श्री हस्तामलकाचार्य जी प्रथम आचार्य थे।

चोलदेश (मध्य तमिलनाडु) के सनन्दन जो कि विष्णु के अवतार नृसिंह भगवान के बड़े भक्त थे गुरु की खोज में काशी गये। सनन्दन जब तेजस्वी, प्रतिभावान विद्वान शंकराचार्यजी से मिले तो उन्हें अनुभव हुआ कि सद्‌गुरु को खोजने में वे सफल हुये और उन्होंने भगवद्‌पाद् शंकराचार्य जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। वे गुरु के प्रति पूर्ण भक्तिभाव से समर्पित थे।

एक दिन सनन्दन नदी तट पर वस्त्र धोकर सुखा रहे थे तो नदी के दूसरी ओर शंकराचार्य जी प्रवचन कर रहे थे। अचानक गुरुदेव ने प्रवचन बन्द कर जोर से चिल्लाकर सनन्दन को तुरन्त वस्त्र लाने को कहा। गुरु आदेश सुनते ही सनन्दन वस्त्र लेकर उस पार जाने के लिये दौड़ पड़े। उन्हें यह ध्यान भी न रहा कि नदी भी पार करनी है और नदी पर ही इस प्रकार दौड़ लगा दी जैसे धरती पर चल रहे हों। नदी में वे जिस स्थान पर पग रखते वहीं कमल पुष्प खिल जाता और उनके चरणों को धारण कर लेता। सनन्दन इससे अनभिज्ञ रहे और गुरु के पास वस्त्र लेकर पहुँच गये। सभी सनन्दन की आध्यात्मिक शक्ति के आगे नतमस्तक हो गये। सनन्दन ने इस पर कहा सदगुरुदेव जब संसार सागर को सरलता से पार कराने में समर्थ हैं तो उनकी कृपा से नदी को चलकर पार करना कठिन नहीं है। जिस समय सनन्दन नदी पार कर रहे थे तब कमल पुष्पों ने उन्हें सहारा दिया था, अत: उनका नाम पद्मपाद हो गया। उनके बाद पीठ को एक से एक विद्वान साधक आचार्यों ने विभूषित किया तथा संप्रति पूज्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी पीठासीन हैं।

[ग०शं०पा०]

गोवर्धनेश

वल्लभ कुल के सेवायत श्री गोवर्धनेश जी का जन्म सन् 1706 ई. को हुआ था। ये श्री विट्ठलेश राय जी के पुत्र थे। आप वल्लभ सम्प्रदाय के श्रेष्ठ विद्वान एवं भक्त कवि थे। वल्लभ कुल की गद्‌दी के सेवायत बनने के बाद आपने अपने प्रथम जन्म दिवस पर श्रीनाथ जी में हाँडी उत्सव किया था। उस दिन भगवान के लिए कांच का हिण्डोला, सुनहरी जरी की दीवाल गिरि, डोल तिवारी में ऊपर रोशनी के झाड़, श्रीनाथ जी को रूपहरी किनारी के लाल वस्त्र, कमल फूल, काछिनी, जड़ाऊ आभरण, मुकुट, कुण्डल इत्यादि धारण कराकर शृंगार किया। इस आयोजन में श्री मधुराधीश जी, श्री द्वारिकानाथ जी, श्री विट्ठलनाथ जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुलचन्द्रमा जी, श्री बालकृष्ण जी और श्री मदनमोहन जी सम्मिलित हुए। इस आयोजन में वल्लभ सम्प्रदाय के सारे गोस्वामी बालक भी सम्मिलित हुए। [जि०कु०]

गोविन्द जी

श्री गोविन्द जी का जन्म वि.सं. 1785 की पौष कृष्ण एकादशी को हुआ था। ये श्री गोवर्धनेश जी के छोटे भाई थे। गोवर्धनेश जी के कोई संतान नहीं होने के कारण उन्होंने गोविन्द जी को वल्लभ गद्दी पर विभूषित कराया। ये तेजस्वी, भावुक एवं श्रीनाथ जी का सानुभाव करने वाले व्यक्ति थे। श्रीनाथ की सेवा यह बड़े चाव से किया करते थे। ये अपने जन्म दिवस पर श्वेत खीनपान के वस्त्र, चाकदार बागा, पन्ना की कुलही जोड़, पन्ना के आभरण, मोती के कुण्डल इत्यादि से शृंगार किया करते थे। [जि०कु०]

गोविन्द कविराज

गोविन्द कविराज गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री रामचंद्र कविराज के छोटे भाई थे। इनका जन्म संवत् 1594 में जिला बर्दवान के श्रीखण्ड नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता चिरंजीव सेन एवं माता सुनन्दा थी। इनके नाना श्रीदामोदर कविराज श्रीखण्ड के निवासी थे। इनकी माता से विवाह के पश्चात इनके पिता श्रीखण्ड में ही रहने लगे। इनके बड़े भाई रामचंद्र कविराज श्रीनिवासाचार्य से दीक्षा लेकर नरोत्तम ठाकुर के यहाँ रहने लगे एवं भजन-कीर्तन तथा नाम प्रचार का कार्य करने में व्यस्त हो गये।

गोविन्द कविराज अपने नाना श्री दामोदर कविराज के सान्निध्य में रहकर शक्ति उपासना में रत हो गये। ये शक्ति की उपासना बड़े भाव एवं श्रद्धा के साथ करते थे। देवी ने इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर इनको आदेश दिया कि तुम श्रीनिवासाचार्य की शरण ग्रहण कर भगवान श्रीकृष्ण का भजन करो। इन्होंने इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तब देवी ने इन्हें पुन: गोविन्द का स्मरण एवं भजन करने का आदेश दिया। ये बड़े असमंजस की स्थिति में आ गये। एक ओर देवी की भक्ति और दूसरी ओर देवी का आदेश। इस स्थिति में इन्होंने एक पत्र लिखकर अपनी स्थिति श्रीनिवासाचार्य को बताई। श्रीनिवासाचार्य इनके बड़े भाई रामचंद्र कविराज के साथ इनके घर पधारे और इनको दीक्षा प्रदान की। इन्होंने दीक्षा के अवसर पर एक बड़ा महोत्सव मनाया।

दीक्षा के उपरान्त गोविन्द कविराज ने अपना जीवन कृष्ण लीला और गौर लीला का वर्णन करने में अर्पित कर दी। ये एक बार वृन्दावन दर्शन हेतु ब्रज में पधारे थे। लौटकर इन्होंने विद्यापति के स्थान का उद्धार कर एक गोपाल जी का विग्रह वहाँ स्थापित किया। इनका तिरोभाव 75 वर्ष की आयु में वि.सं. 1669 में हुआ था।

ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने ब्रजभाषा तथा बंगला में बहुत से पदों की रचना की। इनकी असाधारण कवित्व प्रतिभा से प्रभावित होकर जीव गोस्वामी और ब्रजस्था भक्तों ने इन्हें कविराज की उपाधि दी थी। इन्होंने रामचरित गीत, संगीत माधव नाटक, अष्टकालीय एकान्नपद गीतावली आदि ग्रंथों की रचना की थी।

[क०उ०]

गोविन्ददास आचार्य

गोविन्द दास आचार्य श्री चैतन्यदेव के शिष्य और समसामयिक थे तथा 1533 ई० के लगभग उपस्थित थे। वैष्णव वंदना और गणोद्देश दीपिका में इनका उल्लेख है।

गोविंद आचार्य वंदो सर्व्व गुणशाली।
जे करिल राधाकृष्णेर विचित्र धामाली॥

(देवकीनंदन कृत बांग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० 204)

गोविन्द-आचार्य पद करिल वंदन।
राधाकृष्ण रहस्य जे करिल वर्णन॥

(माधवानंद कृत बांग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० 204)

रायल एशियाटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति में कवि के संदर्भ में उल्लिखित है—

चिंतिया चैतन्यदेवेर चरण कमल।
द्विज गोविंद बोले श्रीकृष्ण मंगल॥

(बांग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० 205)

इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने एक 'श्रीकृष्ण मंगल' भी लिखा है। [वि० का०]

गोविन्द दास कर्मकार

गोविंददास कर्मकार चैतन्यदेव के सेवक बताए जाते हैं। कहा जाता है कि ये उनके जीवन की प्रधान घटना को लिखते रहते थे; मुख्यत: नीलांचल वास और दक्षिण भ्रमण के समय की घटनायें। आगे चलकर इसे कड़चा का रूप दे दिया गया। परन्तु गोविंददास कर्मकार का उल्लेख चैतन्यदेव के सेवक के रूप में 'चैतन्यचरितामृत' अथवा 'चैतन्य भागवत' में नहीं मिलता। केवल जयानन्द के 'चैतन्यमंगल' में इनका उल्लेख है—

मुकुंद-दत्त वैद्य गोविंद कर्मकार।
मोर संगे आइसह काटोआ गंगापार॥ [वि० का०]

गोविन्ददास चक्रवर्ती

ये बोराकुली ग्राम-निवासी भक्त और पदकर्त्ता थे। गोविंददास श्रीनिवास आचार्य के शिष्य थे। गोविंददास कविराज इनके समसामयिक और गुरुभाई थे। इनकी जन्मतिथि अज्ञात है। पदकल्पतरु में इनके 6 पद प्राप्त हैं। भक्ति-रत्नाकर ग्रंथ में इनका उल्लेख निम्न प्रकार से है—

आचार्येर अति प्रिय शिष्य चक्रवर्त्ती।
गीतवाद्य-विद्याय निपुण भक्ति मूर्त्ति॥

वैष्णवदास के एक पद में गोविंददास चक्रवर्ती का उल्लेख है-

जय-जय युगल-पिरतिमय श्रीयुत चक्रवर्ती गोविन्द। [वि० का०]

गोविन्द भाष्य

गोविन्द भाष्य के प्रणेता श्री बलदेव विद्याभूषण थे। इनका जन्म 18वीं शताब्दी के शेष भागों में उड़ीसा के

उत्कल प्रदेश के अन्तर्गत बालेश्वर के अनुवर्ती रेणुका के निकट 'किस' ग्राम में एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवार में हुआ था। इनका परिवार वैष्णव नहीं था किन्तु ये स्वयं वैष्णव हो गए थे। ये बचपन से ही विद्या उपार्जन एवं व्याकरण अलंकार आदि में पारंगत हो गये थे। बाद में ये न्याय शास्त्र, वेद-वेदान्त का अध्ययन कर बड़े दार्शनिक पंडित हुए। पंडित श्री राधादामोदर दास जी से षट्सन्दर्भादि भक्ति ग्रन्थों का अध्ययन कर वैष्णव गोस्वामी ग्रन्थों में ये प्रचुर व्युत्पतिवान हो गए थे। राधा दामोदर कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा बलदेव जी ने इनसे दीक्षा ली थी।

श्री बलदेव जी पुरुषोत्तम क्षेत्र से नवद्वीप दर्शन करते हुए श्रीधाम वृन्दावन पहुंचे, वहाँ देवालय श्याम-सुन्दर जी में उनका अवस्थान रहा। अपनी विद्वत्ता और सूक्ष्म बुद्धि के कारण वे गौड़ीय वैष्णव समाज के परम अध्यक्ष हो गए। इस समय चैतन्य सम्प्रदाय के मूर्द्धन्य विद्वान तथा असाधारण-प्रतिभावान श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती राधाकुण्ड में निवास करते थे। बलदेव जी ने चक्रवर्ती महोदय से वैष्णव भक्तितत्व और रस-तत्व की शिक्षा के साथ परकीयवाद की उपासना का गंभीर रहस्य हृदयंगम किया। इस प्रकार वे ब्रज वृन्दावन भक्तों में सर्वाधिक विद्वान और विश्वनाथ चक्रवर्ती के योग्यतम उत्तराधिकारी समझे जाने लगे।

उस समय जयपुर में एक महान विवाद खड़ा हो गया था। वि.सं. 1657 (सं. 1699 ई.) में आमेर के राजा जयसिंह ने अपनी राजधानी आमेर से हटाकर जयपुर स्थापित की। जयपुर के राजा गौड़ीय संप्रदाय के अनुगत थे। वहाँ नारायण से पहले गोविन्द की पूजा होती थी। अन्य सम्प्रदाय के कुछ संत-महन्त जयपुर के महाराज को परामर्श देकर श्रीकृष्ण पूजा के पहले नारायण पूजा की व्यवस्था देने लगे। दूसरा विवाद यह था कि जयपुर के मंदिर में बंगाली गौड़ीय सेवकगणों को असम्प्रदायी कहकर कुछ पंडितों को सन्त-महन्तों ने सेवाच्युत कर दिया था। तीसरा विवाद यह था कि अवैष्णव पण्डितों ने महाराज को परामर्श देकर राधिका विग्रह से गोविन्दजी को अलग करवाया। वि.सं. 1775 (1718 ई.) में वैष्णवों में स्वकीया परकीयावाद को लेकर परस्पर भारी विरोध उपस्थित हुआ कि परकीयावादी मान्यता अवैदिक है। यह संवाद विश्वनाथ चक्रवर्ती के कानों में पड़ा। ब्रज के गौड़ीय वैष्णवों में भारी आन्दोलन होने लगा। चक्रवर्ती जी ने सुना तो वे परिहास करते हुए कहने लगे- गोविन्दजी की ऐसी इच्छा है, श्रीजी ने उनसे मान किया है। वृन्दावन के वैष्णवगण गोविन्दजी के मन्दिर में गौड़ीयों की मर्यादा रखने के लिये व्याकुल हो गए। उन्होंने चक्रवर्ती जी से अनुरोध किया। चक्रवर्ती जी अति वृद्ध होने के कारण ब्रज से बाहर नहीं जा सकते थे। इन्होंने बलदेव जी को शक्ति देकर जयपुर भेजा। साथ में चक्रवर्ती जी के प्रिय शिष्य पंडित कृष्णदेव सार्वभौम भी थे। बलदेव जी के हाथ में कमण्डलु, गले में गुदड़ी, कमर में कौपीन-वहिर्वास मात्र था। जयपुर में पहुँचकर उन्होंने राजा से मिलने के लिये संवाद दिया। उनका अकिंचन वेश देखकर राजा ने उनके पाण्डित्य पर अविश्वास किया। किन्तु सभा हुई। बलदेव जी का अन्यान्य वैष्णवों के साथ साक्षात्कार हुआ। बड़े-बड़े राजा-महाराजा मध्यस्थ रहे। बलदेवजी ने अवशेष में पण्डित मण्डली को विचार के द्वारा परास्त किया। उनके विचारों की पुष्टि के लिये भाष्य की अपेक्षा की गई और तद्विषयक सिद्धान्त पोषक भाष्य को दिखाने के लिये कहा गया। बलदेवजी बड़े चिन्तित हुए क्योंकि चैतन्य सम्प्रदाय का मतपोषक कोई स्वतन्त्र भाष्य ग्रन्थ नहीं था। बलदेवजी ने भाष्य दिखाने का अवसर माँगा। वे चिन्तित होकर गोविन्दजी के आगे शयन करने लगे। निद्रायोग में गोविन्दजी दोबारा आकर भाष्य रचना में उन्हें प्रवर्तित कर अन्तर्ध्यान हो गए।

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्री गोविन्दः स्वप्ननिदृिष्ट भाष्यो राधा वन्धुर्वन्धुरांग स जीयात।।

श्री गोविन्द देव जी के आदेश से इसकी रचना में प्रवृत्त होने के कारण ग्रन्थ का नाम 'गोविन्द भाष्य' रखा

गया। श्री बलदेवजी के वेशाश्रय का नाम गोविन्ददास था। इस कारण भी इस भाष्य का नाम 'गोविन्द भाष्य' उचित है। बलदेव जी ने इस ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना की। अतः यह एक स्वतन्त्र भाष्य है।

इस भाष्य में ईश्वर, जीवन, प्रकृति, काल और कर्म ये पाँच तत्व स्वीकार किये गये हैं-ईश्वर स्वतंत्र, सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता, विज्ञान स्वरूप, विभुचैतन्य, नित्य-ज्ञानादि गुण विशिष्ट अस्मदर्थवाच्य है। वे स्वरूप शक्तिमान हैं तथा प्रकृति आदि में अनुप्रवेश और नियमादि के द्वारा जगत रचना करते हैं। ईश्वर जीव का भोग और मुक्ति का विधानकर्ता है। ईश्वर एक और बहुभाव में अभिन्न होने पर गुण-गुणी तथा देह-देही भाव से ज्ञान का प्रतीति गोचर है। जीव-अणुचैत्य है। ईश्वर के द्वारा नियम्य है। जीवात्मा नाना अवस्था सम्पन्न है। ईश्वर वैमुख्य से जीव का बन्धन है, जीव ईश्वर की शक्ति है। भोग विषय में मुक्तजीव का ब्रह्म के साथ समानता रहने पर भी स्वरूप तथा सामर्थ्य में नित्य प्रयकता है। सत्व, रजः और तमोगुण के समान अवस्था 'प्रकृति' है। वह तमोमायादि शब्दों के द्वारा कही जाती है तथा ईश के ईक्षण से उद्बुद्ध होकर विचित्र जगत उत्पादन करने में सामर्थ्यवती होती है। प्रकृति नित्य ईश्वर की आश्रिता तथा वश्या है। वह ब्रह्म की शक्ति है। सांख्य की तरह स्वतन्त्रता नहीं है। काल-भूत भविष्यत् वर्तमान, युगपत, चिर, क्षिप्र प्रभृति शब्दों के द्वारा व्यवहार के कारण क्षणादि पराद्धान्त, चक्र की भाँति परिवर्तनशील, प्रलय-सर्गादि निमित्त रूप, जड़ द्रव्य विशेष है। जड़ अदृष्टादि शब्दों के द्वारा व्यपदेश्य, अनादि तथा विःनश्वर अनित्य अर्थात विनाशील ईश्वर की शक्ति कर्म है।

माधवेन्द्रपुरी पाद के शिष्य श्री माधवदास जी के शिष्य श्री हरिराम व्यासजी ने नव प्रमेय को उद्धृत करते हुए 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्री बलदेव जी ने भी उसी नौ प्रमेय का आधार लेकर 'प्रमेयरत्नावली' का निर्माण किया है। श्री मध्वमत की प्रतिध्वनि ही प्रमेय रत्नावली है। बलदेव जी के मत में ब्रह्म ही जगत का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है। वह अविचिन्त्य शक्ति बल से जगदरूप से परिणत होने पर भी स्वतः अविकृत रहता है। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से पृथक रहता है तथा ब्रह्म समान आनन्द लाभ करता है। वह अणुरूप से होने के कारण अनन्त आनन्दकारी नहीं हो सकता है। भोग विषय मात्र में जीव का ब्रह्म के साथ साम्य है परन्तु स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत पार्थक्य सर्वदा अवश्य रहता है। वह मुक्ति के अनुग्रह से मिलता है। इनके मत में भक्ति ही मुख्य साधन है। वह भक्ति सर्व निरपेक्ष, एकमात्र पुरुषार्थ प्रापिका तथा आल्हादिनी और सम्वित शक्ति साररूपा है। रुचिपूर्वा तथा विधिपूर्वा रूप से भक्ति दो प्रकार की है। गुरुकृपा के साथ भगवत उपासना से मोक्ष की सम्भावना होने पर भी महत उपासना अवश्य कर्तव्य है। पहले साधुसंग और सेवा, उनसे निज स्वरूप ज्ञान, उसके बाद ब्रह्म भिन्न वस्तु में वैतृष्णयपूर्वक भगवद् भक्ति, उसके द्वारा प्रेष्ठ रूप से अर्थात शान्त, दास, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भावोचित किसी एक प्रियतमा रूप से वरण उससे भगवत साक्षात्कार होता है।

इस ग्रन्थ में अनुबन्ध चतुष्ट्य का निर्माण किया गया है। 1. अधिकारी 2. सम्बन्ध 3. विषय, 4. प्रयोजन ये अनुबन्ध चतुष्ट्य हैं। निःकामी, निर्मलचित्त, सत्प्रसंगलुब्ध, श्रद्धालु, शमदमादिवान अधिकारी है। शिक्षादिषडंग के साथ समग्रवेद का अध्ययन कर आपाततः सबका अर्थ जानकर तत्ववित् आचार्य प्रसंग से अनित्य जगत से भिन्न नित्य ब्रह्म की अवगति के लिये ब्रह्मसूत्र में प्रवर्तमान होते हैं। शंकर के मत में नित्यानित्य वस्तु विवेकादि साधन चतुष्ट्य सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्म जिज्ञासा के अधिकारी हैं। बलदेव के मत में यह असंगत है। क्योंकि तत्वज्ञ सत्व्यक्ति प्रसंग के पहले यह साधन सम्पत्ति दुर्लभ रहती है। सत्प्रसंग के द्वारा प्राप्त विद्या व्यक्ति तीन प्रकार का है। निष्ठा के साथ कर्माचरणकारी 'सनिष्ठ' लोकसंग्रह की इच्छा रखता हुआ कर्म करने वाला 'परिनिष्ठत' केवल ध्यानावलम्बी निरपेक्ष है। इनके मत में सत्प्रसंगकारी की प्रधानता है। शास्त्र स्वयंवाचक और ब्रह्म इसका वाच्य-यह सम्बन्ध है। शंकर मत में वाच्य वाचक भाव यद्यपि अंगीकृत है, तो भी उनके मत में अन्य प्रकार है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो प्रकार स्वीकार कर सगुण सोपाधिक ब्रह्म को वाच्य तथा निरुपाधि ब्रह्म को ज्ञेय अथवा लक्ष्य करके कहा है।

बलदेव जी के मत में ब्रह्म शब्द का अवाच्य नहीं है। ''औपनिषद पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिप्रमाण बल से जिज्ञासु ब्रह्म का उपनिषद वेदत्व सुस्थिर है। ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' इस श्रुति का समाधान देवदत्त काशी से निवृत हुए अर्थात काशी गमन पूर्वक पश्चात निवृत हुए। इस प्रयोग के द्वारा होता है। वाक्य समूह जिसको नहीं प्राप्त होकर निवृत होता है, इसका समाधान किंचित ज्ञान से होकर अर्थात सर्वांश से नहीं जानकर निवृत होता है।

निखद्य, विशुद्ध, अनन्त, गुणगण सम्पन्न, अचिन्त्य, अनन्त शक्तिशाली, सच्चिदानन्द, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। अशेक दोष विनाशपूर्वक श्रीकृण साक्षात्कार प्रयोजन है। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीनों प्रमाण हैं। अपौरुषेय श्रुति सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। उसका कभी व्यभिचार नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान कहीं-कहीं व्यभिचार को प्राप्त हो जाता है। [शै०चौ०]

गोविन्द राय

जैसा विदित है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के 2 विवाह हुए थे। प्रथम पत्नी का नाम रुक्मणी था। इनसे इनके छः पुत्र एवं चार पुत्रियाँ हुईं तथा दूसरी पत्नी पद्मावती से एक पुत्र घनश्याम जी हुए थे। सभी पुत्र प्रकाण्ड विद्वान और साम्प्रदायिक तत्व को जानने वाले थे। उनसे भी अनेकों संतानें हुईं। इस प्रकार गोस्वामी जी का काफी बड़ा और भरापूरा परिवार था। गिरधर जी विट्ठलनाथ जी के सबसे बड़े पुत्र थे। इनका जन्म 1597 की कार्तिक शुक्ल 12 को अड़ैल में हुआ था। वे बड़े विद्वान व शांत प्रकृति के थे। गोसाईं जी के पश्चात गिरधर जी पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य हुए। उनसे छोटे भाई श्री गोविन्दरायजी थे। गोविन्दराय जी का जन्म 1599 की मार्गशीर्ष कृष्ण 8 को अड़ैल में हुआ था। उनके 4 पुत्र थे श्री कल्याणराय (जन्म सं. 1625), श्री गोकुलोत्सव (जन्म सं. 1634), श्री कृष्णराय (जन्म सं. 1637) एवं श्रीलक्ष्मीनरसिंह (जन्म सं. 1640)। आपकी दो बेटियाँ थीं-श्री रुक्मिणी और राजकुंवरि जी।

आपको बंटवारे में श्री विट्ठलनाथ ठाकुर मिले थे। श्री विट्ठलनाथ जी गोकुल से खिमनौर गये, फिर यहाँ से कोटा गये। कोटा से जयपुर रहे और वर्तमान में श्रीनाथद्वारा में विराजमान हैं। आपके सम्बन्ध में ये प्रसिद्ध है कि आपको सेवा करने का ऐसा आग्रह था कि अपने विवाह के समय घोड़े पर बैठे हुए जैसे ही उत्थापन का समय हुआ आप अधीर हो गए। आपके आग्रह को देखते हुए गुसाईं जी ने आपको पहले सेवा करने की आज्ञा प्रदान की और बाद में विवाह करने के लिए दूसरी लग्न साधनी पड़ी।

आपके बड़े पुत्र कल्याणराय के जन्म के अवसर पर श्रीनाथ जी ने आपसे बधाई माँगी तब आपने उन्हें नुपूर भेंट किए। इन नुपूरों पर 'श्रीगोविन्द' लिखा है। यह आज भी श्रीनाथद्वारे में रखे हुए हैं। आपकी एकमात्र कृति 'विट्ठलाष्ठक' ही प्राप्त होती है। आपका उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रंथों में सं. 1650 तक प्राप्त होता है। अतः आपका देहावसान सं. 1650 के आसपास माना जाता है। [वं०तै०]

गोविन्द लीलामृत

'श्री गोविंदलीलामृत' ग्रंथ के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी की अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'चैतन्य चरितामृत' में प्राप्त उल्लेखानुसार ज्ञात होता है कि कवि का जन्म वर्धमान जिले के 'झामटपुर' ग्राम में हुआ था। श्री प्रभुदयाल मीतल ने उनका जन्म वि.सं. 1573 के लगभग माना है। बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का निधन होने पर उनकी बुआ ने उनका पालन-पोषण किया। बचपन से ही विरक्त स्वभाव के होने के कारण उन्होंने विवाह नहीं किया। 16-17 वर्ष की अवस्था में वे तीर्थयात्रा करते हुए वि.सं. 1590 के लगभग वृंदावन पहुँचे। वहाँ उन्होंने रूप गोस्वामी से वैष्णव धर्मग्रंथों का अध्ययन किया एवं वृंदावन व राधाकुंड में निवास कर भगवद् भक्ति की और अनेक ग्रंथों की

रचना की। उन्होंने वृद्धावस्था में अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'चैतन्य चरितामृत' की (बंगला में) रचना यहीं रहकर की। कृष्णदास कविराज वि.सं. 1665 के बाद तक जीवित रहे। श्री जीव गोस्वामी का संकल्प पत्र, जो वि.सं. 1665 में लिखा गया था, उसके अंत में कृष्णदास जी हस्ताक्षर हैं।

'श्रीगोविंद लीलामृत' कृष्णदास कविराज द्वारा संस्कृत में रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना रूप गोस्वामी कृत एकादाश श्लोकात्मक 'स्मरण मंगल स्तोत्र' के आधार पर हुई है। इसमें राधागोविंद की अष्टकालीन दैनन्दिनी लीलाओं का विस्तारपूर्वक निरूपण है। इसमें कुल 23 सर्ग और 2322 श्लोक हैं। इस ग्रंथ की वृंदावन चक्रवर्ती कृत सदानंद विधायिनी टीका (संस्कृत गद्य में) भी प्रकाशित है।

'गोविंद लीलामृत' ग्रंथ के प्रथम सर्ग के प्रारंभ में श्री गोविंद व श्रीकृष्ण चैतन्य देव की वंदना की गई है। इसमें राधाकृष्ण की निशांत लीला का वर्णन है। 2-4 सर्गों में प्रातःलीला, 5-7 सर्गों में पूर्वाह्न लीला, 8-18 सर्गों में मध्याह्न लीला, 19वें सर्ग में अपराह्न लीला, 20वें सर्ग में सायं लीला, 21वें सर्ग में प्रदोष लीला एवं 22-23 सर्गों में नैश लीला वर्णित है। इस कृति में कवि की अनन्य भक्ति भावना के साथ ही अभूतपूर्व पांडित्य एवं अद्वितीय काव्य प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें राधाकृष्ण के रूप सौंदर्य, शृंगार, बालभाव, सख्य भाव, माता यशोदा का वात्सल्य, षट् ऋतुओं में राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाओं, माधुर्य भाव मिलन, वृंदावन रूप शोभा, वन-विहार, रास आदि का सरस चित्रण हुआ है। गौड़ीय भक्तों व विभिन्न रास मंडलियों द्वारा राधाकृष्ण की रास लीलाओं का संगीत, नृत्य, अभिनय समन्वित गीति नाट्य का मंचन-प्रदर्शन आकर्षक रूप में प्रचुरता से किया जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ के 22वें सर्ग में मध्य लीला के अंतर्गत राधाकृष्ण का मिलन, वृंदा द्वारा परिचर्य्या, वन-विहार, रास-नृत्यादि में राग, ताल, लय, पद संचालन एवं विभिन्न भाव-भंगिमाओं का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। 23वें सर्ग में रासलीला का विशद वर्णन करते हुए कवि ने रास के विभिन्न विषयों व अंगों का क्रमबद्ध रूप में विधान किया है-समस्त परिकरों सहित वन भ्रमण, चक्र भ्रमण नृत्य, हल्लीसक (स्त्रियों का मंडल नृत्य), युग्म नृत्य, तांडव (पुरुष नृत्य), लास्य (स्त्री नृत्य), एकक नृत्य, सखियों द्वारा प्रबंध गान, नृत्य रीति, परिहास, जलकेलि इत्यादि। वस्तुतः ये दोनों सर्ग ब्रज-रास लीला के आधारभूत शास्त्रीय व अभिनयात्मक गीति नाट्य शैली के मूल स्रोत हैं। इस ग्रंथ से रास-नृत्य लीला का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

भुजशिरासि विराजद्दोर्युगं स्वप्रियाल्याः।
प्रचलदजयदेतन्मण्डलं कृष्णमूर्त्तेः॥
जलदशकललालं मध्यमध्यातिराजत्।
स्थिरतडिदुपगूढ़ं संभ्रमच्चक्रवातैः॥
कदाचिदेक एवायं स्वीयभ्रमणलाधवात्।
भ्रमन्नलातचक्राभः सर्व्वासां पार्श्वगोऽस्फुरत्॥

रासमंडल में गोपियों के मध्य-मध्य में श्रीकृष्ण की अनेक मूर्तियाँ मानो तो मेघमंडल के खंड खंड हैं जो कि गोपियों के रूप में अत्यंत दीप्तिमती सौदामिनी समूह द्वारा आलिंगित हैं। उन श्रीकृष्ण मूर्तियों की एक-एक भुजा गोपियों के एक-एक कंधा पर विन्यस्त हैं। इस प्रकार दोनों भुजाओं को दो-दो गोपियों के कंधों पर स्थापित किए हुए आलिंगित होकर श्रीकृष्ण मूर्तियाँ चक्रवात (बवंडर) से भी तीव्र गति से नृत्य करती हुई तड़ित मेघखंड मालाओं की शोभा पर विजय प्राप्त कर रही हैं। कभी एक ही श्रीकृष्ण अतिशय वेगपूर्वक अलातचक्र की भाँति भ्रमण करते हुए समस्त ब्रजांगनाओं के पार्श्व में स्थित स्फुरित होने लगते हैं। [उ०गो०]

गोविन्द शरण देवाचार्य

आचार्य श्री गोविन्द शरण देवाचार्य की गणना आचार्य पीठ के प्रभावी आचार्यों में होती है। अपने गुरु श्री गोविन्ददेवाचार्य जी के निकुंज लीला प्रविष्ट होने के बाद आपने 27 वर्षों तक आचार्य पीठ को सुशोभित किया। आचार्यश्री के जीवनकाल के अनेकों वृत्तांत उनकी उज्ज्वल कीर्ति का उल्लेख करते हैं। राजपूताने के अनेकों राजा-महाराजा आचार्यश्री के अनुगत सेवक थे। एक जनश्रुति के अनुसार जब कभी राज्यों की महारानियाँ आचार्यपीठ में ठाकुरजी के दर्शनों को आती थीं, तब एक पुजारी के अतिरिक्त कोई भी पुरुष वहाँ नहीं होता था। जब आचार्यश्री के दर्शनों को ये महिलाएँ आती थीं तो आचार्यश्री के अतिरिक्त कोई भी और पुरुष न रहने की परम्परा थी। महलों में आचार्यश्री के पधारने पर भी इसी परम्परा का निर्वहन होता था। एक बार आचार्यश्री इसी रीति से जयपुर के राजमहलों में रानियों एवं परिचारिकाओं को दीक्षा एवं मंत्रोपदेश कर रहे थे। इसी मध्य किसी के बहकावे में जयपुर नरेश बिना आज्ञा के सीधे रनिवास में पहुँच गए। तब राजा की मन:स्थिति जान आचार्यश्री ने राधारानी अर्थात् श्रीजी का ध्यान किया। जब नरेश ने सिंहासनारूढ़ आचार्यश्री की ओर देखा तो उन्हें श्रीजी का दर्शन हुआ। इससे कृतार्थ और पश्चाताप में डूबे राजा ने आचार्यश्री की शरण ग्रहण की और उन्हें 'श्रीजी' की उपाधि से विभूषित किया। आचार्य गोविन्दशरण देवाचार्य से ही नाम के पूर्व में 'श्रीजी' और नाम के बाद में 'शरण' लगाने की परम्परा का शुभारंभ हुआ। इससे पूर्व नाम के अंत में 'देवाचार्य' ही सुशोभित होता था।

एक दूसरे आख्यान के अनुसार एक बार किसी सेवक ने श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु का विशिष्ट भोग धराया। भोग के बाद साधु-सेवा होने लगी। इसी बीच साधु सेवा वाले भवन का आधार डगमगाने का शब्द हुआ। छत की कई पट्टियाँ भी टूट गईं। संतों-सेवकों में अफरातफरी के से हालात हो गए। ऐसे में आचार्यश्री ने सबको सांत्वना देते हुए अपने हाथ की छड़ी को छत से लगाया और कहा कि आप लोग निडर होकर प्रसाद ग्रहण करें, इसके बाद ही यह भवन धराशायी होगा। आचार्यश्री के वाणी सत्य घटित होने पर सभी विस्मित थे। आचार्यश्री ने सभी के पूछने पर बताया कि जिस सेवक ने सेवा कराई है, उसके धन में कोई खोट होने से ऐसा हुआ है। वि.सं. 1814 से 1841 तक श्री गोविन्दशरण देवाचार्य जी आचार्य पीठासीन रहे। राधाकुंड में श्रीनिवासाचार्य जी की बैठक पर सेवक जयदेव के ठाकुर श्रीराधामाधव जी आचार्यश्री के काल में ही एक विचित्र घटनाक्रम में आचार्यपीठ में जाकर विराजमान हुए। युगलकिशोर श्रीराधासर्वेश्वर की रसमय, मनोरम, भावयुक्त लीलाओं का ललित पदावलियों में गायन आचार्यश्री ने 'गोविन्द वाणी' ग्रंथ में किया है। वि.सं. 1841 को आचार्यश्री निकुंजलीला में प्रविष्ट हुए।

आचार्यश्री की चरणपादुकाएँ निंबार्काचार्यपीठ में ही विद्यमान हैं। कार्तिक कृष्ण अष्टमी को आचार्यश्री का पाटोत्सव मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

गौरगणोद्देश दीपिका

कृष्ण चैतन्य के माता-पिता, उनके साथियों, सहयोगियों तथा उनके अनुयायियों के पूर्वजन्म के वृत्तान्तों से समृद्ध यह एक विवरण प्रधान रचना है। इस कृति की रचना संवत् 1632 में हुई थी। यहाँ प्रभुकृष्ण की तरह प्रभु गौरेश्वर को भी अवतार माना गया है, साथ ही साथ अद्वैताचार्य और नित्यानन्द को भी भगवान का ही अंश स्वीकार किया गया है। गदाधर पण्डित, जीव गोस्वामी तथा राधिका एवं उनकी सखियों आदि के भी जन्मान्तरों का उल्लेख इसमें हुआ है। [क०उ०]

गौरांगदास

गौरांगदास नाम के चार व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है।

गौरांगदास नामक नरोत्तम ठाकुर के दो शिष्य। इनका उल्लेख नरोत्तम-विलास में निम्न प्रकार से है—

जय—श्रीगौरांगदास बायन—ठाकुर, जाहार मृदंग वाद्य टाप जाय दूर॥

दूसरे गौरांगदास का उल्लेख भी उसी ग्रंथ में है—

जय श्री गौरांगदास बैरागी प्रवीण।

(हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिट्रेचर,पृ.202 फुटनोट)

इन दोनों अवतरणों के अनुसार एक गौरांगदास वादक थे और दूसरे वैरागी थे।

श्रीनिवास आचार्य के शिष्य गौरांगदास— इनका उल्लेख प्रेमविलास में है।

नरोत्तम-विलास में एक चौथे गौरांगदास का उल्लेख है जो जाह्नवी ठकुरानी के साथ खेतुरी उत्सव में गए थे। इन चारों में से कोई भी अभीष्ट पदकर्त्ता हो सकता है। [वि०का०]

गौरांग विरुदावली

रघुनाथदास गोस्वामी ने काव्य-विधा 'विरुद' के रूप में 'गौरांगविरुदावली' की रचना की है। 'विरुद' की परिभाषा करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने उसे 'गद्य-पद्यमयी राजस्तुति' कहा है। परन्तु बंगीय वैष्णव कवियों द्वारा रचित विरुद-काव्य देवताओं की प्रार्थना अथवा स्तुतिपरक है। अत: ये कवि एक नूतन काव्य विधा के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। अस्तु, चैतन्य के जीवन-चरित पर एकमात्र 'विरुद-काव्य' के रचयिता रघुनन्दन दास हैं। जिन्होंने गद्यपद्यमयी शैली में गौरांग श्री चैतन्य की स्तुति की है। 'गौरांगविरुदावली' पर्याप्त पश्चाद्वर्ती अर्थात् अट्ठारहवीं शताब्दी की रचना है। [क०उ०]

गौरीदास कीर्त्तनियां

ये नित्यानंद प्रभु के समसामयिक भक्त थे। वैष्णव भक्ति साहित्य में इन्हें काफी आदर प्राप्त है। इनके संबंध में वैष्णव वंदना में निम्न उल्लेख है—

गौरीदास कीर्त्तनियार केशेते धरिया।
नित्यानंद स्तव कराइला निजशक्ति दिया॥

(पद कल्पतरु, पृ.सं.84)[वि०का०]

गौरीदास पंडित

गौरीदास पंडित चैतन्यदेव के अनन्य भक्त थे। ये उनके समकालीन थे। नित्यानन्द प्रभु और चैतन्यदेव का साथ छोड़कर ये घर नहीं जाते थे। इनके संबंधियों ने चैतन्य से प्रार्थना की कि वे गौरीदास को विवाह करके घर रहने की

आज्ञा दें। उन्होंने चेष्टा की परन्तु गौरीदास न माने। तब नित्यानन्द ने उन्हें घर पर चैतन्यदेव की मूर्ति प्रतिष्ठित करके घर रहने को कहा। इस पर वे राजी हो गए। गौरीदास अम्बिका कलना के रहने वाले कंसारी मिश्र के पुत्र थे। उपरोक्त विवरण का उल्लेख ईशान के 'अद्वैत-प्रकाश' ग्रंथ में है।

महाप्रभुर अंतरंग-भक्त गौरीदास।
जबे गौर-संगे केला कीर्त्तन-विलास॥

(हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुलि लिट्रेचर, पृ.398) [वि०का०]

घ

घनश्याम गोस्वामी

श्री घनश्याम जी गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सातवें पुत्र थे और इस घर की मूल परम्परा घनश्याम जी से ही चली। सन् 1628 में घनश्याम जी का जन्म गोसाईं जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती के गर्भ से गोकुल में हुआ था। घनश्याम जी गोसाईं जी के सबसे छोटे पुत्र और अन्तिम सन्तान थे। घनश्यामजी अपने अन्य भाइयों से बहुत छोटे थे, सभी उन्हें बहुत स्नेह प्रेम देते थे। इनकी माताजी का अल्पायु में ही देहावसान हो गया था। इनके बड़े भाई गिरधरजी की पत्नी ने इन्हें अपने पुत्रों की भांति पालन-पोषण किया। सब इनकी सुख-सुविधा का विशेष ध्यान रखते थे। जब घर के बँटवारे हुए तो इन्हें ठा. मदनमोहन जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था। जो इस समय कामवन में विराजमान हैं। घनश्याम जी ने संस्कृत और ब्रजभाषा में अनेकों ग्रंथ व टीकाएँ लिखीं। उनकी संस्कृत में रचित रचना 'मधुराष्टक' और गुप्त रस की टीकाएँ तथा ब्रजभाषा में रचे अनेकों पत्र हैं। [वं०तै०]

च

चंडीदास

गौड़ीय वैष्णव भक्ति साहित्य में चंडीदास छाप से युक्त बहुत से पद प्राप्त हैं। प्राप्त पदों में चंडीदास, चंडीदास, द्विज चंडीदास, दीन चंडीदास, बड़ु चंडीदास आदि कई प्रकार की भ्रांतियाँ मिलती हैं। चंडीदास के नाम से 'श्रीकृष्ण-कीर्त्तन' नामक रचना भी प्राप्त है। चंडीदास नामधारी एक ही व्यक्ति थे जिनकी ये सब रचनायें हैं अथवा कई व्यक्ति थे इस पर विद्वत समाज एकराय नहीं है। प्राय: सब ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दो चंडीदास तो अवश्य ही थे।

चैतन्य देव के पूर्ववर्ती एक चंडीदास थे, इस बात का निर्देश चैतन्य चरितामृत में मिलता है। चैतन्यदेव, चंडीदास के गीत सुनकर प्रसन्न होते थे। ये प्रसिद्ध बड़ु चंडीदास माने जाते हैं जो 14वीं शताब्दी के हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना श्री कीर्त्तन है।

चंडीदास विद्यापति रायेर नाटक गीति कर्णानंद श्रीगीतगोविंद।
स्वरूप रामानंद सने महाप्रभु रात्रि दिने गाय शुने परम आनंद॥

(चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिशिष्ट 2, पृ.106)

चैतन्य देव के परवर्त्ती एक व्यक्ति दीन चंडीदास थे। दीन चंडीदास के पदावली का संग्रह श्री मणीन्द्रमोहन वसु ने प्रकाशित किया है। दीन चंडीदास के नाम से युक्त एक पद प्राप्त है जिसमें नरोत्तमदास की वंदना है, इससे वे नरोत्तम के शिष्य ज्ञात होते हैं।

जय नरोत्तम गुणधाम
दीन दयामय अधम दुर्गत पतिते करुणावान।
... ...
दीन चंडीदास कह कत दिने पदयुग हबे लाभ॥

(पद कल्पतरु, पृ.सं.104)
[वि०कृ०भ०]

चन्द्र (आचार्य)

वृन्दावनदास ने अपने ग्रंथ चैतन्य-भागवत और देवकीनंदन ने अपने ग्रंथ वैष्णव-वंदना में आचार्य चन्द्र का उल्लेख किया है। चैतन्यदेव के एक चचिया ससुर चन्द्रशेखर आचार्यरत्न थे। ये चैतन्य के अनन्य भक्त थे। आचार्य चन्द्र के नाम से एक पद प्राप्त है, जिसे सुकुमार सेन ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है। इसे उन्होंने दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से संकलित किया है। इसमें नित्यानन्द के प्रति असीम भक्ति दिखाई गई है। प्रारंभ में गौर-वंदना भी है। अत:

या तो आचार्य चन्द्र नित्यानन्द के शिष्य हैं अथवा आचार्य रत्न ही अभीष्ट पदकर्त्ता हैं। इनकी निश्चित जन्म-मृत्यु-तिथि अज्ञात है। [वि०कृ०भ०]

चंद्रदास

श्री सनातन गोस्वामी जी ने अपने शिष्य श्रीकृष्णदास जी को आज्ञा दी थी कि मेरी गद्दी का उत्तराधिकारी केवल बंगाली ब्राह्मण ही होना चाहिए। उनकी आज्ञानुसार ही चंद्रदास जी मदनमोहन जी की गद्दी के द्वितीय उत्तराधिकारी हुए। इनके सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय रूप से वर्णित है-एक दिन चंद्रदास गोस्वामी जी वृन्दावन की परिक्रमा देने गये। एक नये रसोइया ने खीर में बूरे के स्थान पर नमक मिलाकर श्रीमदनमोहन जी का भोग लगाया तो उनके मुख में छाले हो गये। जब गुसाईं जी ठाकुर जी के पास आये तो वे कहने लगे-'कि अरे गुसाईं तूने मुझको विश्वास देकर भली परिक्रमा दी, आज राजभोग के समय मुझे कोई पदार्थ नहीं आया और मेरे मुख में छाले पड़ गये। गुसाईं जी के नेत्रों से आँसू टपकने लगे और भय से काँपने लगे। उसी समय मदनमोहन जी ने कहा कि-'गुसाईं घबराबै मत, जब तक गर्मी है तब तक तू मुझको शर्बत भोग लगाया कर और माखन-मिश्री का सेवन कराने से मेरे छाले मिट जायेंगे। तभी से ग्रीष्म ऋतु में मदनमोहन जी को शर्बत माखन मिश्री का भोग लगाया जाता है। [जि०कु०]

चन्द्रशेखरदास

चन्द्रशेखर नाम के दो कवि हुए हैं। एक तो वैष्णवदास के परवर्ती कवि ज्ञात होते हैं क्योंकि उनके संग्रह पद कल्पतरु में चन्द्रशेखरदास के कोई भी पद नहीं हैं। दूसरे चन्द्रशेखर आचार्य उपाधि से युक्त हैं। ये चैतन्यदेव के संबंधी और अनन्य भक्त थे। अत: ये उनके समसामयिक थे। चैतन्यदेव के संन्यास ग्रहण करके नीलांचल वास के समय आचार्य अन्य भक्तों के साथ प्रतिवर्ष रथ-यात्रा के अवसर पर उनके दर्शन करने पुरी जाते थे। इनका उल्लेख चैतन्य-भागवत और चैतन्य-चरितामृत में है। इनके तीन पद पद कल्पतरु में प्राप्त होते हैं।

चैतन्य-चरितामृत के आदिलीला खंड के दसवें परिच्छेद में इनका उल्लेख है—

श्री आचार्य रत्न नाम एक बड़ शाखा।
तांर परिकर तार शाखा उपशाखा॥
आचार्य रत्नेर नाम श्री चन्द्रशेखर।
जांर घरे देवीभावे नाचेन ईश्वर॥

एक तीसरे चन्द्रशेखर का उल्लेख रामगोपालदास ने 'शाखा निर्णय' ग्रंथ में किया है जो नरहरि सरकार के शिष्य थे। [वि०कृ०भ०]

चतुर्भुजदास

स्वामी चतुर्भुजदास राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त हैं। रसिक अनन्य माल में इनकी भक्ति विषयक घटनाओं का वर्णन किया गया है। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में इनके जन्म स्थान, सम्प्रदाय, छाप और गुरु का स्पष्ट संकेत किया है और ध्रुवदास ने भी भक्त नामावली में इनका वृतान्त लिखा है जिसके आधार पर स्वामी चतुर्भुजदास गोंडवाना प्रदेश जबलपुर के समीप गढ़ा नामक गाँव के निवासी थे और सेवक दामोदरदास के समकालीन थे। इन दोनों आधारों पर इनका जन्म सं. 1585 (सन् 1528 ई.) के लगभग निश्चित किया जाता है। आपका जन्म उत्तम ब्राह्मण कुल में

हुआ था, ये चतुर ब्राह्मण, विद्वान और उस समय के बहुत प्रसिद्ध महात्मा थे इनके साथ अनेक विद्वान पंडित रहते थे।

वृन्दावन से रसिक उपासकों की टोली गढ़ा (जबलपुर) में गयी थी और रसिक भक्तों ने पूरी रात लीला गान किया। उसे स्वामी चतुर्भुजदास एवं सेवक जी ने प्रेम पूर्वक श्रवण किया। रसिकों ने इनकी श्रद्धा को देख इनसे पूछा कि आप किसके शिष्य हो? इन्होंने कहा अभी किसी के नहीं हैं। भक्तों ने हित हरिवंश महाप्रभु के रस सिद्धान्त की रूपरेखा इनको समझाई और उनकी जगत क्रिया से अलग रहने का वर्णन प्रस्तुत किया। जब दोनों मित्रों ने हरिवंश महाप्रभु से दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। किन्तु गृहस्थ में समय शीघ्र व्यतीत हो गया और उधर वृन्दावन में हरिवंश जी अन्तर्धान हो गये, जिससे इन्हें बहुत दु:ख हुआ।

हित हरिवंश महाप्रभु की गद्दी पर उनके ज्येष्ठ पुत्र वनचन्द्र विराजे तब मित्र सेवक ने चतुर्भुजदास को अपना प्रण सुनाया कि मैं दीक्षा हित हरिवंश महाप्रभु से ही लूंगा नहीं तो शरीर त्याग दूँगा। यह सुनकर स्वामी चतुर्भुज वृन्दावन चले आये और वनचन्द्र जी से दीक्षा ग्रहण की। किशोरीशरण 'अलि' ने भी यही लिखा है कि हिताचार्य हरिवंश महाप्रभु के शिष्य सेवक के मित्र वनचन्द्र (वनमालीदास) इनके गुरु थे।

स्वामी चतुर्भुजदास भजन सम्पन्न होकर विमल रसभक्ति के प्रचार में लग गये और अपने देश गोंडवाना के गाँव-गाँव में घूम-घूमकर लोगों के जीवन में आमूल परिवर्तन किया और गोंडवाना देश को पवित्र कर दिया। स्वामी चतुर्भुजदास का सेव्य स्वरूप 'ठाकुर मुरलीधरजी' (गढ़ा में विराजमान) थे। इनकी रचनाओं में 'मुरलीधर' के नाम की छाप मिलती है। चतुर्भुजदास का विद्यमान काल निश्चित रूप में कहीं प्राप्त नहीं होता है।

विद्वानों ने इनका विद्यमान काल सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक स्थिर किया है। इनके बारह ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जो 'द्वादश यश' के नाम से प्रसिद्ध हैं और ये रचनाएँ पृथक-पृथक नाम से भी मिलती हैं-हितजू को मंगल, मंगलसार यश और शिक्षासार यश इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। किशोरीशरण अलि ने स्वामी चतुर्भुज दास की रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है-पदावली, द्वादश यश, शिक्षा सकल समाज, धर्म विचार जस, भक्ति प्रताप जस, संत प्रताप जस, शिक्षा सार जस, हितोपदेश जस, पतित पावन जस, मोहिनी जस, अनन्य भजन जस, राधाप्रताप जस, मंगल सार जस, विमुख भंजन जस और यमुनाष्टक। 'द्वादश यश' की टीका स्वयं ने संस्कृत में लिखी है। वे संस्कृत भाषा के विद्वान थे और इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं कही जा सकती। इनकी भाषा में बैसवाडी और बुन्देली का गहरा प्रभाव है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं. 1641 से 1680 के मध्य अनुमानित है। [अ०सिं०सै०]

चतुरचिंतामणि देवाचार्य (नागाजी)

श्री हरिव्यास देवाचार्य जी के प्रधान शिष्य श्री स्वभूराम देवाचार्य जी की परम्परा में चतुर्थ और श्री परमानंद देवाचार्य जी के प्रधान शिष्य श्री चतुरचिंतामणि देवाचार्य (नागाजी) का आविर्भाव ब्रज मण्डलस्थ पैगांव में हुआ। बाल्यकाल में इनका नाम 'चतुरा' था। अल्पायु में ही इन्हें अपने आराध्य श्रीराधाकृष्ण की उपलब्धि होने लगी। वे कदमखण्डी में छिपकर ध्यान के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार करने लगे। वे इस दिव्य क्रिया में इतने तन्मय हो जाते कि वस्त्र और भोजन तक की सुधि भी नहीं रहती। इस अवधूत वृत्ति के कारण लोग उन्हें 'नागाजी' भी कहते थे। नागाजी महाराज की कुण्डली में अल्पायु योग था अत: किसी तरह गाँव में पधारे श्री परमानंद देवाचार्य जी की सेवा-सुश्रूषा कर तथा इस योग की प्रबलता के विषय में माता-पिता को समझाकर वे श्री परमानंद जी की दीक्षा लेने में सफल रहे। गुरुजी के साथ शरणागति भाव से ब्रज परिक्रमा और सेवा करने लगे। एक दिन गौ-सेवा हेतु चारा लाते समय स्वयं नाम जप में निमग्न थे और चारे का बोझ सिर से ऊपर अधर चला आ रहा था। इस दृश्य को लोगों ने तथा स्वयं गुरुदेव ने भी देखा किन्तु नागाजी इससे अनभिज्ञ थे। गुरुदेव ने उन्हें ब्रजवास करने का आदेश दिया। प्रतिदिन वृन्दावन में गोविन्ददेव की

मंगला आरती, मथुरा में केशवदेव की शृंगार आरती, राजभोग आरती, नंदगांव-बरसाना में और सायंकाल गिरिराज दर्शन कर वृन्दावन में बिहारघाट पर विश्राम करते। यहीं इनके आराध्य श्रीबिहारी जी विराजमान रहते थे। जो बाद में भरतपुर के महाराजा द्वारा किले में पधराये गये और जिन्हें भरतपुर राज्य का अधिपति माना। भरतपुर किले के इसी बिहारीजी मंदिर में आज भी श्रीनागाजी महाराज की गुदड़ी सेवित है। यहाँ के महंत की उपाधि 'ब्रज दूलह' कही गयी है।

अपने नित्य नैमित्तिक धार्मिक यात्रा में जहाँ समय मिलता नागाजी आटा माँगकर बाटी बना लेते और ठाकुरजी को अर्पित कर पा लेते। एक दिन गोवर्धन में बाटी बनी, तब श्रीनाथ जी जतीपुरा में ही विराजते थे। श्रीनाथ जी नागाजी का नैवेद्य स्वीकार करने स्वयं चले आए। राजभोग का समय होते ही गोसाईं मंदिर में पहुँच गए किन्तु गोसाईं जी ने देखा कि ठाकुरजी के हाथों में बाटी लगी है। आश्चर्य-चकित गोस्वामी जी ने श्रीनाथ जी से पूछा तो उन्होंने बताया कि नागाजी का अर्पित नैवेद्य है। तभी से श्रीनाथ जी के भोग में बाटी नियमित आती है। एक दिन नागाजी नंदगाँव के पवित्र पावन सरोवर पर प्रिया-प्रियतम के ध्यान में निमग्न थे। ध्यान में तीन दिन बीत गए तो ठाकुरजी दूध पान कराने आ गए। नागाजी ने कह दिया 'जल ले आओ।' ठाकुरजी लौटे नहीं, सोचने लगे कौन दूध रखकर चला गया, पानी लेकर नहीं लौटा। चिंतित नागाजी को रात्रि में आदेश मिला कि ब्रज में पानी का क्या काम? दूध तो मैं (ब्रजराज कुंवर) लाया था। अब से ब्रजवासी तुम्हें और तुम्हारें अनुगतों को आधा दूध दे दिया करेंगे। ठाकुरजी के इस वरदान और ब्रज में नागाजी के अनुयायियों की संख्या के कारण कहावत प्रचलित है-'ब्रज में आधा दूध और ब्रज के आधे पूत' नागाजी महाराज के हैं।

ब्रज परिक्रमा करते हुए एक दिन नागाजी की लम्बी जटाएँ काँटों में उलझ गईं। तीन दिन-तीन रात नागाजी ऐसी स्थिति में खड़े रहे। जटाएँ किसी से न सुलझवाते हुए कह दिया कि 'जिसने उलझाई हैं, वह ही सुलझायेगा' तब श्री ठाकुर जी द्रवित होकर जटाएँ सुलझाने को तत्पर हुए तो नागाजी ने कह दिया कि मैं आपको नहीं जानता सर्वेश्वरी राधारानी कहाँ हैं। भक्तवांछाकल्पतरु युगलकिशोर ने तब श्रीनागाजी का कष्ट निवारण किया। [कुं०बि०श०]

चतुरशिरोमणिलाल गोस्वामी

आपकी जन्म तिथि के सम्बन्ध में प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। इनका जन्म वृन्दावन में हुआ था, इनके जनक कीर्तिलाल गोस्वामी थे। इनके पिता श्री राधावल्लभ मंदिर वृन्दावन के सेवाधिकारी थे। इनके सेवा काल में श्रीराधावल्लभ लाल जी कामवन से वृन्दावन पधारे थे। इससे अधिक इनके जीवन वृत एवं चरित्र के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं हो सका है।

इनकी ब्रजभाषा में गद्य व पद्य रचनाएँ प्राप्त होती हैं। पदों में प्रयुक्त छाप-हित चातुर, चतुर चातुरताई, कीरति कौसुत मिलती है। आप वृन्दावन व राधाकुंड और कामवन में ही निवास करते थे। आपका विद्यमान काल विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है। गद्य रचना में सं. 1868 में रचित 'भावनासागर' नामक ब्रजभाषा गद्य की वृहद रचना मिलती है। यह रचना प्रकाशित है। [अ०सिं०सै०]

चतुर्वर्ण

पावन ब्रजभूमि में जन्म लेने वाले कर्मयोगी भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत गीता में कहा है-''चतुवर्ण मया सृष्टं गुण-कर्म विभागस:'' समाज के सुचारु संचालन हेतु कर्मानुसार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया था। महाराज मनु के अनुसार चारों गुण के आधार पर ये जाति या जन्म के आधार पर विभाजन नहीं था। यह केवल सामाजिक व्यवस्था को ठीक प्रकार से संचालित करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में बँटवारा किया गया था। आगे चलकर ये व्यवस्था रूढ़िग्रस्त हो गयी। वर्ण जन्म आधारित नहीं थे। यदि ऐसा होता तो मनु ने अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का उल्लेख मनुस्मृति में क्यों किया है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वर्ण के विषय में बताया गया है-''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वररणीया वरीतुमही, गुणकर्मरिण च दृष्ट्वा यथोयोग्यं विरान्ते ये ते वर्णा:।'' यह बात वेदों से सिद्ध है कि मनुष्य जाति सब एक है। इस विषय का प्रमाण सृष्टि विषय में लिख चुके हैं।

मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं-एक आर्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि 'विज्ञानीह्यारयिन्ये च दस्यवो:' अर्थात इस मंत्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव! तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट स्वभाव युक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा 'उत शूद्रे उत आर्ये' इस मंत्र से भी आर्य ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और अनार्य अर्थात् अनाड़ी जोकि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं। तथा 'असुर्या नाम ते लोका:' इस मंत्र से ही देव और असुर अर्थात् विद्वान और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं। इनका नाम वर्ण इसलिए है कि जिसके जैसे गुण कर्म हों वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए।

भारत में ग्रामीण समाज आजादी के बाद भी 'जातिगत उच्चता एवं निम्नता' के आधार पर बँटा हुआ है। इस व्यवस्था में प्रत्येक स्तर पर व्यक्ति को जन्म के आधार पर ही एक विशेष समूह की सदस्यता, सामाजिक स्थिति एवं अधिकार प्राप्त होते हैं। परम्परागत रूप में जातिगत विभाजन का आधार विभिन्न जातियों से सम्बन्धित 'पवित्रता और अपवित्रता' सम्बन्धी विचार रहे हैं।

आजकल दुनिया के सभी देशों में जाति वर्ण को न देखकर लोगों के गुण- धर्म को देखा जा रहा है। इससे हमारा देश भी अछूता नहीं है। यहाँ पर भी मनुवादी प्राचीन घिसी-पिटी रूढ़िग्रस्त वर्ण एवं जाति व्यवस्था को धता बताकर योग्यता और धन वैभव को देखकर लोग आपस में सम्बन्ध बना रहे हैं। अब प्राचीन भारत की मान्यतायें वर्ण जाति पर आधारित न होकर लोग स्वच्छन्द मान्यताओं को अधिक महत्व दे रहे हैं।

जहाँ तक महाराज मनु की बात है उन्होंने प्राचीनकाल में समाज की व्यवस्था को ठीक से चलाया जा सके इसलिये लोगों को कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में विभाजित किया था। उन्होंने यह नहीं सोचा कि आगे चलकर यह कर्म के अनुसार बनायी गई व्यवस्था जाति पर आधारित हो जाएगी। [कृ०उ०]

चतु:श्लोकी

श्रीमद्भागवत के प्रमुख चार श्लोकों को चतु:श्लोक कहा जाता है। इसमें चार श्लोक हैं। वल्लभ कहते हैं कि सर्वात्मना आत्मसमर्पण के साथ श्रीकृष्ण की भक्ति ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है। अन्य सभी साधनानुष्ठान व्यर्थ हैं, क्योंकि वे जिन फलों की प्राप्ति कराते हैं, वे क्षयिष्णु हैं। [क०उ०]

चम्पति

चम्पति गोविंददास कविराज के मित्र और समसामयिक थे। गोविंददास के दो पदों में उनके साथ-साथ चम्पति का नाम भी आया है। एक पद में विद्यापति के साथ भी उनका नाम आया है।

विद्यापति कवि चम्पति भाण।
राइना हेरव तोहारि बयान॥

(पद कल्पतरु, पृ.सं.368)

गोविंददास के दो पदों में चम्पति का उल्लेख है। चम्पति कवि के 9 पद 'पदकल्पतरु' में प्राप्त हैं। [वि०का०]

चरणखाक

चरणखाक जी चरणदासी संप्रदाय के संत श्री चरण रज के बाल सखा थे। ये भी चरण रज की भांति गुजरौट के गूजर वंशी साधु थे। इनके व्यक्तिगत जीवन का परिचय अप्राप्त है। 'लीलासागर' नामक सांप्रदायिक ग्रंथ में इनके नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने चरणरज जी के साथ ही चरणदास जी से दीक्षा ली थी। सांप्रदायिक साक्ष्यों के अनुसार गुजरौट क्षेत्र के तीन महात्मा थे-चरणधूर, चरणरज और चरणखाक। अत: तीनों के समानार्थी नाम रखे गये। चरणखाक के द्वारा रचित बानियों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। [क०उ०]

चिंतामणिदेव

श्री पीतांबर देव जी के शिष्य श्री चिंतामणिदेव जी को कृष्णवेणी के निकट कृष्ण भक्ति का आदेश मिला और वे निंबार्क संप्रदायानुवर्ती हो गए। कालांतर में एक स्मार्त परिवार में विवाद बढ़ा और उसका समाधान कर एक भावुक शरणागत भक्त को कृपा करके अनुयायी बनाया। इन्होंने सत्तर वर्षों तक वृंदावन में निवास किया। [कुं०बि०श०]

चिश्ती संप्रदाय

भारत के प्रमुख चार संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक के संबंध में मतभेद है, कुछ लोग ख्वाजा इसहाक शामी चिश्ती को आदि प्रवर्त्तक मानते हैं और कुछ लोग उनके शिष्य ख्वाजा अबू अब्दाल चिश्ती को, वैसे भारत में इस संप्रदाय का आगमन ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती (1142-1236) के साथ हुआ। ये अफगानिस्तान के रहने वाले थे और बहुत पहुँचे हुए संत थे, भारत में इन्होंने अजमेर में बसकर सूफी धर्म का प्रचार किया, इनके शिष्यों में से दो सूफी बहुत प्रसिद्ध हुए-एक दिल्ली के खलीफा ख्वाजा बख्तियार काकी और दूसरे नागौर के शेख हमीदउद्दीन सूफी नागौरी।

इस संप्रदाय में 'चिल्ला' का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, चिल्ला का अर्थ चालीस है अर्थात् साधक को चाहिए कि किसी ऐसे एकांत स्थान पर जाकर 'चिल्ला' करे जहाँ उसकी साधना में कोई व्यवधान न पड़े। इस अवधि में उसे कम से कम भोजन करना चाहिए और सूफियों के 'तक्लीले तआम' के सिद्धांत पर अमल करना चाहिए। 'तक्लीले कलाम' (कम बोलना) के सूफी सिद्धांत का भी इस संप्रदाय में विशेष स्थान है, चिल्ले के समय साधक के लिए आवश्यक है कि वह अधिक समय खुदा की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करे। चिल्ला के समय साधक 'ला इल्लाह इल्लल्लाह' के स्वर के साथ उच्चारण करता है साथ ही वह अपने सिर को खूब हिलाता है और उसमें भी 'इल्लल्लाह' पर अत्यधिक जोर देता है। साधक के लिए नौ नियमों का पालन करना आवश्यक है, जैसे-धन का संग्रह-संचय न किया जाए, किसी से उधार न लिया जाए। भूखे होने पर भी किसी से याचना न की जाए, जो कुछ अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त हो, उसे शाम होते ही निर्धनों में बाँट दिया जाए, किसी के अहित की कामना न की जाए। शत्रु के लिए भी प्रभु से प्रार्थना की जाए कि वह उसे सद्बुद्धि दे। प्रत्येक सद्कर्म को गुरु प्रसाद समझा जाए, उसके श्रेय की इच्छा न की जाए। प्रत्येक दुष्कर्म के लिए स्वयं को उत्तरदायी समझा जाए और भविष्य में स्वयं को ऐसे कर्म से दूर रखा जाए। दिन उपवास में तथा रात्रि ध्यान में बिताई जाए। मौन धारण किया जाए, बोला तभी जाए जब बोलना आवश्यक हो।

इस संप्रदाय में संगीत का स्थान भी प्रमुख है, इसके द्वारा साधक को भावाविष्टावस्था (हाल) की प्राप्ति होती है। संगीत की मजलिसें (उर्स) लगातार कई-कई दिनों तक चलती ही रहती हैं। चिश्ती संप्रदाय में दीक्षित होने के लिए साधक को सर्वप्रथम दो रक़अत नमाज पढ़नी पड़ती है, फिर उसे कुछ नियम बताये जाते हैं, जिनका पालन करना साधक के लिए आवश्यक होता है और जिसको वह मानता भी है, वह नियम इस प्रकार है-साधक को अपना संपूर्ण

जीवन अल्लाह के स्मरण में व्यतीत करना होगा, उसकी निद्रा मृत्यु के साथ है। उसे फकीर की संज्ञा देते हुए कहा जाता है कि अपना जीवन उसकी भाँति बिताओ। फकीर का अर्थ कुछ इस प्रकार बताया गया है-

फ का अर्थ फाका (उपवास है), **क** का अर्थ कनाअत (संतुष्टि) है, **य** (ई) का अर्थ यादे इलाही (अल्लाह का स्मरण) है और **र** का अर्थ रियाजत (साधना) है।

इस संप्रदाय से जुड़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इन चारों का पालन करना होता है। निजामी तथा साबिरी संप्रदाय भी इस चिश्ती संप्रदाय के अंतर्गत आते हैं। [आ०स०]

चूड़ामणि

'भुवन-मंगल' ग्रंथ के रचयिता चूड़ामणिदास का विशेष परिचय अज्ञात है। उन्होंने स्वयं जितना परिचय दिया है, वह निम्न है-

धनंजय-पंडित खंडित भवबंध।
चूड़ामणिदास करे पांचाली-प्रबंध।
रामदास-धनंजय करिया सहाय।
गौरजन्महेतु चूड़ामणिदास गाय।

(बांग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० 262)

इससे ज्ञात होता है कि चूड़ामणिदास नित्यानन्द के अनुचर धनंजय पंडित के शिष्य थे। [वि०का०]

चैतन्यचन्द्रामृत

श्री चैतन्यचन्द्रामृत निर्विवाद रूप से प्रबोधानन्द जी की रचना है। इसमें 12 विभाग और 142 श्लोक हैं। अनेक ग्रंथों, समालोचनाओं और संस्थानों में प्रबोधानन्द सरस्वती ही इसके रचयिता के रूप में स्वीकृत हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रंथों में प्रबोधानन्द को ही इस ग्रंथ का रचयिता माना जाता रहा है। ग्रंथ के नामानुसार ही इसमें गौरांग महाप्रभु की महिमा का वर्णन है। इस ग्रंथ की विषयवस्तु-स्तुतिप्रकरण प्रमाण, आशीर्वाद, श्री चैतन्य भक्ति महिमा, अभक्त निन्दा, दैन्यरूपस्वनिन्दा, उपास्यनिष्ठा, लोकशिक्षा, श्री चैतन्योत्कर्षता, अवतार महिमा, श्रीगौरांगरूपोल्लासादि: एवं शोचकम् प्रकरणों में वर्णित है। इस ग्रंथ में प्रबोधानन्द ने महाप्रभु जी के प्रति अपनी एकनिष्ठ रागचेतना को अनेक सुन्दर आयामों में प्रस्तुत किया है। [क०उ०]

चैतन्य चन्द्रोदय

चैतन्य के भक्ति सिद्धांत को सुव्यवस्थित एवं उनकी जीवनी को सर्वबोध बनाने के उद्देश्य से कवि कर्णपूर ने इस नाटक की रचना की है। इसके 10 अंकों में चैतन्य के आद्य से अंत तक की चरित्र गाथा है। इसकी रचना संवत् 1629 में हुई थी। नाटक में स्थान-स्थान पर प्रतीकात्मकता मिलती है। कलि, अधर्म, प्रेम, भक्ति, मैत्री आदि पात्र मनुष्य रूप में रंगमंच पर आते हैं। अभिनय को विशेष मनोरंजन से सम्पृक्त करने के लिए संगीत ध्वनि का नेपथ्य से और रंगमंच पर भी विधान किया गया है। कहीं-कहीं श्लेषालंकार के द्वारा हास्यात्मक वर्णन सृजन करने में कवि को अतुलित सफलता मिली है। [क०उ०]

चैतन्य चरितामृत

'श्री चैतन्य चरितामृत' श्रीकृष्णदास कविराज के द्वारा रचित ग्रन्थ है। कृष्णदास कविराज बंग भाषा तथा देव-भाषा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान और सर्वप्रिय प्रख्यात कवि थे। इन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थों की रचना की। अपने अन्तिम समय में ब्रज के परम पावन श्री गोवर्धन उपत्यका में अवस्थित श्री राधाकुण्ड में निवास किया। वहीं नब्बे वर्ष की अति वृद्ध अवस्था में अस्वस्थ होते हुए भी 'श्री चैतन्य चरितामृत' की अलौकिक रचना की। यह इनका अन्तिम अवस्था में प्रणीत हुआ अन्तिम अन्यतम ग्रन्थ है। काव्य और दर्शन की दृष्टि से यह ग्रन्थ असाधारण है। रामचरितमानस की तरह इस ग्रन्थ को लोकप्रियता प्राप्त है और श्रीमन्माधव गौड़ीय सम्प्रदाय का तो यह शिरोमणि प्राणाराध्य ग्रन्थ है। इसमें सारी वैष्णव संस्कृति के सिद्धान्तों का स्वरूप और सदाचार सांगोपांग रूप से वर्णित है। संक्षेपत: भगवान् श्रीमच्चैतन्य देव के चरित्र कीर्तन के व्याज से शास्त्रों का समस्त समीचीन सार इसमें निस्रत हुआ है।

मूल ग्रन्थ प्रसाद गुण सम्पन्न है और चार सौ वर्ष पूर्व की लोकगम्य सरल भाषा में है। श्री कविराजजी ने बड़ी से बड़ी बात बड़ी सरलता और स्वाभाविकता से व्यक्त की है। इस ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी संस्कृत में भी हुआ है। यह ग्रन्थ चैतन्य महाप्रभु के जीवन से सम्बन्धित 20 सर्गों का एक महाकाव्य है। महाप्रभु के स्वर्गारोहण एवं उनके जीवन की अन्य विविधात्मक घटनाओं की विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में की गई है। इसे चित्रकाव्य का एक उदाहरण माना जा सकता है। उन्नीसवें सर्ग में महाप्रभु का वृन्दावन दर्शन वर्णित है। यहाँ कवि के पाण्डित्य प्रदर्शन में भाव के स्थान पर कलापक्ष को स्पष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त है।

चैतन्य चरितामृत तीन खण्डों में विभक्त है। आदि लीला, मध्यलीला एवं अन्त्य लीला। श्री मन्महाप्रभु के आविर्भाव से लेकर उनके संन्यास ग्रहण करने से पहले की समस्त लीलाएँ 'आदि लीला' नाम से विख्यात हैं। संन्यास से लेकर नीलांचल वास के प्रथम छ: वर्षों तक की लीलाओं को 'मध्य लीला' तथा शेष अठारह वर्षों की जो लीलाएँ है उन्हें 'अन्त्य लीलाएँ' माना जाता है। आदि लीला में 17, मध्यलीला में 25 एवं अन्त्यलीला में 20 परिच्छेद हैं। आदि लीला के प्रथम परिच्छेद में चैतन्यावतार का साधारण तत्व, द्वितीय में विशेष तत्व, तृतीय में अवतार का गौण उद्देश्य, चतुर्थ में अन्तरंग हेतु, पंचम में नित्यानन्द तत्व, षष्ठ में श्रीअद्वैत तत्व वर्णित है। सप्तम में पंचतत्व का आख्यान, अष्टम में ग्रन्थ की उपक्रमणिका एवं ग्रन्थ का परिचय, नवम में श्री चैतन्य मालाकार का प्रेमफल दान की उदारता प्रदर्शन, दशम से द्वादश पर्यन्त श्री गौरांग की निज शाखा, नित्यानन्द, अद्वैत एवं गदाधर के शाखा समूह का स्थूलत: वर्णन है। इन परिच्छेदों को उपोद्घात भी कहा जा सकता है। त्रयोदश में जन्मलीला, चतुर्दश में बाल्यलीला, पौगण्ड लीला, षोड़श में किशोर लीला एवं सप्तदश में यौवन लीला की घटनावली एवं ग्रन्थानुवाद लिखित है।

मध्यलीला के प्रथम परिच्छेद में श्रीरूप सनातन का विवरण, मध्य एवं अन्त्यलीला का सूत्र; द्वितीय में अवशेष द्वादश वर्ष की लीला का संक्षिप्त परिचय है। तृतीय में संन्यास की परवर्ती घटना, राढ़ देश में भ्रमण, अद्वैत गृह में आगमन प्रभृति वर्णित है। चतुर्थ पंचम में नीलांचल के पथ से रेमुणा, याजपुर, कटक, साक्षीगोपाल एवं भुवनेश्वरादि स्थान का विवरण, दण्ड भंग लीलादि वर्णित हैं। षष्ठ परिच्छेद में नीलांचल में आगमन एवं सार्वभौम मिलन, सप्तम में दक्षिण यात्रा, अष्टम में श्रीरामानन्द मिलन, नवम में दाक्षिणात्य भ्रमण, दशम एकादश में पुरी में प्रत्यागमन एवं भक्त सम्मिलन, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश में नीलांचल में अवस्थान, जगन्नाथ देव के गुण्डिचा मंदिर मार्जन, रथयात्रा हेरा पंचमी प्रभृति का वर्णन है। पंचदश में भक्त विदा, षोड़श में वृन्दावन यात्रा एवं कानाई की नाटशाला से पुन: प्रत्यावर्तन, सप्तदश में वन पथ से पुन: वृन्दावन यात्रा, अष्टादश में वृन्दावन भ्रमण, ऊनविंश में प्रयाग में श्री रूप शिक्षा; विंश, एकविंश में सम्बन्ध तत्व निरूपण, द्वाविंश में अभिधेय तत्व, त्रयोविंश में प्रयोजन तत्व, चतुर्विंश में 'आत्माराम' श्लोक

की 61 प्रकार की व्याख्या एवं पंचविंश परिच्छेद में मायावादियों का उद्धार एवं वैष्णव स्मृति के उद्देश्यादि वर्णन हैं।

अन्त्यलीला के प्रथम परिच्छेद में श्रीरूप के द्वितीय मिलन एवं काव्यामृतास्वादन एवं सेन शिवानन्द के कुक्कुर का विवरण, द्वितीय में छोटा हरिदास वर्जन, तृतीय में श्री हरिदास ठाकुर की महिमा, नाम महिमा, एवं दामोदर का वाक्य दण्ड, चतुर्थ में सनातन के सहित पुनर्मिलन, पंचम में रामानन्द से प्रद्युम्न मिश्र का विवरण श्रवन, वंगीय कविकृत नाटक परीक्षा, षष्ठ में रघुनाथ दास गोस्वामी का प्रसंग एवं दधि चिउड़ा महोत्सव वर्णित है। सप्तम में वल्लभ भट्ट मिलन, अष्टम में रामचन्द्रपुरी के कटाक्ष से भिक्षा-संकोचन, नवम में गोपीनाथ पटनायक का उद्धार, दशम में राघव पंडित की झालि, एकादश में श्री हरिदास ठाकुर का निर्वाण महोत्सव, द्वादश में जगदानन्द का प्रेम विवर्त, त्रयोदश में जगदानन्द की वृन्दावन यात्रा, श्री चैतन्य महाप्रभु कर्तृक देशदासी का गीत श्रवण एवं रघुनाथ भट्ट मिलन वर्णित है। चतुर्दश एवं पंचदश में दिव्योन्माद, अन्तर्दशा में वृन्दावन दर्शन एवं कृष्णान्वेषण, षोड़श में कालिदास का वैष्णवोच्छिष्ट ग्रहण प्रसंग, कवि कर्णपूर का शैशव-चरित एवं फेवालव महात्म्य कीर्तन, सप्तदश में तेलेडा धेनु के मध्य में पतनादि, अष्टादश में समुद्र में पतन, उनविंश में विरह प्रलाप मुखघर्षणादि एवं विंश परिच्छेद में शिक्षाष्टक वर्णित है।

यह गौड़ीय सम्प्रदाय की अति प्रसिद्ध एवं प्रशंसनीय रचना है। इस ग्रन्थ का इसलिये महत्व नहीं है कि यह महाप्रभु चैतन्य की जीवन घटनाओं की महत्वपूर्ण जानकारी देता है, अपितु इसलिये है कि इसके द्वारा चैतन्य के दार्शनिक विचारों का सम्यक उद्भाषण किया जाता है। गौरांग प्रभु की जीवनी पर लिखी हुई मात्र यही एक ऐसी सशक्त कृति है जिसको आधार बनाकर विचक्षणों ने आचार्य चैतन्य की दार्शनिक मान्यताओं का उद्घाटन किया है। यह आदि, मध्य, अन्त्य इन तीनों भागों द्वारा प्रभु चैतन्य की जीवन लीलाओं पर प्रकाश डालता है। श्री गौरांग महाप्रभु के लौकिक एवं अलौकिक दोनों रूपों की ओर यह पाठक का ध्यान आकृष्ट करने में पूर्ण सफल है। चैतन्य द्वारा मान्य आध्यात्मिक तत्वों-ब्रह्म या ईश्वर शक्ति, जीव जगत और उपासना आदि का प्रतिपादन अत्यन्त मधुर शैली में यहाँ किया गया है। भाषा अति सरल, सरस तथा प्रभावपूर्ण है। बंग भाषा में लिखी हुई होने पर भी बंगाली न जानने वाले के लिये भी सुबोध्य है। इसी प्रासादिक शैली एवं विवेच्य की गंभीरता और समग्रता के साथ प्रस्तुति ने इसे अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया है। यह इतना मनोहर एवं सरस है कि पठन-पाठन में कठिनाई नहीं होगी। [शै०चौ०]

× × ×

रसिककुल मुकुटमणि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने अत्यन्त वृद्धावस्था में 'श्रीचैतन्य चरितामृत' की रचना की जो उनका अक्षय कीर्ति स्तम्भ बना। इस ग्रन्थ में सर्वत्र ग्रन्थकार श्री कविराज गोस्वामी के अभूतपूर्व पाण्डित्य, अद्वितीय कवित्व, अप्रतिम मनीषा, अनन्य रसिकता तथा गहन दार्शनिकता का दिव्य परिचय प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने कलिपावनावतार प्रेम पुरुषोत्तम श्री चैतन्य महाप्रभु के अलौकिक प्रेममय चरितों का विशेषकर अन्तिम 18 वर्ष की उनकी तीव्र विरहोन्मादमयी लीलाओं का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। साथ ही स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा और गोपियों की परम महिमा, धाम, नाम, लीला व रूप माधुर्य, भक्त, गुरु, भक्ति तथा प्रेम के सूक्ष्मतत्व और दिव्य महिमा वर्णन के साथ-साथ काव्यरस, अलंकार, इतिहास एवं धर्म के गूढ़ रहस्य आदि का सहज एवं सुस्पष्ट भाषा में ऐसा अपूर्व परिवेष्टन किया है कि जिसके अध्ययन-आस्वादन से आनन्द रस और विस्मय से अभिभूत होना पड़ता है। 'श्रीचैतन्य चरितामृत' में वैष्णव धर्म के नैतिक, तात्विक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक प्रभृति समस्त विषयों का कहीं संक्षेप तो कहीं विस्तृत परन्तु उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म मर्म का अद्भुत दक्षता और परम रसमयता के साथ सरल रूप से वर्णन हुआ है।

वस्तुत: विद्वतकुल मुकुटमणि श्री कृष्णदास कविराज जी ने वेद, उपनिषद, गीता, पांचरात्र, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, इतिहास, ब्रह्म संहिता, गीतगोविन्द, श्रीकृष्ण कर्णामृत आदि प्राचीन ग्रन्थों के साथ-साथ षड़ गोस्वामियों द्वारा रचित भक्तिरसशास्त्र रूपी सिन्धु में छिपे अनमोल रत्न समूह को निकाला और उन रत्नों द्वारा 'श्रीचैतन्य चरितामृत' को समलंकृत किया। इसलिये तो 'श्रीचैतन्य चरितामृत' को वैष्णव सिद्धान्तों एवं रसमयी भक्ति तत्त्वों का सार संग्रह कहा जाता है।

यह दिव्य ग्रन्थ गौड़ीय वैष्णव जगत का वेदतुल्य है तथा विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। बंगला साहित्य का तो यह सर्वश्रेष्ठ रत्न है। बंगला भाषा एवं साहित्य के इतिहास में चिरकाल तक कविराज जी की यह अमर कृति विजय स्तम्भ के रूप में विराजित रहेगी।

वृन्दावनवासी वैष्णवों के आग्रह पर अति वृद्धावस्था में गोस्वामी श्री कविराज जी ने 'श्रीचैतन्य चरितामृत' का प्रणयन किया। ग्रन्थ लेखन कार्य शाके 1537 (1615 ई.) ज्येष्ठ मास की कृष्ण पंचमी तिथि में पूर्ण हुआ है, जो उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक में रचनाकाल का संकेत किया है-

शाके सिन्ध्वग्नि वाणेन्दौ ज्यैष्ठे वृन्दावनान्तरे।
सूर्येऽह्यसित पंचम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गत:॥

वास्तव में इस अद्वितीय ग्रन्थ की रचना भगवत्कृपा से ही संभव हुई है। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि "यह ग्रन्थ तो श्री मदनगोपाल जी ने लिखा है, वे ही इसके वास्तविक में रचयिता हैं। मेरा लिखना तो तोते को पढ़ाने के समान है। तोते को जो पढ़ाया जाता है, वह उसी को अक्षरश: दोहरा देता है। मैं तो कठपुतली हूँ वे मुझसे जैसे लिखाते हैं, वैसे ही लिखता जाता हूँ।"

'श्रीचैतन्य चरितामृत' के आदि लीला, मध्यलीला और अन्त्यलीला नाम से तीन भाग हैं। आदि में 17 परिच्छेद (अध्याय), मध्य में 25 परिच्छेद एवं अन्त्य में 20 परिच्छेद हैं। ग्रन्थ में संस्कृत श्लोक स्वरचित 97 और उद्धृत 915 हैं। बंगला पयार और त्रिपदी छन्द मिलाकर कुल 10503 हैं। [प्रे०दा०शा०]

× × ×

चैतन्य कथा को ब्रजभाषा में लिखने का कार्य 'सुबल-स्याम' नामक रचनाकार ने किया है। सुबल स्याम के जीवन चरित्र की कहीं कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, यहाँ तक कि मिश्र बन्धु विनोद तथा हिन्दी साहित्य के अन्य इतिहास ग्रंथ भी इस विषय में मौन हैं। वृन्दावन के सप्त देवालयों में एक गोपीनाथ जी सुबल स्याम के इष्ट थे, जिसका उल्लेख उसने स्व रचना में किया है। सुबल स्याम कृत इस ग्रंथ के आदि एवं मध्य खण्ड ही अनुवाद के रूप में प्राप्त होते हैं। जिन्हें कुसुम सरोवर वाले कृष्णदास बाबा ने प्रकाशित कराया है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार व पत्रकार एवं वृन्दावन के राधारमण मंदिर के सेवायत गोस्वामी 'राधाचरण' विद्या वागीश ने भी ब्रजभाषा में चैतन्य चरितामृत का काव्यानुवाद किया, जो वि०सं०1981-1982 में प्रकाशित हुआ था। यह तीन भागों में प्रकाशित था। मूल चैतन्य चरितामृत में चैतन्य महाप्रभु का जीवनवृत्त-आदि, मध्य और अन्त्य नामक तीन भागों में विभाजित किया गया है। अत: इसमें तीन ही खण्ड हैं। इस ग्रंथ रचना से पूर्व वृन्दावनदास द्वारा 'चैतन्य भागवत' की रचना में चैतन्य महाप्रभु के चरित्र का उल्लेख मिलता है। जिसमें मध्य व अन्त्य लीला का संक्षिप्त रूप में कथन है। उससे भक्तजनों की संतुष्टि न होने पर उन लोगों ने कृष्णदास कविराज से प्रार्थना की कि वे एक ऐसा ग्रंथ तैयार करें जिसमें महाप्रभु के जीवन की समग्र जानकारी उपलब्ध हो। इस प्रकार चैतन्य चरितामृत की रचना हुयी जिसमें महाप्रभु का जीवनवृत्त तथा प्रसंगवश उपनिषद, गीता,

पुराण, भागवत, भक्ति रसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रंथों का भी सार संकलित है। इसकी रचना राधाकुण्ड के तट पर सं०1638 में पूर्ण हुयी है। चैतन्य चरितामृत का ब्रजभाषा काव्यानुवाद इसकी सशक्त परम्परा एवं लोकप्रियता का द्योतक है। [प्र०श०]

चैतन्य दास

बंगीय वैष्णवों में कई व्यक्ति चैतन्यदास नाम के हुए हैं। निम्नांकित दो व्यक्तियों के पदकर्त्ता होने की अधिक संभावना है। 'पद कल्पतरु' से प्राप्त 15 पद किसकी रचना हैं, यह कहना कठिन है। परन्तु समस्त पदों की शैली इत्यादि समान है अत: वे एक ही व्यक्ति के हो सकते हैं।

शिवानन्द सेन के ज्येष्ठ पुत्र चैतन्य दास थे, परन्तु इनका अन्य विशेष विवरण अज्ञात है। अत: दूसरे चैतन्यदास की जो वंशीवदन के पुत्र थे पदकर्त्ता होने की अधिक संभावना है। इनकी निश्चित जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि तो अज्ञात है परन्तु ये खेतुरी उत्सव में उपस्थित थे। इनके निम्न पद से ज्ञात होता है कि ये चैतन्यदेव के सामने ही उत्पन्न हुए थे–

मोहे बिहि विपरीत भेल।
अभिमाने मोहे उपेखि पहुं गेल॥
... ...
कि करिव कि ना जानि हैल।
पराण-पुतलि गोरा मोरे छांड़ि गेल॥
... ...
चैतन्य दासेर सेइ हैल।
पाइया गौरांगचांद ना भजि तेजिल॥ (पद कल्पतरु, पृ.सं.463)

शिवानन्द के पुत्र चैतन्य दास का विवरण चैतन्य-चरितामृत में आदिलीला, दशम परिच्छेद में भी है।

चैतन्य दास राम दास आर कर्णपूर
तिन पुत्र शिवानंद प्रभुर भक्त शूर॥ [वि०का०]

चैतन्य भागवत

'चैतन्य भागवत' चैतन्य महाप्रभु के जीवनवृत्त पर आधारित गौड़ीय संप्रदाय का प्रसिद्ध ग्रंथ है। जिसमें महाप्रभु के जीवनवृत्त को रचनाकार वृन्दावनदास द्वारा मध्य व अन्त्य लीला के रूप में उल्लिखित किया गया है। चैतन्य के आदेशानुसार बंगाल से आकर जो भक्तगण वृन्दावन और राधाकुण्ड में बसे थे, वे चैतन्य भागवत में लिखित महाप्रभु की लीलाओं का सायंकाल श्रवण करते थे। वृन्दावन शोध संस्थान में इसकी लगभग 40 पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं जो बंगला एवं नागरी लिपि की हैं। कृष्णदास कविराज से पूर्व चैतन्य कथा को संरक्षित करने में इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। [रा०श०]

× × ×

यह ग्रंथ वृन्दावनदास द्वारा लिखित है। इसकी एक प्रति बंगाल एशियाटिक सोसाइटी कोलकाता के ग्रंथागार में

सुरक्षित है। यह ग्रंथ तालपत्र से निर्मित है। इसका आकार 41×14 से.मी. है, भाषा-लिपि मध्यकालीन बंगाली है तथा पत्र संख्या 227 है। ग्रंथ में 4 चित्र भी दिए गए हैं। ग्रंथ का लिपिकाल 1850 ई. है। तीन खण्डों-आदिखण्ड, मध्यखण्ड, अंत्यखण्ड में विभाजित इस ग्रंथ में प्राचीन बंगाली वैष्णवों का परिचय दिया गया है। [सू०या०]

चैतन्य मंगल

चैतन्य मंगल में 4 खंड हैं। इनके नाम सूत्रखंड, आदिखंड, मध्यखंड और शेष खंड हैं। इनमें मंगल काव्य की शैली में चैतन्य देव की जीवन-लीलाओं का कथन हुआ है। चैतन्य देव की जीवनी विषयक इसमें कोई विशेषता नहीं है, किन्तु काव्य की दृष्टि से यह सुंदर कृति है। इसकी रचना कई प्रकार के छंदों में हुई है। यह उत्तम कोटि का लोक काव्य है। उनकी अन्य रचनाएं 'दुर्लभ सार' और 'जगन्नाथ वल्लभ नाटक' का पद्यानुवाद है। उन्होंने पदों और गीतों की भी रचना की थी। लोचनदास ने इस ग्रंथ की रचना मुरारि गुप्त कृत 'कड़चा' के आधार पर की थी। [क०उ०]

छ

छन्द

छन्द वेद का पाँचवाँ अंग है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है-'छन्दः पादौ तु वेदस्य।' अर्थात् छन्द वेद पुरुष के पैर हैं। पाद (पैर) रहित यानि पंगु मनुष्य के समान वेद भी छन्द के बिना पंगु होने से गमन करने में सक्षम नहीं है। मन्त्र यानि वेद की सत्ता छन्द पर टिकी है। छन्द आधार हैं वेद के। वेद यानि मंत्र के उच्चारण के लिए छन्द ज्ञान की आवश्यकता है। मन्त्र के उच्चारण के समय छन्द थोड़ा भी इधर-उधर हुआ कि मन्त्र का अस्तित्त्व ही खतरे में पड़ गया। प्रत्येक मन्त्र का एक अलग देवता होता है, अतः मन्त्र के उच्चारण के समय उस मंत्र के देवता, मंत्र के द्रष्टा ऋषि के साथ, जिस छन्द में उस मंत्र की रचना की गयी है, उस छन्द का उच्चारण करना आवश्यक समझा जाता है। महर्षि कात्यायन ने स्पष्ट कहा है कि जो वेदपाठी अथवा याजक (यज्ञ करने वाला) ऋषि, देवता और छन्द के ज्ञान से हीन होकर मंत्र का अध्ययन, अध्यापन या यजन करता है, उसका वह प्रयोजनीय कार्य निष्फल हो जाता है।

जो यज्ञादि की असुरादि के उपद्रव से रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं। निरुक्तकार यास्क के अनुसार छन्द शब्द का यही अर्थ किया गया है-'मन्त्रामननात्'। छन्दांसि छादनात् (स्तोमः स्तवनात्)। यजुर्यजतेरित्यादि' अर्थात् मनन करने से त्राण (रक्षा) करने वाले शब्द समूह को मंत्र कहते हैं। जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाये उन्हें स्तोम कहते हैं, जिससे यज्ञ किया जाये, उसे यजु कहते हैं।

इस वेदांग का आधार ग्रंथ है-पिङ्गलाचार्य कृत 'छन्दः सूत्रम्'। इस ग्रंथ के रचयिता आचार्य पिङ्गल हैं। आठ अध्यायों में विभक्त यह ग्रंथ सूत्र रूप में लिखा हुआ है। प्रथम से चतुर्थ अध्यायों में छन्दों के लक्षण बताये हैं। पिङ्गल ने अपने ग्रंथ में निदान सूत्र तथा उपनिदान सूत्र में सात तथा चार छन्द ज्ञान से सम्बन्धित आचार्यों का उल्लेख किया है। पिङ्गल से पूर्व जिन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में छन्दों पर विचार किया है, उनके नाम हैं-भरत, पतंजलि, शौनक और कात्यायन। लौकिक काव्य के अन्तर्गत छन्दों की योजना तो पद्य में ही होती है और गद्य छन्द रहित होते हैं, पर वेद के सम्बन्ध में पद्य और गद्य में समान रूप से छन्द की योजना है।

वैदिक यज्ञ विधान के अन्तर्गत व्यवस्था है कि प्रातः स्तवन में गायत्री, माध्यन्दिन स्तवन में त्रिष्टुप और तृतीय स्तवन में जगती छन्द का प्रयोग होता है। गायत्री छन्द 24 अक्षर और तीन चरणों वाला होता है, उष्णिक 28, अनुष्टुप 32, बृहती 36, पंक्ति 40, त्रिष्टुप 44 और जगती 48 अक्षरों से युक्त होता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' में ऋग्वेद के सभी मंत्रों की संख्या का निर्देश जिन छन्दों के अनुसार किया वह इस प्रकार हैं-

गायत्री में 2467 मंत्र, उष्णिक में 341 मंत्र, अनुष्टुप में 855 मंत्र, बृहती में 181 मंत्र, पंक्ति में 312, त्रिष्टुप में 4253 एवं जगती में 1350 मंत्र हैं। इनके अतिरिक्त तीन सौ मन्त्र अतिजगती, शक्वरी, अष्टी, प्रत्यष्टी अवान्तर छन्दों में रचित हैं। एकपदा ऋचाओं की संख्या छः और नित्यद्विपदा ऋचाओं की संख्या 17 है। इस सूची में प्राप्त क्रम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि त्रिष्टुप छन्द का प्रयोग ऋग्वेद में सबसे अधिक हुआ है, इसके बाद गायत्री और जगती संख्यानुसार क्रम में आते हैं।

यजुर्वेद में अतिधृति 76 वर्ण, कृति 80 वर्ण, प्रकृति 84 वर्ण, आकृति 88 वर्ण, विकृति 92 वर्ण, संस्कृति 96,

अभिकृति 100 एवं उत्कृति 104 वर्ण ये 8 छन्दों के उदाहरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में उक्ता 4 वर्ण, अत्युक्ता 8 वर्ण, मध्या 12 वर्ण, प्रतिष्ठा 16 वर्ण एवं सुप्रतिष्ठा 20 वर्ण 5 प्रकार के छन्द प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त सामवेद और अथर्ववेद में ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्रयोग किये गये मंत्र ही मिलते हैं, जिनके 261 भेद-प्रभेद हैं।

वैदिक साहित्य के लौकिक संस्कृत में 'वाल्मीकि रामायण' में सर्वप्रथम अनुष्टुप का आविष्कार हुआ। प्रायः अधिकांश महाकाव्य एवं पुराणों में अनुष्टुप छंद का प्रयोग अधिक किया गया।

उप निदानसूत्र, ऋक्, प्रातिशाख्य और अग्निपुराण में अन्य विषयों के साथ छन्दों के बारे में वर्णन किया गया है। अनुक्रमणी साहित्य के अन्तर्गत शौनक द्वारा रचित छन्दोनुक्रमणी, कात्यायनकृत 'ऋकसर्वानुक्रमणी', 'शुक्लयजुः-सर्वानुक्रमसूत्र', 'वृहतसर्वानुक्रमणी', माधवभट्ट के द्वारा रचित 'ऋग्वेदानुक्रमणी' और वेंकटमाधवकृत 'छन्दोनुक्रमणी' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त छन्दों के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से लिखित ग्रंथों में छन्दसूत्र, उपनिदानसूत्र, जयदेव छन्द एवं श्रीकृष्णभट्टकृत 'वृत्तमुक्तावलि' मुख्य हैं। इन सभी ग्रंथों का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है-

अग्नि पुराण-383 अध्यायों में विभक्त अग्नि पुराण में पिङ्गल का नामोल्लेख होने से यह ग्रंथ पिङ्ग के बाद का है। इस ग्रंथ में 4 छन्द ऐसे हैं, जो इसी ग्रंथ के हैं शेष छन्द पूर्व की रचनाओं के अनुसार ही हैं।

उपनिदान सूत्र-इस ग्रंथ के रचयिता का नाम अज्ञात है। इस ग्रंथ के अन्तिम पद्यचतुष्टय के पहले पद्य में पिङ्गल का उल्लेख किया, इसलिए यह ग्रंथ पिङ्गल के बाद लिखा गया।

ऋक् प्रातिशाख्य-ऋक् प्रातिशाख्य के रचयिता आचार्य शौनक हैं। इसमें पटलों की संख्या 18 है, जिनमें अन्तिम तीन 16 से 18 तक के पटलों में मूल 26 छन्दों के 188 भेद-प्रभेदों के लक्षण प्राप्त होते हैं, जिनमें शौनक के 64 स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं। इनके अतिरिक्त शेष 124 छन्द निदान सूत्र में लक्षित हो चुके हैं।

ऋक्सर्वानुक्रमणी-ऋक्सर्वानुक्रमणी के लेखक कात्यायन हैं। सूत्र रूप में निबद्ध इस ग्रंथ में 68 प्रकार के छन्दों के लक्षण मिलते हैं। जिनमें 9 छन्द कात्यायन के स्वतन्त्र रूप से लक्षित हैं। शेष 59 छन्द पूर्व की रचनाओं में लक्षित हो चुके हैं।

छन्दः सूत्र-छन्दः सूत्र की रचना महर्षि पिङ्गल ने की है। यह सूत्रों में उपनिबद्ध है। 8 अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में 329 वैदिक एवं लौकिक छन्दों का वर्णन है।

छन्दोनुक्रमणी-इस ग्रंथ की रचना वेंकटमाधव ने की है। ऋग्वेद-संहिता पर भी इन्हीं ने भाष्य लिखा है। इस भाष्य में वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है। 56 छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन इस ग्रंथ में है, स्वतन्त्र कोई छन्द नहीं, सभी छन्द पूर्ववर्ती रचनाओं के अनुसार हैं।

जयदेव छन्दः-इस ग्रंथ के रचनाकार जयदेव हैं। आठ अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में स्वतन्त्र रूप से 13 छन्दों को लक्षित किया गया है। शेष छन्द पूर्व की रचनाओं के अनुसार ही प्राप्त होते हैं।

निदान सूत्र-इस ग्रंथ के रचयिता पतंजलि हैं। इस ग्रंथ में 10 प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में इस ग्रंथ में 13-13 खण्ड हैं। इसके प्रथम प्रपाठक के प्रथम सात खण्डों में छन्दों का वर्णन प्राप्त होता है। पहले छः खण्डों में मूल 26 छन्दों के 143 भेद-प्रभेदों के लक्षण प्राप्त होते हैं।

वृत्तमुक्तावलि-इस ग्रंथ के रचयिता श्रीकृष्णभट्ट हैं। यह ग्रंथ 3 गुम्फों से युक्त है। 205 वैदिक छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन पहले ही गुम्फ में है। पूर्व की रचनाओं के आधार पर आये छन्दों के अतिरिक्त 4 छन्द ही स्वतन्त्र रचे गये हैं। [वि०श०]

छप्पनभोग

यह उत्सव प्रकारांतर से कुनवाड़ा जैसा ही है। इसमें सखरी रसोई कम मात्रा में बनती है। विभिन्न प्रकार के अन्य मिष्ठान्न होते हैं। इसमें गोवर्धन की पूजा भी आवश्यक नहीं है। छप्पन भोग सभी देवी-देवताओं के अलग-अलग लगाये जाते हैं। इसमें मिष्ठान्नों की विभिन्नता दर्शित होने के कारण इसे छप्पन भोग कहा जाता है। यह किसी भी उत्सव या मनोरथ पूर्ण होने पर किया जा सकता है। इसका कोई दिवस निश्चित नहीं होता है।

[प्र०श०]

ज

जगत्

पुरुषसूक्त के प्रथम मंत्र के अनुसार पुरुष इस सब जगत में व्याप्त हो रहा है। अर्थात् उसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है। ईश्वर की इच्छानुसार उससे यह उत्पन्न होकर स्थूल नाम रूपों में दिखाई पड़ता है। आचार्य शंकर 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के महावाक्य से घोषणा करते हैं कि ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या अर्थात् असत्य है। जिससे तात्पर्य है कि शंकराचार्य ने जगत को प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ताओं के अन्तर्गत स्वीकार किया है। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व हमारे लिए जगत् की सत्ता है और ब्रह्मज्ञान के बाद नहीं।

रामानुजाचार्य के अनुसार जगत् ईश्वर के अचित् तत्व की अभिव्यक्ति है। यह जगत् आत्मा (जीव) तथा ईश्वर का निवास स्थान है। जीव के समान ही जगत् भी ब्रह्म का विशेषण है, इस प्रकार जगत् ईश्वर से अपृथक है। जगत जड़ एवं विकार युक्त है, इसके तीन भेद होते हैं-(1) शुद्ध तत्व (2) मिश्र तत्व एवं (3) सत्व शून्य। शुद्ध सत्व में केवल सत्व गुण रहता है, इसमें रज एवं तम गुण नहीं होते हैं। यह नित्य है, इससे ईश्वर, नित्य पुरुष तथा मुक्त पुरुषों के शरीर एवं भोग साधन की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृतिजन्य न होकर अप्राकृत है। मिश्र सत्व में तीनों गुणों का मिश्रण होने के कारण यह प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। तीनों गुणों के कारण नाना प्रकार के स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सत्व शून्य तीनों गुणों से शून्य तत्व 'काल' कहलाता है। यह भी नित्य तथा ईश्वर की लीला में सहायक है। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलय इसी सत्व शून्य के अधीन हैं। रामानुजाचार्य ने कहा है कि ईश्वर माया शक्ति द्वारा ही सृष्टि लीला जैसा अद्भुत एवं विचित्र कार्य सम्पन्न करता है। माया सृष्टि में व्यवहृत ईश्वर की वास्तविक शक्ति है। ईश्वर की तरह यह सृष्टि उतनी ही सत्य है, जितना स्वयं ईश्वर।

वल्लभ मतानुसार जगत् का आविर्भाव अक्षर ब्रह्म के सत् अंश से हुआ है। इस प्रकार यह जगत् ब्रह्म रूप ही है। जगत ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। उसका यह अविकार सुवर्ण निर्मित आभूषण में सुवर्ण के अविकार के समान है। जगत् में अट्ठाईस तत्वों से युक्त अणु रूप सृष्टि में परब्रह्म अन्तर्यामी रूप में प्रवेश करता है, तभी नाना रूपात्मक सृष्टि का आरम्भ होता है। साधारणतया जगत् और संसार समानार्थक शब्द माने जाते हैं। संसार जीव के निजी विकारों की सृष्टि है। इसीलिए मोक्ष दशा में संसार अदृश्य हो जाता है, लेकिन जगत् की सत्ता बनी रहती है। इस प्रकार संसार जीव कृत होने के कारण मिथ्या है और जगत् ब्रह्म कृत होने से सत् है। जगत् और संसार का भेद शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की विशेषता है।

निम्बार्क के मतानुसार अचित् तत्व को ही जगत्, प्रकृति या जड़ तत्व कहते हैं। निम्बार्काचार्य ने अचित् तत्व के तीन भेद माने हैं-प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृत तत्व से ही प्रकृति की उत्पत्ति होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्राकृतिक हैं। जगत् अपने कारण रूप में नित्य तथा कार्यरूप में अनित्य है। महत् तत्व से लेकर ब्रह्माण्ड तक जगत् का ही विस्तार है। यह भी जीव की भाँति भगवान के अधीन है तथा इसकी स्वतंत्र सत्ता है। अप्राकृत तत्व तीनों गुणों से रहित तथा प्रकाशस्व है। भगवान का शरीर, उनके आभूषण, गोलोक धाम एवं भगवान के आश्रित नित्य तथा मुक्त जीवों के शरीर, भोग, उपकरण तथा निवास स्थान आदि शुद्ध तत्व के बने हैं। तृतीय भेद काल प्राकृत एवं अप्राकृत तत्व के विपरीत सम्पूर्ण पदार्थ का नियमन करने वाली शक्ति है। जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। यह भी ईश्वर द्वारा नियम्य तथा जगत् का नियामक है।

व्यावहारिक दृष्टि से इसके तीन रूप हैं-वर्तमान, भूत और भविष्य। इसकी अनेकता उपाधियों के कारण हैं।

मध्वाचार्य के अनुसार जगत् सत्य तथा वास्तविक है, किसी को भी इसकी मिथ्या अनुभूति नहीं होती। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण। कारण रूप ईश्वर जब सत्य है तो उसका कार्य भी सत्य होना चाहिए। ईश्वर आप्तकाम है, केवल लीला की दृष्टि से ही वह सृष्टि करता है। प्रलय के अन्त में परमात्मा को सृष्टि करने की इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। ईश्वर चेतन और अचेतन तत्वों को स्वयं में समाहित कर अपनी नाभि में कमल को उत्पन्न करते हैं। कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है और ब्रह्मा प्रकृति की सहायता से स्थूल जगत् की रचना करते हैं।

चैतन्य मतानुसार जगत्, ब्रह्म की बहिरंगा शक्ति का विलास है। बहिरंगा शक्ति के दो भेद हैं-(1) द्रव्य माया और (2) गुण माया। द्रव्य माया जगत् का उपादान कारण है और गुण माया जगत् का निमित्त कारण है। सत्, रज, तम रूपिणी त्रिगुणात्मिका माया प्रकृति ही है। ब्रह्म प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न करके महतत्त्व, गुण, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियों का सृजन कर सृष्टि का निर्माण करता है। प्रकृति नित्य है और परब्रह्म श्रीकृष्ण की गुण माया है तथा उनके आश्रित और वशवर्तिनी है। [क०उ०]

जगन्नाथदास

जगन्नाथदास नाम के कई व्यक्ति चैतन्य देव के भक्तों में हुए हैं। उनमें से दो का कुछ ब्यौरा ज्ञात है। काष्ठकाटा के जगन्नाथदास का नाम चैतन्य-चरितामृत में गदाधर पंडित के शिष्यों में दिया हुआ है—

श्रीनाथ चक्रवर्ती आर उद्धारण दास।
जितामिश्र काष्ठकाटा जगन्नाथ दास॥

(चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, परिशिष्ट 12, पृष्ठ 66)

परन्तु जो पद प्राप्त हैं उनमें चैतन्य देव के गृह जीवन का वर्णन है जिससे ज्ञात होता है कि पदकर्त्ता उनका समसामयिक था। एक दूसरे जगन्नाथदास चैतन्यदेव के अनन्य भक्त उड़ीसावासी थे। इनका उल्लेख देवकीनंदनदास ने वैष्णव-वंदना में किया है।

जगन्नाथदास वंदों संगीते पंडित।
जार गीत शुनिया श्री जगन्नाथ मोहित॥

(गौरपद तरंगिणी, उपक्रमणिका, पृ.85)

इनकी निश्चित जन्मतिथि अज्ञात है। चैतन्यदेव के नीलांचल वास के समय ये उपस्थित थे। इन्होंने भागवत की व्याख्या की थी और पद बनाए थे। पदकल्पतरु में इनके 10 पद प्राप्त हैं। [वि०का०]

जन्माष्टमी

भगवान श्रीकृष्ण के प्राकट्य दिवस 'श्रीकृष्णजन्माष्टमी' को ही जन्माष्टमी के नाम से ही जाना जाता है। वैसे तो जन्माष्टमी का पर्व पूरे भारत में हर्ष-उल्लास से आयोजित होता है। लेकिन कान्हा की जन्मस्थली में इसका अपना महत्व है। जिस समय सिंह राशि पर सूर्य आते हैं। आकाश में मेघों का बरसना शुरू होता है, तब भाद्रपद मास में कृष्ण

पक्ष की अष्टमी तिथि में अर्द्धरात्रि के समय वृष राशि में चन्द्रमा के उदय होने पर तथा रोहिणी नक्षत्र के योग में श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा के कारागार में माता देवकी के गर्भ से हुआ था। मथुरा के जन्मस्थान पर श्रीकृष्ण का जन्म का उत्सव बड़े समारोह के रूप में मनाया जाता है। मथुरा के अतिरिक्त गोकुल, महावन, दाऊजी, वृन्दावन, कोसी, बरसाना, नन्दगाँव, राधाकुण्ड, गोवर्धन, डीग आदि स्थानों पर भी श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। मथुरा में रात को बारह बजे ठाकुरजी का जन्म कराया जाता है। ठाकुरजी को पंचामृत स्नान कराया जाता है। जिसमें घृत, दूध, दही, शहद, शक्कर तथा अनेक प्रकार की औषधि तथा सुगन्धित द्रव्य आदि से भगवान को स्नान कराया जाता है। मथुरा के द्वारिकाधीश में जन्मस्थान से एक दिन पहले जन्माष्टमी का आयोजन किया जाता है तथा वहाँ पर भी ठाकुरजी का रात को बारह बजे अभिषेक कराया जाता है। इसके बाद जरी का श्रृंगार किया जाता है तथा पाग, लड्डू, धनिये की पंजीरी आदि का भोग लगाया जाता है। वृन्दावन के राधारमण मंदिर में दिन के 12 बजे ठाकुर जी का अभिषेक किया जाता है तथा ठाकुरजी को पीले रंग की पोशाक धारण करायी जाती है। कहीं-कहीं पर खीरे से ठाकुरजी का जन्म कराया जाता है। श्रीबाँके बिहारीजी के मंदिर में प्रात:काल मंगला होती है जो कि एक साल में एक ही जन्माष्टमी के दिन होती है। गौड़ीय सप्त देवालयों में भी जन्माष्टमी बहुत धूमधाम से मनायी जाती है। ब्रज मंडल के नंदगाँव में जन्माष्टमी के पर्व का पारंपरिक ढंग से आयोजन होता है। नंदगाँव में कभी-कभी अष्टमी तिथि को लेकर संशय होने पर 'खुर गिनती' के द्वारा इसका निराकरण किया जाता है। जिसमें लोगों के द्वारा रक्षाबंधन से ठीक आठवें दिन ही अष्टमी मनायी जाती है। नंदगाँव एवं बरसाने के मध्य आज भी राधा एवं कृष्ण से जुड़ी रस्म अथवा परंपरायें उसी रूप में आयोजित होती हैं। यह ब्रज का अपना वैशिष्ट्य है। वृन्दावन के श्रीराधारमण मंदिर में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी मनाने की कई विशिष्टताएँ हैं। इस मंदिर में भाद्रपद कृष्ण पक्ष सूर्योदयकालीन अष्टमी को यह उत्सव मनाया जाता है। संपूर्ण मंदिरों में अधिकांशत: यह उत्सव रात्रि 12 बजे सम्पन्न होता है जबकि श्रीराधारमण मंदिर में यह उत्सव दिन में मनाया जाता है। इसके अंतर्गत ही श्रीराधारमणलाल जी के श्रीविग्रह को रजत मंडल में श्वेत वस्त्रों में विराजमान करके सभी उपस्थित श्रद्धालु भक्तों के समक्ष जड़ी-बूटियों के अर्क, गो-दुग्ध, दही, गोघृत, शहद तथा शर्करा मिश्रित पंचामृत से वेदमंत्रों द्वारा अभिषेक कराया जाता है। इसके पश्चात् केशर मिश्रित गो-दुग्ध से भगवान का अभिषेक होता है तथा केशर मिश्रित तीर्थजल से श्री भगवान का अभिषेक सम्पन्न होता है। लगभग 3-4 घंटे तक चलने वाले इस महाअभिषेक की प्रक्रिया अन्य मंदिरों से भिन्न है। यहाँ दिन में अभिषेक किये जाने की परंपरा आरंभ से ही चली आ रही है। इसका कारण तो अज्ञात है किन्तु दिन में जन्माष्टमी अभिषेक की यह अनूठी परंपरा इसी मंदिर में है। जो अधिकांश अन्य मंदिरों में दृष्टिगोचर नहीं होती। दूसरी परंपरा में यहाँ अभिषेक सभी भक्तों के समक्ष होता है जबकि अधिकांश मंदिरों में गर्भगृह में गुप्त अभिषेक की परंपरा है। अभिषेक के पश्चात् जिन वस्त्रों को पहनकर भगवान का अभिषेक होता है। उसे 'चीर प्रसाद' के रूप में भक्तों को वितरित किया जाता है। जन्माष्टमी अभिषेक के पश्चात् 'श्रीजी' को पीले वस्त्र धारण कराये जाते हैं तथा नित्य से आज विशेष श्रृंगार होता है। वल्लभकुल के पुष्टिमार्गी कवि सूरदास ने भी अष्टमी की रात्रि का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है—

'भादौं की अध-राति' अँध्यारी।
द्वार कपाट कोटि भट रोके, दस दिसि कंत कंस भय भारी॥

सूर सागर (सभा)

[प्र०श०]

जनहरिया

माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण कुल में जनहरिया जी का आविर्भाव हुआ। प्रारंभिक जीवन में ये भगवान शिव के अनन्य

साधक थे। इनकी भक्ति आराधना से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान शंकर ने इन्हें दर्शन देकर वर माँगने को कहा। इन्होंने प्रिया- प्रियतम की भक्ति का आशीर्वाद माँग लिया। भगवान आशुतोष ने इन्हें रूपनिधान जी से दीक्षा लेकर वृंदावन वास और वैष्णवी आराधना करने का आदेश दिया। इन्होंने 35 वर्षों तक श्रीधाम वृंदावन में निवास किया।

[कुं०बि०श०]

जनार्दन देव

गुरु श्री ब्रजजीवन देव जी के शरणापन्न हो श्री जनार्दन देव जी 60 वर्षों तक उनकी गद्दी पर विराजे। इनका जन्म संभल नगर में हुआ। [कुं०बि०श०]

जम्बू स्वामी

भारत के प्रसिद्ध शासक महाराज श्रेणिक के राज्यकाल में राजगृही नगर में सेठ श्रीअर्हदास जी की धर्मपत्नी नमति के गर्भ से महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के 22 वर्ष पूर्व श्री जम्बू कुमार ने जन्म लिया था। जम्बू कुमार ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा अल्प समय में ही चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सर्व विद्याओं से सम्पन्न होने के कारण जम्बू स्वामी को अल्प समय में ही राजसभा में प्रमुख दरबारी का पद प्राप्त हो गया था।

आपके यश से प्रभावित होकर इसी नगर के सेठ सागरदत्त, कुबेरदत्त, वैष्णवदत्त और श्रीदत्त ने अपनी-अपनी कन्याओं के साथ सगाई (वाग्दान) सम्बन्ध कर दिया था। कुछ समय बाद दिगम्बर मुनि श्री सुधर्माचार्य जी राजगृही के उद्यान में पधारे। वहाँ के निवासियों के साथ जम्बू कुमार भी उपदेश हेतु गये। धर्मोपदेश सुनकर आपको परम वैराग्य उत्पन्न हुआ। दिगम्बर दीक्षा के लिये उन्होंने आचार्य से प्रार्थना की परन्तु स्वामी जी ने बिना माता-पिता की आज्ञा के दीक्षा देना स्वीकार नहीं किया। माता-पिता जम्बू कुमार के विवाह कराने के लिए उत्सुक थे। माता-पिता ने गुरुजनों से कहा कि आप विवाह हेतु कुमार को राजी कर लें। गुरुजनों के आग्रह के कारण जम्बू कुमार को पाणिग्रहण करना पड़ा। पाणिग्रहण के पश्चात् रात्रि में चारों स्त्रियाँ नाना प्रकार से राग मिश्रित सम्वादों के द्वारा कुमार को वश में करने का प्रयत्न कर रही थीं। जबकि कुमार वैराग्य का उपदेश देकर उन चारों को समझा रहे थे। इसी अवसर पर विद्युच्चर नाम का चोर महल में चोरी करने के लिये आया। वह भी छुपकर इनके संवाद को सुन रहा था। जम्बू कुमार के उस वैराग्यमय संवाद का चारों पत्नियों और चोर पर अपूर्व प्रभाव पड़ा।

प्रात:काल ही श्री सुधर्माचार्य के पास जाकर जम्बू कुमार ने दिगम्बर दीक्षा धारण की। दीक्षा लेने के 10 वर्ष बाद वीर निर्वाण सं. 12 में श्री जम्बू कुमार को पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त हुआ। इसी दिन श्रीसुधर्माचार्य को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। लगभग 12 वर्ष की कठोर तप साधना करने के बाद वीर नि. संव. 23 ज्येष्ठ शुक्ल 7 को लगभग 45 वर्ष की आयु में श्री जम्बू स्वामी को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था।

कैवल्यज्ञान प्राप्ति के बाद जम्बू स्वामी लगभग 40 वर्ष तक विहार करते रहे। अन्त समय आप विहार करते हुए मथुरा नगर के उद्यान में आये। वहाँ 84 वर्ष की आयु में आपने निर्वाण प्राप्त किया। संभवत: इसीलिये इस स्थान का नाम चौरासी पड़ा हो। [जि०कु०]

जयदेव

श्री राधामाधव ही इनके अनन्य उपास्य थे। स्वयं भगवान जगन्नाथ की आज्ञा से इन्होंने यशुदानंदनदेव जी से दीक्षा ली। इनके माता-पिता ने इन्हें गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर दिया था। वृंदावन और निधिवन की अलौकिक छटा ने

इन्हें आनंदित किया। गुरुदेव के निकुंजवास के पश्चात् ये राधामाधव की उपासना ध्यान करने लगे। एक दिन कुछ धनलोलुपों ने इन्हें लूट लिया और हाथ-पैर काटकर कुएँ में डाल दिया। जब राजा को यह पता लगा तो उन्होंने जयदेव जी को कुएँ से निकलवाकर सादर महलों में ले गए। जयदेव जी की प्रेरणानुसार राजा संत सेवा करने लगे। कुछ दिनों बाद भगवद् अनुकंपा से जयदेव जी के हाथ-पैर पूर्ववत हो गए और जयदेव जी ने 'गीत गोविन्द' की रचना की। इसी समय राधारानी के उत्कर्ष की पुष्टि के संदर्भ में विचार उत्पन्न हुआ तो श्री ठाकुर जी ने स्वयं अपने कर-कमलों से छंद की पूर्ति कर दी। तब जयदेव जी को प्रियाजी की प्रधानता का निश्चय हुआ। स्वर्ग से लेकर पृथ्वी तक 'गीत गोविन्द' का गायन होने लगा। जहाँ कहीं भी 'गीत गोविन्द' का गायन होता है स्वयं पुरुषोत्तम इसे सुनते हैं। जयदेव जी नित्यविहार की उपासना में निमग्न हो 105 वर्षों तक वृंदावन में रहे। [कुं०बि०श०]

जल विहार

ब्रज में जल यात्रा उत्सव ज्येष्ठ मास की एकादशी को मनाया जाता है। मान्यता के अनुसार साल का यह सबसे अधिक गर्म दिन होता है। इसी कारण से ठाकुरजी को शीतलता प्रदान करने के लिये जलयात्रा उत्सव जेठ की एकादशी को मनाते हैं। इस दिन ठाकुरजी को शीतल पेय, शरबत, ठंडाई के साथ ही विभिन्न फल आम, खरबूजा, फालसेब आदि का भोग लगाया जाता है। इस दिन रायबेल व अन्य फूलों के बँगले में ठाकुरजी विराजते हैं। ठाकुरजी के सिराहने बेला फूल का बना पंखा रखा जाता है। ब्रज के मंदिरों में इस दिन सायंकाल ठाकुरजी के स्नान-दर्शन होते हैं। ठाकुरजी के स्नान के जल में केसर, कपूर, इत्र आदि का मिश्रण तैयार कर जल तैयार किया जाता है। फुव्वारों की रिम-झिम बौछारों के मध्य इस दिन हल्के वस्त्रों अथवा पुष्प शृंगार के मध्य विभिन्न मंदिरों में श्रीविग्रह की छठा देखते ही बनती है। किसी-किसी मंदिर में गर्भगृह के बाहर जगमोहन में श्रीविग्रहों को नौका विहार भी कराया जाता है जिसे देख श्रद्धालु अपना जीवन सार्थक करते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में आचार्य कमलनयन गोस्वामी जी के शिष्य अतिवल्लभ जी ने अपनी पाण्डुलिपि (अप्रकाशित) उत्सव बीजक में जलयात्रा मनोरथ का उल्लेख किया है—

ज्येष्ठ सुदि एकादशी, जल विहार दिन जानि।
सावन सुदि तिथि तीज ते, पावस डोल बखानि।।

वृन्दावन के शाह जी, राधादामोदर एवं यशोदानंदन मंदिर सहित ब्रज के राधाकुण्ड, गोवर्धन, बरसाना, गोकुल एवं कामवन आदि स्थानों पर इस मनोरथ की अलौकिक छठा देखते ही बनती है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में नारायण भट्ट जी एवं कविराज के साथ ही हरित्रयी की परम्परा से जुड़े साधकों ने इस उत्सव को केन्द्रित कर अपार साहित्य रचा है, जिसका गायन सायंकाल इस मनोरथ के दौरान सुना जा सकता है। ऋतुकालीन सेवा परम्परा के अन्तर्गत ग्रीष्म ऋतु में ब्रज के देवालयों में जल विहार का मनोरथ देखते ही बनता है सायंकाल मंदिरों में चलते फुव्वारे तथा समाज अथवा कीर्तन के दौरान जल विहार सम्बन्धी पदों का गायन, यह दृश्य मानव मन को सहज ही विमोहित करने वाला है।

[रा०श०]

जलभेद:

इसमें इक्कीस श्लोक हैं। इस ग्रंथ में आचार्य वल्लभ ने जल के भेदों के सादृश्य पर साधकों के भेद और उनकी प्रकृति पर विचार किया है। [क०उ०]

जानकीदास

जानकीदास नरोत्तमदास के शिष्य थे। इनकी निश्चत जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि अज्ञात है। ये नरोत्तमदास के समसामयिक थे। इनके केवल दो पद प्राप्त हैं। एक पद 'अप्रकाशित पद-रत्नावली' में, एक 'हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिटरेचर' में दिया है। इनका उल्लेख प्रेम-विलास पृ. 20 और नरोत्तम-विलास पृ. 20 में है। [वि०का०]

जीव

भारतीय दर्शन में 'ब्रह्म' के बाद 'जीव' पर भी गहन चिन्तन किया गया है। मोटे तौर पर जिन वस्तुओं में चेतना होती है उसे जीव कहते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से जीव वह है जो कि माया शक्ति के कारण इस संसार में आता है। जीव की स्थिति के विषय में विभिन्न आचार्यों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सर्वप्रथम आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही उपाधि के सम्पर्क में आकर जीव भाव से विद्यमान रहता है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के ऊपर शासन करने वाले तथा कर्मों के फल को भोगने वाली आत्मा को जीव कहते हैं। जीव और ब्रह्म में अभेद है, परन्तु जीव में ब्रह्म के सम्पूर्ण धर्म नहीं हैं। अविद्या से आबद्ध होने के कारण जीव शरीर के सुख-दुखादि का भोग करता है। शंकराचार्य 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि उपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म और जीव की एकता प्रतिपादित करते हैं। अविद्या के दूर हो जाने पर जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। जीव कर्मानुसार संसार में आवागमन रूप से संचरण करते हुए भी जन्म-मरण रूप से रहित, नित्य तथा अविनाशी हैं।

रामानुजाचार्य के अनुसार जीव और ईश्वर दो स्वंतत्र सत्ताएँ हैं तथा दोनों सत्य हैं। परन्तु जीव ईश्वर के समान स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह ईश्वर के अधीन है। इस मत के अनुसार जीव अनन्त है और वे एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हुए भी जीव शाश्वत है। जीव को तीन वर्ग में विभाजित किया गया है-(1) नित्य (2) मुक्त एवं (3) बद्ध। नित्य जीव वे हैं जो बैकुण्ठ में निवास करते हैं तथा कर्म एवं प्रकृति से स्वतंत्र रहकर आनन्द का उपभोग करते हैं। ये जीव कभी संसार चक्र में नहीं आते। ये सदा ईश्वर की सेवा में रहते हैं। इनके अवतार भी भगवान के समान स्वेच्छा से ही होते हैं जैसे-अनन्त, गरुड़, विश्वक्सेन आदि। मुक्त जीव वे होते हैं जो ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ये मुक्त जीव ब्रह्म के समान भोग करते हैं। बद्ध जीव वे जीव हैं जिनका सांसारिक चक्र अभी पूर्ण नहीं हुआ है। ब्रह्मा से लेकर अति तुच्छ कीड़े-मकोड़े तक सभी जीव बद्ध हैं।

वल्लभाचार्य के अनुसार परब्रह्म को जब एक से अनेक होकर रमण करने की इच्छा हुई तो उस इच्छा मात्र से ही पूर्ण आनन्द का तिरोधान करके अक्षर ब्रह्म से भगवान के चिदंश से असंख्य जीवों की उत्पत्ति हुई। जीव में ऐश्वर्यादि षड्गुणों का अभाव होता है। भक्ति द्वारा जीव में ऐश्वर्यादि षड्गुणों तथा आनन्दांश का आविर्भाव हो जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। वल्लभाचार्य ने दो प्रकार की जीव सृष्टि बताई है-(1) दैवी जीव सृष्टि (2) आसुरी जीव सृष्टि। दैवी सृष्टि भी दो प्रकार की होती है—पुष्टिमार्गीय जीव, मर्यादामार्गीय जीव। पूर्ण पुरुषोत्तम के श्री अंग से उत्पन्न पुष्टि सृष्टि के जीव चार प्रकार के होते हैं-(1) शुद्ध पुष्ट भक्त (2) पुष्टि पुष्ट भक्त (3) मर्यादा पुष्ट भक्त तथा (4) प्रवाही पुष्ट भक्त। शुद्ध पुष्ट जीव नित्य, मुक्त, भगवद् रूप तथा ऐश्वर्यादि षड्गुणों से युक्त होते हैं। पुष्टि पुष्ट जीव केवल भगवत सेवा में तल्लीन रहते हैं। मर्यादा पुष्ट जीव वेद विधि अनुकूल कर्म में लगे रहते हैं। प्रवाही पुष्ट जीव नित्य संसारी सुखों में लिप्त रहते हैं। आसुरी सृष्टि में भी दो प्रकार होते हैं- (1) दुर्ज्ञ (2) अज्ञ। अज्ञ जीव का उद्धार भगवान के संहार द्वारा होता है लेकिन दुर्ज्ञ जीवों का कभी उद्धार नहीं होता।

निम्बार्क मतानुसार भगवान की चित् शक्ति का नाम जीव है। जीव अणु रूप, चैतन्य रूप, नित्य तथा ईश्वर के अधीन है। जितने शरीर हैं उतने ही जीव हैं। ब्रह्म अन्तर्यामी के रूप में प्रत्येक जीव में विद्यमान है। इस प्रकार जीव अनन्त है। जीव दो प्रकार के हैं मुक्त तथा बद्ध। मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं-नित्य मुक्त और मुक्त। नन्द, सुनन्दादि,

गरुड़, सनकादि नित्य मुक्त जीव हैं। ये जीव सदा सालोक्य एवं सामीप्य मुक्ति के अधिकारी बनकर भगवान के धाम में विद्यमान रहते हैं। मुक्त जीव वे जीव हैं जो अविद्या जनित सांसारिक बन्धनों से भक्ति द्वारा मुक्ति लाभ प्राप्त करते हैं। बद्ध जीव भी दो प्रकार के माने गये हैं-बद्ध और नित्य बद्ध। कल्याण के लिए इच्छुक एवं प्रयत्नशील जीव बद्ध जीव कहलाते हैं और केवल सांसारिक विषयों में लीन जीव नित्य बद्ध कहलाते हैं।

माध्व मतानुसार जीव परतन्त्र है। जीव संख्या में अनन्त तथा अणु है, चेतन है, मायाबद्ध होकर वह नाना दु:खों का अनुभव करता है। जीव की उत्पत्ति ईश्वर से ही है। वैसे तो जीव की उत्पत्ति मानना जीव की आत्यन्तिक स्थिति का विरोध हो सकता है, किन्तु उसकी यह सत्ता उपाधि के कारण है। उपाधि ही जीव को स्वरूप प्रदान करती है। यह उपाधियाँ दो प्रकार की हैं-स्वरूप एवं बाह्य। मुक्तावस्था में बाह्य उपाधि नहीं रहती, किन्तु स्वरूपोपाधि उस समय भी बनी रहती है। उपाधि के साथ वह अभिन्न है, उपाधि नित्य है, इसलिए जीव भी कभी नष्ट नहीं होता। इस सम्प्रदाय में जीव तीन प्रकार के माने गये हैं- (1) मुक्ति योग्य (2) नित्य संसारी (3) तमो योग्य। मुक्ति योग्य जीव उत्तम कोटि के जीव हैं। ये सदा से मुक्त हैं। ये पाँच प्रकार के हैं-देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम कोटि के मनुष्य। नित्य संसारी जीव मध्यम कोटि के जीव हैं। ये निरन्तर पृथ्वी, स्वर्ग, नरक आदि लोकों में कर्मानुसार घूमते हुए सुख-दुख भोगते हैं। तमो योग्य जीव अधम कोटि के जीव हैं। राक्षस, दैत्य तथा अधम मनुष्य तमो योग्य जीव हैं।

चैतन्य के मतानुसार जीव भगवान श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति से उत्पन्न होते हैं। भगवान के दो अंश होते हैं-स्वांश तथा विभिन्नांश। स्वांश में अंश तथा अंशी में भेद नहीं होता किन्तु विभिन्नांश अल्पशक्ति तथा अपूर्ण होने के कारण भगवान से भिन्न है। जीव को विभिन्नांश कहा गया है। जीव भगवान की अन्तरंगा और बहिरंगा दोनों शक्तियों के बीच की तटस्था शक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण दर्पण तुल्य माना जाता है। जीव न माया रूप है न भगवत्स्वरूप। बीच में स्थित होने के कारण वह कभी माया शक्ति से प्रभावित रहता है तथा कभी ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। माया की ओर उन्मुख होने पर वह संसार चक्र में भटकता है तथा भगवान की ओर उन्मुख होने पर भक्ति द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ भी जीव मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं-नित्य मुक्त एवं बद्ध। अनादि काल से भगवान के नित्य सेवा परायण नित्य मुक्त जीव हैं और मायाधीन जीव बद्ध जीव हैं। [क०उ०]

जीव गोस्वामी

ये रूप गोस्वामी के अनुज अनुपम (वल्लभ) के पुत्र थे। इन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्य के अनुज मधुसूदन वाचस्पति से वेदान्त शास्त्र का अनुशीलन किया था। अपनी प्रतिभा के बल पर ये शीघ्र शास्त्र-निष्णात हो गए। 24-25 वर्ष की आयु में ही ये विरक्त होकर ब्रज में आ गए थे। नित्यानन्दजी की आज्ञा से वृन्दावन आकर रूप गोस्वामी से इन्होंने मंत्र-दीक्षा ली और शास्त्र-मन्थन किया। भजन और भक्ति-ग्रन्थों का सृजन ही इनका एकमात्र अनुष्ठान था। चैतन्य मत को दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित करने का पाण्डित्यपूर्ण कार्य इन्हीं का था। ये अपने युग के अप्रतिम टीकाकार थे। श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तम ठाकुर और श्यामानन्दजी ने इनसे शास्त्राभ्यास किया था। इन्होंने श्रीनिवास को 'आचार्य' की और श्री नरोत्तमदास को 'ठाकुर' की उपाधि प्रदान की। नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में इनके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में विवरण दिया है। अप्रकाशित पाण्डुलिपि वृन्दावन धामानुरागावली से भी जीव गोस्वामी जी की भक्ति रचनाओं के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय के षड्गोस्वामियों में एक जीव गोस्वामी जी की रचनाएँ उनके जीवनकाल में ही लोकप्रिय हो चली थीं। इस कार्य के दौरान हमें जीव गोस्वामी जी की प्रसिद्ध रचना माधव महोत्सव की एक प्राचीन प्रतिलिपि मिली जिसे किसी गोकुलेश्वरदास नामक वैष्णव ने वि.सं. 1634 में वृन्दावन में स्व-पठनार्थ प्रतिलिपित किया था। राधादामोदर इनके सेव्य विग्रह थे। श्रीगोविन्ददेवजी का भव्य मन्दिर वि॰सं॰ 1647 में इनकी विद्यमानता में पूर्ण हुआ। इनका देहावसान वि॰सं॰ 1671 के लगभग वृन्दावन में ही हुआ।

इनकी समाधि श्रीराधादामोदर के दक्षिण दिशा में स्थित है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ हरिनामामृत व्याकरण, गोपालचम्पू, माधव- महोत्सव, गोपाल विरुदावली, रसामृत शेष, दुर्गम संगमिनी (टीका), लोचन रोचनी (टीका), गोपालतापनी उपनिषद् (टीका), ब्रह्मसंहिता दिग्दर्शिनी (टीका), क्रम संदर्भ (श्रीमद्भागवत पर टीका), वैष्णवतोषिणी, भागवत सन्दर्भ, (षट सन्दर्भ: तत्व, भागवत, परमात्म, कृष्ण, भक्ति और प्रीति) सर्व संवादिनी एवं श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका आदि हैं। जीव गोस्वामी कृत कई ग्रंथ पांडुलिपियों के रूप में संस्थान के ग्रंथागार में उपलब्ध हैं। [रा०श०]

जीवनदास

जीवनदास चरणदास जी के शिष्य श्री आत्माराम इकंगी के पिता थे तथा नूपीबाई के दादा थे। इन्होंने अपने पुत्र तथा पौत्री के दीक्षा लेने के बाद चरणदास जी से दीक्षा ली थी। जब ये गृहस्थ जीवन में थे तभी से चरणदास जी इनके यहाँ आते-जाते थे। इनका पूरा परिवार चरणदास जी का शिष्य बन गया था। ये दीक्षा ग्रहण करने के बाद अपने गुरु भाई सबगतिराम (प्रथम) के साथ दिल्ली के समीप बामनौली नामक ग्राम के एक बगीचे में आश्रम बनाकर रहा करते थे। ये स्वभावत: साधु सेवी, आज्ञाकारी एवं साधन सम्पन्न थे।

आत्माराम इकंगी प्राय: बामनौली के आश्रम पर आते-जाते रहते थे। परन्तु इनकी कोई शिष्य परम्परा नहीं चली क्योंकि आत्माराम जी और नूपीबाई जयपुर में ही रहते थे और शायद कोई योग्य शिष्य नहीं मिला। [क०उ०]

जुगल जोड़ी परिक्रमा

यह परिक्रमा 'जुगल जोड़ी' नाम से ही सम्बोधित की जाती है क्योंकि इसमें मथुरा व वृन्दावन दोनों स्थानों की एक साथ परिक्रमा लगायी जाती है। यह परिक्रमा कार्तिक शुक्ल नवमी जिसे अक्षय नवमी भी कहा जाता है तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी (देवोत्थान एकादशी) को भी लगाई जाती है। पूरी परिक्रमा में इस दिन मेला-सा लगा रहता है। ब्रज क्षेत्र के अलावा विदेशी लोग भी इस परिक्रमा को विशेष श्रद्धा के साथ लगाते हैं। अक्षय नवमी पर्व होने से इस परिक्रमा को अक्षय पुण्य प्रदान करने वाली कहा जाता है। इस पर्व का ब्रज क्षेत्र में विशेष महत्व है। इसे ब्रजवासी जुगल-जोड़ी परिक्रमा से ही सम्बोधित करते हैं। [रा०श०]

जुगलदास

जुगलदास संत चरणदास जी के शिष्य थे। ये ढूसर वंश में उत्पन्न हुये थे। ये आरंभ में गुरु के आश्रम में ही रहकर योग और साधना में अभ्यासरत रहे परंतु चरणदास जी के परलोकवास के उपरान्त श्रीधाम वृन्दावन में रहकर अपने संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में तल्लीन हो गये।

जुगलदास जी का व्यक्तिगत परिचय अप्राप्त है। इनका कार्य क्षेत्र दिल्ली और वृन्दावन तक सीमित रहा। इनकी कुछ स्फुट बानियाँ संग्रहकर्ताओं को प्राप्त हुई हैं। इन बानियों में हिंडोला, मंगल भोग, सांझी और अन्य उत्सवों का वर्णन किया गया है। [क०उ०]

जैन आगम ग्रंथ

जैन साहित्य को 'आगम सिद्धान्त' कहा जाता है। आगम वे ग्रंथ होते हैं जो आप्त द्वारा कहा गया, गणधरों के द्वारा गूँथा गया तथा मुनियों के द्वारा लिखा गया हो। इन ग्रंथों का अन्तिम रूप से संकलन छठी शती 512 ई. में 'देवर्धिगणिक्षमाश्रमण' के सभापतित्व में 'बल्लभी' (गुजरात) में हुआ था। इन आगमों की संख्या कतिपय विद्वान 84

बताते हैं किन्तु 46 आगम युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं, जिनमें से एक आगम अब उपलब्ध नहीं है। अत: विशुद्ध रूप से 45 आगम वर्तमान में उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण आगमों की भाषा 'अर्द्ध मागधी' है। समस्त आगमों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

द्वादशांग-आचारांग, सूत्रकृतांज्ञ, स्थानांग, समवायांग, भगवती ज्ञाता धर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृदशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र।

द्वादशापांग-औपपातिक, राजप्रश्न, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलि, कल्पावतंस, पुष्पिक, पुष्पचूलिका और वह्निदशा।

दस प्रकीर्ण-चतु:शरणं, आतुर प्रव्याख्यान, भक्त संस्तार, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेधक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रव्याख्यान और वीरस्तव।

छह छेदसूत्र-निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, पञ्चकल्प।

दो सूत्र-नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार।

चार मूलसूत्र-उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति।

उपरोक्त पैंतालीस ग्रन्थ आगम कहे जाते हैं, द्वादशांग में से एक विलुप्त प्राय: है। इनमें आचार, व्रत, जैनतत्त्व, ज्योतिष, भूगोल आदि विविध विषयों का वर्णन है। [शि०श०]

जैन धर्म और श्रीकृष्ण

जैन परम्परा में कृष्ण का जो चरित्र विकसित हुआ, वह अवतारवाद की रसमयी कल्पना से सर्वथा भिन्न है। अवतार की अवधारणा जैन परम्परा में मान्य नहीं है, अत: जैन साहित्य में कृष्ण भगवद्रूप नहीं हैं। जैन मत में शलाकापुरुष जन्म लेते हैं जिनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र तथा प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं। श्रेष्ठ शलाका पुरुषों की सूची में अनेक पौराणिक महापुरुषों के नाम मिलते हैं जिनमें ख्यात और अख्यात दोनों ही प्रकार के नाम हैं। जैन परम्परा के चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त जो विशिष्ट नाम चक्रवर्ती शलाकापुरुषों की सूची में मिलते हैं उनमें भरत, राम, लक्ष्मण, रावण, कृष्ण, बलराम और जरासंध उल्लेखनीय हैं। वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र कोटि के शलाका पुरुषों की संख्या नौ-नौ है। इनमें वासुदेव और प्रतिवासुदेव परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं। बलभद्र वासुदेव का अग्रज होता है। जैन परम्परा में मान्य श्रेष्ठ शलाकापुरुषों में कृष्ण नवम वासुदेव के रूप में मान्य हैं तथा जरासंध, जो उनका प्रतिद्वन्द्वी है, नवमप्रति वासुदेव है और बलराम नवम बलभद्र हैं।

जैन परम्परा के अनुसार वासुदेव अर्द्ध-चक्रवर्ती राजा होता है। जैन-ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार भारत भूमि में छ: खण्ड हैं। विन्ध्याचल मध्य में है, तीन खण्ड उसके ऊपर उत्तर भारत में हैं और तीन खण्ड दक्षिण भारत में हैं। इन छहों खण्डों पर प्रभुत्व रखने वाला चक्रवर्ती शलाकापुरुष, तीन खण्डों पर प्रभुत्व रखने वाला अर्द्ध-चक्रवर्ती अथवा वासुदेव शलाकापुरुष माना जाता है। प्रतिवासुदेव प्रभुत्व और प्रभाव में वासुदेव का प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी उससे पराभूत होता है। जैन मत की इस धारणा के अनुसार कृष्ण शलाकापुरुष वासुदेव हैं। वासुदेव रूप में वे अर्द्ध भारत क्षेत्र के स्वामी अर्द्ध-चक्रवर्ती और 'त्रिखण्डाधिपति' हैं। वे द्वारका सहित सम्पूर्ण भारत क्षेत्र के अधिपति हैं। प्राकृत जैन ग्रंथ 'निरयावलिका' के द्वारा इस मत की सम्पुष्टि होती है। उसके अनुसार द्वारावती नगरी में कृष्ण नाम के वासुदेव राजा थे। वे उस नगरी का शासन करते हुए विचरते थे। अनेक अधीनस्थ राजाओं, ऐश्वर्यवान् नागरिकों सहित वैताढ़गिरि से सागरपर्यन्त दक्षिण भारत क्षेत्र उनके प्रभाव में था। इस प्रकार कृष्ण एक महान शक्तिशाली राजपुरुष थे।

जैन मान्यता के अनुरूप वासुदेव कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी प्रतिवासुदेव जरासंध था। जिनसेन कृत हरिवंशपुराण के अनुसार कृष्ण और जरासंध में संघर्ष होता था जिसमें कृष्ण ने जरासंध का संहार किया तथा वे वासुदेव राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कृष्ण की वासुदेव रूप में मान्यता का समर्थन वैष्णव पुराणों-हरिवंश और भागवत में वर्णित कृष्ण-पौण्ड्रक प्रसंग से भी होता है। इस प्रसंग के अनुसार एक बार बलराम द्वारका से ब्रज आये। उसी समय करुण देश के राजा पौण्ड्रक ने कृष्ण के पास अपना दूत भेजा। दूत ने द्वारका आकर कृष्ण से पौण्ड्रक का यह संदेश कहा-'हे कृष्ण! तुमने झूठ ही अपना नाम वासुदेव रख लिया है। अब तुम अपना वासुदेव नाम त्याग दो, क्योंकि वासुदेव मैं हूँ। तुम इस तथ्य को स्वीकार करो या मुझसे युद्ध करो।' कृष्ण ने पौण्ड्रक की इस चुनौती को स्वीकार कर युद्ध का आह्वान किया। जब पौण्ड्रक को कृष्ण का संदेश मिला तो वह काशी में था। कृष्ण ने यह जानकर काशी पर आक्रमण कर दिया। पौण्ड्रक भी कृष्ण के समान शंख, चक्र, गदा और धनुष धारण कर अपने मित्र राजाओं सहित युद्ध भूमि में उतर आया। पौण्ड्रक ने कृष्ण के समान गरुड़ध्वज की व्यवस्था की। युद्ध में कृष्ण के हाथों पौण्ड्रक का संहार हुआ और इस प्रकार कृष्ण वासुदेव के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कृष्ण और जरासंध का युद्ध भी कृष्ण की वासुदेव रूप में मान्यता का व्यंजक प्रसंग है। जरासंध कृष्ण को अपनी अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजता है जिसे अस्वीकार कर कृष्ण यादवों की सेना लेकर जरासंध से युद्ध करते हैं। युद्ध में जरासंध को मारकर कृष्ण विजयी होते हैं। विजयी होने पर कृष्ण 'वासुदेव' के रूप में देवताओं के द्वारा अभिनंदित होते हैं।

जैन परम्परा में प्राप्त कृष्ण-जरासंध के प्रसंगों का भागवत में वर्णित इन प्रसंगों से पर्याप्त साम्य है। दोनों से कृष्ण की 'वासुदेव' रूप में प्रतिष्ठा का तथ्य प्रकाशित होता है। जैन और वैष्णव पुराणों में प्राप्त इन प्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि सम्भवत: 'वासुदेव' तत्कालीन राजाओं में सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रभुत्व सम्पन्न राजा होता था। वस्तुत: 'वासुदेव' 'चक्रवर्ती' तथा 'विक्रमादित्य' के समान एक उपाधि थी। इस प्रकार कृष्ण का वासुदेव रूप वैष्णव परम्परा में अवतारवाद की भावना से परिपुष्ट होकर विकसित हुआ जबकि जैन परम्परा में उसे 'शलाकापुरुष' के रूप में मान्यता मिली। पर दोनों ही परम्पराओं में कृष्ण के अजेय पौरुष और लोक मंगलकारी व्यक्तित्व का विधान हुआ है।

जैन परम्परा में वासुदेव के व्यक्तित्व की अनेक विशिष्टताओं का उल्लेख मिलता है। जैनागम ग्रंथ 'समवायांगसूत्र' में शलाकापुरुष वासुदेव के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, कांतिमय, कायावान, प्रियदर्शी, स्वरूपवान, सुशील, सर्वप्रिय, बलवान, गंभीर, अपराजेय, शत्रुमर्दक, दयालु, अमत्सर, अक्रोधी, अचपल, अल्पभाषी, प्रियभाषी, मधुरभाषी, सत्यभाषी, शरणागतवत्सल, सुलक्षण, व्यंजन और गुणों से युक्त, मान-उपमान एवं प्रमाण से पूर्ण, सर्वांगसुन्दर, चन्द्रमा के समान प्रभापूर्ण, महान धनुर्धारी, विशिष्ट बलधारक, दुर्धर धनुर्धारी, धीर-पुरुष, युद्ध-कीर्तिवान, उच्चकुलोत्पन्न, भयंकरयुद्ध विघटनकारी, अर्धभरत-क्षेत्र-स्वामी, सौम्य राजवंश तिलक, अजित और अजितथी, दीप्ति-तेजवान, प्रवीर-पुरुष, नरसिंह, नरपति, नरेन्द्र, नरवृषभ, इन्द्रवत् राज्यलक्ष्मी-तेजोद्दीप्त आदि-आदि। (समवायांग सूत्र 207)

जैन परम्परा में कृष्ण वासुदेव को बाईसवें जैन तीर्थंकर अर्हत अरिष्टनेमि का समकालीन और चचेरा भाई कहा गया है। जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जिनके अनुसार अर्हत अरिष्टनेमि द्वारका जाते थे और कृष्ण अपने पूरे परिवार तथा अनुगत के साथ उनके उपदेशों को सुनते थे।

जैन-परम्परा में अरिष्टनेमि और कृष्ण के सम्बन्धों के अन्य अनेक प्रसंग भी प्राप्त होते हैं। इनकी ऐसी मान्यता है कि कृष्ण आयु में अरिष्टनेमि से बड़े थे। भोजवंश की राजकुमारी राजीमती से अरिष्टनेमि का विवाह कृष्ण के ही माध्यम से निश्चित हुआ था। विवाह के अवसर पर घटित एक घटना ने अरिष्टनेमि की जीवन-धारा ही बदल दी। पूर्णराजसी साज-सज्जा के साथ जब अरिष्टनेमि विवाह मंगल हेतु बारात के साथ जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने एक बाड़े में बारातियों के भोज के लिए एकत्रित अनेक पशु-पक्षियों को देखा। इन पशु-पक्षियों की हिंसा की कल्पना ने उनके मन में विरक्ति का भाव उद्वेलित कर दिया। अत: वे वस्त्राभूषणों का त्यागकर वहाँ से लौटने को उद्यत हो गए। सभी

लोगों के समझाने पर भी अरिष्टनेमि न माने और गृह-त्याग कर उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया। गिरिनार की पहाड़ियों में उन्होंने साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त किया। स्वानुभूत ज्ञान के प्रचार और लोक मंगल की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अनेक यात्राएँ कीं तथा जन-मात्र को उपदेश दिये। अरिष्टनेमि की शिक्षाओं के प्रति उनके कुल के लोग और प्रजा आकृष्ट हुई। वे अरिष्टनेमि की धर्मसभाओं में सम्मिलित होने लगे। अरिष्टनेमि के साथ कृष्ण के धार्मिक समागमों और संवादों के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कृष्ण और अरिष्टनेमि के सम्बन्धों का निरूपण जैन परम्परा की निजी विशेषता है क्योंकि महाभारत और वैष्णवपुराण साहित्य इस विषय में सर्वथा मौन हैं। यह भी एक रोचक एवं आश्चर्यजनक तथ्य है कि कृष्ण का जो व्यक्तित्व जैन परम्परा में मान्य रहा उससे वैष्णव परम्परा के कृष्ण चरित का अनेक बिन्दुओं पर तथ्यात्मक साम्य होते हुए भी भावात्मक भेद लक्षित होता है।

जैन परम्परा में कृष्ण के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा का जो निरूपण हुआ है, उसका छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस के उपदेशों से साम्य दिखाई पड़ता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार घोर आंगिरस देवकी-पुत्र कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे। उक्त ग्रंथ उपनिषद् में घोर आंगिरस के द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण के प्रति आत्म यशोपासना के अन्तर्गत तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में उपदिष्ट किया गया है। इस उपदेश को सुनकर कृष्ण की समस्त विद्याओं के प्रति जिज्ञासा शान्त हो गई। घोर आंगिरस ने कृष्ण को तीन अंगों के जाप का उपदेश दिया-'तू अक्षत है, तू अच्युत है और तू अतिसूक्ष्म प्राण है।' घोर आंगिरस की कृष्ण को उपदिष्ट तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन की प्रतिपादक आत्मवादी विचारधारा हिंसा और कर्मकाण्ड प्रधान विचारधारा के प्रतिकूल लक्षित होती है। यह भी उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा का छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त घोर आंगिरस की विचारधारा से पर्याप्त साम्य है। अरिष्टनेमि की शिक्षाओं में घोर आंगिरस के उपदेशों का विकास-सा दिखाई पड़ता है। अत: जैन परम्परा में मान्य यह विचार पर्याप्त अंशों में सार्थक प्रतीत होता है कि कृष्ण अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने ही कुल के महातपस्वी और अरिष्टनेमि की अहिंसा एवं आत्मवादी विचारधारा से प्रभावित हुए थे।

सारांशत: जैन परम्परा से कृष्ण की लोक यात्रा से सम्बन्धित दो पक्ष उजागर होते हैं। पहला पक्ष यह है कि कृष्ण द्वारका सहित आधे भारत क्षेत्र पर प्रभुत्व रखने वाले शक्तिशाली वासुदेव तथा अद्‌भुत शौर्य एवं पराक्रम सम्पन्न विशिष्ट व्यक्तित्व वाले शलाकापुरुष थे। दूसरा यह कि वे अरिष्टनेमि की आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित प्रमुख राजपुरुष थे तथा दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

(साभार :- भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण : **सं. प्रो. भगवती प्रसाद सिंह**)

जैन धर्म का दार्शनिक सिद्धान्त

ऋषि ऋषभ देव द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुराणों में जैनमत को 'अर्हत्' मत कहा गया है और ऋषभदेव को इस धर्म का आद्य आचार्य बतलाया गया है। भगवान् के चौबीस अवतारों में इनकी गणना है। बौद्धों के चार भेदों की भाँति जैनियों के भी श्वेताम्बर और दिगम्बर (विवसन) ये दो भेद प्रमुख हैं। राग-द्वेष आदि आभ्यन्तर शत्रुओं पर जो विजय प्राप्त करने वाले हैं-उन 'जिन' शब्द से कथित मनुष्यों के समूह यानि 'जिनों' के द्वारा उपदिष्ट धर्म को जैन धर्म के नाम से जाना जाता है। 'जिन' के अनुयायियों को जैन कहते हैं। जिनों यानि जितात्माओं को तीर्थंकर भी कहा गया है। ऋषभनाथ प्रथम तीर्थंकर, पार्श्वनाथ को तेइसवाँ और महावीर को चौबीसवाँ तीर्थंकर कहा जाता है। जिनों की उच्चावस्था के सम्बन्ध में योग वाशिष्ठ में कहा है-

नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।।

अर्थात् मैं राम नहीं, मुझे वाञ्छा नहीं, पदार्थों में मेरा मन नहीं जिस प्रकार 'जिन' अपनी आत्मा में शान्तभाव से रहते हैं, उसी प्रकार मैं स्वात्मभाव में शान्तभाव से रहना चाहता हूँ।

जैन धर्म में जगत् को अनादि-अनन्त माना जाता है। जैन धर्म की मान्यता है कि इस जगत का निर्माण करने वाला कोई नहीं है। जैन धर्म के अनुसार यह संसार जीव और अजीव इन दो द्रव्यों के मेल को कहा जाता है।

अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार इन छः द्रव्यों से यह जगत् चलता है। इनकी संख्या कभी कम या अधिक नहीं होती है। जैन धर्म का आधार है-अनेकान्त। अनेकान्त शब्द का अर्थ है- एक वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना। जब अलग-अलग दृष्टि से किसी वस्तु का देखते हैं तो यह बात ज्ञात होती है कि एक ही वस्तु एक ही नहीं अनेक धर्मात्मक दिखलायी पड़ती है। एक दृष्टि से एक वस्तु सत् मानी जा सकती है तो दूसरी दृष्टि से असत्। अनेकान्त में सारे विरोधों का समन्वय हो जाता है। इसी को स्यादवाद के नाम से भी कहा गया है।

अहिंसा-अहिंसा के दो रूप हैं—विचार और आचार। जैन धर्म के विचारों का मूल है-अनेकान्त या स्यादवाद और उसके आचार का मूल है- अहिंसा। जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म माना गया है-''अहिंसा परमो धर्मः।''

तपस्या-जैन धर्म में तपस्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जैन धर्म में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के तप पर बल दिया गया है। मुनियों का तप बारह प्रकार का बतलाया है।

गृहस्थ के पाँच व्रत हैं। इसके अतिरिक्त अणुव्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत। इनमें शरीर, वाणी और काया की तपस्या ही तो है।

सदाचार-तपस्या की मूल भित्ति है-सदाचार। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन मुनिरूप। इस प्रकार तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र्य बतलाया है।

व्रत-व्रत के भेद हैं-महाव्रत और अणुव्रत। गृहस्थी अणुव्रतों का भलीप्रकार से पालन कर ले तो समाज का अभ्युदय निश्चित है। व्रत पाँच प्रकार के हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

समिति- समिति शब्द का अर्थ है-समतामय आचार, सजग व्यवहार। समिति पाँच प्रकार की है-ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग।

ईर्या-चलते समय जीव-जन्तुओं को पैरों से न कुचलें। रास्ते में सँभलकर चलें। छोटे-छोटे जीवों को बचाकर चलना ईर्या समिति है।

भाषा-मृदु और हितकर, न्यायानुकूल, सत्य और कोमल वाणी बोलना, असत्य, क्रोध, अभिमान और कपट रहित बोलना भाषा समिति है।

एषणा- इस तरह भिक्षा माँगना कि किसी प्रकार का दोष न हो।

आदान-निक्षेप-ठीक प्रकार से वस्तुओं, उपकरणों को उठाना और रखना आदान-निक्षेप समिति है।

उत्सर्ग-मल-मूत्र, कफ आदि से मलिन स्थानों को त्यागना। किसी जीव की विराधना न हो, गन्दगी न फैले उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति- गुप्ति का तात्पर्य है- गोपन करना, रक्षण करना। मन, वाणी और शरीर को इस प्रकार ढंग से रखना कि दोष न होने पाये, पाप न लगने पाये, यह गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन में किसी प्रकार के हिंसा या कपट के भाव न रखें। क्रोध से युक्त और अभिमान से युक्त वचन न बोलें, न असत्य भाषण करें और न किसी को मारने के लिये दौड़ें। किसी तरह की चोरी और पाप न करें ।

भावना-भावना का अर्थ है-मन में भाव रखना। भावनाएँ चार प्रकार की हैं- मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य।

मैत्री-समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का, प्रेम का भाव रखना। सभी प्राणियों का अपराध क्षमा करना। किसी से शत्रुता न करना।

प्रमोद-अपने से बड़ों के प्रति, उन्नत लोगों के प्रति विनम्रता का वर्ताब करना। उनकी सेवा-स्तुति में ही आनन्द मानना।

कारुण्य-दीन-दुखियों के प्रति करुणा का भाव रखना। उन्हें सुख पहुँचाना।

माध्यस्थ-जो अपने से पूरी तरह विपरीत वृत्ति वाला हो या विरोधी हो, उनके प्रति क्रोध न कर तटस्थता का भाव मन में रखना।

तीन रत्न-जैन धर्म में तीन रत्न माने गये हैं- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। सम्यक् चरित्र का अर्थ है-देखभाल कर चलना। इसके दो प्रकार हैं-पहला निश्चय और दूसरा व्यवहार। निश्चय तीन प्रकार का है- आत्मरूप की प्रतीति, आत्मरूप का ज्ञान और आत्मरूप में लीन होना।

सम्यक् दर्शन- सम्यक् दर्शन का तात्पर्य है- सच्चा दर्शन। सच्चे सिद्धान्त में श्रद्धा रखना, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु में श्रद्धा अथवा सात तत्वों में श्रद्धा।

सम्यक् ज्ञान- सम्यकत्व सहित होने वाला ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है, जिसमें वस्तु का सच्चा ज्ञान हो।

सम्यक् चरित्र-श्रेष्ठ व्यवहार-सम्यक् दर्शन हो, सम्यक् ज्ञान हो पर चरित्र न हो, तो उसका क्या लाभ? सम्यक् चरित्र ही सबकी आधारशिला है। जैन धर्म में रत्नत्रय की बड़ी महिमा बतलायी है। तीनों एक साथ ही होते हैं। तीनों एक साथ मिलकर ही मोक्ष का मार्ग कहलाते हैं।

सात तत्त्व-जैन धर्म में सात तत्त्व स्वीकृत हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। कुछ लोग पाप और पुण्य को मिलाकर नौ पदार्थ मानते हैं।

कर्म सिद्धान्त-जैन दर्शन कर्मवाद पर आधारित है। कर्मवाद के पाँच सिद्धान्त हैं।

प्रत्येक कर्म का कोई न कोई फल अवश्य होता है।

प्रत्येक जीव को अपने किये गये कर्म के अनुसार अच्छा-बुरा फल भोगना ही पड़ता है। यदि इस जन्म में उसने किये गये कर्म को नहीं भोगा तो पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

जीव के अधीन है इस कर्मफल के भोग बन्धन से मुक्त होना। अन्य कोई मुक्ति दाता नहीं है।

संसार के प्रत्येक व्यक्ति के सुख और दुख में विषमता दिखाई देती है, उसका मूल कारण कर्म ही है। पुण्य करने से सुख और पाप करने से दुख की प्राप्ति होती है।

कर्मबन्ध और कर्मभोग का अधिष्ठाता स्वयं मनुष्य है। इसके अतिरिक्त जितने भी कारण दिखाई देते हैं, वे सभी सहकारी या निमित्तभूत हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार यह जगत छः द्रव्यों से बना है। 'जीव' के विपरीत यह द्रव्य अस्थिर और अनन्त परिवर्तनशील है। प्राणी के शारीर में जीव तत्त्व के साथ 'अजीव' तत्त्व घनिष्ठ सम्बन्ध से रहता है। अतः उसके अनुसार समस्त प्रकार की क्रिया होने के कारण प्राणी प्रतिक्षण 'अजीव' तत्त्व के सूक्ष्म परमाणुओं को आकर्षित करता रहता है। कर्म स्वयं ही क्रियाशील है, उसे कार्य करने के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त जितने भी दर्शन हैं उनमें कर्मवाद को मान्यता दी गयी है। इसलिए जैन दर्शन के इस सिद्धान्त का भारत के धर्म-साहित्य और कला आदि सभी पर प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

कर्मवाद की आठ मूल प्रकृतियाँ जैन दार्शनिकों के अनुसार मानी गयी हैं-
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन मूल प्रकृतियों के अवान्तर भेदों को मिलाकर एक सौ अट्ठावन भेद माने गये हैं। कर्म और पुनर्जन्म का कभी समाप्त न होने वाला सम्बन्ध है। पुनर्जन्म

न मानने के विचार में तर्क की दृष्टि से कृतप्रणाष यानि कृत कर्म का अहेतुक विनाश और अकृताभ्यागम यानि अनुकूल कर्म का भोग-ये दोष उत्पन्न होते हैं। इन दोषों से मुक्त होने के लिए सभी कर्मवादियों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो जैन धर्म के सम्प्रदायों के विभिन्न ग्रन्थों में कर्मवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है।

जैन बौद्धों के क्षणिकवाद को स्वीकार नहीं करते। जैन धर्म अनेकान्तपक्षीय, सप्तमंगी, न्याययुक्त, स्यादवाद के नाम से जाना जाता है। तीन प्रकार के प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान को स्वीकार करते हैं। शास्त्र और अर्थापत्ति को ये प्रमाण नहीं मानते।

जैनियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आप्तनिश्चयालंकार' के अनुसार परमेश्वर षडैश्वर्य सम्पन्न नहीं है, अपितु सत्यवादी, काम, क्रोध आदि से सर्वथा रहित जगत्वन्द्य ज्ञानी पुरुष ही परमेश्वर है।

मोक्ष के सम्बन्ध में जैन धर्म विश्वास रखता है। सम्यक् दर्शन यानि सत्य सिद्धान्तों में श्रद्धा, सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र (सच्चरित्र) को मोक्ष का साधन मानता है। अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के साधनरूप में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र इन तीनों को सम्मिलित रूप से स्वीकार किया गया है। इनका यह सिद्धान्त सनातन धर्म के साथ मेल खाता है। [सु०दु०]

जैन धर्म में कृष्ण कथा

जैन आगमिक कृतियों से कृष्ण के जीवन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित जिन तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है उनके अनुसार कृष्ण का जन्म सोरियपुर में हुआ था। सोरियपुर में वसुदेव नाम के राजा थे। वसुदेव की दो भार्याएँ रोहिणी और देवकी थीं। कृष्ण देवकी के पुत्र थे। वसुदेव सोरियपुर के महर्द्धिक राजा थे। वसुदेव दस भाइयों में सबसे छोटे थे। उनके ज्येष्ठतम भाई का नाम समुद्रविजय था। समुद्रविजय और वसुदेव सहित सभी भाई 'दश दशार्ह' नाम से प्रसिद्ध थे।

उत्तराध्ययन के अनुसार समुद्रविजय और वसुदेव पृथक-पृथक रूप से महर्द्धिक राजा कहे गये हैं। अत: यह सिद्ध होता है कि दोनों के बीच के भाई भी सोरियपुर के राजा कहलाते थे।

उत्तराध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्ण का जन्मनाम केशव था। श्यामवर्णी होने के कारण स्नेहवश उन्हें 'कण्ह' कृष्ण कहा जाता रहा होगा और कालान्तर में उनका यही नाम प्रसिद्ध भी हुआ। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार कृष्ण यादव क्षत्रिय थे।

जैन-आगमों में कृष्ण की पूर्ण वंश परम्परा का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, पर जैन परम्परा के अनुसार कृष्ण के पितामह का नाम 'अन्धकवृष्णि' था, उन्हीं के नाम पर उनका कुल 'अन्धकवृष्णि' या 'वृष्णि' कहा जाने लगा। इसीलिए उनके वंशजों को अनेक स्थलों पर 'अन्धकवृष्णि' या 'वृष्णि' कहा गया है। अर्हत अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। पाण्डवों की माता कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं। कृष्ण के सात सहोदर और सात सौतेले भाइयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कृष्ण के सम्बन्धियों में प्रदीप और उम्मुय (उन्मुख) के नाम प्राप्त होते हैं; परन्तु कृष्ण के साथ उनके वास्तविक सम्बन्ध के सूत्र नहीं मिलते।

अंतकृछद्दसाओ और प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं। उनमें पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवन्ती, सत्यभामा, रूप्पिणी और धारिणी के नाम ज्ञात होते हैं। कृष्ण के दस पुत्रों में साम्ब और प्रद्युम्न के नाम मिलते हैं तथा एक पौत्र अनिरुद्ध का भी उल्लेख हुआ है।

कृष्ण द्वारावती नगरी में रहते थे। अन्तकृछद्दसाओ में कई स्थलों पर मूल शब्द 'बारवई' दिया गया है जिसका संस्कृत रूप द्वारावती होता है। उत्तराध्ययन में इसका नाम 'बारगापुरी' (द्वारकापुरी) मिलता है। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार यह

नगरी सौराष्ट्र जनपद में थी और नव योजनपर्यन्त विस्तीर्ण थी। द्वारका नगरी धनपति कुबेर की बुद्धि और कौशल द्वारा विनिर्मित मानी जाती थी। द्वारका नगरी में सोने का प्राकार-परकोटा तथा पाँच वर्णों की नाना मणियों से सुसज्जित कपि शीर्षक कंगूर थे। द्वारका अत्यन्त सुरम्य, अलकापुरी तुल्य और देवलोक के समान प्रासादित, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी। द्वारका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में रैवतक नाम का पर्वत था जिस पर नन्दन वन नामक उद्यान था। इस उद्यान में सुरप्रिय नामक यक्षायतन था जिसके चारों ओर एक वनखण्ड था। उसके मध्य में एक विराट् अशोक वृक्ष था। द्वारका नगरी में इसके अतिरिक्त 'सहस्रवन' नामक एक अन्य उद्यान भी था।

उस काल में वैताढ्य पर्वत को विभाजक मानकर भरत क्षेत्र दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त था। कृष्ण वैताढ्य गिरि से लेकर सागरपर्यन्त दक्षिणार्द्ध भारत और द्वारावती के अधिपति थे। कृष्ण नरसिंह, नरपति और नरेन्द्र नामों से जाने जाते थे और वे देवराज इन्द्र के सदृश थे। कृष्ण अत्यन्त वैभवशाली अधिपति थे।

कृष्ण के अधिपति व्यक्तित्व और वैभव का अंतगडद्दसाओ, ज्ञातधर्मकथा और निरयावलिका में वर्णन करते हुए कहा गया है कि समुद्रविजय प्रमुख दस दशार्ह, बलदेव प्रभु व पाँच महावीर, प्रद्युम्न प्रमुख साढ़े तीन करोड़ कुमार, साम्ब प्रमुख आठ हजार दुर्दान्त शूर, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बल वर्ग-सैन्यदल, वीरसेन प्रमुख इक्कीस हजार वीर, उग्रसेन प्रमुख सोलह हजार राजा, अनंग सेना प्रमुख हजारों गणिकाएँ और अन्य अनेक ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह कृष्ण के अधीन थे।

कृष्ण की सुधर्मा नामक सभा थी जिसमें कई प्रकार की भेरियों की व्यवस्था थी। इनमें सामुदायिन भेरी, सन्नाहिका भेरी और कौमुदी भेरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका उपयोग यथावसर किया जाता था। सामुदायिन भेरी का स्वयम्बर के समय, सन्नाहिका भेरी का युद्ध प्रयाण के समय और कौमुदी भेरी का दर्शन अथवा दीक्षा के लिए जाने के समय वादन होता था।

कृष्ण अर्हत अरिष्टनेमि और अर्हत मुनिसुव्रत के समकालीन थे। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार कृष्ण धातकी खण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध भरत की चम्पा नगरी के राजा कपिल वासुदेव के समय विद्यमान थे। ज्ञातधर्मकथा से यह भी ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर के राजा पाण्डु, पंच-पाण्डव, कौरव, गांगेय, विदुर, द्रोणाचार्य, जयद्रथ, शकुनि, क्लीव और अश्वत्थामा के उपरांत अंगराज कृष्ण: सेल्लक, नन्दिराज, दमघोष के पुत्र, पाँच सौ भाइयों वाले शक्तिमती के राजा शिशुपाल, हस्तिशीर्ष के राजा दमदन्त, मथुरा नगरी के राजा धर, जरासंध के पुत्र राजगृह के राजा सहदेव, भेसक के पुत्र कौडिन्य के राजा रुक्मि और विराटनगर के राजा कीचक कृष्ण के समकालीन थे।

जैन साहित्य में कृष्ण कथा को जो रूप वर्णित हुआ है, उसमें 'बलदेव' और 'वासुदेव' को अति विशिष्ट पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। उनकी कल्पना परम पुरुष के रूप में की गयी है। कृष्ण की विमाता रोहिणी के पुत्र राम अपने युग के बलदेव थे और कृष्ण अपने युग के वासुदेव थे। कृष्ण को अत्यन्त ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी बताया गया है। कृष्ण इतने बली थे कि महारल बज्र को चुटकी से पीस डालते थे। वे अत्यन्त सहिष्णु और दयालु थे। उनमें मत्सर भाव लेशमात्र भी नहीं था। वे अत्यन्त प्रगल्भ, धीर और विनयशील थे। कृष्ण की वाणी गम्भीर, मधुर और परिपूर्ण थी। कृष्ण के मुकुट में श्रेष्ठ धवल, शुक्ल विमल कौस्तुभ मणि शोभायमान रहती थी। वे शत्रुओं का मान-मर्दन तथा युद्ध में कीर्ति प्राप्त करने वाले अजित और अजितस्थ थे। इसलिए वे महारथी के रूप में विख्यात थे।

ज्ञातधर्मकथा के अनुसार पाण्डु हस्तिनापुर के राजा थे। कृष्ण वासुदेव की बुआओं कुन्ती और माद्री का विवाह राजा पाण्डु के साथ हुआ था। राजा पाण्डु के पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डव कहलाये। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार अत्यन्त सुन्दर द्रौपदी पांचाल जनपद के कंपिलपुर नगर के राजा द्रुपद की पुत्री थी। द्रौपदी की माता का नाम चूलनी था। उसके वयप्राप्त होने पर राजा द्रुपद ने स्वयंवर के लिए भिन्न-भिन्न देशों से राजाओं को

निमंत्रित किया। द्रुपद ने पहला निमंत्रण कृष्ण वासुदेव और उनके दशार्ह आदि राजपरिवार को बुलाने के लिए भेजा। राजा द्रुपद के निमंत्रण को पाकर कृष्ण ने अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर सुधर्मा सभा में सामुदायिक भेरी के वादन की आज्ञा दी। उसने महोद्घोष से भेरी बजायी। भेरी की ध्वनि सुनते ही समुद्रविजय तथा अन्य दशार्ह, महासेन सहित छप्पन हजार बल वर्ग स्नान कर विभूषित होकर पूरी साज-सज्जा के साथ कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचे और उनका जयघोष किया। इस स्वयंवर में जिन अन्य राजाओं को निमंत्रित किया गया, उनमें प्रमुख थे-हस्तिनापुर के राजा पाण्डु, अंगदेश के राजा कर्ण, नन्दिदेश के अधिपति शल्यराज, शुक्तिमती नगरी में दमघोष के राजा शिशुपाल, हस्तशीर्षनगर के राजा दमवन्त, राजगृह में जरासंध के पुत्र राजा सहदेव, कौडिन्य नगर में भीष्मक के पुत्र राजा रुक्मि, मथुरा के राजा धर तथा विराटनगर के राजा कीचक। स्वयंवर में निमंत्रित राजाओं के कृष्ण वासुदेव प्रमुख थे। राजा द्रुपद ने कंपिलपुर की सीमा पर कृष्ण वासुदेव सहित सभी राजाओं का सत्कार-सम्मान किया। कंपिलपुर के बाहर गंगा महानदी के निकट स्वयंवर मण्डप रचा गया। स्वयंवर के समय कृष्ण वासुदेव और सभी राजा निर्धारित आसनों पर आसीन हुए। स्वयंवर में द्रौपदी ने पंच-पाण्डवों का वरण किया और उनके गले में जयमाल डाल दी। कृष्ण वासुदेव सहित सभी राजाओं ने महोद्घोष किया। राजा द्रुपद ने पाण्डवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण सम्पन्न किया। राजा पाण्डु के निमंत्रण पर कृष्ण वासुदेव हस्तिनापुर पहुँचे तथा पाँच पाण्डवों और द्रौपदी के विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए।

ज्ञातधर्मकथा में कृष्ण वासुदेव के द्वारा द्रौपदी के उद्धार का प्रसंग वर्णित है। एक दिन पाण्डुराज पंच पाण्डव कुंती, द्रौपदी तथा अन्त:पुर के पारिवारिक जनों के साथ बैठे हुए थे। उसी समय कलुषहृदयी नारद विद्या के सहारे आकाश मार्ग से उड़ते हुए हस्तिनापुर पहुँचे। द्रौपदी के अतिरिक्त पाण्डुराज, पंच पाण्डव और कुंती ने नारद का आदर-सम्मान किया। द्रौपदी ने नारद को असंयत, अविरत और कलहप्रिय जानते हुए न तो उनका सम्मान किया और न ही उनका अभिवादन किया। इस पर नारद ने द्रौपदी से प्रतिकार का निश्चय किया। नारद अपनी आकाशगामिनी विद्या की शक्ति से लवण समुद्र के मध्य पूर्व दिशा में बढ़ने लगे। उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। जिसका राजा पद्मनाभ था। वह अपनी सात सौ रानियों के साथ अन्त:पुर में सिंहासनासीन था। नारद उड़ते हुए सीधे राजभवन में आकर उतर आये। राजा पद्मनाभ ने नारद का आदर-सम्मान कर उनसे कुशलक्षेम पूछा। पद्मनाभ ने नारद से कहा कि जैसा मेरा सुन्दर एवं सुहृद परिवार है, ऐसा कोई परिवार अन्यत्र भी आपने देखा है? इस पर नारद ने हँसकर उत्तर दिया कि जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ राजा द्रुपद की पुत्री चूलनी की आत्मजा, पाण्डुराज की पुत्रवधू और पंच पाण्डव की पत्नी द्रौपदी अत्यन्त लावण्यमयी और रूपवती है। नारद द्वारा वर्णित द्रौपदी के रूप और सौन्दर्य से प्रभावित होकर राजा पद्मनाभ उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। उसने अपने इष्टदेव के माध्यम से सुप्तावस्था में द्रौपदी को अशोकवाटिका में उठा मँगवाया। पद्मनाभ ने द्रौपदी से विपुल काम भोगों को भोगते हुए अपने साथ रहने का प्रस्ताव किया। इस पर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा कि द्वारावती में मेरे पति के भाई कृष्ण वासुदेव रहते हैं। यदि वे छ: मास के भीतर मेरे उद्धार हेतु नहीं आते हैं तो मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगी। पाण्डुराजा जब द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तो कुन्ती देवी से कहा कि तुम द्वारावती जाकर कृष्ण वासुदेव से द्रौपदी की खोज के लिए निवेदन करो। कुन्ती ने ऐसा ही किया। वे हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारावती नगरी पहुँचीं और उन्होंने कृष्ण वासुदेव तक अपने द्वारावती आगमन का संदेश कौटुम्बिक पुरुषों के माध्यम से भेजा। कुन्ती के आगमन का संदेश पाते ही कृष्ण वासुदेव पूरे राज-वैभव के साथ उनके स्वागत के लिए पहुँचे और उन्हें ससम्मान राजभवन में ले आये। कुन्ती ने कृष्ण वासुदेव से द्रौपदी के अपहरण का सारा वृत्तान्त कहा। इस पर कृष्ण वासुदेव ने द्रौपदी को खोज निकालने वाले को विपुल धनराशि देने की उद्घोषणा कराई। परन्तु द्रौपदी का पता नहीं चला।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे कि नारद वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण वासुदेव से नारद ने द्रौपदी

के विषय में पूछा। नारद ने बताया कि द्रौपदी अमरकंका में राजा पद्मनाभ के राजभवन में है। कृष्ण वासुदेव ने नारद को इस बात की प्रतीति करा दी यह कर्म उन्हीं का है। इस पर नारद आकाश मार्ग में जिस दिशा से आये थे उसी दिशा में चले गये। कृष्ण वासुदेव ने दूत के द्वारा द्रौपदी का पता लग जाने का समाचार हस्तिनापुर भेजा और कहलाया कि पाण्डव चतुरंगिणी सेना सहित वैतालिक समुद्र के किनारे पहुँचकर उनकी प्रतीक्षा करें। कृष्ण वासुदेव हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारावती की पूर्व दिशा में वैतालिक समुद्र के पास पहुँचे और पाण्डवों से मिलकर छावनी स्थापित की।

इसके बाद सेना को विसर्जित कर वे पंच पाण्डवों सहित लवण समुद्र के मध्य से होते हुए अमरकंका नगरी पहुँचे। अपने दारुक नाम के सारथी से पद्मनाभ को संदेश भेजा कि वह कृष्ण वासुदेव की अपहृत भगिनी द्रौपदी को सौंप दे, अन्यथा युद्ध के लिए तत्पर हो जाए। पद्मनाभ ने कृष्ण वासुदेव के संदेश को अस्वीकार कर युद्ध की चुनौती दी। पंच पाण्डवों ने पद्मनाभ के साथ युद्ध किया, परन्तु अशक्त अनुभव कर वे कृष्ण वासुदेव के पास लौट आये। तब कृष्ण वासुदेव ने पांचजन्य का उद्घोष कर पद्मनाभ से युद्ध प्रारम्भ किया। पांचजन्य के शब्दघोष से पद्मनाभ की सेना का एक-तिहाई भाग हत हो गया। इसके बाद कृष्ण ने सारंग धनुष की प्रत्यंचा से भयंकर टंकार की जिससे पद्मनाभ की सेना का एक-तिहाई भाग और नष्ट हो गया। इस प्रकार की दशा देखकर पद्मनाभ ने भागकर अमरकंका नगरी में प्रवेश कर उसके दरवाजे बन्द करवा दिये। कृष्ण वासुदेव उसका पीछा करते हुए अमरकंका पहुँचे। रथ से उतरकर वे एक विशाल नरसिंह रूप धारणकर पृथ्वी पर महाशब्दकारी प्रहार करने लगे। यह देखकर पद्मनाभ ने द्रौपदी के चरणों में गिरकर रक्षा माँगी। द्रौपदी ने पद्मनाभ को स्नान कर गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड़ अन्त:पुर की रानियों के साथ उसे आगे कर कृष्ण वासुदेव के प्रति क्षमा-याचना और समर्पण के लिए कहा। पद्मनाभ ने ऐसा ही किया और द्रौपदी को वासुदेव कृष्ण को सौंप दिया।

'ज्ञातधर्मकथा' में द्रौपदी पद्मनाभ प्रसंग से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रसंग 'शंखशब्द सभाचारी' में वर्णित है जिससे कृष्ण वासुदेव के पराक्रम और प्रभुत्व का बोध होता है। उस समय चम्पा नगरी में कपिल मुनि नाम के वासुदेव थे। पद्मनाभ से युद्ध के लिए जब कृष्ण वासुदेव ने पांचजन्य का ध्वनि घोष किया तो कपिल पूर्णभद्र नामक उद्यान में अर्हत मुनि सुव्रत से धर्मोपदेश सुन रहे थे। कृष्ण वासुदेव की शंख ध्वनि सुनते ही कपिल वासुदेव के मन में विचार आया कि सम्भवत: धातकी खण्डद्वीप के भरत क्षेत्र में कोई अन्य वासुदेव उत्पन्न हो गया है। सुव्रत मुनि को भी ऐसा ही प्रतीत हुआ। उन्होंने कपिल वासुदेव से कहा कि एक ही समय में दो अरिहन्त, दो चक्रवर्ती, दो बलदेव अथवा दो वासुदेव नहीं हो सकते। उन्होंने कपिल को पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी के अपहरण की घटना बताई जिसे जानकर कपिल वासुदेव हाथी पर आरूढ़ होकर वेलाकूल पहुँचे और उन्होंने कृष्ण वासुदेव की श्वेतपीत ध्वजा को देखा। कपिल ने अपना पांचजन्य हाथ में लेकर उससे ध्वनि घोष किया। कृष्ण वासुदेव ने भी कपिल की शंख ध्वनि सुनकर अपना पांचजन्य फूँका। इस प्रकार दोनों वासुदेवों ने शंखध्वनि द्वारा परस्पर बोध कराया। इसके बाद कपिल वासुदेव ने अमरकंका पहुंचकर पद्मनाभ को धिक्कारा और उसे राज्य से निर्वासित कर उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया।

'ज्ञातधर्मकथा' में पाण्डवों के निर्वासन का भी प्रसंग वर्णित हुआ है। पद्मनाभ से द्रौपदी के उद्धार के बाद पंच पाण्डव और छठे कृष्ण, रथों पर सवार होकर लवण समुद्र पार करते हुए भरत क्षेत्र की ओर बढ़े। जब वे गंगा के तट पर पहुँचे तो कृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि आप लोग गंगा के पार उतरो। इस बीच मैं लवण समुद्र के अधिपति सुस्थित देव से मिलकर पहुँचता हूँ। पंच-पाण्डवों ने एक नौका में बैठकर गंगा को पार किया। तत्पश्चात् उनके मन में कृष्ण वासुदेव की परीक्षा लेने का विचार आया। पाण्डवों ने नौका को छिपा दिया और कृष्ण वासुदेव की प्रतीक्षा करने लगे। कृष्ण वासुदेव को गंगा तट पर पहुँचने पर नौका नहीं दिखाई दी। इस पर कृष्ण वासुदेव ने एक हाथ से घोड़े और सारथी सहित रथ को पकड़ा और दूसरे हाथ से गंगा को पार करने लगे। जब वे गंगा के मध्य पहुँचे तो थक गये। कृष्ण वासुदेव को थका जानकर गंगा ने जल को छिछला कर दिया और कृष्ण ने वहाँ कुछ समय विश्राम किया। इसके बाद

गंगा पार कर कृष्ण वासुदेव पाण्डवों के पास पहुँचे। अन्त में पाण्डवों ने उनसे नौका छिपाने के रहस्य का उद्घाटन किया। कृष्ण ने इस पर कुपित होकर लौहदण्ड से पाण्डवों के रथ को चूर-चूर कर दिया तथा पाण्डवों को निर्वासन की आज्ञा दी। कृष्ण वासुदेव ने उस स्थान पर 'रथ मर्दन' नामक कोट की स्थापना की। तत्पश्चात् कृष्ण अपनी छावनी पर आये और सेना को साथ लेकर द्वारावती लौट गये।

'ज्ञातधर्मकथा' में इसके बाद पाण्डु-मधुरा की स्थापना का प्रसंग वर्णित हुआ है। कृष्ण-वासुदेव से निर्वासन की आज्ञा पाकर पाण्डव हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सारी बातें पाण्डु से कहीं। पाण्डु ने पाण्डवों को भला-बुरा कहा और कुन्ती को द्वारावती इस प्रयोजन से भेजा कि वे कृष्ण वासुदेव से उस दिशा की आज्ञा प्राप्त करें जिधर पाण्डवों को जाना है। कुन्ती द्वारावती पहुँची। कृष्ण वासुदेव ने उनका स्वागत किया और प्रयोजन जानकर उन्हें बताया कि पाण्डव दक्षिण दिशा के वेला तट पर आएँ और पाण्डु-मधुरा नामक नयी नगरी बसाएँ। वहाँ वे मेरे अदृश्य सेवक के रूप में निवास करें। कृष्ण वासुदेव की यह आज्ञा लेकर कुन्ती हस्तिनापुर आयीं और आज्ञानुसार पाण्डु ने पाण्डवों को निर्वासित किया। पाण्डव दक्षिण दिशा में वेला तट पर पाण्डु-मधुरा नगरी बसाकर सुखपूर्वक रहने लगे।

इसी बीच थावच्चा पुत्र ने प्रव्रज्या लेने का संकल्प किया। उसकी माता थावच्चा प्रव्रज्या हेतु छत्र, मुकुट, चंवर आदि माँगने के लिए कृष्ण वासुदेव के पास गयी। कृष्ण वासुदेव ने थावच्चा को अभिनिष्क्रमण सत्कार की व्यवस्था का आश्वासन दिया। कृष्ण वासुदेव और थावच्चा पुत्र के संवाद के बाद थावच्चा पुत्र के अभिनिष्क्रमण की राजकीय व्यवस्था हुई। कृष्ण वासुदेव पूरे वैभव के साथ द्वारावती के मध्य भाग से निकलकर थावच्चा पुत्र के साथ अर्हत अरिष्टनेमि के पास पहुँचे। थावच्चापुत्र ने ईशान कोण में जाकर अपने आभरण, माला, अलंकार आदि उतार डाले। इसके बाद उसने श्वेत वस्त्र, आभरण और अलंकार ग्रहण किये तथा प्रव्रज्या हेतु तैयार हो गया। थावच्चा जिस दिशा से आयी थी, उसी दिशा में चली गई और उसके पुत्र ने पंचमुष्टि लोच लेकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

कृष्ण वासुदेव और अरिष्टनेमि के धर्म और कर्म विषयक संवाद के प्रसंग भी जैन आगम ग्रंथों में दिये गये हैं। 'अन्तकृद्दशा' के अनुसार एक बार अर्हत अरिष्टनेमि द्वारावती पधारे। कृष्ण वासुदेव ने उनका पाद-वन्दन किया। उनकी रानी पद्मावती भी अर्हत अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए पहुँची। अर्हत अरिष्टनेमि ने कृष्ण वासुदेव और रानी पद्मावती को धर्मकथा सुनाई। इसके बाद कृष्ण वासुदेव ने अर्हत अरिष्टनेमि से भविष्य में द्वारावती नगरी के विनाश का कारण पूछा। अर्हत अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया कि देवपुरी के समान द्वारावती नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन इन तीन कारणों से होगा। यह सुनकर कृष्ण वासुदेव ने जालि, मयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध, दृढ़िनेमि, सत्यनेमि आदि प्रव्रज्या ग्रहण करने वालों के कर्मों की सराहना की। साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाने की भर्त्सना की। इस पर अर्हत अरिष्टनेमि ने कहा कि ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा कि वासुदेव वैभव का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करें। कृष्ण वासुदेव ने पुनः पूछा कि देहावसान का समय प्राप्त कर मैं कहाँ जाऊँगा? कहाँ उत्पन्न होऊँगा? अरिष्टनेमि ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि "दक्षिण दिशा के किनारे इसी पाण्डु-मधुरा नगरी के वन-कानन में न्यग्रोध नामक श्रेष्ठ वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्र द्वारा शरीर को आच्छादित कर तुम शयन करोगे। उस समय जरा कुमार द्वारा कोदण्ड से छोड़े हुए तीक्ष्ण बाण के द्वारा बायें पैर में बींधा जाकर काल समय में मृत्यु को प्राप्त हो उज्ज्वल वेदना वाली बालुका प्रभा नामक तीजी नरक पृथ्वी में नैरयिक रूप से उत्पन्न होगा।" अर्हत अरिष्टनेमि की भविष्यवाणी सुनकर कृष्ण वासुदेव चिन्तामग्न हो गये। इस पर अर्हत अरिष्टनेमि ने कहा, "हे कृष्ण! तू आर्तनाद न कर। तू उस उज्ज्वल वेदनावाली सीसरी नरक भूमि से निकल सीधा इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी में पुण्ड्र जनपद में शतद्वार नामक नगर में बारहवाँ असम नामक अरिहंत होगा। वहाँ अनेक वर्षों तक केवली पर्याय का पालन कर तू सिद्ध होगा।" यह सुनकर कृष्ण वासुदेव ने पादन्यास किया और अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारावती नगरी में अपने घर लौट आए।

अन्तकृद्दशा में कृष्ण की रानी पद्मावती की दीक्षा का प्रसंग वर्णित हुआ है। एक बार अर्हत अरिष्टनेमि द्वारावती नगरी के बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पधारे। कृष्ण वासुदेव के साथ रानी पद्मावती भी उनके दर्शन के लिए गयीं। अर्हत अरिष्टनेमि से धर्मोपदेश सुनकर पद्मावती का मन वैराग्य भावना से भर गया। उसने कृष्ण वासुदेव से प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त की जिसकी उन्होंने अनुमति दे दी। उन्होंने पद्मावती के अभिनिष्क्रमण की भव्य तैयारी की और शिविका में पद्मावती को बिठाकर रैवतक पर्वत पर सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँचे। कृष्ण वासुदेव ने अर्हत अरिष्टनेमि से पद्मावती को शिष्या के रूप में समर्पित करने का निवेदन किया। अर्हत अरिष्टनेमि ने इसे स्वीकार किया। पद्मावती ने अपने अलंकार आदि उतारकर पंचमुष्टि लोप लिया। अर्हत अरिष्टनेमि ने पद्मावती को प्रव्रज्या दी तथा उसे यक्षिणी नामक आर्या को शिष्या के रूप में सौंप दिया। पद्मावती ने आर्या यक्षिणी से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अभ्यास किया। उसने बीस वर्षों तक चरित्र पर्याय का पालन किया। अंत में एक मास की संलेखना कर उसने अपना कार्य पूरा किया।

कृष्ण वासुदेव के जीवन प्रसंगों में गज-सुकुमाल चरित का प्रसंग जैन आगमों में वर्णित एक महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय प्रसंग है। देवकी ने कृष्ण से पूर्व छः पुत्रों को जन्म दिया। प्रसव के बीच हरणेगयेषी देवकी के नवजात पुत्र को हथेली में ग्रहण कर लेता और उसके स्थान पर अन्य मृत पुत्र को रख देता। इस प्रकार पुत्र अपहरण के कारण देवकी अपने शिशुओं की बाल-क्रीड़ा के सुख से वंचित रही। देवकी अत्यन्त दुखी रहती थी, क्योंकि कृष्ण-वासुदेव भी उसके चरण वन्दन के लिए छः-छः मास के अंतराल से जाते थे। एक बार देवकी चिन्तामग्न बैठी थी कि कृष्ण-वासुदेव उसके पास पहुँचे। कृष्ण ने देवकी का पाद-वन्दन किया। देवकी ने कृष्ण वासुदेव से कहा कि मैंने नलकूबर सदृश सुन्दर सात पुत्रों को जन्म दिया, परन्तु मैं वात्सल्य का अनुभव न कर सकी। कृष्ण वासुदेव ने माता देवकी को सांत्वना दी और कहा मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे मेरे एक कनिष्ठ सहोदर भाई हो। इसके बाद कृष्ण वासुदेव ने एकांत में निवास कर दर्भासन पर बैठ अष्टम मंत्र तप को ग्रहण कर हरणेगयेषी देवता का स्मरण कर कनिष्ठ सहोदर के जन्म का अनुष्ठान किया। जब उनका तेला त्रिदिवसीय उपवास पूर्ण होने को आया तब हरणेगयेषी देव के मन में इस प्रकार संकल्प जागृत हुआ। अर्द्ध भरत के स्वामी द्वारावती नगरी के अधिपति कृष्ण वासुदेव पौषधशाला में पौषधव्रत अष्टम भक्त तप ग्रहण कर मुझे स्मरण कर रहे हैं। अतः मेरे लिए प्रादुर्भूत होना आवश्यक है। हरणेगयेषी देव स्वरचित श्रेष्ठ विमान से निकलकर पृथ्वी तल पर तीव्र गति से आने के लिए निकला। वह असंख्य द्वीपों को पार करता हुआ द्वारावती नगरी में पौषधशाला में पौषध कर कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचा। हरणेगयेषी देव आकाश में ठहरकर कृष्ण वासुदेव से बोला कि "तुम मुझे आज्ञा दो कि मैं क्या करूँ? तुम्हारी क्या कामना है?" कृष्ण वासुदेव अन्तरिक्ष में उपस्थित देव को देख पौषधशाला को पाकर हरणेगयेषी देव से बोले, "मैं आप द्वारा प्रदत्त कनिष्ठ सहोदर की कामना करता हूँ।" देव ने उत्तर दिया, "तुम्हारे एक कनिष्ठ सहोदर होगा। बालभाव से मुक्त हो युवक होने पर पर अर्हत अरिष्टनेमि के पास मुंडित होकर प्रव्रजित होगा।" इसके बाद हरणेगयेषी देव जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया। कृष्ण वासुदेव ने देवकी के पास आकर देव का आशीर्वचन सुनाया।

अंतगडद्दसाओ के अनुसार कालान्तर में गज सुकुमाल का जन्म हुआ। वह अत्यन्त सुरूप था। हाथी के तलवे के समान वह रक्तवर्ण का था। इसीलिए उसका नाम गज सुकुमाल रखा गया। गज सुकुमाल को अर्हत अरिष्टनेमि की धर्मचर्चा सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने अरिष्टनेमि से कहा कि "माता-पिता से अनुमति लेकर मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।" जब गज सुकुमाल ने माता-पिता से प्रव्रज्या ग्रहण करने के अपने संकल्प को बताया तो उन्होंने उसे विवाह करने के बाद प्रव्रज्या ग्रहण करने को कहा। परन्तु गज सुकुमाल का निश्चय नहीं बदला। कृष्ण वासुदेव ने भी गज सुकुमाल से यही कहा। उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारा राज्याभिषेक कर तुम्हें द्वारावती का राजा बनाऊँगा। अन्ततः गज सुकुमाल का संकल्प नहीं टूटा। परन्तु माता-पिता और कृष्ण-वासुदेव के अनुरोध पर गज सुकुमाल ने विवाह किया।

उनके लिए कृष्ण ने कन्या का चुनाव स्वयं किया। इसके बाद व मात्र एक दिन के लिए राजा बने और तत्पश्चात् उन्होंने अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण की।

जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्णचरित के अंतर्गत प्रद्युम्न चरित भी वर्णित हुआ है। प्रद्युम्न कुमार का जन्म कृष्ण की रानी रुक्मिणी के गर्भ से हुआ था। जन्म के छठे दिन रात में धूमकेतु राक्षस ने प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया और उसे एक शिला के नीचे दबाकर भाग गया। उसी समय कालसंबर नामक विद्याधर ने प्रद्युम्न को उठा लिया और उसकी पत्नी कंचनमाला ने प्रद्युम्न का पालन-पोषण किया। बड़े होकर प्रद्युम्न ने कालसंबर के शत्रु सिंहरथ को पराजित किया। इस पर कालसंबर के अन्य पुत्र उससे ईर्ष्या करने लगे। प्रद्युम्न ने सारी विपत्तियों का सामना करते हुए कंचनमाला से तीन विद्याएँ सीख लीं। प्रद्युम्न के सम्पर्क में रहते हुए कंचनमाला उस पर आसक्त हो गयीं परन्तु प्रद्युम्न पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस पर कंचनमाला ने कुपित होकर कालसंबर को प्रद्युम्न के विरुद्ध कर दिया। फलत: कालसंबर और प्रद्युम्न में भयंकर युद्ध हुआ। नारद ने आकर मध्यस्थता की। वास्तविक तथ्य का ज्ञान होने पर प्रद्युम्न द्वारावती लौट गये। द्वारावती में प्रद्युम्न ने अपनी विद्याओं से विमाता सत्यभामा और उसके पुत्र भानुकुमार को परेशान किया। प्रद्युम्न ब्रह्मचारी का वेश धारण कर अपनी माता रुक्मिणी के पास गये तथा उन्होंने मायावी रुक्मिणी बनाकर उसे कृष्ण की सभा के सम्मुख खींचते हुए कृष्ण को ललकारा। इस पर कृष्ण और प्रद्युम्न में युद्ध हुआ। इस बीच नारद ने आकर प्रद्युम्न को रहस्य-बोध कराया। तत्पश्चात् सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए। द्वारावती में भव्य उत्सव हुआ। प्रद्युम्न ने दीर्घकाल तक राजसुख भोगकर अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ली और निर्वाण प्राप्त किया।

कृष्ण के जीवन के अन्य कतिपय संदर्भ भी जैन परम्परा में मिलते हैं। कृष्ण सानुक्रोश हृदय थे। एक बार वे अर्हत अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहे थे। हाथी पर आरूढ़ कृष्ण वासुदेव सैनिकों से घिरे हुए थे। द्वारावती के मध्य में पहुँचने पर उन्होंने देखा कि एक जीर्ण वृद्ध ईंटें उठाकर राजपथ से लिये जा रहा था। कृष्ण वासुदेव ने भी एक ईंट उठायी और राजपथ से ले जाकर घर के अन्दर रखी। इस पर सभी ने बृहत् ईंट राशि में से एक-एक ईंट उठाकर पूरी ईंट राशि को घर के भीतर पहुँचा दिया।

कृष्ण वासुदेव मानमर्दक थे। उन्होंने यमलार्जुन वृक्षों का रूप धारण किये छिपे हुए विद्याधरों का मान भंग किया। कृष्ण ने इष्ट महाशकुनि और पूतना का विनाश किया तथा कंस का मुकुट भंजन किया। जरासंध से कृष्ण की शत्रुता के उल्लेख तो इसके प्रमाण हैं ही। 'सामवायांग सूत्र' के अनुसार जरासंध कृष्ण का शत्रु था और चक्रयुद्ध में कृष्ण से पराजित हुआ था। प्रश्नव्याकरण के अनुसार कृष्ण को रुक्मिणी के लिए शिशुपाल और पद्मावती के लिए अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ा। उन्होंने रोहिणी के लिए भी युद्ध किया था। इन सभी युद्धों में कृष्ण विजयी हुए थे।

कृष्णचरित में अर्हत अरिष्टनेमि से उनके सम्बन्ध के संदर्भ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। 'अंतकृद्दसाओ' के अनुसार कृष्ण के अनेक पारिवारिक जनों ने अर्हत अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण की थी। कृष्ण के पुत्र साम्ब की पत्नियाँ मूलश्री और मूलदत्ता भी प्रव्रजित हुई थीं। कृष्ण वासुदेव के सात सहोदर भाइयों तथा छ: सौतेले भाइयों के प्रव्रजित होने के उल्लेख मिलते हैं। 'उत्तराध्ययन' से ज्ञात होता है कि वृष्णिपुंगव अरिष्टनेमि कृष्ण बाबा के पुत्र थे और केवल ज्ञान प्राप्त कर अर्हत हुए थे। अर्हत अरिष्टनेमि के तीन भाई, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसी प्रकार कृष्ण के विमातृ ज्येष्ठ भ्राता राम बलदेव के सुमुख आदि पन्द्रह पुत्रों का अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा लेने का उल्लेख मिलता है। 'अंतगडद्दसाओ' में अन्धक वृष्णि के गौतम आदि पुत्रों की भी प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार जैन परम्परा में प्राप्त कृष्णचरित अर्हत अरिष्टनेमि से व्यापक रूप में संदर्भित है।

जैन साहित्य में कृष्ण कथा के व्यापक एवं विकसित रूप का दर्शन दिगम्बर परम्परा की जिनसेन रचित आगमेतर कृति 'हरिवंशपुराण' में होता है। संस्कृत में रचित इस कृति में कृष्ण चरित को पूर्ण रूप देने की चेष्टा प्रधान रही है।

जैन आगमिक परम्परा की कृष्ण कथा के विगत विवेचित प्रसंगों के साथ जिनसेन के हरिवंशपुराण में वैष्णव हरिवंश पुराण की कृष्ण कथा का आधार लिया गया है। जिनसेन की कृति में कृष्णकथा का जो वर्णन हुआ है वह आगमेतर कृष्णचरितपरक परवर्ती संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी जैन रचनाओं के लिए उपजीव्य बना।

जिनसेन पुन्नाट प्राचीन कर्नाटक के मुनि संघ की आचार्य परम्परा में हुए थे। इनके गुरु कीर्तिषेण थे। 'हरिवंशपुराण' का पूर्ति सम्वत् 705 (सन् 648 ई.) में दिया गया है। जिनसेन के आत्मोल्लेख के अनुसार हरिवंशपुराण की रचना का प्रारम्भ वर्धमानपुर में नलराज द्वारा बनवाये गये श्री पार्श्वनाथ के मंदिर में हुआ था, परन्तु यह 'दोस्तटिका' नगरी के शांतिनाथ मंदिर में पूरा हुआ। हरिवंशपुराण की 66 सर्गों और आठ अधिकारों में विभक्त कथावस्तु पौराणिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है। इसके प्रारम्भ में क्रमश: लोक का आकार, राजवंशों की उत्पत्ति, हरिवंश अवतार, वासुदेव की चेष्टाओं का कथन, नेमिनाथचरित, द्वारका निर्माण, युद्धवर्णन और निर्वाण आदि शुभ अधिकारों का कथन हुआ है। हरिवंशपुराण के सर्ग 35 से लेकर 65 तक कृष्णचरित वर्णित हैं।

जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' के अनुसार हरिवंश में यदु नामक एक राजा हुआ जिसके वंशज यादव कहलाए। यदुवंशी राजा सोरिय ने सोरियपुर नामक नगर बसाया और वहीं अपना राज्य स्थापित किया। राजा सोरिय के दो पुत्र हुए अन्धक और भोजक। यदु के बाद अन्धक को सोरियपुर तथा भोजक को मथुरा के प्रदेश उत्तराधिकार में मिले। अन्धक के दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उसके दसों पुत्र दशार्ह राजा के रूप में विख्यात हुए। ये सभी सोरियपुर में रहते थे। भोजक के उग्रसेन, महासेन, देवसेन आदि पुत्र हुए जिनमें उग्रसेन मथुरा का राजा बना। अन्धक के दस पुत्रों में समुद्रविजय ज्येष्ठ थे और वसुदेव कनिष्ठ। वसुदेव अति सुरूप और शास्त्रविद्या पारंगत थे। वे भोजक कुल के राजपुत्रों को शास्त्र विद्या देते थे। इन्हीं में उग्रसेन का पुत्र कंस आदि अपने शिष्यों के साथ राजा जरासंध के यहाँ गये। जरासंध ने यह घोषणा कर रखी थी कि जो सिंहपुर के राजा सिंहस्थ को बन्दी बनाकर उसके समक्ष जीवित प्रस्तुत करेगा, उसके साथ वह अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह करेगा तथा उसे इच्छित प्रदेश भेंट में देगा। वसुदेव ने युद्ध में सिंहस्थ को पराजित कर बन्दी बना लिया और जरासंध के सामने प्रस्तुत किया। घोषणा के अनुसार जरासंध ने वसुदेव के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहा, परन्तु वसुदेव ने जरासंध की पुत्री का विवाह कंस के साथ करा दिया। विवाह के बाद कंस ने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना लिया और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। विवाह से उपकृत कंस एक दिन वसुदेव को मथुरा ले आया और उसने अपनी चचेरी बहन देवकी-राजा देवक की पुत्री से उनका विवाह करा दिया। कंस के आग्रह के कारण विवाह के उपरांत भी वसुदेव मथुरा में ही निवास करने लगे।

एक दिन जीवद्यशा ने कंस को यह समाचार दिया कि अतिमुक्तक मुनिराज के अनुसार देवकी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र उसके और जरासंध के लिए घातक सिद्ध होगा। इससे रक्षा का उपाय सोचकर कंस ने वसुदेव से यह वचन ले लिया कि प्रसूति के समय देवकी उसी के घर पर रहेगी। देवकी ने तीन जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया। प्रत्येक बार इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम नामक देव जन्म लेते ही देवकी के पुत्रों को सुभ्रक्षिल नगर के सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका के पास पहुँचा आया और उससे उत्पन्न मृतक जुड़वाँ पुत्रों को देवकी के पास ले आया। शंकाग्रस्त होने के कारण कंस ने मृतक पुत्रों को भी प्रत्येक बार शिला पर पटक डाला। इस प्रकार देवकी के पुत्र नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, सत्रुघ्न और जितशत्रु सुदृष्टि की पत्नी अलका के यहाँ पालित-पोषित हुए। एक रात देवकी को स्वप्न में उगता हुआ सूर्य, पूर्ण चन्द्रमा, दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी, आकाश से नीचे उतरता विमान, ज्वालायुक्त अग्नि, उच्च आकाश में किरणों से युक्त देवध्वज और अपने मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह, कुल छ: दृश्य दिखाई दिये। वसुदेव ने देवकी को इस स्वप्न का फल समझाते हुए कहा कि उसके गर्भ से एक अत्यन्त प्रतापी, अत्यन्त सुरूप, राजलक्षणों से युक्त, गंभीर और निर्भय प्रकृति वाला एक वीर पुत्र उत्पन्न होगा। इसके बाद देवकी के गर्भ से सातवें मास में ही कृष्ण का जन्म हुआ। जन्म के बाद ही वसुदेव नवजात शिशु को वृन्दावन ले गये और आत्मीय गोप नन्द की पत्नी यशोदा के पास

रखकर सद्य: जन्मी उनकी पुत्री को ले आये जिसे उन्होंने देवकी को दे दिया। क्रोधित कंस ने हाथ से उस कन्या की नाक मसलकर चपटी कर दी।

उधर नन्द यशोदा के यहाँ कृष्ण पालित-पोषित हो रहे थे। कंस को किसी ज्ञानी से यह ज्ञात हुआ कि उसका शत्रु कहीं जन्म ले चुका है और बढ़ रहा है। अत: उसने तप किया और देवियों का आह्वान करके उन्हें अपने शत्रु का पता लगाकर मार डालने का आदेश दिया। उन देवियों में छ: ने एक-एक करके भयंकर पक्षी, पूतना, धाय, शकट, यमलार्जुन और बैल का रूप धारण कर कृष्ण को मारने का उपक्रम किया। परन्तु वे सभी कृष्ण द्वारा प्रताड़ित हुए। सातवीं देवी ने पाषाण वर्षा से कृष्ण को मारने का विधान किया, पर कृष्ण ने गोवर्धन धारण करके सारे गोकुल की रक्षा कर ली। इस समय मथुरा में सिंहवाहिनी नागशय्या अजितंजय धनुष और पांचजन्य शंख का प्रकटीकरण हुआ। इन तीन पदार्थों के सम्बन्ध में कंस को ज्योतिषियों से ज्ञात हुआ कि जो नागशय्या पर चढ़कर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा देगा और पांचजन्य का उद्घोष करेगा, वही उसका शत्रु होगा। कंस ने इस सत्य को गुप्त रखकर इन कार्यों को सम्पन्न करने वाले को पुरस्कृत करने की राजघोषणा करायी, परन्तु कंस द्वारा आहूत अनेक राजा यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सके। इसके बाद एक दिन कंस की पत्नी जीवद्यशा का भाई गोकुल गया तथा कृष्ण के शौर्य एवं पराक्रम से प्रभावित होकर उन्हें मथुरा ले आया। मथुरा में कंस ने नागशय्या पर चढ़कर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा दी और पांचजन्य का उद्घोष किया। कृष्ण के साथ बलराम भी थे। उन्हें कंस के प्रति शंका हो गयी। अत: उन्होंने अनेक स्वजनों को भी कृष्ण के साथ कर दिया।

जब कंस को अपने सही शत्रु का बोध हो गया तो वह कृष्ण को मारने के उपाय करने लगा। उसने गोपों को कालीदह के कमल पुष्प पहुँचाने का आदेश भिजवाया। कृष्ण ने कालियनाग का मर्दन किया और गोपों के द्वारा कमल पुष्प कंस के पास पहुँचा दिये। इसके बाद कंस ने मल्लयुद्ध के लिए कृष्ण के नेतृत्व में गोपों को आमंत्रित किया। परन्तु मल्लयुद्ध में कृष्ण ने चाणूर और बलराम ने मुष्टिक नामधारी मल्लों को पराजित कर दिया। इस पर कंस ने कुपित होकर तलवार से कृष्ण को मारने की चेष्टा की, लेकिन कृष्ण ने उससे तलवार छीनकर उसे मार डाला। कंसवध के बाद यादवों के परामर्श से कृष्ण ने पिता उग्रसेन को पुन: मथुरा का राजा बनाया।

कंस के वध के बाद उसकी रानी जीवद्यशा ने अपने पिता मगधराज को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर जरासंध ने अपने पुत्र कालयवन के साथ एक बड़ी सेना भेजकर यादवों को नष्ट करने का आदेश दिया। परन्तु कालयवन मारा गया। कालयवन के मारे जाने पर जरासंध ने अपने भाई अपराजित को भेजा। युद्ध में वह भी यादवों द्वारा मारा गया। उसके बाद जरासंध अपने पक्ष के अनेक राजाओं को एकत्रित कर स्वयं यादवों से युद्ध के लिए चल दिया। यह समाचार पाकर अन्धक और भोजक वंशी यादवों ने सोरियपुर छोड़ देने का निश्चय किया। वहाँ से चलकर यादव पश्चिमी समुद्र तट पर आये और उन्होंने द्वारावती को अपनी राजधानी बनाया।

कृष्ण के पौरुष और प्रताप से पश्चिम के अनेक राजा उनके अधीन होते गये। द्वारावती में कृष्ण अनेक राजकन्याओं का वरण कर सुखपूर्वक रहने लगे। वहाँ रहते हुए कृष्ण ने राजा भीष्मक की अत्यन्त रूपवती कन्या रुक्मिणी का हरण कर उससे विवाह किया और रुक्मिणी के लिए निश्चित वर राजा शिशुपाल का वध किया। द्वारावती में कृष्ण की जिन रानियों के उल्लेख मिलते हैं, उनके नाम हैं-रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवन्ती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती, गान्धारी आदि। इन रानियों से कृष्ण के अनेक पुत्र हुए जिनमें प्रद्युम्न, साम्ब, भानु, सुभानु, भीम, महाभानु, महासेन, अकम्पन, उदधि, गौतम, प्रसेनजित, भरत, शंख आदि प्रमुख थे।

एक दिन वणिक् अनेक बहुमूल्य मणि आदि लेकर राजा जरासंध के यहाँ गया। जरासंध के पूछने पर वणिक् ने द्वारावती के राजा कृष्ण और यादवों की श्री-सम्पन्नता का वर्णन किया। इस पर जरासंध ने कृष्ण सहित यादवों के विनाश का संकल्प किया। जरासंध ने अपने दूत अजितसेन को इस संदेश के साथ द्वारका भेजा कि यादव या तो उसकी

अधीनता स्वीकार करें अथवा युद्धभूमि में उसका सामना करें। यादवों ने युद्धभूमि में जरासंध का आमंत्रण स्वीकार कर युद्ध की तैयारी प्रारंभ कर दी। कुरुक्षेत्र में यादवों और जरासंध में भीषण संग्राम हुआ। अंत में कृष्ण द्वारा जरासंध का वध हुआ। इस विजय के बाद देवताओं ने वसुदेव पुत्र वासुदेव को नवाँ वासुदेव घोषित किया। राजाओं ने कृष्ण और बलदेव को अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी के रूप में अभिषिक्त किया।

जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' में मदिरापान से उन्मत्त शाम्ब आदि यादव कुमारों द्वारा तपस्वी पाराशर के पुत्र ब्रह्मचारी द्वैपायन के मारे जाने का प्रसंग वर्णित है। द्वैपायन के मारे जाने पर पाराशर ने द्वारका को जला देने का निश्चय किया। द्वारका जलकर भस्म हो गयी और यादव परस्पर युद्ध में लड़ मरे। विनाश से बचे कृष्ण और बलराम दु:खी होकर पाण्डवों के पास पाण्डु-मथुरा जाने लगे। मार्ग में कौशाम्बी वन में कृष्ण को प्यास लगी। बलदेव जल लेने गये और इस बीच कृष्ण पीताम्बर ओढ़कर सो गये। जरा कुमार को मृग का भ्रम हुआ और उसने बाण चला दिया जिसके लगने से कृष्ण का प्राणान्त हो गया। लौटने पर बलराम ने समझा कि कृष्ण निद्रामग्न हैं। बलदेव कृष्ण को अपने कंधे पर लिये छ: मास तक घूमते रहे। देवताओं द्वारा भ्रम निवारण किये जाने पर तुंगगिरि पर बलदेव ने कृष्ण का दाह संस्कार किया। कृष्ण की जीवनलीला समाप्त होने से बलदेव संसार से विरक्त हो गये और तप के द्वारा उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया।

जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' की कथा से ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में कृष्ण वासुदेव के महान वीर, शक्ति सम्पन्न, शलाकापुरुष तथा आध्यात्मिक राजपुरुष के साथ एक स्थिति में उनके बाल गोपाल रूप को भी स्वीकृति मिली। परन्तु जैन परम्परा के साहित्य में कृष्ण के बालगोपाल रूप के समावेश की स्थिति ईसा की आठवीं शताब्दी की पूर्ववर्ती नहीं है। जिनसेन के हरिवंशपुराण में कृष्ण वासुदेव की परम्परागत अवधारणा के साथ उनके बालगोपाल रूप का भी वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव परम्परा में पुराणों द्वारा पल्लवित कृष्ण के बाल गोपाल रूप से सम्बन्धित घटना प्रसंग जैन कवियों के लिए अपनी व्यापक लोक स्वीकृति एवं लोकरंजक प्रकृति के कारण आकर्षक बनने लगे। इसीलिए जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' पर वैष्णव हरिवंशपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव सम्प्रदायों के कृष्ण भक्ति साहित्य को प्रमुखत: प्रभावित करने वाले भागवतपुराण में वर्णित कृष्ण की बाल लीलाओं का जैन साहित्य में वर्णित कृष्ण का बालगोपाल रूप हरिवंशपुराण से ही प्रभावित कहा जा सकता है। जिनसेन कृत हरिवंशपुराण की परवर्ती अपभ्रंश और हिन्दी कृतियों-गुणभद्रकृत महापुराण (उत्तरपुराण), पुष्पदंत कृत महापुराण, शालिवाहनकृत हरिवंशपुराण आदि में कृष्ण का बालगोपाल रूप संदर्भित एवं वर्णित है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि जैन साहित्य में कृष्ण के बालगोपाल का वर्णन तथ्य कथन के स्तर का ही है।

वैष्णव हरिवंशपुराण और जिनसेन कृत हरिवंशपुराण में वर्णित बालगोपाल की कथा में पर्याप्त साम्य दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में डॉ. महावीर कोटिया ने लिखा है ''कृष्ण जन्म की परिस्थितियाँ, वसुदेव जी द्वारा सद्य:जात कृष्ण को गोकुल ले जाना तथा नन्दगोप के संरक्षण में छोड़ना, बदले में यशोदा की पुत्री को लाना, कृष्ण का गोकुल में लालन-पालन तथा बचपन व्यतीत करना, कंस के द्वारा कृष्ण को मारने के प्रयत्न, अंत में मल्लक्रीड़ा के आयोजन के अवसर पर कृष्ण बलराम द्वारा कंस के मल्ल, चाणूर व मुष्टिक के साथ ही कंस का वध करना आदि घटनाक्रम पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो दोनों में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। (जैन साहित्य में कृष्ण, पृ. 75)। चूँकि पाँचवीं शताब्दी तक के जैन आगमों में कृष्ण के बालगोपाल रूप का वर्णन नहीं मिलता, अत: जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' का वैष्णव हरिवंशपुराण से प्रभावित होना सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि जैन आगमों में प्राप्त कृष्ण कथा को पूर्ण रूप देने के प्रयोजन से जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' में कृष्ण के बालगोपाल रूप के घटना प्रसंगों को समाविष्ट कर लिया और यथा अवसर उन्होंने उनका परम्परित जैन अवधारणा के अनुसार संस्कार भी किया।

पुराणपल्लवित कृष्ण कथा के गोपीवल्लभ और राधावल्लभ रूपों को वर्णित करने वाली शृंगारी कृष्ण लीलाओं का

जैन साहित्य में सर्वथा अभाव है। कौरव-पाण्डव के बीच हुए प्रख्यात महाभारत युद्ध के सम्बन्ध में भी ये कृतियाँ प्राय: मौन हैं। गीता के धर्मोपदेशक कृष्ण के व्यक्तित्व का भी इनमें कोई संदर्भ नहीं मिलता। जैन आगमों में यादवों और द्वारावती का विनाश तथा जरा नामक बहेलिये के बाण से कृष्ण की जीवन-लीला की समाप्ति के प्रसंग प्राय: उसी रूप में वर्णित हुए हैं जिस रूप में महाभारत और घटजातक में उल्लिखित हैं। वैष्णव, जैन और बौद्ध परम्पराओं में वर्णित कंस वध, कृष्ण और वासुदेव की एकरूपता, कृष्ण के अद्वितीय शौर्य एवं पराक्रम के प्रसंग प्राय: समान हैं।

समग्रत: जैन परम्परा में कृष्ण कथा का जो रूप अंकित है, वह जनश्रुतियों और अभिप्रायों से मण्डित होते हुए भी वैष्णव परम्परा की अवतारवादी धारणा से परिपुष्ट कृष्ण कथा की तुलना में अधिक तथ्यात्मक एवं लौकिक हैं।

(साभार :- भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण : **सं. प्रो. भगवती प्रसाद सिंह**)

जैन धार्मिक स्थल फतेहपुर सीकरी

आगरा से 32 कि.मी. दूर स्थित फतेहपुर सीकरी कभी अकबर की राजधानी हुआ करती थी। लेकिन प्राचीन भारत में यह जैन धर्म का एक प्रमुख केंद्र था। सन् 1999-2000 के मध्य पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग आगरा द्वारा सीकरी गाँव के छबेली टीले पर खुदाई में 1 हजार वर्ष से पुरानी जैन मूर्तियों तथा मंदिर के प्रमाण मिलते हैं। इन मूर्तियों में भगवान आदिनाथ, ऋषभनाथ, भगवान महावीर तथा जैन यक्षणियाँ सम्मिलित हैं। भानुप्रताप सिंह द्वारा लिखित पुस्तक जैन धर्म का प्रमुख केंद्र था। फतेहपुर सीकरी में इसका निश्चित उल्लेख किया गया है कि अकबर से पूर्व भी यह व्यापार एवं धर्म का प्रमुख केंद्र था।

डॉ. धर्मवीर शर्मा अधीक्षक पुरातत्त्व विभाग आगरा ने भी अपनी खोजों में जैन धर्म के फतेहपुर सीकरी में एक विस्तृत केंद्र के रूप में होने का प्रमाण दिया है। फतेहपुर सीकरी में प्राप्त प्राचीन जैन धर्म की मूर्तियों इत्यादि का संग्रह फतेहपुर सीकरी स्थित पुरातत्त्व कार्यालय में रखा गया है। प्राचीन ग्रंथों में भी फतेहपुर सीकरी के माध्यम से व्यापार होने के प्रमाण मिलते हैं। अत: जैन व्यापारियों द्वारा यहाँ जैन मंदिर की स्थापना भी की गई थी जिसके अवशेष प्राप्त हुये हैं। [जे०पी०श०]

जैन मंगल-चिह्न

मांगलिकता भारतीय जीवन में अविभाज्य अंग रही है और आज भी है। गाँवों-कस्बों से लेकर नगरों-महानगरों तक फैले जनजीवन में मांगलिक भावना भरी हुयी है। सुख, सम्पन्नता, सौभाग्य, शांति, सौन्दर्य और मोक्ष की अभिलाषा इन्हीं मांगलिक भावनाओं के माध्यम से फलीभूत होती है। ऐसी कल्याणी मांगलिक भावना हमारे मन के अन्तस् में गहरे पैठी हुयी है। इसीलिए जब-जब सामाजिक अथवा धार्मिक पर्वोत्सव अथवा अनुष्ठान संपन्न किए जाते हैं, तब-तब हर्ष और उल्लास से हमारे मन पवित्र हो उठते हैं। हमारे मन का यह सात्विक और उल्लास भरा भाव नाना प्रकार के मंगल चिह्नों से पूरा वातावरण निर्मल और शोभायमान हो जाता है। इसीलिए मंदिर में प्रवेश करते ही हमारे मन के विकार दूर हो जाते हैं क्योंकि मंदिर स्वयमेव एक मंगल भवन होता है।

स्पष्टत: मांगलिक भावना के सृजन के लिए ही अनेक मंगल चिह्न रचे गये थे। इनके माध्यम से जनजीवन के लोक-विश्वास और लोकाचार उजागर हुए थे। एकाध उदाहरण- 'सोने के गडुआ गंगाजल पानी', 'आयउ सनमुख दधि अरु मीना', सुरभी सनमुख सिसुहिं पियावा', 'लोवा फिर-फिर दरसु देखावा', आदि। इसके अतिरिक्त चौक पूरना, स्वस्तिवाचन, सतिया बनाना आदि भी इसी कोटि में गिनाए जा सकते हैं। ग्राम्य जीवन से प्रकटे ये मांगलिक चिह्न आगे चलकर ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों के धार्मिक अनुष्ठान में यत्किंचित् रूपभेद अथवा नामभेद के साथ अपना लिए गए थे जो उनकी कला में प्रतिबिम्बित हैं। इन मंगल चिह्नों में प्रमुख हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त,

कलश, वर्धमान, भद्रासन, दर्पण, मीन-मिथुन, चक्र, त्रिरत्न, माला, पद्म, मोदकपात्र आदि-आदि।

भारतीय लोकजीवन में लोकप्रिय इन मंगल चिह्नों में से अपनी आवश्यकतानुसार जैन संप्रदाय ने कतिपय मंगल चिह्नों को अपनाया, उनकी महत्ता प्रतिपादित की तथा उन्हें कला-फलकों में प्रतिष्ठित भी किया। प्राचीन जैन मंगल चिह्न जैन साहित्य और जैन कला दोनों में पाए जाते हैं।

अष्टमंगल चिह्नों के उल्लेख जैन साहित्य में पाए जाते हैं। इन अष्टमंगल चिह्नों से सिद्धायतनों (जैन मंदिरों) के सिरदल अलंकृत किए जाते थे। रायपसेणियसुत्त (सुत्र 15) अभिधानचिन्तामणि, तिलोयपण्णत्ति (अधिकरण 2, गाथा 22-62) तथा त्रिशष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में भी इन मांगलिक चिह्नों के उल्लेख मिलते हैं। इन अष्टमंगल चिह्नों में से कतिपय चिह्नों का महापुरुषलक्षण के रूप में तीर्थंकर प्रतिमाओं के करतल, पदतल तथा वक्ष पर भी उत्कीर्ण किया गया था। उनमें से कुछ तो तीर्थंकर विशेष की पहचान के महत्वपूर्ण लांछन बन गए जैसे नन्द्यावर्त अथवा स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक अथवा श्रीवत्स शीतलनाथ का और मत्स्य अथवा नन्द्यावर्त अरनाथ का लांछन विशेष था।

आचारदिनकर (भाग 2, पृ. 143, श्लोक 4-11) में इन अष्टमंगल चिह्नों का महत्व प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार कलश जिन का बिम्ब है, दर्पण स्वयं का साक्षात् करने के लिए है, जिन के पदों से पवित्र होने के कारण भद्रासन पूजनीय है, जिन (तीर्थंकर) के हृदय के सम्यक्ज्ञान का प्रतिरूप श्रीवत्स है जो उनके वक्ष पर विराजमान है, स्वस्तिक शांति का प्रतीक है, नन्द्यावर्त अपने नौ कोणों के कारण नव निधियों का प्रतीक है तथा मत्स्य-युग्म काम-केतु का चिह्न है जो पराजित होने से तीर्थंकर की सेवा में नियुक्त है।

ये अष्टमंगल चिह्न जैन कला में भी रूपायित हुए हैं। प्राचीन जैन मंगल चिह्न मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त आयागपटों पर खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुफा की भीतरी दीवार पर और गुजरात में जूनागढ़ के निकट बाबा प्यारा मठ की गुहा संख्या 'K' सिरदल पर उकेरे पाए गए हैं। अन्य उदाहरण परवर्ती युग के हैं।

देश भर में जैनधर्म के प्राचीनतम अवशेष ब्रजभूमि में मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं जहाँ एक प्राचीन और एक कुषाणकालीन जैन स्तूपों के साक्ष्य मिले हैं। फ्यूहरर द्वारा सन् 1888 से 1891 ई. के बीच कराये गये पुरातात्त्विक उत्खनन में अनेक चौकोर शिलापट्ट भी मिले थे। इन्हीं पर मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं। अर्हतों की पूजा के लिए (अर्हत् पूजाये) निर्मित एवं स्थापित ये शिलापट्ट (आयागपट्ट) नागार्जुनकोण्ड के बौद्ध 'आयकखम्भ' और नागरी (राजस्थान) की ब्राह्मणधर्मी नारायणवाटिका की 'पूजा-शिला' के समान मात्र पूजा के लिए थे, उनका वास्तुगत कोई उपयोग न था।

कंकाली टीले से प्राप्त इन आयागपट्टों में कुछ पर केवल कपितय मंगल चिह्न उत्कीर्ण हैं और कुछ अन्य पर इन मांगलिक चिह्नों के बीच तीर्थंकर की बैठी प्राथमिक प्रतिमा भी अंकित है।

मथुरा से प्राप्त आयागपट्टों पर उत्कीर्ण विभिन्न मंगल चिह्नों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है-

कलश-आचारदिनकर में कलश को जिन का बिम्ब बताया गया है। वैसे कलश या मंगलकलश या पूर्णकलश मांगलिक और पूर्णता के प्रतीक हैं। पद्मगुच्छ और जल से परिपूर्ण मंगलकलश जैन आयागपट्टों के साथ-साथ बौद्ध छत्रों तथा द्वारवेष्टनियों पर उकेरे अष्टमांगलिक चिह्नों में सम्मिलित हैं। मथुरा से मिले आयागपट्ट सं. जे.249, जे. 250 और जे. 252 पर कलश का मंगल चिह्न उत्कीर्ण हैं।

चक्र - अष्टमंगलों में कोई स्थान न रखते हुए भी जैन कला में चक्र का संपूज्य आकलन पाया जाता है। एक आयागपट्ट के केन्द्र में 16 अरों वाला एक चक्र है। इसको घेरकर तीन और घेरे हैं जिनमें क्रमश: 16 नन्द्यावर्त, 8 दिक्-कुमारियाँ तथा एक महाहार है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस आयागपट्ट को चक्रपट्ट कहा है (जे. 248)। एक अन्य आयागपट्ट पर चक्र के मांगलिक चिह्न को स्तम्भ के शीर्ष पर प्रतिष्ठापित किया गया है (जे.249)। तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकी के बीच में प्राय: धर्मचक्र उत्कीर्ण रहता है और उसके अगल-बगल उपासक एवं सिंहाकृतियाँ होती हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के करतल एवं पदतल पर जो मांगलिक चिह्न उकेरे गए थे, उनमें चक्र का

महत्वपूर्ण स्थान था। ऐसी मान्यता है कि तीर्थंकरों की मूर्ति-निर्माण से पहले मंगल चिह्न के रूप में धर्मचक्र की पूजा की जाती थी। जैन धर्म में यह भी माना जाता है कि तीर्थंकर को 'केवल' ज्ञान प्राप्त हो जाने पर धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है।

सहस्रारं इसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युतिं।
धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरगात्॥

दर्पण-जैन साहित्य में परिगणित अष्टमंगल चिह्नों में सम्मिलित दर्पण चिह्न का अंकन कम से कम आयागपट्टों पर मुझे नहीं दिखायी दिया। बाबा प्यारा मठ की गुहा संख्या 'K' के सिरदल के सभी चिह्न स्पष्ट नहीं हैं। संभव है, उनमें दर्पण को स्थान मिला हो। आयागपट्टों पर दर्पण के अंकन का अभाव निश्चितरूप से हमारे समक्ष एक प्रश्न खड़ा करता है।

नन्द्यावर्त-नन्द्यावर्त श्वेताम्बर परम्परा में अरनाथ का और दिगंबर परंपरा में सुपार्श्वनाथ का लांछन है। नन्द्यावर्त दो प्रकार का अंकित पाया गया है- एक चक्र के ऊपर अर्द्धचक्र तथा दूसरा चक्र के ऊपर त्रिशूल। मथुरा के जैन आयागपट्टों (सं. जे. 248, जे. 249, जे. 250, जे. 252, जे. 253, जे. 6869 तथा 48. 3426) पर बाद वाला स्वरूप ही मिलता है।

जहाँ तक चक्र के ऊपर त्रिशूल की आकृति वाले नन्दिपद अथवा नन्द्यावर्त चिह्न की उत्पत्ति का प्रश्न है, सो इसे भारत में कृषि कर्म के आविर्भाव से जोड़ा जा सकता है। कृषि से धान्य की वृद्धि हुई, घरों में अनाज के भण्डार भरने लगे जिससे जीवन में प्रसन्नता, सुख, कल्याण की भावना जागी। कृषि कर्म का प्रमुख साधन वृष या वृषभ था, इसलिए उसकी महत्ता स्थापित हुयी। संभवत: गोधन और गोमाता की उदात्त अवधारणा भी इसी युग से बनी होगी। अस्तु, जनजीवन की दृष्टि में वृषभ सुख का पर्याय बना, फिर सम्मानित स्थान मिला और अन्तत: वह पूजनीय मान लिया गया। धर्म और पुरुषार्थ का प्रतीक यह वृषभ नन्दि (प्रसन्नता, सुख) प्रदान करने के कारण ही नन्दी कहलाया। पहले सो साक्षात् वृषभ की पूजा की परम्परा पड़ी जो आज भी गोधन-पूजा के रूप में लोक प्रचलित है। बाद में वृषभ की आकृति को मांगलिक माना गया और अन्त में केवल वृषभ-मुख के प्रतीक नन्दिपद अथवा नन्द्यावर्त को मांगलिक चिह्न के रूप में लोकप्रियता मिली।

चम्बल घाटी के शिलाचित्रों में एक चित्रांकन वृषभ के सात मुखों से बनाया गया है। वृषभ का मुख चक्र है, उसके ऊपर अगल-बगल दो सींगों तथा बीच में मस्तक का उठान है और चक्र तथा सींगों के मिलन-बिन्दु से लगी दो पत्तियाँ वृषभ के कान के स्थान पर बना दी गयी हैं।

पुष्पपात्र-पुष्प और माला जैनेतर सूचियों में मांगलिक द्रव्य कहे गए हैं। देवार्चन में पुष्प और पुष्प-मालाओं का उपयोग प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है। जैन अष्टमंगलों में इस चिह्न की गणना भले ही न हो, फिर भी आयागपट्टों पर इसे देखा जा सकता है। इस चिह्न की आकृति से स्पष्ट होता है कि वृक्षों के बड़े पत्तों से बनाए गए दोने में पुष्प अथवा पुष्पमालाओं को रखा दिखाया गया है। सम्भवत: जल और पुष्प सभी संप्रदायों की देवपूजा में अपरिहार्य थे। आयागपट्ट संख्या जे. 252 के निचले किनारे पर एक पंक्ति में जो अष्टमंगल उकेरे गए हैं उनमें तीसरे स्थान पर पुष्पपात्र है। आयागपट्ट संख्या जे.249 पर पुष्पपात्र निचले किनारे पर दूसरे स्थान पर अंकित है।

भद्रासन-भद्रासन अथवा आसन भी तीर्थंकर के बैठने से पवित्र होने के कारण मांगलिक चिह्न की कोटि में आता है। आयागपट्ट जे.249 के ऊपरी तथा निचले किनारे पर चार-चार प्रतीक हैं। ऊपर क्रमश: मीन-मिथुन, भद्रासन, श्रीवत्स और वर्धमान तथा नीचे क्रमश: उलटा नन्द्यावर्त, पुष्पपात्र, भद्रासन और मंगल कलश। इस आयागपट्ट पर

आसन के चिह्न ऊपर और नीचे के चिह्न एक दूसरे से भिन्न हैं। आयागपट्ट जे. 250 पर तथा खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुफा की भीतरी दीवार पर भी भद्रासन का अंकन मिला है।

मत्स्य युग्म-मीन अथवा मीन-मिथुन भारतीय जीवन में युग-युगों में एक प्रतिष्ठित प्रतीक माना जाता रहा है। शोभा, सौभाग्य, आरक्षा एवं सृजन के लिए मीन की महत्ता स्वीकार की गयी है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक हमारे जीवन में मीन के माध्यम से कल्याण की कामना की जाती रही। यहाँ तक कि शाकाहारी लोग भी मीन-मिथुन के मांगलिक स्वरूप में पूर्ण आस्था रखते हैं।

मथुरा के कई आयागपट्टों पर मत्स्य-युग्म का मंगल चिह्न उत्कीर्ण है। एक आयागपट्ट पर एक विशाल स्वस्तिक की चारों गोल भुजाओं के भीतर श्रीवत्स, भद्रासन और लघु स्वस्तिक के साथ मत्स्य-युग्म भी है (जे.250)। दूसरे आयागपट्ट (जे.252) पर बीच में चार त्रिरत्न हैं, ऊपरी छोर पर क्रमश: स्वस्तिक, श्रीवत्स एवं श्रीफल तथा निचले छोर पर श्रीवत्स, स्वस्तिक, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रत्नपात्र एवं भद्रासन के बीच मत्स्य-युग्म भी है। आयागपट्ट संख्या जे. 249 पर भी मीन-मिथुन हैं। कंकाली टीले से ही मिली तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा के पीछे बने नागफणों पर अष्टमांगलिक चिह्न हैं। उनमें मत्स्य-युग्म भी है।

रत्नपात्र - आयागपट्ट संख्या जे. 252 पर निचले किनारे पर छठे स्थान पर जो चिह्न अंकित है, उसकी आकृति वेसनगर से प्राप्त कल्पवृक्ष शीर्ष से लटकते रत्नपात्र जैसी है। यह कौन-सा मंगल चिह्न है, यह अभी कह पाना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिन माता त्रिशला के चतुर्दश स्वप्नों में तथा 24 तीर्थंकरों के लांछनों में भी श्रीवत्स, नन्द्यावर्त और कलश का परिगणन किया गया है।

वर्धमान-वर्धमान को उ.प्रे. शाह ने 'पाउडर फ्लास्क' बताया है। वर्धमान शब्द का अर्थ 'निरन्तर वृद्धि करने वाला' अथवा एक विशेष प्रकार की बनी तश्तरी या पात्र भी होता है। सम्भवत: इसी आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने वर्धमान का अर्थ 'सराव सम्पुट' कहा है। सराव का अर्थ भी मिट्टी का सकोरा (कटोरेनुमा पात्र) होता है। एक सकोरे के ऊपर ढक्कन के समान उलटकर रक्खा दूसरा सकोरा वर्धमान या सराव सम्पुट होता है। आयागपट्ट संख्या जे. 249 पर ऊपरी सिरे पर अन्त में वर्धमान का अंकन उपलब्ध है।

श्रीवत्स-सम्यक् ज्ञान का साकार स्वरूप समझा जाने वाला श्रीवत्स यों तो श्वेताम्बर परम्परा में शीतलनाथ का लांछन माना गया है, परन्तु प्रारंभिक कतिपय मूर्तियों को छोड़कर प्राय: सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों के वक्ष पर इसका अंकन पाया गया है। वस्तुत: श्रीवत्स का यह लांछन ही जैन तीर्थंकर और बुद्ध की मूर्तियों में अन्तर स्पष्ट करता है। श्रीवत्स का अंकन आयागपट्ट सं.जे. 248 जे. 249 जे. 250, जे. 252 तथा जे. 253 पर मिला है।

स्वस्तिक-शांति का प्रतीक माने जाने वाला स्वस्तिक दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरा में सुपार्श्वनाथ का लांछन माना गया है। जैन धर्मावलम्बी स्वस्तिक को 'सिद्धम' के समकक्ष संपूज्य समझते रहे हैं। आयागपट्टों पर स्वस्तिक के विविध रूप दिखायी देते हैं। [ए०एल०श्री०]

जैन रासो ग्रंथ

जैन रास की रचनाओं में रास को 'रासा' या 'रासो' कहा जाता है। जैन रास प्राय: शान्त रसात्मक है; और उनमें कहीं-कहीं वीर रस का भी समावेश है। इनका प्रचार गुजरात, राजस्थान और ब्रजमंडल के जैनियों में था। यह रासो ग्रन्थ तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश अथवा विकसित जूनी गुजराती अथवा मिश्रित राजस्थानी भाषा में रचे गये हैं। दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक शतशत जैन रासो की रचना हुई। प्रथम जैन रास का संकेत देवगुप्ताचार्य विरचित 'नवतत्वप्रकरण' के भाष्यकार अभयदेव सूरि की कृति में दो रासोग्रंथ का विवरण दिया गया है। 'मुकुटसप्तमी' तथा 'माणिक्यप्रस्तारिका' यह 11वीं शती पूर्व की रचना है।

जैनों के उपलब्ध रासो ग्रन्थ में 'उपदेशरसायन' सर्वाधिक प्राचीन है। जम्बूस्वामी चरित में 'अंबादेवी रास' का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंश में अंतरंग रास का उल्लेख है जो अभी तक प्रकाशित पुस्तक के रूप में नहीं आया है। बारहवीं शती तक उपलब्ध रासो ग्रंथ की संख्या एक सहस्र तक पहुँच गई है। तेरहवीं शताब्दी में 'संदेशरासक', 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' तथा 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' प्रमुख हैं। रासो में 'जम्बूस्वामी रास', 'रेवंत गिरि रास', 'आबू रास' ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण है। असिगु कवि ने 'जीवदया रास' में जीवदया का वर्णन किया है। 'बुद्धिरास' में माता-पिता की सेवा, सत्यभाषण का वर्णन है। यह 53 श्लोकों में विरचित है। 'श्रीनेमिनाथ रास' में नेमिनाथ का तेजबल दिखाया गया है। यह 34 श्लोकों का रासो ग्रन्थ है।

14वीं शताब्दी में 'कछूली रास' एवं 'सत्पक्षेत्रि रास' महत्त्वपूर्ण है। अम्बदेव सूरि द्वारा वि.सं. 1371 में 'समरारासो' लिखा गया। 'पंडव चरित' 795 पंक्तियों में महाभारत की कथा है। जयानन्द सूरि का 'क्षेत्रप्रकाश' 1410 ई. के लगभग तथा विजयभद्रसूरि का 'कमलावती रास' 1411 ई. के लगभग के रासो ग्रन्थ हैं। उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण रासो ग्रन्थ हैं-ज्ञानकलश मुनि का 'श्री विनोदय सूरि महाभिषेक रास', 'विजय भद्र का 'हंसराज वच्छराज चउपई (1466)', 'असाइत का 'हंसाउली', 'मेरूनंदनागणी', श्री जिनोदय सूरि कृत 'विवाहलउ' जो 44 कड़ियों में गूँथा गया है। 'हंस शालिभद्र रास' लगभग 1455 ई. में लिखा गया।

उपरोक्त के अतिरिक्त 'सदयवत्सचरित' हीरानंद सूरि का 'विलास पवाहु', 'तेजपाल रास' जैन रासो साहित्य में उल्लेखनीय है। देल्हणि कृत 'गय सुकुमाल रास' के सम्बन्ध में डॉ. दशरथ ओझा का मत है कि यह पुरानी हिन्दी में रचित प्रथम नाटक है। इसी प्रकार डॉ. बसन्त यामदग्नि ने 'समरारासु' में लकुट रास के लक्षण होने की बात कही है। उपर्युक्त समस्त रचनाएँ उपदेशात्मक और जैन धर्म की मान्यताओं पर आधारित हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य धर्म प्रचार है। [शि०श०]

जैरामदास

जैरामदास चरणदास जी के प्रमुख शिष्यों में से थे। इनके बारे में दो प्रकार की मान्यता चरणदासी सम्प्रदाय में है तथा मान्यता के अनुसार इनका मूल स्थान काशी की पंचकोसी परिक्रमा के पड़ने वाले शिवपुर (शाहपुर) नामक गाँव में माना जाता है। ये जाति के ब्राह्मण थे। दूसरी मान्यता का आधार चरणदासी सम्प्रदाय का ग्रंथ 'लीलासागर' है जिसके रचयिता श्री जोगजीत हैं। जिनके सत्संग से प्रेरित होकर चरणदास जी के शिष्य बने थे। जोगजीत के ग्रंथ 'लीलासागर' के अनुसार एक बार जोगजीत जी अपनी शिष्य मंडली के साथ भ्रमण करते हुए खूबडू नामक गाँव पहुँचे। जैरामदास इसी गाँव में अपने परिवार सहित रहते थे। वहाँ रोज जोगजीत जी का प्रवचन होता था, ये रोज उसे सुनने जाते थे। इनके प्रवचन से प्रभावित होकर ये गृह-त्याग के लिए तत्पर हो गये परन्तु परिवारवालों एवं जोगजीत जी ने मना किया लेकिन ये नहीं माने। जैसे ही जोगजीत जी वहाँ से भ्रमण हेतु आगे चले गये। ये चुपचाप घर-परिवार त्याग कर दिल्ली चरणदास जी के पास चले गये। इनके परिवारीजन चरणदास जी के पास दिल्ली पहुँच गये। जब चरणदास जी को इनके बारे में पता चला तब उन्होंने घर लौटकर भजन करने का आदेश दिया।

इन्होंने प्रत्यक्ष तो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, अपितु ये मूत्रत्याग के बहाने आश्रम से बाहर आकर इन्होंने अपना लिंग काट कर सभी लोगों के समक्ष रख दिया। इस प्रकरण से इनके परिवारीजन बहुत दु:खी एवं निराश होकर वापस घर लौट गये। चरणदास जी इस घटना से बड़े प्रभावित हुए उन्होंने जैरामदास का उपचार कराया और स्वस्थ होने पर इनको दीक्षा प्रदान की।

दीक्षा ग्रहण के उपरान्त ये काफी समय तक दिल्ली स्थित आश्रम में रहे। बाद में गुरु ने इनको धर्मप्रचार की आज्ञा दी। इस क्रम में ये सर्वप्रथम अपने गाँव खूबडू गये और वहाँ के लोगों को भक्ति की ओर प्रेरित करने का कार्य किया।

इसके बाद काशी (वाराणसी) जाकर शिवपुर नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित की और सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार में रत हो गये। कुछ लोगों की मान्यता है कि ये उत्तराखंड के काशीपुर में जाकर रहने लगे थे।

कुछ सूत्रों के अनुसार बनारस के वर्तमान में दुर्गा मंदिर के आस-पास इनका आश्रम था जो कि बाद में अवध नवाबों की सम्पत्ति हो गया और अब वहाँ पर आवास-विकास कॉलोनी बन गई है। जैरामदास जी द्वारा रचित साहित्य के विषय में अभी तक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। [क०उ०]

ज्योतिर्मठ, बद्रिकाश्रम

आद्यशंकराचार्य जी के द्वारा द्वितीय पीठ उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठ (श्रीमठ, ज्योतिपीठ) बद्रिकाश्रम, उत्तराखण्ड में स्थापित किया गया। कालक्रमानुसार इसका स्थापना काल 486 बी.सी. माना गया है तथा स्थापना तिथि पुष्य शुद्ध पूर्णिमा है। ज्योति पीठ का संप्रदाय आनंदवार (जीवन में विषय भोग को निरुद्ध करने वाले यति) है।

इस मठ के संन्यासियों तथा आचार्यों के नाम में गिरि (पर्वत तथा वनों में निरंतर वास कर श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करने वाले) पर्वत (पर्वत की तलहटी में निवास, ज्ञान की परिपक्वता के साथ सार-असार वस्तु के भेद का ज्ञान रखने वाले) तथा सागर (तत्व के समुद्र से ज्ञानरूपी रत्न का परिग्रह करने वाले) पद एवं ब्रह्मचारियों के नाम में आनन्द (आनन्द ऐसे तत्वविद ब्रह्मचारियों को कहते हैं जो सदैव ही सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अनन्तसत्ता का ध्यान करते हुये आत्मानन्द में रमण करते हैं) पद होता है। मठ का क्षेत्र बद्रिकाश्रम, देवता श्रीमन्नारायण हैं तथा देवी पूर्णागिरि हैं। वेद अथर्ववेद तथा महावाक्य अयमात्मा ब्रह्म है। यहाँ का गोत्र भृगु है। इसके अनन्तर आने वाले प्रदेश कुरु, काश्मीर, काम्बोज, पांचाल आदि उत्तर दिशा के भाग हैं। ज्योतिर्मठ (ज्योतिष्पीठ) के प्रथम आचार्य तोटक हैं।

भगवद्पाद् शंकराचार्य जी से शिक्षा प्राप्त कर रहे अनेकों शिष्यों में एक शिष्य आनन्दगिरि भी थे। जिनका प्राय: अन्य शिष्य उपहास उड़ाया करते थे। क्योंकि वे बड़े ही विनम्र थे। वे इस कारण से कक्षा में अपने संदेहों के निवारण के लिये अपना मुख तक नहीं खोलते थे। इससे भी उन पर कक्षा में कटाक्ष होते थे, किन्तु वे इस सबसे निश्चिंत रहते थे। वे सद्गुरुदेव द्वारा आदेशित समस्त कार्य परम श्रद्धा तथा लगन से करते थे। अन्य शिष्य उन्हें निम्न श्रेणी का अयोग्य एवं उच्च ज्ञान के लिये अपात्र विद्यार्थी समझते थे। किन्तु शंकराचार्य जी से उनकी सत्यता छिपी नहीं थी। एक दिन जब भाष्यों की कक्षा लगी तो गुरुदेव ने आनंदगिरि को अनुपस्थित पाकर शिक्षण का कार्य प्रारंभ नहीं किया। इस पर अन्य शिष्यों ने कानाफूसी प्रारंभ कर दी क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उस शिष्य के कारण कक्षा में व्यवधान हो। कुछ समय पश्चात् आनन्दगिरि स्वरचित (आठ) श्लोक गाते हुये कक्षा में प्रविष्ट हुये। आनन्दगिरि को श्लोक गाते हुये अन्य शिष्य बड़े आश्चर्य में पड़ गये क्योंकि ये श्लोक शंकराचार्य जी की प्रशंसा में रचित गूढ़ अर्थों से भरे हुये थे। ये तोटक छंद में विरचित थे। अत: आनन्दगिरि का नाम तोटक तथा उनके द्वारा रचित उन आठ श्लोकों का नाम तोटकाष्टकम् रखा गया। वर्तमान में तोटकाष्टकम् का पाठ करना शंकराचार्य जी को अर्पित की जाने वाली पूजा का सर्वोत्तम प्रकार माना जाता है।

ज्योतिष्पीठ में तोटकाचार्य सहित 42 आचार्यों की परम्परा अविच्छिन्न चली आई है परन्तु जगद्गुरु रामकृष्ण तीर्थ के पश्चात् प्राकृतिक प्रकोप, भूकंप आदि तथा योग्य व्यक्तियों के न मिल पाने के कारण लगभग 165 वर्षों तक यह पीठ आचार्य रहित रहा। सन् 1941 में बाल ब्रह्मचारी योगी ब्रह्मानन्दजी महाराज का ज्योतिष्पीठाधीश्वर के रूप में अभिषेक के साथ 165 वर्षों का अभाव दूर हुआ। उनके पश्चात् पीठ पर आचार्यों के अभिषेक की परंपरा पुन: प्रारंभ हो चुकी है। [ग०शं०पा०]

ज्योतिष

ज्योतिष भारत की अत्यन्त प्राचीन परम्परा के रूप में उपलब्ध विज्ञान है, जिसे ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रों के विज्ञान

के रूप में जाना जाता है। वेद के छः अंगों में ज्योतिष को नेत्र कहा गया है। दीप्यमान नक्षत्रों का ज्ञान प्राचीन ऋषियों ने अपनी मेधा से प्राप्त किया। अतः ज्योतिमान्, दीप्यमान या भासमान पदार्थों (नक्षत्रों) से इस ज्ञान का सम्बन्ध ग्रहण कर ज्योतिष नाम पड़ा। श्री पराशर के अनुसार ब्रह्माजी ने वेदों से संग्रहीत कर ज्योतिष शास्त्र का विस्तार किया है-''वेदेभ्यश्च समुद्धृत्य ब्रह्मा प्रोवाच विस्तृतम्'' वेदों का विधान यज्ञों के लिए हुआ। यज्ञों का अनुष्ठान ऋतु, अयन, तिथि, नक्षत्र आदि की शुभता का विचार कर किया जाता है। वेदों के आधार पर प्रत्येक वेद का अलग ज्योतिष बना। ऋग्वेद के लग्ध्वाचार्य द्वारा प्रणीत ज्योतिष की श्लोक संख्या 36 है। इस पर सोमाकर ने भाष्य लिखा है। याजुष ज्योतिष भी आचार्य लगध का है। 'याजुष ज्योतिष' के कर्त्ता शुचि नामक देवज्ञ हैं। 'आथर्व ज्योतिष' के कर्त्ता ब्रह्मा हैं तथा इसका विस्तार 'कश्यप' ऋषि द्वारा हुआ है। सामवेद का ज्योतिष आज तक उपलब्ध नहीं है। ज्योतिष शास्त्र के द्वारा सूर्य आदि ग्रहों एवं सम्वत्सर आदि का ज्ञान होता है। श्रेष्ठ सुमति प्रदायक नक्षत्रों की आराधना श्रेष्ठ बुद्धि के लिए अच्छा माना गया है।

द्वादश राशियों की गणना, 360 दिन का वर्षमान तथा अयन, मलमास, क्षयमास, सौरमास आदि विषयों का विस्तृत ज्ञान भारतीयों को अत्यन्त प्राचीन काल से हुआ था। चन्द्रमा एक नक्षत्र में एक दिन रहता है। दिन और रात के 30 मुहूर्त या 60 नाड़ियाँ मानी जाती हैं। होरा (लग्न) के ज्ञान से जातक के शुभ और अशुभ फल का बोध ज्योतिष के द्वारा बताया जाता है। यह होरा शब्द 'अहोरात्र' के प्रथम पद 'अ' और अन्तिम पद 'त्र' के लोप होने से बना है। अश्विनी, भरणी आदि अट्ठाईस नक्षत्रों की संख्या वेदों में बतायी गयी है।

वराहमिहिर के 'पंचसिद्धान्तिका' नामक ग्रंथ में ज्योतिषशास्त्र के पाँच सिद्धान्त बताये गये हैं—पैतामह सिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त एवं सौर (सूर्य) सिद्धान्त। इनमें रोमक सिद्धान्त ग्रीस देश का और पौलिश सिद्धान्त अलेक्जेन्ड्रिया पौलिश का माना है। सूर्य सिद्धान्त के प्रवर्तक सूर्य नामक आचार्य थे। ग्रंथ का नाम पञ्च सिद्धान्तिका होने से बोध होता है कि 18 अध्यायों में विभक्त और 442 श्लोकों में निबद्ध इस ग्रंथ में पाँच सिद्धान्त दिये गये हैं, तथापि यह एक करण ग्रंथ है। करण ग्रंथ का अर्थ, जिसमें कठिन विषय को सरल ढंग से समझाया गया हो। करण ग्रंथों में ऐसे नियम दिये होते हैं, जिनमें ज्योतिष की गणनाएँ आसानी से हो जाती हैं और उत्तर निकटतम शुद्ध निकले। अतः यह गणित ज्योतिष का ग्रंथ है।

होरा, बीजगणित, रेखागणित एवं फलित इत्यादि शाखाओं का विकास 5वीं शती के पश्चात् हुआ। बृहद्जातक के रचयिता वराहमिहिर, सारावली ग्रंथ के कर्त्ता कल्याण वर्मा छठी शती, 12वीं शती में सिद्धान्तशिरोमणि और मुहूर्तचिन्तामणि के लेखक भास्कराचार्य हैं। इस प्रकार क्रमशः सोलहवीं सदी के बाद शतानन्द, केशवार्क, हेमतिलक, लक्ष्मीदास, विष्णुदैवज्ञ, विश्वनाथ, विट्ठल दीक्षित आदि ज्योतिष के विद्वान हुए। जयपुर, दिल्ली, वाराणसी, उज्जैन और मथुरा में वेधशालाओं का निर्माण कर इस विद्या का विशेष अध्ययन किया गया। 'सामुद्रिक शास्त्र' भी ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन भारत में यह इतना समुन्नत था कि किसी भी स्त्री या पुरुष की जीवनभर की भविष्यवाणी करने वाले सन्त-महात्मा विद्यमान थे। नारदजी भी इसी विद्या के ज्ञाता थे। यह विज्ञान समुद्र ऋषि द्वारा प्रवर्तित हुआ इसलिए इसका नाम 'सामुद्रिक शास्त्र' पड़ा। पुराणों में समुद्र ऋषि के नाम का उल्लेख 'सामुद्रिक शास्त्र' के प्रणेता के रूप में मिलता है।

तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण का एकत्रित रूप पंचांग कहलाता है। पंचांग के नाम से ज्योतिष सम्बन्धी काल-गणना और काल-निर्देश के साथ सूर्य, चंद्र आदि ग्रहों की गति के आधार पर ग्रंथाकार पत्रिका (पंचांग) के रूप में प्रचलन हुआ। फलित ज्योतिष से सम्बन्धित शकुन शास्त्र, निमित्त शास्त्र, स्वप्न शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शास्त्र, लक्षण शास्त्र भी लिखे गये पर ये ग्रंथ प्रामाणिकता की दृष्टि से विद्वद् समाज में स्थान नहीं पा सके।

ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान के विकसित रूप के साथ नये पारिभाषिक शब्दों का गठन होता गया जो इस शास्त्र के

आधार या नियम कहलाये। जैसे स्त्री-पुरुष के जन्म के अनुसार, आद्य, मध्य और अन्त्य नाड़ी निर्धारित होती है। जन्म नक्षत्र के अनुसार जिनकी एक ही नाड़ी होती है, उन स्त्री-पुरुषों के विवाह का निषेध किया गया है। इसी प्रकार अयन, पक्ष, गण, ऋतु, राशि आदि के सम्बन्ध में ज्योतिष के ज्ञान की उपादेयता को देखा जा सकता है।

अयन-दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन का आरम्भ कर्क संक्रान्ति से और उत्तरायण का आरम्भ मकर संक्रान्ति से होता है। दक्षिणायन में सूर्य की गति (अयन) दक्षिण दिशा की ओर तथा उत्तरायण में उत्तर दिशा की ओर होती है।

पक्ष-कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। अमावस्या से पूर्णिमा तक शुक्ल और पूर्णिमा से अमावस्या तक कृष्णपक्ष कहा जाता है।

अमावस्या-आषाढ़ अमावस्या (दीप पूजा), श्रावण अमावस्या (पिठौरी) और भाद्रपद अमावस्या (सर्वपितृ) ज्योतिष शास्त्र में विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

गण-देवगण, मनुष्य गण, राक्षस गण। विवाह सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष के गण का विचार करके ही निर्णय लिया जाता है।

सुमुहूर्त-वर्ष प्रतिपदा, अक्षय तृतीया, विजयादशमी और बलि प्रतिपदा-यह अर्द्ध मुहूर्त माना जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार किसी भी प्रकार के मंगल कार्य का शुभारम्भ करने के लिए ये मुहूर्त पुण्यदायी और अत्यन्त शुभ माने गये हैं।

चातुर्मास्य-आषाढ़ शुक्ल एकादशी से कार्तिक शुक्ल एकादशी तक का काल।

घात चतुष्टय-घात चन्द्र, घात तिथि, घात नक्षत्र और घात वार।

पंचांग-तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण।

पर्वकाल-व्यतीपात, वैधृति, संक्रान्ति, पूर्णिमा और अमावस्या अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा और रवि संक्रान्ति।

ऋतु-वसन्त-चैत्र, वैशाख, ग्रीष्म-ज्येष्ठ, आषाढ़, वर्षा-श्रावण, भाद्रपद, शरद-आश्विन, कार्तिक, हेमन्त-मार्गशीर्ष, पौष, शिशिर-माघ, फाल्गुन।

कपिला षष्ठी योग-भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की षष्ठी तिथि पर मंगलवार, रोहिणी नक्षत्र और व्यतीपात आने पर कपिला षष्ठी नामक शुभ योग माना जाता है। यह योग साठ वर्षों में एक बार आता है।

काल विभाग-वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष और दिन।

ग्रह-सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु। आधुनिक ज्योतिष शास्त्री हर्षल वरुण, नैप्च्यून एवं प्लूटो इन तीन को भी ग्रहों में सम्मिलित करते हैं।

इसी प्रकार शरीर के द्वादश स्थान, सोलह संवत्, साठ संवत्सर एवं 27 नक्षत्रों के विषय में विवेचन के साथ प्रत्येक नक्षत्र का वैदिक स्वरूप, फलित ज्योतिष का प्रयोग, चमत्कारी ज्ञान, प्रश्नज्ञान, रोगों का ज्ञान एवं कृत्यानिवारण, असाध्य रोगों, वैधव्ययोग, मांगलिक दोष, विषकन्या आदि दोषों का निवारण, जन्मांक से उपासना, इष्ट आदि का ज्ञान, लाभ, हानि, ग्रहारम्भ, गृहप्रवेश मुहूर्त एवं वास्तु दोष का निवारण ज्योतिष एवं वैदिक क्रियाओं के द्वारा कराना विहित है। [स०ना०दा०]

ज्ञान

''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति।'' मनुष्य में जानने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। क्योंकि जो दस इन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से युक्त है-स्वाभाविक रूप से प्रश्न करता हैं कि मैं कौन हूँ? जगत क्या है?

जगत को किसने बनाया? चारों ओर बिखरे हुए समस्त तत्व क्या हैं? संक्षेप में कहें तो मनुष्य जीव, जगत और सृष्टिकर्ता ईश्वर - परमात्मा की जानकारी प्राप्त करना चाहता है।

सामान्य ज्ञान-मनुष्य को ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा बाह्य प्रकृति के दर्शन और प्रत्यक्ष ज्ञान को बुद्धि द्वारा मनन-चिंतन आदि से प्राप्त होता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश सम्बन्धी ज्ञान। जीव-जगत-ईश्वर-परमेश्वर का ज्ञान मात्र भौतिक जगत के ज्ञान या जानकारी द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्य जीव-जगत-ईश्वर, आत्मा-परमात्मा की भी जानकारी पाना चाहता है। अनादि काल से दर्शन और विज्ञानवेत्ता इस खोज में निरन्तर लगे हुए हैं। वेद, पुराण, श्रुति आदि इस प्रयास के प्रमाण हैं। समस्त भारतीय दर्शनों का लक्ष्य तत्वानुभूति है और इसी कारण दर्शनों का आधार 'वेद' है। हमारे दर्शन शास्त्रों में जीव, जगत, ईश्वर आदि तत्वों, प्रमाणों एवं प्रतीतियों का विशद वर्णन किया गया है। स्मृति ग्रंथों में कहे गए 'धर्म' अर्थ, काम और मोक्ष-चार पुरुषार्थों का ही विवेचन है। (सर्वदर्शन सार पृ. 24)

ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का आरम्भ कैसे होता है इसका उदाहरण निम्न प्रश्नों में देखा जा सकता है -

''किं तद ब्रह्मम्, किं अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तमम्।।'' गीता में अर्जुन द्वारा यह प्रश्न वास्तव में परम तत्व को जानने की इच्छा से उत्पन्न है। अर्जुन की जिज्ञासा प्रश्नों के रूप में व्यक्त की गई है। अर्जुन के उक्त प्रश्नों के उत्तर श्रीकृष्ण के द्वारा दिए गए उपदेश के रूप में प्राप्त होते हैं। गीता में जिस ज्ञान की बात कही गई है वह आध्यात्मिक ज्ञान है अत: उसे पवित्र माना गया है - ''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धकुरु कालेनात्मनि विन्दति ।।38।।'' गीता, आध्यात्मिक ज्ञान या दिव्य ज्ञान है इसीलिए मानव के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण भी है।

बुद्ध धर्म के अनुसार 'बोद्धि' अथवा ज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है। बुद्ध धर्म भी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके ही निर्वाण, मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश देता है। (सर्वदर्शन सार पृ, 36)

इसी प्रकार निम्बार्क दर्शन में-छान्दोग्य उपनिषद के सूत्र ''सर्व खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीता'' अर्थात सम्पूर्ण जगत निश्चत रूप से ब्रह्म हैं। तज्ज ब्रह्म से उत्पन्न तब्ल ब्रह्म में लीन और तदन ब्रह्म से जीवित है, इस प्रकार शान्त होकर ब्रह्म की उपासना करें (चिंतन करें)।

श्री शंकराचार्य ने भी ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' सूत्र के माध्यम से ही ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ किया है। अत: ज्ञान के लिए प्रेरक तत्व जिज्ञासा है। उन्होंने परमात्मा को ब्रह्म के रूप में जानने की इच्छा व्यक्त की है।

अब प्रश्न यह है कि जानने की इच्छा या जिज्ञासा द्वारा जिज्ञासु क्या जानना चाहता है। जैसा कि अर्जुन के प्रश्नों के प्रसंग में पहले कहा जा चुका है कि ''किं तदब्रह्म किं अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम्।।'' आदि विषय या तत्वों की तत्वत: जानकारी पाना जिज्ञासु का लक्ष्य है। इस लक्ष्य का भी परम लाभ है मोक्ष। अब प्रश्न यह उठता है कि इन प्रश्नों का उत्तर पाने का अधिकारी कौन है? ज्ञान पाने का साधन क्या है? ज्ञानदाता कौन है और ज्ञान-प्राप्ति का फल क्या है।

मनुष्य (जीव) दस इन्द्रियों, मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार से युक्त है अत: वह विद्या और बुद्धि तथा विवेक द्वारा जीव आत्मा-परमात्मा (ब्रह्म) या खुदा, या गॉड आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसकी बुद्धि और विवेक जीव, जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ही नहीं आत्मसाक्षात्कार भी करवा सकती है। किन्तु इसके लिए श्री भगवत गीता में स्पष्ट निर्देश है। इन निर्देशों में यम-नियमों का पालन शुचितापूर्वक करना होता है। साथ ही मनन चिंतन आदि का भी अभ्यास आवश्यक है। उस पर प्रभु की परम कृपा भी वांछनीय होती है।

इन शारीरिक-मानसिक तपश्चर्या के साथ ही जीव को समर्थ ज्ञानयुक्त गुरु की भी आवश्यकता होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को जब पूरी तरह से ज्ञान पाने के लिए उपयुक्त पाया तभी उसे परम सत्य का ज्ञान दिया था। वर्तमान में संत ज्ञानेश्वर, स्वामी सदानंद जी परमहंस ने हम सबकी वास्तविकता और जीव से भी पहले शरीर जीव-आत्मा-ईश्वर-परमेश्वर का ज्ञान भक्तों को देने की घोषणा की है। अभी तक हम केवल जीव-आत्मा और ईश्वर

की चर्चा कर रहे थे। किन्तु संत ज्ञानेश्वर के द्वारा तत्वज्ञान का ज्ञान दान में शरीर-जीव-आत्मा-ईश्वर और परमात्मा का साक्षात् दर्शन करवाया गया है। इसी के फलस्वरूप यश, कीर्ति, मुक्ति और अमरता प्राप्त की जा सकती है।

श्री अरविन्द दर्शन के अनुसार ''वास्तविक सत्य तत्व ब्रह्म ही है। वह दिव्य, नित्य, पूर्ण, अनन्त, निर्गुण, अनिर्वचनीय, स्वतन्त्र, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। हम सबके भीतर विराजमान प्रत्येक चैतन्य से अभिन्न होने के कारण हमारे अनुभव का विषय है। अत: जीव, जगत, ब्रह्म तीनों ही सत्य हैं। ब्रह्म का सत् स्वरूप आत्मा, पुरुष एवं ईश्वर के रूप में अपनी अनन्त अभिव्यक्तियों का अर्थात अनेकता का स्रोत है क्योंकि उनके अंतर्गत रूप से विद्यमान है तथा उनकी एकता स्वरूप के साथ तादात्म्य है। ब्रह्म का चित् स्वरूप - माया, शक्ति एवं प्रकृति के रूप में जगत का स्रष्टा और नियन्ता है। ब्रह्म का आनंद स्वरूप सकल अभिव्यक्ति के आधार के रूप में दिखता है।

''तस्यमात्रामुप जीवन्ति'' (वृह 4, 3, 32)

इस आनन्द का जीव मात्र बूँद भर कर पाता है। (पृ, 216, 217) गोस्वामी तुलसीदास जी ने ज्ञान को अखण्ड माना है (सर्वदर्शन सार पृ, 216, 217) वह परमात्मा श्री राम है तो 'सहज प्रकाश रूप भगवान' हैं।

ब्रह्म ज्ञान, अध्यात्म ज्ञान, दिव्य ज्ञान, परमात्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में गीता में अर्जुन को परमज्ञान का उपदेश देते हुए स्पष्ट रूप से उसके गुण-कर्म बताए गए हैं। गीता, अध्याय 5 में कई श्लोकों में जैसे श्लोक 7, 8, 9, 10 और 11 आदि भक्ति भाव से, सेवा-भक्ति के फल की कामना के रहित कर्म करता हुआ अपने समस्त कार्यकलापों को शुद्ध मन से भगवान को समर्पित करता हुआ कर्म करता है जो अकर्म बन जाता है-ईश्वर या भगवान की कृपा का पात्र बन जाता है और तब उसे भगवान अपने विराट रूप का साक्षात्कार करवाते हैं।

ज्ञानी भक्त-गीता और रामायण जैसे धर्मग्रंथों में ज्ञानी भक्त की अपार महिमा का वर्णन मिलता है। श्रीमद्भगवत गीता में-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियरू ।।17।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी तथ्य को रामचरित मानस में श्री रामचन्द्र जी के मुख से कहलवाया-''ज्ञानी भक्त मुझे अति ही पियारा।''

ज्ञान का उद्देश्य परमतत्व की तत्वत: जानकारी प्राप्त करना है अत: ज्ञान योग का मार्ग अपनाना श्रेयष्कर होगा। गीता उद्बोधन पुस्तक पृष्ठ 71 पर ज्ञान योग के विषय में कहा गया है कि ''कर्म की चरम अवस्था ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त होते ही कर्म समाप्त हो जाते हैं। सभी कर्म अकर्म बन जाते हैं। ज्ञानी पुरुषों के सभी कर्म सहज हो जाते हैं और इन दिव्य पुरुषों के प्रभाव से समाज में सहज रूप से व्यवस्था आने लगती है। (हरि सिंह भण्डारी)

श्री भगवत गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ बताया है-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञरू परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।33।।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ज्ञान मोक्ष का द्वार खोलता है। ज्ञान द्वारा बौद्धि (ज्ञान) और निर्वाण (निब्बान), जैनी कैवल्यज्ञान, दार्शनिक ब्रह्मज्ञान, वैष्णवभक्त परमात्मा और परमात्मा के परमधाम में स्थान, स्वामी सदानंद जी के अनुसार मुक्ति-अमरता प्राप्त कर सकता है। [पु०श्री०]

ठ, ड

ठंडीराम

ठंडीराम श्री चरणदास के शिष्य थे। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके बारे में कहा है कि ये बड़े ज्ञानी, गुरु की आज्ञा पालन करने वाले, मन-कर्म-वचन से गुरु को प्रिय तथा तर्क एवं अभिमान से शून्य थे। इस ग्रंथ में ही बताया गया है कि ये जिला मेरठ में खरखोदा के निकट असौदा के निवासी थे। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनका परलोकवास सं. 1870 में हुआ था।

ठंडीराम जी ने तीन स्थानों पर अपनी गद्दियाँ स्थापित की थीं। ये स्थान असौदा, खरखोदा तथा अजराड़ा हैं। इनकी मृत्यु अजराड़ा में हुई थी। इनकी रचनाओं के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका केवल एक पद प्राप्त हुआ है। [क०उ०]

ठाकुरदास

ठाकुरदास श्री चरणदास जी की शिष्य परंपरा में बिहारीदास जी के शिष्य थे। ये घूमते-घामते ककरोई गाँव पहुँचे वहाँ पर इनकी भेंट बिहारीदास जी से हुई। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—संत चरणदास-रामरूप-रामकृपाल-बिहारीदास- ठाकुरदास। इनका जन्म स्थान लुकसर था। ये बड़े ही सिद्ध महात्मा थे। ये जाति के ब्राह्मण थे।

ये प्रेमाभक्ति के रसिक संत थे, साथ ही योगी भी थे। इन्होंने लुकसर गाँव में श्रीकृष्ण का मंदिर बनवाया था। एक बार बाहर के गाँव से कुछ लोग लुकसर आए। रात्रि में वे सब मंदिर में ठहरे। भोर होने पर लोगों ने देखा कि उनमें से एक व्यक्ति मर गया है। बाबा ठाकुरदास भी एक व्यक्ति की मृत्यु की खबर सुनकर वहाँ आये और पैरों से उसे ठोकर मारकर कहा "उठ क्यों संतों को परेशान करता है?" तत्काल ही वह व्यक्ति उठ गया और उनके चरणों में गिर पड़ा।

ऐसा कहते हैं कि उन्हें सदा श्रीकृष्ण के दर्शन होते थे। ठाकुरदास जी जब प्रसाद पाने बैठते तो कभी रोने लगते, कभी हँसने लगते। शिष्यों के बारम्बार पूछने पर इन्होंने बताया कि जब मैं भोजन करने लगता हूँ तब गोपाल जी मेरे साथ भोजन करने लगते हैं। मैं हँसता हूँ यह सोचकर कि ईश्वर का मेरे प्रति कितना प्रेम और वात्सल्य है और यह सोचकर रोता हूँ कि मैं कितना बड़ा पापी हूँ जो अखिल विश्व के नायक को परेशान करता हूँ। 'नवसंत माल' में श्री रूपमाधुरी शरण ने इनका विस्तृत जीवन परिचय दिया है। इनका परलोक वास आश्विन कृष्ण द्वादशी, सं. 1930 वि. में लुकसर में हुआ था। [क०उ०]

डंडौतीराम

डंडौतीराम जी एक त्यागी और तपस्वी महात्मा थे। इनके नाम के बारे में बताया जाता है कि इन्होंने अनेक बार अनेक तीर्थों की दंडवती यात्रा की थी अत: इनका नाम डंडौतीराम पड़ गया। यह संप्रदाय के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण आचार्य थे। इनका महत्व इसी बात से प्रकट होता है कि चरणदास जी ने इन्हें अपने जन्मस्थान डहरा तथा ननिहाल बहादुरपुर जहाँ चरणदास जी का अधिकांश बचपन बीता था का महंत बनाया था। इनके आरंभिक जीवन के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके बारे में लिखा है, उसके अनुसार ये संभवत: मेरठ या मुजफ्फरनगर जिले में किसी स्थान के मूल निवासी थे। ये संपन्न गृहस्थ थे। इनके घर में ब्याज पर धन देने का व्यापार था। एक बार इनके मन में वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ और इन्होंने घर-गृहस्थी तथा व्यापार का परित्याग कर दिया। अपने ऊपर जो ऋण था उसे चुका दिया तथा जिन पर इनका ऋण था उन सभी के ऋण माफ कर दिये और सारे बही-खाते जला दिये। उसके पश्चात घर-बार छोड़कर चरणदासजी आश्रम में जाकर शिष्य बन गये। कुछ दिनों बाद गुरु से तीर्थयात्रा का आदेश लेकर चल पड़े और साष्टांग दंडवत करते हुए अनेक तीर्थों की यात्रा की। यात्रा में पड़ाव पर वे ज्ञानोपदेश करते थे। इस प्रकार अनेक लोगों को इन्होंने शिष्य बनाया। तीर्थयात्रा से लौटकर गुरु के आदेश से डहरा में कठोर तप में लीन हो गये, वहाँ एक गुफा में बैठकर योग और समाधि को सिद्ध किया। संवत् 1870 वि. के आस-पास डहरा से जयपुर दंडवत करते हुए गोविंद देव का दर्शन किया और वहीं अखेराम के आश्रम में देहत्याग किया। उनकी छतरी और समाधि डहरा में बनी हुई है।

इनका साहित्य उपलब्ध नहीं, बड़ी खोजबीन के बाद केवल एक पद ही प्राप्त हो पाया है। यह पद चरणदास जी के जन्म की बधाई से संबंधित है। [क०उ०]

डीग के जैन धार्मिक स्थल

श्रीचंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मंदिर-यह मंदिर कामां दरवाजे पर स्थित है। यह तीन चौक का मंदिर है, द्वितीय चौक से जगमोहन में जब प्रवेश करते हैं तो विशालकाय मेहराबदार गेट है। यह पुरानी कलाकृति को अपने में सँजोए हुए है। इस मंदिर में 500 साल पुरानी भगवान चंद्रप्रभु, पार्श्वनाथ, सुमतिनाथ, नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों की दो दर्जन प्रतिमाएँ हैं। ये सब स्वर्ण मंडित भव्य वेदियों में विराजमान हैं। कहते हैं कि यह मंदिर दीवान चेतनदास जी के बड़े भाई ने बनवाया था। निर्माण के समय यहाँ लगभग 150 खंडेलवाल दिगम्बर जैन समाज के परिवार (शराबगी) रहते थे किन्तु समय के ढलते हुए अधिकतर परिवार दिल्ली, जयपुर, आगरा, अलवर आदि स्थानों को पलायन कर गए हैं। मंदिर में महावीर जयन्ती महोत्सव, दशलक्षण पर्व, सुगंध दशमी आदि महोत्सव मनाए जाते हैं।

श्रीचंद्रप्रभु दिगम्बर जैन मंदिर, मुजेरे वाली गली-इस मंदिर का क्षेत्रफल डीग के सब मंदिरों से विशालकाय है। यह मंदिर दीवान चेतनदास जी ने लगभग 250-300 वर्ष पहले बनवाया था। इस मंदिर का भव्य गेट है। सीधे हाथ पर विशालकाय रथखाना, तीन बड़े हॉल, गर्भगृह से पूर्व विशाल संगमरमर का द्वार व चौक है। अंदर गर्भगृह में तीन वेदियाँ स्वर्ण चित्रकारी से जड़ित हैं। मुख्य वेदी पर भगवान चंद्रप्रभु की आकर्षक व चमत्कारी प्रतिमा है। अभिनंदन नाथ व शांतिनाथ की भी आकर्षक प्रतिमाएँ हैं। इस मंदिर में ज्यादातर समस्त डीग जैन समाज के उत्सव होते रहते हैं जिनमें महावीर जयंती, दशलक्षण पर्व, क्षमावाणी पर्व आदि बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं।

श्रीपार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर-यह प्राचीन मंदिर हन्डावालों के नाम से प्रसिद्ध है। इस मंदिर का परिसर 50 फीट चौड़ा तथा 60 फीट चौड़ाई में बना है। इसमें पहले रोशनी के हन्डे लगे हुए थे अत: इसे हन्डेवाला मंदिर भी कहते थे। यहाँ महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ भगवान, शांतिनाथ आदि की प्रतिमाएँ लगभग 300 साल पुरानी हैं। इसके सामने एक धर्मशाला जैन समाज की है।

चौथा मंदिर तेरापंथी श्वेताम्बर आमना का है जो कटरा पुरानी डीग में स्थित है। यहाँ सेवा-पूजा तेरापंथी आमना से होती है। इस आमना के सीमित परिवार हैं। [गो०प्र०मु०]

डीग के मुस्लिम धार्मिक स्थल

डीग में आजादी से पूर्व कई मस्जिदें थीं। सन् 1947 के बाद विशाल कत्लेआम हुआ अत: उसी के साथ यहाँ

मस्जिदें तोड़ दी गईं। आजादी के बाद डीग में दो मस्जिदें नई उभरकर आई हैं।

जामा मस्जिद (डीग)-जामा मस्जिद पर सलीम खान रहता है। उसके बाप का नाम गनी खान था। सलीम खान के बाबा नन्नू भिश्ती महलों में राजा के यहाँ पानी भरता और छिड़काव करता। यह जामा मस्जिद डीग के बेताल मोहल्ले में स्थित है। इसी के एक भाग में गृहस्थ रहता है। इसी के एक भाग में नमाज पढ़ी जाती है।

मिसरीवाली मस्जिद (डीग)-डीग बस्ती के बाहर एक मस्जिद मिसरीवाली मस्जिद है। यह 5 बीघा जमीन में स्थित है। इसमें एक व्यक्ति नूर मोहम्मद रहता है। यह पहले जाटव था। धर्म बदलकर यहाँ जंगल में अकेला रहता है। उसने बताया कि यहाँ मजार है। मादलसा दरगाह है। मादलसा फकीर और पास में पीतमदास के आश्रम दोनों के समकालीन माने जाते हैं। [गो०प्र०मु०]

डीग के सिक्ख धार्मिक स्थल

राजस्थान का पूर्वी सिंहद्वार डीग है। इसके उत्तर में सौखर मोहल्ला स्थित है। आजादी के बाद अब ये पंजाबी समाज का स्थल है। इस समाज का एक धार्मिक स्थल श्री गुरुद्वारा साहिब यहाँ विद्यमान हैं। यह मोहल्ला पाकिस्तान से बेदखल लोगों का पौरुष स्थल है। ये सभी आजादी के बाद यहाँ आकर बसे।

सन् 1960 के दशक में यहाँ के पंजाबी समाज ने गुरुद्वारा साहिब भवन का निर्माण किया। प्रारंभ में एक छोटा-सा हॉल था किन्तु पंजाबी समाज सेवा समिति के सशक्त प्रयास से इस भवन का विस्तार किया गया। अब इसमें पुराने कमरों को हटाकर एक बड़ा हॉल निर्माण किया गया है व परम्परा अनुसार श्री गुरुग्रंथ साहिब के रात्रि विश्राम हेतु 'सुखासन' के लिए एक कमरा तैयार किया है। कुल मिलाकर हॉल की विशालता व भव्यता दर्शनीय है।

[गो०प्र०मु०]

डीग के हिन्दू धार्मिक स्थल

पीतमदास मंदिर (डीग)-जनश्रुति के आधार पर प्रात:स्मरणीय महाराज श्री पीतमदास सिद्ध पुरुष हुए जिनके संदर्भ में अनेक किंवदन्तियाँ दूर-दूर तक फैली हैं। डीग में उनके नाम पर 3 मंदिर विद्यमान हैं। पीतमदास आश्रम कामां दरवाजे डीग जंगल में स्थित है। सात बीघे जमीन को उड़िया बाबा ने सरसब्ज कर रखा है। उड़िया बाबा सन् 1960 में बैकुंठनाथ उड़िया वृन्दावन से दीक्षित हुए। डीग के इस आश्रम पर साधु-संतों को आश्रय देते हैं। परिसर में हनुमान जी व परशुराम जी के मंदिर हैं। भादों की अमावस्या को यहाँ गोरे दाऊजी का मेला लगता है। वनयात्रा के मेले पर यहाँ काठिया बाबा का मेला लगता है।

लक्ष्मण मंदिर (डीग)-'डीग' कस्बे का पौराणिक नाम दीर्घपुरी है। भाषा विज्ञान के नियम के अनुसार 'दीर्घपुरी' घिसकर 'दीर्घ' रह गया। तत्पश्चात् लाघव और मुखसुख प्रयास से 'दीर्घ', 'दीग' हो गया। अंग्रेजों के काल में 'दीग' को 'डीग' कहा जाने लगा क्योंकि अंग्रेज 'दीग' नहीं बोल पाते थे।

डीग एक कस्बा है। यह भरतपुर राज्य की राजधानी रहा है। इसकी बसावट जयपुर शहर के आधार पर है। जयपुर में चौपड़ और चौड़ी सड़कें हैं। डीग में भी चौड़ी सड़कें हैं। चौराहे पर श्रीलक्ष्मण जी का मंदिर विद्यमान है। एक विशेष बात भरतपुर राज्य के बारे में प्रसिद्ध है। भरतपुर राज्य की स्थापना भरत के नाम पर हुई। भरतपुर शक्ति का उपासक रहा। लक्ष्मण जी शक्ति के अवतार हैं अत: लक्ष्मण जी के मंदिर बने। 3 मंदिर भरतपुर में और 3 मंदिर डीग में हैं। जहाँ लक्ष्मणजी की पूजा होती है।

डीग का लक्ष्मण जी का विशाल मंदिर डीग के मध्य में स्थित है। यह कस्बे का हृदयद्वार है। इतिहास प्रसिद्ध है कि भरतपुर के महान तेजस्वी राजा सूरजमल ने जलमहल, किला और उद्यान बनवाए। इन्हीं के साथ लक्ष्मणजी का

विशाल मंदिर बनवाया गया। लक्ष्मणजी का मंदिर दक्षिण भारत की स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना है। इसकी संरचना वैज्ञानिक है। एक मंजिल की कुरसी पर पूर्व की ओर मुख किए हुए है। इतिहास में इस मंदिर को उषा मंदिर के नाम से भी जाना जाता है। मंदिर के मुख्यद्वार पर बारहद्वारी भी अनूठी है। गर्भगृह के ऊपर निर्मित गुम्बद पर उकेरी गई देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अत्यधिक कलात्मक हैं। गुम्बद पर सूर्य, वानर, कलश, सिंह की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। मंदिर परिसर के फर्श पर 24 अवतार चित्रित हैं। ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा करने वाले डीग में इस मंदिर में अवश्य आते हैं। [गो०प्र०मु०]

डोल उत्सव

फूलों के डोले में बैठाकर ठाकुरजी को झूला झुलाना तथा अबीर-गुलाल छिड़कना। इस उत्सव का आयोजन बसन्त ऋतु के अन्तर्गत फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष को किया जाता है। ब्रज के विभिन्न वैष्णव देवालयों की लिखित परम्परा अर्थात् पाण्डुलिपियों में इस उत्सव को केन्द्रित कर विपुल साहित्य लिखा गया है।

डोल चंदन कौ झूलत हलधर वीर।
गोपी रहीं अरगजा छिरकत उड़त गुलाल अबीर॥

(परमानन्द दास के पद क्र० 725)

[प्र०श०]

डोलोत्सव

चैत्र के प्रथम पखवाड़े में मथुरा-वृन्दावन के मंदिरों में फूलडोल होते हैं। उनमें देव-मूर्तियों का फूलों से श्रृंगार किया जाता है और मंदिरों में फूल बंगले बनाये जाते हैं। फूलडोलों की धार्मिक परंपरा के कारण ही ब्रज की पुष्प-श्रृंगार कला अभी तक जीवित है। ये उत्सव ब्रज के बगीची-अखाड़ों में भी मनाये जाते हैं। इस अवसर पर बगीची-अखाड़ों की मरम्मत, सफेदी एवं सफाई आदि कार्य किया जाता है और चित्रकारी से उन्हें सजाया जाता है। वहाँ की सजावट में स्थानीय विद्वानों, कवियों, पहलवानों, कलाकारों के दुर्लभ चित्र लगाये जाते हैं तथा झाड़, फानूस, दर्पण, चित्र, पिछवाही आदि प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है। इसके साथ ही साथ गायन-वादन के सरस कार्यक्रम भी होते हैं, जो प्राय: रातभर चलते हैं। ब्रज के सभी वैष्णव सम्प्रदायों में भी इस मनोरथ का अपना महत्व है। वल्लभकुल में अष्टछाप के रचनाकार चतुर्भुजदास का उदाहरण दृष्टव्य है—

फूलन की मंडली मनोहर बैठे जहाँ रसिक पिय-प्यारी।
फूलन के बागे और भूषन, फूलन ही की पाग सँभारी॥
ढिंग फूली वृषभानुनंदिनी, तैसिय फूल रही उजियारी।
फूलन के झूमका-झरोखा, बहु फूलन की रची अटारी॥
फूले सखा चकोर निहारत, बीच चन्द मिल किरन पसारी।
'चतुर्भुजदास सब मुदित सहचरी, फूले लाल गोवर्धन धारी॥

इस दिन ब्रज के मंदिरों में गुलाब डोल सजाये जाते हैं। इन गुलाबों से निर्मित डोलों में श्रीयुगल (राधा-कृष्ण) रात्रि के समय झूला झूलते हैं। इस अवसर पर समाज गायन होता है।

होलिका-दहन के दूसरे दिन सायंकाल के समय भगवान को हिंडोले में विराजमान कर उनका पूजन करके झुलाया

जाता है और आरती करके यथास्थान विराजमान करते हैं। इस उत्सव को डोलोत्सव या डोलयात्रा कहते हैं। मान्यता है डोल स्थित कृष्ण के दर्शन से सकल पाप नष्ट हो जाते हैं। स्कन्धपुराण में डोलोत्सव के संबंध में कहा गया है कि इस उत्सव में गोविन्द स्वयं जनगण के आमोद-प्रमोद के लिये क्रीड़ारत होते हैं। सोलह स्तम्भों वाला वेदिकायुक्त मंडप इस समय बनाया जाता है। वेदी पर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्रतिमा स्थापित की जाती है। इन्हें विविध भाव से पूजा जाता है। तूर्यनाद, शंख ध्वनि, जय शब्द, स्तोत्र पाठ, ध्वज पताका, चँवर और व्यंजन आदि तरह-तरह के उपकरणों से सम्पन्न महोत्सव होता है। श्री गोविन्द को हिंडोले में स्थित कर झुलाया जाता है। [प्र०श०]

त, थ

तत्त्वदीपनिबन्ध

'तत्त्वदीपनिबन्ध' वल्लभाचार्य जी का स्वतन्त्र ग्रंथ है। यह 'निबन्ध' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का बड़ा ही विशद और विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रंथ तीन भागों में बँटा है, जिनमें श्लोकों के माध्यम से विषय विवेचन किया गया है। पहले भाग का नाम 'शास्त्रार्थ-प्रकरण' या 'प्रमेय प्रकरण' है। इस प्रकरण में शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। दूसरे भाग का नाम 'सर्वनिर्णय-प्रकरण' है। इसमें पूर्वपक्षियों का निरसन किया गया है। भक्ति, ज्ञान, सांख्य, योग आदि के प्रामाण्य का भी विवेचन किया गया है। पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग तथा ज्ञानमार्ग के स्वरूप और उनकी आचार-पद्धतियों पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। तीसरे भाग का नाम 'भागवतार्थ-प्रकरण' है। इसमें भागवत के प्रत्येक स्कन्ध के वर्ण्यविषय का सार प्रस्तुत किया गया है।

'तत्त्वदीपनिबन्ध' की कारिकाओं पर स्वयं वल्लभाचार्य ने 'प्रकाश' नामक टीका की रचना की है। इस ग्रंथ पर पुरुषोत्तम की 'आवरणभंग' नाम की बहुत सुन्दर टीका भी उपलब्ध है। [क०उ०]

तत्त्ववेत्ताचार्य

श्री परशुराम देवाचार्य जी के प्रतापी शिष्यों में श्री तत्त्ववेत्ताचार्य जी अग्रणी हैं। इनका जन्म वि.सं. 1550 के आसपास जोधपुर के सन्निकट स्थित फूलमाल ग्राम में हुआ। इनके पिता श्रीभूदेव जी दाधीचि ब्राह्मण थे। निंबार्क सम्प्रदाय के सिद्ध कवि संतों में इनका उल्लेखनीय स्थान है। 'श्रीतत्त्ववेत्ताचार्य जी की वाणी' के नाम से ही इनकी रचनाएँ संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त इनके कुछ कवित्त 'निंबार्क माधुरी' में भी दृष्टव्य हैं।

पुष्कर‌राज में श्रीपरशुराम देवाचार्य जी से दीक्षित होने के बाद आचार्य श्री ने तीर्थाटन करते हुए कुछ समय वृन्दावन धाम में प्रवास किया। इसके बाद सद्‌गुरु चरणों के सान्निध्य में जन्मभूमि के निकट जैतारण में ही रहे। जोधपुर के महाराजा उदयसिंह की आप में अनन्य निष्ठा थी। अद्यावधि सभी उदावत ठाकुर (क्षत्रिय) गोपालद्वारे के ही अनुगत शिष्य होते हैं। गोपालद्वारे की स्थापना तत्त्ववेत्ताचार्य जी ने माघ शुक्ल 15 वि.सं. 1666 को की थी। इसके साथ ही राजस्थान के जयपुर आदि विभिन्न स्थानों पर आचार्यश्री के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा स्थान बनाकर निंबार्क सम्प्रदाय का प्रचार किया गया।

जीव हिंसा के कारण इन्हें कृषि कार्य से घृणा हो गई। यद्यपि इनके बचपन का नाम टीकमदास था किन्तु इनकी आत्मापुलब्धि इतनी प्रबल थी कि सर्वदा 'आत्मवत सर्वभूतेषु' की भावना से युक्त रहते थे। सर्वत्र सर्वव्यापी ईश्वर की ही उपलब्धि करते रहते थे। टीकमदास जी ने इन्हें 'तत्त्ववेत्ता' के नाम से संबोधन करना शुरू कर दिया। फलतः 'तत्त्ववेत्ताचार्य' के नाम से ही ये जगत में प्रसिद्ध हो गए। वि.सं. 1670 में आचार्यश्री ने इस नश्वर जगत का त्याग कर राधासर्वेश्वर की नित्य लीला विलास में प्रवेश किया। तत्त्ववेत्ताचार्य जी की समाधि गोपालद्वारा में ही स्थित है। [कुं०बि०श०]

तर्पण

मनुस्मृति में 'तर्पण' को पितृ यज्ञ बताया गया है। सुख-संतोष में वृद्धि हेतु तथा स्वर्गस्थ आत्माओं की तृप्ति के

लिए 'तर्पण' किया जाता है। तर्पण का अर्थ पितरों का आवाहन, सम्मान तथा क्षुधा मिटाने से ही है। इसे ग्रहण करने के लिए पितर अपनी सन्तानों के द्वार पर पितृ पक्ष में आस लगाये खड़े रहते हैं। तर्पण में पूर्वजों को अर्पण किये जाने वाले जल में दूध, जौ, चावल, तिल, चन्दन, फूल मिलाये जाते हैं। कुशाओं के सहारे जल की छोटी-सी अंजली मंत्रोच्चारपूर्वक डालने मात्र से वे तृप्त हो जाते हैं, तो तर्पण का उद्देश्य पूरा होकर पितरों को तृप्ति मिलती है।

तर्पण में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि पितृ तर्पण उसी तिथि को किया जाता है जिस तिथि को पूर्वजों का परलोक गमन हुआ हो। जिन्हें पूर्वजों की तिथि याद न रही हो, वे आश्विन कृष्ण अमावस्या को अर्थात् सर्वपितृ मोक्ष अमावस्या को यह कार्य कर सकते हैं, ताकि पितरों को मोक्ष मार्ग दिखाया जा सके। लोगों में यह मान्यता प्रचलित है कि जब तक मृत आत्माओं के नाम पर वंशजों द्वारा तर्पण नहीं किया जाता, तब तक उनकी आत्माओं को शान्ति नहीं मिलती। वह इधर-उधर भटकती रहती हैं।

हमारी श्राद्ध प्रक्रिया में जो 6 तर्पण कृत्य यथा-देव तर्पण, ऋषि तर्पण, दिव्यमानव तर्पण, दिव्यपितृ तर्पण, यम तर्पण और मनुष्य पितृ तर्पण के नाम से किये जाते हैं। इनके पीछे भिन्न-भिन्न दार्शनिक पक्ष बताए गये हैं।

देव तर्पण-जल, वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्र, विद्युत एवं अवतारी ईश्वर अंशों की मुक्त आत्माएँ आती हैं, जो मानव कल्याण हेतु निःस्वार्थ भाव से प्रयत्नरत हैं।

ऋषि तर्पण-नारद, चरक, व्यास, दधीचि, सुश्रुत, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, अत्रि, कात्यायन, पाणिनी आदि ऋषियों के प्रति श्रद्धा आती है।

दिव्यमानव तर्पण-इसके अन्तर्गत जिन्होंने लोकमंगल के लिए त्याग-बलिदान किया है, जैसे-पाण्डव, राजा हरिश्चन्द्र, राजा जनक, शिवि, महाराणा प्रताप, शिवाजी, भामाशाह, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक आदि महापुरुषों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति की जाती है।

दिव्य पितृ तर्पण-जो अनुकरणीय परम्परा एवं पवित्र प्रतिष्ठा की सम्पत्ति छोड़ गये हैं, उनके प्रति कृतज्ञता हेतु तर्पण किया जाता है।

यम तर्पण-जन्म-मरण की व्यवस्था करने वाली शक्ति के प्रति और मृत्यु का बोध बना रहे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तर्पण करते हैं।

मनुष्य पितृ तर्पण- इसके अन्तर्गत परिवार से सम्बन्धित सभी परिजन, निकट सम्बन्धी, गुरु, गुरु पत्नी, शिष्य, मित्र आते हैं, यह उनके प्रति श्रद्धा भाव है।

इस तर्पण रूपी कर्मकाण्ड के माध्यम से हम अपनी सद्भावनाओं को जागृत करते हैं, ताकि वे सत्प्रवृत्तियों में परिणित होकर हमारे जीवन लक्ष्य में सहायक हो सकें।

हिन्दू धर्म में पिण्डदान की परम्परा वैदिक काल से ही प्रचलित है। मरणोपरान्त पिण्ड दान किया जाता है। दस दिन तक दिये गए पिण्डों से शरीर बनता है। क्षुधा का जन्म होते ही ग्यारहवें व बारहवें दिन सूक्ष्म जीव श्राद्ध का भोजन करता है। ऐसा माना जाता है कि तेरहवें दिन यमदूतों के संकेत पर जीव नाचता हुआ यमलोक चला जाता है। पितरों के मोक्ष के लिए यह अनिवार्य परम्परा है और इसका बहुत अधिक धार्मिक महत्त्व है। योग वाशिष्ठ में बताया गया है-

आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात।
बन्धु पिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इवा वेदिनः।।

योगवाशिष्ठ 3/55/27

अर्थात् प्रेत अपनी स्थिति को इस प्रकार अनुभव करते हैं कि हम मर गए हैं और अब बन्धुओं के पिण्डदान से हमारा नया शरीर बना है। चूँकि यह अनुभूति भावनात्मक ही होती है, इसलिए पिण्डदान का महत्त्व उससे जुड़ी भावनाओं की बदौलत ही होता है। ये भावनाएँ प्रेतों-पितरों को स्पर्श करती हैं। पिण्ड दानादि पाकर पितृगण प्रसन्न होकर सुख-समृद्धि का आशीर्वाद देते हैं और पितृलोक को लौट जाते हैं। जो पुत्र इसे नहीं करते, उनके पितर उन्हें शाप भी देते हैं।

हमारे यहाँ आश्विन मास कृष्णपक्ष को 'पितृपक्ष' कहा जाता है। वैसे तो प्रत्येक मास की अमावस्या पितरों के लिए ही होती है, किन्तु प्रत्येक वर्ष आश्विन मास के कृष्ण पक्ष को विशेषकर पितरों का श्राद्ध कर तर्पण किया जाता है। इस तिथि को सूर्य, चन्द्रमा एक ही राशि में आ जाते हैं जिसके फलस्वरूप चन्द्र क्षीण एवं अदृश्य रहते हैं।

मुहूर्त ग्रन्थों के अनुसार किसी भी मांगलिक कार्य के लिए सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति का स्वस्थ तथा शुभ प्रभावी रहना अति आवश्यक माना गया है। श्राद्ध-तर्पण के लिए अति पुण्यदायी इस तिथि के विषय में एक पौराणिक कथा है—देवताओं के पितृगण, जो पितृलोक में सोमपथ और अग्निवात नाम से जाने जाते हैं, उनकी मानसी कन्या अच्छोदा ने एक बार एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या की।

उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर देवताओं के समान अति सुन्दर पितृगण पुष्पमालाओं तथा सुगन्धित पदार्थों से सुसज्जित होकर वरदान देने के लिए प्रकट हुए। ये सभी पितृगण युवा अमित तेजस्वी परम बलशाली और कामदेव के समान सुन्दर थे। इनमें अमावसु नाम के एक सुन्दर पितर को देख अच्छोदा अतिशय कामातुर होकर प्रणय निवेदन करने लगी, किन्तु अमावसु ने अच्छोदा की याचना पर अनिच्छा प्रकट कर कहा कि हाड़-माँस से बने इस नश्वर शरीर में मेरी कोई रुचि नहीं है, अतः मुझे क्षमा करें। अमावसु के इस वैराग्यपूर्ण उत्तर से अच्छोदा लज्जित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसी समय आकाश से देवता और पितरगण अमावसु के अनुपम धैर्य की सराहना करने लगे तथा सर्वसम्मति से उस तिथि का नामकरण अमावसु के नाम पर 'अमावस' कर दिया, जिसे हम 'अमावस्या' के नाम से जानते हैं।

कहा जाता है कि सर्वप्रथम सतयुग में ब्रह्मा जी ने गया में पिण्डदान किया था, तभी से यह परम्परा जारी है। पितृ पक्ष में पिण्डदान का विशेष महत्त्व है। पिण्डदान के लिए जौ या गेहूँ के आटे में तिल या चावल का आटा मिलाकर इसे दूध में पकाते हैं और शहद तथा घी मिलाकर लगभग 100 ग्राम के 7 पिण्ड बनाते हैं। एक पिण्ड मृतात्मा के लिए और छह जिन्हें तर्पण किये जाते हैं उनके लिए समर्पित करने का विधान है।

प्राचीन काल में पिण्डदान का कार्य वर्षभर चलता था। यात्री 360 दिन वेदियों पर गेहूँ, जौ के आटे में खोया मिलाकर तथा अलग से बालू के पिण्ड बनाकर दान करते थे। अब विष्णु मन्दिर, अक्षय वट, फल्गू और पुनपुन नदी, रामकुण्ड, सीताकुण्ड, ब्रह्म मंगलगौरी कागवलि, वैतरिणी तथा पंचाय तीर्थों सहित 48 वेदियाँ शेष हैं, जहाँ पिण्डदान किया जाता है।

कूर्मपुराण के अनुसार गया नामक परमतीर्थ पितरों को अत्यन्त प्रिय है। यहाँ पिण्डदान करके मनुष्य का पुनः जन्म नहीं होता। जो एक बार भी गया जाकर पिण्ड दान करता है उसके द्वारा तारे गए पितर परमगति को प्राप्त करते हैं और नरक आदि कष्टप्रद लोकों से मुक्त हो जाते हैं। [दे०कु०वा०]

तिलक

वैष्णव धर्म में तिलक की प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। ब्रज क्षेत्र में मान्य विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों ने तिलक के महात्म्य को भक्ति, समर्पण, सेवा और आत्मनिवेदन की भावना से जोड़ा है। वैष्णव संप्रदायों में तिलक को उर्ध्वपुण्ड्र लगाया

जाता है। जबकि शैव और शाक्त उपासना के क्रम में त्रिपुण्ड रूप में आड़ा तिलक लगाया जाता है। पुष्टिमार्गीय वल्लभ संप्रदाय में लाल रोली से उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया जाता है। जिसे अंग्रेजी के U अक्षर के रूप में भगवान श्रीकृष्ण के चरणकमल के प्रतीक रूप में मस्तक पर धारण किया जाता है। पुष्टिमार्गीय गोकुल गद्दी के आधार पर लगाए जाने वाले तिलक में उर्ध्वपुण्ड्र दो रेखाओं के मध्य में पीला केसरयुक्त चंदन भरा जाता है। जो मध्य में ब्रजभूमि और दोनों रेखाओं के रूप में संप्रदाय की आराध्य यमुना देवी के किनारों का प्रतिनिधित्व करता है।

तिलक से ही तिलकायत शब्द का प्रादुर्भाव है। पुष्टि संप्रदाय की नाथद्वारा स्थित प्रधान पीठ श्रीनाथजी मंदिर के गद्दीनसीन महाराज को 'तिलकायत' रूप में संबोधित किया जाता है। माध्व संप्रदाय में गोपीचंदन से उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया जाता है। मध्य में यज्ञभस्म से एक रेखा खींची जाती है। जिसके नीचे लाल अथव पीले बिंदु को लक्ष्मी रूप में स्थापित किया जाता है। संप्रदाय में श्रीकृष्ण या विष्णु के प्रति निवेदित नित्य होम का विधान प्रासंगिक है। इसी भस्म के तिलक को मध्य में प्रयोग किया जाता है। जो वैष्णव ऐसा नहीं कर पाते, वे साधारण रूप में गोपीचंदन का तिलक ही धारण करते हैं।

श्री अथवा रामानुज संप्रदाय में भी श्रीनारायण के चरणकमल की भावना से सफेद पदार्थ (पासा) से उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया जाता है। जिसके मध्य में रोली से खींची जाने वाली लाल रेखा में लक्ष्मी देवी की भावना की जाती है। भौंहों के बीच से शुरू होने वाले तिलक के नीचे से नासिका के ऊपरी भाग पर एक रेखा बनाई जाती है। संप्रदाय की मान्यता के अनुसार, तिलक में शरणागति की भावना निहित है। यह छोटी रेखा श्रीलक्ष्मी देवी स्वरूप में श्रीनारायण तक पहुँचने के मार्ग रूप में प्रतिपादित है।

यही भावना रामानंद संप्रदाय के अंतर्गत की गई है। किंतु यहाँ लक्ष्मी-नारायण के स्थान पर सीता-राम के प्रति शरणागति की भावना है। श्रीसंप्रदाय में महिलाओं का तिलक केवल श्रीलक्ष्मी जी की प्रतीक लाल श्री के रूप में ही लगाया जाता है। गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में माध्व संप्रदाय के तिलक का प्रतिबिंब परिलक्षित होता है। वृंदावन की रज से लगाए जाने वाले तिलक में चैतन्य महाप्रभु का भक्ति दर्शन मिलता है। संप्रदाय में कीर्तन और तुलसी को कृष्ण की प्राप्ति का साधनरूप प्रतिपादित किया गया है। श्रीकृष्ण चरण कमल रूप में लगाए जाने वाले उर्ध्वपुण्ड्र के नीचे नासिका पर रज से तुलसी पत्र की भावना से आकृति बनाई जाती है। गौड़ीय संप्रदाय में नित्यानंद परिवार, अद्वैताचार्य परिवार, नरोत्तम ठाकुर परिवार, गंगानारायण चक्रवर्ती, गोपाल भट्ट, श्यामानंद, रामदास बाबा, वक्रेश्वर पंडित और गोपालगुरु, गंगामाता परिवार आदि के तिलक भेद भी हैं।

निंबार्क संप्रदाय में गोपीचंदन से नासिका के मध्य भाग से दो रेखाओं के रूप में उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया जाता है। आकृति की भावना श्रीकृष्णालय (कृष्ण का मंदिर) की जाती है। मध्य में बरसाना से प्राप्त होने वाली वाली श्री से भौंहों के मध्य में एक बिंदु लगाया जाता है। जिसमें श्रीराधा की भावना की जाती है। संपूर्ण तिलक में श्रीराधासर्वेश्वर का प्रतिबिंब है। गोपीचंदन वासुदेव उपनिषद् में वर्णित द्वारका के गोपीकुंड की पवित्र मिट्टी या रज होती है। संप्रदाय में तिलक साधते समय गुरु के नाम स्मरण का महत्व प्रतिपादित है।

विष्णुस्वामी संप्रदाय में गोपीचंदन और केशर मिश्रित उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया जाता है। बाँकेबिहारी मंदिर के सेवायतों द्वारा यह तिलक लगाया जाता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अंतर्गत बिंदु परिवार में लाल रंग का बिंदु श्रीराधा और श्यामरंग का बिंदु श्रीकृष्ण की भावना का प्रतिनिधित्व करता है। साधु एवं नाद परिवार में सेवाकुंज या राधाकुंड की रज से तिलक लगाया जाता है। मध्य में श्याम या रज बिंदु स्थापित किया जाता है।

हरिदासी संप्रदाय में तिलक नासिका के मूल से सिर के अग्रभाग तक सीधी रेखा के रूप में लगाया जाता है। टटिया स्थान, रसिकबिहारी मंदिर, हरिदासी संप्रदाय के मंदिरों से दीक्षित संन्यासी इस तिलक को धारण करते हैं।

तिलक हथेली अथवा पत्थर की चकली पर जल, यमुना जल, गुलाबजल के साथ घिसकर सीधे हाथ से लगाया

जाता है। तिलक को शरीर के बारह भागों पर लगाया जाता है। पद्मपुराण के अनुसार मस्तक पर केशव, उदर में नारायण, वक्ष पर माधव, कंठमूल में गोविंद, दाहिने अंग में विष्णु, दायीं भुजा में मधुसूदन, दायें कंधे पर त्रिविक्रम, वामांग में वामन, वामभुजा में श्रीधर, वाम कंधे में हृषीकेश, पृष्ठभाग में पद्मनाभ, गर्दनपृष्ठ में दामोदर की भावना करते हुए तिलक लगाया जाता है। [कुं०बि०श०]

तीन वन परिक्रमा

इस परिक्रमा में तीन स्थलों की एक साथ परिक्रमा की जाती है। उसी के अनुरूप इसे तीन वन परिक्रमा नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसमें तीन वन (मथुरा, वृन्दावन तथा गरुड़ गोविन्द) सम्मिलित हैं। यह परिक्रमा अक्षय नवमी तथा देवात्थान एकादशी के दिन लगाई जाती है। अक्षय नवमी तथा देवोत्थान दोनों ही तिथियों को विशेष पुण्य प्रदायक मानते हुये श्रद्धालु श्रद्धा-भक्ति से भजन-कीर्तन के साथ तीन वन परिक्रमा पूर्ण करते हैं। इसमें देशी-विदेशी सभी श्रद्धालु बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते हैं जिससे परिक्रमा मार्ग पर अविछिन्न मानव शृंखला उपस्थित रहती है। कार्तिक मास में होने वाले उत्सवों में इस परिक्रमा का विशेष महत्व है। [रा०श०]

तुलसीदास (लालजी)

गोस्वामी बिट्ठलनाथजी ने एक बच्चे का अपने पुत्र की तरह लालन-पालन किया। सभी सेवक वैष्णव लोग उसे उनका आठवाँ पुत्र मानते थे और उसका नाम था तुलसीदास। तुलसीदास को गोसाईं जी के आठवें लालजी कहा गया। गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी ने उस आठवें पालित पुत्र को गोपीनाथ जी का स्वरूप प्रदान कर यह आदेश दिया कि वो सिंध प्रदेश में जाकर पुष्टि मार्ग का प्रचार-प्रसार करें और वहाँ के निवासियों को मंत्र व दीक्षा दें। तभी से तुलसीदास लालजी के नाम से प्रसिद्ध हुए और ये घराना लाल जी का घर कहलाया जाता है।

इस प्रकार तुलसीदास को सेव्य स्वरूप गोपीनाथ प्रदान किए गए और पाकिस्तान बनने से पहले तक इसकी प्रधान गद्दी सिंध नदी के तटवर्ती डेरागाजी खां नामक स्थान में थी। दूसरी गद्दी डेरा इस्मायल खां नामक जगह पर थी। सातों गद्दियों के साथ इस गद्दी की भी स्थापना हुई किंतु एक तो पालित पुत्र की गद्दी तथा दूसरे अलग प्रान्त में होने से इस गद्दी को उतना महत्व नहीं मिल सका जो इस सम्प्रदाय की सातों गद्दियों को प्राप्त है। क्योंकि लालजी तुलसीदास गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के खास पुत्र तो थे नहीं दूसरे लालजी और उनके वंशजों के कार्यक्षेत्र सिंध और पंजाब के वे क्षेत्र रहे जहाँ विदेशी लोगों का सदैव भय रहता था। भारत में जो कृष्ण भक्त और कृष्ण के उपासक होते थे वो प्राय: धार्मिक क्षेत्र से दूर-दूर कटे-छटे रहे हैं। फिर भी यह गद्दी महत्वपूर्ण है कि इसके आचार्यों ने तथा शिष्य-सेवकों ने अनेकों कठिनाइयों का सामना करते हुए ब्रजमंडल से बहुत दूर भारत की उत्तर और पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्रों में कृष्ण भक्ति की पताका फहराये रखी।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता से मालूम होता है कि बल्लभाचार्य जी तथा बिट्ठलनाथ जी ने भारत में दक्षिण, पूर्व, पश्चिमी भागों में तो लम्बी यात्राएँ कीं और अपने धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया किंतु उत्तरी और पश्चिमी भागों में वे थानेश्वर से आगे नहीं गए। चौरासी वैष्णवन की वार्ता से ज्ञात होता है कि जब वे थानेश्वर में थे तब वहाँ बहने वाली सरस्वती नदी के उल्लंघन करने का निषेध किया। यहाँ तक कि नदी के पार निवासियों की प्रार्थना पर भी वे वहाँ नहीं गए, क्योंकि आचार्यजी वहाँ के निवासियों के आचार-विचार, रहन-सहन खानपान अलग होने के कारण इसे धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध मानते थे। ऐसे अछूते भाग में धर्म का प्रचार-प्रसार करने का श्रेय लाल जी के घर की गद्दी को जाता है। [वं०तै०]

तुलसी साहब

संत तुलसी साहब का जन्म सन् 1763 ई. में महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुछ लोगों का मानना है कि ये पूना के शासक पेशवा के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये किशोरावस्था में ही वैराग्य धारण कर अपने घर-परिवार को छोड़कर निकल गये। भ्रमण करते-करते वे हाथरस (उ.प्र.) में रहने लगे। तुलसी साहब इनका मूल नाम नहीं था। संत होने पर इस नाम से विख्यात हुए। कहा जाता है कि इनका कोई गुरु नहीं था, बल्कि ये अपने हृदय कमल में स्थित परमात्मा के संकेतों से स्वत: ही संत मत और साधना के रहस्यों से परिचित हो गये। इसका उल्लेख इन्होंने अपनी रचना 'घट रामायन' में किया है।

तुलसी साहब पंथ के संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने अपने पंथ का कोई खास नाम नहीं रखा था। वे उसे सामान्यत: 'संत मत' ही कहा करते थे। रत्नसागर, शब्दावली और घट रामायन इनके द्वारा लिखित तीन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। लगभग 80 वर्ष की अवस्था में सन् 1843 ई. में इनका गोलोकवास हो गया। [जि०कु०]

तौरात (तौरेत)

जीवन का सीधा और सत्य मार्ग पाने के लिए मनुष्य को सदैव ईश्वरीय मार्गदर्शन की आवश्यकता रही है। मनुष्य को सीधा और सत्य मार्ग दिखाने के लिए 'अल्लाह' ने किताबें उतारीं और अपने पैगम्बर (रसूल) भेजे। रसूलों ने लोगों के समक्ष ईश्वरीय ग्रंथों के अर्थ और अभिप्राय को स्पष्ट रूप से वर्णित किया एवं अल्लाह के आदेशों के अनुसार चलकर उन्हें दिखाया। अल्लाह की ओर से यदि कोई रसूल न आता केवल किताब का अवतरण होता तो उस किताब को समझने में लोगों के बीच विभेद होता तथा यह निर्णय न हो पाता कि सत्य किसकी ओर है और किसकी ओर नहीं है। मनुष्य की आवश्यकता किसी फरिश्ते के द्वारा पूरी नहीं हो सकती थी अत: अल्लाह ने किताब के साथ रसूल भी भेजा वह मनुष्य था, फरिश्ता न था।

अल्लाह ने सदैव नबियों को असाधारण योग्यताएँ प्रदान कीं। वे अपनी असाधारण विशेषताओं और योग्यताओं के बिना उस महान कार्य को कर ही नहीं सकते थे जो अल्लाह की ओर से उन्हें सौंपा जाता था। 'नबी' वास्तव में 'नुबूवत' ही के लिए पैदा किये गए। उन्हें अत्यंत पवित्र स्वभाव और सरल प्रवृत्ति प्रदान की गई। स्वभावत: वे ऐसे थे कि बिना किसी विशेष सोच-विचार के अपने अन्तर्ज्ञान से ही सही परिणाम तक पहुँच जाते थे। 'नबी' मनुष्य ही थे, परंतु उन्हें मानवता का उच्चतम स्थान प्राप्त था। सत्य व असत्य में अंतर करना उनका स्वभाव था। वे शारीरिक और आत्मिक प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण थे। अल्लाह ने उनकी स्वाभाविक क्षमता प्रकट कर उन्हें वह इनायत दी जिन्हें कुरआन में इल्म (ज्ञान), हुक्म (निर्णय शक्ति), हिदायत (मार्ग-दर्शन), बय्यनह (स्पष्ट प्रमाण) आदि शब्दों में वर्णित किया गया है।

तौरात-यह इबरानी (Hebrew) भाषा का शब्द है। 'तौरात' का मूल अर्थ होता है आदेश, नियम और कानून। तौरात में अधिकतर कानूनों और नियमों का उल्लेख हुआ है इसलिए उसका नाम तौरात हुआ। 'तौरात' वह आसमानी किताब है जो बनी इसराइल के प्रसिद्ध पैगंबर हजरत मूसा अ. पर अवतरित हुई थी। हजरत मूसा अ. पर उनके नबी होने से लेकर उनके जन्नतनशीं होने तक लगभग 40 दिवस की अवधि में उन पर अल्लाह की ओर से जो आदेश उतरे कुरआन उन्हें 'तौरात' कहता है। उनमें दस आदेश तो वे थे जो पट्टिाकाओं (तख्तियों) पर अंकित करके उन्हें प्रदान किये गए। तौरात ग्रंथ के रूप में बैतुल-मुकदिस के प्रथम विनाश के अवसर पर विद्यमान थी किंतु इस विनाश में 'तौरात' की प्रतियाँ सदैव के लिए लुप्त हो गईं। यह विनाश बाबिल के सम्राट बख्त नस्र के हाथों हुआ था। इस सम्राट ने नगर को पूर्ण रूप से विनष्ट कर दिया और बनी इसराइल को बंदी बनाकर बाबिल ले गया। बाद में जब बनी इसराइल के लोग स्वतंत्र हुए। येरूशलम वापस आये और बैतुल-मुकदिस का पुन: निर्माण हुआ तो हजरत उजैर ने कुछ महापुरुषों की सहायता से बनी इसराईल का इतिहास लिखा। यही इतिहास आज बाइबिल की पहली 17 पुस्तकों के

रूप में विद्यमान है। इतिहास की चार पुस्तकें 'निर्गमन' (Exodus) 'लैव्यवस्था' (Leviticus) 'गिनती' (Number) एवं 'व्यवस्था विवरण' (Deuternomy) हजरत मूसा अ. की जीवनी से संबंध रखती हैं। इन किताबों (पुस्तकों) में हजरत उजैर और उनके साथियों ने जगह-जगह 'तौरात' की उन आयतों को लिख दिया है जो उन्हें प्राप्त हो सकी थीं। इन किताबों में जहाँ कहीं यह लिखा मिलता है कि खुदा ने मूसा से कहा या मूसा ने कहा कि खुदाबंद तुम्हारा खुदा कहता है वहाँ से 'तौरात' का एक-एक टुकड़ा बयान होता है। 'तौरात' के यही वे अंश हैं जिन्हें कुरआन 'तौरात' कहता है और इन्हीं का वह समर्थन करता है।

प्रत्येक जाति में अल्लाह के रसूल समय-समय पर आये। उन्होंने अपनी जाति वालों को स्वयं उन्हीं की भाषा में संबोधित किया। इसी संदर्भ में पवित्र 'तौरात' पुस्तक हजरत मूसा अ. पर उतारी गई। हजरत मूसा अ. के विषय में कहा गया है "और जब वह अपनी युवावस्था को पहुँचा और भरपूर हो गया तो हमने उसे हुक्म (निर्णय, शक्ति, तत्वदर्शिता) और ज्ञान प्रदान किया।" (सूरह-अल-कसस 14)

हजरत मूसा अ.-मिस्र में फिरऔन का शासन स्थापित हो गया था, वह स्वयं को ईश्वर मानता था। वह अपने देश जिसमें भव्य भवन, नदियाँ, नहरें एवं एक शक्तिशाली सेना थी आदि पर बड़ा घमंड करता था। वह यह समझता था कि वह जो चाहे वो कर सकता है। उसके राज्य में बनी इसराइल जाति के कुछ लोग भी विद्यमान थे जिनसे वह सदा क्रोधित रहता था। फिरऔन ने उन्हें अपना दास बनाकर उन पर अत्यंत अत्याचार किये और उनको विवश किया कि वे फिरऔन को अपना ईश्वर मानें किंतु बनी इसराइल अल्लाह और उसके रसूलों पर विश्वास करते थे, परिणामस्वरूप उन्होंने फिरऔन की इबादत से इनकार कर दिया। फिरऔन को एक ज्योतिषी ने यह बताया कि बनी इसराइल में एक ऐसे बालक का जन्म होगा जो उसे उसके राज्य से बाहर निकाल देगा, तब उसने अपनी सेना को आदेश दिया कि उस जाति में जो भी पुत्र उत्पन्न हो, उसका वध कर दिया जाए। सेना ने उसके आदेश का पालन किया, किंतु अल्लाह की इच्छा थी कि फिरऔन जिससे सदा भयभीत रहता था वो होकर रहे। अल्लाह की इच्छा पर उस बालक का जन्म हुआ। ये बालक मूसा बिन इमरान था, जो बहुत ही सुंदर था। मूसा अ. के माता-पिता को उसके मारे जाने का भय था इसलिए उन्होंने उनके जन्म की भनक तक नहीं होने दी। तीन महीने तक उन्होंने मूसा अ. का छिपकर पालन-पोषण किया। उधर फिरऔन की सेना लगातार बच्चों की हत्याएँ कर रही थीं, तब अल्लाह ने उनके माता-पिता के मन में यह बात डाल दी कि वे उसे दरिया में बहा दें और वह बड़ा होकर उनके पास अवश्य आएगा। अल्लाह के आदेश का पालन करते हुए उनकी माता उन्हें एक टोकरी में रखकर दरिया में बहा देती हैं। वहीं दूसरी ओर फिरऔन दरिया के किनारे आया हुआ था, साथ में उसकी पत्नी भी थी। उसकी पत्नी ने चीखते हुए कहा कि देखो तुम्हें वह अजीबो-गरीब चीज दिखाई दे रही है। एक सेवक द्वारा उस टोकरी को दरिया से लाया गया। टोकरी में एक छोटा और सुंदर बच्चा था जिसको देखकर कुछ सैनिकों ने कहा कि यह बनी इसराइल के बच्चों में से है और इसका वध कर देना चाहिए, किंतु फिरऔन की पत्नी द्वारा उनको बचा लिया जाता है। संयोगवश मूसा अ. की माता द्वारा ही महल में उनको दूध पिलाया जाता है। इस प्रकार उनकी परवरिश होने लगती है। मूसा अ. जब अपनी युवावस्था तक पहुँच जाते हैं तब अल्लाह ने उन्हें ज्ञान और निर्णय शक्ति प्रदान की।

असाधारण सूझ-बूझ और योग्यता के अतिरिक्त 'नबी' को सदैव ईश्वरीय मार्ग-दर्शन भी प्राप्त होता है। 'नबी' का अल्लाह से सदैव संपर्क और संबंध स्थापित रहता है। अल्लाह की वह्य (वही) सदा नबी की ओर प्रवृत्त रहती है। अल्लाह की ओर से केवल पुस्तक का ही अवतरण नहीं होता अपितु पुस्तक के अतिरिक्त दूसरी वह्य भी अल्लाह की ओर से आती है। कितने ही ऐसे नबी हैं जिन पर कोई पुस्तक (किताब) नहीं उतरी फिर भी 'वही' ने उन्हें संबोधित किया। 'वह्य' ने उन्हें सत्य मार्ग भी दिखलाया। उनकी जाति के लिए भी आवश्यक था कि वे उनकी शिक्षाओं पर 'ईमान' लाएँ। हजरत मूसा अ. को 'तौरात' उस समय प्रदान की गई जब फिरऔन विनष्ट हो गया और बनी इसराइल

को लेकर हजरत मूसा अ. 'तूर' के दामन में पहुँचे। (सूरा अल-आराफ 138-147, सूरा अल-कसस 40-43)

जब तक वे मिस्र में रहे उन पर कोई किताब नहीं उतरी परंतु इस बीच भी हर व्यक्ति के लिए जिसको उन्होंने संबोधित किया उनकी शिक्षाओं और उनकी बातों पर ईमान लाना आवश्यक था। कुरआन में ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि किताब के अतिरिक्त भी नबियों के मार्गदर्शन के लिए अल्लाह की ओर से वह्य का अवतरण होता था। हजरत मूसा अ. फिरऔन के दरबार में जादूगरों के साँपों से डर जाते हैं। अल्लाह की ओर से वह्य आती है 'मत डरो' तुम्हारा ही बोलबाला होगा (सूरा ताहा 68) हजरत मूसा अ. अल्लाह के आदेश पर रात ही में चल पड़ते हैं दरिया पर पहुँचे तो वह्य आई ''अपनी लाठी दरिया पर मारो'' (सूरा-अश-शुअश 63)। कुरान के इन शब्दों से स्पष्ट है कि अल्लाह ने नबी को पुस्तक ही प्रदान नहीं की अपितु इसके साथ ही एक ऐसा प्रकाश और ज्योति भी उत्पन्न की जिससे नबी का व्यक्तित्व वास्तविकताओं के निरीक्षक का हो जाता है। जिन बातों को दूसरे लोग गहरे सोच-विचार और चिंतन के बाद भी नहीं समझ पाते, नबी की दृष्टि उसे क्षणभर में पा लेती है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द 'वह्य खफी' (सूक्ष्म दैवी प्रकाशन) प्रयुक्त करते हैं। 'नबी' एक दैवीय ज्ञान के वातावरण में होता है जहाँ वास्तविकता नेत्रों से ओझल नहीं होती। उसके मुख से जो कुछ निकलता है सत्य होता है। उसके चरण सत्य मार्ग की ओर ही उठते हैं।

अल्लाह की ओर से नबी को यह योग्यता और अंत: प्रकाश इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह 'नुबूवत' के कार्य को ठीक तरह पूर्ण कर सके। वह अल्लाह की किताब का अभिप्राय लोगों को बता सके और अल्लाह की इच्छा के अनुसार चरित्र और आदर्श समाज का निर्माण कर सके तथा लोगों को उस मार्ग की ओर प्रेरित कर सके, जो उन्हें अल्लाह से मिलाता है और इस संसार तथा 'आखिरत' में उन्हें कामयाब बनाता है। [श०उ०]

त्यागीराम

त्यागीराम जी का विवरण सांप्रदायिक ग्रंथ 'लीलासागर' में प्राप्त होता है। इस ग्रंथ के अनुसार इनकी त्यागमयी प्रवृत्ति एवं सेवा-भाव को देखकर चरणदास जी ने इनको स्वप्न में दीक्षा और गुरु मंत्र दिया था। जागने पर स्वप्न की घटना को वास्तविक रूप में घटित पाया। अत: त्यागीराम चरणदास जी के दिल्ली स्थित आश्रम में आ गये और कुछ दिनों तक गुरु के चरणों में रहकर ज्ञान-ध्यान की शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात अपने गांव मुडौला (तह.सांपला, जिला रोहतक) में आश्रम बनाकर धर्मप्रचार में निरत हुए। मुडौला के अतिरिक्त करनाल जिले में बानी नामक स्थान में तथा मुडौला के नजदीक नौरसपुर नामक स्थान पर भी अपना आश्रम बनाया।

इनकी शिष्य परंपरा में ज्ञानानंद निर्वाणी योग्यतम शिष्य थे। त्यागीराम जी संपन्न ब्राह्मण परिवार से थे। इनके पिता सरकारी नौकरी में थे। त्यागीराम जी के कुछ फुटकर पद ही मिलते हैं। इनका जीवन-काल लगभग वि.सं. 1800 से 1860 के बीच माना जा सकता है। [क०उ०]

त्रिभंगदेव

बड़नगर गुजरात के नागर ब्राह्मण त्रिभंगदेव जी अत्यंत धन-संपदा से संपन्न परिवार से संबद्ध थे किंतु हरिप्रीत में सब छोड़कर वृंदावन की ओर चल दिए। यहाँ गुरुदेव श्री मोहनदेव जी से नित्यविलासी मंत्र की दीक्षा लेकर भजन और गुरु की सेवा में तत्पर रहने लगे। गुरुदेव के निकुंजवास के पश्चात् त्रिभंगदेव जी विरहाकुल अवस्था में कच्छ देशांतर्गत नारायण सरोवर पर चले गए। [कुं०बि०श०]

थियोसोफिकल सोसाइटी

'थियोसोफी' ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'थियोस' तथा 'सोफिया' से मिलकर बना है। थियोस का अर्थ है-ईश्वर तथा

सोफिया का अर्थ है-ज्ञान। इस प्रकार थियोसोफी का अर्थ हुआ-ईश्वर का ज्ञान।

थियोसोफिकल सोसाइटी का जन्म एक रूसी महिला हेलेना पेत्रोवना ब्लैवेतस्की और अमेरिकी नागरिक कर्नल हेनरी स्टील ऑलकॉट के सहकार से 7 सितम्बर 1875 को हुआ। प्रारंभ में अगोचर एवं अज्ञात नियमों के अनुसंधान तक ही सोसाइटी के कार्यकलाप सीमित थे। बाद में इसके उद्देश्यों में विविधता और विस्तार आता गया। सन् 1879 में सोसाइटी का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क से बम्बई लाया गया। सन् 1882 में उसका प्रधान कार्यालय चेन्नई के अद्यार में स्थापित कर दिया गया। अद्यार स्थित सोसाइटी का प्रधान कार्यालय 266 एकड़ भूमि में फैला था। सोसाइटी के पुस्तकालय में 1200 ताड़पत्र पर लिखी पांडुलिपियाँ, 6000 प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ तथा 60000 पुस्तकें उपलब्ध हैं। 'थियोसोफिस्ट' संस्था का मुखपत्र है। सोसाइटी की शाखाएँ-उपशाखाएँ 55 देशों में विद्यमान हैं। इसके सदस्यों की संख्या 35000 से अधिक है।

सोसाइटी की कुछ आधारभूत मान्यताएँ हैं। इनमें एक सार्वभौमिक शाश्वत सत्ता पर आस्था, विश्व की कर्म प्रधानता पर बल, मृत्यु के बाद के जीवन पर विश्वास, आत्मोन्नति की दिशा में प्रयास, विचारों को आत्मसात कर उनका अनुसरण करने की प्रेरणा, भौतिक शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर के अस्तित्त्व की स्वीकृति आदि प्रमुख है। सोसाइटी मोक्ष या निर्वाण पर बल नहीं देती बल्कि समाज-सेवा को प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। इस दृष्टि से एक सीमा तक सोसाइटी बौद्ध धर्म के निकट है। एक दूसरे के विचारों का आदर इस संस्था की परम्परा है। मनुष्य-मनुष्य में भेद यहाँ पूरी तरह त्याज्य है। वस्तुत: विज्ञान, धर्म और दर्शन के समन्वय का आधार लेकर सत्य की खोज ही सोसाइटी का मूल उद्देश्य है।

भारत में थियोसोफी के विचारों को प्रसारित करने का श्रेय श्रीमती एनी बिसेण्ट को है। सन् 1893 में वे भारत आईं और आजीवन भारत में ही रहीं। उन्होंने एक तरह से थियोसोफी और हिंदू धर्म को एक दूसरे का पर्याय बना लिया था। उनकी हिंदू धर्म में अगाध आस्था थी। भारतीय नवजागरण में हिंदू नवोत्थान आंदोलन की उनके बिना कल्पना नहीं की जा सकती।

वस्तुत: थियोसोफिकल सोसाइटी उदार मानववाद का ही आधुनिक धार्मिक संस्करण है। यद्यपि भारत में इसे अधिक लोकप्रियता नहीं मिली किन्तु इसकी विचारधारा ने श्रीमती एनी बिसेण्ट के संरक्षण में भारत और हिंदू धर्म की अस्मिता को पूरी गरिमा के साथ रेखांकित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

[ज०सिं०नी०]

द, ध

दयानंद सरस्वती

महर्षि दयानंद सरस्वती (1824-1883) महान चिंतक, समाज सुधारक, देशभक्त संन्यासी थे। इनका जन्म काठियावाड़ के प्रदेश में मछुकांटा नदी के किनारे मोरवी राज्य के टंकारा नगर के जीवापुर मुहल्ले में हुआ। दयानंद के पिता का नाम कर्शन जी लालजी विवाड़ी था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। संवत् 1881 (वि. 1825 ई.) में ज्येष्ठ पुत्र के रूप में दयानंद का जन्म हुआ। उनका नाम मूलजी रखा। बाल्यकाल में मूलशंकर और प्यार से दयाराम भी कहते थे। कर्शन जी अपने समय के अच्छे साहूकार थे। वे मोरवी राज्य के जमींदार थे, जिसका पद आज के तहसीलदार के समान था।

मूलजी के रूप में उनकी शिक्षा पाँच वर्ष की आयु में प्रारंभ हुई और उन्हें मंत्र व श्लोक आदि कंठस्थ कराये जाने लगे। आठ वर्ष की उम्र में उनका उपनयन संस्कार हुआ। दस वर्ष की आयु में पार्थिव पूजा (मिट्टी के लिंग का पूजन) किया गया। चौदहवें वर्ष की अवस्था तक व्याकरण, शब्द रूपावली, यजुर्वेद व अन्य वेदों का भी अध्ययन कराया गया। उनके पिता शिवोपासक थे। तेरह वर्ष की आयु में शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए मूलजी के पिता ने कहा और उन्हें व्रत महात्म्य की कथा सुनाई। शिवरात्रि में चार पहर में चार बार शिवजी की पूजा का विधान है। इसके बीच में पुजारी का सोना निषेध है। यह जानकर मूलजी पानी का छींटा आँखों में लगाकर जागते बैठे रहे जबकि उसके पिता यहाँ तक कि पुजारी भी सो गये। एक चूहा शिवजी की मूर्ति पर चढ़कर अक्षत खाने लगा। देखकर मूलजी के दिमाग में झंझावात उठ खड़ा हुआ। कहाँ शिव महात्म्य में सुना था कि शिव दुर्दांत दैत्य दलनकारी हैं कहाँ एक छोटा-सा जीव उनके सिर पर विराजमान है वे उसे नहीं हटा पा रहे। इस शंका के समाधान हेतु मूलजी ने पिता को जगाया। पिता के कहने पर कि वह पाषाण मूर्ति है साक्षात शिव नहीं तो फिर इनकी पूजा कैसी? यहीं से वे मूर्तिपूजा विरोधी हो उठे। अपनी बहन व चाचा की विसूचिका रोग से मृत्यु देख वैराग्य उत्पन्न हुआ। घर में विवाह की तैयारियाँ देख संवत् 1903 (सन् 1846) में गृह त्याग दिया। उस समय मूलजी की आयु 22 वर्ष की थी। ज्ञान की खोज में उन्होंने भारत भ्रमण प्रारंभ कर दिया।

सर्वप्रथम वे शैला पहुँचे और लाला भक्त से योगाभ्यास सीखना प्रारंभ किया। वहीं एक ब्रह्मचारी से परिचय हुआ और उनके परामर्श से ब्रह्मचर्य आश्रम में दीक्षित हो शुद्ध चैतन्य बने। शुद्ध चैतन्य के रूप में कोट कांगड़ा चले, यहाँ तीन माह रहकर सिद्धपुर की ओर चले, रास्ते में एक व्यक्ति ने पहचानकर उनके पिता को सूचित कर दिया। पिता दलबल से उन्हें लेने सिद्धपुर पहुँचे लेकिन रात्रि में चकमा देकर निकल गये। संवत् 1903 से 1911-18 (सन् 1846 से 1860-61) चाणोद कर्णाजी में वेदांत सार, वेदांत परिभाषा आदि ग्रंथों का अध्ययन किया। शृंगेरी मठ द्वारका को जा रहे एक संन्यासी पूर्णानंद ने इनका नाम दयानंद सरस्वती रखा।

चाणोद से दयानंद व्यासाश्रम चले गये और योगानंद नामक योग विशारद से योग की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने ही दयानंद को और ज्ञान प्राप्त करने के लिये आबू जाने की सलाह दी। संवत् 1911 के आरंभ में आबू से हरिद्वार पहुँचे, वहाँ तंत्र ग्रंथों का अध्ययन किया, उन्होंने महसूस किया कि धूर्त लोगों ने धर्मशास्त्र के नाम पर लोगों को ठगा। टिहरी से दयानंद श्रीनगर गये और केदारघाट रहे और गंगागिरि नामक साधु के सत्संग में रहे। वहीं से

बद्रीनाथ की यात्रा की। उत्तराखंड से उतरकर महर्षि मुरादाबाद होते हुए गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे वहाँ पुस्तकों में वर्णित नाड़ी चक्र पर अन्वेषण किया लेकिन निराधार पाकर नाड़ी चक्र संबंधित पुस्तकों को जल में प्रवाहित कर दिया।

संवत् 1913 के पाँच मास कानपुर प्रयाग में बिताये। भाद्रपद में मिर्जापुर पहुँचे और अशोलजी के मंदिर में पहुँचे। अन्य स्थानों पर भ्रमण करते हुए वे संवत् 1919 में कार्तिक शुक्ला द्वितीया (सन् 1880) को मथुरा आये और रंगेश्वर मंदिर में रहे। दंडी स्वामी बिरजानंद की ख्याति सुन उनसे शिक्षा लेने पहुंचे। दंडी स्वामी बिरजानंद आर्ष साहित्य के समर्थक थे। दयानंद सरस्वती उनके योग्य शिष्य सिद्ध हुए। दंडी स्वामी उन्हें कालजिह्व और कुलक्कर कहते थे। कालजिह्व का अर्थ है जिसकी जिह्वा असत्य के खंडन में काल के समान कार्य करे। कुलक्कर का अर्थ है खूँटा अर्थात् जो विपक्षी को पराभूत करने में खूँट के समान दृढ़ हो।

दंडी जी की पाठशाला में दयानंद के तीन वर्ष बीते। उन्हीं की शिक्षा और संसर्ग का प्रभाव था कि ऋषि दयानंद इस युग के आदर्श सुधारक बने और महर्षि कहलाये। गुरु दक्षिणा के रूप में दयानंद ने गुरु को आधा सेर लौंग भेंट की, पर बिरजानंद ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा-प्रतीक्षा करो, आर्यावर्त में आर्ष ग्रंथों का प्रचार, अनार्ष ग्रंथों का खंडन और वैदिक धर्म की स्थापना हेतु प्राण भी न्यौछावर करोगे। गुरु दक्षिणा ने उनका लक्ष्य सुनिश्चित कर दिया।

संवत् 1920 में महर्षि आगरा पहुँचे और सेठ गुल्लामल के बाग में ठहरे। महर्षि ने यहाँ संध्या विधि नाम से पहली पुस्तक लिखी। सेठ रूपलाल ने 1500 व्यय कर प्रकाशित कराकर पुस्तक बेची। महर्षि ने तब तक सिला हुआ कपड़ा पहनना बंद कर दिया था लोई और धुस्सा ओढ़ते, अबरा बाँधते और जूता पहनते थे। यहाँ से शास्त्रार्थ हेतु जयपुर गये। वहाँ प्रथम वैष्णवमत का खंडन करके शैवमत की स्थापना की। वहाँ से पुष्कर पहुँचकर शैवमत का उपदेश दिया।

संवत् 1923 (सन् 1866) के ज्येष्ठ मास के प्रारंभ में अजमेर पहुँचे। यहाँ पहले पहल ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ किया। अजमेर से लौटते हुए महर्षि किशनगढ़ ठहरे। 5 दिन रुककर दूदू पहुंचे। तीन दिन पश्चात बगरू गये। आधे आश्विन तक ठहरकर कार्तिक वदी 9 संवत् 1923 सन् 1866 को तीन दिन पश्चात आगरा पहुँचे। वहाँ महर्षि ने बाँटने के लिये भागवत खंडन में एक 7-8 पृष्ठ की पुस्तिका छपवाई-पाखंड खंडन। हरिद्वार, ऋषिकेश, कनखल की यात्रा कुंभ के बाद की। हरेक स्थान पर जाकर अठारह पुराण, मूर्तिपूजा, शैव, शाक्त, रामानुज संप्रदाय, तंत्रग्रंथ, काम मार्ग, भांग, शराब आदि मादक द्रव्य, परस्त्री गमन, चोरी, छल, अभिमान, झूठ आदि का खंडन करते थे। एक मास पश्चात् फर्रुखाबाद लाला जगन्नाथ के यहाँ रुके। तीन दिन पश्चात् अनूपशहर पहुँचे अनूपशहर में कुछ रुग्ण रहे वहाँ से गढ़मुक्तेश्वर आये।

स्वामी दयानंद का प्रथम शिष्य कर्णवास का निवासी ब्राह्मण टीकाराम था। चासी बैलोन आदि में शास्त्रार्थ के बाद धर्मपुर के एक नवमुस्लिम मुसलमान रईस की शुद्धि कराई। स्त्री को उन्होंने मंत्र जाप आदि के लिये आधिकारिक बताया। शाहबाजपुर की यात्रा के समय में उन्हें अपने गुरु बिरजानंद की मृत्यु का समाचार मिला तो उन्होंने कहा व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया। शाहबाजपुर से कादिरगंज और नरदौली पहुँचे, वहाँ संध्योपासना की विधि बताई फिर गंगा स्नान मेला ककोड़े पहुँचे।

कायमगंज होते कांपिल फिर शकरूल्लापुर पहुँचे। पहली पाठशाला कासगंज में बनाई। यहाँ स्वामी जी ज्येष्ठ संवत् 1925 में पहुँचे थे। पाठशाला की स्थापना संवत् 1927 सन् 1870 में हुई। मिर्जापुर में एक बंगाली बनवारीलाल से अंग्रेजी भाषा पर अधिकार हेतु अंग्रेजी सीखी, जिससे कि वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद हो सके। मिर्जापुर से काशी आये वहाँ से सोरों। वहां से फिर कासगंज आये। कासगंज में एक दिन युद्धरत दो साँड़ों को सींग पकड़ इतनी जोर से धक्का दे दिया कि दोनों का मुँह आकाश की ओर उठ गया।

संवत् 1929 सन् 1890 को महर्षि अनूपशहर पहुँचे। वहाँ एक ऐतिहासिक घटना घटी। एक पंडित ने महर्षि को पान में विष दे दिया लेकिन योग की न्यौली क्रिया से महर्षि ने विष बाहर कर दिया। इलाके के तहसीलदार सर सय्यद मुहम्मद ने पंडित को सजा देने को कहा तो महर्षि ने कहा-मैं संसार को कैद कराने नहीं बल्कि कैद से छुड़ाने आया हूँ। संवत् 1929 के आरंभ में महर्षि ने कलकत्ता की ओर जाने का निश्चय किया। मुगलसराय, डुमराव, आरा, पटना, मुंगेर, भागलपुर में शास्त्रार्थ करते हुए कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ते में केशवचंद्र सेन, हेमचंद्र चक्रवर्ती, देवेंद्रनाथ ठाकुर, द्विजेंद्रनाथ, तारानाथ तर्क, महेशचंद्र न्यायरत्न, अक्षय कुमार घोष आदि से संपर्क हुआ। कलकत्ते में पहला व्याख्यान पौष सुदी संवत् 1929 को हुआ। फाल्गुन वदी 4 संवत् 1929 को बड़ानगर वोरन्यो कंपनी के हॉल में दूसरा सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। केशवचंद्र सेन ने महर्षि को हिंदी में व्याख्यान देने का परामर्श किया जिसे महर्षि ने स्वीकार किया। सन् 1931 में सत्यार्थ प्रकाश का प्रारंभ हुआ और मध्य तक आते-आते संपूर्ण हो गया।

संवत् 1931 में मुंबई के कुछ सज्जनों ने महर्षि से प्रार्थना की कि उनके उपदेशों के सत्संग हेतु एक संगठन बनाना चाहते हैं तो उसको एक नाम देना चाहते हैं तो उसे महर्षि ने 'आर्यसमाज' नाम दिया। इसके बाद इसके साथ ही राजकोट, अहमदाबाद में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। विधिवत आर्यसमाज की स्थापना चैत्र प्रतिपदा संवत् 1932 सन् 1857 को गिरगांव, मुंबई में हुई। इसके साथ ही महर्षि के शिष्यों ने कोट के मैदान में एक सभा मंडप का निर्माण कर इसका नाम वेदमंडप रखा। इस मंडप में पहला व्याख्यान 22 फरवरी सन् 1875 को हुआ। आर्यसमाज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य संसार का कल्याण अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना था।

स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ करते और व्याख्यान करते महर्षि 31 मार्च संवत् 1877 को पंजाब में लुधियाना पहुँचे वहाँ से अन्य स्थान पर निरंतर धर्म-कर्म, शास्त्रार्थ चलते रहे। चारों ओर आर्यसमाज का नाम गूँज उठा। महर्षि अब संयुक्त प्रदेश (उत्तरप्रदेश) के अनेक स्थानों पर अपने मत रख रहे थे। लेकिन शरीर में रोग प्रवेश कर गया था। गति मंद हो गई थी। मेरठ में अनूपशहर के भगवान बल्लभ वैद्य मिलने आये। उन्हें महर्षि ने नाड़ी दिखाई तो वैद्य ने संग्रहणी रोग बताया जो कई बार विष दिये जाने के कारण हुआ था।

महर्षि 20 जून 1880 से 30 जून तक रहे। यहाँ की यह उनकी अंतिम यात्रा सिद्ध हुई वहाँ से मेरठ, मुजफ्फरनगर होते हुए देहरादून पहुँचे। आगरा में आर्य समाज की स्थापना की। दिसम्बर 1981 को बंबई पहुँचकर करीब 6 महीने बंबई ठहरे। 28 मई को अजमेर फिर वहाँ से पाली और पाली से जोधपुर पहुँचे। जुलाई के अंत में जोधपुर नरेश को गुप्त पत्र लिखा नन्ही वेश्या के प्रेम को छोड़ने, राजकुमार की शिक्षा के लिये मुसलमान व ईसाई को न रखने, उसे देवनागरी संस्कृत और आर्ष ग्रंथ पढ़ाने, गणेशपुरी सरीखे तथा वेश्या आदि मीठे ठगों से परे रहने का उपदेश दिया। यह गणेशपुरी शाक्तमतानुयायी और नन्ही वेश्या का गुरु था। 26 सितंबर को महर्षि ने बताया कि आश्विन वदी 30 अमावस्या अर्थात् 1 अक्टूबर को जोधपुर से रवाना होंगे कि वर्षा प्रारंभ हो गई और 30 सितंबर को अथवा 1 अक्टूबर को रात्रि के समय चौलमिश्र के हाथ दूध पीकर महर्षि जब सो गये तो उदरशूल और जी मचलाने लगा, तीन बार वमन हुआ। स्वयं ही कुल्ला कर लेट जाते रहे। चौलमिश्र अथवा जगन्नाथ पंडित ही था जिसने महर्षि को दूध में जहर दिया। दयानंद महर्षि को ज्ञात हुआ तो उसने रुपये देकर तत्काल नेपाल के लिये रवाना कर दिया।

30 अक्टूबर को दीपावली के दिन 11 बजे से श्वास की गति बढ़ने लगी साढ़े पाँच बजे महर्षि की आज्ञानुसार सब पीछे खड़े हो गये। महर्षि गायत्री मंत्र का पाठ करने लगे और उनके मुँह से अंतिम शब्द निकले "आह! तैने अच्छी लीला की।" संध्या 6 बजे महर्षि का का शरीर कष्टमुक्त हो गया। 31 अक्टूबर 1883 की सायंकाल 6 बजे रामानंद व आत्मानंद ने अग्नि दी। महर्षि ने समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों को दूर करने के लिये लोगों का आह्वान किया। जाति को कर्म से बाँधा जन्म से नहीं। स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे। बालविवाह, सती प्रथा का विरोध किया तथा विधवा विवाह का समर्थन किया।

महर्षि दयानंद सरस्वती महान समाज सुधारक ही नहीं थे उन्होंने स्वराज की प्रथम जोत जलाई। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के सूत्रधार भी दयानंद सरस्वती थे। 1855 को हरिद्वार में एकांत स्थान पर उन्होंने अजीमुल्ला, नाना साहब, तात्या टोपे तथा बाबू कुँवर सिंह से मुलाकात की और देश की आजादी के लिये योजना तैयार की। रोटी और कमल की योजना में प्रमुख भूमिका दयानंद सरस्वती की ही थी। 1857 की क्रांति की असफलता पर दयानंद सरस्वती ने हतोत्साहित क्रांतिकारियों में अपने इस कथन से प्राण फूँक दिये "स्वतंत्रता संघर्ष कभी असफल नहीं होता, भारत धीरे-धीरे एक सौ वर्ष में परतंत्र बना है अब इसको स्वतंत्र होने में भी एक सौ वर्ष लग जायेंगे। इस स्वतंत्रता प्राप्ति में बहुत से अनमोल प्राणों की आहुतियाँ डाली जायेंगी।" दयानंद सरस्वती महान समाज सुधारक, योगी, दार्शनिक, देशप्रेमी, पाखंड विरोधी, आर्यावर्त (भारत) को एक महान देश बनाने में, उसका कायाकल्प करने की भावना से ओतप्रोत थे। [श०अ०]

दयानंद सरस्वती के ग्रंथ

महर्षि दयानंद द्वारा अपने जीवनकाल में अनेक धार्मिक व सामाजिक पुस्तकें लिखी गईं। प्रारंभिक पुस्तकें संस्कृत में थीं फिर उन्होंने आर्य भाषा (हिन्दी) में लिखना प्रारंभ किया। दयानंद द्वारा अनेकों शास्त्रार्थों में अपने विचार व्यक्त किये गये तथा अनेक लेख लिखे, यहाँ उनके प्रकाशित ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत है-

अद्वैतमत खंडन (मायावाद के खंडन पर आधारित) संवत् 1929 में काशी में प्रकाशित।

अष्टाध्यायी भाष्य-महर्षि दयानंद के स्वर्गारोहण के पश्चात् खंड-खंड रूप में प्राप्त अंशों को प्रकाशित कराया गया।

आर्याभिविनय (संवत् 1932) इसमें ईश्वर प्रार्थना व स्तुति के 108 मंत्रों का अर्थ सहित संग्रह है। यह पुस्तक 76 पृष्ठ की है।

ऋग्वेद भाष्य (संवत् 1934 में) अयोध्या में महर्षि ने लिखना प्रारंभ किया था। इसमें 10586 मंत्रों में से 5629 मंत्रों का भाष्य महर्षि द्वारा किया गया। ऋग्वेद भाष्य में 8573 पृष्ठ हैं। हिन्दी में वेद भाष्य करने वाले दयानंद प्रथम व्यक्ति थे।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (संवत् 1933) में अयोध्या में लिखा गया और काशी से प्रकाशित हुआ। हिन्दी व संस्कृत में लिखे इस ग्रंथ की पृष्ठ संख्या 462 है।

काशी शास्त्रार्थ-वि. सं. 1926 में काशी के पंडितों के साथ हुए शास्त्रार्थ का संस्कृत व हिन्दी में विवरण है। इसकी पृष्ठ संख्या 16 है।

पत्र और विज्ञापन-इसमें महर्षि के पत्र और विज्ञापन संकलित हैं। इसमें 544 पृष्ठ हैं। महर्षि के जीवन वृत्तांत, विचारधारा आदि के ज्ञान के लिए अत्यंत उपयोगी है।

पाखंड खंडन (संवत् 1923 सन् 1866) आगरा में ज्वाला प्रेस में मुद्रित सं. 1924 के कुंभ में बिना मूल्य बाँटी गई।

यजुर्वेद भाष्य—यजुर्वेद भाष्य को महर्षि ने 1934 वि. सं. में लिखना प्रारंभ किया और संवत् 1939 में संपूर्ण किया। इसमें 40 अध्यायों में 1975 मंत्र हैं, इसमें 360 पृष्ठ हैं।

वेदविरुद्धमत खंडन (संवत् 1931) 43 पृष्ठ की यह पुस्तक बल्लभ मत पर मुंबई में लिखी गई।

वेदांग प्रकाश (संवत् 1936 से 1939) यह पुस्तक 16 भागों में प्रकाशित है। इसकी पृष्ठ संख्या 1936 है। तीन भाग में है—वर्णोच्चारण शिक्षा, संस्कृत प्रबंध, व्यवहार भानु। शेष 13 भागों में विशुद्ध व्याकरण के अंग संधि विषय हैं। वैदिक भाषा का यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

वेदांत ध्वांत निवारण (संवत् 1933 में पहला संस्करण) इसमें संस्कृत, हिन्दी में नवीन वेदांत का खंडन किया गया है।

व्यवहारभानु-इस पुस्तक में बालक से वृद्ध तक के यथायोग्य व्यवहार की शिक्षा दी गई है, यह दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

शिक्षा पत्रीध्वांत निवारण (संवत् 1931) इसमें स्वामी नारायण मत का खंडन किया गया है। यह पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप में है। गुजराती से हिन्दी में अनूदित हुई है।

संध्या विधि (संवत 1920 वि. सन् 1863) आगरा में लिखी गई। इस पुस्तक का अंत लक्ष्मी सूक्त से हुआ था।

संस्कारविधि (संवत् 1940) संशोधित संस्करण 1941 में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें सोलह संस्कार संपूर्ण विधि सहित वर्णित हैं। यह 256 पृष्ठ का है। संस्कार चंद्रिका नाम से इसका भाष्य प्रकाशित हुआ।

सत्य धर्म विचार-संवत् 1939 में 30 पृष्ठ की इस पुस्तक में 1899 में चांदपुर जिला शाहजहाँपुर में ईसाई व मुसलमान विद्वानों के साथ हुए विचार-विनिमय का विवरण है।

सत्यार्थ प्रकाश (संवत् 1932) प्रथम संस्करण में इसमें 12 समुल्लास थे। 10 मंडनात्मक 2 खंडनात्मक। कुछ अशुद्धियों के कारण दो समुल्लास नहीं प्रकाशित हुए थे। दूसरा संस्करण भाद्रपद संवत् 1939 में प्रकाशित हुआ। यह 270 पृष्ठ का ग्रंथ था। मूल पुस्तक हिन्दी में है, इसमें 14 समुल्लास हैं। यह महर्षि का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश - 21 मन्तव्यामन्तव्यों की परिभाषा की यह पुस्तक 8 पृष्ठ की है। सर्वप्रथम 1884 में सत्यार्थ प्रकाश के साथ प्रकाशित हुई, बाद में इसे पृथक पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। [श०अ०]

दशहरा

आश्विन शुक्ल दशमी को दशहरा या अपराजिता दशमी भी कहते हैं। इस दिन भगवान राम ने रावण का वध करके लंका पर विजय प्राप्त की थी, दशहरा के दिन ब्रज के मंदिरों में ठाकुरजी के विशेष दर्शन होते हैं। ठाकुरजी को लाल रंग की पोशाक धारण करायी जाती है तथा उन्हें शस्त्र धारण कराके झाँकी बनायी जाती है। सायंकाल में दशहरा के पदों का गायन किया जाता है। ब्रज क्षेत्र में यह उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। ब्रज में वैसे तो भगवान की पूजा ग्वाले के रूप में होती है, पर दशहरा के दिन भगवान कई मंदिरों में क्षत्रिय वेश धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं तथा इस दिन ठाकुरजी के आगे कहीं-कहीं ढाल-तलवार भी रखी जाती है। वृन्दावन के श्री रंग मंदिर में इस दिन विशेष पूजन-अर्चन होता है जिसकी अपनी पुरानी परम्परा है। निश्चित तिथि एवं मुहूर्त पर प्रभु की शोभायात्रा मंदिर से बगीचा की ओर प्रस्थान करती है। जिसमें रजत निर्मित तीर (बाण) भी चलाये जाते हैं। शमी वृक्ष का पूजन होता है एवं सवारी पुन: मंदिर की ओर प्रस्थान करती है। मंदिरों के साथ ही ब्रज की लोक परम्परा में इस दिन ब्रजवासियों के घरों में घोड़े पर बैठे रामचंद्रजी का अंकन-गाय के गोबर से दीवार पर किया जाता है तथा उनका पूजन होता है। ब्रज में दशहरा के अवसर पर अस्त्र-शस्त्रों की पूजा भी प्रचलित है। नवरात्रि के समय मिट्टी में जौ बोये जाते हैं। वह नवमी तक दूर्वा घास की भाँति हो जाते हैं। दशमी के दिन दूर्वा के कोमल अंकुरों को एक साथ बाँधकर ठाकुरजी के श्रीमस्तक पर तिलक लगाकर अर्पित किया जाता है। इसे ज्वारा भी कहते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि परमानन्द स्वामी ने स्वकाव्य में दशहरा का उल्लेख किया है।

'सरद रितु सुभ जानि' अनूपम दसमी कौ दिन आयौ री

(परमानंद दास कवि, परमानन्द सागर पृ० 207)

[प्र०श०]

दस महाविद्या

जिस प्रकृति को 'अजा' कहा गया है वह शक्ति ही जगत की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाली है। इस शक्ति

के लिए ही 'विद्या' और 'महाविद्या' इन दो शब्दों का प्रयोग मार्कण्डेय पुराण में हुआ है। देवताओं ने स्तुति करते हुए इस शक्ति को 'लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये'' कहकर सम्बोधित किया है। दस महाविद्याओं में काली प्रथम और मूलरूपा हैं। काल अर्थात् भगवान शिव की शक्ति काली हैं। काली ने अपनी अङ्गभूता-काली, तारा, छिन्नमस्ता, षोडशी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला इन दस महाविद्याओं को अपने शरीर से प्रकट किया है। महाकाली के दस महान रूपों को ही दस महाविद्या कहा जाता है। भगवान शिव की दस महाविद्याएँ साधकों की परमधन हैं, जो सिद्ध होकर अनन्त शक्तियाँ प्रदान कर मुक्ति प्रदान करती हैं। काली तत्त्व प्राथमिक शक्ति है। निर्गुण ब्रह्म की पर्याय इस महाशक्ति को तान्त्रिक ग्रन्थों में विशेष प्रधानता दी गयी है। तन्त्रों में काली को अत्यन्त गोपनीय माना गया है। 'रक्त' और 'कृष्ण' भेद से काली को सुन्दरी और दक्षिणा कहा गया है-

विद्या हि द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदत:।
कृष्णा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी मता॥

कमला-विष्णु की शक्ति वैष्णवी ही कमला है। कमलासन पर आसीन, स्वर्ण के समान कान्तिमती, अपनी चार भुजाओं में क्रमश: वर, अभय, पद्मद्वय और किरीट और शरीर पर क्षौम वस्त्र धारण किये हुए हैं।

काली-कालिका पुराण की एक कथा के अनुसार काजल के सदृश काली होने से इनका नाम काली पड़ा। दुर्गासप्तशती में भी एक कथा है। शुम्भ और निशुम्भ के उपद्रव से व्यथित देवताओं ने हिमालय पर देवीसूक्त से देवी को बार-बार प्रणाम कर निवेदन किया, तब गौरवर्णा देह से कौशिकी का प्राकट्य हुआ और उससे अलग होते ही अम्बा पार्वती का रूप कृष्ण हो गया। अत: काली नाम से विख्यात हुई। शिवत्व का उदय और शिव भाव का बोध कराने वाली देवी काली की उपासना दीक्षागम्य होने पर भी यदि कोई शरणागत होकर अनन्यभाव से करता है तो भी उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है।

छिन्नमस्ता-जो शक्ति भुवनेश्वरी बनकर जगत का पालन करती है, वही अन्त में छिन्नमस्ता बनकर इस जगत का संहार कर डालती है। इस देवी के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कथा है-एक बार भगवती भवानी अपनी सहचरियों जया और विजया के साथ मन्दाकिनी में स्नान करने के लिये गयीं। वहाँ स्नान के पश्चात क्षुधा से पीड़ित होने पर वे कृष्णवर्णा हो गयीं। उस समय सहचरियों ने खाने के लिए जब कुछ माँगा तो देवी ने प्रार्थना करने को कहा, पुन: याचना करने पर फिर देवी ने प्रतीक्षा करने के लिए कहा जब उन सहचरियों ने अत्यन्त विनम्र भाव से कहा कि माँ तो अपने शिशुओं को भूख लगने पर तत्काल भोजन प्रदान करती हैं। इस प्रकार के वचनों को सुनकर कृपामयी ने अपना सिर काट डाला। कटा हुआ सिर देवी के बायें हाथ में आ गिरा और उस कबन्ध से तीन धाराएँ निकलीं। वे दो धाराओं को अपनी दोनों सहेलियों की ओर प्रवाहित करने लगीं, जिसे पीती हुई वे प्रसन्न होने लगीं। तीसरी धारा जो ऊपर को प्रवाहित थी, उसे वे स्वयं पान करने लगीं। तभी से वे छिन्नमस्ता कही जाती हैं। नितान्त गुह्य तत्त्वबोध की प्रतीक हैं। छिन्न यज्ञशीर्ष की प्रतीक ये देवी श्वेत कमल पर खड़ी हैं। इनकी नाभि में योनिचक्र है। दिशाएँ ही इनके वस्त्र हैं। भगवती के इस स्वरूप से अन्तर्मुखी साधना का संकेत मिलता है।

तारा-जैसे विश्वातीत काल पुरुष की शक्ति महाकाली है, वैसे ही विश्वाधिष्ठाता हिरण्यगर्भ पुरुष की शक्ति 'तारा' है। महाकाली प्रलय की अधिष्ठात्री देवी हैं, तो तारा या उग्रतारा सूर्य प्रलय की अधिष्ठात्री हैं। प्रलय करना दोनों का समान धर्म है। बृहन्नीलतन्त्र के अनुसार काली से नीलवर्णा होने के कारण इन्हें 'तारा' कहा जाता है। यह उग्रतारा का स्वरूप है, शत्रुनाश, वाक् शक्ति की प्राप्ति के लिए देवी के इस रूप की उपासना की जाती है।

त्रिपुरभैरवी-इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए इस विद्या की उपासना का निर्देश शास्त्रों द्वारा किया गया है।

क्षीयमान विश्व के अधिष्ठान दक्षिणामूर्ति कालभैरव हैं, तो उनकी शक्ति त्रिपुरभैरवी हैं। मृदु-हास्य से युक्त मुख, सहस्रों सूर्य के सदृश अंगकान्ति और क्षौमाम्बर धारण करने वाली तथा मुण्डों की माला पहने हुए रक्त से लिप्त पयोधर, तीन नेत्र वाली और हिमांशु-मुकुट धारण किये हुए, हाथ में जपवटी, विद्या, वर एवं अभय मुद्रा धारण करने वाली हैं।

धूमावती-एक कथा के अनुसार देवी पार्वती ने एक बार भगवान शिव से अपनी क्षुधा के निवारण के लिए निवेदन किया। कई बार निवेदन करने पर भी भगवान शंकर ने कोई उत्तर नहीं दिया और न ध्यान ही दिया तब क्रोधित होकर देवी ने महादेव को निगल लिया। धुएँ के सदृश वर्ण होने से इन्हें धूमावती कहकर प्रसन्न किया। वृद्धावस्था से युक्त, डरावनी और भूख-प्यास से पीड़िता स्त्री का इनका स्वरूप है। इसी देवी की मनोहर मूर्ति वगला के नाम से प्रसिद्ध है।

बगलामुखी-स्वयं पीतवर्णा और पीतवस्त्र आभूषण और माला धारण करने वाली हैं, एक हाथ में शत्रु की जिह्वा और दूसरे हाथ में मुदगर है। वाणी, विद्या तथा गति को अनुशासित करने वाली देवी हैं, सर्वसिद्धि प्रदान करने वाली और भक्तों के समस्त मनोरथ को पूर्ण करने वाली हैं।

भुवनेश्वरी-विश्वोत्पत्ति के उपक्रम में षोडशी की सत्ता थी, भुवनों को उत्पन्न कर उनका संचालन करती हुई वही शक्ति 'भुवनेश्वरी' बन गयी। त्रिपुरभुवन का पोषण करने के कारण ही इन्हें 'भुवनेश्वरी' कहा गया है। जगदम्बा भुवनेश्वरी का स्वरूप सौम्य और अंगकान्ति अरुण है। अपने भक्तों को अभय और सर्वसिद्धियाँ प्रदान करने वाली हैं। उभरे हुए स्तनों वाली और तीन नेत्रों से युक्त हैं और शासन-शक्ति के रूप में ये अंकुश और पाश को एवं वर मुद्रा को अपने हाथों में धारण करती हैं।

मातङ्गी-शिव का एक नाम मतङ्ग भी है, उनकी शक्ति होने से इन्हें मातङ्गी कहा जाता है। श्यामवर्णा, चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाली त्रिनेत्रा, रक्तमय सिंहासन पर विराजमान, चारों हाथों में क्रमशः पाश, खड्ग, खेटक और अंकुश धारण करने वाली हैं। गृहस्थ जीवन को सुख, समृद्धि से पूर्ण, शास्त्रार्थ में पारंगत और पुरुषार्थ सिद्धि के लिए इनकी उपासना फलदायी है।

षोडशी-शिवात्मक सूर्य शक्ति (जो शिव तन्त्र में 'पंचवक्त्र शिव' नाम से प्रसिद्ध है) का ही नाम 'षोडशी' है। प्रातःकालीन सूर्य के सदृश कान्ति से युक्त शरीर वाली, चार भुजाएँ और तीन नेत्रों वाली हैं। वर देने के लिए सर्वदा उद्यत भगवती का स्वरूप सौम्य और दया से परिपूर्ण है। ये देवी षोडशकला से परिपूर्ण पूर्ण विकसित हैं। ये श्री विग्रहवाली सिद्ध विद्या की देवी हैं।

शक्ति उपासना हमारे देश के कोने-कोने में सर्वत्र प्रचलित है। देवी भागवतपुराण के अनुसार 'राधा' केवल बरसानावासी वृषभानु की पुत्री ही नहीं है, अपितु जैसे परमात्मा के अवतार हैं, वैसे ही राधा भी पराशक्ति की अवतार हैं।

वेद में जिनका 'उमा' नाम से गान किया है, वही ब्रह्मविद्या राधा का स्वरूप है। यह ब्रह्मविद्या सर्वदा परमात्मा के साथ विद्यमान रहती है। वेद के त्रिसुपर्ण मन्त्र में उमा अर्थात् ब्रह्मविद्या के साथ सोम का उल्लेख आता है। परमात्मा ने श्रीकृष्णावतार में प्रेमाभक्ति प्रतिपालिनी लीला की है, त्रिसुपर्ण मन्त्र में उनकी प्रस्फुट छवि वर्तमान है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में राधा के स्वरूप और उत्पत्ति का वर्णन किया है-

गोलोकवासिनी सेयमत्र कृष्णाज्ञयाधुना।
अयोनिसम्भवा देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी॥

नारदपांचरात्र में आये हुए श्रीराधा के सहस्रनाम का पाठ करने से राधा के स्वरूप को भली प्रकार जान सकते हो कि राधा और सीता दुर्गा से अभिन्न हैं। वह दुर्गा जिसे दशमहाविद्याओं का समग्ररूप कहा गया है। [नि०श०]

दाऊजी (द्वितीय)

श्री दाऊजी का जन्म सन् 1796 ई. में आश्विन शुक्ल चतुर्थी को हुआ था। आप श्री गिरधर जी के पुत्र थे। सन् 1806 ई. में आप वल्लभ कुल की गद्दी पर विराजमान हुए। सन् 1820 ई. से सन् 1821 ई. तक आपने दुहरे मनोरथ किये। इसके बाद आपने श्रीनाथ जी की आज्ञानुसार दादी पद्मावती की प्रेरणा से दूसरा सप्त स्वरूपोत्सव कराया। उस उत्सव में प्रथम चार स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी, मथुरानाथ जी, गोकुलनाथ जी तथा नवनीतप्रिया को नाथद्वारा में स्थापित किया। इस उत्सव का आयोजन बड़े धूमधाम से हुआ था।

सन् 1821 ई. में श्रावण मास में इन्होंने श्री नवनीतप्रिया जी को तीन तिवारी, बनास नदी के किनारे लालबाग में स्थापित कर एक भव्य मनोरथ करवाया। दाऊजी अपने जन्म दिवस पर प्रभु को दोहरी किनारी युक्त केसरिया बागा, सफेद ठाड़ वस्त्र, पन्ने व मोती के आभूषण, लूम की कलंगी, पन्ने का कंठा इत्यादि से शृंगार किया करते थे।

[जि०कु०]

दाऊजी मंदिर, बलदेव

मथुरा से 24 कि.मी. दूर यमुना पार सादाबाद रोड पर स्थित है। महिमामय नगर दाऊजी जिसको बलदेव, बलदाऊजी, बलभद्रनगर आदि नामों से जाना जाता है। जनपद मथुरा स्थित तहसील महावन सम्मिलित यह धाम ब्रज चौरासी कोस के पूर्वी छोर को सुशोभित करता है।

ब्रज का वास्तविक परिचय देते हुए गोपालतापिनी उपनिषद् ने इस स्थल की चर्चा सर्वश्रेष्ठ वन के रूप में की है। बाबा नंद की असंख्य गायों के खिरक इसी स्थल पर थे। महाराज वसुदेव तथा मैया रोहिणी जी भी यहीं निवास करते थे। शेषावतार बलदेव जी का जन्म माता रोहिणी के गर्भ से इसी स्थान पर हुआ था। नंदराय जी के आग्रह पर कुलगुरु गर्गाचार्य जी ने इनका नामकरण किया था। रोहिणी सुत होने के कारण रोहिणेय सभी को आनन्दित करेंगे इस हेतु राम असीम बलवान होंगे अतः बलराम, बलभद्र द्वेष-हित एवं मतभेद दूर कराने वाले होंगे। इससे संकर्षण तथा बड़े होने के कारण दाऊजी। श्रीकृष्ण के समस्त महान एवं दैवी कार्य श्रीबलदेव की छत्रछाया, परामर्श एवं निर्देशन में सफल हो सकेंगे। आचार्य गर्ग ने नामकरण के अवसर पर यह उच्चरित किया था।

नृप शर्याति पुत्र आनर्त के पुत्र रेवत के ज्येष्ठ पुत्र ककुदमी की तपस्वी कन्या रेवती से बलदेव जी का पाणिग्रहण हुआ था। श्री रेवती जी भी अपने पति के समान तेजस्विनी थी। द्वापर युग के अंत में भगवान श्रीकृष्ण के प्रपौत्र श्री बज्रनाभ ब्रजमंडल के अधिपति बने तथा उन्होंने अपने काका इंद्रप्रस्थ एवं हस्तिनापुर के राजा परीक्षित के सहयोग से ब्रजमंडल का विकास किया। इसी क्रम में उन्होंने श्रद्धास्वरूप चार देव, चार महादेव एवं चार देवियों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं। उन्हीं चार देव प्रतिमाओं में श्री बलदेव की प्रतिमा श्री रेवती माता सहित स्थापित की थीं। श्री विग्रहों की पूजा-अर्चना होती रही और काल के प्रभाव से भूमिस्थ हो पूजा-अर्चना स्वीकार करती रहीं। अर्चावतार के प्राकट्य से पूर्व वट वृक्ष तले भगवान शेष और शेषावतार बलदेव जी दोनों का एक रूपतापन्न श्री विग्रह श्री रेवती मैया सहित दिव्य देवताओं की पूजा भी अन्य जन सामान्य के साथ-साथ ग्रहण किया करता था। यहीं पर ब्रह्मर्षि सौभरि वंशज द्विजवर श्री कल्याणदेवाचार्य जी इस हरे-भरे वट वृक्ष तले उटज बनाकर भगवान के ध्यान में मग्न रहते थे। एक दिवस उनकी श्री दाऊजी के ध्यान में निर्विकल्प समाधि लगी हुई थी कि भगवान बलदेव ने रेवती मैया के साथ भक्तवर गोस्वामी कल्याणदेवाचार्य जी को साक्षात् दर्शन दिये तथा निर्देश दिया, "वत्स हमको इसी वटवृक्ष तले से खुदवा कर प्रकट करो।" इसी प्रकार भगवान ने गोकुल के पुष्टि संप्रदाय के आचार्य गोस्वामी गोकुलनाथ जी को भी इसी आशय का स्वप्न दिया। विधि-विधान से अगहन शुक्ला पूर्णिमा संवत् 1638 वि. को युगल छवि को प्राकट्य कर गोस्वामी कल्याण देवाचार्य जी की कुटिया में प्रतिष्ठित किया गया। बल्लभकुल आचार्य गोस्वामी गोकुलनाथ जी भी पधारे,

उन्होंने ही श्री दाऊजी महाराज के प्रथम मंदिर का निर्माण कराया तथा उनके प्रमुख नैवेद्य खीर (क्षीर) का कटोरा में प्रभु को भोग अर्पित किया। श्री बल्लभकुल बालकों के एवं गोस्वामी कल्याणदेवाचार्य तथा जिनके कुलदेवता श्री बलदेवजी हैं, उनके बालकों के मुंडन के केश इसी वटवृक्ष की मूल को भेंट किये जाते हैं।

सांप्रदायिक सद्भाव के प्रतीक श्री दाऊजी महाराज के मंदिर के नगाड़खाने की व्यवस्था मुगलशाह औरंगजेब ने अपनी मूर्ति-भंजिनी सेना के श्री दाऊजी महाराज से हार मानने के बाद की थी। तभी यह उक्ति चरितार्थ हुई -

ब्रजमण्डल भाजनि परी, भाजि गये सब देव।
श्री यमुना सूनी रही, द्वार अड़े बलदेव॥

समय-समय पर शाहआलम के सेनापति नजफखान ने इसकी परंपरा को और सुदृढ़ किया। सन् 1805 ई. में मुगलशाह की ओर से तथा अंग्रेजी शासन के दिल्ली के एजेन्ट जनरल की ओर से मि. किंकम के मुद्रांकित आज्ञापत्र निर्गत हुए हैं।

ठा. दाऊजी महाराज के गोस्वामी गोकुलनाथ जी द्वारा निर्मित मंदिर के भक्तों एवं श्रद्धालुओं की निरंतर संख्या बढ़ते जाने के कारण छोटा पड़ने पर द्वितीय मंदिर का निर्माण ग्वालियर की महारानी सिंधिया जी द्वारा कराया गया। पुन: मंदिर को दिल्ली के सेठ श्यामदास जी ने दिल्ली से प्रस्तर संगमरमर आदि मँगाकर दिल्ली के ही कुशल कारीगरों द्वारा निर्माण कराया। मंदिर के उच्च शिखर पर स्वर्ण कलश एवं ध्वज धारण कराया।

गर्भगृह के तीन द्वार हैं। पूर्वाभिमुख द्वार के सम्मुख सिंहासन पर भगवान ठा. दाऊजी महाराज विराजे हैं, उनके सम्मुख कोने में उनके ही दार्यी ओर एक अलग सिंहासन पर माता रेवती विराजी हुई हैं। माता रेवती के दर्शन उत्तराभिमुख द्वार से तथा श्री दाऊजी महाराज के दर्शन दक्षिणाभिमुख द्वार से भी किये जा सकते हैं। श्रीदाऊजी का श्यामवर्ण श्रीविग्रह साढ़े सात फीट ऊँचा, नासिका, ठोड़ी एवं मस्तक पर हीरे शोभित हैं। ऊपर शेषजी रक्षा मुद्रा में स्थित हैं तो उनके सखा सुबल एवं तोष चरणों के अगल-बगल में सेवारत हैं। श्री रेवती जी की प्रतिमा छ: फीट ऊँची है जो श्यामवर्ण की है। गर्भगृह में ही ऊपर छत में स्वर्ण एवं रजत विशालकाय छत्र शोभायमान लटके हुए हैं।

गर्भगृह के आगे बरामदा और उसके समक्ष विशाल जगमोहन है। पीछे शयनागार तथा तोषखाना, जवाहरात, वस्त्राभूषण आदि के भंडारण हेतु अनेक कक्ष हैं। संपूर्ण मंदिर विशाल तिवारों की पंक्तियों से परिवेष्टित है। सामने विशाल प्रांगण है। प्रांगण में एक ओर तुलसी चौरा है। प्रांगण एवं गर्भगृह तथा कक्षों, तिवारों को घेरे हुए तीन विशाल द्वार हैं जो काष्ठ के विशाल फाटकों से सज्जित है। इसके पश्चात फिर मंदिर का अहाता है जिसमें संस्कृत विद्यालय, गौशाला, यात्रियों के ठहरने हेतु कुंजें निर्मित हैं जो एक मजबूत चहारदीवारी से घिरी चार विशाल द्वारों से प्रवेशित हैं।

गोस्वामी कल्याणदेवाचार्य जी के वंशजों सेवाधिकारियों की बारी-बारी से अपने अपने हिस्से के अनुसार नित्यप्रति सेवा व्यवस्था की निर्धारित तिथि आती है। उस दिवस सेवा-पूजा, भोग-राग के साथ-साथ मंदिर की व्यवस्थाओं का संचालन सेवाधिकारी की देख-रेख में मंदिर के कर्मचारीगण करते हैं। श्री दाऊजी महाराज ब्रज के राजा माने जाते हैं। ब्रज सहित पूरे भारत ही क्या विश्वभर में दाऊजी महाराज के मंदिर हैं किन्तु बलदेव स्थित दाऊजी मंदिर का एक अलग ही स्थान है। [क०ला०पां०]

दाऊजी मंदिर (सेवा पद्धति)

श्रीदाऊजी महाराज को समस्त धर्मावलम्बियों, श्रद्धालुओं एवं भक्तों द्वारा ब्रज के राजा के रूप में माना जाता है। अत: इनके मंदिर में सेवा-पूजा, भोग-राग एवं उत्सवों की परंपरा प्राकट्यकर्ता आदि सेवाधिकारी श्री कल्याणदेवाचार्य जी महाराज के शेष धाम सिधार जाने के अनन्तर उनके सुपुत्र द्वय गोस्वामी पांडे श्री हंसराज देव जी एवं गोस्वामी पांडे

श्री जगन्नाथ देव जी श्री बलभद्रीय संप्रदाय के व्यवहृत रूप को आगे बढ़ाया। भारत सरकार के सन् 1805 के आज्ञापत्र में उपरोक्त दोनों गोस्वामी पांडे सेवाधिकारियों की सम्मानपूर्वक चर्चा की गई है। यहाँ की पूजा परंपरा में श्रीनिम्बार्क संप्रदाय एवं बल्लभ संप्रदाय का सामंजस्य है। गोस्वामी गोकुलनाथ जी महाप्रभु बल्लभाचार्य के पौत्र ने तो स्वयं मंदिर निर्माण करा और भोग लगा सेवा-पूजा, भोग-राग अर्पित किया था। जबकि उनके पूजा विधान में बालकृष्ण की पूजा ही सर्वोपरि है। इधर आदि निम्बार्काचार्य जी ने राधाकृष्ण युगल पूजा का विधान किया है। इस प्रकार बलदेव स्थित श्री दाऊजी मंदिर में श्री दाऊजी सिंहासन पर सम्मुख अकेले ही हल-मूसल धारे विराजे हैं। उनके साथ सिंहासन पर श्री रेवती जी नहीं हैं। अपितु सामने दूर कौने में प्रियतमा की भाँति कम सहधर्मिणी व सेविका की भूमिका में अधिक दर्शनीय हैं। अत: दोनों ही संप्रदायों के आचार्य, अनुयायी एवं भक्तजन समान रूप से श्रीदाऊजी महाराज को पूजते हैं। श्रीदाऊजी के मंदिर में अष्टयाम सेवा का प्राधान्य है। श्रीदाऊजी मंदिर को श्री बलभद्र पीठ के नाम से भी जाना जाता है। पीठ की नैत्यिक परंपरा में प्रात: चार बजे न्हौवति नगाड़ा, बम्ब एवं शहनाई की पावन ध्वनि के साथ प्रभु जागते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में प्रात: छ: बजे और शीत ऋतु में प्रात: सात बजे बल्लभकुल की भाँति मंगला दर्शन होते हैं। तत्पश्चात दोनों ही श्री विग्रह के रात्रि के शयन शृंगार को बढ़ाया (उतारा) जाता है। विशिष्ठ सुगंधित तैलाभ्यंगपाद्य, अर्घ, आचमन, मार्जन, स्नान अंगोछन के पश्चात धोती, जामा, चोली, पटुका, फेंटा, पाग, इकलाई आदि वस्त्र वेद मंत्रों के पारायण के साथ धराये जाते हैं। तत्पश्चात् कंठा, कठला, कड़ला, वघनखा, हार, मुक्तमाला, करधनी, सिरपेच, लट, किरीट, चंद्रिका और मोर मुकुट धराते हैं। इसी प्रकार माता रेवती का शृंगार किया जाता है। दोनों श्री विग्रहों को तिलक, सुगंधित द्रव्य आदि धराये जाते हैं। तत्पश्चात् बालभोग में भगवान माखन और मिश्री आरोगते हैं। यह सभी कार्य गोस्वामी हंसराज देव एवं गोस्वामी जगन्नाथ देव के वंशज सेवाधिकारियों द्वारा अपने-अपने क्रम के दिवस के हिसाब से वेतनभोगी कर्मचारियों की सहायता से किया जाता है। बालभोग के अनौसर होने पर शृंगार आरती सेवा वाले सेवाधिकारी गोस्वामी पांडे द्वारा की जाती है।

आरती के दर्शन से मध्याह्न बारह बजे तक श्रद्धालु भक्तों की भीड़ का ताँता लगता रहता है। बारह बजे राजभोग हेतु गर्भगृह का खासा (स्वच्छता) के पश्चात् राजभोग धराये जाते हैं। जिसमें मिष्ठान्न-पकवान आदि के साथ श्रीदाऊजी को प्रमुख नैवेद्य खीर एवं वासोंदी अवश्य होते हैं।

बालभोग, राजभोग के अवसर पर संगीत समाज का आयोजन उस दिन के सेवाधिकारी के द्वारा कर्मचारियों अन्य सेवायतों एवं भक्तों के सहयोग से होता है। राजभोग के सात पद होने के पश्चात् सेवाधिकारी स्वयं मुखिया को साथ लेकर भोग उसरने पर भगवान को आचमन करा ताम्बूल आदि निवेदित करते हैं। ठाकुरजी के पट पौढ़ जाते हैं। पुन: हरियाली तीज से अक्षय तृतीया तक 3 से 4 बजे तक तथा अक्षय तृतीया से हरियाली तीज से पूर्व तक 4 से 5 बजे तक एक घंटे के लिये दर्शन खुलते हैं। इसमें उत्थापन भोग में भगवान की प्रिय विजिया धराई जाती है। सायं सूर्यास्त के समय तीसरी बार पट खुलते हैं। संध्या आरती होती है। संगीत समाज बैठती है। आरती के पद होते हैं। यह क्रम संगीत गायन (राग) का रात्रि नौ बजे भगवान के शयन भोग व शयन होने तक चलता रहता है। शयनभोग के समय का सूरदास का यह पद प्राय: गाया जाता है-

अब दूध लाई जसोदा मैया, पीलै रे मेरे कुंवर कन्हैयां।
आछो मीठौ औटि सिरानो, जामें मधुर मलैया।।

विशेष उत्सवों पर सेवा-पूजा एवं भोग व राग में विशेषता आ जाती है। इसमें पंचामृत स्नान पर्व के अनुसार वस्त्र एवं आभूषण दशहरा (विजयदशमी) पर ठाकुर जी हलमूसल धारण करते हैं तो कृष्ण जन्माष्टमी एवं बलदेव षष्ठी पर

विशेष जवाहरात धारण करते हैं। सूक्ष्म में विशेष पर्वों पर सेवा-पूजा, भोग-राग में जो विशेषता आती है वह इस प्रकार है-

प्रति पूर्णिमा को दाऊजी का मेला लगता है तथा उस दिन मंगला के दर्शन प्रातः चार बजे से हो जाते हैं तथा ठाकुर जी विशेष मुकुट धारण करते हैं। मार्गशीर्ष पूर्णिमा को ठाकुर जी का सबसे बड़ा मेला लगता है और ठाकुर जी जाड़े के वस्त्र (गद्दल) धारण करते हैं और तभी से पूरा ब्रजमंडल जाड़े में गद्दल का प्रयोग करने लगता है। यह पूर्णिमा ठाकुर के प्राकट्य की जयंती भी है। बलदेव मंदिर का संगीत समाज दूर-दूर तक विख्यात है। श्रावण में झूलन का, भादों में जन्म के बधाये, आश्विन में सांझी तो कार्तिक में दीपावली, अन्नकूट का समवेत स्वरों में वाद्यवृंद के साथ मार्गशीर्ष में प्राकट्य का, माघ में वसंत पंचमी से ऋतुराज का और फाल्गुन में होली का समाज गायन बहुत ही आनंददायक होता है। चैत्र कृष्ण द्वितीया को ब्रज का सबसे बड़ा होली उत्सव हुरंगा होता है। [क०ला०पां०]

दाताराम

दाताराम संत चरणदास जी के शिष्य थे। यह उनके प्रिय शिष्यों में से एक थे। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके स्वभाव एवं स्वरूप की प्रशंसा करते हुए बताया है कि ये अत्यंत मृदुभाषी और आकर्षक व्यक्तित्व के महात्मा थे। 'लीलासागर' के अनुसार इनकी सुंदरता से आकर्षित होकर अनेक महिला सत्संगी इनके सत्संग में आती थीं। एक कोई राजपुरुष जो कि इनका शिष्य था उसको यह बात अखरती थी। एक बार उसने चरणदास जी से जाकर इस विषय में इनकी निन्दा की। जब यह बात दाताराम जी को पता चली तो उन्होंने अपनी पुरुषेन्द्रिय को काटकर उस शिष्य के समक्ष रख दिया, तब उसको बहुत ग्लानि हुई। उसने गुरु पर संदेह करने के पाप से मुक्त होने के लिए दान-दक्षिणा दी और यज्ञादि का आयोजन किया और अपने गुरु से क्षमा-याचना की तब दाताराम जी ने उपदेश कर उसको आश्वस्त किया।

दाताराम जी अच्छे साधक और बानी रचयिता थे। इनकी बानियाँ मनोमुग्धकारी और प्रभावोत्पादक थीं। चरणदासी संतों की बानियों का संग्रह 'ब्रह्म विद्या सागर' नामक ग्रंथ में है। इसी में कुछ बानियाँ संग्रहीत हैं। इन्होंने नारनौल जिले के लुजीड़ा नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित की थी। [क०उ०]

दान

दान शब्द 'दा' धातु से निष्पन्न है—जिसका अर्थ है देना। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने जो कुछ हमें दिया है उसे समाज-सेवा में लगा देना दान है। किसी वस्तु पर से अपनत्व की छाप हटाकर दूसरों को स्वत्व जोड़ देना दान है।

देवराहा बाबा के शब्दों में देने का भाव 'दान' कहलाता है। दान से मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र होता है। 'दान' का अर्थ केवल धन का दान ही नहीं है बल्कि भगवान के प्रति मन, बुद्धि, श्रद्धा और विश्वास अर्पित करना भी दान है। सब कुछ भगवान ने हमें दिया है हमारा अपना कुछ नहीं है। भगवान के द्वारा दी गई वस्तु भगवान को ही देना दान का सच्चा स्वरूप है। दान आत्मकल्याण का महत्त्वपूर्ण साधन है। (दानमहिमा अंक-गीताप्रेस गोरखपुर)

अभयदान सबसे बड़ा दान है-न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं न सुवर्णदानम्। यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्॥ अर्थात् गोदान, भूमिदान, अन्नदान एवं सुवर्ण दान भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना अभयदान है।

दान परम्परा वैदिक काल से ही प्रचलित रही है। गोदान विशेष महत्त्वपूर्ण दान है। गाय के अतिरिक्त ऊँट, अश्व, रथ, नारी, भोजनादि का दान भी किया जाता है। ऋग्वेद में उल्लेख है-गोदानकर्ता स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है, अश्वदान से सूर्यलोक की प्राप्ति होती है, स्वर्णदान से देवत्व तथा परिधान दान से दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। (धर्मशास्त्र का इतिहास अ०25 पृ० 447)

धर्मशास्त्र में 'प्रतिग्रह' दान के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि के अनुसार ग्रहणमात्र प्रतिग्रह नहीं है। विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक 'प्रतिग्रह' है। अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाए तो दाता को अहर्ष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो जिसे देते समय वैदिक मंत्र पढ़ा जाए।

दान के छः अंग हैं-दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचितकाल एवं उचित देश। 'दाता' धर्मात्मा दान की अभिलाषा रखने वाला, व्यसनरहित पवित्र एवं अभिनित कर्म से व्यवसाय करने वाला होना चाहिए। 'प्रतिग्रहीता' सात्त्विक, दयालु, कुल, विद्या, आचार से श्रेष्ठ तथा शुद्ध जीवन निर्वाह की वृत्ति करने वाला होना चाहिए। 'श्रद्धा' का अर्थ है-दान करते समय याचक के प्रति हार्दिक प्रेम हो, उन्हें देखकर प्रसन्नता हो तथा दोष दृष्टि न रखकर उनका आदर हो। 'धर्मयुक्त देय' वही उत्तम है जो अपने प्रयत्न से उपार्जित हो। दूसरे को सताकर, चोरी, ठगी या अधर्म से प्राप्त धन या पदार्थ का दान करने से पुण्यफल नहीं मिलता। जिस देश और काल में जो पदार्थ दुर्लभ हैं उन्हें उसी देश एवं काल में दान करने से श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है।

दान के तीन प्रकार हैं-नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। जो प्रतिदिन दिया जाए वह नित्य दान है यथा बलिवैश्वदेव। शमन हेतु तीर्थ आदि स्थानों पर अमावस्या, पूर्णिमा, व्यत्तिपात, चंद्र-सूर्य ग्रहण आदि विशिष्ट अवसरों पर दिया जाने वाला दान नैमित्तिक है यह सकाम और निष्काम दोनों प्रकार का हो सकता है। सन्तान प्राप्ति, विजय, समृद्धि, कार्यसिद्धि हेतु किया जाने वाला दान काम्य है। देवल के अनुसार वाटिका-कूप आदि का समर्पण ध्रुवदान है। कूर्मपुराण में उक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त विमल दान है जो ब्रह्मज्ञानी को भगवत्प्राप्ति हेतु दिया जाता है। (भगवद् गीता-17/20-22) में सात्त्विक, राजस एवं तामस दान कथित हैं। देशकाल पात्रानुसार अपना कर्तव्य समझकर दिया गया दान सात्विक है। इच्छापूर्ति के लिये या अनुत्साह से दिया दान राजस है। अनुचित देश, काल, पात्र को बिना इच्छा एवं घृणा के साथ दिया गया दान तामसदान है।

दान के स्थल-दानमयूख में वर्णित है कि घर में दिया गया दान दस गुना, गौशाला में सौ गुना, तीर्थों में सहस्र गुना, शिवलिंग के समक्ष अनन्त फलयुक्त होता है। किसी भी वस्तु का दान करते समय दान ग्रहण करने वाले के हाथ पर जल गिराना चाहिए। सभी दानों में जल का प्रयोग होता है। (आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/4/9/9-10) [उ०भा०]

दामोदर (दाऊजी)

वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त श्री दामोदर जी का जन्म सन् 1654 ई. में माघ कृष्ण अष्टमी को हुआ था। इनके पिता श्री लाल गिरधर जी थे। इनका लालन-पालन इनके काका श्री गोविन्द जी, श्री बालकृष्ण जी तथा वल्लभ जी द्वारा किया गया। ये विद्वान, तपस्वी तथा ओजस्वी वक्ता थे। ये श्रीनाथ जी के सेवायत गुसाईं थे। औरंगजेब के अत्याचारों को बढ़ते देख आपने ही श्रीनाथजी को नाथद्वारा (मेवाड़) में लाकर वर्तमान मंदिर में स्थापित किया। [जि०कु०]

दामोदरदेव

औदुंबर द्विजकुल में जन्मे श्री दामोदर देव जी भगवद् भक्ति में इस स्तर तक निमग्न थे कि अहंकार जैसे विकारों से इनका लेशमात्र भी सरोकार नहीं था। इनकी निर्लिप्तता ऐसी थी कि इस नश्वर शरीर को उन्होंने पुराने जीर्ण वस्त्र की तरह त्याग दिया था। [कुं०बि०श०]

दामोदरवर

दामोदरवर जी राधावल्लभ सम्प्रदाय के बिन्दु परिवार के सुप्रसिद्ध आचार्य हैं। यह अपने पिता सुन्दरवर जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म संवत् 1634 आषाढ़ी पूर्णिमा को हुआ था। संवत् 1690 में आप आचार्य गद्दी पर

विराजमान हुए। दामोदरवर जी के काल तक हितवंशीय गोस्वामी परिवार के ज्येष्ठ घराने का पुत्र ही सम्प्रदाय का आचार्य एवं राधावल्लभ मंदिर का प्रधान सेवाधिकारी होता था। उनके बाद उनके दोनों पुत्र रासदास एवं विलासदास में आचार्यत्व एवं सेवाधिकार का विभाजन हो गया। इस सम्बन्ध में सम्प्रदाय में एक अनुश्रुति प्रचलित है कि दामोदरवर जी की पत्नी से बहुत समय तक कोई सन्तान नहीं हुई, इससे चिंतित होकर पिता सुन्दरवर जी ने दूसरा विवाह कर दिया। दामोदरवर जी की शर्त थी कि उनकी पत्नी से उत्पन्न संतान ही सम्प्रदाय की आचार्य व सेवाधिकारी होगी। दैवयोग से दोनों पत्नियों से साथ-साथ पुत्र उत्पन्न हुए। बड़ी पत्नी के पुत्र रासदास हुए एवं छोटी के विलासदास। दोनों की शिक्षा-दीक्षा साथ-साथ हुई, दोनों ही धार्मिक एवं प्रतिभाशाली विद्वान हुए।

दामोदरवर जी के अनेक शिष्य हुए। राधावल्लभ भक्तमाल में शिष्यों का नामोल्लेख हुआ है। उनके एक शिष्य प्राणनाथ कृत 'प्रश्नोत्तरी' में उनका जीवनवृत्त एवं उपदेश संकलित हैं। इन्हीं की दूसरी रचना 'हस्तामलक' है जो दामोदरवर जी ने बोलकर लिखवाई थी। भगवत मुदित ने इनको हितहरिवंश जी की 'विजयमूर्ति' एवं 'रसिक सभा के मुकुटमणि' बताया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा का उल्लेख भगवत मुदित जी ने किया है।

दामोदरवर जी रासलीला प्रेमी थे। उन्होंने अपने शिष्य मोहनदास से रासमंडली का गठन कराया। रासलीला स्थल पर उस मंडली की रासलीला होती थी। संवत् 1714 भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को उन्होंने एक अधिकार पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने व्यवस्था की कि उनके बाद भी सदैव नियमित रास होता रहे। उनके द्वारा रचित फुटकर ब्रजभाषा पद मिलते हैं। उनके द्वारा रचित पद राधावल्लभ मंदिर में श्रृंगार आरती में नित्य गाया जाता है।

दामोदरवर जी के समय में राधावल्लभ सम्प्रदाय की बहुत उन्नति हुई जिसमें उनके शिष्य समुदाय का योगदान रहा। उनके प्रमुख शिष्य-रसिकदास, पुष्करदास, श्यामशाह तूंबर, मोहनदास, माधुरीदास, प्राणनाथ, संतदास, द्वारकादास अधिक प्रसिद्ध हुए। दामोदरवर जी का निकुंजवास संवत् 1714 में हुआ। श्री दामोदरवर जी के शिष्य प्राणनाथ ने अपने 'प्रश्नोत्तर' नामक ग्रंथ में इनके परमोज्ज्वल जीवन की घटनाओं का संकलन किया है।

[उ०भा०]

दामोदर स्वामी

दामोदर स्वामी कीर्तिपुर (बिहार) के निवासी थे। इनके पिता व माता का नाम ज्ञात नहीं होता है और इनके जन्म का भी कोई निश्चित सम्वत् नहीं है। स्वामी दामोदर दास वृन्दावन आते-जाते रहते थे। लाल स्वामी से दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त वे श्रीधाम वृन्दावन में रहने लगे थे, वे सदैव अहंकार व संसार की ममता आदि का त्यागकर श्रीराधावल्लभ लाल का भजन करते रहते थे और उनके अद्‌भुत चरित्रों का गान करते रहते थे। उनके प्रदेश के लोग जो कुछ द्रव्य उनको भेंट के रूप में भेजते थे उसे वे श्रीराधावल्लभ लाल की सेवा में व संतों को प्रसाद वितरण में व्यय कर देते थे।

प्रियादास कृत 'भक्तमाल' में दामोदर स्वामी की तीस-बत्तीस वर्ष की अवस्था का वर्णन किया था और उपलब्ध तथ्यों के आधार पर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने शोध द्वारा इनका जन्म सं. 1577 के आस-पास तथा मृत्यु सं. 1610 हित हरिवंश महाप्रभु के एक वर्ष बाद माना है, जो सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

दामोदर स्वामी का यमुनाजी से सच्चा प्रेम था । वे राधावल्लभ लाल की प्रसादी माला, फूल आदि यमुना जी को अर्पण करते थे और निरन्तर यमुना तट पर बैठकर श्रीश्यामा-श्याम की प्रेमक्रीड़ा का चिन्तन किया करते थे। इन्होंने श्रीमद्‌भागवत की दस प्रतियाँ अपने हस्तलेख से तैयार की थीं और उनको योग्य व्यक्तियों (भक्तों) में वितरित कर दिया। एक दिन इन्हें ज्वर आ जाने के कारण वे जमुना तट पर नहीं गये और न माला प्रसादी यमुना जी को अर्पित की। कहते हैं यमुना जल सर्वत्र गली-बाजारों में आ गया और भागमती को यमुना जी ने स्वप्न में

कहा कि मैं दामोदर के दर्शन करना चाहती हूँ। यह बात जब दामोदर स्वामी को ज्ञात हुई, तो उन्होंने यमुनाजी को माला-प्रसादी भेंट की और एक पद से स्तुति की, तब यमुना लौटकर अपने स्थल पर बहने लगी।

दामोदर स्वामी दूसरों के अवगुण न देखकर उनसे सद्‌व्यवहार करते थे और स्वयं को सबसे नीचा समझते थे। ज्ञात होता है कि दामोदर स्वामी अपने स्थान पर श्रीराधावल्लभ की बहुत ठाट-बाट से सेवा करते थे। यह बात ब्रजवासियों को मालूम होने पर वे इनके यहाँ चोरी करने गये। उस समय स्वामी जी जाग रहे थे और चोर से गठरी न उठने पर उसे स्वयं ने उसके सिर पर रखा था। दुर्भाग्य से लोगों को पता चल गया और उन्होंने उस चोर को मार डाला। धनादि सामान को स्वामी के पास वापिस लेकर पहुँचे। घटना का पता चलने पर इन्हें बहुत दु:ख हुआ और स्वामी जी ने उस पैसे व सामान को बेचकर प्राप्त पैसे से चोर का महोत्सव कर दिया। कहते हैं इनके यहाँ अनेक बार चोरी की गई, किन्तु धनवान लोग इन पर श्रद्धा रखते थे और चोरी होने पर हर बार उसकी पूर्ति कर देते थे।

एक बार गिरिधर पुहकर दास इनके लिए बहुत-सा सामान लेकर इन्हें देने आये। स्वामी दामोदर दास सामान देखकर खड़े हो गये और कहने लगे अब मैं ठाकुर जी के लिए सामान एकत्रित नहीं करूँगा। यह कह कर मानसरोवर चले गये। इन्होंने उस समय एक दोहा लिखा-

सखी-सखा सब कृष्ण के, ब्रजवासी नर नारी।
दामोदर जन नै चलौ, उत्तम यहै विचार।।

इन्होंने अपनी सेवा अन्यत्र पधरा दी और बर्तन के स्थान पर पत्तल दौने रख लिये थे। आप राधावल्लभ-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भक्त थे और आपने सैकड़ों पदों की रचना की है। जिनको पढ़ने से और नित्यभाव में गान करने से अनेक लोग भवसागर से पार उतरते रहे हैं।

महाप्रभु ने अपने प्रण के अनुसार इन्हें नित्य बिहार के दर्शन कराये थे। दामोदर स्वामी ने सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में 22 रचनाएँ प्रस्तुत कीं। एक गद्य रचना 'भक्ति भेद सिद्धान्त' नाम से मिलती है। इसमें आपने भक्ति के भेदों का संक्षिप्त परिचय ब्रजभाषा गद्य में दिया है। इन्होंने चार 'मध्याक्षरी' की भी रचना की थी। दामोदर स्वामी की अन्य कृतियों में गुरुप्रताप, नेम बत्तीसी, सिद्धान्त के पद, बधाइयां, उत्सवों के पद, रहस-विलास, विहावला, चौपड़ खेल, फुटकर वाणी, सखी और जजमान, कन्हाई जस इत्यादि हैं। ललिता चरण गोस्वामी के अनुसार नेम बत्तीसी की रचना सं. 1687 में हुई है। 'भक्ति भेद सिद्धान्त' का रचना काल वि.सं. 1687 के आस-पास अनुमानित है। स्वामी दामोदर दास ने ब्रजभाषा गद्य की लोकप्रिय शैली व्याख्यात्मक तर्क प्रधान शैली का प्रयोग किया। इनका गद्य सुव्यवस्थित एवं प्रौढ़ है, भाषा परिमार्जित व सुन्दर है। [अ०सिं०सै०]

द्वारकेश

आपका जन्म सं. 1751 में श्री देवकीनंदन के वंश में हुआ। आप बहुत बड़े वार्ताकार, भक्त कवि हुए हैं। आपकी वार्ता पुष्टि सम्प्रदाय में 'भावना बारे' के उपनाम से प्रसिद्ध है। आपके ग्रंथों में अष्टसखा के दोहे, श्रीनाथजी आदि सात स्वरूपों की भावना, उत्सव भावना, नित्यलीला, मूल पुरुष और पथोपदेश उल्लेखनीय हैं। इस गृह के सेव्य स्वरूप गोकुलचन्द्रमाजी हैं। औरंगजेब के शासनकाल में पुष्टि सम्प्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूपों की भाँति गोकुलचन्द्रमा जी को गोकुल से हटाया गया था। श्री गोकुलचन्द्रमा जी और मदनमोहन जी सं. 1923 से 1928 तक बीकानेर में विराजे थे। 1928 में शुभ मुहूर्त में इन दोनों स्वरूपों को ब्रज में ले जाना निश्चित हुआ। उस समय ब्रज का अधिकांश भाग अंग्रेजों के शासन में था इसलिए धार्मिक स्थिति ठीक नहीं थी। गोकुल एवं गोवर्धन

का वातावरण भी उचित नहीं था अत: कामवन भरतपुर राज्य में होने के कारण धार्मिक दृष्टि से भी अधिक सुविधाजनक था। अत: यह सब देखते हुए श्री गोकुलचन्द्रमा जी तथा मदनमोहन जी के स्वरूपों को कामवन में प्रतिष्ठित किया गया जो भरतपुर राजस्थान में है। अत: कामवन भी ब्रज क्षेत्र होते हुए राजस्थान की सीमा में आता है। कामवन को प्राचीनतम वृन्दावन के अन्तर्गत माना जाता है। पुराणों के अनुसार इसे बारह वनों में से पाँचवाँ वन माना जाता है। अत: पंचम गृह के निधिस्वरूप श्री गोकुलचन्द्रमा जी का मंदिर यहाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध है। [वं०तै०]

दासकुंअर

दासकुंअर सुश्री सहजोबाई के भाइयों में तीसरी संतान थे। ये आतमराम इकंगी के भी परम मित्र थे। उनकी प्रेरणा से ही ये चरणदास जी के शिष्य बने थे। इन्होंने भी अपने बड़े भाइयों की तरह कोई गद्दी स्थापित नहीं की। ये अपने घर पर ही रहकर भजन-कीर्तन और भक्ति साधना में रत रहते थे। ये भी उच्च कोटि के बानीकार थे। इनकी बानियों में अक्खड़पन और ज्ञान की अनुभूति के दर्शन होते हैं। [क०उ०]

दिल्ली स्थित शुक संप्रदाय के स्थान

चरणदास जी का अधिकांश जीवन दिल्ली में ही बीता। यहीं उन्होंने शुक संप्रदाय का प्रवर्त्तन किया, शिष्य-शिष्याओं को दीक्षित किया तथा संप्रदाय का प्रचार एवं प्रसार किया। इसलिए दिल्ली में शुक संप्रदाय के सर्वाधिक मंदिर एवं स्थान हैं। वर्तमान में इनमें से बहुत से मंदिर दूसरों के कब्जे में चले गए हैं। ज्ञात स्थानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

गद्दी कर्तानन्द-सहजोबाई ने कर्त्तानंद को नरेला नामक स्थान का महन्त बनाया। यहाँ राधाकृष्ण का भव्य मंदिर है। मंदिर में चरणदास, सहजोबाई, कर्त्तानंद के चित्र लगे हुए हैं।

गद्दी जुगतानंद-चरणदास के शिष्य जुगतानंद जी के शिष्य कृष्णकृपाल ने यह स्थान खरीद कर अपने गुरु की गद्दी को यहाँ स्थापित किया। यह गद्दी चरणदास जी की बगीची के ठीक सामने है। मंदिर में राधाकृष्ण तथा हनुमानजी की मूर्तियाँ हैं। मंदिर में पीछे की ओर जुगतानंद तथा उनके उत्तराधिकारियों की छतरियाँ हैं। पूजास्थली पर जुगतानंद तथा उनके शिष्य कृष्णकृपाल का चित्र लगा हुआ है।

गद्दी मलनीबाई-सहजोबाई ने अपनी शिष्या मलनीबाई को बादली नामक स्थान की महन्तानी नियुक्त किया। यहाँ राधाकृष्ण का विशाल मंदिर है जिसमें चरणदास और सहजोबाई के चित्र लगे हुए हैं।

गद्दी रामरूप-यह स्थान चरणदास जी के शिष्य रामरूप जी ने संवत् 1839 वि. में जोतराम से खरीदा था तथा अपनी गद्दी बेरी (रोहतक) से स्थानान्तरित कर ली थी। वर्तमान में चरणपादुकाएँ मंदिर के अंदर हैं। यहाँ शुकदेव मुनि की एक प्राचीन मूर्ति है, जो रामरूप जी को पहाड़ की गुफा से मिली थी।

गद्दी रामसखी-चरणदास जी ने अपने शिष्य रामसखी, जो किन्नर थे, को कायस्थों की गली, चीरेखाना, दिल्ली में महन्त नियुक्त किया। इस स्थान पर राधाकृष्ण का भव्य मंदिर है। मंदिर में नृत्य करते हुए रामसखी का चित्र लगा हुआ है।

गद्दी श्यामविलास-सहजोबाई ने अपने शिष्य श्यामविलास को मादीपुर में महन्त नियुक्त किया। इस मंदिर में राधाकृष्ण की मूर्तियाँ, सालिगराम तथा चरणदास, सहजोबाई, रामजीदास के चित्र हैं।

गद्दी सहजोबाई-संत चरणदास ने अपनी बगीची के बायीं ओर सन् 1765 ई. को एक स्थान खरीद कर मठ का निर्माण करवाया और अपनी शिष्या सहजोबाई को महन्तानी के पद पर नियुक्त किया। पहले इस स्थान का प्रवेश द्वार गली सनीराम की तरफ से था। गंगादास जी ने मंदिर का पुनर्निर्माण करवाया। उन्होंने परिक्रमा हटवा दी। मंदिर एकदम

पीछे चला गया। वहाँ एक बड़ा चित्र है जिसमें शुकदेव मुनि के सामने चरणदास तथा सहजोबाई के सामने अगमदास निर्मोही बैठे हैं। यह सदर गद्दी कहलाती है।

चरणदास की बगीची-यह स्थान 3215, श्यामचरणदास मार्ग, मुहल्ला दस्सान हौज काजी में अवस्थित है। बगीची के मुख्य द्वार का नाम मोक्ष द्वार है। संपूर्ण बगीची एक बड़े अहाते में अवस्थित है। ड्योढ़ी पार करते ही आँगन में बायें हाथ पर एक अठपहलू छतरी बनी हुई है, जिसके दो द्वार हैं। अंदर चरणदास जी का मंदिर है। वर्तमान मंदिर तथा कोठरी के बीच से लेकर चौक में स्थित छतरी तक एक गुफा जाती थी। इस गुफा में चरणदास समाधिस्थ होते थे। उन्होंने इसी गुफा में योगबल से प्राण त्यागे थे। अब गुफा तक पहुँचने का मार्ग बंद है। यह चरणदास जी की समाधि है, जिसमें मिट्टी की हांडी में इनके फूल, अस्थि रखे हुए हैं। इस समाधि स्थल के ऊपर चरणदास के शिष्य जुगतानंद जी ने एक छतरी बनवा दी। छतरी के अन्दर की दीवारों पर रंगीन चित्रकारी है। एक चित्र में चरणदास जी अपने सत्रह शिष्यों के साथ बैठे हुए हैं। छतरी के बीचों-बीच तीन फुट ऊँचे चबूतरे पर शुकदेव मुनि (बायें) और चरणदास जी (दायें) की चरणपादुकाएँ बनी हुई हैं। अन्दर बरामदे में एक पुराना तख्ता है, जिस पर बैठकर चरणदास जी उपदेश दिया करते थे। पहले यहीं पर चरणदास जी का प्राचीन मंदिर अवस्थित था जिसके चारों ओर परिक्रमा भी थी। मंदिर में तीन पत्थर लगे हुए हैं।

दायाँ पत्थर-यहाँ पर बैठी हुई अवस्था में चरणदास की मूर्ति है, जो कुछ पतली है। मंदिर में ऊपर चरणदास जी का चित्र भी लटका हुआ है। प्रतिवर्ष संप्रदाय के स्थापना दिवस अर्थात् वसंत पंचमी के दिन अनेक भक्त एवं अनुयायी एकत्रित होते हैं।

बायाँ पत्थर-इस पत्थर पर शोभनदास से लेकर चरणदास तक की वंशावली दी हुई है। जिसमें शुकदेव मुनि गोद में बैठे हुए बालक रनजीत को उलटे हाथ से पेड़ा खिला रहे हैं।

मध्य का पत्थर-यह प्राचीन पत्थर है। पत्थर के ऊपर गद्दी बिछी हुई है, जिस पर चरणदास जी की टोपी, मृगछाला, कुबरी, चोंगा, तुलसी की माला तथा मयूर पंख रखे हैं।

शिव मंदिर-यह मादीपुर में एक दूसरा स्थान है, जहाँ शिवजी का एक विशाल शिवलिंग अवस्थित है। [म०गो०भा०]

दीक्षा (ब्रह्म संबंध)

दीक्षा से तात्पर्य किसी धर्म-संस्कार के लिये समर्पण या पवित्रीकरण तथा यज्ञ से पूर्व किये जाने वाला प्रारम्भिक संस्कार भी दीक्षा कहलाता है। किसी कार्य विशेष के लिये अपने आप को समर्पित करना भी दीक्षा ग्रहण करना कहा जाता है। इसी शब्द के अनुसार दीक्षा ग्रहण करने वाला दीक्षित होता है। यह परम्परा वल्लभ कुल संप्रदाय में ब्रह्म संबंध नाम से जानी जाती है। प्रत्येक पुष्टि मार्गीय वैष्णव भगवत्सेवा का अधिकारी (दीक्षा ग्रहण करने) ब्रह्म संबंध लेने के पश्चात् ही होता है। [रा०श०]

दीपावली

कार्तिक अमावस्या के दिन आयोजित दीपावली का महापर्व ब्रज में पाँच दिन तक मनाया जाता है। यह उत्सव धनतेरस के दिन प्रारंभ होता है। दीपावली का पर्व कार्तिक अमावस्या के दिन मनाया जाता है किन्तु यह महापर्व धनतेरस से शुरू होकर अमावस्या तक चलता है। इन तीन दिनों में दीपावली विधान का कारण यह है कि भगवान विष्णु ने इन्हीं तीन दिनों में दैत्यराज बलि से तीनों लोक लेकर उसे पाताल भेजा था। उसके दान से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने जब उससे वर माँगने को कहा तो उसने कहा भगवान आपके दर्शन के बाद मुझे और कोई आकांक्षा

नहीं रही किन्तु आपके आदेश से मैं यह वर माँगता हूँ कि इन तीनों दिनों में जो प्राणी दीपदान करेगा वह यम यातना से मुक्त रहेगा और उसके घर लक्ष्मी निवास करेगी। ब्रज के विविध धार्मिक स्थलों और मन्दिरों में दीवाली को एक महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। ब्रज के गोवर्धन नामक स्थान में मानसी गंगा के चारों ओर के घाटों पर इस दिन हजारों दीपक जलाये जाते हैं और गिर्राजजी की पूजा की जाती है। ब्रज के मन्दिरों में ठाकुरजी को हटरी में विराजमान कर उनका विशेष समारोह किया जाता है और साथ में पूजन भी किया जाता है। इस दिन ठाकुरजी का विशेष श्रृंगार किया जाता है और मन्दिर के प्रांगण में सजावट की जाती है। इस अवसर पर ठाकुरजी के समक्ष खिचड़ी के पद गाये जाते हैं। गोकुल, नन्दगांव, बरसाना इत्यादि स्थानों पर भी इस उत्सव का आयोजन धूमधाम से होता है। वृन्दावन के सप्त देवालय में कार्तिक नियम सेवा का आयोजन होता है तथा यहाँ पर श्री काली माता के भेष में 'मामान घोष' को दर्शन प्रदान लीला के दर्शन का आयोजन होता है तथा दीप पंक्तियों से मन्दिर की सजावट होती है। इसके साथ ही अन्य मन्दिरों में ठाकुरजी हटरी में विराजमान होते हैं लेकिन ठाकुर राधावल्लभलाल जी दीपावली के दिन चौपड़ खेलते हैं तथा उनका जरी का श्रृंगार किया जाता है व दीपकों से मन्दिरों को सजाया जाता है, दर्शनार्थी दीपदान करते हैं। दीपक पंक्ति के अर्थ में इस पर्व को दीपमालिका कहा जाता है। सूरदासजी ने दीपमालिका के त्यौहार का वर्णन दीपों की उस 'पंक्ति' के साथ किया है-

दीपदान दीपावलि देखौ 'हीरा दीप खंभ नग राजत'।
'जगमग जोति रही' चहुँदिसि ते निबिड तिमिर अति भाजत॥

(परमानंद दास कवि, परमानन्द सागर 264)
[प्र०श०]

देवकीनन्दन

देवकीनन्दन जी पंचम गृह के श्री रघुनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पौत्र थे। इनका जन्म संवत् 1634 को हुआ था। ये गुसाईं जी के परम प्रिय थे। उनके आशीर्वाद से ही ये प्रभावशाली आचार्य हुए। इनसे ही पंचम गृह की मूल परम्परा चली थी। [वं०तै०]

देवाचार्य

श्रीनिवासाचार्य आदि द्वादश आचार्यों के क्रम में श्रीदेवाचार्य जी अंतिम आचार्य हैं। निजमत सिद्धांत के अनुसार कश्मीर के सारस्वत ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। इन्हें भगवान श्रीकृष्ण के हस्तकमल में सुशोभित पद्म का अवतार माना जाता है। गुरुदेव श्री कृपाचार्य जी की शरण ग्रहण कर बारह वर्षों तक वृन्दावन वास किया। गुरुदेव के निजधाम गमन के पश्चात 90 वर्षों तक पीठासीन रहे। गुरुदेव के निजधाम गमन के पश्चात् काठियावाड़ की एकांत गुफा में समाधिस्थ हो गए। एक बार कश्मीर के विभिन्न मतवादियों में श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया। तब एक वृद्ध ब्राह्मण के कथनानुसार सभी मतों के नाम पत्रों में लिखकर गणपति प्रतिमा के सम्मुख रखे गए और यह निर्णय किया गया कि जिस नाम का पत्र सर्वप्रथम हाथ लगे, वही सर्वश्रेष्ठ होगा। भगवद् कृपा से वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा प्रमाणित हुई। वैष्णवाचार्य की खोज काठियावाड़ में समाप्त हुई और उन्हें कश्मीर लिवा लाया गया। जब आचार्य जी उस गणपति मंदिर में गए तो प्रतिमा ने स्वयं प्रकट हो उनका सम्मान किया। आचार्य जी के साथ ही मौजूद ब्रजभूषण जी ने वहाँ पर्वत में ही गुफा बना दी। आचार्य जी के कमंडल के जल से फूकट-नागस्थल पर एक पावन सरिता प्रकट हुई। अमरनाथ शिव के दर्शन लोगों को आपकी कृपा से ही हुए। देवों ने भी आपके आचार्यत्व और योग्यता को स्वीकार किया। इसी से श्रीदेवाचार्य नाम चरितार्थ हुआ। आपकी ख्याति से भयभीत कुछ विद्वेषियों ने आपको अपमानित करने

के लिए क्लिष्ट संस्कृत से आपकी परीक्षा लेने का उपक्रम किया किंतु वे सभी पंडित भगवद् कृपा से संस्कृत मंत्रों के स्थान पर काँव-काँव करने लगे। आचार्य जी के प्रभाव से वे बड़े लज्जित हुए और क्षमा-प्रार्थना की। इनके साथ अनेकों लोगों ने वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। कश्मीर से आचार्य जी पुन: काठियावाड़ पहुँचे। वहाँ के राजा ने इनके प्रभाव के अनुरूप केसर की उपज के लिए प्रार्थना की। आचार्य जी ने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, वहाँ तक केसर की उपज होगी। आचार्य जी अत्यंत प्रकांड विद्वान थे। इसका उद्घाटन उनके द्वारा लिखित जाह्नवी और भक्ति रत्नांजलि से होता है। भक्ति रत्नांजलि अप्राप्त है, वहीं जाह्नवी का कुछ भाग ही प्राप्य है। निकुंज भावना में श्री देवाचार्य जी देवी के अवतार माने गए हैं। इनका पाटोत्सव माघ शुक्ल पंचमी को होता है। [कुं०बि०श०]

देवेन्द्र नाथ ठाकुर

बंगला नवजागरण के प्रारंभिक उन्नायकों में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म 15 मई 1817 को लब्धप्रतिष्ठ टैगोर परिवार में हुआ। यह परिवार बंगला नवजागरण का प्रमुख केंद्र माना जाता था। उनके पिता श्री द्वारिका नाथ टैगोर बंगला नवजागरण के प्रणेता राममोहन राय के घनिष्ठ मित्र थे। देवेन्द्रनाथ भी स्वाभाविक रूप से ब्रह्मवादी विचारधारा से प्रभावित थे। उन्होंने हिंदू धर्मग्रंथों विशेष रूप से उपनिषदों का गहन अध्ययन किया। सन् 1834 में उन्होंने अपने अनुभव और ज्ञान के प्रसार के लिए 'तत्त्वबोधिनी सभा' का गठन किया। 'तत्वबोधिनी' पत्रिका जिसका आरंभ सन् 1843 में हुआ, एक प्रकार से तत्वबोधिनी सभा की विचारधारा और उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करती थी। सन् 1833 में राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद उन्होंने पतनोन्मुख होती जाती ब्रह्म सभा को पुनर्जीवित किया। ब्रह्म सभा का विलय तत्वबोधिनी सभा में हो गया और इसे कलकत्ता ब्रह्मसमाज नाम दिया गया। सन् 1848 में देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्मसमाज के बीज रूप में 'आदि धर्म' के सिद्धांतों को व्यवस्थित किया। उनकी एक पुस्तक 'ब्रह्मोधर्म' में उन्होंने तर्क और बुद्धिवाद पर विशेष बल देते हुए मनुष्य और ईश्वर की निकटता के लिए ध्यान पर बल दिया। उनके गहन चिन्तन और उदात्त आध्यात्मिक साधना के कारण उन्हें महर्षि कहा जाने लगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने उनके उदात्त आध्यात्मिक व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की और स्वयं उनके यहाँ पधारे। वे भारत की ऋषि परम्परा के सच्चे उत्तराधिकारी थे। वास्तविक रूप से संत होते हुए भी उन्होंने कभी संत होने का आडंबर नहीं किया। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वे महिलाओं को सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे किन्तु बंगाल में पहली बार महिलाओं के लिए उच्च शिक्षा के द्वार खोलने का श्रेय उन्हें ही है। पश्चिम से उन्होंने केवल दो बातों को ग्रहण किया एक ईश्वर के प्रति एकनिष्ठता और दूसरा समाजसेवा अन्यथा वे पूरी तरह प्राच्य धर्म और संस्कृति के रंग में रँगे थे। महर्षि के पुत्र-पुत्रियों में यों तो सभी ने शिक्षा, कला, साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया किन्तु उनके सबसे छोटे पुत्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिन्हें भारत में पहली बार नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया, को वैश्विक स्तर पर जाना जाता है। [ज०सिं०नी०]

देवोत्थान एकादशी

ब्रज के मन्दिरों में यह त्योहार बहुत धूमधाम के साथ मनाया जाता है। कार्तिक मास की शुक्लपक्ष की एकादशी संध्या को संध्या के समय ईख (गन्ने) से बनी कुंज में शालिग्राम देवस्वरूप का अभिषेक किया जाता है तथा विशेष आरती-पूजन किया जाता है। यह उत्सव वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त गौड़ीय सम्प्रदायों के मन्दिरों में भी अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न किया जाता है। इस दौरान स्थानीय मंदिरों में तुलसी शालिग्राम के परिणयोत्सव की भी प्राचीन परंपरा है। यह पर्व गर्मी के अंत और सर्दी के प्रारंभ की मिलन बेला का पर्व है। जिस दिन शेषशायी विष्णु भगवान जो क्षीरसागर में शयन कर रहे होते हैं, उन्हें पूजा-अर्चना के द्वारा उठाया जाता है। इस दिन पवित्र तुलसी के

पौधे का कृष्ण के साथ घर-घर और मन्दिरों में ब्याह रचाया जाता है। घर-देवालयों को विभिन्न भूमि अलंकरणों से सजाया जाता है। घर के भीतर चौक को सुबह ही बनाया जाता है। शाम को मण्डप बनाकर चौक पर खड़ा कर दिया जाता है तथा पटले पर श्रीकृष्ण के रूप में शालिग्राम तथा समीप तुलसी का विरवा रख दिया जाता है। पूजा की सामग्री के साथ पाँच या सात घी के दीये एक थाल में रखकर आरती उतारते जाते हैं और कहते जाते हैं—

उठो देव, बैठो देव, पावरिया चटकाओ देव।
क्वारों का ब्याह करो ब्याहों का गौना करो देव...

इस दिन ब्रज के नर-नारी व्रत रखते हैं तथा मथुरा, गरुड़ गोविन्द और वृन्दावन की परिक्रमा करते हैं। ब्रज के मन्दिरों में इस दिन विशेष उत्सव किया जाता है। वर्षा ऋतु के चातुर्मास में सोये हुए देवतागण इस दिन जाग्रत हुए माने जाते हैं। इसलिये जो विवाहादि मांगलिक कार्य चार महीनों से बन्द रहते हैं, वे प्रबोधिनी के दिन देवताओं के उठने से फिर से होने लगते हैं। इस दिन को देवोत्थान अथवा देवोठान भी कहा जाता है। इस दिन ब्रज की नारियाँ अपने घरों को लीप-पोत कर उन्हें खरिया मिट्टी और गेरू से चित्रित करती हैं। एकादशी के दिन मथुरा के लोग तीन वन की परिक्रमा भी लगाते हैं। [प्र०श०]

द्वैताद्वैत

निम्बार्क सम्प्रदाय ब्रज का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। 'सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति।' भविष्य पुराण के इस प्रामाणिक वचनों के आधार पर उनका द्वापरान्त कालीन समय माना गया है। पौराणिक वचनों पर आस्था न रखने वाले कतिपय ऐतिहासिक विद्वानों ने भी उन्हें श्री आद्य शंकराचार्य से पूर्ववर्ती माना है परन्तु उन्होंने इनका समय पाँचवीं शती माना है। इसका कारण शंकर भाष्य में द्वैताद्वैत मत का खण्डन है।

श्री निम्बार्काचार्य के पूर्ववर्ती द्वैताद्वैतवादी आचार्यों का परिचय बादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' में प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र में निम्बार्क से पूर्ववर्ती जिन आचार्यों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं-आचार्य आश्मरथ्य, औडुलोमि, काशकृत्स्न, काष्णाजिनि, बादरि और बादरायण।

आचार्य निम्बार्क का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। द्वैताद्वैत किंवा स्वाभाविक भेदाभेद अति सुलझा हुआ औपनिषद् सिद्धान्त है। कारण श्रुतियों में भेद-अभेद दोनों प्रकार की श्रुतियाँ उपलब्ध हैं जो कि षड्लिङ्गोपेत है अर्थात उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद तथा उपपत्ति इनसे युक्त है। अत: स्वाभाविक भेदाभेदवाद ही औपनिषद् सिद्धान्त मान्य है। इनमें से एक श्रुति को मानना एक को नहीं मानने पर अर्द्धनास्तिकता होती है।

द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव तथा जगत दोनों ब्रह्म के अधीन हैं। वस्तुत: ब्रह्म ही अपनी अनन्त शक्ति के कारण ओत-प्रोत भाव से जीव और जगत रूप में प्रकाशित हो रहा है। ब्रह्म के बिना इन दोनों की स्थिति सम्भव नहीं कही जा सकती। जीव और जगत का ब्रह्म से इतना ही अन्तर है, जितना कि तरंगों का उनके समुद्र से। अत: एक प्रकार से यह मत अद्वैतवाद का पोषक है। साथ ही अतीत रूप में विद्यमान होने के कारण ब्रह्म जीव और जगत से भिन्न भी है; क्योंकि अंशांशी भाव से भी अंश ही तो अंशी नहीं माना जा सकता। अत: यह मत द्वैतवाद का भी पोषक है। सम्मिलित रूप में इस मत को द्वैताद्वैत मत के नाम से सम्बोधित करना सार्थक प्रतीत होता है।

जीव और जगत को ब्रह्मात्मक होने तथा ब्रह्म से अभिन्न होने के साथ ही निम्बार्क उनमें द्वैत भी स्वीकार करते हैं। उनका यह द्वैत अथवा भेद मायाकृत न होकर पारमार्थिक एवं मौलिक होने के कारण नित्य शाश्वत है। निम्बार्काचार्य के

अनुसार जीव को 'जीव ब्रह्म', जगत् को 'जगत् ब्रह्म' नामरूप सहित, सनातन, निर्विकार सच्चिदानन्द ब्रह्म को 'अक्षर ब्रह्म' तथा सगुण ब्रह्म को 'ईश्वर ब्रह्म' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्म को जीव ब्रह्म, जगत ब्रह्म, ईश्वर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म का युगपत् या ब्रह्म की चार स्थितियाँ कही जा सकती हैं। इनमें जीव और जगत् ब्रह्म की अंशात्मक एवं आत्मपरक स्थितियाँ कही जा सकती हैं तथा ईश्वर और अक्षर उसकी सगुण व निर्गुण स्थितियाँ हैं।

भेदाभेद का समानाधिकरण्य जो तेतस्तिमिरवत् असंभव प्रतीत होता है, उसका भी सामञ्जस्य मिथिला के एक महान दार्शनिक गोलोकवासी पण्डित प्रवर श्री भगीरथ जी झा ने अपने द्वैताद्वैत विवेक नाम ग्रंथ में नव्यन्याय की प्रौढ़ भाषा में कर दिया है। यह पुस्तक आचार्य पीठ सलेमाबाद के जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य जी ने प्रकाशित की है।

सम्प्रदाय के परमाराध्य परमोपास्य वृन्दावनविहारी श्री शिवसनकादि वन्दित प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव दिव्य युगल ही हैं। ये दिव्य युगल अठारहों पुराण पंचम वेद महाभारत 108 संहिताओं वाला पाञ्चरात्र शास्त्र से भगवान श्रीमन्नारायण के सर्व मूल रूपों में अग्रगण्य माने गए हैं। पुराणों में सर्वत्र सती, सरस्वती, दुर्गा, काली आदि देवी-देवताओं को इन्हीं दिव्य युगल से प्रकाशित माना गया है। [वै०ना०झा०]

द्वैताद्वैतसिद्धान्त सेतुका

श्रीनिम्बार्काचार्य से सत्रहवीं पीढ़ी में श्रीसुन्दर भट्टाचार्य रचित 'द्वैताद्वैतसिद्धान्त सेतुका' श्रीदेवाचार्य प्रणीत 'सिद्धान्त जाह्नवी' की विस्तृत टीका है, जो 'सिद्धान्त जाह्नवी-सेतुका' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त जाह्नवी के उपलब्धांश सहित चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। इसमें द्वैताद्वैत मत का समर्थन किया गया है। [क०उ०]

दौलतराम

दौलतराम दिल्ली स्थित परीक्षितपुरा के रहने वाले थे। ये जाति के भार्गव थे। इनके पिता का नाम राजाराम था। रामरूप जी के ग्रंथ 'गुरु भक्ति प्रकाश' में इनके बारे में एक घटना का वर्णन किया गया है। उसके अनुसार एक बार ये रात को अपने तिमंजिले घर की छत पर सो रहे थे। अचानक ये छत से नीचे गिर रहे थे तभी चरणदास जी ने प्रकट होकर इनको गोद में रोक लिया, तब इनकी अवस्था मात्र 8 वर्ष की थी। जब इनके परिवारीजनों को इस घटना के विषय में जानकारी मिली तो इनके पिता के हृदय में चरणदास जी के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गयी और इनके पिता ने इनको चरणदास जी के चरणों में समर्पित कर दिया।

ये आजीवन जब तक गुरु जीवित रहे दिल्ली स्थित आश्रम में रहे। गुरु के देहावसान के बाद इन्होंने अपना शेष जीवन जयपुर में व्यतीत किया। जयपुर के दरबार में इनका बड़ा आदर-सम्मान था। इन्होंने कोई स्वतंत्र गद्दी की स्थापना नहीं की। नागरी प्रचारिणी सभा को जयपुर से एक 'परमात्म प्रकाश' नामक ग्रंथ प्राप्त हुआ है जिसमें एक दौलतराम का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि संभवत: उपरोक्त दौलतराम हो सकते हैं। [क०उ०]

द्यौ

द्यौ, द्यौष्पिता, द्यौष्पितृ या द्यावा ये सभी नाम आर्यों के एक प्राचीनतम देवता के हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उनके नाम का अर्थ है-आकाश पिता। हालाँकि कहीं-कहीं इस शब्द का प्रयोग 'आकाश' और 'स्वर्ग' के अर्थ में भी हुआ है। द्यावा यानि 'पृथ्वी माता' को उनकी संगिनी कहा गया है। ऋग्वेद, अग्नि, इंद्र और उषा इन्हीं की संतति है। द्यौष्पितृ का उल्लेख ऋग्वेद के 1:89:4, 1:90:7, 1:164:33, 1:191:6 और 4:1:10 श्लोकों में मिलता है। इसके अलावा ऋग्वेद के 1:89:4 श्लोक में 'पितृ द्यौष' और 'माता द्यावा' का वर्णन साथ-साथ हुआ है। यद्यपि

अन्य देवों का उल्लेख इनसे अधिक बार हुआ है, फिर भी उनका पिता होने के नाते इनकी महत्ता अधिक मानी गई है। ऋग्वेद के 4:17:4 में इन्हें इंद्र का पिता बताया गया है।

कुछ विद्वानों ने द्यौ और अन्य हिंद-यूरोपीय देवताओं की पारस्परिक समानता पर शोध किए हैं। उनके अनुसार द्यौष्पिता का नाम व उनकी भूमिका से साफ है कि वे वही देवता हैं जिन्हें प्राचीन यूनान में 'जीउस' और प्राचीन रोम में 'ज्युपिटर' कहा जाता था। माना जाता है कि वे वही देव हैं जिन्हें आदिम-हिन्द-यूरोपीय लोग 'द्येउस' के नाम से पूजते थे। सोमानंद ने 'मधुमति' में लिखा है कि यूनानी विजेता सिकंदर स्वयं को 'झियू' (द्यौ) देवता का पुत्र मानता था।

मुक्तिबोध के अनुसार 'वैदिक आर्यों ने सृष्टि की शक्तियों में देव-रूप देखा। ऋग्वेद में जो देवता हैं वे प्रकृति के नाना रूपों और शक्तियों के प्रतीक हैं। आगे चलकर, उन्होंने कण-कण में समाए परमात्मा की कल्पना पैदा की। प्रारंभ में वे प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के उपासक थे। हम वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँट सकते हैं-सर्वोच्च शून्याकाश के देवता, जैसे द्यौ, अश्विन, सूर्य तथा उसके विभिन्न रूप जैसे सवित, उषस और इनके अतिरिक्त विष्णु और वरुण, पृथ्वी के देवता जैसे, अग्नि, सोम, सरस्वती तथा पृथ्वी और इन दोनों के बीच, अंतरिक्ष देवता जैसे इंद्र, वायु, पर्जन्य, मरुत। इनमें सर्वाधिक प्राचीन हैं द्यौस् और द्यावा। द्यौस् या द्यौः आकाश का चमकता देवता था। वह हमारा पिता था, पृथ्वी माता थी। किंतु ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता गया, द्यौः के स्थान पर वरुण का तथा इंद्र का माहात्म्य बढ़ता गया। आगे चलकर वरुण समुद्रों का, जल का भी देवता बना। यही नहीं, वह सत्यत और ऋत का (विश्व-व्यवस्था, सृष्टि-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, नैतिकता आदि सबका) देवता बना। विश्व के त्रिकालदर्शी शासक और अनुशासक के रूप में उसकी कल्पना की गयी। पाप-शांति के लिए लोग उससे क्षमा-याचना करने लगे।

देवी भागवत और शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख आया है कि द्यौ आठ वसुओं में से एक थे। एक दिन आठों वसु पत्नियों के साथ आमोद मग्न थे, तभी उन्हें वशिष्ठ ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। द्यौ की पत्नी ने उनसे नंदिनी गाय की माँग कर दी। द्यौ ने बलपूर्वक नंदिनी का अपहरण करना चाहा। तब वशिष्ठ ने द्यौ को शाप दिया कि उन्हें भीष्म रूप में पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ेगा। [अ०श्री०]

धनतेरस

कार्तिक के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी को धनतेरस का त्योहार मन्दिरों में अत्यन्त उत्साह के साथ सम्पन्न किया जाता है। इस दिन यम की पूजा होती है। इस अवसर पर यमुना किनारे दीपदान किया जाता है। यह आयुर्वेद के प्रतिष्ठाता भगवान धन्वन्तरि जी का जन्मदिवस भी है। इसी उपलक्ष्य में धन्वन्तरि जी का पूजन करते हैं तथा समस्त मानव समाज के स्वास्थ्य लाभ की कामना करते हैं। धन-तेरस के दिन धन की लक्ष्मी की पूजा की जाती है, पर ब्रज के गोप-ग्वालों का धन तो उनकी गाय है। इस दिन ग्वाले अपनी-अपनी गायों को, बछड़ों को सजाकर उनकी पूजा करते हैं। कृष्ण भक्तों ने इस उत्सव को कृष्ण लीला के अंतर्गत अंगीकृत किया है। इस दिन ब्रज के मन्दिरों में विशेष झाँकी होती है व धनतेरस के पदों का गायन किया जाता है। अष्टछाप के कवि कुंभनदास तथा परमानंद दास ने कार्तिक वदी तेरस के दिन नंदरानी द्वारा 'धन धोवने' की बात कहकर धन-तेरस का वर्णन किया है।

(क) 'धन तेरस रानी धन धोवति।'...

(परमानंद दास कवि, परमानंद सागर 251)

(ख) आज माई, 'धन धोवति नंद रानी।'...

(कुंभनदास कवि, कुंभनदास पद संग्रह 48)

[प्र०श०]

धर्मनाथ

धर्मनाथ जैन धर्म के 15वें तीर्थंकर हैं। रत्नपुर के महाराज भानु उनके पिता और सुव्रता माता थीं, जो अपने पवित्र आचरण से कुल की शोभा बढ़ाने वाली थीं। गर्भधारण करने के पश्चात् महारानी सुव्रता ने तीर्थंकर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। हर्ष सहित वे गर्भ का पोषण करने लगीं। गर्भकाल समाप्त होने पर माघ शुक्ल तृतीया की रात्रि पुष्य नक्षत्र में सुव्रता ने वज्र के लक्षण वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। तत्क्षण जीवों को भी शांति प्राप्त हुई।

महाराज भानु ने पुत्र जन्मोत्सव मनाकर पुत्र का नाम धर्मनाथ रखा। धर्मनाथ जब गर्भ में थे उस समय महारानी सुव्रता को धर्म करने की इच्छा हुई थी। अतः तीर्थंकर का नाम भी धर्मनाथ रखा गया। देवकुमारों के साथ बालक्रीड़ा करते हुए भगवान धर्मनाथ वृद्धि पाने लगे। समय के साथ धर्मनाथ युवक हुए। युवावस्था में भगवान का पैंतालीस धनुष ऊँचा सर्वांग सुंदर और तेजोमय शरीर अत्यंत शोभायमान दिखने लगा। माता-पिता के विशेष आग्रह पर धर्मनाथ ने विवाह किया और पत्नी सहित आनन्दपूर्वक रहने लगे। प्रभु धर्मनाथ की अवस्था जब ढाई लाख वर्ष की हुई तब महाराज भानु ने राजपाट उन्हें सौंप दिया। पाँच लाख वर्ष तक प्रभु धर्मनाथ पिता द्वारा सौंपे हुए राज्य को नीतिपूर्वक चलाते रहे। अपने कल्याण धर्म और तीर्थ के विचार एवं देवों की धर्म-तीर्थ प्रवर्त्तक होने की प्रार्थना को ध्यान में रखकर धर्मनाथ ने राजपाट त्यागकर वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया।

वार्षिक दान की समाप्ति पर इंद्रादि देव उनका निष्क्रमणोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुए। दीक्षाभिषेक हो जाने के पश्चात् शिविकारूढ़ होकर नगर के बाहर उद्यान में पधारे। वहाँ माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन एक सहस्र राजाओं के साथ प्रभु धर्मनाथ संयम में प्रव्रजित हो गए। संयम स्वीकार करते ही धर्मनाथ को मनःपर्याय नाम का चौथा ज्ञान प्राप्त हुआ। दीक्षा लेकर भगवान रत्नपुर से विहार कर गए। दूसरे दिन सोमनसपुर में धर्मसिंह राजा के यहाँ भगवान का परमात्र से पारणा हुआ। भगवान वहाँ से जनपद में विहार कर गए।

पक्षियों की तरह स्वतंत्र विचरते हुए और उनके परिषद् सहनपूर्वक संयम का पालन करते हुए धर्मनाथ दो वर्ष तक छद्मावस्था में रहे। विचरते हुए प्रभु रत्नपुर के उसी प्रकांचन उद्यान में पधारे। वहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ भगवान ने अपने जात्रिक कर्म क्षय कर दिए, जिससे पौष शुक्ल अमावस्या के दिन जब चंद्र पुण्य नक्षत्र के योग को प्राप्त हुआ, भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

प्रभु धर्मनाथ को केवल ज्ञान होते ही इंद्रादिदेव सेवा में उनके समक्ष उपस्थित हुए और केवलज्ञानोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने भव्य जीवों का उद्धार करने वाली वाणी की धारा बहाई। वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों ने प्रतिबोध पाया और आत्मकल्याण किया। पुनः भगवान धर्मनाथ विचरते हुए अश्वपुर नगर के उद्यान में पधारे। उस समय पुरुष सिंह नाम के वासुदेव और सुदर्शन नाम के बलदेव अर्द्धचक्री के वैभव को भोग रहे थे। भगवान को वन्दन करने हेतु उद्यान में उपस्थित हुए।

प्रभु धर्मनाथ दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचरते रहे और अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। प्रभु के तैंतालीस गणधर थे, चौंसठ हजार मुनि थे, बासठ हजार छः सौ साध्वियाँ थीं। दो लाख चालीस हजार श्रावक थे और चार लाख तेरह हजार श्राविकाएँ थीं। इसके अलावा अन्यानेक भव्य जीव सम्यकत्वधारी भी हुए।

अपना निर्वाण काल समीप जानकर प्रभु धर्मनाथ एक सौ आठ मुनियों को लेकर सम्मेद शिखर पधार गए। वहाँ उन्होंने सदा के लिए अन्नशन व्रत ले लिया। अंत में ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन पुष्य नक्षत्र में भगवान निर्वाण को प्राप्त हुए। इंद्रादि देवों ने इनका अंतिम संस्कार किया और अठाई महोत्सव करके अपने-अपने स्थान को गए। प्रभु धर्मनाथ ढाई लाख वर्ष कुमारवय में रहे और शेष आयु केवली पर्याय में व्यतीत किया। इस प्रकार दस लाख वर्ष का आयुष्य भोगकर प्रभु धर्मनाथ तीर्थंकर अनन्तनाथ के निर्वाण के मौनपल्य कम तीन सागरोपम पश्चात् निर्वाण को पधारे।

धर्मनाथ का प्रतीक वज्र है और यक्ष-यक्षी किन्नर एवं कन्दर्पा (मानसी) हैं। मूर्त अंकनों में यक्ष-यक्षी का

निरूपण नहीं हुआ है। केवल बारभुजी गुफा (खण्डगिरि) की मूर्ति में नीचे यक्षी भी आमूर्तित है। वज्र प्रतीक युक्त ध्यानस्थ मूर्तियाँ बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं में है। विमलवसही के देवकुलिका सं. 1 की मूर्ति (12वीं शती ई.) के लेख में धर्मनाथ का नाम उत्कीर्ण है। मूर्ति में यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति एवं अम्बिका है।

[दु०न०ति०]

ध्रुवदास

ध्रुवदास जी सहारनपुर (उत्तरप्रदेश) के देववन (देवबन्द) कस्बा के कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम श्यामदास था। ये महाप्रभु हरिवंश जी के शिष्य थे। ध्रुवदास महाप्रभु हरिवंश के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इनकी रचनाओं के सम्वत् के आधार पर इनका जन्म सम्वत् 1630 से कुछ पूर्व प्रतीत होता है और देहावसान सम्वत् 1700 के कुछ बाद ज्ञात होता है।

प्रियादास ने इनका जन्म सं.1622 और इनके पिता श्यामलाल को गोपीनाथ का शिष्य बताया है। साथ ही लिखा है कि वीठलदास जूनागढ़ राज्य के दीवान और श्यामलाल बिजनौर के राजा सोमदेव के प्रतिष्ठित राज-कर्मचारी थे। कतिपय वाणियों के आधार पर इनका जन्म सं.1632 के आस-पास माना है। वियोगी हरि ने इनका जन्म सम्वत् 1650 (सन् 1593 ई.) के आस-पास माना है। यह सन् व सम्वत् प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसी सन् 1593 में इनकी एक रचना 'रसानन्द लीला' उपलब्ध होती है। अत: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इनका जन्म सम्वत् 1630 के आस-पास ही माना जाना उचित प्रतीत होता है।

ध्रुवदास ने हरिवंश महाप्रभु के तृतीय पुत्र गोपीनाथ से दीक्षा ग्रहण की थी। ये वंश परम्परा से राधावल्लभ-सम्प्रदाय से जुड़े थे। कृतियों के आधार पर इनका वृन्दावन आने का काल सं. 1640 माना जा सकता है। ध्रुवदास अत्यन्त विनीत, रसिक, साधुसेवी, सन्तोषी, सहिष्णु और गम्भीर प्रकृति के महात्मा थे। इनका मन राधा-कृष्ण के लीला-गान के सिवाय किसी काम में नहीं लगता था।

ज्ञात होता है कि ध्रुवदास के मन में श्यामा-श्याम के नित्य विहार का गान करने की तीव्र अभिलाषा थी, किन्तु इनको वाणी का स्फुरण नहीं हो पा रहा था। ध्रुवदास रासमण्डल में पड़े थे, अर्द्धरात्रि के समय राधाजी ने ध्रुवदास के सिर पर चरणों का स्पर्श कराकर कहा कि जो तू चाहता है वो तुझे प्राप्त हो जायेगा और तब से इनका अन्त:करण भावनाओं से ओत-प्रोत हो गया। भगत् मुदित ने ध्रुवदास को 'परम्पराय अनन्य उपासी' लिखा है। राधावल्लभ- सम्प्रदाय के भक्त महानुभावों में सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से हित हरिवंश गोस्वामी के बाद आप मूर्धन्य प्रतीत होते हैं। सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक स्वरूप ध्रुवदास के ग्रन्थों में उद्घाटित हुआ है। ये पहले संत हैं जिन्होंने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को 'सिद्धान्त-विचार' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक ब्रजभाषा में प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत किया।

ध्रुवदास के ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुए हैं। भारत जीवन प्रेम बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'ध्रुव सर्वस्व' नाम से कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा और इण्डियन प्रेस द्वारा 'भक्त नामावली' प्रकाशित हो चुकी है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में इनके ग्रन्थों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। ध्रुवदास के ग्रन्थों की संख्या बयालीस प्रामाणिक रूप से निश्चित हो चुकी है। ललिता चरण गोस्वामी ने बयालीस लीला के अतिरिक्त इनके 103 फुटकर पद मिलने का उल्लेख किया है। इनके चालीस ग्रन्थ मिले हैं- जीवदशा लीला, वैद्यक ज्ञान लीला, मन-शिक्षा लीला, वृन्दावन संत लीला, ख्याल हुलास लीला, भक्त नामावली लीला, वृहद बावन पुराण भाषा लीला, सिद्धान्त विचार लीला (गद्य), प्रीती चौवनी लीला, आनन्दाष्टक लीला, भजनाष्टक लीला, भजन कुण्डलियाँ लीला, भजन सत लीला, भजन शृंगार लीला, मन शृंगार लीला, हित शृंगार लीला, सभा मण्डल लीला, रस मुक्तावली लीला, प्रेमावली लीला, प्रियाजी नामावली लीला, रहस्य मंजरी लीला, सुख मंजरी लीला, रति मंजरी लीला, नेह मंजरी लीला, वन विहार लीला, रंग विहार लीला, रस विहार लीला, रंग हुलास लीला, रंग विनोद लीला, आनन्द दशा विनोद लीला, रहस्य लता लीला, आनन्द लता लीला, अनुराग लता लीला, प्रेमदशा लीला, रसानन्द लीला, ब्रज लीला, जुगल ध्यान लीला, नृत्य विलास लीला, मान लीला और दान लीला। इनके अतिरिक्त वैदिक ज्ञान लीला, मन शिक्षा लीला है। छतरपुर के पुस्तकालय में 'ध्रुवदास की वाणी' नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी मिलता है।

इनका रचनाकाल आचार्य शुक्ल ने सं. 1660 से 1700 तक माना है। ललिताचरण गोस्वामी ने रसानन्द लीला (सं. 1650) प्रेमावती लीला (सं. 1671), सभामण्डल लीला (सं. 1681), रहस्य मंजरी लीला (सं. 1698) का उल्लेख किया है। 'सिद्धान्त विचार' का रचनाकाल अन्त:साक्ष्य व परीक्षण के आधार पर सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल ने इसका रचनाकाल सं. 1652 के आस-पास माना है जो उचित प्रतीत होता है।

[अ०सिं०सै०]

धौलपुर के हिन्दू धार्मिक स्थल

राजस्थान का पूर्वी प्रवेशद्वार धौलपुर जिला पौराणिक-ऐतिहासिक काल से ही सनातन धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता आया है। यह ब्रज-क्षेत्र का ही एक भाग होते हुए सीमावर्ती उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश एवं करौली, भरतपुर जिले की संस्कृति से भी प्रभावित रहा है। सन् 1982 तक यह भरतपुर जिले का ही एक भाग था। पौराणिक आख्यानों एवं जनश्रुतियों के अनुसार इसके कुछ स्थानों का सम्बन्ध रामायण एवं महाभारत काल से भी रहा है, जिसके फलस्वरूप इसकी विशिष्ट धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहचान मानस पटल पर उभरकर आती है।

चोपड़ा महादेव मंदिर -मध्य काल के समय इस क्षेत्र में शैव धर्म का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा। धौलपुर जिले में अनेक मंदिर बने हुए हैं जो यहाँ के लोगों की धार्मिक भावनाओं के परिचायक हैं। जिसमें बने शिवालयों में सिरमौर है चोपड़ा का शिव मंदिर, जो जिला मुख्यालय के समीप राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। चोपड़ा महादेव के मंदिर का निर्माण 1856 ई. में धौलपुर रियासत के महाराज भगवंतसिंह के मामा तथा तत्कालीन रियासत के दीवान राज धरजू कन्हैयालाल ने करवाया था। यह मंदिर दक्षिण भारत में बने मंदिरों की शैली में बना हुआ है। इसकी ऊँचाई लगभग 150 फुट है। प्राचीनकाल में बने इस मंदिर में महादेव शिव का एक काले रंग का सुन्दर शिवलिंग स्थापित है। मंदिर के गर्भ गृह के भीतर व बाहर चारों ओर विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमायें पत्थरों में उकेरी गई हैं।

पुरानी छावनी-गाँव पुरानी छावनी का अपना ऐतिहासिक महत्व है। धौलपुर रियासत के महाराजा कीरतसिंह की राजधानी रही पुरानी छावनी का सेना के निवास के लिए निर्माण किया गया था। आज भी यहाँ प्राचीन इमारतें जर्जरावस्था में खड़ी हैं। गाँव पुरानी छावनी जिला मुख्यालय से करीब 5 किलोमीटर दूरी पर स्थित है तथा बाड़ी रोड़ से सीधा रास्ता गाँव के लिए गया है। पुरानी छावनी को मंदिरों का गाँव कहना गलत नहीं होगा। गाँव में लगभग 350 मंदिर हैं, जिनमें प्रसिद्ध रामचन्द्र, हनुमान व चोपड़ा मंदिर हैं, पर जीर्णोद्धार के अभाव में इमारतें खराब होती जा रही हैं। गाँव का रामचंद्र जी मंदिर प्राचीन व ऐतिहासिक है। मंदिर में केवल रामचंद्र जी की भव्य स्वर्ण प्रतिमा है। जिस पर उनके अन्य अवतारों का भी चित्रण है।

बाबा विशन गिरि महाराज-बाड़ी उप-जिला मुख्यालय से दक्षिण की ओर से सात कि.मी. रामसागर बाँध के पास स्थित है विशन गिरि महाराज मन्दिर। मान्यता है कि सन्त विशन गिरि एक सिद्ध महात्मा थे और उन्होंने अपना पूरा जीवन भगवान की भक्ति में लीन कर इस स्थान पर समाधि ली। आज विषैले कीड़े-मकोड़े अथवा किसी भी तरह के चर्म रोग और असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्ति बाबा विशन गिरि की धूनी की राख जो लगा लेता है उसे

आराम मिल जाता है और वह असाध्य रोग जड़ से चला जाता है।

बाबू महाराज -धौलपुर जिले के डांग इलाके की कुदिन्ना ग्राम पंचायत में एक ऊँचे सुरम्य पहाड़ पर बाबू देवता का प्रसिद्ध थान है। इसके पास ही चम्बल नदी बह रही है, जो राजस्थान व मध्यप्रदेश प्रान्तों की सीमा-रेखा है। यहाँ से प्राकृतिक दृश्य देखते ही बनता है। बाबू के थान पर प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को मेला लगता है। डांग इलाका गुर्जर बाहुल्य क्षेत्र है। वस्तुत: बाबू महाराज गुर्जर जाति के आराध्य देव हैं। बाबू महाराज की उपासना एक प्रकार से सूर्य उपासना है, जिसमें मूर्ति नहीं होती। मूर्ति की पूजा नहीं अपितु उसकी जगह एक थान अर्थात चबूतरा होता है। वस्तुत: यह निराकार उपासना है। डांग इलाके में बाबू महाराज के अनेक थान हैं, किन्तु कुदिन्ना गाँव में इस थान का महत्व सर्वोपरि है। बाबू महाराज का थान एक इमारत में है, जो पूर्वाभिमुख है। इस जगह पहुँचने के दो रास्ते हैं। एक धौलपुर से वन विहार और दूसरा बाड़ी से तालाब-ए-शाही होते हुए।

भूतेश्वर महादेव मंदिर-जिले में बाड़ी-बसेड़ी रोड़ पर पार्वती नदी के किनारे भूतेश्वर महादेव का प्राचीन मंदिर स्थित है। इस मंदिर के बारे में कहा जाता है कि इस शिव मंदिर की स्थापना स्वयं जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने की थी। यहाँ पर प्रतिवर्ष श्रावण व भाद्रपद मास में शिवजी का विशाल मेला लगता है। इन शिवमंदिरों के अलावा बसेड़ी से 5 कि.मी. की दूरी पर पिपरोन गाँव में शिवजी का दर्शनीय मंदिर कोटेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। इस मंदिर का निर्माण गुप्तकाल में हुआ बताया जाता है। यहाँ पर भी प्रतिमास फाल्गुन मास की चौदस को विशाल मेला लगता है।

उक्त धार्मिक स्थलों के अतिरिक्त कई अन्य स्थान भी व्यापक जनास्था के प्रतीक हैं, जिनमें शेरगढ़ दुर्ग स्थित हनुमान मंदिर, वनखण्डी हनुमान मंदिर, लाठखेड़ा हनुमान मंदिर, सन्तर रोड़ स्थित मोटे हनुमान जी, कालीमाता मंदिर, सन्तोषी माता मंदिर, लौंगपुर वाला पहाड़, गेंदा बाबा, सातक्यारी हटीला बाबा, महामाया मंदिर धूलकोट, पेचवाले हनुमान जी आदि धौलपुर के प्रमुख हिन्दू धार्मिक स्थल हैं। राजाखेड़ा रोड़ पर स्थित मरैना ग्राम के निकट रहना वाली माता का स्थान तथा पहाड़ी स्थित पीतमगिरि की समाधि के प्रति लोगों की आस्था है। राजाखेड़ा तहसील के बाजना ग्राम स्थित रघुनाथ मंदिर के प्रति स्थानीय लोगों में असीम आस्था है। बाड़ी स्थित कैला माता का मंदिर एवं सैंपऊ तहसील के ग्राम आरी स्थित प्राचीन मंदिर भी श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उपरोक्त विवेचन से धौलपुर के हिन्दू धार्मिक स्थलों की एक स्पष्ट एवं मनोरम छवि हृदय पटल पर उभर आती है।

मुचकुण्ड-मुचकुण्ड एक पवित्र स्थान है, जो कि राजस्थान प्रदेश के पूर्वी द्वार धौलपुर नगर के निकट स्थित है। जिला मुख्यालय से 2 कि.मी. की दूरी पर अरावली पर्वत श्रृंखला से घिरा हुआ है। यह सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थान दिल्ली-मुंबई राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 3 पर स्थित है। इस पवित्र स्थान का सम्बन्ध भगवान राम की 19 वीं पीढ़ी पूर्व के सूर्यवंशीय 24 वें राजा मुचुकुन्द देव से है जो मान्धाता के पुत्र थे। मुगल सम्राट अकबर ने भी इसके निर्माण में अपना योगदान दिया है। प्रकृति की गोद में बसा यह स्थान बेहद आकर्षक एक पर्यटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मुचकुण्ड के अवशेष बताते हैं कि यह इतिहास के द्वितीय चरण का ऐतिहासिक स्थल है। 775 ई. से 915 ई. तक प्राचीन पाल वंशीय राजाओं ने यहाँ पर बहुत छोटे-छोटे मंदिर, पूजा के स्थान एवं जल संग्रहण स्थान बनवाये थे। मुचकुण्ड उन्हीं में से एक जल-कुण्ड है। यहाँ प्रतिवर्ष आयोजित मेले में व अन्य धार्मिक पर्वों पर उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान व अनेक राज्यों से यात्री आकर पूजा-अर्चना करते हैं तथा मन की शान्ति एवं संतुष्टि का अनुभव करते हैं। यहाँ अनेक प्राचीन मंदिर आज भी मौजूद हैं, जिनमें जगन्नाथ मंदिर, लाडली जगमोहन मंदिर, मदनमोहन मंदिर प्रमुख हैं। इसके निकट ही मंगल भारती हनुमान मंदिर के प्रति लोगों की आस्था दृष्टिगत होती है।

रघुनाथ मंदिर, बसेड़ी-रघुनाथ मंदिर में लगी रामलक्ष्मण की मूर्तियों के चेहरों पर पहली बार क्षत्रीय होने के प्रमाणस्वरूप मूँछें दिखती हैं, जबकि आजकल की बनी सभी मूर्तियों में देव मूँछविहीन नजर आते हैं। देवस्थान

विभाग तहसील बसेड़ी स्थित प्राचीन रघुनाथ मंदिर जिसका निर्माण लगभग 450 वर्ष पूर्व महाराज भगवंत सिंह के जमाने में हुआ था। यह मंदिर महाराज द्वारा धौलपुर जिले में बनवाए गए 11 मंदिरों में से एक है। इस प्राचीन मंदिर में राम, सीता, लक्ष्मण जी की मूर्ति जो प्राचीन समय से ही विद्यमान हैं। आज भी मंदिर के बाहर की ओर महाराज भगवंत सिंह के जमाने की ही पत्थर की भव्य जालियाँ राजशाही जमाने की याद दिला रही हैं एवं बारीक कढ़ाई से निर्मित मंदिर का द्वार आज भी अपने सौंदर्य को बिखेर रहा है। मंदिर परिसर में उसी जमाने की हनुमानजी, भैरवनाथ की मूर्ति एवं महादेव जी की छोटी-सी पिंडी भी मौजूद है। 450 वर्ष पूर्व बने इस मंदिर परिसर में उसी जमाने की एक छोटी रसोई भी बनी हुई है जहाँ पर भगवान के लिए प्रसाद बनाया जाता था।

रमधा-प्राचीन मान्यताओं के अनुसार ऋषि वाल्मीकि का आश्रम रहा रमधा इन दिनों उपेक्षा के चलते बदहाली के कगार पर है। बसेडी-मासलपुर सड़क मार्ग पर डांग इलाके के घने जंगल में स्थित धार्मिक स्थल रमधा लम्बे अर्से से प्रशासन व जनप्रतिनिधियों की उपेक्षा का शिकार बना हुआ है। बसेड़ी कस्बे से करीब 20 किलोमीटर दूर स्थित यह धार्मिक स्थल वाल्मीकि आश्रम के नाम से भी जाना जाता है। धार्मिक मान्यता के चलते बसेड़ी, बाड़ी, करौली, सरमथुरा, धौलपुर, ग्वालियर, आगरा, मासलपुर, भरतपुर आदि स्थानों से बड़ी संख्या में लोग यहाँ आते हैं। मान्यता है कि इस स्थान पर ऋषि वाल्मीकि का आश्रम था। भगवान श्रीराम द्वारा अपनी पत्नी सीता का परित्याग किये जाने के बाद देवी सीता ने इसी स्थान पर अपना समय व्यतीत किया। माना जाता है कि यहीं पर राम के पुत्र लव व कुश ने शिक्षा ग्रहण की। ऐसी भी मान्यता है कि इसी स्थान पर माता सीता भूमि में समा गई थी। इस धार्मिक स्थल पर माता सीता का पुराना ऐतिहासिक मंदिर पूरी तरह टूटा पड़ा है। ऐतिहासिक प्रतिमाएँ भी यहाँ उपेक्षित पड़ी हैं। यहाँ दो पानी के कुण्ड बने हैं। इनमें से एक में गरम व दूसरे में ठंडा पानी निकलता है। प्रत्येक वर्ष यहाँ होली के बाद सेहड़ी अष्टमी के दिन मेला लगता है। इसमें ग्रामीण क्षेत्र से बड़ी संख्या में श्रद्धालुओं की भीड़ एकत्रित होती है।

इसी के चलते यहाँ पर भाद्रपद मास की नवमी व वैशाख मास की नवमी को लक्खी मेला लगता है। बताया जाता है कि पीड़ितों की मनोकामना पूर्ण होने पर पीड़ित व्यक्ति इन दोनों तिथियों में से कभी भी मेले में आकर साधु-संतों को भोजन कराए व बाबा विशन गिरि महाराज के दर्शन करे तो बाबा उसे मनोकामना पूर्ण होने का आशीर्वाद देते हैं। इस रमणीक स्थल का स्वरूप देखा जाए तो जिले का कच्चा बाँध रामसागर व आने-जाने के लिए कई रास्ते जो कि बाड़ी-सरमथुरा मार्ग पर स्थित गड़रपुरा गाँव से सीधा रास्ता बाबा विशन गिरि महाराज को जाता है।

राधा बिहारी मंदिर-धौलपुर शहर के अन्य धार्मिक महत्वपूर्ण स्थलों में राधाबिहारी जी का मंदिर प्रमुख स्थान रखता है। इसमें भारतीय कला को बखूबी से चूने के रंगों में उभारा गया है। यह धौलपुर पैलेस के पास स्थित है। इसके निकट ही धौलपुर राजपरिवार के सदस्यों की छतरियाँ भी हैं जो कि स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसमें धौलपुर स्टोन का प्रयोग किया गया है।

संतनगर-बाडी कस्बे से लगभग 12 किलोमीटर की दूरी पर निराकारी अद्वैत सम्प्रदाय के लोगों का बनवाया हुआ संत नगर भवन नामक स्थान अति सुन्दर है। यहाँ पर सुन्दरता, सुव्यवस्था, सुन्दर स्वच्छ वातावरण एवं ईश्वर की आराधना हेतु प्राकृतिक वातावरण है जिसे देखकर भक्तगण दिव्य अनुभूति अनुभव करते हैं।

सीताराम मंदिर, सरमथुरा-सरमथुरा क्षेत्र में स्थित सीतारामजी महाराज का मंदिर अपनी बदहाली पर आँसू बहा रहा है। करीब 700 साल पुरानी आस्था शनै:-शनै: समाप्त होने के कगार पर है। सरमथुरा से रह गई है तो केवल एक कहानी कि कभी इस किले बाजार से लगा एक मंदिर हुआ करता था जो रखरखाव के अभाव में समाप्त हो चला है। कस्बे का प्राचीनतम सीतारामजी महाराज मंदिर 700 वर्ष पुराना है। मंदिर की स्थापना संवत 1380 में हुई

थी। इस मंदिर में पूज्य महंतों की गद्दी रही है। सर्वप्रथम महंत नैनादास महाराज (गोस्वामी तुलसीदास जी) के परम शिष्य जिसके बाद नैनादास जी के शिष्य रघुवीर दास उनके शिष्य सियारामदास थे।

खुर्दिया के मंदिर के ठाकुर जी अपने आप इस मंदिर में आ जाते थे। आज भी देवालय स्थान पर नैनादास जी महाराज का चबूतरा स्थित है। मान्यता है कि कोई भी दुखिया चबूतरा पर अर्जी लगाता है तो कार्य पूरा हो जाता है। मान्यता है कि लोगों और पशुओं में रोग आने पर बाबा की आन लगा दी जाती है, जिससे गाँवों में रोग नहीं आता है।

सैंपऊ महादेव मंदिर-धौलपुर जिला मुख्यालय से 20 कि.मी. की दूरी पर सैंपऊ तहसील मुख्यालय से 2 कि. मी. की दूरी पर प्राचीन काल से बना शिव मंदिर सैंपऊ महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। एक किंवदंती के अनुसार सैंपऊ के पास घने जंगल में एक ग्वाला प्रतिदिन गाय चराने जाता था उसकी एक गाय के थनों में दूध नहीं रहता था। ग्वाले ने गाय का पीछा कर गाय के थनों में दूध नहीं रहने का कारण जानना चाहा तो उसने देखा कि घने जंगलों के बीच शिवलिंग के ऊपर गाय अपने दूध की धार दे रही है, ग्वाले को देखकर गाय वहाँ से चली गई, ग्वाले ने शिव दर्शन किए एवं शिव प्रतिमा व गाय के थनों से दूध चढ़ाने की बात लोगों को कही। आसपास के लोगों ने इस स्थान पर शिवलिंग की पूजा-अर्चना की शुरुआत की। इस शिवलिंग की कई वर्षों तक खुले स्थान पर पूजा की जाती रही। माना जाता है कि यह शिवलिंग लगभग 107 फीट गहराई तक है। क्षेत्र में घटित इस प्रकार की घटना का पता लगने पर रियासत के तत्कालीन महाराज शिव दर्शन के लिये सैंपऊ के घने जंगल में पहुँचे जहाँ शिवलिंग पर मंदिर बनाने की घोषणा की। सैंपऊ महादेव मंदिर का निर्माण धौलपुर के महाराज भगवंतसिंह के मामा तथा तत्कालीन रियासत के दीवान राजधरजू कन्हैयालाल ने सम्वत 1860 में करवाया। इस स्थान पर प्रतिवर्ष आधे फाल्गुन की चौदस को आधे श्रावण मास की चौदस को विशाल मेला लगता है, जिसमें हजारों शिव भक्त गंगा जी का पवित्र जल काँवर में लाकर शिवलिंग पर चढ़ाते हैं।

[अ०कु०श०]

न

नंद उत्सव

जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद नवमी तिथि को ब्रज के मथुरा, गोकुल, वृन्दावन एवं नन्दगाँव सहित सभी पारम्परिक मन्दिरों में नन्दोत्सव का आयोजन अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। इस उत्सव में ढांढा-ढांढी नृत्य जन्मोत्सव की बधाई गायन और गोप-ग्वालों का अभिनय प्रदर्शन किया जाता है। इस उत्सव को 'दधिकाँधौ' उत्सव भी कहते हैं। दधिकाँधा ब्रज की देवालयी संस्कृति का अपना पारिभाषिक शब्द है। जिसमें राधा एवं कृष्ण जन्मोत्सव पर दही, केसर, हल्दी एवं अन्य पारंपरिक सामग्री को मिश्रित करके श्रद्धालु भक्तों पर डाला जाता है। प्राचीन पांडुलिपि में दधिकाँधे का वर्णन मिलता है—

नाचत गोपी गोप बहुरि दधिकाँधौ खेल मचायौ।

(चाचा वृन्दावनदास जी की वाणी)

वृन्दावन के बिहारीजी मंदिर सहित यशोदानंदन, मदनमोहन मंदिर (भट्टजी) में भी इस उत्सव को बड़े हर्षोल्लास से मनाया जाता है। इस दिन ठाकुर बाँके बिहारीजी की न्यौछावर करके रुपये, पैसे, खेल-खिलौने, खाने की वस्तु, कपड़े, बर्तन और भी अनेक सामान भक्तगण लुटाते हैं। जिसे दधिकाँधौ के नाम से जाना है। इस उत्सव को देखने के लिए हजारों की संख्या में भक्तगण दर्शन करने के लिए आते हैं। ब्रज के अन्य मन्दिरों में भी नन्दोत्सव अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। नन्दोत्सव के दिन वृन्दावन के रंग मंदिर में लट्ठे का मेला होता है। मंदिर में प्रचलित दक्षिण भारतीय मान्यता के अनुसार कभी-कभी यह आयोजन आगे-पीछे भी होता है। ब्रज के लोकप्रिय मेले के आयोजन की जानकारी ब्रिटिश जिलाधिकारी एफ.एस.ग्राउस ने भी अपनी पुस्तक मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोयर में दी है। जिसमें अन्तर्यामी अखाड़ा वृन्दावन के पहलवान सहभागिता करते हैं। (देखें लट्ठा का मेला) पुष्टिमार्गीय परंपरा से जुड़े ब्रज के मंदिरों में इस मनोरथ का अपना अलग ही आनंद है। नंद एवं यशोदा के स्वरूप में श्रीविग्रह को पालना झुलाते हुए गोस्वामीगण नाना प्रकार के स्वर्ण, रजत खेल-खिलौने से सज्जित दृश्य द्वापरकालीन कृष्ण जन्म के उत्सव को साकार कर देता है। [प्र०श०]

नंदकिशोर दास गोस्वामी

नन्दकिशोर दास गोस्वामी का जन्म बंगाल प्रान्त के बांकुड़ा जिले के अन्तर्गत पूर्णिया में हुआ था। इनके पिता का नाम रसिकानन्द प्रभु था। इनका वंश श्रीमद् नित्यानन्द प्रभु का वंश था जिसकी सातवीं पीढ़ी में इनका जन्म हुआ था। इनके बचपन का नाम परमानन्द था। यह बचपन से ही विरक्त प्रवृत्ति के थे। जब यह बड़े हुए तो इनके हृदय में किसी वैष्णवाचार्य के अनुगत्य होकर भजन-दीक्षा एवं शास्त्राध्ययन करने की थी लेकिन श्रीमद् नित्यानन्द प्रभु के वंशज होने के कारण यह वैष्णव मात्र के पूज्य थे। अत: कोई वैष्णवाचार्य इन्हें अपने अनुगत्य कर भजन दीक्षा कैसे देता?

इसलिए यह चुपचाप घर छोड़कर वृन्दावन चले आये। उस समय वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णवों में शिरोमणि श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती रहते थे। इन्होंने विश्वनाथ चक्रवर्ती से भजन शिक्षा एवं शास्त्राध्ययन कराने की विनती की। उन्होंने इनकी विनती स्वीकार कर अपने अनुगत्य में भजन शिक्षा एवं शास्त्राध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया, इधर उनकी माँ ने नन्दकिशोर की

खोज में वैष्णवों को भेजा। उनमें से किसी ने इन्हें वृन्दावन में विश्वनाथ चक्रवर्ती के यहाँ देख लिया। तब चक्रवर्ती जी से इनके बारे में परिचय देते हुए इनकी माँ की व्यथा का वर्णन किया। तब चक्रवर्ती जी ने इनसे गुरु दक्षिणा में घर लौटकर माँ की आज्ञा पालन का आदेश दिया। इन्होंने घर आकर माँ की आज्ञा से विवाह किया और एक पुत्र उत्पन्न होने के बाद पुन: वृन्दावन आकर भजन करने लगे।

इस बार वह वृन्दावन अपने साथ श्री निताई गौरांग की विग्रह भी लाये थे। जिसे उन्होंने शृंगारवट पर स्थापित किया। जो कि आज भी वहाँ स्थापित है। इनके अलौकिक प्रभाव से प्रभावित होकर जोधपुर के महाराज ने बहुत सी भू-संपत्ति प्रदान की।

जब यह शृंगारवट पर रहकर श्री निताई गौरांग की सेवा करते थे, उन दिनों इनकी गायें चराने के लिए एक लड़का भोंदू भी रहता था। नित्य वह गायें चराने भांडीर वन जाता था। किसी ने उससे कहा कि वहाँ पर नन्दलाल ग्वाल-बाल सहित गायें चराने आते हैं। उसका मन उनसे वहाँ मिलने के लिए उत्सुक होने लगा, एक दिन उसकी भेंट नन्दलाला एवं ग्वाल-बालों से हो गयी। नन्दलाला उसके साथ भोजन करने लगे तो भोंदू नन्दकिशोर दास जी से और भोजन माँग कर ले जाने लगा। एक दिन नन्द किशोर दास जी ने उससे पूछ लिया कि इतना भोजन किसके लिए ले जाते हो, तब उसने बताया कि उसके साथ नंदलाला और ग्वाल-बाल भी भोजन करते हैं। नंदकिशोर प्रभु ने भोंदू से कहा कि हमें भी नन्दलाल और ग्वाल-बालों से मिलवाओगे। भोंदू ने सहर्ष सहमति प्रदान की। दूसरे दिन गोस्वामी जी खाद्य सामग्री लेकर भोंदू के साथ भांडीर वन पहुँच गये। वहाँ पर नन्दलाल और ग्वाल-बालों ने उनके साथ प्रेमपूर्वक भोजन ग्रहण किया और अन्तर्धान हो गये। तब गोस्वामी जी अचेत होकर गिर पड़े। तब आदेश हुआ-''अधीर न हो, घर जाओ और मेरी लीला स्थलियों का वर्णन करो। इस आदेश को पाकर गोस्वामी जी ने 'श्रीवृन्दावन लीलामृत' और 'श्रीरसकलिका' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन ग्रंथों के प्रणयन के कुछ दिनों बाद ही गोस्वामी जी नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये। [वि०प्र०उ०]

नंदगांव के हिन्दू धार्मिक स्थल

गोवर्धननाथ मंदिर-यह मंदिर नंदीश्वर पर्वत पर स्थित है। ऐसा बताया जाता है कि किसी नागा बाबा ने लगभग 150 वर्ष पूर्व इस मंदिर का निर्माण करवाया था। गर्भगृह में गिरि गोवर्धनधारी भगवान श्रीकृष्ण विग्रह विराजित हैं। इस मंदिर में भोग अथवा सेवा पूजा की व्यवस्था नहीं है।

दुर्गा मंदिर-यह मंदिर नंदगांव में छाछ कुण्ड के निकट अवस्थित है। इस मंदिर का निर्माण सन् 1975 ई. में हुआ था। गर्भगृह में दुर्गा मैया का अष्टभुजाधारी विग्रह विराजमान है। मंदिर की सेवा पूजा ग्रामवासियों के द्वारा ही की जाती है।

नंदभवन मंदिर-यह मंदिर नंदगांव में नन्दीश्वर पर्वत पर स्थित है। इस मंदिर का निर्माण श्री रूपसिंह जाट ने वि.सं. 1807 में करवाया था। यह मंदिर सफेद संगमरमर के पत्थरों द्वारा राजस्थानी शैली में बना हुआ है। गर्भगृह में श्री नन्दबाबा, मैया यशोदा, राधारानी, कृष्ण-बलराम व धंसुका और मंसुका के सुन्दर विग्रह विराजमान हैं। मंदिर के नाम लगभग 826 बीघा जमीन है। लगभग 400 गोस्वामी परिवार इस मंदिर के सेवायत हैं। मंदिर की सेवापूजा वल्लभ सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार की जाती है। जन्माष्टमी और होली यहाँ बड़े प्रेम तथा धूमधाम से मनाई जाती है और अन्य उत्सवों पर समाज गायन भी होता है।

बिहारी जी मंदिर-यह मंदिर नंदगांव के पावनसर कुण्ड के निकट अवस्थित है। इस मंदिर का निर्माण वि.सं. 1805 में राजा कीर्तिचन्द की माता रानी रामेश्वरी जी द्वारा कराया गया था। यह बिना शिखर का एक छोटा-सा मंदिर है। गर्भगृह में श्रीकृष्ण विग्रह विराजमान है। मंदिर की ऊपरी चोटी पर एक लेख लिखा हुआ है। जिसमें मंदिर का सारा विवरण दिया गया है। जनश्रुति यह है कि वि.सं. 1849 में इस मंदिर की दुबारा मरम्मत करवायी गयी थी। मंदिर के भोग अथवा सेवा-पूजा के विषय में हमें कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

यशोदानन्दन मंदिर-यह मंदिर नन्दगांव में नन्दीश्वर पर्वत पर पावनसर जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। यह मंदिर

नंदगांव का सबसे प्राचीन मंदिर है। इस मंदिर का निर्माण लगभग 400 वर्ष पूर्व हुआ था। गर्भगृह में श्री यशोदानन्दन जी का विग्रह विराजमान है। ऐसा बताया जाता है कि इस मंदिर की बहुत मान्यता थी परन्तु वर्तमान में दशा दयनीय है।

राधारमण मंदिर-यह मंदिर संकेतबिहारी मंदिर के पास स्थित है। इस मंदिर का निर्माण बरसाना के रूपराम कटारा ने करवाया था। गर्भगृह में स्थापित श्रीविग्रह श्रीराधारमण जी का है। सन् 2014 में ठाकुर जी का विग्रह चोरी हो गया था परन्तु भक्तों की भक्ति के कारण राधारमण जी को वापस प्राप्त कर लिया गया। इस मंदिर में सेवा पूजा गौड़ीय सम्प्रदाय की पद्धति अनुसार होती है।

रासबिहारी मंदिर-यह मंदिर नंदगांव में नंदीश्वर पर्वत पर नंदभवन से पहले बना हुआ है। गर्भगृह में श्रीराधाकृष्ण एक ही विग्रह में दर्शन दे रहे हैं। अर्थात् आधे राधा के रूप में तो आधे कृष्ण के रूप में दर्शन देते हुए नजर आते हैं। इस मंदिर की वास्तुकला सामान्य स्तर की है।

संकेतबिहारी मंदिर-यह मंदिर बरसाना से लगभग 4 कि.मी. बरसाना मार्ग के किनारे स्थित है। इस मंदिर का प्रवेश द्वार बहुत विशाल है। गर्भगृह में संकेतबिहारी व राधारानी के विग्रह स्थापित हैं। यहीं मंदिर परिसर में गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव श्री गोपाल भट्ट की भजनकुटी भी बनी हुई है। मंदिर परिसर में ही रासमंडल व हिण्डोला स्थल भी बना हुआ है। समीप ही संकेत देवी भी विराजमान हैं। यह देवी राधामाधव का मिलन कराती हैं।

सत्यनारायण मंदिर-यह पुष्टिमार्गीय मंदिर नंदगांव में नंदीश्वर पर्वत पर नन्दभवन से पावनसर जाने वाले मार्ग पर स्थित है। इस मंदिर के निर्माणकाल के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं है। गर्भगृह में श्रीराधाकृष्ण विग्रह विराजमान हैं। इस मंदिर को मदनमोहन की हवेली के नाम से भी जाना जाता है। मंदिर की सेवा पूजा पुष्टिमार्गीय पद्धति के अनुसार की जाती है। [जि०कु०]

नंददास

श्री नंददास का जन्म लखनऊ के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके परिवार में चरणदासी संप्रदाय के संत श्री श्यामशरण बड़भागी का आना- जाना था। इनके परिवारीजन श्री श्यामशरण बड़भागी को बहुत आदर-सम्मान देते थे। श्री श्यामशरण बड़भागी का आश्रम लखनऊ में ही है। इसी क्रम में चरणदास जी अपनी शिष्य मंडली के साथ लखनऊ में बड़भागी जी के आश्रम में आकर ठहरे। यहीं नंददास जी की भेंट चरणदास जी से हुई और नंददास जी ने चरणदास जी से दीक्षा देने का आग्रह किया परंतु चरणदास जी ने उन्हें दिल्ली आने की आज्ञा दी। तब नंददास जी श्री श्यामशरण बड़भागी के साथ दिल्ली गये। अपनी आज्ञाकारिता एवं सेवा-परायणता से इन्होंने गुरु को प्रसन्न कर दीक्षा प्राप्त की। गुरु ने इनको योग की शिक्षा प्रदान की जिससे बाद में इन्हें योग में सिद्धि प्राप्त हो गयी। दीक्षा लेने के बाद ये कुछ समय दिल्ली में ही रहे, बाद में ये लखनऊ लौट कर भक्ति प्रचार में लग गये। इनका कार्यक्षेत्र कानपुर और लखनऊ के बीच ही रहा।

नंददास जी एक अच्छे कवि थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा में अवधी तथा फारसी का प्रभाव है। इनकी भक्ति भावना में दीनता का भाव है। इनकी भक्ति भावना सर्वात्म समर्पण की है। ये एक एकनिष्ठ साधक हैं। वे अपने प्रियतम इष्ट द्वारा दिये गये सभी सुख-दु:खों को उनकी कृपा मानकर स्वीकार करते हैं और हर हाल में प्रसन्नता एवं आनंद का अनुभव करते हैं। [क०उ०]

नंददास

नंददास अष्टछाप के कवियों में से एक प्रमुख हैं। यह वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। भक्तमाल के अनुसार नंददास का निवास स्थान रामपुर ग्राम बताया गया है। इन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख नहीं किया है। इनका

जीवन कृष्ण भक्ति तथा गोकुल और गोवर्धन पर स्थित मंदिरों के कृष्ण विग्रह के दर्शन तथा सेवा में ही व्यतीत हुआ। इनका मुख्य उद्देश्य भगवद्चर्या तथा पद और छन्द रचना कर भगवान के समक्ष उन्हें प्रस्तुत करना था। इस बीच उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें- रूप मंजरी, विरह मंजरी, रस मंजरी, मान मंजरी, नाम माला, अनेकार्थ मंजरी, श्याम सगाई, भँवर गीत, रुक्मणी-मंगल आदि हैं। अष्टछाप वार्ता के अनुसार नंददास जी के दीक्षा गुरु श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य और पुत्र श्री गोस्वामी बिठ्ठलनाथ जी थे। नंददास जी दृढ संकल्पी तथा रसिक व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी रचना में जगत् सम्बन्धी विचार कई स्थानों पर दिये हैं तथा स्पष्ट रूप से शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है। भँवर गीत की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है-

मोमें उनमें अन्तरों, एको दिन भरि नाहि,
ज्यो देखों मों माँहि वे, तो मैं उनकी माँहि, तरंगनि वारि जयों।

— भँवरगीत, 'नंददास'

[रा०श०]

नंदराम

शुक संप्रदाय (चरणदासी संप्रदाय) की मान्यता के अनुसार नंदराम को चरणदास जी का प्रथम शिष्य माना है। वे दिल्ली के परीक्षितपुरा के रहने वाले तथा ढूसरवंशीय किशोर थे। इनका जन्म दिल्ली में संवत् 1780 में हुआ था। जब से यह चरणदास जी के संपर्क में आये तभी से इनके अंदर भक्ति की लगन बढ़ती गयी। एक दिन चरणदास जी ने इनके घर जाकर इन्हें विधिवत दीक्षा प्रदान की। यह सहजोबाई के रिश्ते में भतीजे लगते थे। यह कृष्ण भक्त थे। इनकी एकमात्र रचना 'योगसार' मिलती है। इनके बारे में और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका उल्लेख जोगजीत जी के 'लीलासागर' में प्राप्त होता है। [क०उ०]

नर्क

हिन्दू मान्यताओं के अनुसार पापकर्म में रत रहने वाले मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात नर्क में जाना पड़ता है। वेदों में भी नर्क का उल्लेख प्राप्त है। वेदों के अनुसार नर्क वह स्थान है जहाँ आत्मा अपने शरीर द्वारा किये पाप कर्मों का भोग भोगने हेतु आती है। वेदों के अलावा धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वैदिक संहिताओं, आरण्यकों एवं उपनिषदों में नर्क का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवत गीता तथा आदि शंकराचार्य के वेदान्त सूत्रों में भी नर्क का उल्लेख प्राप्त होता है।

नर्क के अधिपति धर्मराज हैं जो कि नर्क में यमराज के नाम से जाने जाते हैं। यमराज के प्रमुख सहयोगी चित्रगुप्त हैं जो कि प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपने जीवन में किये गये सभी कर्मों का विवरण रखते हैं। जब मनुष्य मृत्यु के पश्चात धर्मराज के सम्मुख जाता है तब यह उसके जीवन का लेखा-जोखा धर्मराज के आगे रखते हैं। जिसके आधार पर धर्मराज उस आत्मा के स्वर्ग या नर्क में जाने का निर्णय करते हैं। जिन आत्माओं ने कुछ ही पाप कर्म किये हों उन्हें कुछ समय नर्क में रखकर स्वर्ग में भेज दिया जाता है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि पांडवों को कुछ समय तक नर्क में बिताकर उन्हें स्वर्ग भेज दिया गया था।

नर्क का वर्णन कई पुराणों में प्राप्त होता है। नर्क का उल्लेख मुख्य रूप से गरुड़ पुराण में प्राप्त होता है। इसमें विभिन्न पाप कर्मों के लिए विभिन्न प्रकार के नर्कों का उल्लेख है तथा उसमें क्या यातना दी जाती हैं, इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें वर्णित नर्कों का वर्णन निम्न प्रकार है-

तामिस्र-परधन, परस्त्री और परपुत्र का हरण करने वाला मनुष्य कालपाश से बाँधा जाता है और इस नरक में ढकेला

जाता है। यहाँ उसे भूख-प्यास लगती है, पर खाने-पीने को कुछ नहीं मिलता है।

अन्धतामिस्र-जो पुरुष अपने मित्र या स्वजन को धोखा देकर उसकी पत्नी के साथ समागम करता है एवं धोखा-धड़ी करके अपने कुटुम्ब का जीवन-यापन करता है, उसे इस नरक में भेजा जाता है। यहाँ उसकी स्मृति एवं बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

रौरव-जो व्यक्ति निरपराध प्राणियों की हत्या करता है, उसे इस नरक में डाला जाता है। यहाँ वे प्राणी रूरु नामक भयंकर जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

महारौरव-जो व्यक्ति जीव-जन्तुओं को पीड़ा पहुँचाकर अपना भरण-पोषण करते हैं, उन्हें यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ रूरु नामक भयंकर जन्तु पीड़ा पहुँचाते हैं।

कुम्भीपाक-जो प्राणी जीवित जीव-जन्तुओं को पकाता है, उसे इस नरक में आना पड़ता है। यहाँ पर उसे खौलते तेल के कड़ाहे में तला जाता है।

कालसूत्र-जो पुरुष पितर, ब्राह्मण और वेद से द्रोह करता है, उसे इस नरक में गिरना पड़ता है। यहाँ पर दस हजार योजन की ताँबे की भूमि है जो नीचे से अग्नि एवं ऊपर से सूर्य द्वारा तपती रहती है। इसके साथ ही प्राणी भूख एवं प्यास से भी पीड़ित रहता है। शरीर में जितने रोम हैं उतने ही हजार वर्ष यहाँ यातना भोगनी पड़ती है।

असिपत्रवन-जो पुरुष आपत्तिकाल के बिना वेदमार्ग छोड़कर पाखण्ड मत ग्रहण करता है, उसे इस नरक में डाला जाता है। यहाँ असिपत्रों का वन है, यह ऐसे पत्र हैं जिनमें दोनों तरफ धार होती है। यहाँ यमदूत उसे कोड़ों से पीटते हैं और वह इधर-उधर भागता है तथा असिपत्रों से उसका शरीर छिन्न-भिन्न होता है।

सूकरमुख-निर्दोष व्यक्ति को जो अन्यायपूर्वक दण्ड देता है, उसे इस नरक में आना पड़ता है। यहाँ पर उसे कोल्हू में ईख की तरह दबाया जाता है।

अन्धकूप-सब जीवों की वृत्ति ईश्वर द्वारा निश्चित है, यह जानकर जो मच्छर, जूँ, पशु, पक्षी एवं सर्प आदि जीवों को मारता है, उसे इस नरक में डाला जाता है। यहाँ घोर अंधकार में वे सभी जीव उससे बदला लेते हैं। उसे महाक्लेश निरन्तर बना रहता है।

कृमिभोजन-जो व्यक्ति पंच महायज्ञ आदि न कर वह भोजन न खिलाकर स्वयं खाता है, उसे इस नरक में आना पड़ता है। यहाँ एक कृमियों (कीड़ों) से भरा कुंड है उसमें वह कृमि खाता है और कृमि उसे खाते हैं।

सन्दंश-जो व्यक्ति दूसरों के धन एवं सुवर्ण का हरण करता है अर्थात् चोरी करता है, उसे यमदूत इस नरक में लाते हैं। यहाँ पर उसे अग्निपिण्ड एवं सन्दंश द्वारा पीड़ित किया जाता है।

तप्तसूर्मि-जो स्त्री एवं पुरुष अगम्य स्त्री या पुरुष से समागम करते हैं, वे इस नरक को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर पुरुष को जलती हुई लोहे की स्त्री प्रतिमा से एवं स्त्री को जलते हुए लौह की पुरुष प्रतिमा से लिपटाया जाता है।

वज्रकण्टशाल्मली-जो व्यक्ति मनुष्येतर योनियों से समागम करता है, उसे यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ पर काँटों से युक्त शाल्मली द्वारा यमदूतों के द्वारा पीड़ित किया जाता है।

वैतरणी-वैतरणी मूल, पीब, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेदा और मांस आदि से परिपूर्ण नदी है। जो शासक धर्म को दूषित करता है, उसे इस नदी में डाला जाता है।

पूमोद-जो व्यक्ति व्यभिचारिणी स्त्री के पति होकर शौच, आचार और नियम से पतित होते हैं, उन्हें इसमें डाला जाता है। पूमोद में पीब, विष्ठा और श्लेष्मा आदि से भरे हुए समुद्र हैं। जिसमें प्राणी को डाला जाता है और उसे यही पदार्थ खाने पड़ते हैं।

प्राणरोध-जो ब्राह्मण कुत्ते और गधे पालते हैं और शिकार करते हैं, वे इस नरक में डाले जाते हैं। यमदूतों द्वारा उन्हें तीरों से भेदा जाता है।

विशसन-जो व्यक्ति केवल दम्भ के लिए यज्ञादि में हिंसा करते हैं, वे इस नरक में गिरते हैं। यहाँ यमदूत उन्हें यातनाएँ देकर उनके अंग चूर-चूर कर डालते हैं।

लालाभक्ष-जो लोग द्विजकुल में उत्पन्न होकर काम वशीभूत होकर सगोत्रा स्त्री से समागम करता है उसे शुक्र की नदी रूप नरक में डाला जाता है। उसे शुक्रपान ही करना पड़ता है।

सारमेयादन-दस्युवृत्ति से अपना जीवनयापन करने वाले लोगों को इस नरक में डाला जाता है। यहाँ पर सात सौ बीस विकराल दाढ़ों वाले कुत्तों के द्वारा उन्हें नोचा और खाया जाता है।

अवीचिमान्-जो व्यक्ति झूठी गवाही देता है, क्रय-विक्रय में कम तोलता है और दान देने में मिथ्या बोलता है, उसे इस नरक में डाला जाता है। यहाँ पर उच्च पर्वत शिखरों से सिर नीचे और पैर ऊपर कर पाषाणपृष्ठस्थ पर बार-बार गिराया जाता है।

अयःपान-जो द्विज जाने या अनजाने मद्यपान करते हैं उन्हें इस नरक में यमदूतों द्वारा बलपूर्वक आग में गला हुआ शीशा पिलाया जाता है।

क्षारकर्दभ-जो व्यक्ति अपने से बड़े तप, विद्या, सदाचार आदि में श्रेष्ठ व्यक्ति का सम्मान नहीं करता है और स्वयं को बड़ा समझता है उसे इस नरक में आना पड़ता है। यहाँ उसको सिर नीचा कर सैकड़ों कष्ट भोगने पड़ते हैं।

रक्षोगणभोजन-जो लोग भैरववादि पूजा में नर बलि देते हैं एवं नर मांस भक्षण करते हैं उन्हें इस नरक में डाला जाता है। यहाँ राक्षस रूप प्राप्त पशुओं और पुरुषों द्वारा उन्हें खड्ग से काटा और खाया जाता है।

शूलप्रोत-जो व्यक्ति वन या गाँव के पशु-पक्षियों को शूल या सूत्र से यन्त्रणा देते हैं, वे शूलप्रोत नरक में गिरते हैं। उन्हें यमदूत शूली पर चढ़ाते हैं और उन्हें भूख-प्यास से तड़पाते हैं। कंक, वक आदि तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी उन्हें चोंच मार-मार कर प्रताड़ित करते हैं।

दन्तशूक-जो मनुष्य लोगों को भयभीत करते हैं, वह इस नरक में आते हैं। यहाँ पर पंचमुख, सप्तमुख सर्प उन्हें भयभीत करते हैं और निगल जाते हैं।

अवटानिरोध-जो व्यक्ति निर्दोष प्राणियों को अंधे कुएँ एवं गुफाओं में बंद कर देते हैं वे अवट निरोध नरक के भागी होते हैं। यहाँ पर उन्हें वैसे ही अंध एवं बंद स्थानों पर रखा जाता है और वहाँ के विषमय धुएँ से उनका दम घुटता रहता है।

पर्यावर्तन-जो लोग अतिथि का स्वागत न कर रोष प्रकट करते हैं, उन्हें इस नरक में रखा जाता है। यहाँ पर उनके नेत्र, कंकालादि पक्षियों द्वारा उनकी तीक्ष्ण चोंच द्वारा छेदे जाते हैं।

सूचीमुख-जो व्यक्ति धन के गर्व में रहता है और उसका सदुपयोग नहीं करता है, केवल उसके रक्षण में लगा रहता है, उसे सूचीमुख नरक में डाला जाता है। इस नरक में उसे सूइयों से छेदा जाता है और सींया जाता है।

उपरोक्त नर्क वर्णन से स्पष्ट है कि दुष्कर्म करने से बचना चाहिए। ये अट्ठाईस नरक मुख्य हैं। इसके अलावा सैकड़ों और नर्कों का भी शास्त्रों में वर्णन है। कर्म और उसका फल परस्पर जुड़ा है। इसलिए शास्त्रों का सर्वत्र यही उपदेश है कि इस जन्म में प्राप्त कष्टों को पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का फल मानकर इस जन्म में सत्कर्म में लगना चाहिए और सदैव धर्माचरण करना चाहिए। [प्रे०]

नक्शबन्दिया संप्रदाय

इस संप्रदाय को भारत में लाने वाले ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह हैं। इस मत में बौद्धिकता की अधिकता के कारण इसे विशेष लोकप्रियता नहीं मिल सकी। 'रशहात ऐनुलहयात' के अनुसार इसके प्रवर्त्तक ख्वाजा उबैदुल्लाह थे। वैसे साधारणत: ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी ही इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। बहाउद्दीन भाँति-भाँति के 'नक्शे' (चित्र) बनाते थे। ये चित्र आध्यात्मिक तत्वों से संबंधित थे। उस प्रकार की आकृतियों में बहाउद्दीन रंग भरा करते, इसीलिए इनके अनुयायी 'नक्शबन्दी' कहलाये।

इस संप्रदाय के साधकों ने कई मत प्रकट किए हैं। किसी का कहना है कि आत्मा फिर दूसरा शरीर धारण कर इस संसार में लौट आती है कोई परमात्मा को ध्यान करने पर बल देता है। उनका मानना है कि दूसरे के बलिदान द्वारा अन्य किसी के जीवन को बढ़ाया जा सकता है। इस संप्रदाय में 'जिक्र' की क्रियाओं के बहुत प्रकार हैं। जिक्र का उद्देश्य 'कूव्वते रूहे बातिनी' (गुह्य आध्यात्मिक शक्ति) की प्राप्ति भी बताया जाता है।

इस संप्रदाय के साधक हाथ में छड़ी रखा करते हैं, सिर के बाल उनके बिखरे रहा करते हैं, यह नुकीले पत्थरों को रौंदते-रौंदते बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। यह कूव्वते इरादात को इतना बढ़ा लेते हैं कि उन्हीं के कथनानुसार परमात्मा में खो जाना सरल हो जाता है। डॉ. नरेश ने इस संप्रदाय की नियमावली कुछ इस प्रकार दी है-

होश-दर-दम (एक भी श्वास अचेतनावस्था में न लिया जाए।)
नजर-बर-कदम (दृष्टि अपने कदमों पर रहे ताकि लक्ष्य सिद्धि में बाधा उत्पन्न न हो।)
सफर-दर-बतन (ध्यान हृदय की स्वच्छता की ओर रहे।)
खल्वत-दर-अंजुमन (भीड़ में भी ध्यान परमात्मा की ओर लगा रहे।)
याद कर्द (जीभ और मन ईश-स्मरण करते रहें।)
बाजगश्त (मन-मस्तिष्क में ईश का नाम गूँजता रहे।)
निगाहदाश्त (मन प्रत्येक क्षण कुकर्म के प्रति सावधान रहे।)
वुकूफे जमानी (निरतंर आत्म-विश्लेषण किया जाए।)
वुकूफे-अददी (जिक्र की गणना द्वारा विचारों की उन्मुक्ता पर प्रतिबंध लगाया जाए।)
वुकूफे-कल्बी (ईश-स्मरण में मन को तनिक भी भटकने न दिया जाए।)

इनके अतिरिक्त कई और भी संप्रदाय हैं जैसे-शतारी, फिरदौसी, कुबरवी, कलंदरी, मलवती, शाजली, मदयनी संप्रदाय परंतु इनमें से किसी का भी जन्म पूर्ण रूप से भारत में नहीं हो सका। [आ०स०]

नमि (तीर्थंकर)

मिथिला के शासक विजय वर्तमान अवसर्पिणी के 21वें तीर्थंकर नमिनाथ के पिता और वप्रा (या विपरीता) इनकी माती थीं। जब नमि का जीव गर्भ में था। उसी समय शत्रुओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया था। वप्रा ने जब राजप्रासाद की छत से शत्रुओं को सौम्य दृष्टि से देखा तो शत्रु शासक का हृदय बदल गया और वह विजय के समक्ष नतमस्तक हो गया। शत्रुओं के इस अप्रत्याशित नमन के कारण ही बालक का नाम नमिनाथ रखा गया। राजपद के उपभोग के बाद नमि ने दीक्षा ली और नौ माह की तपस्या के बाद मिथिला के चित्रवन में बकुल (या जम्बू) वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया। इनकी निर्वाण स्थली सम्मेद शिखर है।

नमिनाथ का लांछन नीलोत्पल और यक्ष-यक्षी भृकुटि एवं गांधारी (या चामुंडा) हैं। नमिनाथ की ज्ञात मूर्तियाँ 11वीं-12वीं शती ई. की हैं। ग्यारहवीं शती ई. की एक मूर्ति पटना संग्रहालय में है। मूर्ति के परिकर में 24 छोटी तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। एक ध्यानस्थ मूर्ति बारभुजी गुफा में है। नीचे यक्षी भी निरूपित है। रैदिधी (बंगाल) के समीप मथुरापुर से कायोत्सर्ग में खड़ी एवं श्वेतांबर मूर्ति मिली है।

कुंभारिया के पार्श्वनाथ मंदिर की देवकुलिका 21 में 1179 ई. की एक मूर्ति नमि की है। लूणवासी की देवकुलिका 19 में भी 1233 ई. की एक मूर्ति है। यहाँ पीठिका लेख में नमि का नाम भी उत्कीर्ण है। यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति एवं अंबिका है। उत्तरप्रदेश में नमिनाथ की मूर्तियाँ ललितपुर एवं सेरोनखुर्द से प्राप्त हुई हैं। [आ०प्र०श्री०]

नयन्नार

मध्यकालीन दक्षिण भारत विशेषत: केरल और तमिलनाडु में विष्णु भक्त आलवार संतों के साथ भक्ति आंदोलन की मशाल थामकर सामाजिक एकता, पारस्परिक सौहार्द और भाईचारे का संदेश फैलाने वाले नयन्नार, नयन्नार या नयानमार वस्तुत: शिवपूजक संत थे। इनकी कुल संख्या 63 थी। छठी से आठवीं सदी के बीच में ये अपनी रचनात्मकता, आध्यात्मिकता और वैचारिकता के साथ पूरे दक्षिण भारत में छाए रहे। एक ओर इन्होंने शैव सिद्धान्तों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, तो दूसरी ओर दक्षिण भारत में वैचारिक और सामाजिक क्रांति की नींव भी रखी। दक्षिण, जहाँ जातिवाद का सबसे कठोरतम रूप प्रचलिता हुआ, वहाँ नयनारों ने बेखौफ होकर जाति के विरुद्ध आवाज उठाई। सामाजिक चेतना का स्वप्न देखने वाले इन संतों की सूची में पहला नाम है-सुंदरमूर्ति स्वमिगल या सुंदरार का। सुंदरमूर्ति स्वमिगल नयन्नार आठवीं सदी के तमिलनाडु के एक नयन्नार संत थे। वे भगवान शिव के भक्त थे और चार तमिल आचार्यों में से एक थे। इन्होंने नयन्नार संतों की सूची भी तैयार की थी, जिसे ग्यारहवीं सदी में नाम्बियंदर नाम्बि शैव आचार्य ने संशोधित और संवर्धित किया।

दसवीं सदी के राजा चोल ने नयन्नार संतों के जीवन और कृतित्व को संकलित करने की दिशा में विशेष उल्लेखनीय काम किया। उन्होंने नयन्नार संतों पर केन्द्रित कई संग्रह तैयार करवाए। राजा के आग्रह पर 'तिरुमुरई' नाम की इस ग्रंथ श्रृंखला का सम्पादन नाम्बियंदर नाम्बि ने ही किया। इस श्रृंखला का पहला संग्रह था 'तेवरम' जिसमें तीन नयन्नार संतों की रचनाओं को संकलित किया गया-सुंदरमूर्ति स्वमिगल, संबदार या संबंध स्वामी एवं तिरुनवुकरसर।

'तेवरम' में वर्णित नयन्नार सुंदरमूर्ति स्वमिगल के विषय में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। दूसरे हैं संबंध स्वामी, जो कि चोलकालीन शैव कवि थे। उनको संबदार, अलदै पिल्लैयर, पलरावोयर, मुतमिलविरहर, सम्बन्दर कई नामों से पुकारा जाता था। संबंध स्वामी की रचनाओं में गीतों का बाहुल्य है। उनके गीतों में से केवल 348 ही 'तेवरम' में संकलित हैं। संबंदर के गीतों में उपमा का अद्‌भुत प्रयोग मिलता है। उनकी रचनाएँ अर्थ एवं माधुर्य की दृष्टि से भी अनुपमेय है। सातवीं सदी के शैव आचार्य कुरुवार या अप्पार तिरुनवुकरसर सबसे चार महत्त्वपूर्ण नयन्नार संतों में से एक थे। उन्होंने शिव की स्तुति में अनेक भजन लिखे, लेकिन उनमें से केवल 3066 ही उपलब्ध हैं।

'तेवरम' के अलावा नाम्बियंदर नाम्बि ने 'तिरुकोवयर' व 'तिरुवाचकम' शीर्षक से नयन्नार कवि मणिक्कवाचर की व 'तिरुमंदि' व 'तिरुमुलर' शीर्षक से बारह अन्य नयन्नार की रचनाओं को भी संकलित किया था। 'तिरुतोल्तर तिरुवन्तति' में उन्होंने सभी नयन्नार की स्तुति में लिखी गयी रचनाओं को संकलित किया। लेकिन नाम्बियंदर नाम्बि द्वारा संकलित यह सभी ग्रंथ मुख्य रूप से नयन्नार संतों के कृतित्व पर केन्द्रित थे। इन ग्रंथों में उनके जीवन पर ज्यादा चर्चा नहीं की गयी। इस अभाव को दृष्टि में रखते हुए कालांतर में शेक्किषार नामक भक्त कवि ने एक और ग्रंथ जोड़ा-'पेरियपुराण।' जिसमें 63 नयन्नार के जीवन को समाहित किया गया था। बाद में इन संतों का जीवन तेलगु में 'शिवभक्त चरितमु' के नाम से भी प्रकाशित हुआ।

इन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि नयन्नार संत किसी एक जाति, वर्ग, वय या लिंग से सम्बद्ध नहीं थे। वे समाज के दोनों वर्गों में थे। उनमें स्त्रियाँ भी थीं और पुरुष भी। इसके अलावा वृद्ध, युवा और बालक हर आयु वर्ग के थे। मानव समाज में सच्ची भक्ति और मानवीय चेतना लाने के लिए इन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर सच्चे अर्थों में आध्यात्मिकता की साधना की। नयन्नार मुक्तात्मा माने गए और इसीलिए इनकी मूर्तियाँ भी दक्षिण भारत के मंदिरों में स्थापित की गईं। इनमें से प्रमुख नाम इस प्रकार हैं-अनय नयन्नार, आदिपत्त नयन्नार, अय्यडिगल् कडवर्कान् नयन्नार, अमरनीदि नयनार, अरिवट्टय नयन्नार, चंडीश्वर नयन्नार, ऐनटिनाथ नयन्नार, गणनाथ नयन्नार, कलिकांब नयन्नार, कालिय नयन्नार, कोट्पुलि नयन्नार, मूर्ति नयन्नार, मुरुग नयन्नार आदि। [उ०श्री०]

नरक चौदस

कार्तिक कृ० 14 को यह त्योहार होता है। यह त्योहार समस्त परिवार की स्वास्थ्य वृद्धि की कामना के साथ मनाया जाता है। इसे छोटी दीपावली के नाम से भी जाना जाता है। ग्रामीण स्त्रियाँ सायंकाल को दीये जलाकर घूरे (घर के बाहर कूड़ा डालने की जगह) और चौराहे पर रखती हैं। पौराणिक कथा के अनुसार इस दिन भगवान कृष्ण ने नरकासुर का वध किया था। अत: इसे नरक चतुर्दशी भी कहते हैं, चूँकि यह दिन शारीरिक स्वच्छता से विशेष संबंध रखता है, इसलिए रूप चतुर्दशी को भलीभाँति स्नान करके स्वच्छ वस्त्र तथा आभूषण धारण किये जाते हैं। अष्टछापी कवि परमानंद दास के अनुसार वे अपने आराध्य को इस दिन दूध से स्नान कराके उनका श्रृंगार कराते हैं, जिसमें उन्होंने 'लाल बागे' के साथ 'जरकसी कुलह' धारण कराये जाने का उल्लेख किया है-

'दूध सौं स्नान करौ मनमोहन' छोटी दिवारी काल मनाये।
करौ सिंगार 'लाल तन बागो कुल्हे जरकसी' सीस धराये॥

(परमानंद दास कवि, परमानंद सागर 225)

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन ही हनुमान जयन्ती का उत्सव भी मनाया जाता है। इस दिन मन्दिर के सेवायत प्रात: स्नान करके हनुमानजी का षोडशोपचार पूजन करते हैं। पूजन में गन्धपूर्ण तेल में सिन्दूर मिलाकर हनुमानजी की मूर्ति पर चढ़ाते हैं। [प्र०श०]

नरवाहन

राधावल्लभ संप्रदाय के भक्तों की श्रृंखला में श्री नरवाहन का स्थान प्रमुख है। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में जब हित हरिवंश महाप्रभु वृन्दावन में पधारे तो उसी समय उनकी भेंट नरवाहन जी से हुयी। उस समय नरवाहन जी ब्रज क्षेत्र के अधिपति थे तथा लूटमार करना इनकी प्रवृत्ति थी। हित हरिवंश जी के दर्शन मात्र से इनका हृदय परिवर्तित हुआ तथा ये हरिवंश जी से दीक्षित होकर राधावल्लभलाल की सेवा में तत्पर हुये। महाप्रभु ने इनकी निष्ठा से रीझकर दो अत्यन्त सुन्दर पद (हित चतुरासी में पद संख्या 11,12) इन्हें भेंट किये। धार्मिक जगत में शिष्य द्वारा अपने गुरु को पद भेंट करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं परन्तु यह गुरु के द्वारा शिष्य को दी गई भेंट का अनुपम उदाहरण है। [प्र०श०]

नरहरिदास

श्री नरहरिदास का जन्म 'निजमत सिद्धांत' के अनुसार बुंदेलखंड के गूढो नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम विष्णुदास था। ऐसा कहा जाता है, विष्णुदास ने सनकादिक ऋषियों की तपस्या कर उसके फलस्वरूप श्री जगन्नाथ जी के अवतार रूप में नरहरिदास जैसा सुपुत्र प्राप्त किया था। उनमें बचपन से ही दैवी गुणों का प्रकाश होने लगा था। उनके द्वारा अनेक चमत्कारिक कार्य किये जाने की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। वे अपने दैवी गुणों और साधु-सेवा के कारण बुंदेलखंड में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। 35 वर्ष की आयु होने पर वे विरक्तावस्था में वृंदावन चले गये। वहाँ पर वे हरिदासी संप्रदाय के आचार्य सरसदास के शिष्य होकर स्थायी रूप से वृंदावन में ही रहने लगे। अंत में सरसदास जी का देहावसान होने पर वे उनके उत्तराधिकारी हुए। 'निजमत सिद्धांत' के अनुसार उनका जन्म सं०1640 की ज्येष्ठ कृ०2 को हुआ था। वे 35 वर्ष तक घर पर और 66 वर्ष तक वृंदावन में रहे थे। इस प्रकार 101 वर्ष की दीर्घायु होने पर उनका देहावसान सं०1741 की पौष शु०7 को वृंदावन में हुआ था।

उनके विषय में श्री सहचरिशरण जी का कथन है–

रसिकन के मुख हम सुनी, नरहरि देव प्रवीन।
वृंदावन बिच आयके, सरस-सरन तिन लीन॥
हरि उपासना भेद मय, परम नरम रस-रीति।
नरहरि अनुचर होन मिस, कहियत हैं करि प्रीति॥

उनकी वाणी बहुत कम परिमाण में है। केवल कुछ पद और दोहा ही उसके रचे हुए मिलते हैं, किंतु वे सारगर्भित हैं। उनकी भाषा ब्रज की है, जो सुलझी हुई तथा प्रवाहपूर्ण है। [गो०श०श०]

नवद्वीप धाम

प्रेम पुरुषोत्तम भगवान श्री चैतन्य महाप्रभु की लीलाभूमि श्री नवद्वीप धाम नदिया जिले (प. बंगाल) में स्थित है। यहाँ महाप्रभु श्री चैतन्यदेव ई. 1486 में होली पूर्णिमा के दिन अवतीर्ण हुए। उनके जन्म और पावन लीला भूमि होने के कारण नवद्वीप धाम की महिमा तथा ख्याति सम्पूर्ण विश्व में फैल गई।

वैसे नवद्वीप अत्यन्त प्राचीन नगरी है। सर्वप्रथम हम विष्णु पुराण में नवद्वीप का उल्लेख प्राप्त करते हैं- "**भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय। इन्दुद्वीपः कसेरूश्च ताम्रवर्णो गर्भास्तमान्। नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वभ वारुणः। अयन्तु नवमं स्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥** भारतवर्ष में नौ द्वीप हैं जिनके नाम-इन्द्रद्वीप, कसेरूद्वीप, ताम्रपर्णद्वीप, गर्भास्तमान द्वीप, नागद्वीप, सौम्य द्वीप, गन्धर्व द्वीप, वारुण द्वीप एवं नौवाँ द्वीप सागर से घिरा हुआ है। इसकी टीका में श्रीधर स्वामिपाद ने लिखा है-"**अस्य नवमस्य पृथक् नाम अकथनात नाम्नापि नवद्वीप इति गम्यते**" नौवाँ द्वीप का अलग से नाम कथन नहीं होने के कारण उसका नाम 'नवद्वीप' होगा ऐसा जानना चाहिए। (विष्णु पुराण)

पतित पावनी गंगाजी के तट पर अवस्थित नवद्वीप धाम हजारों वर्ष पूर्व कभी समुद्र से घिरा हुआ था। इस समय समुद्र करीब 150 कि.मी. दूरी पर अवस्थित है। बंगला रामायणकार श्रीकृतिवास उझा ने महाराजा भगीरथ द्वारा गंगाजी के भूतल पर अवतरण प्रसंग में वर्णन किया है कि नवद्वीप के निकट आकर गंगाजी दस धाराओं में विभाजित हो गई जिससे नौ द्वीपों का उत्पन्न हुआ है। ये नौ द्वीप नवधा भक्ति के ही रूप हैं जो जगत विख्यात हैं- "**नवद्वीप ऐछे नाम विख्यात जगते। श्रवणादि नवधा भक्ति दीप्त जाते॥**" (कृतिवासी रामायण)।

श्रील वृन्दावन दास ठाकुर नवद्वीप महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं-"**नवद्वीप हेन ग्राम त्रिभुवने नाहि। जहाँ अवतीर्ण हैल चैतन्य गोसाँई॥**" (चैतन्य भागवत)।

बंगाल में विद्याचर्या का प्रधानतम केन्द्र था नवद्वीप। सेन राजवंश की यह राजधानी रही। महाराज लक्ष्मण सेन के समय नवद्वीप का गौरव चरमोत्कर्ष पर था। संस्कृत शिक्षा का अद्वितीय केन्द्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसारित थी। नव्य न्याय की अध्ययन पूर्णता नवद्वीप में ही मानी जाती थी। नवद्वीप का विद्यागौरव 11वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अक्षुण्य बना रहा। कहा जाता है कि उस समय का नवद्वीप कोलकाता से बड़ा था।

प्रेमावतारी श्रीगौरहरि ने इस धाम में परम करुणापूर्ण अनेक मधुर लीलाएँ की हैं। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती, महाकवि कर्णपूर, श्री लोचनदास ठाकुर, श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी आदि मनीषियों ने नवद्वीप की बड़ी महिमा गायी है। किसी ने नवद्वीप को गौलोक धाम तो किसी ने बैकुण्ठ कहा है, तो किसी ने प्रेमभूमि वृन्दावन से अभिन्न कहा है।

प्राचीनकाल में प्रेमधाम नवद्वीप के चारों ओर गंगाजी की दस धाराएँ बहती थीं, परन्तु इस समय एक ही मुख्य धारा विद्यमान है। गंगाजी के पश्चिम एवं पूर्वी तट पर नौ द्वीप अवस्थित हैं वे हैं- अन्तर्द्वीप, सीमन्त द्वीप, गोद्रुम द्वीप, मध्य द्वीप,

ऋतु द्वीप, मोदद्रुम द्वीप, जहनु द्वीप, कोल द्वीप और रुद्र द्वीप।

नवद्वीप धाम के मुख्य दर्शनीय स्थल इस प्रकार हैं-गंगाजी के उस पार मायापुर स्थित है जहाँ चाँदकाजी की समाधि, प्रभुपाद भक्ति सिद्धान्त सरस्वती द्वारा प्रतिष्ठित मूलमठ एवं अनेक शाखा गौड़ीय मठ हैं। इस्कॉन का चन्द्रोदय मन्दिर अत्यन्त आकर्षक है। नौ द्वीपों से जुड़े महाप्रभु के अनेक लीला स्थल हैं। गौरपूर्णिमा वहाँ का मुख्य उत्सव है। [प्रे०दा०शा०]

नवरत्नम्

इसके नौ श्लोकों में आचार्य वल्लभ ने यह बात समझाई है कि पुष्टिमार्गीय व्यक्ति को चिन्ता से सदैव दूर ही रहना चाहिए। जब एक बार श्रीकृष्ण के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया तब चिन्ता कैसी? जीव दास है, श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, वे स्वयं ही निवेदितात्मा जीव के योगक्षेम का वहन करते हैं। [क०उ०]

नवरात्रि

ब्रज में भी युगल उपासना के अतिरिक्त श्रीकृष्ण को प्राप्त करने हेतु भगवती दुर्गा के श्रीकात्यायनी स्वरूप में उपासना होती है। इसका प्रमाण श्रीमद्भागवत में वर्णित है– गोपियों ने त्रेतायुग में श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिये श्रीयमुना के पवित्र तट पर रेणुका की श्रीकात्यायनी का श्रीविग्रह स्थापित करके मार्गशीर्ष माह में उपासना की थी। जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी मिलता है–

कात्यायनी महामाये महायोगिन्वधीश्वरी।
नन्द गोप सुतं देविं पतिं मे कुरुते नमः॥

उक्त प्रकरण का तात्पर्य है कि भगवती कात्यायनी की उपासना से गोपी (जीव) श्रीकृष्ण (ब्रह्म) को प्राप्त कर सकी। अगर तत्व रूप में कहा जाय तो भगवती कात्यायनी जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार (मिलन) कराने में सक्षम है। इसी धारणा के कारण ब्रज में आज तक यह उपासना प्रचलित है। इसी वृत्तान्त के अनुसार श्रीधाम वृन्दावन में माँ कात्यायनी का भव्य मंदिर है। जिसमें महिष मर्दिनी के रूप में माँ कात्यायनी की भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। जहाँ नित्यप्रति बंगाल की पूजा पद्धति के अनुसार पूजा-अर्चना होती है किन्तु वर्ष में चार बार होने वाली नवरात्रियों में चैत्र की बासन्ती दुर्गा पूजा तथा आश्विन की शारदीय दुर्गा पूजा विशेष रूप से समारोहपूर्वक आयोजित की जाती है। जिसमें शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को कलश स्थापन के साथ माँ कात्यायनी का प्रतिदिन षोडशोपचार पूजन होता है तथा भव्य श्रृंगार के साथ माँ भगवती के दर्शन होते हैं। श्रीवृन्दावनस्थ कात्यायनी मंदिर में सर्वाधिक आकर्षण संधि पूजा आरती का होता है। संधि यानी मिलन- अर्थात जब अष्टमी तिथि का नवमी तिथि से मिलन होता है तब उस संधिकाल में माँ कात्यायनी का विशेष पूजन होता है, जिसमें विद्वान अर्चक माँ भगवती की समस्त शक्तियों तथा चौसठ योगिनियों का तान्त्रिक विधि से पूजन करते हैं। हालांकि यह समस्त पूजन मंदिर के गर्भगृह में परदा लगाकर होता है तथा दर्शनार्थियों को इसके दर्शन नहीं होते किन्तु पूजन के पश्चात् होने वाली विशेष संधि आरती का सभी भक्तों को दर्शन होता है जिसमें अपार श्रद्धालु दर्शन लाभ प्राप्त करते हैं। ब्रज में शेरगढ़ एवं वृन्दावन के कात्यायनी मंदिर के साथ ही वृन्दावन का चामुण्डा मंदिर, मथुरा कैण्ट स्थित काली देवी मंदिर एवं बगलामुखी देवी आदि प्रमुख हैं। [प्र०श०]

नवलसखी

नवलदास उपनाम नवलसखी श्री नागरीदास के भतीजे और शिष्य थे। नागरीदास जी और सरसदास जी की तरह ये भी घर-बार छोड़कर विरक्तावस्था में वृंदावन आ गये थे। वे अनन्य भाव से प्रिया-प्रियतम की उपासना करते हुए उनके केलिरस में सदैव मग्न रहा करते थे। उनके निवास और भजन की रमणीक स्थली बरसाने की मोरकुटी है। 'निज मत सिद्धांत' में उनकी जन्म-तिथि सं.1616 की अगहन शु०5 लिखी गई है। श्री नवलसखी की रचना का एक उदाहरण—

मन में बिचारिकै बिबेक-टेक एक आछी,
ध्रुव हू तें अटल, न टारी टरै आसना।
नाना मत रत जीव उपजि-बिनसि जाँय,
कर्मठ-ज्ञानिन कों काल हू की त्रासना॥
आसू कौ रसिक, रस-रीति हू में रस पीवै,
जगत-अनन्यनि की पूरी भई बासना॥
'नवल' बिहारी जू कौ प्रगट बिहारी गायौ,
साँचे श्री हरिदास, जिनकी सुदृढ़ उपासना॥

[वि०कृ०भ०]

नव-सम्वत्सर

चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को विक्रमी सम्वत् का शुभारम्भ होता है। इस दिन ब्रज के सभी वैष्णव सम्प्रदायों के मन्दिरों में विशेष उत्सव मनाये जाते हैं। लोग मिश्री तथा नीम की नई कोपलें प्रसाद में वितरण करते हैं। ब्रजवासी लोग यमुनाजी में या अपने-अपने समीपस्थ पवित्र जलाशयों, कुण्ड, सरोवरों में स्नान कर अपने को धन्य समझते हैं। इस दिन मन्दिरों में श्री विग्रह को नई पोशाक धारण कराई जाती है तथा श्री विग्रह के समक्ष पंचांग का वाचन किया जाता है। इस अवसर पर ठाकुर जी को विशेष व्यंजनों जैसे— माखन-मिश्री, नीम-मिश्री, मौसम के फल, शर्बत इत्यादि का भोग लगाया जाता है।

चैत्र मास संवत्सर परिवा 'बरस प्रबेस भयौ है आज'।
कुंज महल में बैठे पिय प्यारी लालन पहरै नौतन साज॥

(परमानन्द दास कवि, परमानन्द सागर पृ० 76)
[प्र०श०]

नागरीदास (गुसाईं)

नागरीदास संत चरणदास जी के शिष्य थे। इनके गुरु भाई जोगजीत जी तथा रामरूप जी ने अपने ग्रंथों में जो इनका जीवनवृत्त दिया है केवल वही ज्ञात है इसके अलावा कोई अन्य सूत्र इनके जीवनवृत्त के विषय में प्राप्त नहीं होता है रामरूप जी के 'गुरु भक्ति प्रकाश' के अनुसार ये जाति के ब्राह्मण तथा मूलत: वृन्दावन के निवासी थे। एक बार इनके मन में पुरी (उड़ीसा) जाकर जगन्नाथ जी के दर्शन की इच्छा जागृत हुई। यह चुपचाप घर-परिवार छोड़कर पुरी की ओर चल पड़े। ये चलते-चलते फिरोजाबाद पहुँच कर जब रात्रि में विश्राम कर रहे थे तो भगवान ने स्वप्न में कहा कि तुम दिल्ली जाकर मेरे ही स्वरूप चरणदास के दर्शन करो। ये लौटकर दिल्ली चल पड़े। दिल्ली से कुछ दूर पहले ही

इन्होंने अपना पड़ाव डाल दिया। वहाँ लोगों से सुना कि चरणदास जी बड़े सिद्ध पुरुष हैं, उनको साक्षात शुकदेव जी ने प्रकट होकर अपना शिष्य बनाया था। तब इनके मन में यह भाव जागृत हुआ कि यदि वे इतने बड़े सिद्ध पुरुष हैं तो मेरे घर आकर मुझे दीक्षा दें। इतना विचार कर ये लौटकर अपने घर आ गये। तब चरणदास जी ने इनकी मन:स्थिति को जानकर स्वप्न में इनको दीक्षा, कंठी तथा टोपी प्रदान की। जब ये जगे तो ये कंठी, टोपी धारण किये हुए थे। तब ये दिल्ली आकर चरणदास जी के आश्रम में कुछ समय रहे। वहाँ से लौट कर ये कामवन में गद्दी स्थापित कर रहने लगे। यही घटना जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में कुछ परिवर्तन के साथ दी है।

ये एक अच्छे साधक के साथ-साथ उच्चकोटि के कवि भी थे। ये अलवर के राजा प्रतापसिंह के दीवान साह छाजूराम के आश्रित कवि थे। मिश्र बंधुओं ने इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख किया है-भाषा भागवत, भगवत् गीता भाषा, बानी। इनका ग्रंथ 'भाषा भागवत' एक विशालकाय ग्रंथ है जो कि मूलत: श्रीमद्भागवत के आरंभिक नौ स्कंधों का भावानुवाद है। इनका दूसरा ग्रंथ 'भगवत गीता भाषा' गीता का पद्यबद्ध अनुवाद है। इनका तीसरा ग्रंथ 'बानी' अनुपलब्ध है। इनके ग्रंथ इनकी काव्य प्रतिभा के साथ-साथ विशद् पांडित्य का भी ज्ञान कराते हैं। 'भागवत भाषा' में इन्होंने केवल अनुवाद ही नहीं अपितु एक ही श्लोक के भावों को स्पष्ट करने के लिए कई स्वतंत्र छंदों का निर्माण किया है। इनकी भाषा का निर्माण संस्कृत, खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के मेल से हुआ है। नागरीदास चरणदासी संप्रदाय के प्रमुख कवियों में भी श्रेष्ठ हैं।

[क०उ०]

नागरीदास तथा सरसदास

श्री नागरीदास जी एवं श्री सरसदास जी दोनों भाई थे तथा श्री बिहारिन दास जी के प्रभाव से विरक्त होकर वृन्दावन आ गए थे। इन दोनों ने ही श्रीबिहारिनदास जी से दीक्षा ली, अत: दोनों परस्पर गुरु भाई भी हुए। श्रीनागरीदास जी बड़े थे, लेकिन आचार्य गद्दी पर श्री सरसदास जी आसीन हुए। सम्प्रदाय की परम्परा में इन दोनों का ही अत्यधिक सम्मान है और आचार्य परम्परा (अष्टाचार्यों) में दोनों का ही नाम अत्यंत श्रद्धा से गुरुवत् ही लिया जाता है। अष्टाचार्यों की वाणी में इन दोनों ही महानुभावों की वाणियाँ संकलित की जाती हैं।

श्री नागरीदास जी का जन्मदिवस माघ शुक्ल पंचमी और श्री सरसदास जी का जन्मदिन आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को मनाया जाता है। इनके शेष जीवन के विषय में अंत: साक्ष्य तथा बहि: साक्ष्य बिल्कुल मौन हैं। एकमात्र स्रोत 'निजमत सिद्धांत' है, लेकिन प्रमाण की दृष्टि से उनका मूल्य नहीं है। आधुनिक शोधकर्ताओं ने 'निजमत सिद्धांत' में वर्णित घटनाओं और तिथि-संवतों को अनेक विरोधाभासों के चलते अमान्य कर दिया है।

इन महात्माओं ने भी अन्य रसिकों की भाँति अपने जीवनवृत्त को कभी भी महत्त्व नहीं दिया, लेकिन इनका साधना पक्ष इतना सबल है, इनकी भावकाय इतनी रससिद्ध है कि इनकी समता में अन्यों का ठहरना कठिन ही है। इन दोनों का ही वाणी साहित्य यद्यपि स्वल्प है, तथापि इनके रससिद्ध व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाशित करता है। [ल०बि०गो०]

नाम सेवा

नाम सेवा से तात्पर्य उन ग्रंथों का अध्ययन, मनन, स्वाध्याय, श्रवण और प्रवचन करना है जिनसे भगवान के स्वरूप को भलीप्रकार समझने में सुविधा हो। परिस्थितिवश स्वरूप सेवा करने वाले साधक नाम सेवा से भी संतुष्ट होते हैं। अर्थात् विग्रह की सेवा न कर पाने की स्थिति में नाम सेवा करते हैं तथा जो सेवक स्वरूप सेवा करते हैं जिसमें सम्प्रदायाचार्य अथवा इष्ट आराध्य का नाम पूजा गृह में रखकर सेवा किये जाने की परम्परा है। नाम सेवा के रूप में

प्रस्तर, काष्ठ अथवा धातु पर नाम अंकित करते हुये सेवा किए जाने का पुराना विधान है। ब्रज के कई देवालयों में नाम सेवा विद्यमान है। [प्र०श०]

नारद

सनकादि परम ऋषियों के शिष्यों में श्री नारदजी का प्रमुख स्थान है। इनका प्राकट्य व्यंजन द्वादशी (मार्गशीर्ष शुक्ला 12) को मनाया जाता है। वृहत्तर ब्रज वृन्दावन में इनका अपने गुरु सनकादिकों की ही तरह अधिक निवास रहा। नारद कुंड, नारद टीला, श्री नारद कुटी आज भी सनत्कुमार संहिता विहित प्रमाण की पुष्टि करते हैं। श्री निंबार्काचार्य को इन्होंने हंस-सनकादिकों से प्राप्त ज्ञान का ही उपदेश किया। श्रीराधाकृष्ण युगल परिकर में आप मुग्धा सखी में रूप में सेवायत हैं। वहीं त्रिलोकी के कल्याण की भावना से श्री नारद रूप से लोक-लोकांतरों में विचरते रहते हैं। भक्ति और वृंदावन धाम का जो संबंध है वह सनकादि ऋषियों की कृपा से ही स्थापित हो सका है। इसके माध्यम श्री नारदजी हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णित आख्यान के अनुसार कलयुग के प्रभाव से मानसिक व्यथा का अनुभव कर रही भक्ति महारानी और जराजीर्ण पुरुष हो चुके भक्ति के पुत्र ज्ञान और वैराग्य को जब किसी भी उपाय से शांति का अनुभव नहीं हुआ तो श्री नारदजी ने विविध उपाय किए किंतु अंत में गुरुदेव सनकादि से प्रार्थना की तो उन्होंने समस्त वेद-उपनिषदों के सार और भगवद् भक्ति चरित्रों से परिपूर्ण श्रीमद्भागवत का श्रवण भक्ति सहित उनके पुत्रों को कराया। जिसके प्रभाव से उनके शोक-संतापों का शमन हो गया और वे पुनः स्फूर्त युवा हो गये। सप्ताह श्रवण के बाद जब भक्ति ने सनकादि से रहने का स्थान माँगा तो आचार्य ने उन्हें वैष्णवों के मन-मंदिर में स्थापित हो जाने की आज्ञा दे दी। इसके बाद से ही भक्ति वृंदावन धाम में साक्षात निवास करने लगी। विष्णु भक्त ध्रुव और प्रह्लाद नारद ऋषि के ही कृपापात्र थे, जिन्हें दिव्य मंत्रोपदेश प्रदान कर इन्होंने ही भगवत्प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। दक्ष प्रजापति के पुत्रों को सांसारिक कर्मबंधनों से छुड़ाने वाला धर्मोपदेश करने के साथ ही राजा प्राचीनबर्हि की हिंसात्मक प्रवृत्ति को निवृत्ति कर भगवद् भक्ति की ओर उन्मुख किया। नारद ऋषि ने ही महर्षि वाल्मीकि और कृष्ण द्वैपायन भगवान वेदव्यास जी को क्रमशः संक्षिप्त रामायण और चतुःश्लोकी भागवत का परमोपदेश किया। ब्रजमंडलांतर्गत श्री नीमगांव में आपने श्री नियमानंद (निंबार्काचार्य) का शिष्यत्व ग्रहण कर उन्हें दिव्य श्रीगोपाल मंत्रराज का परमोपदेश किया और श्रीसनकादि संसेव्य श्री सर्वेश्वर प्रभु की सेवा प्रदान की। [कुं०बि०श०]

नारद पुराण

यह पुराण दो भागों में विभक्त है। पूर्व और उत्तर भाग। पूर्व भाग में चार पाद और 102 अध्याय हैं और उत्तर भाग में 71 अध्याय हैं। इसमें 25000 श्लोक बताये जाते हैं किन्तु 22000 श्लोक ही उपलब्ध हैं। नारद पुराण में शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, तीर्थ, व्रत, दान की महिमा, देवताओं की पूजा आदि का विस्तृत वर्णन है। इस पुराण में अठारह महापुराणों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

प्रथमपाद के 38 अध्यायों में सृष्टिक्रम का संक्षिप्त वर्णन, वर्णाश्रमोचित आचार, सत्संग की महिमा, गंगा-यमुना आदि तीर्थों की महिमा, सगर उपाख्यान, बलि वामन की कथा, दान के प्रकार, तड़ाग-तुलसी की महिमा, प्रायश्चित्तों का वर्णन, श्राद्ध, व्रत, दान का वर्णन है। द्वितीय पाद के 18 अध्यायों में शिक्षा निरूपण के अन्तर्गत वेदों इत्यादि की ऋचाओं के उच्चारण पद्धति का बहुत विस्तार से वर्णन है। इसी प्रकार व्याकरण, ज्योतिष और छन्द शास्त्र का बहुत ही विस्तृत वर्णन है। तृतीय पाद के 11 अध्यायों में शैव दर्शन का विवरण, शौचाचार, स्नान, संध्या, तर्पण, देवताओं की पूजा की विधि आदि का वर्णन तथा महाविष्णु के अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर मंत्रों के अनुष्ठान की विधि, राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के मंत्रों के अनुष्ठान की विधि, हनुमान जी की उपासना और दीपदान विधि, कामनाशक, भूतादि से छुटकारे के मंत्रों का वर्णन,

भगवान श्रीकृष्ण की पूजा सम्बन्धी मंत्रों के अनुष्ठान की विधि का वर्णन है। तृतीय पाद में ही जिसमें नारद जी को भगवान शंकर से प्राप्त युगल शरणागति मंत्र 'गोपीजनवल्लभ चरणं शरणं प्रपद्ये' (गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण के चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ) का वर्णन है। श्रीहरि के दामा आदि 12 सखा बताये गये हैं और राधारानी की सुशीला आदि 32 सखियाँ बताई गई हैं। राधाकृष्ण युगल सहस्रनाम का तृतीय पाद के 68वें अध्याय में वर्णन है।

चतुर्थ पाद के 36 अध्यायों में ब्रह्माजी के द्वारा मरीचि ऋषि को अठारह पुराणों की अनुक्रमणिका, उनका संक्षिप्त परिचय, उनके पाठ श्रवण और दान का फल इत्यादि बताये गये हैं। चतुर्थ पाद में ही वर्ष के बारह मासों में अमावस्या से पूर्णिमा तक के प्रत्येक तिथि के व्रतों और उनसे सम्बन्धित आवश्यक कृत्यों का निरूपण किया गया है। यहीं पर पूर्वार्ध समाप्त होता है। नारद पुराण के उत्तर भाग में एकादशी व्रत की अपार महिमा का वर्णन है। उत्तर भाग के अन्य अध्याय राजा रुक्मांगद के पुरोहित वसु और मोहिनी से जुड़े हैं। मोहिनी और वसु के संवाद का सुन्दर वर्णन है। वसु ने गंगा जी के दर्शन, स्मरण, स्नान, गंगाजी के तट पर किये जाने वाले पूजनादि का विस्तार से वर्णन किया है। गया तीर्थ की महिमा का वर्णन भी विस्तार से किया गया है।

अविमुक्त क्षेत्र काशी के तीर्थों, शिवलिंगों के दर्शन-पूजन, काशी यात्राकाल में आवश्यक कृत्यों का वर्णन है। वसु ने मोहिनी से उत्कल प्रदेश में पुरुषोत्तम क्षेत्र की महिमा और राजा इन्द्रद्युम्न की कथा का वर्णन किया है। राजा इन्द्रद्युम्न भगवान के बड़े भक्त थे। उन्हें भगवान ने रात में स्वप्न में बताया कि समुद्र तट पर जल में एक बड़ा सुन्दर वृक्ष है, जिसका कुछ भाग जल में और कुछ थल में है। भगवान ने उसे अकेले ही कुल्हाड़ी लेकर काटने और दिव्य प्रतिमाओं का निर्माण करने को कहा। राजा ने वृक्ष काट दिया। तभी उसे ब्राह्मण वेष में भगवान विष्णु और विश्वकर्मा के दर्शन हुए। भगवान के आदेश से विश्वकर्मा ने उस वृक्ष की लकड़ी से तुरन्त तीन अद्भुत प्रमिाओं का निर्माण कर दिया। वे सभी दिव्य वस्त्रों से आच्छादित और दिव्य रत्नों से सुसज्जित थीं। बलभद्र, सुभद्रा और भगवान श्रीकृष्ण की मूर्तियाँ बहुत सुंदर थीं। राजा के अनुरोध पर भगवान विष्णु ने उन्हें अपने स्वरूप का दर्शन दिया। शुभ तिथि और मुहूर्त्त में उन मूर्तियों की विधिवत् प्रतिष्ठा कराई गई। यही स्थान उत्कल प्रदेश में जगन्नाथपुरी नाम से विख्यात है। भगवान की स्तुति और गुण्डिचा यात्रा के दर्शन और माहात्म्य का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त प्रयाग का माहात्म्य, माघ मास में मकर संक्रांति महिमा और विभिन्न तीर्थों का वर्णन है। कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, बदरिकाश्रम, सिद्धिनाथ, प्रभासक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि तीर्थों के माहात्म्य और तीर्थों के विषय में चर्चा की गई है। श्रीराम-लक्ष्मण का संक्षिप्त चित्रण, सेतु क्षेत्र और नर्मदा के तीर्थों की महिमा, मथुरा और वृन्दावन की तीर्थों का चित्रण तथा महिमा का निरूपण किया गया है। पुरोहित वसु ने मोहिनी को सब तीर्थों में घूमकर पुण्य प्राप्त करने को कहा और स्वयं ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हो सब वृत्तान्त बताया। ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। वसु ने वृन्दावन वास माँगा। वसु ने वृन्दावन में बहुत तपस्या की। भगवान श्रीकृष्ण के सखाओं सहित दर्शन प्राप्त किये। ऐसा वर्णन है कि वसु इच्छानुसार रूप धारण कर वृन्दावन में रहते हैं। मोहिनी ने पुरोहित के आदेशानुसार तीर्थों का सेवन किया और अंततः यमुना के जल में समा गईं। उसने दशमी के अन्तभाग में प्रवेश किया था। अतः मोहिनी-वेध से रहित एकादशी उपवास का ही निर्देश है तथा दशमी विद्धा का घोर निषेध है। [क०उ०]

नारद भक्ति सूत्र

महर्षि व्यासजी महाराज को वेदरूप नाना पुराणों की रचना करने के बाद भी जब तृप्ति नहीं हुई, उनके चित्त में पूर्ण शान्ति नहीं हुई। इसी विचार में डूबे वे सरस्वती नदी के तट पर बैठे थे कि अचानक देवर्षि नारद का वहाँ आगमन हुआ। नारदजी के द्वारा उनका कुशल पूछे जाने पर उन्होंने अपनी समस्या का निदान पूछा तब नारदजी ने उन्हें श्रीहरि की लीलाओं का वर्णन करने के लिये कहा। इस प्रकार महर्षि नारद जी की प्रेरणा से वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत की रचना की।

देवर्षि नारदजी ने सब कुछ उपदेश करने के बाद 'अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम:' कहकर अन्त में भक्तितत्त्व का उपदेश दिया। जो नारद भक्तिसूत्र ग्रन्थ के नाम से जगत में प्रसिद्ध हुआ। सभी दर्शन तात्पर्यत: परमेश्वर के प्रति परम अनुराग को भक्ति कहते हैं। पर नारद ने भक्ति के रूप को परमप्रेम और इसके स्वरूप को अमृत कहा है। नारद भक्तिसूत्र षड्दर्शनों के समान एक दर्शन है। भक्त इसे सातवाँ दर्शन कहते हैं। महर्षि नारद के द्वारा रचित इस ग्रन्थ के चौरासी सूत्रों में भक्ति तत्त्व की व्याख्या, भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधन, भक्त की महिमा और भक्तों के महत्त्व को भलीभाँति प्रकट कर दिया है। देवर्षि नारद जी के मत में भक्ति में ज्ञान और कर्म दोनों ही हैं, पर ये दोनों होने चाहिए भक्ति के ही अनुकूल। भक्ति में शुष्क ज्ञान का और कर्म का कोई स्थान नहीं है।

''स तरति स तरति स लोकांस्तरति'' महर्षि नारद अत्यन्त भावपूर्ण प्रेमावस्था की स्थिति में आनन्दोच्छलित हृदय से पुकार रहे हैं-''जो इस प्रकार भगवान के प्रेम में मतवाला हो जाता है, वह स्वयं तो तर ही गया, अपितु वह समस्त लोकों को भी तार देता है। सच्चा तारन तरन तो वही है।'' चार सूत्रों में प्रेम के साधन और प्रेमियों के लक्षण बताने के बाद प्रेम का स्वरूप का व्याख्यान ''अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम्'' के माध्यम से करते हुए कहते हैं कि ''प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय का अर्थ है-वाणी से पर वाणी प्रेम का वर्णन नहीं कर सकती है। प्रेम तो अनुभव की वस्तु है।

नारदजी का यहाँ उद्देश्य अभिप्राय या सम्बन्ध भक्ति से है, जो उनका प्रधान कार्य है। कृष्णावतार में सुपण्डित सर्वशास्त्र विशारद होकर भी भक्ति का ही उपदेश करते हैं। भक्ति के अनेक प्रकार बताये गये हैं परन्तु नारदजी जिस भक्ति की व्याख्या करते हैं, वह परमप्रेमरूपा है-''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'' भगवान में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। ज्ञान, कर्म आदि के साधनों के आश्रय से रहित और सब ओर से स्पृहाशून्य चित्तवृत्ति अनन्यभाव से जब केवल भगवान में लग जाती है, जगत के सब पदार्थों से तथा परलोक की सारी सुख-सामग्रियों से यहाँ तक कि मोक्ष से भी चित्त हटकर एकमात्र अपने परमप्रेमास्पद भगवान में लगा रहता है, जितनी भी ममता और आसक्ति है सबकी सब एकमात्र परमात्म के प्रति हो जाती है, यही दशा अनन्य प्रेम की है। जैसे गोपिकाओं की-''यथा व्रजगोपिकानाम्'' सर्वात्मना समर्पित प्रतिक्षण प्रतिपल श्रीकृष्ण का चिन्तन और उनके गुणों का गान। यह प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है-

''सा तु कर्मज्ञायोगेभ्योऽप्यधिकतरा'' भक्ति करने का सभी का अधिकार है। यह भक्ति योग, जप, तप आदि से अधिक सुलभ है। [स०ना०दा०]

नारायण भट्ट

ब्रज का पुनरोद्धार करने वाले रूप एवं सनातन की तरह ही नारायण भट्टजी का इस कड़ी में महत्वपूर्ण स्थान है। दक्षिण भारत के मदुरा नगर में जन्मे नारायण भट्टजी ने अल्पायु में ही विद्या अध्ययन कर लिया था। लगभग 12 वर्षों तक राधाकुण्ड में रहने के बाद ये ब्रज के 'ऊँचा गाँव' में रहने लगे। रासलीलानुकरण के आरम्भकर्ताओं में भट्टजी का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा रचित प्रमुख ग्रंथ— ब्रज भक्ति विलास, ब्रजोत्सवचन्द्रिका, ब्रजोत्सव आह्लादिनी, वृहद् ब्रजगुणोत्सव (अप्राप्य), भक्तिविवेक, भक्तिरस तरंगिणी, प्रेमांकुर नाटक (अप्राप्य), भागवत की रसिकाह्लादिनी टीका, भक्तिभूषण सन्दर्भ, साधन दीपिका, ब्रजमहोदधि (अप्राप्य)। [रा०श०]

नारायणीय धर्म

वैदिक धर्म यज्ञ प्रधान माना गया है। आर्यगण इंद्रादि अनेक देवताओं की उपासना करने एवं उन्हें संतुष्ट करने हेतु विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हेतु यज्ञ किया करते थे। उत्तर वैदिक काल अर्थात् आरण्यक-उपनिषद् युग में ब्रह्मचिंतन रूपी ज्ञान मार्ग की ओर आर्यों का झुकाव हो गया था किन्तु उस समय भी यज्ञादि कर्मकाण्ड में कोई अन्तर नहीं आया था। आरंभ

में यज्ञों का कर्मकाण्ड सीधा-सादा था परन्तु बाद में इसे विशद्, जटिल और व्ययसाध्य बना दिया गया। यज्ञों में पशु बलि की प्रथा के कारण जनता की यज्ञों की प्रति अरुचि हो गयी। जिसके फलस्वरूप नई विचारधारा का उदय हुआ जिसके परिणामस्वरूप नारायणीय धर्म का उद्भव हुआ।

यद्यपि नारायणीय धर्म का उद्भव वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था तथापि यह वेद विरोधी नहीं था। इसे वैदिक धर्म का संशोधित रूप कहा जा सकता है। इसके आदि प्रचारक नारायण ऋषि माने जाते हैं, इसलिए इसे 'नारायणीय धर्म' कहा गया। इस धर्म के दो प्रमुख आधार हैं-1. ऋग्वेदीय 'पुरुष सूक्त' और 2. महाभारत का नारायणीयोपाख्यान। ऋग्वेदीय 'पुरुष सूक्त' इसके दार्शनिक पक्ष की अभिव्यक्ति है जबकि महाभारत 'नारायणीयोपाख्यान' इसके व्यावहारिक पक्ष का आख्यान है।

इस धर्म के अनुसार समस्त सृष्टि का संचालक जो परतत्व है, वह पुरुष ही सबका स्वामी है। ये ही समस्त सृष्टि के आदि-अंत का कारण है। इस धर्म में इंद्रादि देवताओं के स्थान पर 'पुरुष' रूपी परमात्मा की उपासना की जाती है जिसे 'नारायण' कहा जाता है। इस धर्म के आदि प्रवक्ता नर एवं नारायण ऋषि हैं जिन्होंने इस धर्म का प्रथम उपदेश नारद ऋषि को दिया था। इस धर्म की परम्परा सूर्य से मानी गयी है। इसमें अहिंसा की प्रधानता होने के कारण हिंसा-प्रधान यज्ञों के स्थान पर हिंसा रहित द्रव्य-यज्ञ करने की व्यवस्था की गई।

भगवान श्रीकृष्ण का इस धर्म से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध माना गया है। ऐसा माना जाता है कि वैदिक काल से श्रीकृष्ण के काल के बीच यह धर्म लुप्त हो गया था। श्रीकृष्ण ने इस धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की। इस बात की पुष्टि इस प्रकार भी होती है कि 'छांदोग्य उपनिषद्' में अंगिरस घोर ऋषि द्वारा उनके शिष्य 'देवकी पुत्र' को उपदेश दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें अहिंसा धर्म की व्याख्या की गई। कौषीतकि ब्राह्मण (30-6) में घोर ऋषि को सूर्योपासक बताया गया है। श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है कि प्राचीन काल में जो ज्ञान सूर्य को दिया था, वह बहुत काल से लुप्तप्राय हो गया था। उसी पुरातन ज्ञान को उन्होंने अर्जुन को बतलाया था। श्रीकृष्ण ने बाल्यावस्था में भी इंद्र पूजा के स्थान पर गोवर्धन पूजा की प्रतिष्ठा की थी। इस प्रकार वे पशु हिंसा के स्थान पर गो संवर्धन एवं गो पालन के प्रतिष्ठापक थे।

श्रीकृष्ण ने प्राचीन नारायणीय धर्म को परिष्कृत कर पुन: प्रतिष्ठित किया परन्तु इससे श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि हुई। जिसके फलस्वरूप नारायणीय धर्म के उपास्य देव 'नारायण' थे किन्तु बाद में 'वासुदेव' की उपासना प्रचलित हो गयी। अर्थात् 'नारायण' और 'वासुदेव' एक दूसरे के समकक्ष स्थापित हो गये। इस प्रकार 'नारायणीय धर्म' ही आगे चलकर 'सात्त्वत', 'पांचरात्र' एवं 'भागवत धर्म' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। [क०उ०]

निकुंज रहस्यस्तव

32 पद्यों के इस स्तव में निभृतनिकुंज में राधाकृष्ण की वन्दना है। इस स्तव की रचना श्री रूप गोस्वामी ने की है। इस ग्रंथ की रचना शैली अत्यधिक मधुर है। जिसमें रूप माधुरी मिलन एवं विविध क्रीड़ाओं का वर्णन है। स्तव में प्रमुखत: रतिक्रीड़ा के समय प्रिया-प्रियतम की शोभा का वर्णन है। संयोग-श्रृंगार के सभी अंगों का सांगोपांग चित्रण यहाँ प्राप्त होता है। ललिता आदि सखियाँ उस रूप का अवलोकन करती हैं। लीला का क्रम इस प्रकार है। प्रथम मिलन के समय नायिका का भय, विरोध, सुरत कलह एवं काकुवाद तत्पश्चात सुरतारम्भ, सुरत विविध क्रीड़ायें पुन: सुरत, सुरतान्त में श्रान्ति का वर्णन और अन्त में राधाकृष्ण की इस माधुरी का पान करने के लिये मन शिक्षा है। स्तव की समाप्ति पर फलश्रुति है कि जो रात्रि में व्याकुल होकर इस स्तव का पाठ करेंगे उन्हें राधा सख्य प्राप्त होगा। [क०उ०]

नित्य विहार

परिचर्या का सहज एवं पूर्ण प्रेममय रूप 'नित्य विहार' में प्रकट होता है। नित्य विहारी प्रेम सहज रूप से सेव्य-सेवक

भावमय है। नित्य विहार सेवा मानसी सेवा की भाँति केवल मानस प्रत्यक्ष ही नहीं होती, वह प्रकट सेवा की भाँति इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी होती है। प्रकट सेवा को नित्य विहार की नींव कहा गया है। जिस उपासक के हृदय में प्रकट सेवा (स्वरूप सेवा) का बीज बपन हो जाता है। उसके हृदय में नित्य विहार रस निश्चल रूप से स्थिर हो जाता है। [प्र०श०]

नित्योत्सव

नित्योत्सव से तात्पर्य है—श्रीविग्रहों की मंदिर देवालयों में होने वाली नियम सेवा। जिसमें कि पृथक-पृथक समय पर पृथक-पृथक वस्तुओं तथा खाद्य पदार्थों को ठाकुर जी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह सेवा मुख्यत: सात तथा आठ प्रकार से की जाती है। जिसमें कि प्रात:काल से लेकर रात्रि शयन की सेवा समाहित है। जैसे मंगला, शृंगार, राजभोग, शयन, उत्थापन, भोग, ग्वाल, शयन, आरती आदि इसमें वात्सल्य भाव की सेवा होने पर ठाकुर जी को बालक के समान सुख प्रदान करने हेतु भावपूर्वक सेवा करते हैं तथा सखा और दास भाव में युगल स्वरूप की सेवा की जाती है। जिसमें युगल (श्री कृष्ण-राधा) किशोर होते हैं। इनके सुख को ध्यान में रखकर ही सेवा की जाती है। इसमें ही उपासक का सुख निहित रहता है। प्रिया प्रियतम को सुखपूर्वक सुगन्धित द्रव्य पुष्प आदि अर्पित किये जाते हैं। शृंगार किया जाता है तथा ऋतु अनुकूल परिचर्या की जाती है। जैसे सर्दियों में ऊष्मा प्रदान करने हेतु सूखे मेवे तथा अँगीठी ठाकुर जी के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह क्रम पूरी सर्दी चलता है। नित्योत्सव सेवा के प्रमुख तीन ही अंग हैं। शृंगार, भोग, राग इन्हीं के अनुरूप विग्रह की नित्य सेवा होती है। [प्र०श०]

निम्बार्क-विक्रान्ति

श्री 'निम्बार्क विक्रान्ति' श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री औदुम्बर ऋषि के द्वारा रचित ग्रन्थ है। ये निम्बार्काचार्यजी के द्वितीय शिष्य थे। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों द्वारा रचे हुए अनेकों ही साधारण और असाधारण ग्रन्थ हैं, जिनमें से एक यह 'निम्बार्क विक्रान्ति' भी असाधारण ग्रन्थों में आता है। इसका कारण ये है कि इसके रचयिता ने गुणानुसार ही इसका नाम निर्देश किया है। इस ग्रन्थ में 220 श्लोक हैं। ये ग्रन्थ बहुत से चरित्रों और साम्प्रदायिक सिद्धांत को प्रकाशित करने वाला है, अतएव सभी विद्वज्जनों की एक सुन्दर उपादेय वस्तु है।

श्री निम्बार्क विक्रान्ति के आरम्भ में 'ओदुम्बरो जातुचिदा करोमि' इस द्वितीय श्लोक से तथा ग्रन्थ की समाप्ति में 'औदुम्बरेणति विनिर्मिता श्री' इस अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता औदुम्बर ऋषि ही थे। इनके जन्म का परिचय इसी ग्रन्थ के 90 और 91 श्लोकों से मिलता है। अर्थात् जिस समय एकान्त स्थान में गूलर के पेड़ के नीचे निम्बार्काचार्य जी भगवान की आराधना कर रहे थे, उसी समय अविद्या से ग्रसित खल समूहों ने उन पर हमला कर दिया। ठीक उसी समय गूलर का एक फल आचार्य के चरणों के निकट आ गिरा और चरण नख से स्पर्श होते ही वह फल दिव्य आकृति और अमित प्रभावपूर्ण निम्बार्काचार्य जी के सदृश ही गुण-रूपवान सुन्दर पुरुष के रूप में प्रकट हो गया, वही पुरुष औदुम्बराचार्य कहलाए। इस चमत्कार को देखकर खलों का समूह भयभीत होकर भाग गया।

इसी ग्रन्थ के श्लोकों से यह भी ज्ञात होता है कि जब खल समूहों ने निम्बार्काचार्य जी के चारों ओर अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी थी उस समय औदुम्बराचार्य श्री निम्बार्क भगवान के उस अद्‌भुत प्रभाव का अनुभव कर रहे थे एवं समस्त पृथ्वीमण्डल पर पर्यटन एवं दिग्विजय कर श्री निम्बार्काचार्य पुन: अपने परम प्रिय श्री ब्रजधाम में पधार आए थे और श्री रंगदेवी के स्वरूप से नन्दनन्दन के निकट आ विराजे थे। उस समय में भी औदुम्बराचार्य आचार्य चरणों के समीप विद्यमान थे। अतएव जिन-जिन लीलाओं का उनको अनुभव हुआ था, उन सब लीलाओं का इस ग्रन्थ में उन्होंने ग्रंथन किया है।

इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि औदुम्बर ऋषि अयोनिज थे, अर्थात् श्री निम्बार्काचार्य के तेज:पुंज का ही एक अंश थे। अतएव बिना अध्ययन किये भी निखिल निगमागम के पूर्ण वेत्ता और प्रतिक्षण आत्म-परमात्म आदि तत्वों का साक्षात करने वाले थे। इनका तिरोधान श्री निम्बार्क भगवान की सेवा करते हुए ही हुआ था।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल श्री निम्बार्काचार्य जी के समय से ही निश्चित किया जाता है। क्योंकि औदुम्बराचार्य जी का समय निम्बार्काचार्य जी के समकालीन ही माना जाता है। यद्यपि 'निम्बार्क विक्रान्ति' की तीन प्रतियाँ मिली हैं जिनमें किसी में भी ग्रन्थ रचना का समय नहीं मिलता है। दो प्रतियाँ जो कि बीसवीं शताब्दी में लिपि की हुई हैं, उनमें केवल लेखक ने अपने लिखने का समय मात्र लिख दिया है। किन्तु इन तीनों में से एक ग्रन्थ लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखा हुआ प्रतीत होता है, उनमें लेखक ने भी अपने लिखने का समय नहीं लिखा है। इन तीनों पुस्तकों में कहीं विशेष पाठ भेद नहीं मिलता। केवल बीसवीं शताब्दी में लिखी हुई पुस्तकों में कई जगह मात्राओं का भेद अवश्य मिलता है। ये दोनों पुस्तकें उतनी शुद्ध नहीं हैं जितनी वह पुरानी पुस्तक शुद्ध है।

यह ग्रन्थ निम्बार्काचार्य जी के उन चरित्रों को अभिव्यक्त करता है जिनसे कि प्राय: बहुत से विद्वान भी अपरिचित थे। श्री निम्बार्काचार्य जी के निम्ब पर सूर्य दिखाना एक आश्चर्यमय चरित्र की गाथा को दर्शाता है। इस ग्रन्थ में द्रुतविलम्बित छन्द के अतिरिक्त किसी दूसरे छन्द का समावेश नहीं हुआ है। अत: आरम्भ और समाप्ति का निर्देश भी छन्दोबद्ध रूप से ही किया गया है। यह ग्रन्थ जिस प्रकार क्लिष्ट पदों से पूर्ण है, वैसे ही अर्थ-गंभीरता से भी ओतप्रोत है। विराट स्वरूप दिखलाना और नदी प्रकट कर उनका संशोषण करना आदि श्री निम्बार्क भगवान के चतुर्दश चमत्कारों का इस ग्रन्थ में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ आद्योपान्त स्तुतिमय होने पर भी इतिहास और सिद्धान्त का दिग्दर्शन करा रहा है। जिस प्रकार निम्बार्काचार्य जी ने अपने भाष्यादि ग्रन्थों में किसी भी मत-मतान्तर के खण्डन की चर्चा न करके केवल अपने सिद्धान्त का ही द्योतन किया है, उसी प्रकार औदुम्बराचार्य जी ने भी इस ग्रन्थ में किसी मत-मतान्तर का खण्डन नहीं किया है और न वैष्णव सिद्धान्त के प्रतिपक्षी शंकर आदि वादी आचार्यों का नामोल्लेख किया है। उपरोक्त दोनों हेतु इस ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध करते हैं।

ग्रन्थोपलब्धि के बारे में यह कहना उचित होगा कि यह ग्रन्थ श्री निम्बार्काचार्यजी के विद्यमान समय में उनके मुख्य शिष्यों में से एक शिष्य औदुम्बराचार्य जी के द्वारा रचा गया है। अतएव आज से लगभग पाँच हजार वर्षों से भी पहले यह ग्रन्थ ग्रंथित हुआ है। इस्लामी शासन में भारतीय ग्रन्थों की दुर्गति और संस्कृत विद्या की उपेक्षा के कारण यह ग्रन्थ प्राय: लुप्त ही हो रहा था। अतएव मुद्रण कला के प्रचार होने पर साम्प्रदायिक ग्रन्थों को प्रकाशित कराने वाले विद्वानों को भी यह ग्रन्थ नहीं मिल सका। आचार्यों के रचे हुए साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख न मिलने से किसी की रुचि इस ग्रन्थ पर नहीं गई। स्वामी श्री ब्रजवल्लभ शास्त्री जी को इस ग्रन्थ की चार-पाँच शताब्दी पूर्व की लिखी हुई मूल प्रति प्राप्त हुई थी। इससे पता चलता है कि उस समय में इस ग्रन्थ की पूर्ण चमत्कृति थी और साम्प्रदायिक विद्वान इसको अपना सर्वस्व समझकर इसका नित्य पाठ किया करते थे। क्योंकि इसमें निम्बार्क भगवान की आश्चर्यमयी स्तुति है। अत: उस समय में इसी स्रोत से बहुत से तान्त्रिक प्रयोग भी किया करते थे।

इन तीन-चार शताब्दियों में निम्बार्क संप्रदाय के योग विद्या और तन्त्र विद्या का बहुत कुछ ह्रास हो गया है एवं संस्कृत विद्या का अनुराग भी बहुत कम हो गया है। इसी कारण से इस ग्रन्थ की रही-सही प्रतियाँ भी अटालों के अन्दर डाल दी गईं। अत: इस बीसवीं शताब्दी के जागृतकालीन साम्प्रदायिक विद्वानों को भी यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका। संयोगवश श्री वृन्दावन में श्री निम्बार्काचार्य पीठ 'श्री निकुंज' में यह ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण और सड़े हुये पत्रों में से प्राप्त हुआ। श्री आचार्य महाप्रभु की कृपा से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ और उन्हीं की कृपा से इस ग्रन्थ का भाषा टीका करना संभव हो पाया। आज भी इस ग्रन्थ की एकाध प्रतियाँ ही बची हुई हैं, जिसे दुर्लभता से प्राप्त किया जा सकता है। [शै०चौ०]

निम्बार्कशरण देवाचार्य

श्रीजी श्रीनिंबार्कशरण देवाचार्य जी श्रीसर्वेश्वर शरण देवाचार्य जी के कृपापात्र शिष्य थे। इन्होंने वि.सं. 1870 से 1897 तक आचार्यपीठ को शोभायमान किया। इनकी जितनी अगाध निष्ठा अपने आराध्य श्रीसर्वेश्वर प्रभु में थी वैसी ही आस्था इनके प्रति इनके अनुयायी राजा-सामंतों और श्रद्धालुओं में थी। जयपुर के महाराजा जगतसिंह के कोई संतान न थी, ऐसे में वि.सं. 1875 में उनका असमय निधन हो गया। राज्यहित में कुछ सामंतों ने मोहनसिंह नामक एक व्यक्ति के राज्याभिषेक का मन बना लिया, वहीं कुछ गर्भवती महारानी आनंदकुमारी जी के प्रसवकाल की प्रतीक्षा करने के पक्ष में थे। अंतत: इस पर सहमति हो गई। निंबार्काचार्य श्रीनिंबार्कशरण देवाचार्य जी के निर्देश पर श्री स्वामी परशुराम देवाचार्य जी की धूनी पर विशेष हवन करवाया गया तथा सर्वेश्वर प्रभु की विशेष आराधना की गई। गुरुकृपा से रानी ने राजकुमार जयसिंह (तृतीय) को जन्म दिया। प्रजा में अतीव उल्लास था। एक वर्ष बाद गुरुदेव श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य की स्मृति में अभूत-अनुपम स्मृति महोत्सव मनाया गया, जिसमें आचार्यपीठ और जयपुर राज्य की ओर से एक-एक लाख रुपये का व्यय किया गया। इस आयोजन का उल्लेख जयपुर के प्रसिद्ध मण्डन कवि के 'जय साह सुजस प्रकाश' ग्रंथ में है।

रानी भटियानी ने अपनी श्रद्धा को शाश्वत बनाने के लिए वि.सं. 1878 में वृन्दावन में एक ऐसे दिव्य मंदिर की नींव रखी जो शिल्प सौंदर्य की दृष्टि से राजस्थानी स्थापत्य का अनुपम उदाहरण अद्यावधि है। इस मंदिर का निर्माण इक्यावन हजार घन फुट जमीन पर पाँच वर्षों में पूर्ण हुआ। प्रभु से अपना नाम संयुक्त कर रानी ने ठा. श्री आनन्दमनोहर वृन्दावन चंद्र जी विग्रह ज्येष्ठ शुक्ल नवमी वि.सं. 1833 को प्रतिष्ठापित करवाया तथा सेवाकार्य को निर्वाध रखने के लिए तीन ग्राम भेंट किए। इसी दिवस स्व. महाराजा जगतसिंह और महारानी की कृपापात्र रूपा बंजारन ने भी इसी मंदिर से सटे इसी शैली के छोटे मंदिर में श्रीरूपमनोहर वृन्दावनचंद्र जी की स्थापना कराई।

आचार्यश्री द्वारा विरचित 'श्रीसर्वेश्वर प्रपत्ति स्तोत्र' उनकी सर्वेश्वर चरणारबिंद में अगाध निष्ठा को प्रतिबिम्बत करता है। आध्यात्मिक निष्ठा के अतिरिक्त राष्ट्र प्रेम की भावना का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण आपके जीवन चरित्र में उद्‌घाटित होता है। एक बार इनके शिष्य महाराजा भरतपुर के विरुद्ध अंग्रेजों ने युद्ध छेड़ दिया। ऐसे में भरतपुर राज्य के सहायतार्थ और भरतपुर किला में संसेवित चतुरचिंतामणि देवाचार्य जी (नागाजी महाराज) के आराध्य श्रीबिहारी जी के मंदिर की सुरक्षार्थ आचार्यश्री ने 300 सशस्त्र साधुओं का दल आचार्यपीठ से भेजा। इससे बौखलाए अंग्रेजों ने आचार्यपीठ के अधीन कई गाँवों को हथिया लिया। इन विषम परिस्थितियों में जोधपुर नरेश के आदेशानुसार विभिन्न क्षत्रिय सामंतों ने आचार्यपीठ के सुव्यवस्थित संचालन हेतु वार्षिक भेंटें समर्पित करने की व्यवस्था की। आचार्यश्री का पाटोत्सव ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को समारोहपूर्वक मनाया जाता है। इनकी चरणपादुका आचार्यपीठ में ही सेवित हैं। [कुं०बि०श०]

निम्बार्काचार्य

द्वैताद्वैत सिद्धांत के प्रवर्तक निंबार्क अथवा सनकादि संप्रदाय के आद्याचार्य जगद्‌गुरु श्री निंबार्काचार्य का आविर्भाव काल द्वापर युग का अंतिम और कलियुग का प्रारंभिक काल माना गया है। वर्तमान से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व इनका जन्म दक्षिण के गोदावरी तटवर्ती पैठन के समीप अरुणाश्रम में हुआ। इनके पिता तैलंग ब्राह्मण अरुण ऋषि और माता जयंतीदेवी थीं। इनका नाम नियमानंद रखा गया किंतु अरुण ऋषि का पुत्र होने के कारण इन्हें आरुणि भी कहा जाता है। इन्हें भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है। अत: इनका एक नाम 'सुदर्शन' भी है। वस्तुत: इनके प्राकट्य काल के संबंध में मतविभिन्नताएं हैं किंतु कई अध्ययनों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इनका स्थितिकाल जगद्‌गुरु श्री शंकराचार्य से पूर्व का है। इनकी काल संबंधी मत विविधताओं के बावजूद यह एकमत से स्वीकार्य तथ्य है कि वैष्णव आचार्यों में सहचरी परिकर सहित श्रीराधाकृष्ण युगल की ब्रज वृंदावनीय माधुरी भक्ति और उपासना पद्धति का सूत्रपात सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। दिव्य श्रीराधाकृष्ण युगल की नाम लीला और धाम में अगाध श्रद्धा होने के कारण भारत के

विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करते हुए इन्होंने ब्रज धाम की यात्रा की और गिरिराज तलहटी के सन्निकट निंबग्राम (नीमगाँव) को इन्होंने अपनी आराधना स्थली बनाया।

एक बार एक यति के साथ इसी स्थान पर भगवद्‌चर्चा करते हुए सूर्यास्त हो गया। वे यति सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते थे। अत: अतिथि का सत्कार करने की भावना से इन्होंने अपने सदृश भगवदीय योगबल से यति को निकटस्थ निंब (नीम) के पेड़ पर सूर्य (अर्क) करोड़ों सूर्यों के सदृश अपने आदि सुदर्शन रूप से दर्शन करा दिया था। इसी से इनका नाम निंबार्क पड़ा और ये जगद्‌गुरु निंबार्काचार्य के नाम से विख्यात हुए। इनके शिष्य श्री औदुंबराचार्य जी ने इनके विग्रह में विराट स्वरूप के दर्शनों के साथ ही श्रीराधासर्वेश्वर युगल परिकर में प्रधान अष्टसखियों के अंतर्गत श्री रंगदेवी जी के रूप में इनका साक्षात्कार किया। श्री निंबार्काचार्य ने द्वैताद्वैत दर्शन मत अथवा सिद्धांत का प्रवर्तन किया। इसे भेदाभेद सिद्धांत भी कहा जाता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म अद्वैत और द्वैत दोनों ही हैं। 'वेदांत पारिजात सौरभ' भगवान निंबार्क द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र का संक्षिप्त वाक्यार्थ है। 'वेदांत कामधेनु' में सिद्धांत बोधक दशश्लोकी है। 'मंत्र रहस्य षोडशी' में अष्टदशाक्षर श्री गोपाल मंत्र की विशद व्याख्या है। 'प्रपन्नकल्पवल्ली' में पांचरात्रप्रोक्त शरणागति मंत्र की व्याख्या है। इनके अतिरिक्त प्रपत्ति चिंतामणि, राधाष्टक, गीता वाक्यार्थ, प्रात: स्मरण स्तवन, सदाचार प्रकाश निंबार्काचार्य कृत अन्य रचनाएँ हैं। सम्प्रदाय की लौकिक परम्परा का अभिनिवेश निंबार्क भगवान से ही होता है। [कुं०बि०श०]

निरुक्त

वेद के छ: अंगों में चतुर्थ के रूप में स्वीकृत निरुक्त को वेद पुरुष का श्रोत्र (कान) कहा गया है। निरुक्त वेद के दुर्बोध शब्दों का कोश है। यास्क द्वारा रचित निरुक्त निघण्टु की भाष्यभूत टीका है। भाषिक व्यवहार में अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा होती है। शब्दों में अर्थ की मुख्यता है। अत: अर्थ मुख्य और उसे व्यक्त करने वाले शब्द गौण माने जाते हैं। शब्द से अर्थ का आकलन प्राय: निरुक्ति द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराने में निरुक्ति ही पूर्ण रूप से सहायक होती है। वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने अपनी चतुर्थ भाष्य भूमिका में कहा है कि-''अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्''-अर्थात् ज्ञान के लिए निरपेक्षता से पदों की व्युत्पत्ति जहाँ कही गयी है, वह निरुक्त है। शिक्षा आदि वेदांग वेद के बाह्य तत्त्वों का निरूपण करते हैं, वहीं निरुक्त वेद-विज्ञान के आन्तरिक स्वरूप का स्पष्ट रूप से उद्‌घाटन करता है। अत: नि:शेष रूप से कथित हो, वह निरुक्त है।

निघण्टु निरुक्त का मूल है। निघण्टु का अध्ययन करने के बाद वेद के शब्दों को जानने के लिए निरुक्त ही प्रमाण है। निरुक्त की एक विशेषता यह है कि जहाँ दूसरे वेदांग पद्य में लिखे गये हैं वहाँ निरुक्त गद्य में रचा गया है। निरुक्त के प्रारम्भ में निघण्टु को 'समाम्नाय' कहा गया है। इस शब्द की व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है, इस व्याख्या के आधार पर उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत के मोक्षपर्व में 'प्रजापति कश्यप' को निघण्टु का रचयिता बताया है।

निरुक्त में पाँच अध्याय हैं। इनमें एक से तीन तक के काण्डों को 'नैघण्टुककाण्ड' कहते हैं, जिसमें एकार्थवाही शब्दों का संग्रह किया हुआ है। चौथा अध्याय 'नैगमकाण्ड' और पाँचवाँ अध्याय 'दैवतकाण्ड' है। इस दैवत काण्ड में देवताओं के नाम संकलित हैं। निघण्टु की एक ही व्याख्या 'निघण्टु निर्वचन' टीका के नाम से उपलब्ध होती है, जिसके रचनाकार हैं-'देवराजयज्वा'। इस टीका के उपोद्‌घात में वेदों के सायण से पूर्व के भाष्यकारों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से निघण्टुकाल के पश्चात ही निरुक्त काल माना जाता है। भास्करराय ने निघण्टु के समस्त वैदिक शब्दों को अमरकोश की तरह श्लोकों में संग्रहीत किया है। यास्क द्वारा रचित निरुक्त में 12 निरुक्तों का उल्लेख है। दुर्गाचार्य कृत 'दुर्गवृत्ति' के अनुसार निरुक्तों की संख्या 14 थी। आचार्य यास्क का निरुक्त चौदह अध्यायों (बारह

अध्याय और अन्त में परिशिष्ट के रूप में दो अध्याय) में विभक्त वेदांग का प्रतिनिधि स्वरूप ग्रंथ है। अन्तिम दो अध्याय यास्क कृत नहीं माने जाते हैं, इसलिए उन्हें परिशिष्ट कहते हैं।

शब्दों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर निरुक्त धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश देते हैं। निरुक्त के अनुसार शब्द किसी न किसी धातु से निर्मित होते हैं इसीलिए सभी शब्द व्युत्पन्न हैं। यास्काचार्य के कथन ''तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्'' के अनुसार वेदों के सम्यक् ज्ञान के लिए निरुक्त और व्याकरण इन दोनों के अध्ययन की समान रूप से आवश्यकता है। व्याकरण के समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करना ही निरुक्त का कार्य है, पर शब्दार्थ का विवेचन करना इसकी मुख्य विशेषता है। निरुक्त साधित शब्दों-धातुओं की एक विलक्षण कल्पना करके मौलिक अर्थ के अन्वेषण में सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरी बात यह है कि निरुक्त से धातु पाठ के सभी अर्थ उत्पन्न होते हैं, किन्तु धातुओं के परिज्ञान के लिए निरुक्त भी व्याकरण के अधीन है। यास्क के निरुक्त में नाम, आख्यात, उपसर्ग और नित के लक्षण, भावविकारलक्षण, पदविभागपरिज्ञान, उपधाविकार, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, संप्रसार्य तथा असंप्रसार्य धातु इत्यादि शब्द शास्त्र से सम्बन्धित विषयों का वर्णन होने से निरुक्त को व्याकरण का ही एक विभाग माना जाता है।

निरुक्तकार यास्क का काल पाणिनि से पूर्व (ई. 800 से 1000) के मध्य माना जाता है। यद्यपि इनके पूर्व भी अनेक सम्प्रदाय वैदिक शब्दों के अर्थनिर्धारण में संलग्न थे। निरुक्त में इनके नाम निर्दिष्ट हैं-जैसे अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, परिव्राजक और याज्ञिक। इनमें 12 नैरुक्त अर्थात् निरुक्तवादी भी थे-आग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रोष्टुकी, गार्ग्य, मालव, तैटीकी, आर्ष्यायणी, शाकपूणि और स्थौलष्ठीवी।

बिना अर्थ ज्ञान के रहस्य बोध किये बिना केवल कण्ठस्थ कर लेना तो बोझ उठाने के समान है। इस तरह किसी भी प्रकार का कोई कल्याण नहीं है। यास्क का कहना है कि वेद का अध्ययन गुरु मुख से किया जाना चाहिए। इसके बाद इसके अर्थ, ज्ञान और सांगोपांग अध्ययन में लगना चाहिए। वेद का अध्ययन किया जाये और अर्थ ज्ञानपूर्वक ही किया जाये। 'मनु स्मृति' में कहा है कि वेद, यज्ञ, तप, आराधना, नियम, संयम तभी सफल होते हैं, जब भावशुद्धि होती है।

कौत्स के कथन के अनुसार वेद अर्थरहित माने गये थे। यास्क ने इस विचार का खण्डन तीखे शब्दों में किया-अंधे को खम्भा दिखायी नहीं देता, यह खम्भे का नहीं, पुरुष का अपराध है।

वेद का अर्थज्ञान प्राप्त करने वाला, पापरहित होकर स्वर्ग गमन करता है। निरुक्त पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाएँ प्राप्त होती हैं। टीकाकारों के मतों का परामर्श दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में किया है। वररुचि कृत निरुक्तनिचय में 100 श्लोकों में यास्काचार्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। [स०ना०दा०]

निरोधलक्षणम्

इस प्रकरण ग्रंथ में बीस श्लोक हैं। इसमें 'निरोध' की स्वरूप समीक्षा की गई है। निरोध का लक्षण करते हुए वल्लभ कहते हैं कि सांसारिक विषयों और व्यक्तियों से अपनी आसक्ति और अभिनिवेश हटाकर उसे श्रीकृष्ण में केन्द्रित करने का नाम ही 'निरोध' है। चित्त को समस्त बाह्य विषयों से परावृत्त होकर श्रीकृष्ण स्वरूप में ही 'निरुद्ध' हो जाना चाहिए। इस ग्रंथ के द्वारा पुष्टिमार्ग का मनोविज्ञान स्पष्ट होता है। [क०उ०]

निवासाचार्य

आचार्यवर्य श्रीनिवासाचार्य जी भगवान श्रीकृष्णचंद्र के करकमल स्थित श्री पांचजन्य शंख के अवतार और भगवान श्रीनिंबार्काचार्य के प्रधान शिष्य हैं। श्रीराधाकुंड के निकट श्रीललिता कुंड ही इनकी निवास स्थली था, जो वर्तमान में श्रीनिवासाचार्य जी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर आपके पावन चरण चिह्न नित्य पूजित हैं। 'वेदांत

कौस्तुभ' श्रीनिवासाचार्य जी कृत श्रीनिंबार्काचार्य के भाष्य वेदांत पारिजात सौरभ पर ही ब्रह्मसूत्रों का वृहद भाष्य है। उनके द्वारा रचित ग्रंथ लघुस्तवराज, ख्याति निर्णय, पारिजात सौरभ भाष्य, रहस्य प्रबंध, कठोपनिषद् भाष्य आदि अनुपलब्ध हैं। युगल किशोर की नित्य लीला में श्री निवासाचार्य जी का स्वरूप नव्यवासा सखी के रूप में माना गया है। माघ शुक्ल पंचमी (वसंत पंचमी) को इनका पाटोत्सव मनाया जाता है। आपके शिष्य श्री विश्वाचार्य जी महाराज ने आपके पांचजन्य शंखावतार होने के प्रमाण को इस प्रकार संपुष्ट किया है-

शंखावतारः पुरुषोत्तमस्य यस्य ध्वनिः शास्त्रमचिन्त्यशक्तिः।
यत्स्पर्शमात्राद् ध्रुवमाप्तकामान्तं श्रीनिवासं शरणं प्रपद्ये॥

श्रीहंस भगवान से लेकर श्रीनिवासाचार्य जी पर्यंत पाँचों आचार्यों को समग्र रूप से आचार्य पंचायतन के रूप में माना गया है। इसी भावना से श्रीनिंबार्क संप्रदाय के मंदिरों और स्थलों में प्रतिमा अथवा चित्रपट रूप में इन पाँचों आचार्यों की पूजा की जाती है।

श्रीमदहंस कुमारोश्च नारदं मुनिपुङ्गवं।
निंबार्क श्रीनिवासञ्च वंदे आचार्यपंचकम्॥

[कुं०बि०श०]

निशीथ सूत्र

'निशीथ' जैनागमों के प्रचलित विभागों में से एक प्रमुख विभाग 'छेद' का प्रमुख आगम है। निशीथ शब्द का मूलाधार 'निसीह' शब्द है जिसका संस्कृत रूप तत्त्वार्थ भाष्य में 'निशीथ' माना गया है, जिसका अर्थ है 'अर्द्धरात्रि'। इसके साथ ही कुछ ग्रंथकारों ने 'णिसिहिय' से इस आगम को व्यक्त किया है तथा इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'निषिद्विका' शब्द से जोड़ा है। निशीथ सूत्र में जो विषय हैं, उसके साथ दोनों ही नामों की संगति बैठ सकती है।

निशीथ-सूत्र प्रारम्भ में आचारांग सूत्र की चूला के रूप में था किन्तु कालान्तर में स्थविरों द्वारा गोप्यता आदि कारणों से इस चूला (निशीथ) को स्वतंत्र छेद-सूत्र के एक प्रमुख आगम के रूप में मान्यता प्रदान कर दी गयी। निशीथ एक अंगेतर आगम है, अतः यह स्थविर-कृत कहा जा सकता है। इसका रचनाकाल अर्थागम के रूप में 2500 वर्ष तथा सूत्रागम के रूप में 2300 वर्ष प्राचीन माना जाता है। निशीथ सूत्र की भाषा 'अर्द्धमागधी' तथा इसमें 20 उद्देशक हैं। यह सूत्र न अत्यधिक विस्तृत है और न अति संक्षिप्त, भाव-भाषा भी संक्षिप्तता लिये है। यह प्रमुख रूप से जैनियों की आचार संहिता है, प्रमुखतः साधु-जन आचार नियमों का उल्लंघन करें तो उनके लिए प्रायश्चित विधान के साथ परिषद में इसका वाचन न किया जा सकने जैसे निषेधों से युक्त यह निशीथ सूत्र जैनागम साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। [शि०श०]

नूपीबाई

नूपीबाई नाम की दो कवयित्रियों का विवरण चरणदासी सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। प्रथम नूपीबाई ढूसरवंशी सुश्री सहजोबाई की माता थीं जो अपने पति, चार पुत्रों तथा एक पुत्री के साथ चरणदास जी की शिष्या हो गयी थीं। दूसरी नूपीबाई श्री आतमराम इकंगी की पुत्री थी। ये माता-पिता की इकलौती संतान थी। ये अल्पायु में ही चरणदास जी की शिष्या हो गई थीं। गुरु के सान्निध्य में रहकर इन्होंने राजयोग और ध्यान में सिद्धता प्राप्त की। ये आजीवन अविवाहित रहकर स्त्रियों के बीच भक्ति प्रचार करती रहीं। ये दिल्ली, जयपुर तथा वृन्दावन में अधिकांश समय व्यतीत करती थीं।

इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' इनके बारे में ''गुरु की प्यारी! नूपीबाई बहन हमारी'' कहकर प्रशंसा की है। इनको ध्यान सिद्ध था तथा इनके योग में निपुणता के बारे में रामरूप जी, जोगजीत जी, अखैराम जी, जसराम उपकारी जी आदि चरणदासी संतों ने प्रशंसा की है। इन्होंने किसी स्वतंत्र स्थान या गद्दी की स्थापना नहीं की थी। ये एक उच्चकोटि की कवयित्री थीं। इनकी बानियाँ बड़ी ही मनोहारी हैं। इनका भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार है। इनके काव्य में निर्गुण परम्परा का प्रभाव दिखाई पड़ता है तथा साथ ही प्रेममयी रसिक भावना की झलक भी प्राप्त होती है। इनकी रचनाओं में इनकी छाप 'नूपी सखी' के नाम से प्राप्त है। [क०उ०]

नेमि (तीर्थंकर)

नेमिनाथ (या अरिष्टनेमि) 22वें तीर्थंकर के पिता महाराज समुद्रविजय और शिवादेवी उनकी माता थीं। समुद्रविजय के अनुज वसुदेव थे जिनकी दो पत्नियाँ रोहिणी और देवकी से क्रमशः बलराम और कृष्ण उत्पन्न हुए। इस प्रकार कृष्ण और बलराम नेमिनाथ के चचेरे भाई थे। इस परंपरा के कारण ही मथुरा, देवगढ़, पधवली, कुंभारिया, विमलवसही एवं लूणवसही की मूर्तियों में नेमिनाथ के साथ कृष्ण और बलराम को भी रूपायित किया गया है। नेमिनाथ का लांछन शंख है और उनके यक्ष-यक्षी गोमेध एव अंबिका (या कुष्मांडी) है। नेमिनाथ की मूर्तियों में यक्षी सर्वदा अंबिका ही हैं। नेमिनाथ के साथ निरूपित बलराम और कृष्ण के लक्षण जैन ग्रंथों (उत्तरपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र) में वर्णित है। किरीट मुकुट, वनहार एवं कौस्तुभमणि से शोभित कृष्ण के हाथों में गदा, खड्ग (नंदक), चक्र, पुष्प, शंख एवं फल तथा माला और मुकुट से शोभित बलराम के हाथों में गदा, मूसल, धनुष एवं बाण के प्रदर्शन का विधान मिलता है। मथुरा से पहली चौथी शती ई. के मध्य में नेमिनाथ की पाँच मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से कुछ में बलराम और कृष्ण भी आकारित हैं। राजगिर के वैभारपहाड़ी की चौथी शती ई. की नेमिनाथ मूर्ति में सर्वप्रथम शंख लांछन का अंकन हुआ है। सातवीं शती ई. की नेमिनाथ की एक मूर्ति राजघाट (वाराणसी) से मिली है और संप्रति भारत कला भवन, वाराणसी में सुरक्षित है।

नेमिनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के बटेश्वर (आगरा), मथुरा, मैहर, पधवली, खजुराहो, देवगढ़ एवं ग्यारसपुर से मिली हैं। इस क्षेत्र की मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्यों, शंख, लांछन एवं सर्वानुभूति और अंबिका का नियमित अंकन हुआ है। देवगढ़, पधवली, मथुरा और बटेश्वर की चार मूर्तियों में नेमिनाथ के पार्श्वों में बलराम और कृष्ण की आकृतियाँ भी उकेरी हैं। देवगढ़ में नेमिनाथ की 30 से अधिक मूर्तियाँ हैं। सभी उदाहरणों में शंख, लांछन और सर्वानुभूति एवं अंबिका तथा एक उदाहरण में बलराम और कृष्ण-वासुदेव की आकृतियाँ उकेरी हैं। उत्तरप्रदेश के ककुभग्राम, करगुंवा, झांसी, देवगढ़, पवाजी, बटेश्वर, बानपुर, मथुरा, महोबा, लखनऊ, ललितपुर, वाराणसी, सेरोनाखुर्द एवं श्रावस्ती से नेमिनाथ की मूर्तियाँ मिली हैं। [आ०प्र०श्री०]

नैनादास काठियाबाबा

चतुरचिंतामणि देवाचार्य जी महाराज के पश्चात् निम्बार्क सम्प्रदाय के परम्परागत (गद्दी) इतिहास का सटीक वर्णन प्राप्त नहीं होता। इसके साथ ही मोहनदास जी काठियाबाबा तक यह क्रम चलता रहा है। मोहनदास जी महाराज के पश्चात् श्री नैनादास जी काठियाबाबा को ब्रजविदेही पद की उपाधि से सुशोभित किया गया जबकि इससे पूर्व काठिया महन्तों को ब्रज दूलह की ही उपाधि से सुशोभित किया जाता था। 'ब्रज दूलह' का अर्थ समस्त ब्रजवासियों का प्रिय होता है तथा जिसकी दृष्टि में देह और आत्मा का कोई भेद नहीं होता, उसे 'ब्रज विदेही' कहा जाता है। जिसके मोह का अंत हो गया हो, उसे महंत की संज्ञा दी गई है। इस तरह इन दोनों ही उपाधियों से सुशोभित होने वाली विभूति श्री नैनादास जी काठियाबाबा महाराज ही थे। श्री नैनादास जी महाराज के प्रयासों एवं प्रेरणा से ही भरतपुर के महाराजा ने ठा. श्रीबांकेबिहारी जी के जीर्ण-शीर्ण मंदिर का निर्माण कराया। [कुं०बि०श०]

नृसिंहकिशोर

गोस्वामी रामकिशोर जी के दसवें पुत्र श्री गोस्वामी नृसिंह किशोर जी सम्वत् 1847 में इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और श्रीमदनमोहन जी के सेवायत गुसाईं थे। श्री मदनमोहन जी के मुसलमान भक्त ताज खां की घटना इनके समय की महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। सम्वत् 1865 में यह श्री मदनमोहन जी की भक्ति सेवा में सदा-सदा के लिए लीन हो गये। [जि०कु०]

नृसिंह चतुर्दशी

वैशाख शुक्ल चौदस को नृसिंह प्राकट्योत्सव के अवसर पर मथुरा-वृन्दावन में इसके भव्य आयोजन होते हैं। इसे नृसिंह चौदस के नाम से भी जाना जाता है। इस दिन नृसिंह जी की पोशाक और मुखौटा धारण कर स्वरूपों द्वारा नृत्य किया जाता है। नृसिंह चतुर्दशी वाले दिन लोकनाट्य के रूप में ब्रज में इसके लीला मंचन की प्राचीन परम्परा ने अपनी विशिष्टता के चलते लोगों को शुरू से ही अपनी ओर आकर्षित किया है। मथुरा के द्वारिकाधीश मंदिर सहित कई मौहल्लों में होने वाले नृसिंह नृत्य के साथ ही वृन्दावन की अनेक नृसिंह लीलायें इस मनोरथ का स्थानीय लोक मन में महत्त्व प्रदर्शित करने वाली हैं। ब्रज क्षेत्र की नृसिंह नृत्य परम्परा वास्तव में युद्धक कला से अभिप्रेत है जिसके अन्तर्गत पहलवानी का अभ्यास जरूरी है। अच्छे दम-खम वाले व्यक्ति से ही इस कला के उत्कृष्ट प्रदर्शन की उम्मीद की जा सकती है। नृसिंह लीला के दौरान ब्राह्मण वर्ग से ही पात्रों का चयन किया जाता है। लीला आयोजन की पारम्परिक शैली के अनुसार यहाँ नारद, वराह, हनुमान-मकरध्वज एवं गणेश के पात्र तैयार किये जाते हैं जो नगर में घूम-घूमकर मल्लविद्या के अन्तर्गत प्रचलित कसरतों जैसे- बैठक, हनुमान बैठक, चक्रदण्ड एवं ढाई चाल का प्रदर्शन करते हैं। वृन्दावन की नृसिंह लीला में सर्वप्रथम नारद का स्वरूप तैयार किया जाता है जो नगर में बालकों के दल के साथ घूमते हुए जगह-जगह इस बात की घोषणा करता है कि आज सायंकाल नृसिंह लीला का आयोजन अमुक जगह होगा। नारद के कुछ समय उपरान्त अग्र पूजा के निमित्त गणेश भगवान का स्वरूप निकाले जाने की परम्परा है तत्पश्चात सायंकाल पारम्परिक वाद्य यंत्र (विजय घण्टों) की ध्वनि के मध्य नृसिंह लीला का भावपूर्ण मंचन होता है जिसमें मल्लविद्या से अभिप्रेत नृत्य करते हुए भगवान नृसिंह सड़क के चौराहों पर हिरण्यकश्यप के वध की लीला करते हैं। प्रभु का क्रोध शान्त करने हेतु प्रहलाद का स्वरूप लीला अनुकरण के दौरान समीप ही रहता है। श्रद्धालुओं द्वारा आग्रह पर ये स्वरूप घर-घर जाकर भक्तों का आतिथ्य स्वीकारते हैं। मथुरा के द्वारिकाधीश मंदिर में भी नृसिंह लीला का आयोजन धूमधाम से सम्पन्न होता है जिसमें अपराह्न नृसिंह भगवान का अभिषेक तथा प्रसाद वितरण आदि कार्यक्रम होते हैं। नृसिंह चतुर्दशी वाले दिन ब्रज के कई स्थलों पर लगभग पूरी रात्रि इसके आयोजन की धूम रहती है जिसमें युवा एवं बालक वर्ग का उत्साह देखते ही बनता है। ब्रज में इस दिन शालिग्राम पूजन का विशेष महात्म्य है। वृंदावन के राधारमण मंदिर में यह मनोरथ श्रीविग्रह के प्राकट्योत्सव के रूप में मनाया जाता है। जिसे देखने के लिये हजारों भक्तों का सैलाब उमड़ता है। ब्रजमण्डल में राधावल्लभ, वल्लभ कुल सहित अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के साहित्य में नृसिंह बधाई की रचनायें पाण्डुलिपियों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। सायंकाल देवालयों में बैठने वाली समाज एवं कीर्तन में इन पदों का गायन ब्रज संस्कृति की अपनी विशिष्टता है।

ऐसी को सके करि बिनु मुरारी।
कहत प्रहलाद के धारि नरसिंह वपु।
निकसि आए तुरत खंभ फारि।

(सूर कृत पदावली)
[रा०श०]

प

पंचपद्यानि

इसमें पाँच श्लोक हैं। इसमें वल्लभ ने व्यक्तिगत सामर्थ्य के आधार पर श्रोताओं के भेदों का निरूपण किया है। [क०उ०]

पउमचरिय

जैन पुराण साहित्य में 'पउमचरिय' प्राचीन माना जाता है। 'विमलसूरि' इस ग्रंथ के लेखक हैं। पउमचरिय जैन दृष्टिकोण से रामकथा है; यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचित तथा 178 पव्वों में विभक्त है। भाषागत दृष्टि से पउमचरिय की व्याकरण बहुत अधिक परिष्कृत नहीं है, किन्तु आर्या छन्द तथा गाथा शैली में लिखा गया पाउमचरिय निःसन्देह प्राकृत काव्य का अपूर्व उदाहरण है।

'पउमचरिय' के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। स्वयं विमलसूरि के अनुसार यह प्रथम शताब्दी ई. की रचना है, किन्तु हर्मन जैकोबी इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना मानते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में म्लेच्छों, अनार्यों तथा यवनों का उल्लेख है, जो ऐतिहासिक महत्त्व रखता है साथ ही समाज में नारियों का स्थान, जीवदया तथा वैदिक पशु बलि प्रथा आदि का भी विशद् वर्णन पउमचरिय उपलब्ध कराता है, साथ ही एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से रामचन्द्र की कथा भी प्रस्तुत करता है। [शि०श०]

पद्मनाभ भट्टाचार्य

कमल अथवा पद्म के समान ही भगवान के गुणों, शक्ति स्वरूप, विग्रह एवं जीवात्म, परमात्म, प्रकृति तथा परमधाम को कमल के समान ही उज्ज्वल और प्रकाशमान करने का कार्य श्री पद्मनाभ भट्टाचार्य जी ने किया। आपकी विद्वत्ता और भगवत्ता जीवों के लिए कल्याणकारी थी। इनका पाटोत्सव वैशाख कृष्ण तृतीया को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

पद्मपुराण

पुराणों में पद्मपुराण को श्रीनारायण का हृदय कहा गया है। 'हृदयं पद्मसंज्ञकम्'। पद्मपुराण में सर्वोपरि प्रतिपाद्य देवता श्री विष्णु हैं तथापि इनका ब्रह्मा और शिव के साथ अभेद प्रतिपादित किया गया है।

सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्माविष्णुशिवात्मकाः।
स संज्ञां याति भगवान एक एव जनार्दनः॥

(सृष्टि खण्ड-2/114)

अर्थात् भगवान श्रीमन्नारायण ही कार्य-भेद से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर नाम को धारण करते हैं। भगवान विष्णु कहते हैं-

सौराः शैवाश्च गाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजका।
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरे यथा॥
एकोऽहंपञ्चधा जातः क्रीडया नामभिः किल।
देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वननामभिः॥

जिस प्रकार विष्णु प्रधान पद्म पुराणादि में शिव ब्रह्मा का अभेद कहा गया है, उसी प्रकार शैव पुराणों में विष्णु ब्रह्मा का शिव से ऐक्य बताया गया है। इसलिए लोक में फैला हुआ द्वेषमय शैव वैष्णव सम्प्रदायवाद वस्तुतः अज्ञानमूलक ही है। इस पुराण में भगवान विष्णु के माहात्म्य प्रतिपादन के साथ ही श्रीकृष्ण के अवतार चरित्रों का भी विशद वर्णन है। इन अवतारों को परात्पर रूप में ही प्रतिष्ठित किया गया है। पद्मपुराण में पाँच खण्ड तथा पचपन हजार श्लोक हैं। पद्मपुराण का प्रथमखण्ड सृष्टि खण्ड के नाम से जाना जाता है जिसके अंतर्गत यज्ञविधि, समुद्र मंथन, लक्ष्मी आदि की उत्पत्ति, सती चरित्र, देव-दानव-गन्धर्वादि की उत्पत्ति, पुष्कर महिमा, ब्रह्मयज्ञ, सरस्वती नदी का वर्णन, तीर्थ, व्रत, भीम द्वादशी वर्णन, श्रीराम का उत्तर चरित्र, तुलसी एवं गंगा महिमा इत्यादि का वर्णन है।

पद्मपुराण के द्वितीयखण्ड यानि भूमिखण्ड में राजा पृथु का चरित्र विस्तार से कहा गया है। पृथुवंशज राजा वेन के तप एवं भगवान विष्णु के द्वारा नाना प्रकार के धर्मों का उपदेश किया गया है। इसी खण्ड में सती नारियों के चरित्र एवं उनकी महिमा का वर्णन है। पद्मपुराण में 'सुकला' नाम की एक सती नारी का वर्णन है जिसे इन्द्र ने कामदेव की सहायता से उसके व्रत से डिगाने का प्रयत्न किया। इसी प्रसंग में उग्रसेन की पत्नी पद्मावती की भी कथा है। विदर्भ देश के राजा सत्यकेतु की पुत्री पद्मावती का विवाह माथुर उग्रसेन से होता है। एक बार मायके गयी हुई पद्मावती को वनविहार के समय, गोमिल (दुमिल) नाम का राक्षस देखकर मुग्ध हो जाता है और उग्रसेन का रूप धारण कर उसका शीलभंग कर देता है। फलस्वरूप 'कंस' का जन्म होता है। अर्थात् 'कंस' उग्रसेन का औरस पुत्र न होकर राक्षस गोमिल का पुत्र है। उग्रसेन का क्षेत्रज पुत्र था। आगे इस खण्ड में गुरुतत्त्व पर बड़ी गंभीरता से प्रकाश डाला गया है।

पुराण का तृतीय खण्ड स्वर्गखण्ड है जिसमें सृष्टिक्रम का विस्तृत वर्णन है। भारतवर्ष वर्णन प्रसंग में तीर्थों की महिमा का वर्णन है। श्री पुष्कर, नर्मदा, अमरकण्टक पर्वत एवं कावेरी संगम का माहात्म्य अद्भुत रूप में वर्णित है। श्री पद्मपुराण में तीर्थों की बड़ी महिमा है। समस्त भारत भूमि ही तीर्थभूमि है। समस्त ब्रह्माण्ड में भूलोक श्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत में भी इस बात का समर्थन है। इसी तीर्थ माहात्म्य प्रसंग में यमुना की महिमा बड़े मनोरम ढंग से की गयी है।

स्वर्ग खण्ड में तीर्थ माहात्म्य प्रसंग में श्री नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर को कालिन्दी की महिमा बताते हुए कहते हैं कि प्रत्येक मानव को उत्तम कालिन्दी तीर्थ की यात्रा करनी चाहिए। वहाँ स्नान करने से मनुष्य दुर्गति में नहीं पड़ता। पुष्कर, कुरुक्षेत्र, ब्रह्मावर्त, पृथूदक, अविमुक्त क्षेत्र (काशी) तथा सुवर्ण नाम तीर्थ में भी जिस फल की प्राप्ति नहीं होती वह यमुना स्नान करने से मिल जाता है।

पद्मपुराण का चतुर्थ खण्ड पातालखण्ड के नाम से जाना जाता है। इस खण्ड के वक्ता शेष जी हैं। भगवान शेष वात्स्यायन मुनि को रामाश्वमेध की कथा सुनाते हैं। श्रीराम कथा के पश्चात पद्मपुराण में श्रीवृन्दावन धाम और श्रीकृष्ण का माहात्म्य बताया गया है। मथुरा और द्वारका के माहात्म्य वर्णन के प्रसंग में वैष्णव सम्प्रदाय के स्वरूप का विस्तार से वर्णन है। इसी प्रसंग में तुलसी का दिव्य माहात्म्य बताया गया है-

या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी,
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी।

प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता,
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः॥

अर्थात् जो दर्शन करने पर सारे पाप समुदाय का नाश कर देती है, स्पर्श करने पर शरीर को पवित्र बनाती है, प्रणाम करने पर रोगों का निवारण करती है, जल से सींचने पर यमराज को भी भय पहुँचाती है, आरोपित करने पर भगवान श्रीकृष्ण के समीप ले जाती है और भगवान के चरणों में चढ़ाने पर मोक्षरूपी फल प्रदान करती है उस तुलसी देवी को नमस्कार है।

इन समस्त माहात्म्यों के मध्य में मन्त्र चिन्तामणि के उपदेश और उसके ध्यानादि का वर्णन पद्मपुराण की अनोखी देन है। श्रीकृष्ण के दो मंत्र अत्यन्त उत्तम हैं, यही मन्त्र चिन्तामणि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, पहले मंत्र में 5 पद हैं और 16 अक्षर हैं, इसलिये इसे पञ्चपदी भी कहा जाता है। यह मन्त्र इस प्रकार है-

'गोपीजनवल्लभचरणं शरणं प्रपद्ये।'

इसका उपदेश यमुना जी के किनारे शिवजी ने देवर्षि नारद को किया था। इस मंत्र में गोपी पद का अर्थ 'श्रीराधा' हैं। श्रीराधाजी के अनेक स्वरूप हैं-"प्रपञ्चसंरक्षणात् गोपी, कृष्णमयत्वात् परादेवता, कृष्णाह्लादमूर्तित्वाद्, ह्लादिनी शक्तिः, कृष्णोनारायणः सा लक्ष्मी, कृष्णो रुद्रः सा दुर्गा, कृष्णो ब्रह्मा सा सावित्री"-अर्थात् श्रीराधा जी प्रपंच का संरक्षण करती हैं इसलिए उन्हें गोपी कहते हैं, वे श्रीकृष्ण की आराधना में तन्मय होने के कारण राधिका कहलाती हैं, श्रीकृष्णमयी होने से ही वे परा देवता हैं। श्रीकृष्ण के आह्लाद का मूर्तिमान स्वरूप होने के कारण मनीषीजन उन्हें अहलादिनी शक्ति कहते हैं। 'सातु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः स्वयम्'। श्रीकृष्ण साक्षात नारायण हैं, वे महालक्ष्मी हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं तो श्रीराधा दुर्गा हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्मा हैं तो वे सावित्री हैं। उनकी विभूतियों का वर्णन नहीं किया जा सकता। द्वितीय मंत्र यह है-

'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्।'

इस मंत्र में दो पद हैं। इसलिए इसे द्विपदी भी कहते हैं, इन मंत्रों की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्हें सिद्ध करने के लिए न तो पुरश्चरण की अपेक्षा रहती है और न न्यास विधान का कर्म ही अपेक्षित है। देशकाल का भी कोई नियम नहीं है, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी मनुष्य इस मंत्र के अधिकारी हैं। श्रीराधाजी की महिमा में कहा गया है-

त्रैलोक्ये पृथिवी मान्या, जम्बूद्वीपमतः परम्।
तत्रापि भारतं वर्ष, तत्रापि मथुरा पुरी॥
तत्र वृन्दावनं नाम, तत्र गोपी कदम्बकम्।
तत्र राधासखीवर्गस्तत्रापि राधिका वरा॥

इसके बाद वैशाख माहात्म्य के प्रसंग में अनेक उपाख्यानों का वर्णन किया गया है।

पुराण के उत्तरखण्ड का प्रारम्भ देवर्षि नारद एवं महादेव जी के संवाद से होता है। श्री महादेव जी देवर्षि नारद को गंगावतरण की संक्षिप्त कथा सुनाते हैं तथा हरिद्वार की महिमा का बखान करते हैं। तीर्थ माहात्म्य प्रसंग में श्रीविष्णु, यमुना, प्रयाग, काशी, गया एवं गदाधर की स्तुति की गयी है।

पद्मपुराण में तुलसी एवं शालिग्राम का बड़ा ही माहात्म्य बताया गया है-

यद्येकं तुलसीकाष्ठं मध्ये काष्ठस्य तस्य हि।
दाहकाले भवेन्मुक्तः कोटिपापयुतस्य च॥

अर्थात् यदि दाह संस्कार के समय अन्य लकड़ियों के भीतर एक भी तुलसी का काष्ठ (लकड़ी) हो तो करोड़ों पापों से युक्त होने पर भी मनुष्य की मुक्ति हो जाती है।

पद्मपुराण में समस्त एकादशी व्रतों के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। किन्तु एकादशी तिथियों में भी त्रिस्पर्शा एकादशी भगवान को अत्यन्त प्रिय है। यदि उदयकाल में थोड़ी-सी एकादशी मध्य में पूरी द्वादशी और अन्त में किंचित त्रयोदशी हो वह त्रिस्पर्शा एकादशी कहलाती है। यदि एक त्रिस्पर्शा को उपवास किया जाय तो एक सहस्र एकादशी व्रतों का फल प्राप्त होता है। भगवान ने स्वयं कहा है कि एकादशी व्रत में दशमी का वेध मैं क्षमा नहीं करता। अतः दशमी विद्धा एकादशी का व्रत कभी नहीं करना चाहिए। पद्मपुराण का उत्तर खण्ड तो मानो माहात्म्य वर्णन के लिए ही है। इसमें 26 एकादशियों के माहात्म्य के अतिरिक्त कार्तिक व्रत माहात्म्य, पुष्कर आदि तीर्थों का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् नृसिंह चतुर्दशी व्रत तथा नृसिंह तीर्थ की महिमा का वर्णन है। श्रीमद्भगवत गीता के अठारह अध्यायों की महिमा मनोरम कथाओं के माध्यम से वर्णन की गयी है। श्रीमद्भागवत पुराण का माहात्म्य 5 अध्यायों में वर्णन किया गया है। जिसमें श्रीमद्भागवत की कथा रस से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की पुष्टि का वर्णन है। गोकर्ण और धुन्धकारी के उपाख्यान से अति पतितों की मुक्ति का आश्वासन दिलाया गया है। एक अध्याय में श्रीमद्भागवत की पारायण विधि का विस्तार से वर्णन है। इसी मध्य में गोसेवा की महिमा बताते हुए नन्दिनी की सेवा से पुत्र प्राप्ति की कथा का वर्णन किया गया है।

पद्मपुराण में अन्यान्य उपाख्यानों के द्वारा धर्म के वृहद्स्वरूप को प्रकट किया गया है। सनातन मोक्ष मार्ग एवं मंत्र दीक्षा के प्रसंग में 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र का उपदेश किया गया है। प्रणव (ओउम्) को मिलाकर ही यह मंत्र अष्टाक्षर होता है। इसे सर्वमंत्रस्वरूप और शुभकारक माना गया है। इस मंत्र के ऋषि और देवता लक्ष्मीपति भगवान नारायण ही हैं।

उत्तरखण्ड के अन्तिम भाग में भगवान के चतुर्व्यूह का वर्णन मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन एवं परशुरामावतार की कथा एवं श्रीराम अवतार से लेकर श्रीराम के राज्याभिषेक पर्यन्त तथा भगवान के परम धाम गमन तक का प्रसंग कहा गया है। अन्तिम अध्यायों में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। श्रीराम नाम की महिमा तथा त्रिदेवों में श्रीविष्णु की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए ग्रंथ का उपसंहार किया गया है। [क०उ०]

पद्माकर भट्टाचार्य

श्रीनिंबार्क भगवान के पश्चात् 19वें पीठासीन आचार्य श्री पद्माकर भट्टाचार्य जी हैं। श्रीकृष्ण भट्टाचार्य जी के पश्चात् इन्होंने निंबार्क पद को सुशोभित किया। पद्मा अर्थात् ब्रह्मविद्या का सरलतम और अनुकरणीय रूप में इन्होंने श्रद्धालुओं को मुक्तहस्त से वितरण किया। इसी से इनका पद्माकर भट्ट नाम चरितार्थ हुआ। आचार्यश्री का पाटोत्सव आषाढ़ कृष्णा अष्टमी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

पद्माचार्य

गुरुदेव श्रीबलभद्राचार्य जी के पश्चात् 40 वर्षों तक श्रीपद्माचार्य जी आचार्य पीठ की सुशोभित करते रहे। इनकी ख्याति ऐसी थी कि कभी भी विषयी व्यक्तित्व को ये दीक्षा प्रदान नहीं करते थे। मथुरा के एक उच्चकुलीन चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में जन्मे पद्माचार्य जी ने लगभग सोलह वर्ष की अवस्था में गुरु-चरणों की सन्निधि प्राप्त कर ली।

गुरुदेव ने इन्हें वैष्णव पंच संस्कारों से सुसंस्कृत कर मंत्रोपदेश किया। बचपन से ही ये भगवदीय सद्गुणों से संयुक्त थे, किशोरावस्था को प्राप्त होते-होते आप में प्रबल वैराग्य भी स्थापित हो गया। गुरुदेव की सन्निधि में ही पद्माचार्य जी ने आचार्यपीठ को अलंकृत किया। भगवद भक्तों और शरणागतों पर अहैतुक स्नेह भाव के कारण ही इनका भगवदीय यश, ज्ञान और प्रतिभा चहुँओर प्रकाशित होने लगी। इनके द्वारा रचित ग्रंथ वर्तमान में अनुपलब्ध है। 'अर्चिरादि पद्धति' इनके द्वारा लिखित प्रमुख ग्रंथ है। पद्माचार्य जी का पाटोत्सव भाद्रपद शुक्ल द्वादशी के दिन मनाया जाता है।

[कुं०बि०श०]

परकीया भाव

श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार युगल विलास की चरम अवस्था 'प्रेमविलास विवर्त' है। यह साध्य की परमावधि है। जैसे तृष्णा, बुभुक्षा की तीव्रता एवं भोग सामग्री की यौगपद्य (एक साथ) उपस्थिति ही भोग को सुखकर बनाती है, इसी प्रकार परकीया भाव द्वारा उत्कंठा वृद्धि होने पर अन्ततः मिलन में 'प्रेम विलास विवर्त' प्राप्त होता है। विवर्त का अर्थ है-परिपाक, सर्वविस्मृते, विपरीत (दुःख की सुखरूपता एवं भ्रम प्रेम वैचित्यादि) प्रेम विलास विवर्त में इन तीनों ही गुणों की प्राप्ति होती है। क्योंकि परकीया भाव से ही मिलन में प्रेम विलास विवर्त की प्राप्ति होती है। अतः रस शास्त्र को महाप्रभु की अपूर्व देन है परकीया भावमयी उपासना। महाप्रभु ने रथयात्रा प्रसंग में स्वयं ''यः कौमार हरः स एव हि वरः'' इत्यादि पद्य के द्वारा परकीया भाव में अपनी रुचि एवं उत्कंठा प्रकट की एवं श्री रूप गोस्वामी की प्रशंसा की कि ''वह मेरे मन के भाव को भलीभाँति जानता है'' अन्य सभी संप्रदायाचार्यों ने प्रेम-लीला उल्लास परकीयाभाव का गायन किया है जैसार्थ दान, रास, होरी, पनघट, वंशीचोरी, छद्मवेश, सांझी, अभिसार, वस्त्रहरण आदि। परंतु साध्य साधक के रूप में इसका प्रचार नहीं किया। श्री चैतन्य एवं उनके पार्षदों को इसका श्रेय जाता है। उनके द्वारा स्थापित परकीया रस में चार बिन्दु सर्वदा ध्यान देने योग्य हैं।

प्राकृत नायकों के संबंध में परकीया प्रेम काव्यशास्त्र में भी लघुत्व का प्रयोजक होता है। अंगी रस रूप में 'भाव वैकल्य दोष' होने से काव्य में यह रसाभास का कारण माना गया है। परंतु प्रेम रस निर्यास का आस्वादन करने के लिए अवतरित श्रीकृष्ण के विषय में यह परकीया भाव परम उपास्य एवं श्लाघ्य है। किसी प्राचीन आर्ष ग्रंथ में प्रकट लीला में राधाकृष्ण का विवाह वर्णित नहीं है। यदि कहीं ऐसे विवाह प्रसंग प्राप्त होते भी हैं तो वे द्वारका में ही हैं। प्रकट लीला में विवाह या तो गोलोक में है या विवाह खेल के रूप में प्रकट होता है। (गर्ग संहिता जैसे ग्रंथों को गौड़ीय षट् गोस्वामियों ने प्रमाण रूप में उद्धृत नहीं किया है) विवाह खेल सर्वत्र रसावह है। श्रीकृष्ण एवं गोपीगण तत्त्व दृष्टि से श्रीकृष्ण से ही अभिन्न उनकी आह्लादिनी शक्तिरूपा हैं। अतः वे न स्वकीया हैं न परकीया। बल्कि परमस्वकीया हैं।

इस प्रसंग में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जैसे ब्रह्म संहिता आदि। इन आधारों पर तत्त्व दृष्टि से यह कहा जाता है कि गोपियों का परम स्वकीयाभाव ही सिद्ध है; परकीयात्व संभव नहीं। परंतु यह विचारणीय है कि प्रायः सभी वैष्णव आचार्यों द्वारा विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों द्वारा श्रीराधाकृष्णलीलाविशिष्ट रूप में ही उपास्य है, लीला रहित (तत्त्व) रूप में नहीं। यद्यपि लीला का वर्णन तो शुक, पराशर, व्यास सभी ने किया है तथापि व्यास, पराशर की प्रकृति तत्त्वचिंतन मूलक है। श्री शुक पद्धति लीला एवं रसप्रधान है। श्री भागवत में तो गोपियाँ लीला में परकीया ही हैं। अतः वही पद्धति हमारी परम अभीष्ट है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि-

मत्कामा रमणं जारं अस्वरूपविदोऽबलाः
ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगात् शतसहस्त्रशः (11.12.13)

भगवत संदर्भ में जीव गोस्वामी ने इस पद्य के विमर्श में यह निष्कर्ष स्थापित किया कि नित्यशक्ति होने पर भी गोपियाँ अस्वरूपविद हैं अर्थात् लीला शक्ति के प्रभाव से स्वयं को मेरी नित्य प्रेयसी रूप में न जानकर मुझे जार (पापपति) रूप में स्वीकार करती हैं। यद्यपि 'जार' धर्म विरुद्ध पति ही होता है। तथापि गोपियों में इतना अधिक राग है कि वे मुझे जार रूप में स्वीकार कर लेती हैं। फिर मेरे साथ मिलन प्राप्त करते समय (मत्कामा) अन्यत्र पतित्व को स्वप्न की तरह भुला देती हैं। मुझ में ही रमण भाव (पतित्व) को जागृत की तरह आविर्भूत कर 'रमण रूप' में ही मुझे प्राप्त करती हैं।

यहाँ ध्यान देना चाहिए कि उपासना के चरम में फलरूप में अभीष्ट होने के कारण रमणत्व ही विधेय है। जारत्व (प्रेम वृद्धि में) साधन मात्र है। जारत्व रहने पर वार्यमाणता (भय-लज्जा) रूप उपद्रव बना रहेगा। जबकि पर्य्यवसान में निरुपद्रव अभीष्ट प्राप्ति ही सिद्धांत एवं रस शास्त्रों का प्रतिपाद्य होती है। आचार्य वामन आदि जारवादियों की दृष्टि में यदि उपद्रव युक्तता ही रस का कारण है तो फलरूप में निरुपद्रव मिलन की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जबकि सिद्धांत एवं रसशास्त्र की दृष्टि से परिणाम रूप में उपद्रव कभी भी पुरुषार्थ रूप नहीं हो सकता। मिलन के समय सारे उपद्रव स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। मिलन कोटि चंद्र के समान उन्मादक है। वह सर्वविस्मृति कराने वाला होता है, जबकि विरह कोटि सूर्य के समान प्रकाशक है। अतः अन्यत्र पतिम्यन्यता एवं कृष्ण की दुर्लभता ही यहाँ उपद्रव की विस्मृति होती है निवृत्ति नहीं।

अतः जब तक अभिसार आदि है एवं साक्षात् मिलन नहीं हुआ है तब तक ही जार भाव जन्य उपद्रव (भय एवं लज्जा) रहता है। परंतु मिलन के समय सारे उपद्रव निवृत्त या विस्मृत हो जाते हैं एवं 'रमण' रूप में ही निरुपद्रव मिलन हो जाता है। इस समय अन्यत्र पतिम्यन्यता की विस्मृति होकर श्रीकृष्ण में ही परम 'रमणत्व' (पतित्व) की स्फूर्ति होती है। सखी मंडली भी प्रिया लाल की नित्य कुंजबिहारी के रूप में निकुंजसेवा करती है। पुनः निशांतलीला में कक्खटी बदरिया आदि के द्वारा परकीयाभाव की स्मृति कराने पर वार्यमाणता रूप उपद्रव पुनः उपस्थित होता है तब 'कुंजभंग' होता है। इस प्रकार मिलन के समय 'रमणत्व' एवं पूर्व रंग में 'जारत्व' विराजमान है।

वार्यमाणता की उपयोगिता-'परकीया भाव' का उद्देश्य वार्यमाणता की स्थापना है। श्री रूप गोस्वामी ने रुद्र के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ''स्त्रियों की वामता (मान) दुर्लभता (लज्जाजन्य एवं पारिवारिक कार्य व्यस्तता जन्य) एवं निवारणा (लोक सम्मान या धर्मबोध जन्य) कामदेव के सर्वप्रधान आयुध हैं। वात्स्यायन ने निषेध के इसी मनोविज्ञान को इस प्रकार प्रकट किया है। ''नागर हृदय का यह स्वभाव है कि जहाँ जितना निषेध विशेष होता है अथवा मृगाक्षी सुंदरियों की जितनी दुर्लभता होती है वहाँ वह उतना ही आसक्त होता है। इसी मंतव्य को लेकर परम पुरुषार्थ रूप रसोपासना के क्षेत्र में परकीया भाव को व्यापक स्थान मिला। यद्यपि विवाहिता (स्वकीया) में भी वार्यमाणता होती है परंतु वह केवल लज्जामूलक एवं सामाजिक, पारिवारिक दायित्वों की व्यस्तता जन्य होती है। परंतु परकीया में वह लोक एवं वेद प्रणीत 'भय' आधारित होती है। 'भय' जितना व्यापक होगा उत्कंठा वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। कभी-कभी एक तीसरी मनःस्थिति भी होती है मनोराज्य की जिससे फंतासी में स्वपुरुष को परपुरुष मान लिया जाए। परंतु उसमें भी वैसा भय नहीं हो सकता है जैसा 'स्वरूप परकीया' में होता है। वहाँ पकड़े जाने पर विडंबना होने की चिंता नहीं होती। दूसरी ओर समंजसा रतिमती श्री रुक्मणी आदि में लज्जाजन्य वार्यमाणता के दर्शन तो होते हैं पर वह ब्रज गोपियों के लज्जा एवं भय की तुलना में बहुत अल्प होती है। ऐसी वार्यमाणता मुख्य रूप में नहीं वह आभास रूप में ही होती है। परकीया में ही मुख्य वार्यमाणता संभव है। श्रीमहाप्रभु ने जिस 'प्रेम विलास विवर्त' को परम साध्य माना वह लौकिक 'स्वरूपपरकीया' में तो संभव ही नहीं क्योंकि वह धर्म- समाज एवं रस तीनों ही क्षेत्र में जुगुप्सित है। रुक्मणी आदि स्वकीया में इसलिए संभव नहीं क्योंकि वहाँ पहले से ही विप्राछिन साक्षिक स्वीकृति (विवाह) प्राप्त है अतः वार्यमाणता प्रभावशालिनी नहीं होती है।

मनोराज्य (फंतासी) में कृत्रिम परकीयात्व होता है। अत: भय भी कृत्रिम एवं अल्प होता है। यह वेदांत की प्रतिभासिक सत्ता के समान है जो क्षणिक है; पारमार्थिक नहीं है। अत: लीला की व्यावहारिक सत्ता में परकीया भाव की सत्यता की स्थापना अनिवार्य हो जाती है। पारमार्थिक रूप ये गोपियाँ किसी कृष्णातिरिक्त व्यक्ति की प्रिया नहीं हो सकती हैं। अत: छाया गोपियों का अन्यत्र विवाह कराकर 'भाव परकीयात्व' उनकी व्यावहारिक सत्यता प्रतीति करा दी जाती है। इस 'भाव-परकीयात्व' का मुख्य लाभ यह होता है कि कृष्ण एवं गोपियों की तात्त्विक स्वरूप विकृति नहीं है एवं वार्यमाणता द्वारा प्रेमोत्कर्ष की प्राप्ति हो जाती है।

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
ब्रज विना इहार अन्यत्र नहि वास॥

(चैतन्य चरितामृत आदि/4/42)

यह एक आश्चर्य है कि 'भाव-परकीया' की सत्यता होने पर भी ब्रज गोपियों का पातिव्रत्य एक आदर्श बना रहता है। कभी यदि श्रीकृष्ण लुकछिपी लीला में अपना चतुर्भुज रूप आविर्भूत कर देते हैं तो गोपियों का रागोदय कुंचित हो जाता है। ''जार पतिव्रता धर्म वाञ्छे अरुन्धती'' इत्यादि वचनों से गोपियों के पातिव्रत्य की विजय पताका फहराती रहती है।

श्रीमद्भागवत का परकीयात्व अध्यास एवं उसकी व्यावहारिक सत्यता-श्रीमद्भागवत के आधार पर गोपियों का परकीयात्व स्पष्ट है। जिसके साक्षी चार जन हैं-स्वयं कृष्ण (भा. 10.29.19.26), स्वयं गोपिका (भा. 10.29.31. 40), श्री परीक्षित (भा. 10.33. 27.29) एवं श्री शुक (10.33. 37.38.39)। श्रीमद्भागवत में परकीया प्रेम की प्रशंसा के वचन तो भरे पड़े हैं जैसे श्रीकृष्ण (10.32.22), श्रीउद्धव (10.47.58.62), अक्रूर (10.38.8.) माथुरीगण (10.44.14.16) भीष्म (1.9.40) आदि। रास वर्णन के अंत में जब परीक्षित ने यह प्रश्न किया श्रीकृष्ण ने परदाराभिमर्शन क्यों किया? श्री शुकदेव ने उत्तर में सीधे-सीधे यह नहीं कहा कि 'गोपी श्रीकृष्ण की स्वकीया (पत्नी) हैं, परदारा नहीं।' उन्होंने एक कष्टसाध्य उत्तर दिया-''ईश्वर में धर्म व्यतिक्रम करने की सामर्थ्य है अन्य में नहीं। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं। कुशल (पुण्य) अकुशल (पाप) से परे हैं। वे सभी के अन्तर्यामी एवं अध्यक्ष (शासक) हैं इत्यादि। अत: उन्हें प्रतीप आचरण का दोष नहीं लगाना चाहिए (भा.10/33/27-37)।'' इससे सिद्ध है कि श्री शुक गोपियों को श्रीकृष्ण की शक्ति मानते हुए भी परकीया ही मानते हैं। श्री बल्देव विद्याभूषण ने इसी आधार पर निष्कर्ष निकाला कि गोपियों में ''परकीयाभाव-निगीर्ण दाम्पत्य'' है। अर्थात् ऐसा दाम्पत्य जो परकीया भाव द्वारा इस प्रकार कवलित कर लिया गया है कि उसके चिह्न भी नहीं दीख पड़ते हैं।

वेदांत में जैसे अध्यास मिथ्या तो होता है परंतु व्यावहारिक सत्ता में उसका प्रभाव सत्य ही होता है। रज्जु में सर्प की भ्रांति जैसे भ्रांत व्यक्ति में भय, कम्प, मूर्छा, मृत्यु भी करा देती है, इसी प्रकार योगमाया द्वारा गोपियों की मिथ्याविवाह प्रत्यायित कराने पर उसमें त्तत् गोपों के प्रति पतिम्यन्यता, श्रीकृष्ण के प्रति दुर्लभता, गुरुजनों (जटिल प्रभूति) के प्रति अनादर, परंतु श्री यशोदा के प्रति आज्ञापालन पतिम्यन्य गोपों की उन गोपियों में ममताबुद्धि-मात्रता, वार्यमाणता आदि व्यवहार सत्य दीखते हैं एवं रसोत्कर्ष होता रहता है। नित्य आह्लादिनी शक्ति होने के कारण वे स्वरूपत: तो परकीया हो ही नहीं सकती।

परकीया-विप्राग्नि साक्षिक स्वीकृति के अभाव में भी राग की अतिशयता से लोक-परलोक की उपेक्षा कर जिससे प्रेमव्यवहार प्राप्त हो उसे 'परकीया' करते हैं। परकीया के दो स्वरूप हैं-स्वरूप-परकीया एवं भाव-परकीया। भाव-परकीयात्व भी दो प्रकार का होता है। काल्पनिक (फंतासी) एवं व्यावहारिक सत्यरूप (ब्रजलीलागत)। धर्म,

समाज एवं रस तीनों शास्त्रों में स्वरूपपरकीयात्व निन्दनीय ही है। (जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं ब्रजस्त्रिय:) (10.29. 26) अनीश्वर-व्यक्ति को स्वरूपत: तो बहुत दूर मन में भी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। (नैतत समाचरेत् जातु मनसापि ह्यनीश्वर:) (भा.10.33.31) परंतु अप्राकृत-रस के क्षेत्र में नित्य शक्ति-शक्तिमान् का व्यावहारिक दृष्टि से विप्राग्नि-साक्षिक, धर्मस्वीकृत विवाह न होने पर भी प्रेम व्यवहार 'भाव परकीयात्व' कहलाता है। ऐसा परकीयात्व केवल उत्कंठा वृद्धि के लिए होता है। उसमें पाप-पुण्य की धार्मिक व्यवस्था संयमित नहीं होती। गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने जिस प्रभावशाली ढंग से ब्रजलीला में स्वरूप परकीयात्व का खंडन किया एवं भाव-परकीयात्व की स्थापना की वैसा अन्यत्र किसी ने नहीं किया। एतदर्थ श्रीमद्भागवत के आधार पर उन्होंने छाया गोपियों की परिकल्पना की। इन्हीं छाया गोपियों के साथ पतिम्यन्य गोपों के विवाह प्रत्यायित हुए। इस कारण लीला में परकीया-व्यवहार-जन्य विरोध एवं असूया उत्पन्न हुई। फिर छाया गोपियों की पार्श्वस्थ स्थिति दिखाकर उस विरोध का समाधान भी योगमाया ने करा दिया। ध्यान रहे कि वास्तव में श्रीकृष्ण ब्रजवासी मात्र के परम प्यारे हैं। उनका सर्वस्व श्रीकृष्ण सुखार्थ है। अत: पतिम्मन्य गोपों एवं गुरुजनों द्वारा उपस्थित वार्यमाणता तत्त्वत: निज परम-प्रेमास्पद श्रीकृष्ण के लोक-परलोक में हित चिंतन परक (सेवा रूप ही) है, विरोधरूपा नहीं।

योगमाया द्वारा गोपियों के विवाह की प्रसिद्धि-श्री रूप गोस्वामी ने 'ललितमाधव' में प्रकट लीला में पतिम्मन्य अन्य गोपों के साथ छाया गोपियों के विवाह की सूचना दी है। श्री जीवगोस्वामी ने इस विवाह का वर्णन कुछ इस प्रकार गोपाल पूर्व चंपू के 15/48 में किया है-योगमाया स्वरूपा पौर्णमासी ने सर्वोत्कृष्ट परकीया रस का आस्वादन प्राप्त कराने के लिए ब्रज गोपों से कहा कि-कंस तुम्हारी बालिकाओं का हरण कर ले, इसके पूर्व उनका विवाह करा देना चाहिए; तो उन बालिकाओं की रक्षा हो जायेगी। इधर श्री गर्गाचार्य ने कहा कि श्रीकृष्ण के साथ विवाह करने पर उन सभी कन्याओं का कृष्ण से विच्छेद हो जावेगा। योगमाया जानती हैं कि वे गोपियाँ नित्य कृष्णकांता ही हैं। अत: उन्होंने एक स्वप्न जाल की रचना कर छाया गोपियों का अन्य छाया रूप पतिम्मन्य गोपों के साथ विवाह प्रत्यायित (प्रसिद्ध) करा दिया। मूल गोप कन्याओं ने यह स्वप्न नहीं देखा। परंतु जगत के बार-बार कहने पर उन्हें इस विवाह की बात स्वीकार करनी पड़ी। बहुत समय बीतने पर जब द्विरागमन (गौना) का अवसर आया तब पौर्णमासी जी ने गोपियों को समझा-बुझा कर ससुराल भेजा कि-तुम्हें तुम्हारे प्रिय कृष्ण की प्राप्ति अवश्य होगी एवं तुम्हारा पतिम्मन्य गोपों से सदा विच्छेद रहेगा। फलत: पतिम्मन्य गोपों की गोपियों की प्रति पत्नीरूपता केवल ममता मात्र बनकर रह गई। पतियों को उन पत्नियों (छाया गोपियों) का दर्शन भी दुर्घट रहा।

यह परकीया भाव, स्वप्न जालवत मिथ्या तो था परंतु व्यवहार लीला के स्तर पर वह सत्य है एवं उसका प्रभाव यथार्थ है। रास के समय मूल गोपी श्रीकृष्ण से मिलती रहीं। छायागोपी घर में रहती हैं।

छाया गोपी-छाया गोपियों के संबंध में ये चार तथ्य सर्वदा ध्यान रहने चाहिए।

1. 'कोई छायागोपी भी है' यह बात ब्रज में कोई नहीं जानता है। यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण एवं गोपियों को भी इसका ज्ञान नहीं है। अन्यथा वार्यमाणता एवं भय की समाप्ति होने से श्रीकृष्ण की दुर्लभता समाप्त हो जावेगी एवं परकीया भाव का प्रयोजन ही समाप्त हो जावेगा। छायागोपी के रहस्य को जानने वाली एकमात्र जन है-पौर्णमासी या कुछ-कुछ आभास है वृंदा देवी को।

2. छाया गोपियों का पतिम्मन्य गोपों से कभी भी संपर्क नहीं है। अत: श्री शुकदेव ने कहा-''मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान्दारान् ब्रजाकेस:'' (भा. 10.33.38)। यहाँ 'पार्श्वस्थान्' पद का प्रयोग है 'तल्पस्थान्' का नहीं। अन्यथा महारसाभास हो जावेगा।

3. श्रीकृष्ण संगम के बाद निशांत में रास समाप्ति पर जब मूल गोपी घर में लौटती हैं तब छाया गोपियों का उनमें सायुज्य नहीं होता है। मूल गोपी का उन्हें दर्शन भी नहीं है। छाया गोपी अंतर्धान हो जावेंगी। अन्यथा 'भय' समाप्त हो जावेगा।

4. स्वाप्निक विवाह के समय भी छाया गोपियों के साथ ही छाया गोपों का विवाह है। अत: मूल गोपियों में यही भाव है कि हमारा विवाह हुआ ही नहीं है। श्रीकृष्ण ही हमारे परम प्रिय हैं। इसी पृष्ठभूमि में वे श्री यशोदा की आज्ञा तो स्वीकार करती हैं परंतु श्वश्रुमन्य जटिला आदि की उपेक्षा कर देती हैं।

स्वकीया स्थिति में भी परकीया भाव की आकांक्षा-गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने प्रकट लीला में ब्रज में साक्षात् विवाह नहीं माना। 'ललित माधव' श्री रूप गोस्वामी में कादाचित्की (कभी किसी कल्प में होने वाली) लीला में यदि राधाकृष्ण का विवाह होता भी है तो वह द्वारका में हुआ। श्रीराधा आदि मूल यूथेश्वरी तो ब्रज में ही रहती हैं। उन्हीं की वैभवरूपा सत्यभामा (राधा), रुक्मणी (चंद्रावली), जाम्बवती (ललिता), कालिन्दी (विशाखा), नाग्निजिती (पद्मा), मित्रविन्दा (शैव्या), भद्रा (भद्रा) एवं लक्ष्मणा (श्यामला) का विवाह श्रीकृष्ण से होता है। परंतु विवाह होने पर भी उन्हें ब्रज के परकीया भाव की अभिलाषा रहती है। वहाँ श्री राधा कहती हैं-

या ते लीला-पद परिमलोद्गारि वन्या परीता
धन्या क्षोणी विलसति वृता माथुरी-माधुरीभि:
तत्रास्माभि: चटुल-पशुपीभाव-मुग्धा-तराभि:
सम्बीतस्त्वं कलय वदनोल्लासि वेणुर्विहारम्।

(ललित माधव उपसंहार वाक्यम्)-श्री रूप गोस्वामी

इसी प्रकार श्री गोपाल उत्तर चंपू में श्रीराधाकृष्ण का विवाह वर्णन हुआ है। परंतु वह गोलोक की लीला है भौम वृंदावन की नहीं। वहाँ भी परकीया भाव में ही राधाकृष्ण की उत्कर्ष बुद्धि एवं उत्कंठा दिखायी गई है। श्रीगोलोक तो वैसे भी प्रकट ऐश्वर्य लीला धाम है। वहाँ विवाह लीला सिद्धांत के स्तर पर यही पुष्टि करती है कि-श्रीराधाकृष्ण सखी वृंदावन एवं गोपियाँ एक ही तत्त्व हैं जो लीलार्थ अनेक हैं।

श्री जीव गोस्वामी जी ने लोचनरोचनी टीका में यही स्वीकार किया कि हमने कुछ बातें स्वेच्छ्या लिखी हैं कुछ परेच्छ्या/स्वेच्छ्या लिखी बातें ही हमारा मत हैं। ये ही पूर्वापर सामंजस्य युक्त हैं। अन्य परमत हैं-

स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छयां
यत् पूर्वापर सम्बधं तत् पूर्वम् अपरं परम्॥

परानुरोधेन जो कुछ बातें श्री जीव गोस्वामी ने लिखीं उनसे विद्वत् समाज में भी यह भ्रम हो गया कि जीव गोस्वामी स्वकीयावादी हैं परंतु श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह सुस्पष्ट किया कि-श्री जीवगोस्वामी का भी निजमत है कि-सिद्धांत में तो गोपियाँ श्रीकृष्ण की परमस्वकीया हैं परंतु रसोत्कर्ष के लिए व्यावहारिक दृष्टि में भावपरकीया की सत्यता प्राप्त होती है। गोकुल एवं गोलोक दोनों ही स्थानों में प्रकट एवं अप्रकट लीलाओं में परकीयाभाव द्वारा सर्वोत्तम रस की सृष्टि होती है। अन्यथा गोलोक की लीला न्यून कोटि की हो जावेगी।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार श्री जीव गोस्वामी ने परानुरोधेन स्वकीयात्व की सिद्धि में जो प्रमाण या तर्क दिए उनसे भी लीला की व्यावहारिक सत्ता में 'परकीया भाव' की ही सिद्धि होती है। जैसे-दशाक्षर या अष्टादशाक्षर गोपाल मंत्र में 'गोपीजन बल्लभ' शब्द को स्वकीयावाची नहीं माना जा सकता। 'इयं अस्य ब्राह्मणी' (यह इसकी ब्राह्मणी है) इस वाक्य में ब्राह्मण के साथ ब्राह्मणी का अर्थ तो 'स्वकीया' का बोध करा देगा परंतु 'अयं ब्राह्मणीजना बल्लभ:' यह वचन अभिज्ञजनों को 'परकीया' का ही बोध करावेगा (ब्राह्मण की पत्नी ब्राह्मणी होती है उनका बल्लभ कोई परपुरुष भी हो सकता है)। निश्चित प्रकरण में ब्राह्मण के संबंध में ब्राह्मणी का अर्थ पत्नी होगा-जैसे यज्ञाचार्य कहें 'ब्राह्मणी को बुलाओ'

'ब्राह्मणीम् आकारय' वहाँ ब्राह्मणी का अर्थ आचार्याणी होगा। परंतु सामान्य में ब्राह्मणी दासी बहिन परकीया कुछ भी हो सकती है। अत: 'गोपीजनबल्लभ' लीला में परकीयाभाव का ज्ञापक है। इसी प्रकार गोपनारी (गोपाल स्तवराज) गोपवधू (भा. 10.33.20) ब्रजवधू (भा. 10.21.4) ब्रजस्त्री आदि शब्द परकीयावाचक ही हैं।

इसी प्रकार 'कृष्णवधू' (भा. 10.33.8); अनेक जन्म सिद्धानां गोपीनां पति: एव वा (आगम) इत्यादि में प्रयुक्त वधू पति आदि शब्द कन्या के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं जैसे-देवहूति जी के लिए विवाह के पूर्व भी वधू शब्द का प्रयोग किया गया-'सा त्वां ब्रह्मन नृपवधू: कामयाशु भजिष्यति' (भा.3.21.28)।

गोपाल तापनी में 'स वो हि स्वामी भवति' में स्वामी शब्द (इसी प्रकार गोपीपति, राधाकांत इत्यादि शब्द भी) परिणेता मात्र के वाचक नहीं हैं वे 'भोक्ता' के वाचक भी हैं। 'स्वाधीन भर्तृका', 'प्रोषित-पतिका' आदि का प्रयोग काव्यशास्त्र में प्राप्त होता है। वह प्रिय अर्थक ही है परिणेता अर्थक नहीं।

'अपि वत मधुपुर्य्यां आर्यपुत्रोऽधुनास्ते' (भा. 10.47.21) के अनुसार गोपियों का श्रीकृष्ण को 'आर्यपुत्र' संबोधन (जो पत्नी द्वारा पति के लिए ही स्वीकृत है) एवं परदेश में श्रीकृष्ण का अपने मित्र उद्धव से गोपियों के प्रसंग में 'बल्लव्यो मे मदात्मिका' (भा. 10.46.6) 'मेरी गोपी' यह उल्लेख दृढ़प्रीति एवं ममतातिशयता का वाचक है; लीला में स्वकीयता का नहीं।

श्री जीव गोस्वामी द्वारा स्वकीया पर अतिबल देने के निम्न कारण हैं-

भगवद्लीला में 'प्राकृत-स्वरूपपरकीया' भावना का निषेध करने एवं आपातत: लीला की दिव्यता स्थापित करने के लिए स्वकीया प्रतिपादक जो लक्षण उदाहरण श्री जीव गोस्वामी ने दिए हैं यह तो उनकी जीवों पर निरवधि करुणा है। वे अपराध एवं नरक पात से अज्ञानी जीवों को बचाना चाहते हैं। तत्त्वत: लीलास्वादन में स्वकीया उनका स्वमत नहीं।

लीला में गोपियों के प्रति दुर्यश-निबन्धन, मनोदु:ख, श्वश्रुननदादि-कृत यंत्रणा, ये सभी दु:ख तत्त्वत: सुख रूप होते हैं। क्योंकि राग का लक्षण ही है-जहाँ प्रणयोत्कर्ष से परम दु:ख भी सुख रूप में ही व्यंजित होता है उसे 'राग' कहते हैं। 'महाभाव' की व्याख्या में श्री जीव गोस्वामी ने स्वयं कहा है कि कुल वधुओं के लिए स्वजन आर्यपथ का त्याग दु:ख की पराकाष्ठा होता है। इस 'दु:ख' के द्वारा प्रतीत कराया गया कृष्ण-संबंध 'सुख' रूप में अनुभूत होता है। तभी राग की पराकाष्ठा होती है। इसी राग की परमायत्ता का आश्रय लेकर अनुराग महाभाव बनता है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रकट एवं अप्रकट दोनों ही लीलाओं में दिव्य परकीया भाव ही श्री जीव गोस्वामी का स्वमत है। अप्रकट लीला में स्वकीया की स्थापना का प्रयास परेच्छ्या है। अन्यथा अप्रकट लीला में 'महाभाव' की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

परकीया खंडन जीव गोस्वामी का लक्ष्य नहीं है स्वकीया स्थापना द्वारा वे 'तत्त्व' की ओर उपासक का ध्यान केंद्रित रखना चाहते हैं कि कहीं प्रमादवश कृष्णलीला में अपराध या प्राकृत दृष्टि न घुस जाय। परंतु ध्यान रहे हम उपासकों के लिए श्रीमद्भागवत पद्धति के अनुरूप लीलाविशिष्ट राधाकृष्ण ही उपास्य हैं लीला रहित नहीं। क्योंकि परकीया भावमयी उपासना में सेवासुख की अनेक संभावनाएँ, नित्यनूतनता एवं उत्कंठा अधिक होती है अत: श्री शुक प्रोक्त लीला ही श्री जीव गोस्वामी की भी अभीष्ट है। अन्यथा श्री जीव के ऊपर 'विप्रलिप्सुता' का दोषारोपण हो जावेगा।

श्रीजीव ने राधाकृष्ण का विवाह गोपाल उत्तर चंपू में गोलोक लीला में ही परेच्छ्या कराया है। प्रकटलीला में ब्रज में विवाह कराने पर गोपियाँ समर्थारतिमती नहीं हो सकेंगी; वे समंजसा रतिवाली हो जावेंगी।

पत्नी भावाभि मानात्मा गुणादि श्रवणादिजा।
क्वचित् भेदित-सम्भोगतृष्णा सान्द्रा समंजसा॥ (उ.नी.म. स्थायी भाव 48 पृ. 668)

ऐसा होने पर 'उज्ज्वलनीलमणि' का सारा अर्थ ही विपर्य्यस्त (उलट-पुलट) हो जावेगा। अत: अपराध निवृत्ति एवं सिद्धांत तत्त्वबोधार्थ ही जीवगोस्वामी का स्वकीयात्व निरूपण है। संक्षेप में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने रसोपासना को केंद्र में रखा एवं श्री जीवगोस्वामी ने तत्त्व चिन्तन को। आपातत: इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

निष्कर्षत: स्वरूप-परकीया भावलोक, धर्म एवं रसशास्त्रों में सर्वत्र निन्दनीय जुगुप्सा योग्य है। वह तो भगवत लीला में हो ही नहीं सकता। तत्त्व में श्री गोपीगण श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। उनसे अभिन्न है। अत: वे न स्वकीया हैं (विप्राग्नि वेद साक्षिरूपता का अभाव) न परकीया है (श्रीकृष्ण से भेद का अभाव) बल्कि 'परमस्वकीया' है। सुतरां हमारे लिए राधाकृष्ण 'लीला विशिष्ट' ही उपास्य हैं। लीलारहित नहीं और लीला का उत्कर्ष-परकीयाप्रेम है। अत: प्रकट एवं अप्रकट दोनों ही उपासनाओं में परकीयाभाव ध्येय है। यह परकीया भाव केवल काल्पनिक (फंतासी) मानने पर अति प्रभावशाली नहीं हो सकता। अत: 'छायागोपी' एवं उनके साथ स्वाप्निक-विवाह-कल्पना की गई। जिससे लीला की 'व्यावहारिक सत्ता' में परकीयाभाव-जन्य वार्यमाणता अति प्रभावशाली हो जाती है। वार्यमाणता के कारण ब्रज की गोपियों की महिमा सर्वत्र संगीत हुई परन्तु 'पारमार्थिक सत्ता' में मिलन काल से प्रेमोत्कर्ष के कारण सर्वविस्मृति होने पर परमस्वीयता ही प्रकट होती है। सोपद्रवपरकीयाभाव प्रेमोत्कर्ष करता है। अत: वह प्रकट एवं अप्रकट दोनों ही लीला में अभीष्ट है। श्री जीव गोस्वामी आदि भले ही परेच्छ्या अप्रकटलीला में स्वकीयाभाव की स्थापना करें, परंतु उनका लक्ष्य जनसामान्य को अपराध से बचाना ही है एवं 'महाभाव स्थापना' ही रस की परम इयत्ता है। अत: रसोपासना एवं परम सेवा सुख प्राप्ति के लिए परकीया ही अभीष्ट है। [अ०ला०भ०]

परपक्षगिरिवज्र

सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में इसकी रचना माधवमुकुन्द जी ने की थी। 'अध्यासगिरिवज्र' के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इसमें केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य विरचित 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' की आलोचनात्मक कोटियों का समर्थन करते हुए अन्य दार्शनिक मतों की विशिष्ट ढंग से आलोचना की गई है। इस प्रकार अद्वैती, द्वैती, विशिष्टाद्वैती आदि ग्रंथकारों की आलोचना के साथ ही माधवमुकुन्द ने अपने इस ग्रंथ में स्वाभाविक द्वैताद्वैत मत का समर्थन किया है। उक्त अन्य ग्रंथों की भाँति यह ग्रंथ भी आचार्य कोटि में स्वीकार किया जाता है। यह प्रकाशित एवं उपलब्ध है। द्वैताद्वैत सिद्धान्तपरक उक्त प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में प्रणीत अन्यान्य छोटे-मोटे हस्तलिखित ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। [क०उ०]

परमानन्द दास

परमानन्द दास संत चरणदास के शिष्य थे। ये हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के अंतर्गत बीरबल की गढ़ी नामक गाँव के रहने वाले थे। ये जाति के ब्राह्मण थे। दीक्षा लेने के उपरांत ये कुछ समय दिल्ली में रहे, उसके बाद इन्होंने अपने गाँव बीरबल की गढ़ी में गद्दी स्थापित की। वे यहीं रहकर सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनके बारे में लिखा है कि इनकी ईश्वर, गुरु और संतों में अगाध श्रद्धा थी। इन्होंने प्रभु भक्ति के पीछे सांसारिक लोक-लाज सभी का त्याग कर दिया था। ये रसोपासक संत थे। इनके द्वारा लिखित साहित्य के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। । [क०उ०]

परमानन्द दास (परमदास)

संत चरणदास जी के शिष्यों की सूचियों में परम सनेही, प्रेम सनेही और परमदास नाम के कई संतों के नाम प्राप्त होते हैं। इस आलोच्य प्रेमदास को पहचानना बहुत मुश्किल है। श्री जोगजीत के ग्रंथ 'लीलासागर' में इस नाम के दो महात्माओं

का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम का कार्यक्षेत्र और संभवत: जन्म- स्थान पुरी (उड़ीसा) के आस-पास था और वे ब्राह्मण जाति के थे तथा दूसरे परमानंददास दूसर कुलोत्पन्न संत थे। इनकी मुख्य गद्दी बीरबल की गढ़ी (रोहतक) में थी।

'लीलासागर' के अनुसार प्रथम परमानंददास ने कुछ समय वृन्दावन में रहकर धर्म-प्रचार किया था। श्री परमानंददास अपने संप्रदाय के अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। अपने दोहों में इन्होंने अपने विषय में जो संकेत दिये हैं उनसे पता चलता है कि ये पूर्ण ज्ञान प्राप्त संत थे। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था। इनके अब तक दस-बारह फुटकर पद प्राप्त हैं। [क०उ०]

परमानन्द देवाचार्य

श्री परमानंद देवाचार्य जी महाराज निम्बार्काचार्य श्री कर्णहर देवाचार्य जी के पाँच शिष्यों में प्रधान शिष्य हैं। दया, क्षमा, गांभीर्य, भजन और कृपा की प्रतिमूर्ति श्री परमानंद देवाचार्य जी थे। परमानंद देवाचार्य जी ने सनातन धर्म तथा निम्बार्क सम्प्रदाय की अभिवृद्धि की। इन्होंने तत्कालीन भारत में व्याप्त कुप्रथाओं, धर्मविरोधी गतिविधियों का न सिर्फ उन्मूलन किया बल्कि राधाकृष्ण की भक्ति और वैष्णव धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। [कुं०बि०श०]

परशुराम देवाचार्य

आचार्य परशुराम देवाचार्य निम्बार्काचार्य की छत्तीसवीं पीढ़ी में निम्बार्क पीठ पर विराजमान हुए थे। आपके गुरु निम्बार्काचार्य श्री हरिव्यास देव थे। अपने गुरु की आज्ञा से ही आप मरुभूमि में पधारे थे। पूर्वकाल में तीर्थयात्री मथुरा से द्वारिका के लिए अजमेर होते हुए यात्रा किया करते थे। अजमेर के पास एक मस्तिंग शाह नामक फकीर तीर्थयात्रियों को परेशान किया करता था। कुछ तीर्थयात्रियों ने मथुरा में आचार्य श्री हरिव्यास देवाचार्य से उस फकीर की शिकायत की। तब आचार्य श्री ने अपने शिष्य श्री परशुराम देवाचार्य को उस फकीर को सबक सिखाने हेतु वहाँ भेजा। उन्होंने यहाँ आकर मुस्लिम फकीर के अत्याचार का अन्त किया। उसके पश्चात सलेमाबाद नामक स्थान पर निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान पीठ की स्थापना की जहाँ वर्तमान में भी निम्बार्काचार्य विराजते हैं।

श्री परशुराम देवाचार्य अपने चमत्कारों के लिए बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। कहा जाता है कि तत्कालीन दिल्ली के शासक बादशाह वहाँ पहुँचे। उस समय श्री परशुराम देवाचार्य हवन कर रहे थे। बादशाह द्वारा दिया गया एक बेशकीमती दुशाला प्रज्ज्वलित हवनकुण्ड में डाल दिया, वह जलकर भस्म हो गया। बादशाह के मन में ग्लानि हुई कि उसकी दी हुई बहुमूल्य वस्तु नष्ट कर दी गई। आचार्य श्री ने बादशाह का भाव जानकर उसी अग्निकुण्ड से कई बेशकीमती दुशाले निकालकर उसके समक्ष फेंक दिये। बादशाह उनके चरणों में पड़ गया और क्षमा-याचना की। आचार्य श्री की कृपा से उसे एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। इस प्रकार के कई चमत्कारों से प्रभावित होकर उस समय नागौर, आमेर, शाकम्भरी, जालौर के भाटी, मेड़तिया, शेखावत, राठौड़ आदि राजपूत वीर सरदार इनके शिष्य बन गये।

परशुराम देवाचार्य जी का जन्म लगभग संवत् 1450 वि. अनुमानित किया जाता है। वे संवत् 1515 वि. के लगभग निम्बार्क पीठ पर विराजमान हुए थे। उनके द्वारा समाधि लेने का समय निश्चित नहीं है। समाधि लेने का समय लगभग वि. सं. 1597 अनुमानित किया जाता है। आचार्य श्री ब्रजभाषा के भी अच्छे कवि थे, उनकी रचनाओं का संग्रह 'परशुराम सागर' नाम से संकलित हो चुका है। [क०उ०]

पलवल के ईसाई धार्मिक स्थल

पलवल में एकमात्र वैपटिस्ट चर्च (BAPTIST) है। जिसकी स्थापना शिलालेख के अनुसार 1910 में नूंह रोड पर हुई थी। पहले यह चर्च 3 साल तक फूँस के छप्परों में चला उसके बाद मरहूम बादामी द्वारा दी गई भूमि पर इसका

निर्माण हुआ। जे.एस. बोकफील्ड द्वारा इस चर्च को फर्नीचर दिया गया जो आज भी यथावत है। मि. मेरीकोम ने सन् 1884 से 1914 तक इस क्षेत्र में सेवा का कार्य किया। इसी क्षेत्र में सलामतपुर में सैण्ट जौन वैपटिस्ट नामक स्कूल की स्थापना की, जिसमें लड़कियों को सिलाई, कढ़ाई के साथ क्रिश्चियन धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इससे पूर्व में क्रिश्चियन जरनल हॉस्पीटल, पलवल के नाम से एक अस्पताल भी चलता था जो कि इस क्षेत्र में एकमात्र हॉस्पीटल था। वर्तमान में एक विद्यालय चलाया जा रहा है जिसे मिशन स्कूल कहते हैं। यहाँ पर एक विशाल हॉल है ईसाई मान्यता के अनुसार एक तालाब है जिसमें वैपटिस्ट अर्थात् गोता लगाना और उसके बाद परमेश्वर हित में कार्य करना ये इनकी क्रिया हैं। [न०कि०शा०]

पलवल के जैन धार्मिक स्थल

पलवल में दो जैन मंदिर हैं। एक मूल आबादी के निकट है जो कि पुराना है तथा दूसरा हुड्डा कालोनी के साथ पुराने जी.टी. रोड पर है जिसकी स्थापना आज से दस साल पूर्व में हुई है, यह भव्य जैन मंदिर है। यहाँ पर प्रतिवर्ष जैन साधु चातुर्मास में निवास एवं कथा करते हैं। [न०कि०शा०]

पलवल के सिक्ख धार्मिक स्थल

पलवल में तीन मुख्य गुरुद्वारे हैं, जिनकी स्थापना सन् 1948 के बाद हुई है क्योंकि इससे पूर्व कोई गुरुद्वारा नहीं था। इनमें एक गुरुसिंह सभा द्वारा स्थापित गुरुद्वारा पुरानी जी.टी. रोड, पलवल में है, दूसरा गुरुद्वारा न्यू कॉलोनी, पलवल में है। ये दोनों ही गुरुसिंह सभा के अंतर्गत हैं। नित्यप्रति अरदास एवं लंगर होता है। तीसरा गुरुद्वारा कैम्प पलवल में सन् 1947 में देश विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों ने इसकी स्थापना की थी। इसे रुझानी गुरुद्वारा या धर्मशाला भी कहा जाता है। [न०कि०शा०]

पलवल के हिन्दू धार्मिक स्थल

गंगालक्ष्मीनारायण मंदिर-यह पलवल का प्राचीन मंदिर है। सघन आबादी के निकट बहुत ऊँचे मिट्टी के ढेर पर स्थित यह मंदिर संसूचित करता है कि पलवल की मूल आबादी के अति निकट यह मंदिर रहा होगा। जनश्रुति के अनुसार दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नाथमुनि नामक आलवार संत कभी यहाँ ब्रज यात्रा पर आये थे और उन्होंने ही मंदिर की स्थापना स्थानीय जनसहयोग से की थी। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने अपने शिष्यों के साथ यहाँ निवास किया था। कुछ दिनों के उपरांत यह स्थान ग्वालियर नरेश की गंगा सभा के अधिकार में रहा जिसके कारण इसकी प्रसिद्धि गंगा मंदिर के रूप में हुई। मराठा गोविन्द शिवाजी ने भी कभी इस मंदिर के संचालन में सहयोग किया। इस मंदिर में प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार ये मूर्तियाँ प्रतिहार कालीन (छठी से आठवीं शताब्दी) के मध्य की मानी गई हैं। मंदिर के निकटस्थ व्यक्ति इसका सम्बन्ध श्री गंगा शिप्रान्यास से भी मानते हैं तथा भरतपुर एवं हरिद्वार में इस न्यास की सम्पत्ति है।

इन मंदिरों के अतिरिक्त खोंटा मंदिर, भूरागिरि मंदिर, हनुमान मंदिर, सैनी माता मंदिर, खेडादेवत मंदिर, तुहीराम कालोनी स्थित लक्ष्मीनारायण मंदिर, मुकुट मंदिर, न्यू कॉलौनी स्थित सनातन धर्म मंदिर आदि लगभग 30 मंदिर यहाँ स्थित हैं।

जंगेश्वर मंदिर-यहाँ विशेष रूप में जंगेश्वर के रूप में भगवान शंकर पंचायतन रूप में विराजमान हैं। इस मंदिर का प्रवेश द्वार अतिसुंदर है। प्रवेश द्वार से थोड़ा आगे शिव मंदिर है जिसका शिखर अति उच्च है और प्राचीनकाल लाल प्रस्तर प्रतिमा अतिविशाल है। जन आस्था के अनुसार मध्यभाग में स्थित होने के कारण प्रतिमा की खुदाई की गई परंतु

उसका तल प्राप्त नहीं हुआ। इस मंदिर में कभी संस्कृत विद्यालय भी चलता था।

दाऊजी मंदिर-ब्रज का सीमान्त पलवल हरियाणा प्रदेश का मण्डल स्तरीय नगर है। 01 नवम्बर, 1966 से पूर्व संयुक्त पंजाब का नगर था तथा इससे पूर्व महाभारत के अनुसार 'देशोऽस्ति हरियाणाख्यः पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः।' के अनुसार यौधेयगण के अंतर्गत था, जनश्रुति के अनुसार द्वापर युग में यहाँ का समस्त भौगोलिक परिदृश्य मथुरा राज्य के अंतर्गत था क्योंकि पलवल कंस के क्षत्रप प्रलम्बासुर का निवास स्थान था तथा पलवल के पूर्व में स्थित ग्राम मीसा-मुष्टिक एवं चांदहट चाणूर के एवं बघौला बकासुर का निवास स्थान था। प्रलम्बासुर गर्ग संहिता के अनुसार-

हू हू सुतः स गन्धर्वः प्रलम्बोऽभून्महासुरः
कुबेरस्य वराद्राजन पर मोक्षं जगाम ह॥

भगवान के धनाध्यक्ष कुबेर ने शिव की पूजा हेतु अपने बगीचे में पुष्प लगाये हुए थे और नियम कर रखा था कि जो इन पुष्पों को तोड़ेगा वह असुर योनि को प्राप्त हो जायेगा। हू हू गन्धर्व पुत्र विजय ने अनजाने में इस बगीचे से पुष्प तोड़ने का अपराध किया था जिसके कारण वह असुर योनि को प्राप्त हुआ परन्तु कुबेर की स्तुति करके श्रीबलराम जी के हाथों से मोक्ष को प्राप्त हुआ। तब शेषावतार बलरामजी ने कहा कि हे गन्धर्व पुत्र विजय वर माँगो, मेरा दर्शन अमोघ है। तब गन्धर्व कुमार ने कहा कि प्रभो एक रूप में आप यहाँ विराजें तथा भक्तों की मनोकामनाएँ पूर्ण करें। अतः बलरामजी यहाँ विराजकर भक्तों की कामना पूर्ण करते हैं।

पलवल क्षेत्रवासी बलराम जी का मंदिर या दाऊजी का मंदिर के नाम से इस मंदिर को पहचानते हैं। जोकि पलवल के उत्तर भाग में स्थित है। बलदेव छठ पर यहाँ विशेष मेला, दंगल इत्यादि का आयोजन होता है। पलवल के चारधाम माने जाते हैं जिनमें दाऊजी मंदिर एक है। ब्रजभाषा में दाऊ बड़े भाई को कहते हैं, अतः इसकी प्रसिद्धि दाऊजी मंदिर के रूप में है। इसके अतिरिक्त दीघौट गाँव का दाऊजी मंदिर एवं बनचारी का दाऊजी मंदिर इस क्षेत्र के प्रसिद्ध मंदिर हैं जो अपनी भव्यता एवं विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं।

पंचवटी मंदिर (पचोवन)-वन ब्रज संस्कृति के प्रतीक हैं। अतः पचोवन यहाँ का प्रसिद्ध एवं पांडवकालीन ऐतिहासिक स्थान है, जनमान्यता के अनुसार अज्ञातवास की अवधि में पांडवों ने यहाँ निवास किया था और पाँच वट वृक्षों का रोपण किया था। यहाँ पूर्व में एक विशाल पक्का सरोवर था जिसे यहाँ की जनता भीमकुण्ड कहती थी तथा एक देवी मंदिर है उसके विषय में मान्यता है कि यहाँ द्रोपदी देवी के रूप में विराजमान हैं और अति प्राचीन हनुमान जी का मंदिर है जिसके विषय में धारणा है कि पांडवों ने यहाँ अज्ञातवास अवधि में हनुमानजी की आराधना की थी। मंदिर में पर्वों पर विशेष आयोजन होता है तथा पलवल के चार धामों में भी उसकी गणना है।

पथवारी मंदिर-पलवल का पथवारी मंदिर प्रसिद्ध मंदिर है। यहाँ माँ भगवती दुर्गा की पूजा होती है तथा इसके निकट एक प्रसिद्ध सरोवर है जिसे भवनकुण्ड कहते हैं। स्थानीय मान्यता के अनुसार इसकी गहराई को नापना आसान नहीं था परंतु आज के वातावरण में इसके घाट मिट्टी में धँस गये हैं और अतिक्रमण करते हुये इसके बहुत से भू-भाग पर कब्जा कर लिया है, परंतु आज भी इस मंदिर में भक्तों की संख्या अत्यधिक रहती है। [न०कि०शा०]

पवित्रा

शुक्ल पक्ष एकादशी को पवित्रा एकादशी का उत्सव मनाया जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय में इस उत्सव का बहुत महत्व है। सूर निर्णय के अनुसार यह नित्य लीला और वल्लभ अवतार का उत्सव है। मान्यतानुसार श्रावण शुक्ल एकादशी को अर्द्धरात्रि में साक्षात् पुरुषोत्तम प्रभु ने प्रकट होकर गोकुल के ठकुरानी घाट पर वल्लभाचार्य जी को ब्रह्म

संबंध का उपदेश दिया था। तब आचार्य जी ने नित्य लीला के सम्बन्ध में उन पुरुषोत्तम को पवित्रा धारण कराया था। यहाँ तभी से यह उत्सव सम्बन्ध वृन्दावन की रसोपासना के अन्तर्गत हरित्रयी (गो॰ हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, संत हरिराम व्यास) में एक गो॰ हित हरिवंश महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ संप्रदाय में भी पवित्रा शीर्षक यह पर्व उक्त तिथि पर आयोजित होता है। जिसमें रेशम के धागों से गुँथी हुयी एक माला प्रभु को अर्पित की जाती है। यह माला पटवा (रेशम के धागे से कंठहार आदि तैयार करने वाला कारीगर) द्वारा तैयार की जाती है। इस दिन ठाकुर जी को पंचामृत स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र धारण कराये जाते हैं। रसोपासना परंपरा से जुड़े देवालयों में सायंकाल समाज में पवित्रा के पदों का गायन होता है। द्वारिकाधीश मंदिर तथा गोकुल, बरसाना, नंदगांव, कामवन इत्यादि जगहों पर भी पवित्रा उत्सव बहुत धूमधाम से मनाया जाता है तथा जिन्हें ब्रह्म संबंध लेना होता है। वह आज ही के दिन ब्रह्म संबंध लेते हैं।

आज पहिरौ मोहन लाल पवित्रा पाट कौ...

(चाचा हित वृन्दावनदास कृत पदावली) [प्र॰श॰]

पांचरात्र

पांचरात्र वैष्णव शास्त्र का एक भेद है। पांचरात्र वैष्णव धर्म का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस शास्त्र का नाम पांचरात्र पड़ने का कारण नारद पांचरात्र में इस प्रकार लिखा है-रात्र का अर्थ ज्ञानगर्भ वचन है, यह ज्ञान पाँच प्रकार का है, इसी से इसका नाम पांचरात्र पड़ा। पांचरात्र मत अति प्राचीन है। बहुतों का विश्वास है कि पांचरात्र या सात्वत मत से ही आदि वैष्णव धर्म निकला है। वासुदेवादि चतुर्व्यूह, प्रेम और भक्ति इस मत का प्रधान लक्ष्य है।

महाभारत में पांचरात्र का दूसरा नाम सात्वत धर्म बतलाया है। रामानुज स्वामी ने 'सात्त्वत संहिता' नामक एक पांचरात्र ग्रंथ का उल्लेख किया है। भागवत में श्रीकृष्ण सात्वषभ और सात्वतपुंगव नाम से अभिहित हुए हैं। भागवत में लिखा है कि सात्त्वत गण यादवों की एक शाखा है, वे लोग वासुदेव को परब्रह्म समझकर उनकी अर्चना करते थे। भागवत में सात्त्वतगण कर्त्तृक जो हरि की विशेष उपासना लिखी है, वह पांचरात्र शास्त्रानुमोदित है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने ही इस पांचरात्र वा भागवत मत का प्रचार किया होगा। श्रीकृष्ण के अनुरक्त सात्त्वतों ने ही सबसे पहले यह धर्म मत ग्रहण किया था, इस कारण महाभारतादि में इसे सात्त्वत धर्म बतलाया है।

पांचरात्र गण वासुदेव को नारायण समझते थे। इसी में पांचरात्र को नारायणोक्त शास्त्र के जैसा मानते हैं। डॉ॰ भण्डारकर ने लिखा है-''वासुदेव सात्त्वत वंशीय प्रसिद्ध राजा थे। पहले जब इस मत की सृष्टि हुई, तब यह वंश जटिल न था। धीरे-धीरे यह परिपक्व होकर पांचरात्र शास्त्र में परिणत हुआ। इस वासुदेव धर्म में परिवर्तीकाल में विष्णु, नारायण, गोविन्द और कृष्ण के नाम आये और उसी से नाना प्रकार के आधुनिक वैष्णव धर्म की सृष्टि हुई।''

भागवतगण समझते हैं कि भगवान वासुदेव एक हैं, वे निरंजन, ज्ञानवपु और परमार्थ तत्त्व हैं। वासुदेव से संकर्षण का, संकर्षण से प्रद्युम्न का और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का जन्म होता है। वेदव्यास ने भीष्म पर्व में भी कहा है-'सात्वत विधि अवलम्बनकारी संकर्षण द्वारा जो कीर्त्तित हुए हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उन्हीं माधव की अर्चना, सेवा और पूजा करनी चाहिए।

पांचरात्र गण यजुर्वेद के वाजसनेय शाखानुसार संस्कार किया करते हैं। पांचरात्रों का कहना है कि संसार बंधन से मुक्ति लाभ करने के पाँच उपाय हैं। कायमनोवाक्य संयत करके देवमंदिराभिगमन, प्रातः स्तव और प्रणिपातपूर्वक भगवदाराधना, भगवदाराधना के लिए पुष्प चयन और पुष्पांजलि प्रदान, भगवतसेवा, भागवतशास्त्रपठन, श्रवण-मनन, संध्या, पूजा, ध्यान और धारणा एवं भगवान के ऊपर सम्पूर्ण चित्तार्पण। इस प्रकार क्रियायोग और ज्ञानयोग द्वारा वासुदेव

लाभ होते हैं तथा उनके सान्निध्य लाभ के साथ भक्तगण परमैश्वर्यमह निर्वाण मुक्ति लाभ करते हैं।

नारदीय पांचरात्र में 1. ब्रह्म, 2. शैव, 3. कौमार, 4. वशिष्ठ, 5. कापिल, 6. गौतमीय और नारदीय इन सात प्रकार के पांचरात्रों का उल्लेख है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के मत से-पांचरात्र पाँच हैं, 1. वशिष्ठ, 2. नारदीय, 3. कापिल, 4. गौतमीय और 5. सनत्कुमारीय। पांचरात्र रामानुज श्रीभाष्य में सात्वत संहिता, पौष्कर संहिता और परम संहिता इन तीन पांचरात्र शास्त्रों का प्रमाण मिलता है। पांचरात्रमतावलम्बी वैष्णवगण गीता, भागवत, शाण्डिल्य सूत्र और उपरोक्त ग्रंथों को अपना धर्मग्रंथ मानते हैं।

[ह॰मा॰]

पार्श्वनाथ (तीर्थंकर)

पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणी के 23वें तीर्थंकर हैं। इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति और जैनधर्म का वास्तविक संस्थापक माना गया है। वाराणसी के महाराजा अश्वसेन इनके पिता और वामा इनकी माता थीं। पार्श्वनाथ जिस समय तपस्यारत थे उसी समय उनके पूर्व जन्म के वैरी मेघमाली (या कमठ) नाम के असुर ने उनकी तपस्या में तरह-तरह के विघ्न (उपसर्ग) उपस्थित किये किंतु पार्श्वनाथ पूरी तरह अविचलित रहे। अंत में हताश होकर मेघमाली ने भयंकर वृष्टि द्वारा जब पार्श्वनाथ को जल में डुबो देना चाहा और वर्षा का जल पार्श्व की नासिका तक पहुँच गया तब उनकी रक्षा के लिए नागराज धरणेंद्र नागदेवी पद्मावती के साथ वहाँ उपस्थित हुए। धरणेंद्र ने तीर्थंकर को अपनी कुंडलियों पर उठा लिया और उनके पूरे शरीर को ढकते हुए सिर के ऊपर सात सर्पफणों की छाया की। उनकी पत्नी पद्मावती ने एक लंबे छत्र द्वारा तीर्थंकर के सिर पर छाया की थी। अंत में मेघमाली ने अपनी पराजय स्वीकार कर पार्श्वनाथ से क्षमायाचना की। त्रिषटिशलाकापुरुषचरित्र, पार्श्वनाथ चरित्र एवं उत्तरपुराण में वर्णित इस कथा के कारण ही मूर्तियों में पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफणों के छत्र और उनके संपूर्ण शरीर को ढके हुए सर्प की कुंडलियों का आसन दिखाया गया है। जैन ग्रंथों में पार्श्वनाथ के सिर पर तीन, सात या ग्यारह सर्पफणों का छत्र दिखाये जाने का उल्लेख मिलता है, इसी कारण कभी-कभी पार्श्वनाथ के सिर पर तीन और ग्यारह सर्पफणों का छत्र भी दिखाया गया है। परंपरा के अनुरूप पार्श्वनाथ के एक ओर हाथ जोड़े (या पद्म या कलश लिए) नागराज धरणेंद्र की और दूसरी ओर उनके सिर के ऊपर लंबे छत्र द्वारा छाया करती हुई पद्मावती की आकृतियाँ, गुप्तकाल से बनने लगीं। आगे की शताब्दियों में सभी क्षेत्रों में इनका नियमित अंकन देखने को मिलता है। दक्षिण भारत में बादामी, अयहोल और एलोरा की कुछ मूर्तियों में पार्श्वनाथ के सिर पर पांच सर्पफणों का छत्र भी दिखाया गया है। पार्श्वनाथ का लांछन सर्प है और इनके यक्ष-यक्षी पार्श्व (या धरण) और पद्मावती हैं। पार्श्वनाथ की मूर्तियों में एक ओर धरणेंद्र और दूसरी ओर छत्र धारिणी पद्मावती को नहीं दिखाया गया है।

कुषाणकाल में मथुरा में ऋषभनाथ के बाद पार्श्वनाथ की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं, जिनमें सात सर्पफणों के छत्र वाले पार्श्वनाथ या तो कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र खड़े हैं या ध्यानमुद्रा में आसीन हैं। पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ खजुराहो, देवगढ़ एवं एलोरा में हैं। [अ॰प्र॰श्री॰]

पीताम्बरदास

श्री पीतांबरदास आचार्य श्री रसिकदास जी के शिष्य और ललितकिशोरी जी के छोटे गुरु-भाई थे। उनका जन्म 1734 में हुआ था। उनके पिता चौबेलाल नारनौल के पास सांझापुर ग्राम के निवासी थे। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और शैव धर्मावलंबी थे; किंतु उनकी पत्नी कृष्णोपासिका थीं। माता के संसर्ग के प्रभाव से पीतांबरदास जी को बचपन से ही कृष्ण-भक्ति की ओर रुचि हो गई थी।

एक बार वे अपने पिता के साथ दिल्ली गये थे। वहाँ पर उनका संपर्क रसिकदास जी के एक वैश्य जातीय शिष्य से हुआ; जिससे वे रसिकदास जी का सत्संग प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो गये। वे अपने घर से भागकर वृंदावन पहुँचे और वहाँ रसिकदास जी के शिष्य हो गये।

ये अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए साधु-संतों के सत्संग द्वारा अपनी उपासना-भक्ति को सुदृढ़ करते रहे। उन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं और लोगों को बड़े-बड़े चमत्कार दिखाये। वे अजमेर में ख्वाजा साहब की कब्र पर जाकर बैठ गये और मुल्लाओं को अपनी सिद्धि से चकित कर दिया। अंत में पुष्कर, जयपुर आदि स्थानों में घूमते-फिरते वृंदावन में अपने गुरु श्री रसिकदास जी के पास पहुँच गये। वहाँ पर उन्होंने सिद्धियों और चमत्कारों को छोड़कर श्यामा-श्याम की शुद्ध भक्ति और उपासना में मन लगाया और वे उनके दिव्य शृंगार का रसास्वादन करने लगे।

रसिकदास जी का देहावसान होने पर उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा स्वामी जी की विरक्त परंपरा की तीन शाखाएँ हो गई थीं। उनके शिष्य ललितकिशोरीजी हरिदासी संप्रदाय की उस गद्दी के आचार्य हुए, जो 'टट्टी संस्थान' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शिष्य गोविंददास जी से ठाकुर श्री गोरेलाल जी वाली शाखा चली। पीतांबरदास जी ठाकुर श्री रसिक बिहारी जी के प्रधान बनाये गये थे। उनसे तीसरी शाखा चली।

पीतांबरदास जी के शिष्यों में 'निजमत सिद्धांत' के रचयिता किशोरदास जी का नाम उल्लेखनीय है। पीतांबरदास जी ने पर्याप्त परिमाण में रचनाएँ की हैं, जो भावपूर्ण तथा सरस हैं। उनकी मुख्य रचनाएँ— 1. समय प्रबंध, 2. सिद्धांत के पद, 3. सिद्धांत की साखी और 4. शृंगार रस के पद हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यों की बधाई के पद तथा केलिमाल की पद्यबद्ध टीका भी उनकी कृतियाँ हैं। श्री पीतांबरदास जी के द्वारा रचित हिंडोरना का एक पद—

आज झूलत दोऊ नवल हिंडोरना।
स्याम सघन घन दामिनि सों किए प्रन,
जब तुम कोंधौ प्यारी, तब हम घोरना॥
झुलावें श्री हरिदासि दुलारी, झूलें दोऊ कुंजबिहारी,
सरस सुखन कों एरी! ओर न छोरना।
श्री रसिक बिहारी जू थाके, प्यारी जू के मद छाके,
पीतांबर उढाय लै री! कहत निहोरना॥ [वि०कृ०भ०]

पीताम्बरदेव

अपने श्रीगुरुदेव के सम्मुख तार्किक के रूप में पधारे श्री पीतांबर देव जी भगवद् और सद्गुरु अनुग्रह से ही वैष्णव परिकर को प्राप्त हुए। गुरुदेव सुरतभानदेव जी ने ही इनका यह नामकरण किया। वैष्णवी दीक्षा प्राप्त होने के पश्चात पीतांबरदेव जी वृंदावनीय रस के अनन्य मधुकर बन गए। सदा भगवत्परायणता ही इनकी लौकिक वृत्ति-प्रवृत्ति थी। पीतांबरदेव जी 65 वर्ष पर्यंत सदेह वृंदावन धाम में विराजे। [कुं०बि०श०]

पुराणों में राधा

पुराणों एवं उपपुराणों की संख्या लगभग 100 सौ से ऊपर मानी गयी है और उनमें से अनेकों में राधा का उल्लेख प्राप्त हुआ है। जिन पुराणों में राधा का उल्लेख हुआ है, उन्हें अधिकांशत: अर्वाचीन माना जाता है। इसका कारण यह

है कि जो पुराण सर्वाधिक प्रामाणिक एवं एतिह्यासिद्ध है, उसमें राधा का उल्लेख स्पष्ट रूप से कहीं नहीं हुआ है। 'भागवत पुराण' में श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का सर्वाधिक वर्णन हुआ है और वैष्णव गोस्वामियों ने उसी को आधार बनाकर राधातत्त्व का आविष्कार भी किया है, किन्तु भागवत में कहीं भी स्पष्टत: राधा का उल्लेख नहीं हुआ है। वस्तुत: जिस श्लोक विशेष को आधार बनाकर श्री सनातन गोस्वामी ने राधा का संधान किया है, उसमें 'अनयाराधितो' पद का प्रयोग हुआ है। जिससे संकेत ग्रहण कर उन्होंने राधा की प्रतिष्ठापना की है। वे अपनी 'वैष्णवतोषिणी टीका' में लिखते हैं-'अनयैव आराधित: आराध्य वशीकृत: न त्वस्माभि:। राधयति आराधयतीति राधेति नामकारणं च दर्शितं।' विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या करते हुए राधा से उसका सम्बन्ध स्थापित किया है। वे कहते हैं-'नूनं हरिरयं राधित: राधां इत प्राप्त:।' सनातन गोस्वामी के मत का समर्थन करते हुए कृष्णदास कविराज ने भी राधा का अस्तित्व इसी पद में स्वीकार किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भागवत में राधा नाम की किसी गोपी का वर्णन नहीं हुआ है, किन्तु एक प्रधान गोपी की चर्चा हुई है और संभवत: वही राधा की उत्पत्ति का मूलाधार हो, जिसे गौड़ीय वैष्णवों ने अपनाया। भागवत के अनुरूप ही विष्णुपुराण में भी एक स्थल पर एक कृतपुण्या मदालसा गोपी का उल्लेख मिलता है, जहाँ 'आराधित' की जगह 'अभ्यर्चित' शब्द मिलता है-

अत्रोपविश्व सा तेन कापि पुष्पैरलंहता।
अन्यजन्मानि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यथा॥

वस्तुत: पुराणों में राधा का स्पष्ट वर्णन इन तीन पुराणों में ही मिलता है-पद्मपुराण, देवीभागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण। मत्स्यपुराण में भी राधा सम्बन्धी एक श्लोक आया है, जिससे उसे वृन्दावन की अधीश्वरी कहा गया है।

पद्मपुराण के उत्तराखंड प्रकरण में राधाष्टमी व्रत का वर्णन विस्तार से दिया गया है। इसी प्रकार उसके पाताल खण्ड में भी राधा का उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर राधा गोपियों के बीच तप्त स्वर्ण प्रभा हैं, दिशाओं को अपनी प्रभा से चकाचौंध करके धौतमाला हैं, ये प्रधानरूपा भगवती हैं-जिनसे यह सब कुछ व्याप्त है। ये सृष्टि-स्थिति-अंतरूपा, विद्याविधा, जया, परा, स्वरूपा, शक्तिरूपा, मायारूपा चिन्मयी हैं। ये ही ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के देहधारण का कारण राधा हैं। ये वही वृन्दावनेश्वरी राधा हैं-सबकी धारणाधार रूपा होने के कारण राधा हैं। यह राधा वृंदावनेश्वर ही पुरुष-प्रकृति हैं।' पद्मपुराण में आये ये विवरण परवर्ती काल के हैं, यह धारणा अनेक विद्वानों की है, क्योंकि उनका उल्लेख रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने कहीं नहीं किया है, जिससे प्रकट होता है कि ये अंश संभवत: उस समय पद्मपुराण में नहीं थे और परवर्ती काल में जोड़ दिये गये हों।

'देवी भागवत' में राधा की अर्चना एवं राधा मंत्र का विस्तृत वर्णन है। इसमें उन्हें सकल कामनाओं को सिद्ध करने वाली माना गया है और यह कहा गया है कि राधा की अर्चना के बिना कृष्ण की अर्चना का किसी को अधिकार नहीं है। राधा कृष्ण को प्राणों से प्रिय हैं। कृष्ण उनके बिना एक पल भी नहीं रह सकते। यही नहीं, वहाँ राधा को सारभूता, परमाराध्या, नित्य निकुंजेश्वरी, रास-क्रीड़ा की अधिष्ठात्री देवी माना है, जो गोपी के वेश में विराजती हैं और परम आह्लाद स्वरूपिणी हैं।

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में राधा का सर्वाधिक विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। राधा की उत्पत्ति, स्वरूप आदि का आख्यान शैली में विवरण दिया गया है। उसी प्रकार कृष्ण एवं राधा की रासलीलाओं का सविस्तार वर्णन है। वस्तुत: अनेक आख्याओं के माध्यम से राधा को लौकिक से पारलौकिक बनाने की चेष्टा की गयी है। एक ओर राधा को रायाण घोष की पत्नी बताया गया है, दूसरी ओर राधा की पारलौकिकता सिद्ध करने के लिए यह कहा गया है कि राधा अपनी छाया वृषभानुसुता में रख गयी और उसी छाया-राधा से रायाण का विवाह हुआ। राधा तो सदैव कृष्ण के पास रहती थीं।

वस्तुत: यह सारी कल्पना राधा को दिव्य बनाने के उद्देश्य से की गयी है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो इसे तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का ग्रंथ माना है।

इन पुराणों के अतिरिक्त राधा का उल्लेख मत्स्यपुराण, वायुपुराण, वाराह पुराण, नारदीय पुराण, आदि पुराण प्रभृति पुराणों में भी हुआ है। रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी तथा कविराज गोस्वामी ने पद्मपुराण और मत्स्यपुराण को तो मुख्य आधार बनाया था; इसके अतिरिक्त नाना श्रुतियों, स्मृतियों, तंत्रों और उपपुराणों में भी राधा की प्राचीनता का प्रमाण ढूँढ़ने की चेष्टा की है। रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'उज्ज्वलनीलमणि' में कहा है कि 'गोपालोत्तर तापनी में राधा गांधर्वी नाम से विश्रुता है। ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित है।' तंत्रकथा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि आल्हादिनी, जो महाशक्ति है-जो सर्वशक्ति वरीयसी है, वही राधा तत्सार भावरूपा है, तंत्र में यह बात ही प्रतिष्ठित है। जीव गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने 'बृहत् गौतमीय तंत्र' से भी राधा के बारे में श्लोक ढूँढ़ निकाला है। उन्होंने ब्रह्मसंहिता की टीका में 'सम्मोहन तंत्र' से भी राधा के सम्बन्ध में एक श्लोक ढूँढ़ निकाला है-यन्नाम्ना नाम्नि गुर्गाहं गणैर्गुणवती ह्यहम्। यद्वैभवान्महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया।

श्रीसनत्कुमारसंहिता में सनत्कुमार जी को भगवान शिव द्वारा श्रीराधा के स्वरूप, उनकी विस्तृत पूजा तथा श्रीकृष्ण लीला का वर्णन पटल संख्या 31 से 35 तक करीब 500 श्लोकों में किया गया है।

ज्योतिष में अनुराधा, विशाखा आदि नामों के द्वारा राधा शब्द का साम्य दिखाकर सौरमण्डल से सम्बद्ध रूपक स्थापित किया गया है, वह केवल बुद्धि विलास मात्र है। अनुराधा और विशाखा आदि शब्दों से राधा का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अत: ब्रह्म की जिस आदि शक्ति का वर्णन वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों, पांचरात्रों, तन्त्रों तथा विविध आर्ष ग्रंथों में पाते हैं, उसी का लीला-हेत्वर्थ प्रकट रूप वर्णन पुराणों में दिखाई पड़ता है। [क०उ०]

पुरुषोत्तम

पुरुषोत्तम जी को तृतीय गृह के द्वितीय उपगृह के तिलकायत आचार्य श्रीब्रजराय ने गोद लिया था। इनका जन्म संवत् 1724 को भाद्रपद शुक्ल एकादशी को हुआ था। इनके पिता पीताम्बर जी थे। पुरुषोत्तम जी सूरत गद्दी के आचार्य थे। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा एवं सरल था। उनका पांडित्य तथा शास्त्रीय ज्ञान अपार था। उन्होंने सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गोसाईं जी के अनेक ग्रंथों पर विद्वत्तापूर्ण 'विवरण' लिखे हैं। उन्हें 'लक्षाविधि ग्रंथकर्ता' माना जाता है। अपने विद्वत्तापूर्ण बहुसंख्यक ग्रंथों के कारण वे 'ग्रंथवारे' अथवा 'लेखवारे' के उपनामों से प्रसिद्ध हैं।

पुरुषोत्तम जी सदैव ग्रंथ रचना और शास्त्रचर्चा में तल्लीन रहते थे। ये शास्त्रार्थ में अनेक सम्प्रदाय के विद्वानों को हराकर 'दिग्विजयी' कहलाये थे। उन्होंने आचार्य जी कृत 'अणु भाष्य' पर 'प्रकाश' नामक विशद व्याख्या तथा 'सुबोधिनी' की गोसाईं जी कृत टिप्पणी पर पांडित्यपूर्ण 'विवरण' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त षोडश ग्रंथ टीका, अवतार वादावली, प्रस्थान रत्नाकर, अधिकरण न्यायमाला, पुरुषोत्तम सहस्रनाम विवृत्ति, विविध बाद संग्रह आदि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। [वं०तै०]

× × ×

श्री पुरुषोत्तम जी का प्राकट्य श्रीमद्बल्लभाचार्य जी की छठी पीढ़ी में वि.सं. 1724 भाद्रपद शुक्ला एकादशी (दान एकादशी) को गोकुल में हुआ था। आपके पिताजी गोस्वामी पीताम्बर जी महाराज थे। आपका ब्रह्म सम्बन्ध कराने वाले गोस्वामी श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज थे। आपके पितृव्य श्री ब्रजराज जी महाराज ने सूरत में श्री बालकृष्ण लाल जी का मंदिर बनवाकर सम्वत् 1726 में ठाकुर जी को पधराया था।

सम्प्रदाय में यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि जब पुरुषोत्तम लाल जी सात वर्ष के ही थे, तब सूरत में एक मायावादी विद्वान संन्यासी आए। उन्होंने शुद्धाद्वैतवादी आचार्यों को शास्त्रार्थ करने का आमन्त्रण दिया। पुरुषोत्तम जी की माताश्री ने उन्हें कहलवा दिया कि तीन दिन बाद मेरे पुत्र पुरुषोत्तम जी आपके साथ शास्त्रार्थ करेंगे। तदुपरान्त माताश्री ने आपको शास्त्रार्थ के लिए तैयार होने की आज्ञा दी, तब आपने ठाकुर जी श्रीबालकृष्ण लाल जी के सान्निध्य में तीन दिनों तक श्री सर्वोत्तम स्तोत्र का अखण्ड जप किया। (कुछ महानुभावों का मत है कि आपने त्रिविध नामावली का जप किया था) ठाकुर जी श्रीबालकृष्ण लाल जी एवं महाप्रभु जी के आशीर्वाद से आपको असाधारण ज्ञान प्राप्त हुआ तथा आपने शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की।

गोस्वामी पुरुषोत्तम जी उद्भट विद्वान और अप्रतिम भाष्यकार थे। आपने विपुल मात्रा में साहित्य सृजन किया है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार आपने नौ लाख श्लोक लिखे हैं। आपने अणुभाष्य पर 'प्रकाश' नामक टीका लिखी। तत्त्वद्वीप निबन्ध पर आवरण भंग नामक लीला टीका लिखी। इसी प्रकार षोडश ग्रन्थों पर भी आपकी टीकाएँ हैं। श्री सर्वोत्तम स्तोत्र, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, द्वात्रिंशदपराधक्षमापन, पत्रावलम्बन आदि ग्रन्थों पर आपकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। सुबोधिनी जी के कुछ अंश पर भी आपकी टीका है। टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त छान्दोग्य आदि बावन उपनिषदों पर भाष्य प्रस्थान रत्नाकर, द्रव्य शुद्धि, अधिकरण माला, भावप्रकाशिका आदि स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। अन्य मतानुयायियों के मतों और आक्षेपों को सप्रमाण युक्ति-युक्त खंडन करने के लिए चौबीस वाद-ग्रन्थ भी लिखे हैं।

लगभग एक सौ ग्रन्थ तो पुरुषोत्तम जी के द्वारा लिखे हुए उपलब्ध हो चुके हैं। कहा जाता है कि आपने कुछ ग्रन्थ अपने पूज्यजनों के नाम से भी लिखे हैं जैसे-पूर्वमीमान्सा द्वितीय अध्याय के प्रथम भावार्थपादभाष्य का विवरण आपने अपने पितामह श्री यदुनाथ जी के नाम से लिखा। पुष्टि प्रवाह, मर्यादा भेद की टीका तथा शास्त्रार्थ प्रकरण का आवरण भंग आपने अपने पिताश्री श्रीपीताम्बर जी के नाम से रचा है तथा भावप्रकाशिका वृत्ति अपने गुरु श्रीकृष्णचन्द्र जी के नाम से प्रस्तुत की है।

श्री पुरुषोत्तम जी की लेखन शैली व्यवस्थित और वैज्ञानिक थी। आपका अध्ययन गंभीर और व्यापक था तथा लेखन और विवेचन की पद्धति तुलनात्मक थी। श्री पुरुषोत्तम जी यथास्थान विराम चिह्नों का उचित समावेश करते थे। आपका अधिकतर समय अध्ययन और लेखन में व्यतीत होता था। आपने अपने जीवन में अनेक समकालीन पंडितों से शास्त्रार्थ किया था जिनमें श्री भास्कर राय और श्री अप्पय दीक्षित विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री गुसांई जी के बाद श्री पुरुषोत्तम जी ही ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने बल्लभ सम्प्रदाय की महत्ता को विभिन्न मतानुयायी शास्त्रीय पंडितों के बीच भली प्रकार प्रस्तुत किया।

आपका लीला प्रवेश संभवत: 70 वर्ष की उम्र में हुआ था। आपके दो पुत्र थे किन्तु आपके सामने ही लीला में पधार गये। अत: आपने अपने भतीजे को गोद लिया। आपका प्रस्थान रत्नाकर नामक ग्रन्थ डॉ. दासगुप्ता, श्री नर्मदाशंकर जी आदि विद्वानों के शुद्धाद्वैत विवेचन का आधार बना है। वास्तव में पुरुषोत्तम जी की सारस्वत साधना और नामसेवा वन्दनीय है। गोस्वामी हरिराय जी पुष्टिमार्ग के प्रमेयवाद के पुरस्कर्ता थे तो पुरुषोत्तम जी प्रमाणवाद के प्रतिष्ठापक थे। [ना०ला०म०]

पुरुषोत्तमाचार्य

श्रीविश्वाचार्य जी के प्रधान शिष्य श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी के प्राकट्य की कथा के अनुसार, एक बार वैशंपायन जी ने श्री विश्वाचार्य जी से उनके उत्तराधिकारी के विषय में जिज्ञासा की। तब उन्होंने कहा कि कान्यकुब्ज द्विज निर्वाणभट्ट का पुत्र इस गद्दी का उत्तराधिकारी होगा। निर्वाण भट्ट के पुत्र तो उत्पन्न हुआ किंतु उसने स्तनपान नहीं किया। पुत्र के जीवन पर संदेह कर पिता ने पुरुषोत्तमाचार्य जी को श्रीविश्वाचार्य जी के चरणों में समर्पित कर दिया

और पिता-पुत्र ने वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर ली। पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु चरणों में निवेदित होकर समस्त वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया। इसका वर्णन किशोरदास जी कृत निजमत सिद्धांत में श्री आसुधीर और देवदत्त जी के संवाद में है। किशोरदास जी ने श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी को शांत, सरल, सदा प्रसन्नचित्त तथा शास्त्र पारंगत आदि गुणों से निधान वर्णित किया है। इन्होंने वेदांत रत्न मंजूषा आदि ग्रंथों की रचना की। वेदांत रत्न मंजूषा निंबार्काचार्य कृत वेदांत कामधेनु का वृहद विवरण है। इन्होंने दशश्लोकी और रहस्य प्रबंध का सर्वप्रथम विवरण किया। इसलिए इनका एक नाम विवरणकार भी है। राधाकृष्ण युगल की निकुंज उपासना में इनका स्वरूप 'उत्तमा सखी' का है। पुरुषोत्तमाचार्य जी का पाटोत्सव चैत्र शुक्ल षष्ठी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

पुस्तक ठौर

अकबर के शासनकाल में वृन्दावन के राधादामोदर मंदिर में जीव गोस्वामी का अपना भव्य पुस्तकालय था, जो चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी गौड़ीय साधकों के मध्य "पुस्तक ठौर" के नाम से जाना जाता था। यह पुस्तक ठौर जीव गोस्वामी द्वारा पाण्डुलिपियों के सृजन, शोध एवं प्रतिलिपिकरण (प्रकाशन) की एक समृद्ध इकाई थी जिसने उस जमाने में आज के विश्वविद्यालयों की भाँति ज्ञान-सम्पदा का संरक्षण तथा परिवर्धन किया। गौड़ीय वैष्णवों की इस पुस्तक ठौर में ग्रंथ सृजन के साथ ही प्रतिलिपिकरण तथा पाण्डुलिपियों के उत्पादन का कार्य भी किया जाता था। संदर्भों के अनुसार रूप सनातन एवं रघुनाथ दास गोस्वामी के बाद यह पुस्तकालय जीव गोस्वामी के नियंत्रण में रहा तथा इनके बाद इसके अधिकारी कृष्णदास पुजारी रहे तथा यहाँ से तैयार हुयी पाण्डुलिपियाँ न केवल उत्तर भारत बल्कि बंगाल एवं उड़ीसा तक प्रसारित हुयीं। सर्वविदित है जीव गोस्वामी से अकबर खासा प्रभावित था और बादशाह के द्वारा इन्हें भूदान के रूप में काफी जमीन प्राप्त हुयी। इन साधकों को ग्रंथ लिखने के लिये कागज की आपूर्ति एवं संदर्भों के शोध संकलन हेतु पुराणों की प्रतियाँ भी अकबर के द्वारा बनारस से मँगाकर दी गईं। कालान्तर में वृन्दावन की इस पुस्तक ठौर (राधादामोदर) मंदिर की पाण्डुलिपियाँ वृन्दावन शोध संस्थान के संग्रह में आईं। संस्थान के संग्रह में पाण्डुलिपि के रूप में विद्यमान 'गौड़ीय वैष्णवों की पुस्तक ठौर' का सूचीपत्र इनके ग्रंथागार की तत्कालीन भव्यता का बोध कराने वाला है। जिसके माध्यम से इस पुस्तक ठौर में आने वाले सुधीजन यहाँ की पाण्डुलिपियों तक अपनी पहुँच सहजता से बना पाते होंगे। वृन्दावन शोध संस्थान को इस पुस्तक ठौर से अनेकों महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुयीं। संस्थान के ग्रंथागार में इसी से संबंधित वि०सं०1694 का अन्य दस्तावेज दृष्टिगोचर होता है जिसमें गौड़ीय संत महानुभावों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पुस्तक ठौर के हस्तांतरण की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। इसी क्रम में यहाँ एक दस्तावेज वि०सं० 1746 का प्राप्त होता है जो मंदिर की जमीन-जायदाद के झगड़े से संबंधित है। जिसकी इबारत में गोस्वामी गोपीरमण जी ने पंचों को बुलाकर पंचायत में अपनी लिखित विज्ञप्ति प्रस्तुत की है। इस दस्तावेज के अन्तर्गत उन्होंने अपनी पूर्व परम्पराओं तथा आचार्यों का भी उल्लेख किया है। इस दस्तावेज में भी पुस्तक संग्रह की परम्परा को दुहराते हुये अपने समय तक इसकी विद्यमानता को उल्लिखित किया है। [प्र०श०]

पुष्टिमार्ग

पुष्टि का अर्थ है-कृपा, अनुग्रह, अत: पुष्टिमार्ग को कृपा मार्ग भी कहा जाता है। पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भागवत पुराण के 'पोषणं तदनुग्रह:' से लिया गया है जिसका अर्थ है भगवान का अनुग्रह अथवा पोषण ही 'पुष्टि' है। वल्लभाचार्य जी ने इसी के आधार पर अपना पुष्टि मार्ग चलाया। इसका मूल उपनिषदों में पाया जाता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि-परमात्मा जिस पर अनुग्रह करता है उसी को अपना साक्षात्कार कराता है।

श्री हरिराय जी ने 'पुष्टिमार्ग लक्षणनि' में पुष्टिमार्ग को व्याख्यायित किया है-जिस मार्ग में लौकिक तथा

अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप प्राप्ति में साधन है, अथवा यहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में सब सिद्धियों को हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत विरह अवस्था में भगवान की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और भावों के सहित देहादि का भगवान को समर्पण है वही पुष्टिमार्ग कहलाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'सूरदास' ग्रंथ में वर्णित विचार पुष्टिमार्ग के मूल केन्द्रीय भाव को और अधिक स्पष्टता से प्रकट करते हैं-पुष्टिमार्ग में आने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाये। उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है जब साधक अपने को भगवान के चरणों में समर्पित कर दे। इसी समर्पण से इस मार्ग का प्रारम्भ होता है।

यद्यपि भगवान सब जीवों पर कृपा करते हैं किन्तु जो उनकी भक्ति करता है उस पर उनकी विशेष कृपा होती है और वह उन्हें अन्य से अधिक प्रिय होता है। पुष्टि मार्ग के इस कृपारूपी महाफल की प्राप्ति हेतु यह आवश्यक है कि जीव इस रस स्वरूप, आनन्द स्वरूप, सारस्वत कल्प में श्री गोकुल प्रादुर्भूत श्रीकृष्ण से अपना अनन्य सम्बन्ध स्थापित करे। [क०उ०]

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद

यह ग्रंथ वल्लभ के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण ग्रंथों में से है। जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर यह विशेष प्रकाश डालता है। वल्लभ ने इसमें जीवों के वर्गीकरण पर विचार किया है। सर्वप्रथम वल्लभ ने पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह मार्गों के स्वरूप का विवेचन किया है। तत्पश्चात् इन साधना मार्गों में अभिरुचि की दृष्टि के जीवों का पुष्टिजीव, मर्यादाजीव तथा प्रवाहजीव के रूप में वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण के अनुसार जीवों की विशिष्ट प्रकृति और प्रवृत्तियों की भी समीक्षा की गई है। यह ग्रंथ अपूर्ण है। अंत के तीन-चार श्लोक उपलब्ध नहीं होते। इस ग्रंथ में सत्रह श्लोक हैं। [क०उ०]

पुष्टिमार्गीय सेवा (भोग राग)

पुष्टिमार्गीय सेवा राग-भोग और श्रृंगार प्रधान मानी जाती है। इस कथन को प्राय: सही अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाता। परिणाम यह है कि भगवत सेवा में वैभव और आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन को महत्त्व मिलने लगता है। राग का अर्थ एक ओर तो सांसारिक राग को भगवत संबंध से युक्त कर भगवद रागमय बना देना है, दूसरी ओर स्वर साधनात्मक सेवा है। भोग का अर्थ जो भी कुछ सामग्री उपलब्ध है वह सब भगवान को अर्पित की जाय और उसे प्रसाद रूप में ग्रहण की जावे। श्रृंगार का अर्थ भी यही है कि यथाशक्ति भगवान के स्वरूप का सुन्दरतम श्रृंगार किया जाय। उसके लिए वैभव का प्रदर्शन और ताम-झाम अपेक्षित नहीं है। भगवान के लिए तो पुष्पमाला, गुंजे की माला और मोरपंख भी पर्याप्त हो सकते हैं।

पुष्टिमार्ग निस्साधनों का मार्ग है, भगवान साधनों से प्रसन्न नहीं होते। महाप्रभु जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि ठाकुरजी प्रेम के भूखे हैं, वे न तो धन से रीझते हैं और न आचार क्रिया से किसी के वश में होते हैं। संतदास चोपड़ा की वार्ता में यह आता है कि जब वे निश्कंचन हो गए तो ढाई पैसे रोज से भगवत सेवा करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे। गदाधर दास के घर में कोई खाद्य पदार्थ न होने के कारण उन्होंने मंगला से लेकर शयन तक की सेवा में केवल जल ही धरा था। ऐसे निस्साधनों पर पुष्टिप्रभु ने असीम अनुग्रह किया था।

राग प्रधानता साधना का तात्पर्य है-हृदय की रागात्मक प्रवृत्ति प्रभु की ओर ही हो तथा कलात्मक साधना का प्रभु सेवा में विनियोग हो। शृंगार मानव की सौन्दर्योन्मुख प्रवृत्ति को भगवत अभिमुख करता है। अपने शरीर को सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति की समाप्ति होती है। प्रभु का शृंगार ही मन को लुभाने-रमाने लगता है। जो भी उपलब्ध है, चाहे वह स्वल्प मूल्य की वस्तु हो या अतुलनीय मूल्य की वस्तु हो, उसकी सार्थकता इसी में है कि वो प्रभु को समर्पित हो। भोग मानव की भौतिक लिप्सा के परिष्कार, उन्नयन और दैवीकरण का साधन हो। भोग, पदार्थों और भोज्य पदार्थों से आसक्ति हटाने का सुगम मार्ग है। जो भी इच्छा हो वह प्रभु के लिए ही हो, अपने लिए, अपने स्वाद व पोषण के लिए मानव की प्रवृत्ति न हो।

ठाकुर जी के वस्त्राभूषण और उनकी साज-सज्जा को 'शृंगार' कहते हैं। श्रीबल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथजी के शृंगार के केवल दो उपकरण 'पाग' और 'मुकुट' थे। श्रीविट्ठलनाथ जी ने उनका विस्तार करके इन दो उपकरणों के स्थान पर आठ उपकरण प्रचलित किये थे। वे आठों उपकरण-मुकुट, सेहरा, टिपारा, कुल्हा, पाग, दुमाला, फेंटा और पगा (ग्वाल पगा) हैं। ये आठों उपकरण ठाकुरजी के श्रीमस्तक के शृंगार हैं। इनके साथ ही ठाकुर जी और स्वामिनी जी के मस्तक, मुख, कंठ, हस्त, कटि, चरणादि के अनेक शृंगार किये जाते हैं। इनमें बहुसंख्यक आभूषणों का उपयोग किया जाता है।

श्री ठाकुर जी और स्वामिनी जी के आभूषणों के साथ उनके विविध भांति के वस्त्रों की भी व्यवस्था की गई है, जो ऋतुओं के अनुसार बदलती रहती है। जैसे शीतकाल में भारी, मोटे वस्त्र तथा रुई के गद्दल आदि होते हैं और उष्ण काल में हल्के, पतले तथा झीने वस्त्रादि होते हैं। इन वस्त्राभूषणों को किस प्रकार धारण कराया जाय, इसका एक सुनियोजित क्रम निर्धारित किया गया है। मुकुट की लटक किस ओर हो, इसका भी निश्चित विधान है।

ठाकुर जी के साथ ही मंदिर की साज-सज्जा के लिए पर्दे, पिछवाई आदि का भी आवश्यक प्रबन्ध किया गया है। इस साज-सज्जा में भी ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। शृंगार के विस्तार से इस सम्प्रदाय में कई महत्त्वपूर्ण कलाओं की उन्नति में बड़ा योग दिया है।

खान-पान आदि के विविध पदार्थों को सुन्दर और शुद्ध रूप में प्रस्तुत कर उन्हें ठाकुर जी के समर्पण करने को 'भोग' कहते हैं। समर्पित पदार्थ 'प्रसाद' कहलाता है। श्रीबल्लभाचार्य जी के समय में सखड़ी, अनसखड़ी और दूध की कतिपय सामग्री तथा फल-मेवा का भोग ही भगवान श्रीनाथ जी को समर्पित किया जाता था। श्री विट्ठलनाथ जी ने भोग का भी बड़ा विस्तार किया था। उन्होंने पचासों भोज्य पदार्थों का ठाकुर जी की सेवा में विनियोग कर एक ऐसी समुन्नत पाक कला को जन्म दिया, जो इस सम्प्रदाय की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

इस सम्प्रदाय की पाक कला का पूरा वैभवन कुनवाड़ा, अन्नकूट और उनसे भी बढ़कर छप्पन भोग की झाँकियों में दिखलाई देता है। यदि श्री विट्ठलनाथ जी उनकी व्यवस्था न करते, तो आज बीसों प्रकार की भोज्य सामग्रियों के बनाने की विधि ही लुप्त हो गई होती। साम्प्रदायिक उल्लेखों के अनुसार श्री विट्ठलनाथ जी ने सम्वत् 1615 में श्रीनाथ जी का प्रथम छप्पन भोग कराया था, तभी से इस सम्प्रदाय में छप्पन भोग करने की प्रथा प्रचलित हुई है। सम्वत् 1640 में श्री विट्ठलनाथ जी ने गोकुल में एक वृहत छप्पन भोग किया था, जिसमें गोकुल और गोपालपुर के सभी सेव्य स्वरूप (नवनिधि) पधराये गये थे। शृंगार और भोग की साम्प्रदायिक भावना का विशद विवेचन श्री गोकुलनाथ जी कथित 'रहस्य भावना की वार्ता' में हुआ है।

ठाकुर जी की सेवा में राग का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। राग में गायन करने से मन शीघ्र ही एकाग्र होता है। इसलिए इसे निरोध का साधक माना गया है। श्रीबल्लभाचार्य जी ने निरोधमयी पुष्टिमार्गीय सेवा में राग सहित कीर्तन करने का आवश्यक विधान किया था। इसलिए सब कुछ छोड़कर चित्त के निरोधार्थ सदैव प्रभु का गुणगान करना उचित है।

श्रीबल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा के आरंभिक दिन से ही उनके कीर्तन-गान की व्यवस्था की थी। उन्होंने

सर्वप्रथम कुम्भनदास को और फिर सूरदास को तथा परमानन्द दास को श्रीनाथ जी का कीर्तनियाँ नियुक्त किया था। उन्होंने श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में समय और ऋतु के रागों के द्वारा ही कीर्तन करने का जो क्रम निर्धारित किया था, वह पुष्टि सम्प्रदायी मंदिरों में अभी तक यथावत प्रचलित है।

श्री विट्ठलनाथ जी ने सम्वत् 1602 में ही अष्टछाप की स्थापना कर दी थी, यद्यपि तब तक उन्होंने आचार्यत्व भी ग्रहण नहीं किया था। इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय सेवा में 'राग' को कितना महत्त्वपूर्ण माना गया है। श्रीविट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में उनकी लीला-भावना के अनुसार समय और ऋतु के रागों द्वारा कीर्तन करने की व्यवस्था की थी।

श्री विट्ठलनाथ जी के समय में श्रीनाथ जी की कीर्तन प्रणाली को सुव्यवस्थित और विस्तृत किया गया था। श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्यों में भी कई उच्च कोटि के संगीतज्ञ और भक्त कवि थे। इसलिए उन्होंने अपने पिताजी के पूर्वोक्त चारों कीर्तनकारों के साथ अपने चार संगीतज्ञ शिष्यों को सम्मिलित कर अष्टछाप की स्थापना की थी। अष्टछाप के उक्त कीर्तनकार आशुकवि, महान संगीतज्ञ और रससिद्ध गायक थे। वे झाँकियों की लीला भावना तथा समय और ऋतु के अनुसार अपने हार्दिक भावों को तत्काल पद के रूप में प्रस्तुत कर उनका सामयिक रागों में गायन करते थे।

श्री विट्ठलनाथ जी के तिरोधान काल सम्वत् 1642 के पहले हो गया था। इस प्रकार श्रीविट्ठलनाथ जी के अंतिम काल तक वे सभी महानुभाव अपने भौतिक शरीर को त्याग कर दिव्य देह द्वारा श्रीनाथ जी की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गए। [ना०ला०म०]

पुष्टिमार्ग सेवा पद्धति (अष्टयाम)

पुष्टिमार्ग में त्रिविध सेवा का विधान किया गया है-तनुजा, वित्तजा एवं मानसी। पुष्टिमार्गीय जीवों का सनातन कर्तव्य है भगवान कृष्ण की सेवा करना। चित्त का भगवत प्रवण हो जाना, भगवान में अविच्छिन्न रूप से जुड़ जाना और उनमें लीन हो जाना ही सच्ची सेवा है। इसीलिए मानसी सेवा को सर्वोच्च सेवा कहा गया है। चित्त को भगवान के साथ तन्मय करने के लिए अपने तन और धन को भी भगवत सेवा में लगाना चाहिए, यही तनुवित्तजा सेवा मानसी सेवा की सिद्धि के लिए उपयोगी साधन बन जाती है।

तनुजा और वित्तजा सेवा को एक-दूसरे से असम्बद्ध नहीं मानना चाहिए। 'तनुवित्तजा' एक समस्त पद है अर्थात् तन और धन दोनों को भगवद् सेवा में साथ-साथ विनियोग होना चाहिए। जिस वित्तजा सेवा के साथ तन का शारीरिक श्रम का सहयोग नहीं है, वह सेवा की कोटि में नहीं आ सकती। वस्तुत: तनुजा सेवा से शरीर की शुद्धि होती है और 'अहंता' मिटती है। इसलिए तनुजा और वित्तजा सेवा साथ-साथ की जानी चाहिए। इनमें भी प्रधानता तनुजा सेवा की है। इस प्रकार मानसी सेवा साध्य और और तनु-वित्तजा सेवा साधनरूपा है।

पुष्टिमार्गीय सेवक भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की आकांक्षा न रखकर सभी कर्म भगवान के लिए भगवत अर्पण बुद्धि से ही करता है। इसलिए उसके सभी कर्म भगवत धर्म के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि पुष्टिमार्गीय सेवा में सर्वोपरि तत्त्व है अनन्य प्रेम। विधि-विधान इत्यादि गौण और महत्त्वहीन हैं।

श्रीमद् बल्लभाचार्य जी ने अष्टयाम सेवा प्रचलित की। अष्टयाम सेवा भगवान श्रीकृष्ण के प्रात:काल जागरण से लेकर रात्रि को शयन तक की दिनचर्या से सम्बद्ध है। सेवक प्रत्येक पहर में अपने सेव्य को सेवा के माध्यम से सुख पहुँचाना अपने जीवन की सार्थकता मानता है।

मंगला-प्रात:काल निद्रा से जागते ही भगवद् स्मरण करता है। दास्य धर्म की प्रतीक तुलसी माला जो कि अनिवार्यत: प्रत्येक वैष्णव के गले में होती है, दर्शन करता है। तत्पश्चात् स्नान करता है। अपरस के वस्त्र धारण करता है। भगवान के चरणों की आकृति वाला ऊर्ध्वपुंड्र तिलक कुंकुम से लगाता है। श्री यमुना जी की रेणु मुख में धारण

करता है तथा आँखों को लगाता है। तत्पश्चात् जहाँ ठाकुरजी विराजते हैं उस स्थल पर जाकर सोहनी (बुहारी) करता है। इसके बाद शंखनाद किया जाता है, साथ ही तीन बार घंटानाद किया जाता है। तीन बार ध्वनि करना त्रिगुण सृष्टि के दोष के परिहार का प्रतीक भी है।

शंख ध्वनि और घंटानाद सुनकर प्रभु नंदालय में माता की गोद में आकर विराजते हैं। पुष्टिमार्ग में सेवा के अन्तर्गत ब्रज भक्तों की भी भावना की जाती है। जब प्रभु जागरण के उपरान्त विराजते हैं तब ऋषिरूपा गोपियाँ बालभोग, मंगलभोग धरती हैं और श्रुतिरूपा गोपिकाएँ दर्शन करके मंगल आरती करके अपने घरों को लौट जाती हैं। पुष्टिमार्ग में प्रभु को सुहाते गर्म पानी से स्नान कराया जाता है।

शृंगार-स्नान के उपरान्त प्रभु को शृंगार कराया जाता है। बालकृष्ण डरकर भाग न जाएँ, मचल न जाएँ इसलिए मेवा-मिष्ठान्न उन्हें मनाने के लिए रखा जाता है तथा गायन-वादन आदि के द्वारा प्रभु का मन बहलाया जाता है। इसके पश्चात् माता प्रभु को ग्वाल-बालों के साथ खेलने के लिए भेज देती है। शृंगार के बाद जब बालकृष्ण बालकों के साथ क्रीड़ा करते हैं तब ब्रज ललनाएँ उन्हें अपने घर ले जाकर विभिन्न भोग आरोगती हैं। कोई मक्खन-मिश्री आरोगती हैं तो कोई दूध, फल-फूल आदि। यह विभिन्न प्रकार की सामग्री गोपी-वल्लभ भोग में आती है।

ग्वाल-ग्वाल-बालों के साथ खेलते हुए तथा ब्रज-ललनाओं को निहाल करते हुए ब्रजांगनाओं द्वारा समर्पित गोपी-वल्लभ भोग आरोगकर प्रभु पुनः नन्दालय में पधारते हैं। तब माता उन्हें दूध पिलाती है। इस समय घैया, माखन-चोरी के उलाहना आदि के पद गाए जाते हैं।

राजभोग-भगवान श्रीकृष्ण शीतकाल में नन्दालय में और अन्य काल में वन में भोग आरोगते हैं। ये भोग राजभोग कहा जाता है, जो कि चार प्रकार का हो सकता है-नन्दालय का राजभोग, वन का भोग अथवा छाक, निकुंज का राजभोग। राजभोग के बाद बीड़ी, आरसी के उपरान्त अनोसर होता है। अनोसर वह समय है जब प्रभु राजभोग के उपरान्त किसी ग्वाल की गोद में सिर धरकर लेट जाते हैं। कोई भक्त पंखा झलता है, तो कोई चरण सेवा करता है।

उत्थापन-अपराह्न में ग्वाल-बाल प्रभु को जगाते हैं। शंख ध्वनि कर अन्य ग्वालों को तथा गायों को एकत्र करते हैं। यह उत्थापन की सेवा कही गयी है।

भोग-इसी समय पुलिन्दनन्दनी फल-फूल लाती है और प्रभु ग्वाल-बालों में वितरित करते हुए स्वयं भोग आरोगते हैं। इसके बाद गायों और गोप मंडली के साथ प्रभु ब्रज की ओर पधारते हैं। आगे गायें, बायें गायें, दायें गायें और बीच में हैं श्रीकृष्ण। चारों ओर गोरज उठ रही है और गायों के गले में बँधी हुई घंटियाँ निनादित हो रही हैं। इस प्रकार कृष्ण-कन्हैया घर की ओर लौटते हैं।

संध्या आरती-गौरज से सनी हुई घुँघराली अलकों वाले चितवन और मुस्कान युक्त मुख वाले श्रीकृष्ण की बंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने घर के काम छोड़कर श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए बाहर निकलती हैं। भगवान के मुखारविन्द के दर्शन कर उन्हें शांति मिलती है और प्रभु नन्दालय के द्वार पर आ जाते हैं। यहाँ माता संध्या आरती करने के लिए द्वार पर खड़ी है। माता आरती करती है, प्रभु गौशाला में पधारते हैं, फिर घर में पधारते हैं और सद्य दूध आरोगते हैं।

शयन-संध्या आरती के बाद प्रभु के वस्त्र और शृंगार बदले जाते हैं। इसके उपरान्त माता प्रभु को ब्यारू कराती है। सायंकालीन भोजन के उपरान्त शयन आरती की जाती है। इसके बाद माता यशोदा और रोहिणी जी लाड़-दुलार से उन्हें शैया पर सुलाती हैं। इस प्रकार पुष्टिमार्ग की अष्टयामी सेवा सम्पन्न होती है।

पुष्टिमार्ग की सेवा प्रणाली का मूल श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत के आधार पर ही भगवत सेवा का स्वरूप निर्धारित किया गया है। भगवत सेवा का फल भगवान का साक्षात्कार ही है। भगवान के प्राकट्य का असाधारण साधन अनन्य प्रेम है। [ना०ला०म०]

प्रपन्नकल्पवल्ली

श्रीनिम्बार्काचार्य के प्रमुख ग्रंथों में प्रपन्नकल्पवल्ली का नाम भी आता है। इस ग्रंथ में निम्बार्काचार्य द्वारा शरणागति एवं दीक्षात्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ पर आचार्य सुन्दर भट्ट जी ने 'प्रपन्न सुरत मंजरी' नाम से टीका की है। [वै०ना०झा०]

प्रबोधानन्द सरस्वती

ये महाप्रभु चैतन्य के अनुगत परम विद्वान् संन्यासी थे। सार्वभौम भट्टाचार्य की भाँति इनका हृदय-परिवर्तन हुआ था। ये आन्ध्र प्रदेश के वेलङ्गुरी के रहने वाले थे। नरहरि चक्रवर्ती ने 'भक्तिरत्नाकर' नामक बंगला ग्रन्थ में इन्हें गौरचन्द्र-प्राणधन बताया है। स्वामी मनोहरदास कृत 'अनुरागवल्ली' से ज्ञात होता है कि ये गृहस्थ थे। 'चैतन्य चन्द्रामृतम्' की 'रसास्वादिनी टीका' में इन्हें वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा, आगमशास्त्र, महापुराण, इतिहास, पञ्चरात्र, अलंकार, काव्य, नाटकादि सिद्धान्तों में निपुण बताया गया है। 'वृन्दावनमहिमामृतम्', 'संगीतमाधवम्', 'रासप्रबन्ध' के सहस्राधिक श्लोक इनकी भाषा और छन्द पाण्डित्य के प्रतीक हैं। गोपालतापनी की 'कृष्णवल्लभा टीका' दर्शनशास्त्र पर इनके सूक्ष्म अधिकार को व्यक्त करती है। काशीस्थ 'विन्दुमाधव मन्दिर' के निकट एक मठ में वास करते हुए ये सहस्रों शिष्यों को वेदान्त का उपदेश दिया करते थे। वृन्दावन आकर इन्होंने भक्ति-ग्रन्थों का प्रणयन किया। महाप्रभु की कृपा से ये प्रकाशानन्द से प्रबोधानन्द बन गये। इनकी समाधि वृन्दावन के कालियदह घाट पर स्थित है। भक्तमाल के प्राचीन टीकाकार प्रियादास ने इनके विषय में लिखा है। [वि०कृ०भ०]

प्रपत्ति मार्ग

रामानुज सम्प्रदाय के भक्ति मार्ग का ही विकसित स्वरूप प्रपत्ति मार्ग कहलाता है। प्रपत्ति का अर्थ है 'शरणागति'। ईश्वर ने अपनी करुणाशीलता के कारण प्रपत्ति का मार्ग प्रकट किया है, जिसमें बिना किसी विशेष प्रयास के आत्मसमर्पण किया जा सकता है। प्रपत्ति निष्क्रिय सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। इसमें किसी जाति, वर्ण अथवा वंश की अपेक्षा नहीं।

रामानुजीय वैष्णव विचारधारा की दो शाखाएँ हैं- (1) बड़क्कलइ और (2) तेनकलइ। बड़क्कलइ शाखा में भक्ति को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। इस शाखा में भक्ति के मर्कट-न्याय सिद्धांत का अनुसरण किया जाता है। जिसके अनुसार साधक की तुलना कपि-शिशु से की जाती है जो अपनी वानरी माँ को पकड़े रहता है और वह उसे लेकर कूदती रहती है। तेनकलइ शाखा में प्रपत्ति पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें भक्ति के मार्जार न्यास के सिद्धांत का अनुसरण किया जाता है। जिसमें साधक की तुलना मार्जार शिशु से की जाती है जो बिल्कुल निष्क्रिय रहता है और उसे उसकी माँ अपने मुख में दबाकर चलती है। इन दोनों ही शाखाओं में अपने उपास्य देव की दृष्टि क्रमशः 'सहेतुक कृपा' तथा 'निर्हेतुक कृपा' की रहती है। इस विचार का और भी विकसित रूप 'आचार्याभिमान' है। अर्थात् जिस आचार्य द्वारा ईश्वर का मार्ग प्रदर्शित किया जाता है सर्वप्रथम उसके सम्मुख आत्मसमर्पण की आवश्यकता होती है।

प्रपत्ति मार्ग का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में 13वीं शताब्दी में हुआ था। प्रारम्भ में यह मार्ग दक्षिण भारत में प्रचलित था। परवर्ती काल में इसका प्रचार उत्तर भारत में भी हुआ। [क०उ०]

प्रमेयरत्नावली

संक्षिप्त कलेवर होने के अनन्तर भी प्रमेयरत्नावली न केवल बलदेव विद्याभूषण अपितु समूचे गौड़ीय वेदान्त

परम्परा की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसकी विशेषता यह है कि चैतन्यमतीय प्रमेयों को अपना विवेच्य बनाती है। स्व. बाबा कृष्णदास (कुसुम सरोवर वाले) ने इसे प्रकरण ग्रंथ कहा है। इसमें कुल 9 प्रमेय हैं।

प्रथम प्रमेय श्रीकृष्ण की परेशता को उद्घाटित करता है। ब्रह्म कृष्ण के स्वरूप का चिन्तन शब्द प्रमाण के आधार पर यहाँ हुआ है। परमात्मा वेद-बोध्य है-यह द्वितीय प्रमेय की विचार सामग्री है। इसमें शास्त्रों (वेद आदि) के ईश्वर-बोध में हेतु माना गया है। आचार्य का ऐसा मन्तव्य है कि शास्त्र एवम् ईश्वर अस्तित्त्व बोध हेतु एक दूसरे पर निर्भर हैं। अत: दोनों की उपयोगिता है।

विश्व-सत्यता का कथन तृतीय प्रमेय में हुआ है। ब्रह्म और जीव की पारस्परिक मित्रता चतुर्थ प्रमेय का विषय है। भाष्य एवं भाष्यपीठिकावत् यहाँ भी भेद प्रत्यायनार्थ शास्त्रीय षट् अंगों की चर्चा की गई है। पृथकता के बावजूद दुनिया के पदार्थ ईश्वर से (नितान्त) विलग नहीं हैं। ऐसा रत्नावलीकार का उद्घोष है। ईश्वर और जीव की उपास्योपासकता का चित्रण पंचम प्रमेय करता है।

जीवों की पारस्परिक तारतम्यता षष्ठ-प्रमेय का निबन्धन है। जीवात्माओं की पृथकता का कारण उनके कर्माचरणों की भिन्नता है। भगवान श्रीकृष्ण का साक्षात्कार ही मोक्ष है। यह सप्तम प्रमेय का विषय है। अष्टम प्रमेय मोक्ष के उपाय से सम्बद्ध है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ (ऐकान्तिक) उपाय (साधन) भक्ति है। जीवात्मा में पंच संस्कारों की उत्पत्ति भक्ति देवी के अनुग्रह से ही हो पाता है।

नवम-प्रमेय प्रमाणों पर प्रकाश डालता है। इसको इसीलिए प्रमाण प्रकरणम् के नाम से जाना भी जाता है। श्रुति प्रत्यक्ष मेतिह्यमनुमानम् चतुष्टयम् (भागवत-11/19/17) में उक्त चार प्रमाणों को, प्रमेयरत्नावली ने तीन (प्रत्यक्ष, अनुमति और शब्द) प्रमाणों में समाहित स्वीकार किया है। श्रुति अथवा शब्द में प्रामाण्य के औत्कृष्ट्य का अभिधान है। इसका प्रकाशन बंग एवं देवनागरी दोनों लिपियों में बहुत पहले से होता रहा है। बंगानुवाद के साथ यह बंगला में गोकुलचन्द्र गोस्वामी जी के द्वारा प्रकाशित की गई थी। हिन्दी अनुवाद के साथ वृन्दावन के श्रीकृष्ण गोस्वामी के द्वारा भी देवनागरी में इसे प्रकाश में लाया गया था। अंग्रेजी अनुवाद के साथ इलाहाबाद से श्रीशरदचन्द बसु ने भी इसे प्रकाशित किया था। दीनबन्धु दास वैष्णव द्वारा राधारमण योगपीठ, वृन्दावन से भी यह देवनागरी में प्रकाशित हुई थी।

[क०उ०]

× × ×

इस ग्रंथ के लेखक बलदेव विद्याभूषण हैं। इस ग्रंथ की एक प्रति बंगाल एशियाटिक सोसाइटी कोलकाता में रखी हुई है। मूल विषय पृष्ठ के बीच में है तथा ऊपर-नीचे टीका लिखी गई है। ग्रंथ स्थानीय कागज से निर्मित है, इसका आकार $12\frac{1}{4}\times4\frac{3}{2}$ है, इसकी पत्र संख्या 20 है तथा प्रत्येक पृष्ठ पर 11 पंक्तियाँ हैं। इसकी कुल श्लोक संख्या 650 है। ग्रंथ नागरी लिपि में, गद्य-पद्य में लिखित है। इसमें प्रभावशाली ढंग से परब्रह्म श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण भाव का वर्णन है। टीका में लेखक का दृष्टिकोण ब्रह्मसूत्र के भाष्य का समावेश करना है। लेखक ने इसे गोविन्दभाष्य कहा है। ग्रंथ में छठे श्लोक के पश्चात् लेखक के संप्रदाय में गुरु परम्परा का वर्णन है। इस ग्रंथ में वेदान्त वागीश द्वारा की गई व्याख्या भी दी गई है जिसका शीर्षक कान्तिमाला है। [सू०या०]

प्रयाग पीठ

श्री वासुदेव जी महाराज-स्वामी श्रीहरिव्यास देव जी महाराज ने अपने सम्प्रदाय में नयी चेतना दी। विरक्त गादी व साथ ही गृहस्थ गादी की भी स्थापना की। ये गृहस्थ आचार्य हरिव्यासी नाम से वैष्णवों में प्रसिद्ध हैं। यह गादी 12 अन्य निम्बार्क स्थलों से भिन्न है। इसकी रीति-नीति स्वामी श्रीहरिव्यास देव जी के द्वारा बनाई गयी पद्धति से

चलती है। नाद-बिन्दु की यह परम्परा परिवार में ही गुरु-शिष्य विधान की है। स्वामी जी की भाँति ही श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री वल्लभाचार्य जी, श्रीहित हरिवंश आदि संतों ने भी गृहस्थ आचार्य परम्पराओं को प्रचलित किया।

स्वामी श्री हरिव्यास देव जी महाराज ने नारनौल निवासी अपने भ्रातृज स्वामी परसुराम देव जी को विरक्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुये धर्म प्रचार की आज्ञा प्रदान कर विरक्त गादी का प्रतिनिधि नियुक्त किया और शालिग्राम विग्रह श्री सर्वेश्वर जी जो अपने प्रवास काल में नित्य सेवा के लिए अपने कंठ (गले) में धारण करते थे, सेवा प्रदान की। साथ ही स्वामी परसुराम देव जी के अनुज शिष्य स्वामी श्री वासुदेव जी को गृहस्थ गादी में अभिषिक्त करते हुये आचार्य पद से विभूषित किया और भगवान श्री गोपीजनवल्लभ देव जी की सेवा प्रदान करते हुये श्री निम्बार्क भगवान की प्रेमोमयी रसोपासना का प्रचार करने की आज्ञा दी।

परम संत एवं समकालीन विद्वानों में अद्वितीय विद्वान प्रतापी आचार्य स्वामी श्री वासुदेव जी महाराज द्वारा गुरुकृपा का प्रसाद प्राप्त कर भगवान श्री गोपीजनवल्लभ जी को साथ लेकर अपने जन्म स्थान नारनौल पधारे। वहाँ की जनता, विद्वानों और शिष्यों ने आपका हार्दिक स्वागत किया। आपश्री ने अपने निज भवन के श्री बाँकेबिहारी जी के सान्निध्य में रहते हुये, अपने प्रिय शिष्य श्री मथुरामल जी गर्ग से भगवान श्री गोपीजनवल्लभ जी के लिए ब्रज में यमुना पुलिन के गोवर्धन में भव्य प्रासाद (मंदिर) निर्माण कराया और वहीं सेवा निधि के साथ निकुंजोपासना में संलग्न हो गये।

आप श्री ने आचार्य श्री निम्बार्क की पराभक्ति प्रधान रसोपासना को ही अपनाते हुये माधुर्य भावपूर्ण 'भक्ति चंद्रिका' ग्रंथ संस्कृत में रचा। इस ग्रंथ में भगवान श्री गोपीजनवल्लभ देव जी की माधुर्य भाव संविलित अष्टयाम सेवा एवं वर्षोत्सव के लिए शास्त्रीय प्रमाण के साथ विधान का निरूपण किया। सरल एवं भावपूर्ण पदों की रचना संस्कृत में ही की। आपने आद्याचार्य चरणों के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर भी द्वैताद्वैत मार्तण्ड नामक टीका लिखी थी, वह तो प्राप्त नहीं है पर उनकी भजन पेटिका में ताड़पत्रित 'एतिह्य तत्त्व राद्धान्त' नामक ग्रंथ जरूर प्राप्त हुआ जो श्री निम्बादित्याचार्य द्वारा विरचित है। जिसमें गुरु परम्परा संदर्भ में स्वामी श्री परसुराम देव जी का नाम उल्लिखित है। हो सकता है स्वामी श्री वासुदेव जी महाराज ने ही श्री निम्बादित्याचार्य नाम से रचना की हो, क्योंकि ग्रंथ उनके समकालीन है और उस समय या बाद तक इस नाम के व्यक्ति का कहीं भी सम्प्रदाय इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता। आपश्री ने अनेकों ग्रंथों का संकलन भी किया था, जिसके लिये आचार्य पीठ में पुस्तकालय (ग्रंथालय) भी निर्माण कराया। आपके द्वारा उत्तर भारत में काशी, मथुरा, अयोध्या, नैमिषारण्य, प्रयाग आदि तीर्थों और तत्सम्बन्धित शहरों में वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ।

अन्त में 80 वर्ष की अवस्था तक आचार्य चरण ने श्री गोपीजनवल्लभ देव जी की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। श्री स्वामी जी का जन्मोत्सव भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को मनाया जाता है। आप श्री के दो लाल बाबा स्वामी श्री हरिभक्त शरण लाल जी एवं स्वामी श्रीकृष्ण लाल जी थे।

स्वामी श्री ब्रजलाल जी महाराज-स्वामी श्री ब्रजलाल जी महाराज भी उद्भट विद्वान एवं प्रतापी संत थे। आपके काल में औरंगजेब ने ब्रज में बड़ा ही उत्पात मचाया। उसके भीषण अत्याचार से ब्रज के सभी मंदिरों के श्री-विग्रह ब्रज से बाहर चले गये। श्री गोविन्द देव जी जयपुर, श्रीनाथ जी मेवाड़ आदि। स्वामी श्री ब्रजलाल जी भी अपने इष्टदेव को साथ लेकर नारनौल पधारे, उसी समय सेठ मथुरामल जी गर्ग के परिजनों ने एक विशाल हवेली आगरा शहर के हींग मण्डी में बनायी। उसकी बनावट भी मन्दिर की भाँति ही है। गर्ग जी के विशेष आग्रह से पूज्य आचार्य चरण सेवानिधि श्री गोपीजनवल्लभ देव जी, नारनौल के श्रीबाँकेबिहारी जी एवं परिवार को साथ लेकर आगरा पधारे। कुछ वर्षों तक गर्ग भवन में ही गुरु-चरणों और भगवद् सेवा उत्सवादि का लाभ गर्ग परिवार ने लिया।

इसी बीच नारनौल के प्रसिद्ध सेठ चूड़ामणि जी को जहाँनाबाद बसाने के लिए शाहजहाँ ने भेजा। उस समय वे भारत के सर्वश्रेष्ठ धनवान थे। आपने अपनी कोठियों और प्रतिष्ठानों के साथ अपने कुलगुरु आचार्य चरणों के लिए एक विशाल भवन मन्दिर बनवाकर कुछ जमीन सेवा के लिए लगाई। भक्त सेठ चूड़ामणि जी एवं सेठ सिद्ध गोपाल जी गर्ग की विशेष प्रार्थना पर पूज्य आचार्य चरण का परिवार एवं परम्परित सेवानिधि के साथ फतेहपुर जिले के अन्तर्गत जहाँनाबाद में पधारे।

धीरे-धीरे नारनौल के सभी भक्त गुरु चरणों और भगवद् सान्निध्य में अपनी कोठियाँ बनवाकर वहीं बस गये। औरंगजेब के अत्याचार से गोवर्धन का विशाल मंदिर एवं पुस्तकालय पूर्णतया भस्मसात हो गया। केवल स्वामी श्री हरिव्यास देव एवं स्वामी श्री भट्टदेव जी की समाधि (छतरियाँ) ही अवशेष में बचीं।

स्वामी श्री ब्रजलाल जी महाराज ने गोवर्धन की भाँति ही प्रभु की सेवा उत्सवों के विशेष विधान बनाये और काशी के विद्वान पं. शालिग्राम जी से धर्मशास्त्रों, पुराणों आदि पुस्तकों को लिखवाकर संग्रहीत किया। ऐसी कई पुस्तकों में उनका नामोल्लेख मिलता है। आपश्री ने 'भक्ति चन्द्रोदय' नामक संस्कृत में ग्रंथ की रचना की जो कि नारद भक्ति सूत्र की टीका है। वर्तमान में दीमक लगने से नष्टप्राय: एवं अस्पष्ट-सी ही बची है। आपश्री ने अपना उत्तराधिकार ज्येष्ठ लाल बाबा गोस्वामी मनसुखलाल जी को सौंपकर भगवद् लीला में लीन हो गये।

गोस्वामी श्री मनसुखलाल जी महाराज-आपश्री ने भी प्रभु समर्पित कुल में जन्म लेने का पूर्ण लाभ लिया। अपना सम्पूर्ण जीवन भूमासुख प्राप्ति के लिये वैभव सम्पन्न अपने कुल परिवार को अर्पण कर दिया तथा निस्पृह रूप से क्षेत्र संन्यास, कर्मों को भगवद् समर्पण करते हुये अनन्य भाव से भगवद् सेवा परायण हो गये। नित्य प्रभु की अष्टयाम सेवा, भगवद् भजन एवं प्रभु की लीला चिन्तन (प्रवचन) ही उनका ध्येय था, इसी में ही अपने मन की सुखानुभूति समझते थे। आपके इस अलौकिक भक्ति की ख्याति धीरे-धीरे आस-पास के शहरों और ग्रामों में फैल गयी। आचार्यपीठ के सिद्ध महात्मा के दर्शन उपदेश प्राप्ति की अभिलाषा से बड़े-बड़े विद्वान, सेठ, साहूकार एवं सर्वसाधारण जन आने लगे और उनकी कृपा की अनुभूति प्राप्त कर आत्मसंतुष्टि का अनुभव करते थे।

आपश्री ने एकमात्र लाल बाबा गोस्वामी श्री लक्ष्मीनारायण लाल जी को जनकल्याण एवं धर्म-प्रचार के लिये आज्ञा प्रदान कर भगवद् भावापन्न हो गये, वस्तुत: यही वैष्णवों की मुक्ति है।

गोस्वामी श्री लक्ष्मीनारायण जी-आपश्री ने आचार्य पीठ में रहते हुये बाल्यकाल में ही विद्वानों से शास्त्रों का विधिपूर्ण अध्ययन किया तथा विविध शास्त्रों के पारंगत होने के पश्चात उसकी परिणति के लिये जो स्वाध्याय और प्रवचन से ही, पूज्य आचार्य चरण पिता जी महाराज के क्षेत्र संन्यास (एक स्थान में रहना ही क्षेत्र संन्यास होता है) का लाभ लेते हुये देशाटन एवं तीर्थ-दर्शन की अभिलाषा प्रकट की। आचार्य श्री जी की आज्ञा प्राप्त कर विविध रथों में अपने परिवार, विद्वानों, भक्तों के साथ सम्पूर्ण भारत के देव मन्दिरों के दर्शन, पवित्र नदियों का स्नान करते हुये अपने उपदेशों और सत्संग से श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की प्रेमाभक्ति का जगह-जगह प्रचार किया।

आपश्री के समय श्री आचार्य पीठ पूर्ण वैभव के साथ उत्तर भारत में प्रतिष्ठित धर्मपीठ के रूप में प्रसिद्ध हो गयी थी। आस-पास के सभी शहरों की जनता शिष्य हो अपने को धन्य मानते थे। आपश्री की विद्वत्ता की चारों ओर धाक जमी हुयी थी, बड़े-बड़े विद्वान शास्त्रीय गम्भीर समस्याओं के समाधान हेतु परामर्श लेने के लिये आते और संतुष्ट होकर लौटते थे।

आप श्री के तीन लाल बाबा गोस्वामी भजनलाल जी, गोस्वामी भगवतलाल जी एवं गोस्वामी रघुनाथलाल जी थे। आपकी 'आत्मा वै जायते पुत्र:' की भाँति यथा नाम तथा गुणौ के अनुसार परम भजनानन्दी, भगवन्निष्ठ एवं निस्पृह प्रकृति के थे। श्रीमान गोस्वामी भजनलाल जी ने भजनानन्द में ही रहते हुये अपने जीवन को अपने इष्ट में समर्पित कर दिया। गोस्वामी श्री रघुनाथ लाल जी भगवान के अनन्य भक्त थे, अहर्निश सेवा में संलग्न रहते थे।

उठते-बैठते उन्हीं का स्मरण करते थे। किसी भी प्राणी से जल्दी नहीं मिलते थे। एक दिन एक अंग्रेज अफसर जो उस जिले का मजिस्ट्रेट था, उनके दर्शन की लालसा से आचार्य पीठ में आया, उस समय गर्मी के दिन थे। प्रभु के लिए बगीचा में श्री गोस्वामी जी महाराज फूल बंगला का निर्माण कर रहे थे। उनके दर्शन से प्रभावित हो उक्त अंग्रेज अफसर ने दौड़कर उनसे हाथ मिलाकर अभिवादन किया तथा उनसे सत्संग लाभ प्राप्त कर लौट गया। आपश्री ने उसके स्पर्श से अपने को अपवित्र समझा, अपने शरीर को जो प्रभु के समर्पित था, प्रभु के योग्य न समझकर तीर्थयात्रा करते हुये अयोध्या में सरयू नदी में अपने को समर्पित कर दिया।

गोस्वामी श्री भगवतलाल जी महाराज-निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम गृहस्थाचार्य स्वामी श्री वासुदेव जी महाराज की गादी के आप छठवें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुये। आप भी परम्परित गादी परिवार के उच्चकोटि के महात्मा थे। आपके जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं। आप श्री ने 21 वर्ष की अवस्था से ही जीवन पर्यन्त अनेकों कठोर तप एवं व्रत किये। अपने जीवनकाल में 108 (अष्टोत्तरशत) श्रीमद्भागवत पारायण किये थे। आपश्री द्वारा सिद्ध भागवत अभी तक आचार्य पीठ में सुरक्षित रखी है।

आपश्री ने आचार्य पीठ के बगीचा में पत्थर का एक हौद बनवाया था। जिसमें कार्तिक से माघ माह तक ठण्ड में आकण्ठ जल में बैठकर, चैत्र मास से आषाढ़ मास तक पंचाग्नि ताप कर एवं सावन से आश्विन मास में घनघोर वर्षाकाल में बगीचे में खड़े होकर भजन में निमग्न रहते हुये कई वर्ष व्यतीत किये। इसके अतिरिक्त 2-3 माह के लिए रथों में भक्तों और विद्वानों को साथ लेकर तीर्थयात्रा और धर्मप्रचार में भी जाते थे। आप बड़े ही सिद्ध महात्मा थे। एक बार आप काशी जा रहे थे। रात्रि में प्रवास काल में शहजातपुर ग्राम के पास गाडीवान रास्ता भूल गया। रास्ते में राहगीर डाकुओं ने अपने ग्राम का मार्ग बतला दिया। उनके ग्राम में पहुँचते ही डाकुओं ने रथों को घेर लिया। उसी समय महाराजश्री के प्रताप से सम्पूर्ण ग्राम को अग्नि ने घेर लिया। सभी डाकुओं और सरदार ने अपने घरों को जलता देखकर श्रीस्वामी जी महाराज के चरणों में पड़कर गिड़गिड़ाने लगे। करुणा सागर श्री स्वामी जी ने सभी को अभयदान देते हुये कभी भी दुष्कर्म न करने की प्रतिज्ञा करवाई तथा अग्नि को शान्त किया। सभी ग्रामवासी स्वामी जी के शिष्य हो गए तथा स्वयं गन्तव्य मार्ग बतलाया।

आपश्री के दो पुत्र थे गोस्वामी वंशीलाल जी एवं गोस्वामी श्री मोहनलाल जी। गोस्वामी वंशीलाल जी की अवस्था मात्र 8 वर्ष की थी। गोस्वामी वंशीलाल जी बीमार होकर इहलीला संवरण कर गये। श्री स्वामी जी महाराज वृन्दावन भी जाया करते थे। अपनी ननसार श्री राधावल्लभीय गोस्वामी जी बड़ी सरकार जिनका मंदिर बीच बाजार में है ठहरा करते थे। एक दिन महाराज श्री बैठक में बैठकर सभी समवयस्क राधावल्लभीय गोस्वामी स्वरूपों के साथ मनोविनोद कर रहे थे। उनमें एक गोस्वामी जी महाराज विशेष अनुष्ठानी एवं भजनानन्दी थे। सभी आपस में स्वामी जी महाराज और श्री गोस्वामी जी महाराज की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि आज दो सिद्ध उपस्थित हैं, हम लोग भी कुछ चमत्कार देखना चाहते हैं। विशेष आग्रह पर महाराज श्री ने राधावल्लभीय गोस्वामी जी महाराज से कहा सभी पाँच मिनट के लिये नेत्र बन्द करें। सभी ने नेत्र बन्द कर देखा ब्रज में मेला लगा है जुलूस निकल रहे हैं, लोग आ जा रहे हैं। सभी एक-सा दृश्य देखकर आनन्दित हुये। महाराज श्री ने भी सभी के नेत्र खोलने पर स्वयं नेत्र बन्द कर समाधि लगा दी। सभी ने प्रत्यक्ष देखा कि सामने बाजार में गोपाल जी की शोभायात्रा निकल रही है, लोग जै-जैकार कर रहे हैं। बैठक में उपस्थित सभी जन यह दृश्य देखकर अचम्भित हो गये। इसी प्रकार आपश्री की अनेकों अलौकिक चमत्कारिक घटनाओं की चर्चा लोगों में गायी जाती रही है। 60 वर्ष तक लोगों पर कृपा कर अन्त में भगवत भजन में रहते हुये गोलोक धाम की नित्यलीला में लीन हो गये। आपश्री के विनम्र लाल बाबा गोस्वामी श्री मोहनलाल जी महाराज एवं तीन बेटी थीं।

गोस्वामी श्री मोहनलाल जी महाराज-आचार्य गादी के बालकों का अक्षरारम्भ ही श्री गोपालो महीपाल: वेद

वेदाङ्ग पारग: से होता है। गोस्वामी श्री मोहनलाल जी महाराज भी अपनी तीनों बहनों तथा बहु जी महाराज के साथ नित्य परम्परित श्रीमद्भागवत जी पारायण में संलग्न होते थे। आप स्वयं भागवत जी के मर्मज्ञ एवं वेद-वेदान्तों के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपने अपने भागिनेय (भाँजे) श्री कमलवल्लभ जी महाराज को (राधावल्लभीय) श्रीमद्भागवत का पूर्ण पाठ एवं प्रवचन का अभ्यास कराया था। श्री गोस्वामी जी एवं उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री गोपाल वल्लभ जी ने आचार्य पीठ के विशेष उत्सवों में पधारकर श्रीमद्भागवत पारायण यज्ञ एवं वैदुष्यपूर्ण प्रवचन से लोगों को जीवन पर्यन्त लाभ दिया। गोस्वामी श्री मोहनलाल जी की इह लीला यौवन काल में ही समाप्त हो गयी थी। आपश्री के दो पुत्र श्री मुकुन्दलाल जी एवं गोस्वामी श्री माधवलाल जी अपनी मातृ श्री के साथ लोक दृष्टि से एकादश एवं नव वर्ष की आयु में असहाय से थे। स्वामी श्री मोहनलाल जी महाराज संवत् 1921 वैसाख सुदी पंचमी को प्रयाग में स्नान करने आये थे—*मोर पंख वाले पण्डा जी की बही से उद्धृत*।

गोस्वामी श्री मुकुन्दलाल जी महाराज-गोस्वामी श्री मुकुन्दलाल जी महाराज जिनका अभी कुछ काल पूर्व ही उपनयन संस्कार ही हुआ था। गौरांग महाप्रभु स्वरूप मध्यम कद, अतिपुष्ट तेज युक्त भजनानन्द निमग्न विशाल नेत्र, दिव्यकान्ति सुदर्शनीय विग्रह के दर्शन से अनायास ही लोग उनसे आकर्षित हो जाया करते थे।

एक बार आपके शिष्य श्री भिखारीदास ग्वालियर से आये। वे महाराज ग्वालियर के यहाँ कोषाध्यक्ष थे। तत्कालीन ग्वालियर नरेश की अभिलाषा थी कि हम आचार्यवर गोस्वामी श्री मुकुन्दलाल जी महाराज से ही दीक्षा लें इसीलिये श्री भिखारी दास जी को जहांनाबाद भेजा। श्री भिखारीदास जी ने पहले महाराज से अपने गुरु गादी की मर्यादा के विषय में चर्चा करते हुए बतलाया कि वे राज्य परिवार को दीक्षा या राजधन स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन राजाज्ञा के कारण अपने निवास में पधारने की प्रार्थना कर गुरु महाराज को ग्वालियर रथों पर ले गये। ग्वालियर पधारने पर ग्वालियर राज की तरफ से हाथी पर विराजमान शोभायात्रा नगर में निकली। उसी यात्रा के दरम्यान स्वयं नरेश उन्हें अपने राजमार्ग से महल में ले जाने लगे। महल में जाने से पूर्व श्री स्वामी जी महाराज ने भिखारीदास से पूछा कि आप तो अपने घर ले जाने की बात कर रहे थे, यह तो राजमहल को यात्रा जा रही है। भिखारीदास ने कहा कि पूज्य गुरुवर ग्वालियर महाराज आप से दीक्षा लेना चाहते हैं इसीलिये हमसे आग्रह कर अपने निज महल में पधरवाने की अभिलाषा रखते हैं। पूज्य गुरु महाराज ने कहा भिखारीदास जी हमारे कुल में ऐसा कभी नहीं हुआ। बड़े-बड़े राजे-महाराजे आये पर वे केवल उपदेश ग्रहण करने स्वयं आचार्य पीठ आते रहे, आचार्य जन कभी भी राजमहलों में नहीं गये। अत: हम भी यही करेंगे। भिखारीदास जी राजाज्ञा से दुखी एवं गुरु महाराज से बहुत लज्जित हुये। आचार्य चरणों में उनकी द्विविधा देखते हुए उसी हाथी के हौदे में ही ध्यानस्थ हो देह त्यागकर निकुंजलीला में लीन हो गये। तत्काल सभी शिष्य परिकरों के साथ महाराज श्री का पावन देह आगरा के परम्परित शिष्य श्री मदनमोहन गर्ग के निवास स्थल हींग मण्डी में ले जाया गया, तदुपरान्त आगरा से विशाल भक्त समुदाय आचार्य चरणों के पावन देह को साथ लेकर वृन्दावन पधारे। वृन्दावन में यमुना पुलिन में आचार्य परम्परा के साथ दैहिक संस्कार सम्पन्न हुआ, जिसमें आचार्य श्री के सम्बन्धी श्री राधावल्लभीय, राधारमणीय गोस्वामी वर्ग एवं स्वयं ग्वालियर नरेश आदि उपस्थित हुये। इस आकस्मिक दुखद् घटना ने आचार्य पीठ को बहुत बड़ी विपदा में डाल दिया। केवल आचार्य पीठ के वारिस लाल बाबा गोस्वामी श्री माधवलाल जी महाराज ही थे जिनकी अवस्था मात्र 11 वर्ष की ही थी।

गोस्वामी श्री माधवलाल जी महाराज-तरुण अवस्था में ही आपश्री के ऊपर गादी की जिम्मेदारी आ पड़ी लेकिन आपश्री की माँ जी महाराज एवं वरिष्ठ भक्तों की देख-रेख में आपका लालन-पालन विशेष लाड़-प्यार से हुआ। आचार्य पीठ में ही विद्वानों द्वारा आपने शिक्षा ग्रहण कर और शीघ्र ही कुछ वर्षों में अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और तेज प्रताप से आचार्य पीठ को जागृत कर दिया।

स्वामी जी महाराज ने भी कानपुर में भक्तों के आग्रह से एक मकान क्रय कर निवास स्थान बनाया, पर वहाँ की व्यस्तता और चहल-पहल से आपका मन न लगा। जबकि उक्त शहर में सैकड़ों सम्पन्न परिवारों पर आपश्री की कृपा रही तथा शहर में काफी मान-सम्मान रहा। आपश्री ने तीर्थराज प्रयाग को ही मान्यता प्रदान कर शहर के मध्य महाजनी टोला में एक मकान क्रय कर निवास स्थान बनवाया। श्रीबांकेबिहारी जी महाराज एवं श्री गोपीजनवल्लभ देव जी की असीम अनुकम्पा पीढ़ियों से सभी को प्राप्त होती रही है। जहाँ गुरु महाराज और इष्टदेव विराजे वहीं अनेकों भक्तजन भी जहांनाबाद, कानपुर और प्रयाग में गुरुजनों और भगवान की छत्र छाया में आकर बस गये।

आपश्री के तीन लाल बाबा गोस्वामी मुरलीधर, गोस्वामी हरिकृष्ण एवं गोस्वामी विजयकृष्ण जी थे। तीनों पुत्रों का लालन-पालन एवं शिक्षा-दीक्षा प्रयाग एवं कानपुर में हुई। आचार्य चरणों ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री मुरलीधर जी को प्रयाग की गादी सम्भाल दी तथा अन्य दो पुत्रों को कानपुर के मन्दिर प्रदान किये। आपश्री के सन्मुख ही आपके ज्येष्ठ पुत्र ने 39 वर्ष की अल्प आयु में ही लीला संवरण कर दी थी। आपश्री परमसंत एवं गम्भीर स्वभाव के थे। आपश्री ने इस भूतल में 75 वर्ष की अवस्था तक विराजकर भक्ति मार्ग को प्रशस्त किया।

गोस्वामी मुरलीधर जी महाराज-गोस्वामी जी महाराज का जन्म संवत् 1947 में प्रयाग में हुआ, आपके जन्म के छ: माह पूर्व ही कुल पुरोहित जी ने आपका जन्मांक तैयार कर दिया था और कहा लाल बाबा बहुत ही होनहार होंगे। उस जन्मांक के अनुसार ही आपका जन्म हुआ। शिक्षा स्थल में ही विद्वानों द्वारा हुई अपनी कुशाग्र बुद्धि से एवं पूज्य पितृचरण की कृपा से आपने आचार्य पीठ को संगीत, साहित्य और कला का देशव्यापी केन्द्र बना दिया। अधिकांश आचार्य कुल में पिता, पुत्र के सद्व्यवहार और प्रतिभा से तथा पुत्र, पिताजी के सद् आश्रय एवं कृपा से एक दूसरे के पूरक होते हुए आचार्य पीठ की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहयोगी रहे हैं।

आपने प्रयाग में सनातन धर्म प्रबर्द्धिनी सभा की स्थापना संवत् 1966 में पूज्य पितृचरण के सान्निध्य में की। आपकी सभाओं में साप्ताहिक गोष्ठियों में पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. माधव जी मिश्र, विश्वम्भरनाथ जीज्जा, पं. गणेश शंकर विद्यार्थी आदि पाठशालाओं के और विश्वविद्यालय आदि के विद्वतजन उपस्थित होते थे। वार्षिक अधिवेशनों में काशी, मथुरा आदि के विद्वानों का भी समागम होता था। उस समय आर्यसमाज और सनातन धर्म के पारस्परिक शास्त्र चिन्तन का युग था। प्राय: विधवा विवाह, बालविवाह, नियोग आदि पर विशेष शास्त्रार्थ होते थे। समाजी विद्वानों से शास्त्रार्थ किया जाता था, वैष्णवादि मतों पर विचार-विमर्श होते थे।

आपका संगीत साहित्य पर भी अच्छा अधिकार था। आपने अनेकों ललित सरस एवं भावपूर्ण पदों की रचनायें कीं। नित्य सायंकाल एवं विशेष उत्सवों में समाजगान, संगीत की गोष्ठियाँ होती थीं। आपने सर्वप्रथम श्री निम्बादित्य चरितम् नामक पुस्तक संवत् 1978 में प्रकाशित की थी, जिसमें आपके समकालीन किशोरीलाल जी गोस्वामी, पं. श्री किशोरदास जी, पं. श्री दुलारेप्रसाद जी शास्त्री आदि का विशेष सहयोग रहा। इसके साथ ही भजन संग्रह, कवित्त उपदेशावली आदि ग्रंथ लिखे। आप श्रीनिम्बार्क के ब्रह्मसूत्र भाष्य का हिन्दी अनुवाद करना चाहते थे लेकिन अकस्मात संवत् 1986 में 39 वर्ष की अल्पावस्था में गोलोकवासी हो गये।

आपका विवाह वृन्दावन के श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय गोस्वामी श्री गोवर्धनलाल जी महाराज की सुपुत्री से हुआ। आपके तीन पुत्र गोस्वामी राधाकृष्ण, गोस्वामी गोपीकृष्ण एवं गोस्वामी श्रीकृष्ण जी थे।

गोस्वामी श्री राधाकृष्ण महाराज-आपका जन्म संवत् 1967 में प्रयाग में हुआ था। आचार्य पीठ में रहते हुये प्राचार्यों से विद्याध्ययन किया, आप श्री भी आचार्य पीठ के पूर्वाचार्यों की भांति ही भगवन्निष्ठ, परम तपस्वी एवं विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता, संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वान एवं प्रचारक थे। आप को युवावस्था में ही आचार्य पीठ का उत्तरदायित्त्व मिला जिसे अपनी धीर-गंभीर बुद्धि से और सूझबूझ से सम्भाला। अपने जीवन काल में अनेकों

अनुष्ठान किये। झूंसी के अनेकों साधकों के साथ श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी भी आपसे प्रभावित हो सम्पर्क में आये।

सन् 1953 में विशाल भागवत नगर स्थापित कर गंगातट में सहस्र श्रीमद्भागवत ज्ञानयज्ञ का आयोजन किया था। भारत के प्रख्यात विद्वान एवं संतजन उपस्थित हुये। प्रत्येक वर्ष त्रिवेणी तट में माघ मास में कल्पवास हेतु शिष्य परिवारों के साथ जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य मण्डप नामक शिविर लगाकर निवास करते थे। सन् 1954-55 में गौरक्षार्थ कठोर व्रत किया। एक वर्ष तक गोवर्धननाथ की मौन रहकर परिक्रमा की, अंत में गोपालयज्ञ से पूर्णाहुति की। आपके द्वारा वैष्णव भक्ति प्रधान त्रैमासिक पत्रिका अंजलि एवं दिव्य उपासना के माध्यम से भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का पोषण होता है। विगत 25 वर्षों से अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्त्व अपने सुयोग्य पुत्र आचार्य श्री ललितकृष्ण जी महाराज पर सौंप कर निश्चित हो भजन में संलग्न हो गये। लेकिन अकस्मात् कार्तिक मास सन् 1991 को आचार्य श्री ललितकृष्ण जी महाराज के असमय निधन से उन्हें मानसिक वेदना हुई। आप भी पुरुषोत्तम मास भाद्रपद शुक्ल षष्ठी संवत् 2050 तदनुसार 23 अगस्त 1993 को भगवान श्री गोपीजनवल्लभ देव जी की निज धाम की निकुंज लीला में लीन हो गये।

आपके द्वारा दिये गये लेखों (उपदेशों) का संग्रह दिव्य उपासना त्रैमासिक वर्ष 6 के 4 अंक में 'शान्त उपासीत' नामक विशेषांक में संग्रहित है। स्वामी राधाकृष्ण जी महाराज के तीन पुत्र ललितकृष्ण गोस्वामी, विनोद कृष्ण एवं गोस्वामी विष्णुकांत जी हैं।

स्वामी ललितकृष्ण जी महाराज-गोस्वामी ललितकृष्ण जी का जन्म संवत् 1987 में हुआ था। पं. मदनमोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला धर्मज्ञानोपदेश में आचार्य पं. भूपेन्द्रपति त्रिपाठी के निर्देशन में आपने शिक्षा ग्रहण की थी। आप मेधावी और कुशाग्र बुद्धि के थे। आपने सभी वैष्णवाचार्यों के भाष्यों का लोकभाषा में अनुवाद किया। अपने प्रवचनों और उपदेशों में सभी का मत प्रस्तुत करते हुये लोगों को उसी मार्ग में चलने को कहते थे।

आपने श्रीमद्भागवत का अष्टोत्तरशत पाठ अनुष्ठान के रूप में किया। जिसकी पूर्ति भारत के सभी प्रमुख तीर्थों में भगवद सान्निध्य में पाठ एवं प्रवचन करके की। आपके प्रवचन में एक धारा थी, श्रोता मंत्र मुग्ध हो सहस्रों की संख्या में श्रवणार्थ उपस्थित होते थे। अनेकों पुस्तकों, लेखों और प्रवचनों के द्वारा जीवन पर्यन्त भगवद् भक्ति और वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। अन्ततः कार्तिक कृष्ण नवमी 2048 तदनुसार 31 अक्टूबर 1991 को भगवद्लीलाओं का गान-उपदेश-चिन्तन करते हुये भगवान श्री गोपीजनवल्लभ देव की नित्य लीला में लीन हो गये। आपका विस्तृत चरित्र दिव्य उपासना के श्रद्धांजलि अंक वर्ष 5 अंक 4 सन् 1992 में प्रकाशित है।

गोस्वामी विष्णुकान्त जी महाराज (वर्तमान पीठाधिपति)-सुदर्शन चक्रावतार अनन्त श्री जगद्गुरु भगवान श्री निम्बार्काचार्य पीठाधिपति स्वामी श्री हरिव्यास देव जी महाराज के भ्रातृज गोस्वामी श्री वासुदेव जी महाराज की बारहवीं पीढ़ी के गृहस्थ आचार्य कुल में वैशाख शुक्ल अष्टमी संवत् 2008 में आपका जन्म प्रयागराज में हुआ। आपकी दीक्षा एवं यज्ञोपवीत संस्कार पूज्य पितृचरण नि.ली. गोस्वामी श्रीराधाकृष्ण जी महाराज के सान्निध्य में हुआ। [वि०का०म०]

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखीय ब्राह्मण भाग के अंतर्गत है। इस उपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा आदि छः ऋषियों के प्रश्नों का क्रम से उत्तर दिया है, इसलिए इसका नाम प्रश्नोपनिषद् पड़ा। भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्र में उत्पन्न सोर्याणी, अश्वल पुत्र कौसल्य और विदर्भ देश का भार्गव तथा कत्य का प्रपौत्र कबंधी सब ब्रह्मपरायण थे, पर उन्होंने ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया था। जिससे वे ब्रह्मानुसंधान में लगे रहते थे।

अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए समित्पाणि होकर महर्षि पिप्पलाद के समीप गये। ऋषि की आज्ञा से तप, श्रद्धा और ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम में रहे। एक-एक कर उन्होंने जो प्रश्न किये उनका समाधान पिप्पलाद ने किया।

यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या का जिसे सच्चा ज्ञान हो जाता है उसके मन में न कोई प्रश्न रहता है और न ही कोई शंका। अतः उन छः ब्रह्मनिष्ठों के प्रश्नों के उत्तर देने के बाद जब पिप्पलाद ने अपनी ओर से कहा कि-'तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति।' अर्थात् ब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ। इससे अन्य कुछ भी नहीं। तब उन सभी ब्रह्मान्वेषण परायण जिज्ञासुओं के सारे संशय दूर हो गये।

इनमें कत्य ऋषि के प्रपौत्र ने श्रद्धा और विनयपूर्वक सबसे पहले पिप्पलाद से पूछा-हे भगवन्! जिससे ये संपूर्ण नाना रूपों में उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कल्याण है, वह कौन है? महर्षि पिप्पलाद ने कहा-सृष्टि विस्तार के संकल्परूप तप से युक्त होकर प्रजापति ने सर्वप्रथम रयि और प्राण की रचना की। इन तत्त्वद्वय की रचना का एक ही उद्देश्य था कि ये दोनों (प्राण और रयि) मिलकर नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करेंगे। प्रश्नोपनिषद् में प्राण और रयि इन दोनों शक्तियों के सम्बन्ध से परमेश्वर की उपासना का प्रकार और फल दूसरे प्रकरण में बताया है। प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य में इसी आशय से कहा है-'विरज (विकार रहित विशुद्ध) ब्रह्म उन्हीं लोगों को प्राप्त होता है जो कुटिलता, अनृत और माया यानी छल-कपट से रहित होते हैं। ज्ञान सत्य में प्रतिष्ठित है। अतः ईशोपनिषद् 'विद्ययामृतमश्नुते' के समान प्रश्नोपनिषद् में 'विज्ञायामृतमश्नुते' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में प्रारंभ से लेकर अंत तक आश्वलायन, गार्ग्य मुनि, शिवि पुत्र सत्यकाम के द्वारा पूछे गए अनेक प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। [वि०श०]

प्राणनाथ

इनकी जन्मतिथि और जन्म स्थान के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता है। प्राणनाथ के गुरु हित हरिवंश महाप्रभु के प्रपौत्र दामोदरवर गोस्वामी थे। दामोदरवर गोस्वामी का विद्यमान काल सं. 1634 से 1714 तक माना जाता है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका जन्म सोलहवीं शती के अन्त में अथवा सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में हुआ होगा।

प्रभुदयाल मीतल ने लिखा है कि प्राणनाथजी जुझौतिया ब्राह्मण थे। इनका जन्म बुन्देलखण्ड के पन्ना राज्यान्तर्गत उचहेरा गाँव में हुआ था। प्राणनाथ वहाँ के एक वैश्य परिवार में नौकरी करते थे और मन से अपने स्वामी की पुत्री पर आसक्त थे। एक बार जब वे वैश्य परिवार के साथ वृन्दावन आये तो वहाँ दामोदरवर का उपदेश सुनकर उनकी वासनामयी लौकिक आसक्ति शुद्ध भगवत प्रेम में परिवर्तित हो गयी और वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे। आपने दामोदरवर गोस्वामी से मंत्र दीक्षा लेकर हितमार्गीय उपासना भक्ति का निष्ठापूर्वक पालन किया था।

प्राणनाथ जी की प्रशस्ति 'रसिक अनन्य पदावली' तथा तृतीय 'बसन्त प्रबन्ध' में की गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राधावल्लभ-सम्प्रदाय में प्राणनाथ जी का एक प्रभावशाली संत के रूप में स्मरण किया जाता है। चाचा वृन्दावनदास के अनुसार ये सर्वशास्त्र निष्णात थे तथा तार्किक प्रवृत्ति के कारण प्राणनाथ भक्ति-सिद्धान्त में नाना प्रकार की शंकाएँ उठाया करते थे। साथ ही वे अपने पक्ष की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किया करते थे। हिताचार्य के प्रेम सिद्धान्त को आप अश्रव्य बताकर उपेक्षा करते थे, किन्तु जब आपने दामोदरवर गोस्वामी के अकाट्य व सारगर्भित मृदु-मधुर वचनों को सुना तो इनका इस प्रकार का पंडितमाना जाता रहा और इनकी सम्पूर्ण शंकाएँ समाप्त हो गयीं। दामोदरवर गोस्वामी की इस अहैतुकी कृपा से प्राणनाथ हित-पंथ के अनन्य पथिक बन गये।

चाचा वृन्दावन दास ने इनके रसिक स्वरूप का सूक्ष्म परिचय देते हुए लिखा है कि ये अपने गुरु को प्राणों से अधिक प्रिय थे। व्यंजना यह है कि इनकी भजन भावना, रहनी-करनी और अनुराग सहित सेवा से गोस्वामी जी का हृदय

पूर्णत: सन्तुष्ट था। दोनों समान मना और अभिन्न हृदय हो गये थे। चाचा वृन्दावन दास की पंक्ति 'हस्ता मलक तिन हित कियौ गान' की पुष्टि प्राणनाथ ने 'हस्तामलक' का शुभारम्भ करते हुए इस प्रकार लिखकर कर रहे हैं–

प्रथम श्रीव्यास नन्द जू कौ हृदय जानै,
तन श्रीमुख वाणी के रस को समुझै।
श्रीगुसाईं दामोदर जी पूर्ण जुगल,
प्रेमानन्द प्रकाशक रूप प्रागट्य है।
उनके मुख तें सुनै ता मधिजु सुधि,
रह्यौ सु लिखि शख्यौ है।।

प्राणनाथ की मौलिक रचना 'हस्तामलक' तथा 'हित चौरासी' (हित हरिवंश कृत) के कठिन स्थलों की व्याख्या, दामोदरचन्द्र के उपदेशों का संग्रह है। एक अन्य ग्रन्थ 'प्रश्नोत्तरी' (गद्य-पद्यात्मक) भी इन्हीं की रचना है। हमारी इस धारणा की पुष्टि 'प्रश्नोत्तरी' के एक दोहे से होती है-

एक समै पूछी प्रभु, विनती उर धारौ
मेरे जिय सन्देह रहै इक सौ निरवारौ।।

इनके द्वारा रचित एक पद 'हितोत्सव' की प्राचीन पोथी में प्राप्त होता है। किशोरी शरण अलि ने इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख किया है-प्रश्नोत्तरी, पदावली (प्राचीन हस्तलिखित पृष्ठ संख्या में बिखरी है) एवं हस्तामलक। 'प्रश्नोत्तरी' में आपने गुरु दामोदरवर का चरित्र उनके मुख से सुनकर प्रश्नोत्तरी रूप में प्रस्तुत किया है। यह रचना गद्य-पद्यात्मक है और राधावल्लभ-सम्प्रदाय के चरित्र साहित्य की अनुमन्य रचना मानी जाती है। डा. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल और किशोरी शरण अलि ने इनका विद्यमान काल अठारहवीं शताब्दी माना है। [अ०सिं०सै०]

प्रायश्चित

त्रिकालदर्शी मुनियों ने मनुष्यों को पापमुक्त करने के लिये प्रायश्चित का विधान किया है। इनके करने से जाने-अनजाने में किये गये पापों से मुक्ति मिलती है।

प्रायस् औ चित्त अर्थात् तप और निश्चय को प्रायश्चित कहा गया है। किसी प्रकार से किये गये पाप से अन्त:करण में ग्लानि होने और उसके मिटाने वाले शास्त्रसम्मत कर्मों का नाम प्रायश्चित है।

प्रयतत्वाद्वोपचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चितमा (हारीत स्मृति पृ. 467) वैदिक साहित्य में प्रायश्चित और प्रायश्चिति शब्दों का प्रयोग हुआ जो कि समानार्थक हैं।

मिताक्षरा (5/220) के अनुसार प्रायश्चित शब्द उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है, अवसर आने पर ही इसका उपयोग किया जाता है। यह पाप नाश के लिये प्रयुक्त होने के कारण काम्य भी है-'प्रायश्चितशब्दश्चायं पापक्षयार्थं नैमित्तिके कर्म विशेषे रूढ़:॥'

मनुस्मृति के पृ. 429 में वर्णित है-प्रायो नाम तप: प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चितं तदुच्यते। अनिच्छा से किया गया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है। मोहवश इच्छा से किया गया पाप प्रायश्चित से शुद्ध होता है (मनुस्मृति, पृ. 421, श्लोक 46)। दैव सम्बन्धी पापों की निवृत्ति ब्रह्म पूजा आदि के द्वारा होती है। वाराह पुराण में

दैवापराध 32 गिनाये गये हैं (वाराह पु. अध्याय 130-136)।

भय, लोभ या आपदग्रस्त होकर राजान्न का भक्षण करने वाला व्यक्ति दस हजार वर्ष नारकीय यातनायें भोगता है। जिसकी निवृत्ति चान्द्रायण, तप्त कृच्छ्र एवं सान्तपन व्रत करने से हो सकती है। मृतक का स्पर्श करने पर बिना स्नान किये देवविग्रह का स्पर्श करना पाप है उसके लिये प्रायश्चित विधान है-तीन दिन सभी धान, तीन दिन पिण्याक भक्षण तथा एक दिन वायु भक्षण करना चाहिये। दातुन न करके देव पूजन करना, रजस्वला स्त्री का स्पर्श करके देव स्पर्श करना, पूजा करते समय पुरीष (मल) का उत्सर्जन, मूत्रत्याग, काले-नीले वस्त्र पहनकर देवालय में जाना, क्रोधित होकर चंचल मन से देवविग्रह स्पर्श करना, अंधकार में देवप्रतिमा का स्पर्श, बिना धुले वस्त्र पहनना, कुत्ते की खाई हुई वस्तु को देवता को अर्पण करना, दीपक का स्पर्श करके हाथ न धोना, श्मशान में जाकर बिना स्नान किये देव मंदिर में प्रवेश करना, मदिरा पीकर देव पूजन, गन्धमाल्यादि के बिना देव पूजन, देव मंदिर में जूते पहनकर जाना, घण्टे, घड़ियाल बजाये बिना आरती करना, मंदिर के द्वार खोलना आदि अनेक पाप या अपराध हैं जिनके प्रायश्चित करने से ही इनसे मुक्ति हो सकती है। वाराह पुराण 135-136 अध्याय, अग्निपुराण 169-174, कूर्म पुराण 2/30-34, गरुड़ पुराण 1/52, ब्रह्माण्ड पुराण 2/9, विष्णुधर्मोत्तर 2/73, 3/234-237 आदि पुराणों में इन सभी प्रायश्चितों का उल्लेख मिलता है। [उ०भा०]

प्रायिकी लीला

भगवान श्रीकृष्ण की प्रकट-लीला को 'प्रायिकी-लीला' कहते हैं। इसमें व्रज-लीला व्रज में ही आरम्भ होकर व्रज में ही परिसमाप्त होती है। जब श्रीकृष्ण मथुरा-द्वारका जाते हैं, तब व्रजवासीजन अदम्य-विरह सागर में डूब जाते हैं। उस विरह को शान्त करने के लिए वे फिर व्रज में दन्तवक्र के वध के बाद लौट आते हैं। उस समय व्रजवासी वर्ग श्रीकृष्ण के मथुरा-द्वारका जाने को स्वप्न रूप में अनुभव करते हैं। तीन मास व्रज में प्रकट-विहार करके फिर परिकरों सहित श्रीकृष्ण की अप्रकट लीला में प्रवेश कर जाते हैं। अर्थात् व्रज लीला की परिसमाप्ति व्रज में ही हो जाती है। किन्तु द्वारका लीला विद्यमान रहती है। दन्तवक्र का वध करने के बाद व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तो व्रज में लौट आते हैं, किन्तु उनका श्रीवासुदेव रूप द्वारका में प्रकाशित रहता है। द्वारका लीला चलती रहती है। यथासमय फिर द्वारका लीला द्वारका में ही परिसमाप्त हो चुकी होती है। इस प्रकार प्रायिकी व्रजलीलान्तर्गत रसराज धीरोदात्त लालित्य-गुणशाली श्रीकृष्ण तथा उनकी आह्लादिनी-स्वरूपाशक्ति महाभाव-स्वरूपिणी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी के सौन्दर्य माधुर्यमय लीलारस का जो दिव्याति दिव्य सिन्धु तरंगायित होता है, उसका एक कणा है, "श्रीविदग्धमाधव नाटक" उसमें अनेकानेक अपूर्व चित्त-चमत्कारी मधुर रसास्वादन रसिकजन के लिए सन्निविष्ट है। [क०उ०]

प्रियादास (दनकौर वाले)

इनका जन्म यमुना जी के तट पर स्थित दनकौर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीनाथ तिवारी तथा माता का नाम ब्रजकुमारी था। इनके जन्म सम्वत् का कहीं कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। प्रियादास अपने अग्रज हितदास (सज्ञान सखी नामक हित रसिक) के सत्संग से प्रभावित होकर बाल्यकाल में ही रसोपासना में लग गये। इनके दीक्षा गुरु गोस्वामी किशोरीलाल के पुत्र रसिकानन्द गोस्वामी थे। इनकी निवासस्थली गोस्वामी दामोदर तैर जू कौ रास स्थल वृन्दावन थी। यह स्थान वर्तमान में बल्लीगंज अठखम्भा के नाम से विख्यात है। इनकी गुरु बहन आनन्दीबाई थीं।

'सेवक चरित्र' में इन्होंने अपना आत्म-परिचय दिया है और उसी आधार पर अलि जी ने विवेचन लिखा है। यह विवरण अन्त:साक्ष्य के आधार पर पूर्णत: प्रामाणिक प्रतीत होता है। ललिताचरण गोस्वामी भी इनका परिचय

लिखते हैं कि प्रियादास बाल्यकाल में ही गो. रूपलाल के नाती गो. रसिकानन्द से दीक्षित हो गये और दीक्षा लेने के कुछ दिनों बाद विरक्त वेश लेकर वृन्दावन में आ गये। यहाँ अपने गुरुजी के मंदिर में निवास करने लगे थे।

'सेवकवाणी' का आप निरन्तर पाठ करते थे। आपकी सेवकजी के चरणों में प्रगाढ़ आसक्ति हो गयी थी। सावन वदी चौथ सम्वत् 1836 को इनको सेवक जी ने स्वप्न में दर्शन देकर बतलाया था कि उनका जन्म श्रावण शुक्ला तीज का है। इस स्वप्न से प्रेरणा पाकर और सत्य मानकर ही प्रियादास को सेवक जी का जन्मोत्सव मनाने की धुन सवार हो गयी। सम्वत् 1838 में अपनी गुरु बहिन आनन्दीबाई के सहयोग से उन्होंने सेवकजी का प्रथम जन्मोत्सव मनाया था। इस उत्सव के लिए इन्होंने सेवक जी की जन्म बधाइयों की रचना की थी। ये बधाइयां सेवक चरित्र में संकलित हैं।

गोविन्द अलि ने एक छप्पय में इस प्रकार उल्लेख किया है कि प्रियादास ने वृन्दावन आने के पूर्व दनकौर में एक रासमण्डली बना रखी थी और उसमें प्रियादास हित पद्धति के अनुसार 'अष्टयाम लीला' का अभिनय दिखलाते थे। इन्होंने 1237 दोहों और 128 पदों की रचना की थी। अपनी रचनाओं में इन्होंने कई स्थलों पर नेही नागरीदास की वाणी और उनकी रस दृष्टि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जिससे इनकी रचनाओं पर नेही नागरीदास का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इनका विद्यमान काल किशोरीशरण अलि वि.सं. 1780 से 1860 के मध्य अनुमानित करते हैं और प्रियादास की रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार करते हैं-दोहावली (1237 दोहे), पदावली (128 पद), सेवक प्रिया विलास (सेवक चरित्र), सेवक जू कौ अष्टक (सेवक हिलग या सेवक की हित नामशक्ति)।

इनकी गद्य-पद्य मिश्रित रचना सेवक चरित्र में गोस्वामी कमलनयन (सं. 1692-1754) के शिष्य अतिवल्लभ कृत हित चतुरासी के एक पद का अर्थ दिया हुआ है। डा. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल ने अपने शोध ग्रन्थ में इनकी सेवक-चरित्र को गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना बतलाया है और इसका रचनाकाल सं. 1841 निर्धारित किया है। विवेचना के आधार पर खण्डेलवाल का कथन उचित प्रतीत होता है। सम्प्रदाय में भी यह एक महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। [अ०सिं०सै०]

प्रियादास (पटना वाले)

प्रियादास की जन्मतिथि, माता-पिता का नाम, जाति, जीवन चरित्र आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। किशोरीशरण 'अलि' ने इनको पटना का निवासी माना है। इनके गुरु सनेही लाल गोस्वामी थे और प्रियादास का विद्यमान काल सम्वत् 1870 से सम्वत् 1940 के मध्य अनुमानित किया है। भगवती प्रसाद सिंह ने प्रियादास को पटना का निवासी बताते हुए, इनके पिता को राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित बताया है और लिखा है कि अन्तिम समय में वृन्दावनवासी हो गये थे। इनकी पुस्तकों के नाम प्रियादास की वार्ता, स्फुट पद टीका, सेना दर्पण, भाषा वर्षोत्सव, तिथि निर्णय और चाह बेली है। इनका आविर्भाव काल 18वीं शती में माना जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथनों से इतना स्थिर होता है कि प्रियादास पटना निवासी थे। इनके पिता राधावल्लभ भी रसिक भक्त थे और इनके गुरु सनेहीलाल गोस्वामी थे तथा इनका विद्यमान काल सं. 1870 से 1940 तक अनुमानित होता है।

डॉ. जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल ने प्रियादास को संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान माना है और लिखा है कि इन्होंने राधावल्लभ सम्प्रदाय की तीन संस्कृत रचनाओं का ब्रजभाषा गद्य-पद्य में अनुवाद किया है। 'सेवा दर्पण' (रचनाकाल सं. 1905) यह रचना गो. ब्रजलाल की 'सेवा विचार' नामक मूल संस्कृत रचना का अनुवाद है। 'भाषा वर्षोत्सव' (लिपिकाल सं. 1923) यह रचना 'उत्सव निर्णय सार' नामक रचना का अनुवाद है। 'तिथि निर्णय' (लिपिकाल सं. 1923) गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इस प्रकार डॉ. खण्डेलवाल प्रियादास का रचनाकाल 1905 से मानते हैं।

किशोरीशरण अलि ने खोज के द्वारा प्रियादास जी की 37 रचनाओं का उल्लेख किया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं- 1. अनन्याश्रय पद्धति, अध्व विनिर्णय (गो.वृन्दावनदास कृत) की टीका रचनाकाल वि.सं. 1921, उत्सव बोध, उत्सव निर्णय, ईशावास्योपनिषद चाहबेली, जमुनाष्टक (श्रीहितजू कृत) की टीका, तत्त्व निर्णय, तिथि निर्णय, निजमत दर्पण, नित्य विहारिणी स्तव, परकीया भाव खण्डन, प्रमाण चतुष्ट्य, प्रकाशानन्द पूर्ण संज्ञा, प्रार्थना शतकम्, प्रियाचरण चिह्न तात्पर्य, भागवत-प्रकाश, भक्ति रत्नाकार, मत बेध, महोत्सव निर्णय या वर्षोत्सव निर्णय (रचनाकाल वि.सं. 1913), राधा तत्व दर्पण, श्री राधावल्लभाष्टक, राधा भक्ति मंजूषा, राधाष्टकम्, व्यासनन्दन भाष्य व्रतोत्सव निर्णय, विलक्षण भक्ति मीमांसा, सम्प्रदाय निर्णय, स्फुट वाणी टीका, सारासार विवेक चतुर्विधि निर्णय, सूत्र विमर्षिणी, सुश्लोक मणिमाला, संक्षिप्त सार, सिद्धान्त निर्णय, सेवा दर्पणम्, हितमतार्थ चन्द्रिका (रचनाकाल वि.सं. 1905) एवं हित कथामृत तरंगिणी। [अ०सिं०सै०]

प्रेमघन

प्रेमघन जी चरणदासी संप्रदाय में दीक्षित संत थे। इनके गुरु भाई जोगजीत जी ने अपने ग्रंथ 'लीलासागर' में इनको चरणदास जी के वंश ढूसर वंशीय बताया है। ग्रंथ में ही इनके नाम के आगे 'महाराज' की उपाधि जुड़ी मिलती है। इससे अनुमान होता है कि ये अच्छे महात्मा थे। संभवत: इनका जन्म एवं कर्म क्षेत्र दिल्ली ही रहा होगा।

इनकी बानियों में बीस-बाईस पद ही प्राप्त हुए हैं। इनके पदों में इनकी छाप 'प्रेमाघन' प्राप्त होती है। इनके पदों को देखकर कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति कौशल, भाव सरलता और भाषा के प्रयोग के क्षेत्र में प्रेमघन जी एक परिपक्व एवं सिद्ध कवि थे। [क०उ०]

प्रेमदास

श्री प्रेमदास जी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी तथ्य अनुसन्धेय हैं। किशोरीशरण अलि ने खोज के आधार पर यह लिखा है कि प्रेमदास के गुरु रूपलाल गोस्वामी थे। इनका विद्यमान काल अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्नीसवीं शती के द्वितीय दशक के मध्य अनुमानित है। निकुंज गमन वि.सं. 1813 में अहमदशाह अब्दाली के उत्पात में हुआ था। विशेष रूप से चाचा वृन्दावनदास ने 'रसिक अनन्य परचावली', बसन्त प्रबन्ध चतुर्थ, हित रूप चरित्र बेली और हरिकला बेली आदि ग्रन्थों के छप्पयों में अति संक्षिप्त परिचय दिया है। इनके विषय में 'रसिक अनन्य परचावली' में इस प्रकार लिखा गया है-

श्रीहित गिरा गंभीर धीर वीरन मति झूलहि।
विढ़ते की अभिलास तीर ठाढ़े सब फूलहिं।
अक्षर काढ़ि अगाध समुझि मर जीया धसिवौ।
अरथ काढ़ि रस रतन जौहरी रसिक विलासिवौ।
भाव कल्प तरू आदि दै ग्रन्थ रचे दृढ भावपन।
श्रीरूपलाल गुरूवर कृपा, श्रीप्रेमदास लह्यौ गूढ धन।।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमदास गो. रूपलाल के शिष्य थे और राधावल्लभ सम्प्रदाय के संत माने जाते हैं। इनकी सम्प्रदाय के प्रति अत्यन्त दृढ़ निष्ठा थी। सुकवि होने के साथ इनकी सम्प्रदाय में कीर्ति 'हित चौरासी' की टीका के कारण भी है। 'हित चौरासी' की तीस-पैंतीस टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनकी टीका इस अर्थ में अनूठी है

कि उसमें मूल का अक्षरश: अनुसरण किया गया है। अत: यह मूल का अनुकरण करने वाली सर्वश्रेष्ठ टीका मानी जाती है। प्रेमदास ने इस टीका में प्रत्येक पद का अर्थ करने के पूर्व उस पद की कुंजी का विशद वर्णन किया है, जिससे पद में वर्णित लीला की पृष्ठभूमि को समझने में बहुत सरलता हो जाती है। यह वर्णन ब्रजभाषा गद्य में है और इसमें इनकी कविता शक्ति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। इनका गद्य काव्यमय और प्रौढ़ गद्य है। इस टीका का रचनाकाल पूर्ण प्रमाणित रूप में प्राप्त नहीं होता है। किशोरी शरण अलि ने साहित्य रत्नावली में रचनाकाल सं. 1791 तथा अहमदाबाद में उपस्थित प्रतिलिपि का लिपिकाल सं. 1792 बताया है। प्रेमदास कृत हित चौरासी टीका सम्वत् 1791 की हस्तलिखित प्रति में लिखा है कि माघ मास की शुक्ल पक्षीय द्वितीया, बुधवार को पूर्ण हुई थी।

सत्रह सै इक्यानवै संवत् माघौ मास।
यह प्रबन्ध पूरन भयौ, शुक्ल द्वैज बुधवास।।

अत: यह सिद्ध होता है कि प्रेमदास कृत 'हित चौरासी' टीका का रचनाकाल कार्तिक द्वितीया सं. 1791 है। यह टीका नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित हो चुकी है। चाचा वृन्दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परचावली' के छप्पय में इनके द्वारा रचित एक ग्रन्थ 'भावकल्पतरु' का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ का सम्प्रदाय के साहित्य में गौरव-पूर्ण स्थान बताया जाता है। इनका अपने गुरुदेव गोस्वामी रूपलाल के साथ एक चित्र भी उपलब्ध है। सम्वत् 1813 में वृन्दावन में होने वाले उपद्रव में सैनिकों के द्वारा इसको नष्ट कर दिया गया था।

श्री राधा जन्म बधाई व कुछ अन्य पद बहुत सुन्दर भावों के लिखे हैं। प्रेमदास कृत हित चौरासी की टीका में उत्प्रेक्षा व रूपक अलंकारों की भरमार है। इनका गद्य उत्कृष्ट, भाषा सरल, स्पष्ट, सशक्त एवं सजीव है। शैली व्याख्यात्मक है। गद्य टीका हित चौरासी के अतिरिक्त इनके कुछ रस ग्रन्थ हैं, जिनका उल्लेख किशोरीशरण अलि ने निम्नवत् किया है-पदावली (प्राचीन हस्तलिखित पत्र संख्या बिखरे), भाव कल्पतरु या निजभाव कल्पतरु, रससार संग्रह, हित अलि सिंगार एवं हित हरिवंश चन्द्र व नाम रत्नावली इत्यादि। [अ०सिं०सै०]

प्रेमनारायण

गौड़ ब्राह्मण कुल में जन्मे श्री प्रेमनारायण जी की भगवदीय रहनी अलौकिक थी। इन्होंने असत् संसार से ऐसा वैराग्य धारण कर लिया था कि जीवनपर्यंत प्रिया-प्रियतम की लीलास्थली निधिवन को छोड़कर अन्यत्र नहीं गए। बाल्यकाल में ही माता-पिता के देहावसान हो जाने के बाद इन्होंने गुरुदेव श्री मथुरानाथ जी के चरणारबिंदों और श्रीराधासर्वेश्वर के भजन-ध्यान का ही अवलंबन किया। जीवन के 75 वर्ष व्यक्त रूप से आचार्य जी वृंदावन में ही रहे। [कुं०बि०श०]

फ

फिरोजाबाद के ईसाई धार्मिक स्थल

गरीब नगर का गिरजाघर - गरीब नगर में स्थित यह गिरजाघर इस शहर का पुराना गिरजाघर है। यहाँ भी प्रार्थना और दूसरे कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

सेण्ट जोन्स गिरजाघर (चर्च)-यह गिरजाघर फिरोजाबाद में राष्ट्रीय राजमार्ग के मीरा चौराहा/सेण्ट जोन्स चौराहा, ढोलपुरा में सेण्ट जोन्स सीनियर सेकेण्डरी स्कूल मार्ग पर स्थित इसी स्कूल में बना हुआ है, जो रोमन कैथोलिक ईसाइयों का गिरजाघर है। यद्यपि सेण्ट जोन्स सीनियर सेकेण्डरी स्कूल की नींव रेवरेण्ड सीसिल डी सा आर्कबिशप आगरा के द्वारा 29 अप्रैल 1989 में रखी तथा कैथोलिक चर्च के प्रभारी रेवरेण्ड फादर पॉल थान्निकल प्राइस्ट थे, तथापि गिरजाघर का निर्माण सन् 2000 में हुआ है। इस स्कूल के प्रवेश द्वार के समीप ही यादगार- येसु खिस्त जयन्ती सन् 2000 अंकित है। यहाँ काले रंग के खण्डों की दीवार पर खड़ी मदर मेरी की सुन्दर श्वेत प्रतिमा और खण्डों से ही नीचे एक गुहा बनी हुई है। इसी स्कूल के परिसर में पश्चिमी छोर पर सेण्ट जोन्स गिरजाघर बना हुआ है, जो आधुनिक शैली की इमारत है। यहाँ प्रतिदिन सुबह 6.15 बजे तथा सायं 5:30 बजे प्रार्थना होती है जिसमें फादर और नन सम्मिलित होती हैं। हर रविवार प्रात: 8 बजे सामूहिक प्रार्थना होती है, उसमें नगर के ईसाई समुदाय के लोग भाग लेते हैं। [ब०सिं०सि०]

फिरोजाबाद के जैन धार्मिक स्थल

फिरोजाबाद भारत भर में अपने काँच उत्पादों एवं चूड़ियों के लिए प्रसिद्ध नगर है जिसकी स्थापना अकबर के मनसबदार फिरोजशाह ने की थी। फिरोजशाह का मकबरा आज भी फिरोजाबाद में नगरपालिका के सामने खंडहर रूप में विद्यमान है।

फिरोजाबाद जैन धर्मावलंबियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। यहाँ के तीर्थस्थलों में अतिशय क्षेत्र चंद्रवाड़ जैन मंदिर, मनसबदार में ऋषभदेव का मंदिर और शिकोहाबाद में स्थित भरत प्रतिमा स्थल है जहाँ आदिनाथ के बड़े पुत्र भरत की विशाल प्रतिमा स्थापित है।

यहाँ के इन प्रमुख तीर्थों की जानकारी इस प्रकार प्रस्तुत की जा रही है-

जैन तीर्थों के नक्शे में फिरोजाबाद इसलिए शामिल है क्योंकि यहाँ नगर सेठ श्री छदामीलाल जैन द्वारा निर्मित जैन मंदिर है। दूर-दूर से आने वाले तीर्थयात्री जैन मंदिर एवं चंद्रप्रभु मंदिर (चंद्रप्रभु मंदिर, कम्बुआन मोहल्ला) में अवश्य जाते हैं। श्री छदामीलाल जैन एक धर्मप्रेमी उदारमना सेठ थे। उन्होंने 1947 ई. में एक विशाल परिसर में जैन मंदिर का निर्माण करवाया। इसके साथ ही उन्होंने नगर में एक पी.जी. कॉलेज जैन कॉलेज भी निर्मित कराया, जो आगरा विश्वविद्यालय से संबद्ध है।

अतिशय क्षेत्र चंदवार-फिरोजाबाद नगर के पास स्थित चंद्रवाड़ अतिशय क्षेत्र है। यह जैन प्रसिद्ध तीर्थस्थल माना जाता है। यह फिरोजाबाद के दक्षिण में यमुना किनारे स्थित वही चंदवार है जहाँ कभी भरतपाल, अभयपाल, जाहड़, श्रीबल्लाल जैसे राजा थे। सन् 995 ई. में राजा चंद्रपाल के नाम पर इस प्राचीन नगर का नाम चंदवार रखा

गया। चंद्रपाल एक अत्यंत धर्मात्मा और उदार राजा था। उसके आश्रय में अनेक मूर्तिकार एवं कलाकार रहते थे जो वर्षभर जैन मूर्तियों का निर्माण करते थे। उन मूर्तियों की प्रतिष्ठा वर्ष के अंत में करा दी जाती थी।

राजा चंद्रपाल के पास पारदर्शी स्फटिक मणि की दो मूर्तियाँ थीं एक चंद्रप्रभु की डेढ़ फीट ऊँची पद्मासन मुद्रा की मूर्ति और दूसरी श्री विमलनाथ की मूर्ति। उसने 996 ई. (वि.सं. 1053) में चंदवार स्थित मंदिर में इन मूर्तियों का प्रतिष्ठा महोत्सव संपन्न कराया था। चंदवार नगर अति प्राचीन है और फिरोजाबाद नगर से बहुत पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। मोहम्मद गोरी ने अपने विजय अभियान में आगे बढ़ते हुए चंदवार पर आक्रमण किया परंतु राजा चंद्रपाल मोहम्मद गौरी की विशाल सेना के समक्ष पराजित हो गया। चंद्रप्रभु की मूर्ति तथा अपने परिवार को एक नाव में बिठाकर उसे जलमार्ग से रवाना कर दिया किन्तु यमुना में नाव पलट गई और चंद्रप्रभु की प्रतिमा, रानी, राजकुमार यमुना के अथाह जल में समा गए तथा राजा ने युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की। मोहम्मद गौरी ने नगर को लूट लिया।

कुछ भक्तों ने यमुना जल से चंद्रप्रभु की मूर्ति का उद्धार करके उसे फिरोजाबाद स्थित चंद्रप्रभु मंदिर में स्थापित कराया। इस मनोरम प्रतिमा के दर्शन के लिए अतिशय क्षेत्र फिरोजाबाद आने वाले जैन तीर्थयात्री चंद्रप्रभु मंदिर अवश्य जाते हैं।

चंदवार फिरोजाबाद नगर के दक्षिण में 7-8 कि.मी. दूर यमुना तट पर बसा हुआ था जो अब ध्वंसावशेष के रूप में ही है। इसके प्राचीन खंडहर अतीत की गौरव-गाथा व्यक्त करते हैं। चंदवार के मंदिर में राजा चंद्रपाल द्वारा स्थापित की गई दूसरी मूर्ति विमलनाथ की थी जो पारदर्शी स्फटिक मणि से निर्मित थी। इस मूर्ति का कोई पता नहीं चलता किंतु चंद्रप्रभु की मूर्ति को देखकर उसकी बहुमूल्यता का अनुमान लगाया जा सकता है।

चंद्रप्रभु मंदिर-फिरोजाबाद के तीर्थस्थलों में चंद्रप्रभु मंदिर जो अब चंदाप्रभु मंदिर कहा जाता है। यहाँ अष्टम जिन श्री चंद्रप्रभु भगवान की स्फटिक मणि की दो बेशकीमती मूर्तियाँ थीं जिनमें एक चंद्रप्रभु की थी और दूसरी विमलनाथ की थी। कहते हैं मोहम्मद गौरी के आक्रमण के समय राजा ने इस बहुमूल्य चंद्रप्रभु प्रतिमा को रानी और राजकुमार के साथ एक नाव में रखकर यमुना के मार्ग से भेजने का प्रयास किया किंतु नाव यमुना में डूब गयी और उसके साथ यह प्रतिमा भी यमुना में समा गयी। एक भक्त ने इसका उद्धार किया और इसे फिरोजाबाद के कम्बुआन मोहल्ला में स्थित दिगंबर जैन मंदिर में स्थापित करा दिया। इसी एक मूर्ति के कारण आज भी फिरोजाबाद नगर जैन तीर्थयात्रियों के लिए दर्शनीय बन गया है। पारदर्शी स्फटिक मणि से बनी विमलनाथ की जो दूसरी मूर्ति चंदवार राज्य में थी, उसका आज तक पता नहीं चल सका।

छदामीलाल जैन मंदिर-यह जैन मंदिर श्वेत संगमरमर का बड़ा भव्य मंदिर है। मंदिर के भीतर 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी जी की प्रतिमा विराजमान है। मंदिर के सामने भव्य जलाशय एवं पार्क है। इसके मुख्य द्वार के सामने ही मान स्तंभ है। मान स्तंभ पर विभिन्न कलाकृतियाँ उकेरी गई हैं। मंदिर के एक ओर पुस्तकालय है जिसमें जैन धर्म से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं। मंदिर के पीछे बाहुबली की विशाल प्रतिमा खड्गासन में स्थापित की गई है। यह प्रतिमा एक ही चट्टान से निर्मित है जिसका निर्माण लगभग सवा साल में 11 हजार से अधिक कुशल कारीगरों ने किया। यह भव्य प्रतिमा 37 फीट ऊँची है जिसे 8 फीट के आधार पर स्थापित किया गया है। इस प्रकार धरातल से प्रतिमा की ऊँचाई 45 फीट है। यह भारत में बाहुबली की दूसरी सबसे ऊँची प्रतिमा है। इसका वजन 150 टन है। इस प्रतिमा का उद्घाटन सन् 1976 में तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी.डी. जत्ती द्वारा किया गया। बाहुबली की सबसे ऊँची प्रतिमा गोमलेश्वर (आंध्रप्रदेश) में है। बाहुबली जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के छोटे पुत्र थे जो अत्यंत सुंदर, शक्तिशाली एवं पराक्रमी थे। भरत ऋषभदेव (आदिनाथ) के बड़े पुत्र थे। भरत को ऋषभदेव ने अयोध्या का राज्य दिया जबकि बाहुबली को गोदनपुर का राजा बनाया। दोनों भाइयों में

युद्ध हुआ जिसका अंत वैराग्य में हुआ। बाहुबली एवं भरत ने सब कुछ छोड़कर वैराग्य धारण कर लिया।

बाहुबली की इस भव्य प्रतिमा के सामने फब्बारों से सुसज्जित एक जलकुंड है। छदामीलाल जी व्यावसायिक बुद्धि के व्यक्ति थे। मंदिर की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे इसलिए उन्होंने कुछ आश्रम भी बनवा दिए थे।

वर्तमान में चंदवार खंडहरों में बदल चुका है। यहां सिर्फ मंदिर अवशिष्ट हैं जो टूटा-फूटा था तथा उसका जीर्णोद्धार यहाँ के जैन समाज ने करा दिया है। प्रतिवर्ष चंदवार में एक मेले का आयोजन होता है। आयोजन फिरोजाबाद के जैन समाज द्वारा कराया जाता है। फिरोजाबाद आने वाले जैन तीर्थयात्री चंदवार के दर्शन हेतु अवश्य जाते हैं।

भरत प्रतिमा स्थल (भरतेश्वर) शिकोहाबाद-फिरोजाबाद से 18 कि.मी. पश्चिम में स्थित शिकोहाबाद में भरत भगवान की 31 फुट ऊँची प्रतिमा स्टेशन रोड पर नसिया जी में स्थापित की गई है।

भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) के केवल दो पुत्र राजा बने-भरत और बाहुबली। अयोध्या के राजा भरत बने जबकि गोदनपुर के राजा बाहुबली बने। ऋषभदेव की प्रतिमा मरसलगंज में है तथा उनके एक पुत्र बाहुबली की विशाल प्रतिमा फिरोजाबाद के छदामीलाल जैन मंदिर में स्थापित की गई है जबकि दूसरे पुत्र राजा भरत की प्रतिमा शिकोहाबाद में स्टेशन रोड पर नसिया जी में जिसे अब भरतेश्वर कहा जाने लगा है में स्थापित की गई है।

भरत की यह प्रतिमा 31 फीट ऊँची है। ग्रेनाइट पत्थर की एक ही चट्टान से इस प्रतिमा का निर्माण एक वर्ष में कारीगरों द्वारा किया गया। इसे 31 फीट ऊँचे आसन पर 16 जनवरी 2014 को स्थापित किया गया। इस प्रकार इसकी कुल ऊँचाई जमीन से 62 फीट है। 10 फरवरी 2014 को इस प्रतिमा का पंचकल्याणक समारोह संपन्न हुआ। फिरोजाबाद आने वाले जैन तीर्थयात्री अब इसका अवलोकन भी करते हैं।

मरसलगंज (ऋषभनगर)-फिरोजाबाद के जैन तीर्थस्थलों में अतिशय तीर्थ क्षेत्र मरसलगंज (ऋषभनगर) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तीर्थस्थल फिरोजाबाद से 21 कि.मी. दूर है। फिरोजाबाद के रामलीला मैदान के पास स्थित कोटला बस अड्डे से प्राइवेट बसें फरिहा के लिए जाती हैं। फरिहा से लगभग 2 कि.मी. उत्तर की ओर मरसलगंज (फरिहा-नारखी रोड पर) स्थित है।

ईसा की 15वीं शती में दक्षिण से एक जैन धर्मावलंबी बाबा ऋषभदास इस भूमि पर पधारे और यहाँ की मनोरम भूमि को देखकर उन्होंने अनेक व्यक्तियों का सहयोग लेकर मंदिर बनवाया। विशाल शिखरयुक्त इस जिनालय में उन्होंने ऋषभदेव की पद्मासन मुद्रा में बनी प्रतिमा को विराजमान कराया। यह मूर्ति आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व की निर्मित है।

सन् 1944 ई. में यहाँ विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई, जिसमें दो अन्य वेदियाँ बनीं। बायीं ओर भगवान शांतिनाथ और दायीं ओर भगवान नेमिनाथ की पद्मासन में स्थित प्रतिमाएँ विराजमान की गईं और मेला भूमि पर पाँच प्रवेशद्वार बनवाए गए। सन् 1963 ई. में बाहर बने नव मंदिर में आदिनाथ की नौ फीट ऊँची श्वेत वर्ण की पद्मासन में स्थित प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। मकराना पत्थर से निर्मित ऐसी प्रतिमा अन्यत्र नहीं है।

भगवान शांतिनाथ के दायीं ओर भगवान श्रीराम (पद्म) और बायीं ओर हनुमान जी (शैल) की 6 फीट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ तथा भगवान नेमिनाथ के दायीं ओर बाहुबली स्वामी तथा बायीं ओर पद्मावती सहित पार्श्वनाथ की चार फीट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ भी इसी समय स्थापित की गयीं। फिरोजाबाद आने वाले जैन तीर्थयात्री अतिशय क्षेत्र मरसलगंज की यात्रा अवश्य करते हैं। [अ०ति०]

× × ×

फिरोजाबाद नगर की स्थापना से पहले यहाँ अत्यन्त समृद्ध और वैभवशाली 'चन्द्रवाड़' नगर हुआ करता था, जिसमें बड़ी संख्या में हिन्दू और जैन धर्म के मन्दिर थे। उनका मुसलमान हमलावरों ने मजहबी जुनून में विध्वंस

कर दिया। यही कारण है कि इस क्षेत्र में प्राचीन हिन्दू-जैन मन्दिरों के अवशेष और हजारों की संख्या में खण्डित हिन्दू देवी-देवताओं, जैन तीर्थंकरों और दूसरी तरह की मूर्तियाँ मिली हैं। धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होते ही जैन समुदाय ने अपने तीर्थंकरों के नाम से नये मन्दिरों का निर्माण करना शुरू कर दिया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर-यह मन्दिर जूते वाली गली, घेर खोखल में अवस्थित है। इसका निर्माण लाला हुलासी लाल जी अग्रवाल जैन अट्टा वालों ने कराया था। इस मन्दिर की इमारत बहुत सुन्दर है। इस मन्दिर के मूल नायक सुपार्श्वनाथ की काले कसौटी पाषाण से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। अन्य वेदियों पर भगवान आदिनाथ, वासुपूज्य, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी, पाँच बाल यति, पंचमेरू चौबीसी विराजमान है। इनमें से कुछ पाषाण और कुछ धातुओं से निर्मित हैं।

श्री चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र- यह मन्दिर सदर बाजार, खिड़की वाले मुहल्ले में अवस्थित है। इस मन्दिर में सुनहरी रंगों से बनी विभिन्न आकृतियों की सुन्दर सजावट है। मन्दिर परिसर में महावीर दिगम्बर जैन कन्या विद्यालय भी संचालित किया जा रहा है। इस मन्दिर में मुख्य वेदी भगवान चन्द्रप्रभु की है। इनके अलावा यहाँ पाँच वेदियों पर भगवान आदिनाथ, नेमिनाथ, महावीर स्वामी, शीतलनाथ एवं शान्तिनाथ स्थापित हैं। यहाँ चौबीसी भी है। इस मन्दिर का संचालन जैन श्री 1008 चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र समिति द्वारा किया जा रहा है। इस मन्दिर का निर्माण जैन समाज द्वारा कराया गया है।

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र-यह स्थान फिरोजाबाद नगर से 5 कि.मी. दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यहाँ सन् 996 या सन् 999 में रामसिंह हारूल ने अपने इष्टदेव चन्द्रप्रभु की स्फटिक की प्रतिमा मन्दिर बनवाकर स्थापित की। चन्दवार पर चौहानों का आधिपत्य था। नवीं और दशवीं शताब्दी में राजा चन्द्रसेन से चन्दवार का उल्लेख मिलता है। चन्दवार में ही सन् 1173 में माथुरवंशी नारायण साहू की भार्या रूपिणी ने श्रीधर से 'भविष्यदत्त कथा' लिखवायी थी। वर्तमान में यह अति प्राचीन, सुन्दर और भव्य मन्दिर एक ऊँचे टीले पर चन्द्रवाड़ गाँव में अवस्थित है जो यमुना खादरों के बीच है। इस स्थान से थोड़ी दूरी पर यमुना प्रवाहित होती है। चन्द्रवाड़ कभी भव्य नगर हुआ करता था, जिसका मुसलमान आक्रान्ताओं ने बड़े स्तर पर कत्ले आम, लूटमार करने के बाद विध्वंस कर दिया। कुछ सूत्रों का कथन है कि यहाँ कभी 51 जैन मन्दिर और 100 से अधिक भगवान शिव के मन्दिर हुआ करते थे। इस मन्दिर का समय-समय पर जीर्णोद्धार होता आया है।

पुरातत्त्व विभाग के अनुसार यह मन्दिर सोलह सौ वर्ष पुराना है। यह मन्दिर और इसका शिखर बहुत दूर से दिखायी देता है। इस मन्दिर के प्रवेश द्वार के दोनों ओर के स्तम्भों पर मुँह खोले सिंहों की प्रतिमाएँ हैं जो लाल रंग के पाषाण से निर्मित हैं। इनसे थोड़ा आगे बढ़ने पर एक चबूतरे पर राजा चन्द्रसेन की हाथ में चन्द्राकार तलवार लिए पाषाण प्रतिमा विराजमान है, जो कभी चन्द्रवाड़ के राजा थे।

इस जैन मन्दिर का निर्माण बादामी पत्थर से हुआ है। इस मन्दिर की बाहरी तीन फीट तथा अन्दर की पाँच फीट मोटी चूने की चिनाई की ईंटों की बनी दीवारें हैं। इस मन्दिर में पाँच वेदियाँ हैं। इनमें मूल वेदी पर भगवान आदिनाथ की लगभग ढाई हजार साल पुरानी प्रतिमा विराजमान है जो 31 इंच की है। इनके साथ भगवान पद्म प्रभु की सात सौ वर्ष पुरानी, पार्श्वनाथ की पचास वर्ष पुराने विग्रह हैं। मूल वेदी के बायीं ओर क्रमशः चन्द्रप्रभु पचास वर्ष-पार्श्वनाथ सात सौ साल, महावीर स्वामी की सात सौ वर्ष, शीतलनाथ भगवान और सरस्वती की पन्द्रह सौ वर्ष प्राचीन प्रतिमाएँ हैं, जबकि दायीं ओर क्रमशः महावीर स्वामी दो हजार साल पुरानी, सुपार्श्वनाथ और नेमिनाथ भगवान की आठ सौ साल पुरानी प्रतिमा है। भगवान शान्तिनाथ की 3 फीट की प्रतिमा पृथक वेदी पर आसीन है जो दो हजार साल के लगभग प्राचीन है। इस मन्दिर के एक कक्ष में इस क्षेत्र के उत्खनन में प्राप्त सौ से अधिक खण्डित मूर्तियाँ या उनके अवशेष हैं। इस मन्दिर के द्वार पर भव्य सुन्दर मानस स्तम्भ है जो 55 फीट ऊँचा और श्वेत संगमरमर से बना हुआ है।

इसका निर्माण सन् 2008 में हुआ है। इस स्तम्भ पर भगवान महावीर स्वामी की माता के सोलह स्वप्नों का चित्रण है। इस स्तम्भ में तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ-साथ, सुन्दर बेल-बूटे, हिंसक सिंह, बैल, गाय एक साथ उत्कीर्ण किये गए हैं। कविरत्न श्रीधर तथा महाकवि रइघू की स्मृति में दो हाल बने हुए हैं। यह पावन तीर्थ अतिशय चमत्कारी, कल्याणकारी, मन को शान्ति प्रदान कर सभी दुःखों, चिन्ताओं, बाधाओं को हरने वाला है।

श्री दिगम्बर जैन चैत्यालय- यह बड़ी छपैटी में सेठ छदामीलाल जैन की कोठी के सामने स्थित है। यह फिरोजाबाद में सबसे पुराना मन्दिर है। यहाँ मुख्य वेदी पर भगवान आदिनाथ की काले पाषाण से निर्मित प्रतिमा विराजमान है। इनके अलावा अन्य वेदियों पर भगवान चन्द्राप्रभु, पार्श्वनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नेमिनाथ विराजमान हैं। यहाँ कुछ प्रतिमा धातु, पाषाण और कुछ स्फटिक से बनी हैं।

श्री दिगम्बर जैन चैत्यालय मन्दिर नाहरपुर वाला-यह मन्दिर बादशाह मार्केट, जलेसर रोड पर स्थित है। यह मन्दिर लगभग चार सौ साल पुराना है जो पहले नाहरपुर गाँव में था। सन् 1992-93 में इस मन्दिर को यहाँ फिर से स्थापित किया गया है। दूसरी मंजिल पर स्थित मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ जी विराजमान हैं। उनकी यह प्रतिमा श्वेत पाषाण की है। इनके साथ-साथ भगवान नेमिनाथ की मूर्ति काले पत्थर से निर्मित है। भगवान चन्द्राप्रभु, आदिनाथ, शीतलनाथ आदि की प्रतिमाएँ अष्टधातु से निर्मित हैं।

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर-यह मन्दिर उम्मरगढ़ी, गांधी नगर में बना हुआ है। यह मन्दिर काफी पुराना है। इस मन्दिर की मूल वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ विराजमान हैं। इनके साथ मुनिसुव्रतनाथ, नेमिनाथ के विग्रह भी उपस्थित हैं। ये भी श्याम पाषाण से निर्मित हैं। इस मूल वेदी के जहाँ एक ओर वेदी पर महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ, चन्द्राप्रभु विराजमान हैं, वहीं दूसरी ओर वेदी पर महावीर स्वामी जी की प्रतिमा विराजमान है।

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर-यह मन्दिर आगरा रोड पर स्थित रानी वाला मार्केट के पीछे, रानी वाला परिसर (कम्पाउण्ड) में बना निजी मन्दिर है, जो बस स्टैण्ड से 500 मीटर की दूरी पर है। इसका शिखर अन्दर गली में घुसकर दिखायी देता है। इस मन्दिर के संस्थापक सेठ श्रीधरलाल रानीवाला हैं, जिन्होंने इसे सम्वत् 2026 में बनवाया था। इसमें मूल वेदी पर भगवान शीतलनाथ हैं। इनके साथ-साथ भगवान महावीर, सम्भवनाथ, शीतलनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, आदिनाथ, शान्तिनाथ जी के विग्रह हैं। इनमें से कुछ धातु और पाषाण से निर्मित हैं।

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अट्टावाला-यह खूबसूरत जैन मन्दिर सदर बाजार के छोटे चौराहे पर अवस्थित है। इस मन्दिर का द्वार बादामी रंग के पत्थर से बना है। इसमें सुन्दर बेल-बूटे, तीर्थंकरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इसके द्वार पर सूँढ़ उठाये स्वागत की मुद्रा में दो हाथियों की मूर्तियाँ हैं। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान नेमिनाथ जी की प्रतिमा विराजमान है। इनके साथ वासुपूज्य, मल्लिनाथ, पारसनाथ, महावीर स्वामी की अष्टधातु से निर्मित प्रतिमा है।

श्री दिगम्बर जैन पंचमणि मन्दिर-यह मन्दिर बड़ा मुहल्ला में स्थित है जो फिरोजाबाद का काफी प्राचीन जैन मंदिर बताया जाता है।

श्री दिगम्बर जैन प्राचीन नसिया जी- यह चन्दवार गाँव में मुख्य मन्दिर के प्रवेशद्वार पर स्थित है। यहाँ बनी इस इमारत में तीन कक्ष हैं। इसमें पहले में ब्रह्म गुलाल मुनि के चरण बने हुए हैं। यहाँ विद्यानन्द महाराज ने साधना की थी, उन्हें 'राष्ट्र सन्त' घोषित किया गया था। उन्हें प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी अपना गुरु मानती थीं। दूसरे कक्ष में नसिया जी हैं तथा तीसरे कक्ष में प्राचीन शिव मन्दिर है।

श्री दिगम्बर जैन भगवान महावीर जिनालय- यह मन्दिर सुभाष तिराहा, जैन नगर, आगरा रोड, फिरोजाबाद में स्थित है। जो श्री छदामीलाल जैन ट्रस्ट, जैन नगर द्वारा संचालित है। सन् 1947 में स्थापित यह मन्दिर 50 बीघा जमीन में बना है। इस मन्दिर परिसर में स्थित मानव स्तम्भ, महावीर स्वामी का मन्दिर, भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर, मोहक और दर्शनीय हैं। इनमें 'मानव स्तम्भ 75 फीट ऊँचा तथा श्वेत संगमरमर से

निर्मित है। इसमें भगवान महावीर स्वामी की चार दिशाओं में देखती हुई प्रतिमाएँ हैं। इस स्तम्भ में महावीर स्वामी की माता के सोलह सपने और जैन धर्म से सम्बन्धित चिह्न भी उत्कीर्ण हैं। मानव स्तम्भ के बीच एक तालाब है जिसमें जल भरा रहता है। इसमें एक फुब्बारा भी है। इसके बाद एक कई फीट ऊँचे चबूतरे पर संगमरमर पत्थर से बना महावीर स्वामी का भव्य और विभिन्न प्रकार से अलंकृत मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर के विशाल कक्ष में वेदी पर भगवान महावीर स्वामी की श्वेत संगमरमर की बड़ी प्रतिमा विराजमान है। इस मन्दिर के पीछे मैदान में उत्तर भारत में सबसे विशाल भगवान बाहुबली की प्रतिमा विराजमान है जिसकी ऊँचाई 46 फीट है। यह प्रतिमा 6 फीट ऊँचे चबूतरे पर विराजमान है। इस प्रतिमा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक ही पाषाण खण्ड से निर्मित है। यहाँ इस प्रतिमा की विधिवत स्थापना सन् 1975 में हुई थी जो इस तीर्थस्थल का सबसे बड़ा धार्मिक आस्था एवं आकर्षण का केन्द्र है। यहाँ बड़ी संख्या में जैन तीर्थयात्री देश के विभिन्न भागों के साथ-साथ अन्य देशों से भी आते हैं। इस मन्दिर परिसर में बनी इमारतों पर जैन धर्म से सम्बन्धित उपदेश, चिह्न एवं चित्र आदि अंकित हैं।

श्री दिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर नसिया- यह मन्दिर रामलीला मैदान के पास, कोटला मार्ग पर, पी.डी.जैन कॉलेज के निकट स्थित है। नसिया जी नगर के बाहर बनाये जाते थे जहाँ दिगम्बर सन्त प्रवास किया करते थे। अब यह स्थान शहर में आ गया है। यह मन्दिर बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। इस मन्दिर की मूल वेदी पर भगवान शीतलनाथ जी विराजमान हैं। जिनकी पाँच फीट की श्याम पाषाण से निर्मित प्रतिमा है। इनके साथ अन्य वेदियों पर भगवान पारसनाथ, मुनिसुव्रत नाथ उपस्थित हैं। इस मन्दिर की सभी प्रतिमाएँ सुन्दर और मोहक हैं। इस मन्दिर में पंचपरमेष्टी में नेमिनाथ, चन्द्राप्रभु, वासुपूज्य, मल्लिनाथ, आदिनाथ हैं।

श्री पल्लीवाल दिगम्बर जैन मन्दिर- यह मन्दिर बड़ा मुहल्ले में स्थित है। इसकी इमारत बादामी पत्थर से बनी है। यह मन्दिर लगभग 300-400 साल पुराना बताया जाता है। इस मन्दिर की मुख्य वेदी पर भगवान आदिनाथ की काले कसौटी की प्रतिमा विराजमान है जो फिरोजाबाद के सभी मन्दिरों में स्थापित प्रतिमाओं से सबसे पुरानी बतायी जाती है। अन्य वेदियों पर पार्श्वनाथ, चन्द्राप्रभु, शीतलनाथ, चौबीसी विराजमान हैं।

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन चौबीसी टोंक मन्दिर- यह मन्दिर और मुंशी बंशीधर प.पू.दिगम्बर जैन धर्मशाला गली लोहियान, सदर बाजार, जामा मस्जिद के सामने वाली गली में स्थित है। इस मन्दिर में मुख्य वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की श्याम पाषाण से निर्मित 5 फुट की प्रतिमा विराजमान है। दूसरी वेदियों पर भगवान महावीर स्वामी, चन्द्राप्रभु, पदमावती, क्षेत्रपाल की श्वेत संगमरमर के विग्रह विराजमान हैं। चौबीसी में धातु और पाषाण की बनी चार दशक से अधिक पुरानी मूर्तियाँ हैं।

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर-यह मन्दिर सेण्ट्रल चौराहा, जलेसर रोड पर पहली गली में उत्तर थाने के पास स्थित है जो 'भौड़ेला वाला जैन मन्दिर' कहलाता है। इसका कारण इस मन्दिर की कुछ प्रतिमाएँ भौड़ेला गाँव स्थित जैन मन्दिर की हैं। इस मन्दिर की स्थापना भी भौड़ेला के जैन परिवार ने की है। भौड़ेला गाँव में ढाई सौ वर्ष पुराना भगवान श्री पार्श्वनाथ का जैन मन्दिर है। यहाँ इस मन्दिर की स्थापना सन् 1996 में हुई है। इस मन्दिर में मूल वेदी पर भगवान श्री पार्श्वनाथ जी विराजमान हैं।

श्री शीतलनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर- यह मन्दिर रसूलपुर में स्थित है। यह मन्दिर भी बहुत प्राचीन है जिसमें मूल वेदी पर भगवान शीतलनाथ का विग्रह विराजमान है। इनके साथ तीर्थंकरों की छोटी-बड़ी मूर्तियाँ भी हैं।

[ब०सिं०सि०]

फिरोजाबाद के मुस्लिम धार्मिक स्थल

मौजूदा फिरोजाबाद शहर के आबाद होने से पहले यहाँ 'चन्द्रवाड़' नगर हुआ करता था, जिसे वक्त-वक्त पर

मुसलमान हमलावरों ने जीतने के बाद लोगों का कत्ले-ए-आम करने के साथ-साथ हिन्दुओं और जैनों के मन्दिरों को जमींदोज कर दिया। उनमें रखे जेवरातों की लूट के साथ उनकी मूर्तियों को खण्डित कर दिया। इसके साथ कुछ उन्हीं जगहों और कुछ नयी जगहों पर अपने-अपने फिरकों के हिसाब से अपनी मस्जिदें, दरगाह, इमामबाड़े कायम किये हैं। इनमें से कुछ इस तरह हैं-

अड्डेशाह मस्जिद-यह मस्जिद मुहल्ला नाला, सदर बाजार में बनी हुई है। इसे भी बहुत पुरानी मस्जिद बताया जाता है। यह मस्जिद 'खजूर वाली' या 'बाबा अड्डेशाह' की मस्जिद के नाम से भी जानी जाती है। इस मस्जिद में दो मीनारें हैं।

आगा साहब की मस्जिद-यह खूबसूरत मस्जिद हाजीपुरा मुहल्ले में बनी है जो कुछ ही साल पहले ही बनी है। सफेद मार्बल के पत्थरों से बनी यह मस्जिद दूर से बहुत सुन्दर दिखायी देती है जो यहाँ की दूसरी मस्जिदों की तुलना में आकार में भी बड़ी है। इसमें एक गुम्बद और चार मीनारें हैं। यह मस्जिद काफी कलात्मक ढंग से बनायी गयी है।

इमामबाड़ा-यह मुहल्ला इमामबाड़ा में स्थित मैदान है, जो सदर बाजार से जुड़ा हुआ है। इमामबाड़ा उस जगह या स्थान को कहते हैं, जहाँ ताजिए रखे जाते हैं। इसी कारण मुहल्ले का नाम 'इमामबाड़ा' पड़ गया है।

एक मीनारा मस्जिद-यह मस्जिद सदर बाजार, आगरा गेट मार्ग पर जामा मस्जिद के निकट बनी हुई है। इस मस्जिद में श्वेत संगमरमर की पश्चिम दिशा में बनी एक ही मीनार है। इस कारण मस्जिद का नाम ही 'मस्जिद एक मीनारा' पड़ गया है। इस मस्जिद को सात सौ साल पुरानी बताया जाता है। इस मस्जिद का दरवाजा भी दक्षिण दिशा में है, जो सदर बाजार में खुलता है।

गढ़ैया मुहल्ले की मस्जिद-यह मस्जिद गढ़ैया मुहल्ले में बनी हुई है जो आकार में छोटी है। यह मस्जिद भी सौ साल पुरानी बतायी जाती है। इसका निर्माण भी ककइयाँ ईंटों से हुआ है तथा समय-समय पर इसकी मरम्मत भी होती रही है।

जामा मस्जिद-सदर बाजार, आगरा गेट मार्ग पर एक मीनारा मस्जिद के समीप स्थित यह मस्जिद लाल पत्थर की बनी भव्य मस्जिद है, जो पाँच सौ साल पुरानी बतायी जाती है। इसे हजरत अब्दुलशाह ने बनवाया था। इस मस्जिद का पिछला हिस्सा दूर से ही दिखायी देता है। इसका दरवाजा दक्षिण दिशा में सदर बाजार की ओर खुलता है। इसमें बड़ी संख्या में लोग एक साथ नमाज पढ़ सकते हैं।

नासिर शाह दरगाह एवं मस्जिद-यह दरगाह और मस्जिद बड़ी छपैटी मुहल्ले में स्थित है जो कोई डेढ़ सौ साल पुरानी है। यह दरगाह सूफी संत हजरत नासिर अलीशाह रहमतुल्ला अलैह की है। नासिर अलीशाह का इन्तकाल 143 साल पहले सन् 1874 को हुआ था।

पुरानी तहसील वाली मस्जिद- अब इसे 'बिलाल मस्जिद' भी कहा जाने लगा है। यह मस्जिद यहाँ पर तहसील बनने के समय की बतायी जाती है। इस तरह यह भी कदीमी मस्जिद है। इसका परिसर अधिक बड़ा नहीं है, लेकिन वर्तमान में इसके बेहतर रखरखाव के कारण अच्छी स्थिति में है।

मस्जिद इमामबाड़ा-यह मस्जिद कटरा मुहल्ला में स्थित है जो मुगल कालीन बतायी जाती है। घण्टाघर से आगे बौहरान गली से विपरीत दिशा में इमामबाड़ा मुहल्ला है। उसी में यह सुन्नी मुसलमानों का इमामबाड़ा है, जो काफी भव्य इमारत है।

मस्जिद मकबरा फिरोजशाह - यह नगर निगम के सामने आगरा गेट मार्ग पर वर्तमान बस स्टैण्ड से लगभग 500 मीटर की दूरी पर स्थित है। यह कोई 10 फीट ऊँचे स्थान पर बना है। इसका निर्माण 765 वर्ष पूर्व फिरोजशाह तुगलक द्वारा बनवाया बताया जाता है। हरे रंग में पुते इस मकबरे का करीब 35 फीट ऊँचा गुम्बज है। इस मकबरे

के चारों ओर लाल पत्थर से बने चार बुर्ज हैं। इस मकबरे में एक तलघर में फिरोजशाह तुगलक की असली और ऊपर उसकी प्रतिकृति कब्र बताते हैं। इसी परिसर में मस्जिद भी है, जिसमें सन् 2002 से फिर से नमाज पढ़ी जाने लगी है।

शाही मस्जिद-यह मस्जिद फिरोजाबाद की सबसे पुरानी मस्जिद बतायी जाती है जो मुहल्ला पठान में स्थित है। शेरशाह सूरी ने चन्दवार पर हमला करने को इस जगह पर अपना डेरा डाला था। जब उसने चन्दवार को फतेह कर लिया, तब उसकी खुशी में उसने यहाँ मस्जिद तामीर की थी।

शाही मस्जिद कटरा मुहल्ला-यह मस्जिद कटरा मुहल्ला में स्थित है। यह नूरी मस्जिद से आगे है। यह मस्जिद फिरोजशाह तुगलक काल की बतायी जाती है। यहाँ वह अपने सैनिकों के साथ नमाज पढ़ने के साथ-साथ अदालत लगाकर फैसले लिया करते थे। इसका सम्बन्ध सूफी सन्त अन्सार हुसैन से भी बताया जाता है।

शिआ इमाम बारगाह एवं मस्जिद-यह इमाम बारगाह तथा मस्जिद कटरा मुहल्ला में स्थित है जो कोई डेढ़ सौ-दो सौ साल पुरानी बतायी जाती है। यह फिरोजाबाद में शिया मुसलमानों की एकमात्र मस्जिद और इमामबाड़ा है। इसमें दो कब्रें हैं । इनमें एक कब्र मिर्जा शौहरत अली बेग एवं दूसरी हाकिम बन्दे हसन की है। इसके एक हिस्से में इमामबाड़ा बना हुआ है जो मुहर्रम के समय खोला जाता है। दूसरे हिस्से में छोटी-सी सुन्दर मस्जिद है।

सौफी साहब का दरगाह- यह दरगाह गाँव सौफीपुर,चन्दवार में यमुना नदी के पास एक ऊँचे टीले पर स्थित है जहाँ एक गोल गुम्बद की शक्ल की इमारत है जिसमें गुम्बद के अन्दर रंगीन चित्रकारी हो रही है जो समय के साथ बदरंग हो गई है। इसमें दो कब्रें हैं। इनमें एक मजार सौफी साहब की बतायी जाती है जो सूफी सन्त थे। वह आठ सौ साल पहले अरब से आये थे।

हिरा मस्जिद-यह मस्जिद घेर खोखल, दक्षिण थाना के पीछे स्थित है। यह मस्जिद अंग्रेजों के समय की बतायी जाती है। सैय्यद सरफराज अली ने अपने भाइयों की मदद से इसे तामीर कराया था। ये ख्वाजा सैय्यद नईमउद्दीन चिश्ती के वंशज थे। यह छोटी-सी मस्जिद लगभग अस्सी-नब्बे साल पुरानी बतायी जाती है। इसका जीर्णोद्धार समय-समय पर होता आया है। [ब०सिं०सि०]

फिरोजाबाद के सिक्ख धार्मिक स्थल

फिरोजाबाद जिला बनने से पहले आगरा जनपद की प्रमुख तहसील थी। यहाँ सन् 1947 में देश के विभाजन के पश्चात् पंजाब और सिंध से बड़ी संख्या में सिक्ख, पंजाबी, सिन्धी शरणार्थी रोजगार की तलाश में आये और यहीं बस गए। उन्होंने यहाँ अपना स्थायी निवास बनाने के बाद अपनी धार्मिक पूजा-अर्चना हेतु समय-समय पर गुरुद्वारे बनवाये।

गुरुद्वारा नयी बस्ती-यह गुरुद्वारा नयी बस्ती मुहल्ले में है इसलिए इसका नामकरण मुहल्ले के आधार पर किया गया है। इस गुरुद्वारे का निर्माण भी सिक्ख और पंजाबी समाज के लोगों द्वारा कराया गया है।

गुरुद्वारा मेहर-यह गुरुद्वारा स्टेशन मार्ग पर स्थित है। यह लगभग 50 वर्ष पुराना है। यह गुरुद्वारा करीब डेढ़ हजार वर्ग गज में अवस्थित दो मंजिला आधुनिक नवीन शैली में निर्मित है। इस गुरुद्वारे का निर्माण सिक्ख समाज ने कराया है। यहाँ हर रोज धार्मिक पूजा-अर्चना के साथ सभी सिक्ख पर्व मनाये जाते हैं। बैसाखी उत्सव भी विशेष धूमधाम से मनाया जाता है। यहाँ सिक्ख तीर्थयात्रियों को रहने-खाने की समुचित व्यवस्था है।

सिन्धी दरबार-यह गुरुद्वारा आर्य नगर मुहल्ले में अवस्थित है। इसका निर्माण सिन्धी समाज द्वारा कराया गया है। [ब०सिं०सि०]

फिरोजाबाद के हिन्दू धार्मिक स्थल

फिरोजाबाद के प्रमुख मंदिरों में हैं-बड़े हनुमान जी का मंदिर, केलादेवी का मंदिर, गोपाल आश्रम, राधाकृष्ण

मंदिर, बिहारीजी का मंदिर, द्वारिकाधीश का मंदिर, वैष्णोदेवी धाम, संकटमोचन हनुमान मंदिर, सीता मंदिर, काली देवी मंदिर, शनिदेव मंदिर इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे मंदिर गली-मोहल्लों में भी स्थित हैं परंतु मान्यता प्रायः उक्त मंदिरों की ही अधिक है।

कालीदेवी मंदिर-जलेसर रोड पर स्थित कालीदेवी मंदिर भी फिरोजाबाद नगर के मंदिरों में महत्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ शिव परिवार के साथ-साथ माँ कालीदेवी की भव्य प्रतिमा स्थापित की गई है।

कैलादेवी मंदिर-राजस्थान में स्थित कैलादेवी के भवन के अनुरूप यह मंदिर निर्मित किया गया है। इसका शिलान्यास दिसम्बर 1981 में तथा प्राण प्रतिष्ठा मार्च 1991 में हुई। इसके संस्थापक अध्यक्ष थे श्री मुरारीलाल ठेकेदार। फिरोजाबाद के आस-पास के अनेक देवी भक्त यहाँ आते हैं साथ ही यहाँ नवरात्रों में मेला लगता है। मंदिर मंगला दर्शन हेतु प्रातः 4:30 बजे से 5 बजे तक खुलता है। बहुत कम समय में इस मंदिर की मान्यता इतनी अधिक हो गई है कि अनेक भक्त दंडौती परिक्रमा लगाते हुए मंदिर पहुँचते हैं। श्रद्धालुओं के ठहरने की सुचारु व्यवस्था हेतु मंदिर कमेटी ने परिसर में ही एक भव्य श्रद्धालु निवास निर्मित कराया है।

गोपाल आश्रम-फिरोजाबाद नगर के मंदिरों में गोपाल आश्रम भी अत्यंत प्रसिद्ध है। यह जलेसर रोड चौराहे से कोटला चुंगी जाने वाली सड़क पर स्थित है। यहाँ शिवजी का भव्य मंदिर है। गोपाल आश्रम का निर्माण सन् 1970 ई. में किया गया था। गोपाल आश्रम के प्रांगण में प्रमुख रूप से शिव मंदिर एक विशालकाय हॉल में स्थापित है। केन्द्रीय स्थल पर एक बड़ा शिवलिंग स्थापित है। शिवलिंग के पीछे शेष शैय्या पर विष्णु और लक्ष्मी विराजमान हैं तथा विशाल शिवलिंग के सम्मुख एक विशालकाय नंदी मूर्ति बैठी मुद्रा में स्थापित की गयी है। शिव मंदिर में की गई काँच की सज्जा देखते ही बनती है।

बड़े हनुमान जी का मंदिर-सर्वाधिक प्राचीन है जो रामलीला परिसर के एक भाग में स्थित है। मंदिर परिसर की प्राचीनता इस बात से सिद्ध होती है कि इसमें कई संतों की समाधियाँ भी हैं यथा बाबा मोहनगिरि, गैवागिरि (1580-1675 ई.), बाबा प्रयागदास (निर्वाण तिथि 1830 ई.) बाबा तीरथदास, बाबा बलदेव दास (1919 ई.), पंडित किशनलाल महाराज (1886-1972 ई.), बाबा मनोहरदास (निर्वाण तिथि 1888 ई.)।

इस मंदिर में स्थित हनुमान की मूर्ति एक टीले की खुदाई करते हुए प्रकट हुई थी, उसे वहीं स्थापित कर मंदिर का निर्माण किया गया है। यह सिद्धपीठ है तथा इसमें हनुमान की मुद्रा कुछ इस प्रकार है कि उनका एक नेत्र ही दिखाई पड़ता है। यह मंदिर रामलीला परिसर की 52 बीघा भूमि का एक भाग है। हनुमान मंदिर का शिखर 103 फीट ऊँचा है जो नगर के सभी मंदिरों में सर्वाधिक ऊँचा बताया जाता है। हनुमान मंदिर प्रांगण में 'श्रीरामकृतु स्तंभ' भी निर्मित किया गया है। दक्षिण शैली में निर्मित इस स्तंभ की प्रत्येक ईंट पर 'सीताराम' अंकित किया गया है। पूरे भारत में इस प्रकार के 103 स्तंभ हैं तथा पाँच स्तंभ नेपाल में हैं।

माता मंदिर-फिरोजाबाद के प्राचीन मंदिरों में कोटला रोड पर माता वाला बाग स्थित माता मंदिर भी माना जाता है। यहाँ दुर्गा की प्रतिमा स्थापित है। नवदुर्गा महोत्सव पर यहाँ भक्तजन दर्शन करने आते हैं।

राधाकृष्ण मंदिर, द्वारिकाधीश मंदिर एवं बिहारीजी मंदिर फिरोजाबाद के प्राचीन मंदिरों में विशेष स्थान रखते हैं। राधाकृष्ण मंदिर सदर बाजार में, द्वारिकाधीश मंदिर नीम चौराहा पर एवं बिहारी जी का मंदिर दूध वाली गली में स्थित है। फिरोजाबाद में होने वाली रामलीला प्रारंभ में द्वारिकाधीश मंदिर से ही संचालित होती थी।

वैष्णोदेवी मंदिर-फिरोजाबाद के मंदिरों में अभी कुछ ही वर्षों पूर्व निर्मित वैष्णोदेवी मंदिर का प्रमुख स्थान है। यह मंदिर अभी पूरी तरह बन नहीं सका है किन्तु अनवरत इसका निर्माण-कार्य जारी है।

शनि मंदिर-लहरी कम्पाउंड में स्थित शनि मंदिर अभी हाल में बनाया गया है। यह फिरोजाबाद में एकमात्र शनि मंदिर है। शनि देवता की पूजा-अर्चना को भक्तजन यहाँ आते रहते हैं। [अ०ति०]

× × ×

वर्तमान फिरोजाबाद नगर की स्थापना से पहले यहाँ 'चन्द्रवाड़' के बसने के समय से ही हिन्दू-जैन मन्दिरों की स्थापना होती आयी है, लेकिन मुसलमान आक्रान्ताओं ने उन सभी प्राचीन मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस कारण यहाँ प्राचीन हिन्दू-जैन मन्दिरों के अवशेष तथा बड़ी संख्या में खण्डित हिन्दू देवी-देवताओं, जैन तीर्थंकरों तथा कुछ अन्य प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। कालान्तर में धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होते ही हिन्दुओं ने अपने इष्ट देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाने का सिलसिला जारी रखा। यही कारण है कि इस नगर में विभिन्न हिन्दू देवी-देवताओं के लगभग सभी मुहल्लों में मन्दिर मिलते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

काली देवी मन्दिर-यह मन्दिर उत्तर थाने से थोड़ा आगे चलकर जलेसर रोड पर बना हुआ है जो कोई चालीस साल पुराना है। इसमें छह फीट की काली माता की भव्य सुन्दर प्रतिमा है। इस मन्दिर के केन्द्र में शिव परिवार विराजमान है।

गंगा मंदिर-यह मन्दिर घेर असगारन, नीम चौराहा मुहल्ले में स्थित है। यह छोटा-सा मन्दिर है, किन्तु इसका शिखर दूर से ही नजर आता है। इसे पण्डित राम सहाय तैलंग की स्मृति में पण्डित यतीन्द्र तैलंग ने 6 जून, सन् 2006 को गंगा दशहरा, ज्येष्ठ शुक्ल, 10 विक्रम सम्वत् 2063 में बनवाया था। इसमें माता गंगा की प्रतिमा विराजमान है।

गायत्री मन्दिर- इस छोटे से मन्दिर में तीन देवियों के विग्रह विराजमान हैं।

गोरखनाथ का मन्दिर-यह छोटा-सा सुन्दर और आकर्षक मन्दिर आसफाबाद चौराहे पर बना हुआ है जिसका शिखर भी है। इस मन्दिर का निर्माण लालपुर निवासी ओमप्रकाश यादव ने अपने परिजनों की स्मृति में 28 नवम्बर, सन् 1987 में कराया था। इसमें गुरु गोरख नाथ की प्रतिमा के साथ-साथ शिव परिवार विराजमान है।

चन्द्रेश्वर महादेव मन्दिर-यह मन्दिर बस स्टैण्ड के सामने आगरा गेट मार्ग पर कुंजीलाल की बगीची में स्थित है। इस बगीची में इस एक छोटे से मन्दिर में काली कसौटी के पत्थर का बना शिवलिंग और श्वेत संगमरमर से निर्मित पार्वती, गणेश जी, कार्तिकेय, नन्दी के सुन्दर विग्रह हैं। यह मन्दिर सौ साल से अधिक पुराना है।

चिन्तपूर्णी मन्दिर-यह सुन्दर एवं भव्य मन्दिर राम नगर, चन्दवार गेट पर अवस्थित है। इसका निर्माण शर्मा परिवार ने सन् 2006 (सम्वत् 2063) में कराया है। यह स्थान पहले 'भोलेघर' की बगीची के नाम से जाना जाता था। पाषाण निर्मित यह मन्दिर दूर से ही राहगीरों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस मन्दिर का शिखर भी बहुत अच्छा और बहुत ऊँचा है। इसमें सिंह पर सवार माता दुर्गा हिमाचल प्रदेश की 'ज्वालामुखी' माता की अनुकृति रूप में विराजमान है।

दुर्गा मन्दिर-यह मन्दिर कोटला मुहल्ला चौराहा, स्टेशन रोड पर स्थित है जो 80-90 साल पुराना है। इस मन्दिर के परिसर में मुख्य मन्दिर माता दुर्गा जी का है जिसका गोल गुम्बज और उस पर लगा पीतल का कलश दूर से ध्यान आकृष्ट करता है। इसमें दुर्गा माता की श्वेत संगमरमर की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। पीपल के वृक्ष के नीचे पथवारी माता, शिवलिंग आदि हैं। इस मन्दिर की दीवारों पर पाँच स्थानों पर हनुमान जी की प्रतिमाएँ स्थापित हैं, जिन्हें बालाजी का स्वरूप माना जाता है।

द्वारिकाधीश मन्दिर- यह मन्दिर कृष्णापाड़ा, खिड़की मुहल्ला में स्थित है। सन् 1879 में सेठ कन्हैयालाल कलकत्ता द्वारा स्थापित यह मन्दिर बहुत सुन्दर है। इस मन्दिर में मुख्य विग्रह द्वारिकाधीश, रुक्मणि जी के हैं जो अत्यन्त सुन्दर और मोहक हैं। इनके अतिरिक्त गंगा माता, राधा-कृष्ण, दुर्गा माँ, गणेश जी, राम-सीता, हनुमान जी, शिव परिवार इत्यादि की श्वेत संगमरमर की प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

नवदुर्गा महादेव मन्दिर- यह मन्दिर आगरा गेट मार्ग के सेण्ट्रल चौराहा पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण समस्त विद्युत कर्मचारियों और फिरोजाबादवासियों के आर्थिक सहयोग से सम्वत् 2035 में हुआ था। इस मन्दिर में

शिव परिवार, काली माता, सन्तोषी माता, महादेव जी की अलग से प्रतिमा भी है।

पंचमुखी महादेव मन्दिर-यह मन्दिर पुरानी तहसील के निकट स्थित है जो ब्रिटिश शासन काल में बना था। इस छोटे से मन्दिर का शिखर दूर से ही दिखायी देता है। इस मन्दिर में मुख्य विग्रह पंचमुखी महादेव का है जो श्वेत संगमरमर से निर्मित है। यह कोई दो दशक पुराना है। पहले इस स्थान पर पाषाण का विग्रह था, जो अब भी मन्दिर में विराजमान है।

पथवारी मन्दिर-यह मन्दिर माता वाला बाग, कोटला मार्ग पर स्थित है जो लगभग ढाई सौ साल पुराना है। इसका समय-समय पर जीर्णोद्धार होता आया है। इस मन्दिर का सड़क पर द्वार बना हुआ है। मन्दिर के आगे बरामदा है। इसके दक्षिणी कोने पर छोटा-सा दुर्गा जी का मन्दिर है जिसमें सिंह पर दुर्गा जी विराजमान हैं। यहाँ नवदुर्गाओं में विशेष आयोजनों के साथ-साथ शिवरात्रि आदि पर कार्यक्रम होते हैं।

पथवारी मन्दिर-यह मन्दिर चन्दवार गेट पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् 2031 में हुआ था। इसमें पथवारी माता की दो फीट की श्वेत संगमरमर की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। इसके द्वार पर छोटा-सा शिव मन्दिर बना हुआ है। इसमें जलहरी में शिवलिंग, गणेश जी, पार्वती जी, नन्दी की श्वेत संगमरमर से निर्मित प्रतिमाएँ हैं।

पसीने वाले हनुमान जी मंदिर-यह भव्य और सुन्दर मन्दिर एक टीले पर यमुना के किनारे स्थित है जिसका शिखर बहुत दूर से दिखायी देता है। यह मन्दिर 'पसीने वाले हनुमान जी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कारण है कि इस मन्दिर की हनुमान जी की प्रतिमा को हर मौसम में हर समय पसीना आता रहता है। प्रतिमा से पसीना निकलने के इस रहस्य का अभी तक उद्घाटन नहीं हुआ है। इसमें हनुमान जी की प्रतिमा दो हजार साल पुरानी बतायी जाती है। वर्तमान में यहाँ आमने-सामने दो मन्दिर बने हुए हैं। इनमें उत्तर दिशा में हनुमान जी और उसके ठीक सामने दक्षिण-पश्चिम में श्रीराम जानकी वाटिका है, जिसमें रामदरबार विराजमान हैं।

पीपलवाला शिवमन्दिर- आगरा गेट जैन गली में बना हुआ है।

बिहारी जी मन्दिर-यह भव्य मन्दिर कृष्णापाड़ा, दूध वाली गली, खिड़की मुहल्ला में स्थित है। इस मंदिर में बिहारी जी एवं राधा जी के मुख्य विग्रह हैं। इनके अलावा हनुमान जी, करौली माता, संतोषी माँ, शिव परिवार की प्रतिमाएँ हैं। इनमें कई विग्रह श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं।

भोलेनाथ मन्दिर-यह मन्दिर स्टेशन रोड पर स्थित है जो सौ साल से अधिक पुराना है। यह एक साल पहले खण्डहर रूप में विद्यमान था। एक साल पहले ही इसका जीर्णोद्धार हुआ है। इस मन्दिर में शिव परिवार की प्रतिमाएं श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं।

राधाकृष्ण मन्दिर-यह मन्दिर आगरा गेट मार्ग पर स्थित है, जिसके शिखर से मन्दिर के अस्तित्व का पता चलता है। यह मन्दिर भी काफी पुराना बताया जाता है। इस मन्दिर में राधाकृष्ण का विग्रह स्थापित है जो बहुत सुन्दर और मनमोहक है।

राधाकृष्ण मंदिर-यह सुन्दर मन्दिर डॉ. जीवाराम चौक सदर बाजार में स्थित है जो 118 साल पुराना है। इस मन्दिर में राधाकृष्ण की तीन फीट की अष्ट धातु की सुन्दर मोहक प्रतिमाएँ हैं। इसी मन्दिर में रामदरबार विराजमान है।

रामेश्वर महादेव-यह मन्दिर स्वर्गाश्रम गल्ला मण्डी में बना हुआ है जो लगभग 80 साल पुराना बताया जाता है। इस मन्दिर में केवल शिवलिंग पाषाण से निर्मित है। इनके साथ माता पार्वती, नन्दी, कार्तिकेय, गणेश जी आदि की प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

शान्तेश्वर महादेव मन्दिर-यह मन्दिर से शहर से 8 कि.मी. दूर सांती में स्थित है। यहाँ काँवर वाले शिवरात्रि समेत अनेक विशेष अवसरों पर गंगाजल चढ़ाकर शिवलिंग का जलाभिषेक करते हैं।

शनिदेव मन्दिर-यह मन्दिर लहरी कम्पाउण्ड, कोटला मार्ग पर स्थित है। भगवान शनि का यह अत्यन्त भव्य मन्दिर है जो अपने काले रंग के पत्थर से बने होने के साथ-साथ सबसे ऊँचे शिखर के कारण बहुत दूर से नजर आता है। इसे बने हुए अभी केवल एक दशक हुआ है। इसमें भगवान शनि की प्रतिमा है।

वैष्णोदेवी धाम- यह भव्य मन्दिर आगरा मार्ग पर फिरोजाबाद नगर से 8 कि.मी. पहले उसायनी ग्राम के पास राष्ट्रीय राजमार्ग-2 किनारे पर स्थित है। इसके तीन शिखर दूर से इस मार्ग से गुजरने वालों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यह मन्दिर चार बीघा में बना है। इसकी नींव 13 मार्च, 2004 में रखी गयी। इसके पश्चात् 16 फरवरी, 2010 से यहाँ पूजा-अर्चना शुरू हुई। इस मन्दिर का संचालन 31 सदस्यीय न्यास 'श्री वैष्णोदेवी धाम विकास ट्रस्ट' द्वारा किया जा रहा है। इस मन्दिर में प्रमुख प्रतिमा दस भुजा वाली महिषासुर मर्दिनी माता की है ,जो श्वेत संगमरमर से निर्मित करीब 7 फीट ऊँची है। यहाँ 500 मीटर लम्बी गुहा (गुफा) है जो तीन-साढ़े तीन फीट चौड़ी है। इसके प्रवेश द्वार पर माता की चरण पादुकाएँ हैं। फिर अर्द्धकुँवरि पर नौ माताएँ विराजमान हैं। इसके उपरान्त सीढ़ियों से उतरकर गुफा में पिण्डी दर्शन को प्रवेश करते हैं। गुफा के बाहर आकर दूसरी गुफा में प्रवेश करने पर प्रथम दर्शन भैरव बाबा, अष्टभुजा माता, अन्त में पंचमुखी हनुमान जी के दर्शन करते हुए गुफा से बाहर आते हैं।

संकटमोचन हनुमान मन्दिर-यह छोटा-सा मन्दिर स्टेशन रोड पर स्थित है जो लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। इसमें करीब डेढ़ फीट की हनुमान जी की प्रतिमा है। इस मन्दिर में दुर्गा माँ, भगवान राम-लक्ष्मण जी, साईं बाबा की प्रतिमाएँ हैं। इनमें कुछ प्रतिमाएँ पाषाण और कुछ धातु की हैं।

सती मन्दिर-यह मन्दिर राजराजेश्वरी केलादेवी मन्दिर के निकट कदम बाजार में स्थित है जो बहुत छोटा-सा है। इसमें सती माता की पाषाण प्रतिमा लगी हुई है।

सत्यनारायण मंदिर- यह मन्दिर चौक सर्राफा, कृष्णापाड़ा, खिड़की मुहल्ला में अवस्थित है। यह मन्दिर भी काफी भव्य है। इसमें मुख्य प्रतिमाएँ भगवान सत्यनारायण अर्थात् विष्णु और लक्ष्मी जी की हैं।

साईंनाथ मन्दिर- यह मन्दिर श्री हनुमान जी महाराज के द्वार के पास में स्थित है जो 20 फीट का है। यह छोटा-सा सुन्दर मन्दिर है जो बादामी रंग के पत्थरों से कलात्मक ढंग से बना हुआ है। इसमें साईंबाबा की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है।

हनुमान मन्दिर-यह मन्दिर चन्दवार गेट रोड पर अग्रवाल धर्मशाला-1 में स्थित है जो 105 साल पुराना है। इस मन्दिर में हनुमान जी की प्रतिमा के साथ-साथ जलहरी में शिवलिंग काले पाषाण से निर्मित, शेष शिव परिवार की मूर्तियाँ श्वेत संगमरमर की बनी हुई हैं।

हनुमान मंदिर-यह मन्दिर कृष्णापाड़ा, खिड़की मुहल्ला में द्वारिकाधीश मन्दिर से सटा हुआ है। इसमें हनुमान जी की मुख्य प्रतिमा है। इनके अलावा सिंह पर सवार दुर्गा माँ, गणेश जी, शिवलिंग और नन्दी जी की मूर्तियाँ काले कसौटी के पत्थर से निर्मित हैं। यह मन्दिर भी द्वारिकाधीश मन्दिर के निर्माण समय का ही बताया जाता है।

हनुमान मंदिर-यह मन्दिर रामलीला मैदान के पास, कोटला मार्ग पर स्थित है जो लगभग 125 साल पुराना है। इसमें हनुमान जी की बड़ी प्रतिमा है जो पर्वत को उठाये उड़ते हुए हनुमान जी की है। इस मन्दिर की बहुत मान्यता है। यह मंदिर 52 बीघा भूमि में बना हुआ है। इस मन्दिर का शिखर दक्षिण भारत के मन्दिरों की शैली में बना हुआ है जो बहुत ऊँचा है जो बहुत दूर से दिखायी देता है। इस मन्दिर का मुख्य द्वार भी बहुत सुन्दर है। इस मन्दिर में प्रवेश करते ही पश्चिम में एक छोटा-सा शिव मन्दिर है जिसमें एक वेदी पर भगवान की दो फीट की श्वेत संगमरमर की सुन्दर प्रतिमा है। इसके नीचे शिव परिवार है। इसके बाद एक 'नवग्रह का मन्दिर' है जो काले पत्थर से बना और बहुत कलात्मक शैली में निर्मित है। इसमें सभी नवग्रहों की मूर्तियाँ हैं। ये मूर्तियाँ भी श्याम पाषाण से बनी हुई हैं। [ब०सिं०सि०]

फुलैरा दौज

फाल्गुन शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि फुलैरा दौज कहलाती है। रसिक संतों की वाणी 'श्रृंगार सागर' में इसका संकेत मिलता है। बसंत ऋतु में नवीन सुकोमल सुगन्धित मदमाती गुलाब की पंखुड़ियों को देखकर रासेश्वर कृष्ण की रास करने की इच्छा हुई तथा उन्होंने रासेश्वरी श्रीराधा के साथ गोपियों के मध्य फुलैरा दौज पर बासंती महारास किया, इसका श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है। इसी के प्रतीक स्वरूप ब्रज के मंदिरों में फुलैरा दौज का उत्सव मनाया जाता है। चूँकि गुलाब गुलाबी रंग का होता है। अत: युगल सरकार ने भी रास में गुलाबी पोशाक धारण की थी। इसी कारण इस दिन मंदिरों में श्रीविग्रहों को फुलैरा दौज के दिन गुलाबी पोशाक धारण करायी जाती है। ज्योतिष के अनुसार तथा लोक जनमानस में इस तिथि को अधिकांश शुभ कार्यों के लिए विशेष शुभ तिथि माना जाता है, इसे अबूझ विवाह मुहूर्त भी माना जाता है। पूरे वर्ष में मुहूर्त न निकलने पर इस तिथि को विवाह सम्पन्न कराये जाते हैं।

विद्वानों के अनुसार गुलाबी रंग श्रृंगार-रस का भी द्योतक है चूँकि रास भी श्रृंगार रस प्रधान है। अत: श्रीविग्रहों के श्रृंगार में फुलैरा दौज को भी गुलाबी रंग की प्रधानता होती है। श्रीविग्रहों के मुखमंडल पर गुलाल लगाकर होली आने का संकेत सखियों द्वारा युगल सरकार को देने की ब्रज में परंपरा है। अधिकांश मंदिरों में इस दिन बेसन की पकौड़ी तथा मिष्ठान्न का युगल सरकार को भोग लगाया जाता है। इस दिन से होली की तैयारियाँ और अधिक तीव्र हो जाती हैं। [प्र०श०]

ब

बटेश्वर के जैन धार्मिक स्थल

आदि मन्दिर (बरुआ मठ)- यह सुन्दर और भव्य मन्दिर दो मंजिला है जो कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर एक बड़े चबूतरे पर है। यह मन्दिर 'बरुआ मठ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् 1724 वि. (सन्1667 ईस्वी) में हुआ था। इस मन्दिर का निर्माण एवं प्रतिष्ठा भट्टारक द्वय जगत्भूषण तथा विश्वभूषण के उपदेश के अनुसार सम्वत् 1724 विक्रम सन् 1667 ईस्वी में हुआ। इस मन्दिर में एक शिखर है। इस समय यह यहाँ का सर्वाधिक प्राचीन मन्दिर माना जाता है। वर्तमान में इस मन्दिर में कोई भी प्राचीन प्रतिमा नहीं है।

कुछ वर्ष बाद भगवान नेमिनाथ जी की काले पाषाण से निर्मित अत्यन्त भव्य तथा मनोहारी कायोत्सर्ग प्रतिमा है जो पंच कल्याणक प्रतिष्ठा कर विराजमान की गई है। पीठासन सहित प्रतिमा की अवगाहना आठ फीट है। शीश पर उसी पाषाण का छत्र तथा आभा-मण्डल है। चरण-पीठ पर दोनों ओर दो सिंह बने हैं और मण्य में शंख-लांछन है। जैन धर्मावलम्बी यदुवंशियों में कार्तिक शुक्ल 14 को यहाँ दीपक चढ़ाने की प्रथा है।

पंचमठी- शंकरध्वज जिनालय के बायीं ओर एक बड़े प्रांगण में पाँच छतरियाँ हैं जिन्हें 'पंचमठी' कहते हैं। पंचमठी में पाँचों टोंकों में पंचमगति को प्राप्त मुनियों के चरण चिह्नों की वन्दना कर अविस्मरणीय सुख-शान्ति का अनुभव होता है। इनमें से बीच की छतरी ऊँचे पायों पर एक टोंक के रूप में बनी हुई है। इसकी वेदी की प्रतिमा चोरी हो गयी। उसी समय से ही वेदी प्रतिमाविहीन है। वेदी के आगे चरण चिह्न बने हुए हैं। इन पर वि.सं.1928 का लेख है। इसके अनुसार भट्टारक श्री जिनेन्द्र भूषण के उपदेश से यह चरण स्थापित किये गए हैं। चारों कोनों पर चार छतरियाँ हैं जिनमें चरण चिह्न बने हुए हैं। ये चरण चिह्न श्री यम-मुनि, श्री सुप्रतिष्ठि-मुनि, श्री धन्य-मुनि और श्री 'विमलासुत' अलसत्कुमार महामुनि के हैं। इन चारों पर श्वेत पत्थर की टोंक बनी हुई है। प्राचीन मन्दिर के उत्तर-पूर्व की ओर एक प्राचीन टोंक बनी हुई थी। उसमें चरण विराजमान थे। श्री शौरीपुर में श्वेताम्बर तीर्थ श्री नथमल जी गोलेश की छतरी भी है। यहाँ पर श्री शौरीपुर श्वेताम्बर भवन भी है।

शंख-ध्वज जिनालय-भगवान नेमिनाथ जी के चरण चिह्न 'शंख' की ध्वजा से संयुक्त यह मन्दिर 'शंख-ध्वज' मन्दिर के नाम से विख्यात है। पाषाण और ईंटों से निर्मित यह मन्दिर बहुत सुन्दर है। इसमें दो शिखर हैं। इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् 1648 वि. (सन् 1591 ईस्वी) में अटेर निवासी सिंघई श्री लक्ष्मीदास लँबेचू ने कराया था और इसका जीर्णोद्धार इन्दौर के एक सेठ ने कराया था। इस मन्दिर के प्रथम तल पर मूलनायक वेदी में भगवान श्री नेमिनाथ की पाषाण निर्मित पद्मासन मूर्ति विराजमान है। मूल वेदी के नीचे दोनों ओर भगवान आदिनाथ और चन्द्रप्रभु की छोटे आकार की श्वेत संगमरमर से निर्मित प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वेदी के पीछे परिक्रमा में एक शिलाफलक में उत्कीर्ण तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान की खड्गासन प्रतिमा (भूरे बलुई पाषाण की) एक आले में विराजमान है। मूर्ति पर चरणों के निकट दोनों ओर चामर यक्ष तथा शीश पर प्रस्तर निर्मित छत्र और पीछे प्रभा-मण्डल है। प्रतिमा-शिल्प विक्रम की 11-12वीं शताब्दी की ज्ञात होती है। अन्य सात वेदियों पर भगवान आदिनाथ, चन्द्रप्रभु, नेमिनाथ, महावीर स्वामी, विमलनाथ, बाहुबली अरिहंतनाथ की पाषाण प्रतिमाएँ भी हैं। आँगन के दोनों ओर अत्यन्त कलात्मक वेदियों में श्वेत पाषाण की 1008 श्री वृषभदेव स्वामी तथा 1008 श्री

विमलनाथ स्वामी की क्रमशः वि.1317 (सन् 1260 ईस्वी) तथा वि. 1319 (सन् 1262 ईस्वी) की प्रतिष्ठित भव्य एवं मनोज्ञ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। यहाँ विमलासुत, धन्य-मुनि एवं यम-मुनि नामक मुनियों को केवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। यह स्थान कर्ण की जन्म और मूल संघी भट्टारकों का पट्ट स्थान होने से परम पवित्र एवं ऐतिहासिक स्थान है।

श्री1008 अजितनाथ का सातिशय बिम्ब, बटेश्वर-यह अत्यन्त भव्य श्री दिगम्बर मन्दिर बटेश्वर के अन्य मन्दिरों की श्रृंखला की पंक्ति में यमुना किनारे बना हुआ है। इसके द्वार गुलाबी रंग के पत्थरों से बने हैं, जिनमें अनेकानेक बेलबूटे आदि उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिर के शिखर पर लहराते ध्वज से दूर से ज्ञात हो जाता है कि यहाँ पर जैन मन्दिर अवस्थित है। इस मन्दिर पर श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र होना भी अंकित है। भदावर महाराज बदन सिंह से यमुना की धार के मध्य मिले भूखण्ड पर भट्टारक श्री जिनेन्द्र भूषण ने सम्वत् 1838 में इस मन्दिर का निर्माण शुरू कराया। इस मन्दिर का वास्तु शिल्प उत्कृष्ट कोटि का है। इसकी दो मंजिले यमुना तल के नीचे और दो ऊपर हैं।

इस मन्दिर में कृष्ण पाषाण (कसौटी के पत्थर) निर्मित साढ़े पाँच फीट की अवगाहना वाली दश-ताल प्रमाण, महामनोज्ञ त्रिभुवन मोहनी, अत्यन्त अतिशयवान भगवान श्री1008 अजितनाथ स्वामी की पद्मासन मूलनायक प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा सम्वत् 1224 (सन् 1167 ईस्वी) सोमवार बैशाख वदी 7 को महोबा में राजा परिमर्ददेव के शासन में श्रावक श्रेष्ठ जल्हण द्वारा प्रतिष्ठित करायी गयी थी। इस प्रतिमा के सम्बन्ध में अनेकानेक चमत्कारों की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। यह विशाल प्रतिमा महोबा से पालकी में विराजमान होकर आकाश मार्ग से बटेश्वर पधारी थी। यह प्रतिमा लोकमानस में 'मणियादेव' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर में अन्य वेदियों पर भगवान आदिनाथ तथा भगवान महावीर स्वामी विराजमान हैं। यहाँ अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ भी विराजमान हैं। इनमें भगवान शान्तिनाथ की सम्वत् 1150 (सन् 1193 ईस्वी) की प्रतिष्ठित एक खड्गासन प्रतिमा भी है जिसकी छवि बड़ी मनोहरी है। कुछ प्रतिमाओं पर प्रशस्ति लेख अंकित नहीं है, उन्हें अत्यन्त प्राचीन समझा जाता है। इस मन्दिर के गलियारे में स्थित मन्दिरों में भगवान नेमिनाथ जी की श्वेत संगमरमर से निर्मित तथा बड़ी संख्या में खुदाई में प्राप्त मूर्तियाँ संग्रहित हैं। इसी मंदिर में भगवान नेमिनाथ जी की कसौटी के पत्थर से निर्मित तीन फीट की प्रतिमा है। यहाँ बड़ी संख्या में अष्टधातु की मूर्तियाँ भी हैं। यहीं पर श्री 1008 पार्श्वनाथ जी की धातु से बनी प्रतिमा भी है। इस मन्दिर में तीन गुफाएँ हैं। इनमें एक गर्म गुफा, दूसरी ठण्डी गुफा तथा तीसरी गुफा में दर्शन हैं जिसमें श्री 1008 अरहनाथ जी के दर्शन हैं।

यहाँ हर वर्ष तीन मेले लगते हैं। प्राचीन मेला मार्गशीर्ष कृष्ण एकम् को होता है, इन्हीं दिनों में बटेश्वर का भारत प्रसिद्ध पशुमेला भी लगता है। श्री अजितनाथ निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में चैत्र शुक्ल पंचमी को मेला लगता है एवं श्रीनेमिनाथ भगवान का जन्मकल्याणक श्रावण शुक्ल षष्ठी के दिन मनाया जाता है। इसमें आसपास के क्षेत्रों तथा दूर-दराज के विभिन्न नगरों के जैन हजारों की संख्या में पधारते हैं। [ब०सिं०सि०]

बटेश्वर के मुस्लिम धार्मिक स्थल

बटेश्वर और शौरीपुर में केवल एक ही मस्जिद है, क्योंकि इन जगहों पर मुसलमान आबादी नहीं है।

बटेश्वर की मस्जिद-यहाँ पर पुलिस चौकी के पास एक मस्जिद बनी है जो अधिक बड़ी नहीं है। जिसमें दो सौ लोग एक साथ नमाज पढ़ सकते हैं। यह मस्जिद काफी पुरानी बतायी जाती है, पर वर्तमान में इसमें रोज नमाज नहीं पढ़ी जाती है। इसका कारण यह है कि बटेश्वर में अब मुसलमान नहीं रहते हैं। इस्लामिक त्यौहारों तथा विशेष अवसरों पर ही आसपास के मुसलमान यहाँ नमाज पढ़ने आते हैं। [ब०सिं०सि०]

बटेश्वर के हिन्दू धार्मिक स्थल

आगरा से 70 कि.मी. और शिकोहाबाद से 20 कि.मी. आगरा के पूर्व में यमुना नदी के किनारे यह प्राचीन तीर्थस्थल अवस्थित है। अपने देश में काशी के बाद बटेश्वर में ही यमुना तट पर 101 प्राचीन शिव मन्दिर हैं। यमुना के तट पर बने अर्द्धचन्द्राकार विशाल बाँध तथा उन पर बने 101 मन्दिर अद्‌भुत दर्शनीय दृश्य उपस्थित करते हैं। इस तीर्थस्थल का सम्बन्ध द्वापर युग से है। बटेश्वर तीर्थ का उल्लेख महाशिवपुराण में है। वर्तमान में बटेश्वर में मन्दिरों की श्रृंखला पूर्व दिशा से शुरू होकर पश्चिम दिशा की ओर बढ़ती है। इनमें से अधिकांश मन्दिर भगवान शिव के हैं जिनका नामकरण उनके विभिन्न नामों के अनुसार किया गया है।

काली मन्दिर-इस मन्दिर में काले पाषाण से निर्मित काली माता का लगभग दो फीट का विग्रह है। इसके साथ ही सन्तोषी माता, हनुमानजी, भैरों बाबा के साथ-साथ जलहरी में शिवलिंग विराजमान हैं।

गोकुलनाथ मन्दिर-बटेश्वर में यमुना किनारे स्थित प्राचीन मन्दिरों की श्रृंखला में यह पहला मन्दिर है जो शिखरयुक्त है। यह प्राचीन मन्दिर ककइयां ईंटों तथा चूने के गारे से बना हुआ है। इस मन्दिर में परिक्रमा मार्ग है तथा इसके पाँच द्वार थे। इनमें से ज्यादातर अब बन्द कर दिये गए हैं। मन्दिर में भगवान श्रीकृष्ण का मनमोहक श्यामवर्ण पाषाण विग्रह विराजमान है जो लगभग साढ़े तीन फीट का है। इस मन्दिर के प्रांगण में हनुमान जी की प्रतिमा भी है।

गौरीशंकर मन्दिर-यह शिखरयुक्त मन्दिर भी बहुत आकर्षक है। यह मन्दिर भी ककइयां ईंटों से बना हुआ है। इस मन्दिर में अन्य मन्दिरों से अलग भगवान शंकर जी और पार्वती जी की बैठी हुई मुद्रा में पाषाण से निर्मित विग्रह विराजमान हैं जो आकार में बड़े हैं। इनके सामने ढाई फीट के नन्दी जी भी बैठे हुए हैं।

पंचमुखेश्वर महादेव मन्दिर-यह शिखरयुक्त प्राचीन मन्दिर अत्यन्त सुन्दर है, जो 30-35 फीट ऊँचा है। इसमें जलहरी में लगभग 3 फीट ऊँचा और एक फुट से अधिक चौड़ा पाँच मुख वाला शिवलिंग विराजमान है। इस मन्दिर के द्वार के सामने बरामदे में नन्दी जी बैठे हुए हैं। ये दोनों ही विग्रह श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं।

पातालेश्वर मन्दिर-इस मन्दिर में नेपाल के पशुपति नाथ जी के शिवलिंग के समान शिवलिंग बना हुआ है जो कई सीढ़ियाँ उतरकर एक गड्ढे में स्थित है। इसलिए मन्दिर का नामकरण 'पातालेश्वर' किया गया है। यहाँ डेढ़ फीट ऊँची जलहरी में काले कसौटी के पत्थर से निर्मित पंचमुखी शिवलिंग है। इस मन्दिर के सामने यज्ञ कुण्ड भी बना हुआ है। इस मन्दिर में मराठों द्वारा बनवाया हुआ दीपदान भी है जो उन्होंने सन् 1761 के पानीपत के तृतीय युद्ध में प्राण गँवाने वाले मराठा वीरों की स्मृति में बनवाया था।

वैसे तो बटेश्वर में यमुना किनारे 101 मन्दिर थे, किन्तु वर्तमान में शेष मन्दिर जीर्ण-शीर्ण स्थिति में हैं या फिर उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। इसका कारण यमुना की बाढ़ था और उनके संरक्षण का अभाव है। अत: उपेक्षित रहे ये मन्दिर अपना अस्तित्व शनैः-शनैः खोते चले गए। अब भी इनका समुचित संरक्षण नहीं हो रहा है।

प्राचीन सिद्ध हनुमान मन्दिर-यह प्राचीन हनुमान मन्दिर के साथ-साथ श्री पंचमुखेश्वर आश्रम भी है। इस मन्दिर में प्रवेश द्वार के समीप भगवान शिव का छोटा-सा मन्दिर है जिसमें छोटे आकार में जलहरी में पंचमुखी लिंग और उनके समक्ष नन्दी विराजमान हैं। ये दोनों विग्रह श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं।

ब्रह्मदेव लाल महादेव मन्दिर-यह बटेश्वर के मन्दिरों में सबसे प्रमुख मन्दिर है जिसके पाँच द्वार हैं। इनमें मुख्य प्रवेश द्वार भव्य तथा अत्यन्त आकर्षक है। अपने शिखर के कारण यह मन्दिर दूर से दिखायी देता है। इस मन्दिर के परकोटे में कई जगह अत्यधिक वजन के सैकड़ों छोटे-बड़े पीतल के घण्टे लटके हुए हैं जो विभिन्न भक्तों द्वारा समय-समय पर अपनी मनोकामना पूर्ण होने पर चढ़ाये हुए हैं। परकोटे के अन्दर में श्वेत संगमरमर और पाषाण से निर्मित कई शिवलिंग तथा गणेश जी विराजमान हैं। यह शिखरयुक्त अष्टकोणीय मन्दिर है, इसमें बड़ी जलहरी में तीन फीट का लाल रंग के पाषाण से निर्मित शिवलिंग विराजमान हैं।

मोटेश्वर महादेव मन्दिर-इस मन्दिर का नामकरण शिवलिंग की मोटाई के कारण 'मोटेश्वर महादेव' किया गया है, क्योंकि इस मन्दिर में बड़ी जलहरी में ढाई फीट चौड़ा और चार फीट ऊँचा शिवलिंग है, जो पाषाण से बना हुआ

है। इसमें ढाई फीट आकार काले पत्थर से बना नन्दी है।

रामजानकी मन्दिर-इस मन्दिर में भगवान राम, सीता जी, लक्ष्मण जी तथा हनुमान जी की प्रतिमाएँ विराजमान हैं जो आकार में एक फुट के करीब की हैं। इसी मन्दिर में एक शिवलिंग एवं माता पार्वती जी की प्रतिमा है।

शिव मन्दिर-सोमनाथ मन्दिर के समीप तथा श्री दिगम्बर जैन मन्दिर के पीछे स्थित इस मन्दिर पर कोई पट्टिका नहीं लगी है जिससे यह ज्ञात हो सके कि इस शिव मन्दिर का वास्तव में क्या नाम है। इस मन्दिर का आधा हिस्सा ध्वस्त होकर यमुना में गिर चुका है। इस मन्दिर में जलहरी में आधा फुट के आकार के श्वेत संगमरमर से निर्मित शिवलिंग विराजमान हैं। [ब०सिं०सि०]

बड़ी सूरमा कुंज

श्रीवृन्दावन धाम के अति प्राचीन मंदिरों एवं कुंजों में 'बड़ी सूरमा कुंज' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निधिवन के पीछे पत्थरपुरा में स्थित है यह कुंज। प्राचीन काल में यह स्थान लता-पताओं से युक्त झुरमुट था। यह कुंज प्रेम पुरुषोत्तम श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रिय परिकर श्रीमद् रघुनाथ भट्ट गोस्वामी एवं श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी जी की साधनास्थली रही है। यहाँ बैठकर गौड़ीय वैष्णवाचार्य रसिक अनन्य शिरोमणि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने भक्ति साहित्य के अनुपम रत्न 'श्रीचैतन्य चरितामृत' की रचना की थी। आज भी यहाँ इनके द्वारा 1615 ई. में लिखे गये 'श्रीचैतन्य चरितामृत' ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इस कृष्णदास कविराज की भजन-स्थली पर उनके शिष्य गोस्वामी श्री मुकुन्ददास महाराज ने 400 वर्ष पूर्व 1620 ई. में भव्य मंदिर का निर्माण कराया।

यहाँ श्रीराधारानी द्वारा प्रदत्त श्रीराधानयनानन्द जी महाराज विराजमान हैं। श्रीविग्रह अत्यन्त चित्ताकर्षक एवं चमत्कारी है। श्रीराधागोविन्द विग्रह एवं श्रीनृसिंह भगवान भी विराजमान हैं। श्रीपाद कृष्णदास कविराज जी की भजनस्थली के साथ श्रीमुकुन्ददास गोस्वामी एवं श्री रूप कवीश्वर गोस्वामी जी की समाधियाँ भी दर्शनीय हैं।

बड़ी सूरमाकुंज में श्रीराधाकृष्ण के हृदय कमल को प्रगटित एवं श्रीराधारानी द्वारा प्रदत्त अलौकिक युगल स्वरूप के आज भी दर्शन होते हैं। श्रीराधाजी द्वारा सुरमा लगा देने से ब्रजवासीजन उन्हें सुरमा वाले बाबा कहते थे और स्थान का नाम पड़ गया सुरमा कुंज। बाद में श्रीमुकुन्ददास गोस्वामी ने प्रिय शिष्य श्रीरूप कवीश्वर गोस्वामी को अद्वितीय विद्वत्ता एवं असाधारण त्याग-वैराग्य व भजननिष्ठा से विमुग्ध होकर जयपुर नरेश ने इन्हें ब्रजभक्ति क्षेत्र के सूर पुरुष घोषित करते हुए 'सूरमा' उपाधि प्रदान की थी। इसलिये सुरमा कुंज बाद में सूरमा कुंज के नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

सूरमाकुंज की ब्रजमण्डल में 52 शाखायें थीं। उन बावन कुंज-मंदिरों में सूरमाकुंज मुख्य गद्‌दी थी। इसलिए इसे बड़ी सूरमा कुंज कहते हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की यह एक प्रसिद्ध आचार्यपीठ है। सूरमा शाखा के विद्वानों-कवियों ने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों एवं प्रचुर पदों की रचना की है।

श्रीरूप कविराज गोस्वामी के पश्चात उनके शिष्य श्री कृष्णवल्लभ गोस्वामी जी बड़ी सूरमा कुंज के आचार्य बने। इनके बाद श्री अकिंचन दास गोस्वामी एवं श्री नित्यानन्द दास कविराज प्रमुख आचार्यों ने अपनी विद्वत्ता एवं भजन के बल पर श्रीकृष्ण भक्ति का अधिक प्रचार-प्रसार किया। उन्नीसवीं शती में बारहवें आचार्य श्री ब्रजमोहन दास जी महाराज हुए जो श्रीमद्‌भागवत के प्रकाण्ड विद्वान तथा सिद्ध सन्त थे। इनसे पं. रामकृष्ण दास बाबा ने भागवत का अध्ययन किया था। इनके शिष्य महन्त श्री शुकदेव दास जी महाराज 1915 ई. में गद्‌दीनशीन हुए। यहाँ से भक्ति रस की अपूर्व त्रैमासिक पत्रिका 'वृन्दावन सन्देश' का प्रकाशन होता है। [प्रे०दा०शा०]

बरसाना के हिन्दू धार्मिक स्थल

अष्टसखी मंदिर-यह प्राचीन मंदिर बरसाने में वृषभानु मंदिर के सामने स्थित है। गर्भगृह में ललिता, विशाखा,

ललिता, विशाखा, चम्पा, सुखा, इन्दुलेखा और तुंगविद्या विग्रह के साथ युगल सरकार भी विराजमान हैं। इस मंदिर में एक साथ आठ सखियों के दर्शन होते हैं। इसलिए इस देवालय को अष्टसखी के नाम से जाना जाता है। वर्तमान समय में यह मंदिर दयनीय अवस्था में विद्यमान है।

कुशलबिहारी मंदिर–यह मंदिर बरसाना के परिक्रमा मार्ग में स्थित है। इस मंदिर का निर्माण लगभग 70 वर्ष पूर्व जयपुर के राजा माधवसिंह ने करवाया था। यह मंदिर जयपुर शैली द्वारा निर्मित है। मंदिर का मुख्य द्वार भव्य तथा आकर्षक बनाया गया है। मंदिर के गर्भगृह में कुशलबिहारी व राधारानी के सुन्दर विग्रह विराजमान हैं तथा गर्भगृह के पास ही हंसगोपाल व नृत्यगोपाल के सुन्दर दर्शन मिलते हैं। बादामी पत्थरों द्वारा निर्मित मंदिर की दीवारों पर चित्रों द्वारा गोपियों के साथ कृष्ण महारास लीला रचाते नजर आते हैं। यह मंदिर राजस्थान सरकार के अधीन है।

गोपाल जी मंदिर–यह मंदिर बरसाने में स्थित लवानियाँ की हवेली के निकट बना हुआ है। इस मंदिर का निर्माण श्री रूपराम कटारा जी ने कराया था। गर्भगृह में भगवान श्रीकृष्ण गोपाल का विग्रह विराजमान है। जनश्रुति के अनुसार लवानियाँ अपनी हवेली को आगे बढ़ाना चाहता था तो रूपराम कटारा जी ने उसकी हवेली को रोकने के लिए ही इस मंदिर का निर्माण प्रारम्भ कराया था। मंदिर की सेवा-पूजा के विषय में हमें जानकारी उपलब्ध नहीं है।

दादा-दादी का मंदिर–यह राधारानी के दादा-दादी का मंदिर है। यह मंदिर लाड़िली जी मंदिर से उतरते समय बीच में बना हुआ है। यह अति प्राचीन मंदिर है। गर्भगृह में राधा जी के दादा महिभानु जी व उनकी दादी सुखदा जी के विग्रह विराजमान हैं। वर्तमान में इन मंदिरों की देखरेख का अभाव है।

राधारानी मंदिर–यह मंदिर बरसाना के ब्रह्मसानु पर्वत की चोटी पर स्थित है। जनश्रुति के अनुसार इस मंदिर का निर्माण वि.सं. 1675 के लगभग किसी लाखा बंजारे ने करवाया था। परन्तु कुछ लोगों का मानना है कि इस मंदिर का निर्माण नरेश वीरसिंह द्वारा करवाया गया था। इस मंदिर के निर्माणकर्ता के विषय में हमें पूर्ण जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह मंदिर राजस्थान शैली द्वारा बना हुआ है। गर्भगृह में लाड़िली जी के साथ लाला जी सखी वेश में विराजमान हैं। पार्श्व में ललिता-विशाखा स्थापित हैं। यहीं मंदिर परिसर में बलवंतराय सिंधिया की छतरी बनी हुई है। मंदिर में सेवा पूजा गौड़ीय सम्प्रदाय के अधीन की जाती है। यहाँ सात भोग अथवा पाँच आरती की जाती हैं। इस मंदिर में प्रतिवर्ष होली और राधाष्टमी का उत्सव बड़े धूमधाम के साथ मनाया जाता है। बरसाने की होली तो सारे विश्व में विख्यात है।

वृषभानु मंदिर–यह मंदिर सेठ बिहारी जी के बगीचे के निकट स्थित है। इस प्राचीन मंदिर के निर्माण के विषय में हमें जानकारी उपलब्ध नहीं है। गर्भगृह में श्री वृषभानु जी का विग्रह विराजमान है। वृषभानु जी राधा जी के पिता हैं। सम्पूर्ण भारत में वृषभानु का एकमात्र मंदिर यही है। [जि०कु०]

बलदेव के हिन्दू धार्मिक स्थल

कृष्ण-बलराम मंदिर–राधाकृष्ण के मंदिर के समीप ही कृष्ण-बलराम का मंदिर है। यह मंदिर भी प्राचीन है। इस मंदिर का निर्माण एवं कृष्ण-बलराम की छवि की प्राण प्रतिष्ठा पं. बालकृष्ण चौबे ने की थी। इसकी संपूर्ण व्यवस्था हेतु पं. चौबे ने अपने जीवनकाल में ही मंदिर के ट्रस्ट की स्थापना की। ट्रस्टी संतकुमार के अनुसार सेवा-पूजा कार्य सेवायत द्वारा नित्य प्रति किया जाता है। इस मंदिर परिसर में कृष्ण-बलराम की छवि के अलावा कई छोटे-छोटे मंदिर महादेव, सरस्वती, लक्ष्मी-गणेश, हनुमान जी के हैं।

खांडीरवन (बल्देव)–कस्बा बलदेव से लगभग तीन कि.मी. की दूरी पर जमुना किनारे यह मंदिर स्थित है। ब्रज के बारह वनों में वृहद वन का यह उपवन खांडीरवन के नाम से भी जाना जाता है। सम्भवत: यह नाम जमुना नदी के खार इत्यादि से आच्छादित होने के कारण पड़ा होगा। इसी आधार पर बलदेव व मंदिर के मध्य में बसा ग्राम खड़ैरा है। प्रत्येक अमावस्या व पूर्णमासी के साथ ही गंगा दशहरा पर यहाँ दशहरा मेला के नाम से बहुत ही आकर्षक समागम

रहता है। यहाँ पर पतंग उड़ाने की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये क्षेत्रीय लोगों के साथ-साथ बाहरी जिज्ञासु भी आते हैं। यहाँ पर यमुना नदी पर बलदेव घाट, शंकर जी का मंदिर तथा कई बगीचे हैं।

लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व यहाँ पर एक सिद्ध संत बाबा राम मनोहर दास जी हुए। उनकी यह तपस्थली है। ये संत मौनी बाबा के नाम से क्षेत्र में जाने जाते थे। मौनी बाबा ने जमुना किनारे टीलों और खादरों के मध्य एक गुफा का निर्माण करके भगवान राम-जानकी के मंदिर की स्थापना कर मूर्तियों को प्रतिष्ठित कराया। उनके राम-जानकी मंदिर दरबार के प्रधान हनुमान जी हैं, जिनको मौनी बाबा ने गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'राम दुआरे तुम रखबारे' के नाम से प्रतिष्ठित किया है।

मौनी बाबा के पश्चात उनके शिष्य बाबा हरीदास जी ने अपनी लगन एवं योग्यता से अनेकों समाजसेवियों तथा श्रद्धालुओं को जोड़कर संस्थान की प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि की है। यहाँ पर हनुमान जी की लगभग चार फीट लंबी एवं ढाई फीट चौड़ी प्रतिमा है जो बड़ी आकर्षक व प्रभावोत्पादक है। नित्यप्रति चोला, सेवा शृंगार व आरती होती है। गुफा के अंदर भजन करने हेतु बावन कमरे हैं। गौशाला, साधुसेवा, अखंड संकीर्तन सदैव चलता रहता है। बाबा हरीदास जी ने इन प्रकल्पों को चलाने हेतु लगभग एक सौ बीघा खेत भी सेवकों से लगवा दिया है।

गौड़ियमठ मंदिर–मंदिर के पुजारी श्री सुबलदास ने मंदिर की जानकारी देते हुए बताया कि इस मंदिर का निर्माण वर्ष 2000 में भक्तिवेदांत बावन गोस्वामी जी महाराज ने कराया। बलदेव नगर से चौराहा अवैरनी की ओर जाने वाले संपर्क मार्ग पर यह मंदिर है। मंदिर में कृष्ण-बलराम, चैतन्य महाप्रभु, श्रीराधागोविन्द बिहारी जी की मूर्ति स्थापित हैं। वार्षिकोत्सव मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष में तृतीया के दिन होता है। जो कि भव्य आयोजन है।

दुर्गा-काली मंदिर–इस मंदिर की स्थापना वर्ष 2012 में हुई है। यह मंदिर क्षीरसागर के बराबर में बना हुआ है। इसमें माँ दुर्गा एवं काली की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। समस्त भक्तजन इसमें नित्यप्रति पूजा-अर्चना कर रात्रि में कीर्तन, भजन इत्यादि गायन-वादन करते हैं। स्थापना के बाद से प्रत्येक वर्ष आश्विन माह में शुक्ल पक्ष में नवमी के दिन भव्य शोभायात्रा पूरे नगर में होकर निकाली जाती है तथा विशाल भंडारे का आयोजन किया जाता है।

पथवारी मंदिर–इस मंदिर पर नवदुर्गा में तथा होली के बाद बासौड़ा पर भक्तों का ताँता लगा रहता है। नगर में यह मंदिर इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस मंदिर से ही नवदुर्गा में जात लगना प्रारंभ होता है। मंदिर के निकट मोहल्ले का नाम माँ पथवारी के कारण गली पथवारी है।

बांकेबिहारी मंदिर–यह मंदिर नगर में बड़ा बाजार स्थित है। द्विमंजिली इमारत बनी है। मंदिर में बांकेबिहारी जी की मूर्ति स्थापित है। मंदिर प्राचीन है।

बालाजी मंदिर (जटौरा)–बलदेव से लगभग 1 कि.मी. की दूरी पर यह मंदिर है। मेंहदीपुर बालाजी को मानने वाले श्रद्धालुओं ने मंदिर बनवाकर अक्षय तृतीया के दिन बालाजी (हनुमान जी) को यहाँ पर प्रतिष्ठित कर पूजा प्रारंभ की। तब से अब तक प्रत्येक अक्षय तृतीया को दुखियों एवं श्रद्धालुओं का वृहद मेला लगता है। यहाँ पर बालाजी के साथ गणेशजी, श्रीराम-लक्ष्मण एवं जानकी जी का दरबार, श्रीराधाकृष्ण जी, श्री शंकर जी का दरबार एवं श्री भैरव नाथ बाबा जी प्रतिष्ठित हैं। श्री प्रेतराज जी महाराज की प्रतिष्ठा भी है जो दीन-दुखियों के दुख-दर्द को महंत जी व भगत जी के माध्यम से सुनते हैं। यहाँ पर गौ-सेवा तथा साधु-सेवा की व्यवस्था भी है। नित्य प्रति सेवा-पूजा, भोग, आरती आदि की व्यवस्था हेतु पुजारी एवं भक्त नियुक्त हैं। आने वाले भक्तों, श्रद्धालुओं के ठहरने की भी उचित व्यवस्था है। मंदिर पक्का एवं भव्य बना हुआ है।

यमुना मंदिर–यह मंदिर नगर में यमुना मार्ग पर स्थित है। इसमें महारानी यमुना जी की प्राण प्रतिष्ठा हुई है, मंदिर काफी प्राचीन नहीं है। मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा देवोत्थान एकादशी को हुयी थी, इसलिए इस दिन मंदिर में विशेष आयोजन होता है।

राम मंदिर-नगर के मोहल्ला सराय में स्थित है। पुजारी रसिया बाबा ने इस मंदिर की जानकारी देते हुए बताया कि इस मंदिर का निर्माण श्री भोलानाथ व्यास ने कराया। मंदिर में राम, लक्ष्मण, जानकी की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मंदिर में अनेक कमरे तथा आगे खुला परिसर है। यहाँ पर्यावरण को ध्यान में रखते हुये काफी बागवानी लगी हुयी है। नित्यप्रति सेवा-पूजा का क्रम चलता रहता है। श्रृंगार-आरती इत्यादि भी पुजारी द्वारा विधि-विधान के साथ की जाती है। विशेष रूप से सायंकालीन दर्शनों एवं आरती में भक्त अधिक संख्या में उपस्थित रहते हैं।

राधाकृष्ण मंदिर-बलदेव नगर में यमुना मार्ग पर यह मंदिर प्राचीन है। श्री नारायण जी पांडेय द्वारा स्थापित नारायण आश्रम साधु-संतों का आश्रय था। इनके गोलोकगमन के बाद रामहरी वाली बगीची और उनके बाद उनकी पत्नी चंद्रावलि बगीची नाम से प्रसिद्ध हुई। कई चौरासी कोस ब्रज यात्राओं का पड़ाव स्थल भी यही है। रामहरी और चंद्रावलि के गोलोकवास के पश्चात् इनके भानजे स्व. रघुनंदन लाल बौहरे ने यहाँ राधाकृष्ण का मंदिर निर्मित करा राधा और कृष्ण की प्राण प्रतिष्ठा करायी। इनके पुत्र श्री जगदीश प्रसाद शर्मा मंदिर के बारे में संपूर्ण जानकारी देते हुये कहते हैं कि मंदिर में नित्य प्रति सेवा पूजा बिहारीलाल करते हैं तथा भोग-राग की नित्यप्रति व्यवस्था है। प्रात: मंगला से लेकर श्रृंगार आरती, राजभोग, उत्थापन, संध्या आरती, शयन आदि की अष्टयाम सेवा रहती है। ठाकुर जी के गर्भगृह के सामने बड़ा जगमोहन, बगल में बड़ा भवन तथा संतों, श्रद्धालुओं के ठहरने हेतु कमरे हैं। परिसर में फुलवारी एवं छायादार व फलवाले वृक्ष भी हैं।

श्रीनाथ जी मंदिर-यह मंदिर पुष्टिमार्गीय है तथा क्षीरसागर के किनारे स्थित है। मंदिर का निर्माण 1995 में गुजरात के विनयभाई मेहता ने कराया। मंदिर के मुखिया परमानंद जी ने मंदिर की जानकारी देते हुए बताया कि मंदिर में श्रीनाथ जी, यमुना जी, महाप्रभु बल्लभाचार्य आदि की मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर में विशेष आयोजन के रूप में पाटोत्सव फाल्गुन शुक्ला एकादशी को होता है।

संकटमोचन बालाजी (बलदेव)-बलदेव से लगभग 2 कि.मी. दूर उत्तर दिशा में अवैरनी एक बड़ा गाँव है। यहाँ स्थापित एक प्राचीन शिवालय के निकट ही राजस्थान भरतपुर के ग्राम अक्षागन निवासी स्व. महंत जगन्नाथ प्रसाद जी ने लगभग पचास वर्ष पूर्व भगवान संकटमोचन बालाजी महाराज का एक छोटा-सा मंदिर बनवाकर मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। अब मंदिर की बहुत मान्यता है तथा बड़े आकार में फैला हुआ है। बालाजी महाराज के साथ ही श्रीराम दरबार भी विराजमान है, श्री सरस्वती मैया, भगवान राधाकृष्ण, श्रीदाऊ बाबा, रेवती मैया, श्री गणेश जी, श्री लक्ष्मी जी, श्री शंकर जी का दरबार, दुर्गा माँ, श्री भैरव बाबा आदि की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। संस्थापक जगन्नाथ प्रसाद जी की मूर्ति भी स्थापित है। यहाँ पर अधिकांश मानसिक रोगी आते हैं और प्रसन्नतापूर्वक जाते हैं। सेवा-पूजा, भोग, भजन आदि की नियमित व्यवस्था रहती है। इस मंदिर के अंतर्गत अन्य अनेक विकल्प चलते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में एक पारमार्थिक औषधालय है, जहाँ जनता की नि:शुल्क सेवा होती है। श्रद्धालुओं के ठहरने के लिये एक नि:शुल्क धर्मशाला है। मंदिर परिसर लगभग एक एकड़ के फल-फूलदार बगीचे से सुशोभित है।

संकटमोचन हनुमान-साक्षीगोपाल मंदिर से सटा हुआ है। इसे हनुमान वाली कुंज भी कहते हैं। इस मंदिर में हनुमान जी की मूर्ति है। कोई स्थाई पुजारी नहीं; किन्तु सुबह से शाम तक काफी भक्त स्वयं आकर पूजा-अर्चना करते हैं। अनेकों भक्तों से वार्तालाप किये जाने पर बताया गया यह हनुमान जी सिद्ध हैं; सभी मनोकामना पूर्ण करते हैं। मंदिर श्री दाऊजी महाराज प्रबंध समिति के सदस्य हरीओम पांडेय बताते हैं कि इस मंदिर में प्रतिवर्ष अनेकों धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता है।

साक्षीगोपाल मंदिर-यह मंदिर नगर के बाजार में स्थित सब्जी मंडी के निकट स्थित है। इस मंदिर में श्री राधाकृष्ण की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मंदिर में कई कमरे बने हैं एवं खाली चौक भी है। यह स्थान साक्षी गोपाल की कुंज के नाम से भी प्रसिद्ध है। पुजारी गंगाशरण ने बताया कि वह मंदिर में पूजा-अर्चना का कार्य विधिवत रूप से करते हैं।

हरदेव मंदिर-यह नगर में स्थित क्षीरसागर पर है। इसमें हरदेव जी की मूर्ति है। रामेश्वर प्रसाद गोस्वामी के आधिपत्य में यह मंदिर है तथा इनके ही परिवारीजन सेवा-पूजा करते हैं हालांकि मंदिर प्राचीन है और बाहर से देखने में जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है। [मृ०कु०पां०]

बलदेव छठ

ब्रज में भाद्रपद शुक्ल पक्ष की छठ को "बलदेव छठ" कहा जाता है। इस दिन बलदेव ग्राम स्थित श्री दाऊजी मन्दिर में बलदाऊजी के जन्मदिवस का विशेष आयोजन होता है तथा विशाल मेले का आयोजन किया जाता है। ब्रज लोक संस्कृति में दाऊजी को ब्रज का राजा कहा जाता है। ब्रज के मंदिरों में इस दिन बलदाऊजी का अभिषेक वेदमंत्रों के उच्चारण के साथ किया जाता है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में ठाकुरजी के जन्म के पश्चात उन्हें पंचामृत स्नान करा के सुगन्धित द्रव्य लगाते हैं। भोग में ठाकुरजी को माखन-मिश्री, खीर तथा भाँग का विशेष भोग लगता है। दाऊजी में यह उत्सव एक बड़े समारोह के रूप में मनाया जाता है। मन्दिर को सुन्दर सजाया जाता है। दाऊजी के दर्शन करने के लिये दूर-दूर से दर्शनार्थी दर्शन के लिये आते हैं तथा मेले का आनन्द प्राप्त करते हैं। बल्देव ग्राम से पृथक ब्रज की कई लीला स्थलियों जैसे- मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन में भी दाऊजी के अनेक प्राचीन मंदिर हैं। ब्रज की अखाड़ा-बगीची संस्कृति में दाऊजी को विशेष आदर प्राप्त है। सर्वविदित है भीम एवं दुर्योधन जैसे महान योद्धा बलदाऊजी के शिष्य थे। बलदाऊजी को भाँग विशेष प्रिय थी जिसे 'विजिया' कहा गया है। आज भी ब्रज के दाऊजी के मंदिरों में 'विजिया' का प्रसाद लगता है। ब्रज लोक संस्कृति में एक लोकोक्ति भी प्रचलित है-

दाऊ-दयाल ब्रज के राजा, छानै घोंटे तो ब्रज में आजा...

[प्र०श०]

बलदेव दास

बलदेव दास संत चरणदास जी के शिष्य श्रीरामरूप जी की परंपरा में लोकप्रिय प्रसिद्ध संत हुए हैं। इनकी परंपरा इस प्रकार है- संत चरणदास-रामरूप- रामकृपाल-बिहारीदास-ठाकुरदास-बलदेव दास। इनका जन्म ब्रज प्रदेश के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये दो भाई थे। इनके बड़े भाई हरि भक्त थे। जब ये आठ वर्ष के थे तब इनके भाई की सगाई हो गयी तब इनके बड़े भाई ने माता-पिता से कहा अभी छ: माह तक विवाह न करना। कुछ दिनों बाद वे स्वर्ग सिधार गये।

इस घटना का इनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे एक अपने मित्र के साथ घर से चुपचाप निकल पड़े। भ्रमण करते हुए वे एक जगह पहुँचे जहाँ संत ठहरे हुए थे। संत ने उन्हें बालक जानकर बड़े प्रेम से अपने पास रखा तथा साथ ही द्वारका ले गये। वहाँ रणछोड़जी के मंदिर में ठाकुर जी का भोग लग रहा था और पुजारी बाहर घूम रहा था। बालक बलदेव दास चुपके से परदा उठाकर अंदर घुस गया वहाँ उन्होंने देखा ठाकुरजी की मूर्ति तो सिंहासन पर विराज रही है लेकिन एक पाँच वर्ष का बालक भोग अरोग रहा था। जब भोग लग चुका तब वे चुपचाप बाहर आ गये। रात को स्वप्न में ठाकुरजी ने आज्ञा दी, "दिल्ली के पास लुकसर ग्राम में ठाकुरदास मेरा परम भक्त है, तुम उसके पास जाकर शिष्य हो जाओ।" उधर ठाकुरदास जी को भी स्वप्न में आज्ञा मिली कि "बलदेव दास आ रहा है उसको अपना शिष्य बना लो।" लुकसर गाँव पहुँचकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और गुरु चरणों में ही रहने लगे। गुरु के परलोक वास के बाद वे ही लुकसर की गद्दी पर बिराजे। इन्होंने चारों धाम सहित अनेक तीर्थों की यात्राएँ कीं।

इनके प्रमुख शिष्यों में सरस माधुरी शरण तथा नंदराय जी का नाम उल्लेखनीय है। श्री बलदेव दास ने 120 वर्ष की अवस्था में आषाढ़ शुक्ल नवमी, मंगलवार, वि.सं. 1958 लुकसर में परम धाम को गमन किया। बलदेव दास जी

नित्यचर्चा में चरणदास जी की वाणी पाठ, श्रीमद्भागवत और गीता का नित्य-नियमपूर्वक अध्ययन, सितार-वादन और आरती के समय मंगल गायन करते थे। [क०उ०]

बलभद्राचार्य

माधवाचार्य जी की अहैतुकी कृपा स्वरूप संन्यास से निकुंजोपासना में प्रवेश के अधिकारी हुए बलभद्राचार्य जी रहस्य परंपरा में श्री भद्रा जी के नाम से स्मरित हैं। इन्होंने 60 वर्षों तक आचार्य पीठ को सुशोभित किया किंतु ऐसे अवसर कम ही रहे जब ये वृंदावन की उस रज से अलग रहे, यहाँ लोटना इन्हें अत्यंत श्रेयस्कर था। ये भगवद्भक्ति में इतने निरत रहे कि एक भी गृहस्थ को दीक्षा प्रदान नहीं की। इस कार्य का दायित्व उन्होंने पद्माचार्य आदि शिष्यों को प्रदान कर रखा था। वस्तुत: ये स्वतंत्र भक्ति के पर्याय थे। बलभद्राचार्य जी का पाटोत्सव श्रावण शुक्ल तीज के पावन दिवस मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

बलभद्राचार्य

इनके विषय में यह प्रसिद्ध है-

कर्मादिरुपोनलवान् प्रलंब:, पदाश्रितानां निहतश्च येन।
तं देवमीडे बलभद्रभट्टं क्षमा दया ज्ञानविरागयुक्तम॥

श्रीबलभद्राचार्य जी ने अपने चरणाश्रितों की कर्मात्मिका अविद्या का निवारण कर इन्हें भक्ति, ज्ञान और क्षमा का मार्ग प्रणीत किया। इनका पाटोत्सव माघ कृष्णा चतुर्दशी को मनाया जाता है। [कुं०बि०श०]

बल्लभदास

बल्लभदास रोहतक जिला के सांपला तहसील के अंतर्गत खेड़ी नामक गांव के ब्राह्मण गृहस्थ थे। यह स्थान दिल्ली के निकट बहादुरगढ़ के थाने में है। इन्हें चरणदास जी का कनिष्ठतम शिष्य बताया जाता है। ये सभी साधु-संतों की बड़ी सेवा करते थे। यह एक पहुँचे हुए गुरु की खोज में सदा चिंतित रहते थे। इनकी इच्छा का चरणदास जी को पता चला तो उन्होंने इन्हें स्वप्न में दर्शन दिया और उन्हें अपना मित्र बनाने की सूचना दी। इससे ये इतने प्रसन्न हुए कि घर-बार त्यागकर चरणदास जी के बानाधारी शिष्य बन गये।

गुरु द्वारा दीक्षा दिये जाने के पश्चात कुछ दिनों तक वे गुरुद्वारे में ही रहे। उसके पश्चात तीर्थाटन किया और अंत में अपनी जन्मभूमि में ही अपना आश्रम बनाकर रहने लगे। इनका यह आश्रम आज भी चल रहा है। इनका परलोकवास पौष शुक्ल नवमी, गुरुवार वि.सं. 1864 को हुआ था। इन्होंने दो गद्दी दिसावर खेड़ी तथा रोहतक के कोटकासम बाजार में स्थापित की थीं। [क०उ०]

बसन्त पंचमी

माघ शुक्ल पंचमी यानी बसंत के आगमन दिन से ब्रज में होली का शुभारंभ हो जाता है। श्रीविग्रहों के कटि भाग पर गुलाल (अबीर) की फेंट बाँधे जाने की परंपरा है। शहर व देहात में चौराहों पर होली का डांडा रोपण किया जाता है। वृन्दावन में बसन्त पंचमी के अवसर पर शाह बिहारी मंदिर में बसंती कमरे का आयोजन किया जाता है जो कि साल में

केवल दो बार ही खुलता है। बसंती कमरे की अलौकिक छटा दिखायी देती है। ठाकुर राधारमणलाल जू महाराज रंग-बिरंगी रोशनी से नहाये बसंती कमरे में विराजमान होकर भक्तों को दर्शन देते हैं। बसंत पंचमी पर नंदगांव, बरसाना, गोवर्धन, मथुरा, राधाकुंड, गोकुल, दाऊजी सहित वृन्दावन के ठाकुर श्री बांकेबिहारी मंदिर में उड़ रहे गुलाल श्रद्धालुओं को भक्तिरस से सराबोर कर देता है। इंद्रधनुषी छटा से सभी अभिभूत हो जाते हैं। इस अलौकिक दृश्य के साक्षी बनने को देश के कोने-कोने से बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते हैं। बसन्त पंचमी पर ब्रज में होली का डांडा गड़ने से वृन्दावन के राधाबल्लभ मंदिर, राधादामोदर, सेवाकुंज मंदिर, यशोदानंदन मंदिर आदि में फागुन उत्सव शुरू हो जाता है। मथुरा में श्रीकृष्ण जन्मस्थान पर केशवदेव मंदिर में बसंती कमरा सजाया जाता है। ठाकुरजी को बसंती पुष्प और बसंती वस्त्र, शृंगार से सजाया जाता है।

पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के मंदिर द्वारिकाधीश में राजभोग दर्शन के समय होली का आयोजन किया जाता है। इसके अलावा मानसी गंगा, मुखारविन्द, नया मंदिर हरिदेव जी महाराज जतीपुरा व जतीपुरा मुखारविंद मंदिर आदि में बसंत पंचमी अत्यधिक धूमधाम से मनायी जाती है। बसंत पंचमी सरस्वती देवी के जन्म का दिवस भी है। अत: इस दिन सरस्वती पूजा होती है। बसंत पंचमी को श्री पंचमी भी कहते हैं। क्योंकि उसी दिन समुद्र से लक्ष्मी की उत्पत्ति मानी गयी है। इस प्रकार यह विष्णुप्रिया लक्ष्मी देवी का भी जन्मदिवस है। यह ब्रज का एक प्रसिद्ध लोकोत्सव और त्यौहार है। ब्रज की नारियाँ और बालक-बालिकायें उस अवसर पर पीले वस्त्र पहनते हैं। [प्र०श०]

बालकृष्ण

बालकृष्ण जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र थे। गोसाईं जी ने श्रीद्वारिकाधीश प्रभु की सेवा इन्हें प्रदान की थी। वल्लभ कुल के तृतीय गृह की परम्परा इन्हीं से प्रारम्भ हुई थी। इनके छोटे भाई यदुनाथ जी ने बालकृष्ण स्वरूप की सेवा भी इन्हें ही सौंप दी। इसलिए दोनों स्वरूपों की सेवा इसी गृह में होती है।

इनके छ: पुत्र एवं एक पुत्री हुई थी। यह बड़े प्रभावशाली विद्वान एवं आचार्य थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है जिनमें स्वप्न स्वामिनी स्तोत्र, गुप्त स्वामिनी स्तोत्र, विवृत्ति भक्तिवर्द्धिनी स्तोत्र, विवृत्ति प्रसाद वागीश, भाष्य विवरण और सर्वोत्तम स्तोत्र प्रमुख हैं। आपका देहावसान सं. 1650 में हुआ था। [वं०तै०]

बालबोध

इसमें बीस श्लोक हैं, जिसमें से बीसवाँ अपूर्ण है। इस ग्रंथ पर पुरुषोत्तम की 'विवृत्ति' नामक टीका भी है। इस ग्रंथ में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का विवेचन है। भक्तिमार्ग में जीवकृत प्रयत्नों की अपेक्षा भगवदिच्छा और भगवदनुग्रह की ही अर्थवत्ता है। वल्लभ कहते हैं कि जो जीव भगवान की सेवा नहीं करते और उनके श्रीचरणों में प्रीति नहीं रखते, वे 'दुष्ट' जीव होते हैं, किन्तु भगवदंश होने के कारण जीव स्वभावत: दुष्ट नहीं हो सकते। अत: ऐसे जीव भी यदि भगवान की भक्ति करें, उनके लीलाश्रवणादि में प्रवृत्त हों तो उनका 'दुष्टत्त्व' नष्ट हो जायेगा। निरन्तर भगवच्छ्रवण आदि से ऐसे जीवों का भी 'तदीयत्व' सम्पादित हो जाता है। इस ग्रंथ में वल्लभ ने शरणागति, आत्मनिवेदन तथा अहन्ताममता-निवृत्ति की उपयोगिता पर बल दिया है। [क०उ०]

बाल्मीकि

आदिकवि महर्षि बाल्मीकि रामायण के रचयिता होने से पूर्व एक डाकू थे। पूर्व जीवन में उनका नाम रत्नाकर था। वे अपने परिवार के जीवनयापन के लिए दस्यु कर्म किया करते थे। एक बार भक्त शिरोमणि नारद ऋषि उस मार्ग से जा रहे थे जहाँ डाकू रत्नाकर लूटपाट किया करते थे। महर्षि नारद ब्राह्मण वेश में थे। डाकू रत्नाकर ने उन्हें पकड़कर उनसे उनके पास मौजूद सभी सामग्री की माँग की। ब्राह्मण वेशधारी नारद ने उनसे प्रश्न किया कि "तुम यह दस्यु कर्म

क्यों करते हो?'' डाकू रत्नाकर ने उनसे कहा कि ''व्यर्थ के प्रश्न न करो और अपनी सभी सम्पत्ति मुझे दे दो।'' परन्तु ब्राह्मण के बार-बार प्रश्न दोहराने पर उन्होंने कहा कि वे अपने परिवार के जीवन-यापन हेतु दस्यु कर्म करते हैं। तब ब्राह्मण ने उनसे दूसरा प्रश्न किया कि ''जिन परिवारीजनों के लिए तुम यह दस्यु कर्म करते हो क्या वे तुम्हारे इस कर्म के जनित पाप कर्म के भी भागीदार होंगे?'' यह सुनकर रत्नाकर सोच में पड़ गए उन्होंने कहा, ''तुम यहीं रुको मैं अभी इस प्रश्न का उत्तर अपने परिवारीजनों से पूछकर अभी आता हूँ।'' ब्राह्मणरूपी नारद जी वहाँ रुककर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। जब वे लौटकर आये तो उन्होंने कहा कि ''परिवारीजनों का कहना है कि परिवार का पालन-पोषण करना उनका कर्तव्य है अत: वे कहाँ से सामग्री जुटाते हैं इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है अत: वे इस पापकर्म के भागीदार नहीं हैं।'' तब नारद जी ने उनसे कहा कि तुम दस्यु वृत्ति त्यागकर भगवत भजन करो।

डाकू रत्नाकर अब दस्यु वृत्ति का त्यागकर भजन करने हेतु तत्पर हो गये। नारद जी ने उन्हें 'राम' नाम जपने को कहा तो उन्होंने कहा ''यह मुझसे नहीं जपा जायेगा।'' तब नारद जी ने 'राम' का 'मरा' शब्द जपने के लिए कहा। वे सहर्ष तैयार हो गये और 'मरा' शब्द का जप करने लगे।

उल्टा नाम जपहु जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

जप करते-करते कई वर्ष व्यतीत हो गये। उन्हें अपने शरीर की भी सुध न रही तब उनके शरीर पर दीमक ने अपना घर बना लिया। जिसके कारण उनका नाम बाल्मीकि पड़ा। तत्पश्चात् ब्रह्मा जी ने प्रकट होकर उन्हें रामचरित लिखने की आज्ञा प्रदान की एवं कवित्त्व शक्ति भी प्रदान की।

बाल्मीकि द्वारा रचित रामायण में शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर के वध प्रसंग में मधुवन प्रदेश के इतिहास एवं भूगोल का भी वर्णन किया है। जिससे पता चलता है कि वह मधुवन प्रदेश से भलीभाँति परिचित थे। [म०दी०]

बाहुबल देवाचार्य

श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी के प्रमुख द्वादश शिष्यों में श्री बाहुबल देवाचार्य जी का पाँचवाँ स्थान है। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार एक राजा पर विपक्षी राज्य ने आक्रमण कर दिया। राजा ने यथाशक्ति आक्रमण का प्रतिकार किया किन्तु जब उसके पैर उखड़ने लगे तो वह संत के शरणापन्न हो गया। संत ने राजा को अभयदान करते हुए अपने बाहुबल से सुरक्षित कर दिया और विपक्षी सेना को स्तंभित कर दिया। इस प्रकार विपक्षी सेना को अपने बाहुबल से स्तंभित कर देने के कारण इनका नाम बाहुबल देवाचार्य हो गया। इसके साथ ही ये राजा एवं प्रजा के मध्य अत्यंत श्रद्धा के पात्र हुए और शत्रुदल भी इनके प्रति शरणागत हो गया। [कु०बि०श०]

बिन्दु तथा नादकुल (राधावल्लभ संप्रदाय)

गोस्वामी श्री हित हरिवंश जी का समस्त परिकर बिन्दु और नाद नाम से दो परिवारों में विभक्त है। बिन्दु परिवार गोस्वामी स्वरूप कहलाता है। आचार्य श्री हरिवंश की परम्परा में उत्पन्न होने वाले गोस्वामी बालक बिन्दु परिवार के होने के कारण पूज्य होते हैं। नाद परिवार में इस संप्रदाय में दीक्षित गृहस्थ एवं विरक्त साधु शिष्यों का स्थान है। शिष्य वर्ग को मंत्र-दीक्षा के कारण नाद वंशी कहा जाता है। गृहस्थ एवं विरक्त दोनों कोटि के शिष्यों के लिये सम्प्रदाय में समान स्थान है।

सम्प्रदाय के छ: पुण्य स्थलों का विभाजन नाद और बिन्दु परिवार की दृष्टि से समान रूप से किया गया है। श्री राधावल्लभ जी का मन्दिर, सेवाकुंज (वृन्दावन)और वंशानुगत रंगीलालजी का मन्दिर (देववन) बिन्दु परिवार के

गोस्वामियों के अधिकार में हैं। बाद ग्राम में जन्मस्थल, मानसरोवर और रासमंडल (वृन्दावन) नाद परिवार के विरक्त साधुओं के संरक्षण में हैं। इसी के साथ ही बुंदेलखण्ड तथा राजस्थान में भी इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ स्थान अद्यतन विद्यमान हैं। दोनों ही कुलों में प्रसिद्ध वाणीकार तथा रचनाकार हुये हैं, जिन्होंने संप्रदाय सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी रचनाओं में किया है। [प्र०श०]

बिहारिनदास

स्वामी हरिदास जी के पश्चात् हरिदासी सम्प्रदाय में श्रद्धा और प्रमाण की दृष्टि से श्रीबिहारिनदास जी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। इनके गुरु श्री बीठलविपुल जी थे। इन्हें स्वामी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। स्वामी जी ने ही इनके मस्तक पर हाथ रखकर बिहारिनदास इनका नामकरण किया था और नित्यविहार दर्शन का अधिकारी बनाया था-

श्रीस्वामी हरिदास कर अंबुज परसत माथ।
मानों रचि खचि चंद्रिका राखी सखियन साथ।
राखी सखियन साथ नाम धृत कुंज दास बिहारिनि।
निरखत नित्यविहार लता गृह रंध्र निहारिनि॥

इन्होंने स्वामी जी की रसरीति को पूर्णतया आत्मसात् किया था। ये स्वामी जी की वाणी के विशद भाष्यकार हैं। सम्प्रदाय में सिद्धांत के व्याख्याकार होने के कारण इन्हें गुरुदेव नाम से अभिहित किया जाता है। परिमाण एवं महत्त्व दोनों ही दृष्टियों से इनका साहित्य अप्रतिम है। सम्प्रदाय के अंदर और बाहर के अनेक समकालीन तथा परवर्ती रससिद्ध रसिकों ने इनका प्रशस्तिगान किया है।

स्वामी हरिदास जी के वंश में वंशवृक्ष के आधार पर इन्हें स्वामी जी के अनुज गोस्वामी जगन्नाथ जी का प्रपौत्र एवं गोस्वामी गोपीनाथ जी का पुत्र बताया गया है। इनका गृहस्थ नाम हरिराय था। स्वामी जी का वंशज होने के कारण ये भी सारस्वत ब्राह्मण थे। श्री बिहारिन दास जी की जन्मतिथि के विषय में मतभेद नहीं है। श्रावण शुक्ल तीज का उनकी जन्मतिथि के रूप में उल्लेख उनसे संबंधित बधाइयों में मिलता है। इसे सम्प्रदाय में एक महत्त्वपूर्ण उत्सव के रूप में इसे मनाया भी जाता है। जन्म संवत् के विषय में अवश्य ही अनुमान करना पड़ता है। यह संवत् 1585 से 1594 के आसपास माना जा सकता है। इसी प्रकार इनके निकुंजगमन के विषय में भी अनुमान का आश्रय लिया जाएगा। इनके जीवनकाल में अकबर के नवरत्नों में से एक बीरबल की मृत्यु संवत् 1640 में हुई। बड़ी श्रद्धा से इनका यशगान करने वाले भक्तकवि व्यास जी एवं श्री ध्रुवदास जी का निकुंजगमन क्रमश: 1669 और संवत् 1700 माना गया है। इन आधारों पर विद्वानों ने श्री बिहारिन दास जी का निकुंजगमन काल संवत् 1670 के लगभग माना है।

श्रीबिहारिन दास जी ने अपना एक हाथ होने का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर किया है। अकबर और उसकी रीति-नीति का भी उल्लेख उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। ये उल्लेख प्रसंगवश ही हुए हैं। श्री बिहारिन दास जी का वैशिष्ट्य तो इनकी रस-साधना में ही है। नित्य विहार के गान में ये इतना मग्न हो जाते थे कि इन्हें भोजन, स्नान की सुधि भी नहीं रहती थी। [ल०बि०गो०]

बैकुण्ठ

'बैकुण्ठ' से तात्पर्य उस लोक से है जिसमें विष्णु निवास करते हैं। इसी कथन के आधार पर भगवान विष्णु को

बैकुण्ठीय की संज्ञा भी प्राप्त है। इन्द्र के लोक को भी बैकुण्ठ कहा जाता है तथा सफेद पत्तों वाली तुलसी भी बैकुण्ठी है। संगीत के स्वर का नाम भी बैकुण्ठ है। वृन्दावन की मंदिर संस्कृति में ''बैकुण्ठ दरवज्जो'' का अपना महत्त्व है। यहाँ दक्षिण भारतीय शैली में निर्मित श्री रंग मंदिर में शीतकाल के दौरान पौष माह में कुछ समय के लिये बैकुण्ठ दरवाजा खुलता है, जिसमें प्रभु के दर्शनार्थ सैकड़ों नर-नारी श्रद्धा भाव के साथ इस आशय से प्रवेश करते हैं कि उन्हें भी प्रभु की कृपा हो सके। — रा० श०

बोहित देवाचार्य

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीबोहित जी श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी के मुख्य द्वादश शिष्यों में से एक थे। 'भक्तदामगुर्णाचित्रणी छ० 196' में भी बोहित जी का नाम आया है। ग्राम सुहेला लिखा है। इनका प्रधान स्थान मकरापुर, करनाल (पंजाब) में है वहीं परमधाम वास हुआ। वहीं पर इनकी समाधि बनी है।

श्रीबोहित जी का उल्लेख नाभाजी ने अपने भक्तमाल के छप्पय 186 में सर्वप्रथम किया है। 'भक्तदामगुर्णाचित्रणी भक्तमाल की टीका' में श्रीबालकराम जी ने श्रीबोहितदेव जी द्वारा एक प्रेत को मुक्त करने का विशेष उल्लेख किया है। तदनुसार बोहित जी अपने आश्रम में निवास करते हुए सदा भगवान के गुणों का गान किया करते थे। प्रेमी भक्त सुनकर कृतार्थ होते थे। इस प्रकार ये भवसागर पार करने वाले बोहित जी ही थे। बोहित (नाव, जहाज) बोहित भरी चला लै रानी, दान मांग सत देखी दानी। आश्रम के निकट एक भूत का निवास था। वह भी दूर से कथा श्रवण करता था। एक बार चांदनी रात में आश्रम के समीप बहुत से ग्रामीण बालक खेल रहे थे। भूत भी आकर उनके साथ खेलने लगा। इन्होंने सभी बालकों को आज्ञा दी कि अब खेल बन्द कर के यहाँ मेरे पास आकर नाम संकीर्तन करो। आज्ञा पाकर सभी बालक इनके पास आ गए, परन्तु एक बालक दूर ही खड़ा रहा। श्रीबोहित जी के बुलाने पर भी नहीं आया। तब इन्होंने बालकों को आज्ञा दी कि इसे पकड़कर लाओ। बालक पकड़ने गए पर वह पकड़ में नहीं आया। कई बालकों के पकड़ने पर भी छूट जाता। अलग खड़ा दिखाई पड़ता। अन्त में बोहितजी ने आज्ञा दी कि इसकी चोटी पकड़ लो फिर नहीं छूट सकेगा ऐसा ही हुआ। समीप आने पर बोहितजी ने उससे पूछा कि बता तू कौन है? उसने कहा कि मैं पूर्व जन्म में राजपूत था। कुसंग के कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, अत: जुआ, चोरी आदि कुकर्मों की आदत पड़ गई थी। मैंने निरपराधिनी सुशीला अपनी पत्नी का वध कर डाला था, उसी पाप के फलस्वरूप मुझे प्रेत योनि मिली। किन्तु अनिच्छा से कथा श्रवण का यह उत्तम फल मुझे मिला कि मैं आपके आश्रम के निकट रह रहा हूँ और आपके द्वारा कही गई कथा को मैं सुन रहा हूँ। अब आप कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये। मैं कभी किसी को सताता नहीं हूँ, आपकी शरण में हूँ। उसकी दीनता भरी वाणी सुनकर बोहित जी ने उसके कान में भगवन्नाम सुनाया और चरणामृत दिया। वह मुक्त हो गया और आकाश में उज्ज्वल प्रकाश छा गया। सभी को श्रीबोहितजी की दानशीलता एवं शक्ति का परिचय मिल गया।

जिला रोहतक के दूवरधन मादरा में श्रीबोहित देवाचार्य की समाधि है और उनका प्रधान स्थल हरियाणा के करनाल जिले में मकरापुर स्थान पर है। करनाल जिले के विभिन्न क्षेत्रों में और राजस्थान के नीम के थाने के आसपास श्रीबोहित देवाचार्य के द्वारे थे। इन द्वारों की परम्परा संभवत: समाप्त हो रही है। नीम का थाना में निम्बार्क सम्प्रदाय के कई मंदिर हैं, उनमें जौडला, कुरवडा आदि विशिष्ट हैं। छावनी में निम्बार्क सम्प्रदाय के संतों की एक जमात है, जिसका एक पृथक ग्राम ही बसा है। दूवरधन मादरा (जिला रोहतक) में इनकी समाधि और मकरापुर, करनाल में इनकी परम्परा का प्रधान स्थान है, उधर और भी कई स्थान हैं। [शै०च०]

बौद्ध धर्म और श्रीकृष्ण

कृष्ण कथा भारतीय संस्कृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अतीत से ही कृष्ण भारतीय जनमानस में स्थित होकर

इसे अनुप्राणित करते रहे हैं। भारतीय वाङ्मय की सभी विधाएँ इनसे जुड़ी हुई हैं और उनमें इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस स्थिति में बौद्ध साहित्य इनसे अछूता कैसे रह सकता था। प्रकारान्तर से कृष्ण कथा ने यहाँ भी स्थान प्राप्त किया। पर इसका स्वरूप यहाँ पर क्या रहा, इसे स्पष्ट करने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में क्या कृष्ण कथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी? इस परिप्रेक्ष्य में कृष्ण कथा को सर्वप्रथम ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना समीचीन होगा।

भारतीय वाङ्मय की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में अन्यतम प्रो. विन्टरनित्स के मतानुसार महाभारत में व्यक्त कृष्ण कथा का उल्लेख वेदों में प्राप्त नहीं है। किन्तु सभी विद्वान उनके इस विचार से सहमत नहीं हैं। यद्यपि ऋग्वेद में कृष्ण के उल्लेख कम तथा अस्पष्ट है, किन्तु जो उल्लेख प्राप्त है उसके आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि ऋग्वेद में प्राप्त कृष्ण सम्बन्धी ये उल्लेख निश्चित रूप से परम्परा से प्राप्त कृष्ण कथा की ओर ही इंगित करते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण नामक एक ऋषि का हम उल्लेख पाते हैं जिन्होंने मंत्र 8, 85 का साक्षात्कार किया था और जो विश्वक के पिता थे। कतिपय विद्वान इन्हें कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लिखित कृष्ण आंगिरस मानते हैं। कुछ भी हो, यद्यपि इस उल्लेख तथा अन्य संदर्भों में उल्लिखित कृष्ण का सम्बन्ध पुराणों में वर्णित कृष्ण से ही है, किन्तु इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। तथापि उल्लेख कृष्ण शब्द का है, इतना यथार्थ है।

ऐतिहासिक ईसा पूर्व की शताब्दियों में कृष्ण का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में हुआ है, जहाँ पर इन्हें घोर आंगिरस का शिष्य तथा देवकीपुत्र कहा गया है। यहाँ पर यह भी उक्त है कि कृष्ण ने आंगिरस से वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया था। इसके पश्चात पाणिनि के सूत्र 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन' में वासुदेव के रूप में उनकी संक्षिप्त चर्चा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने अन्धक तथा वृष्णि कुलों का भी उल्लेख किया है, जो परम्परया कृष्ण के कुल बताये गये हैं। वृष्णियों का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण आदि में भी है। यास्क के निरुक्त में भी कृष्ण कथा से सम्बन्धित स्यमन्तक मणि के आख्यान की ओर संकेत है एवं बोधायन धर्मसूत्र में विष्णु के 12 नामों में से केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, मधुसूदन, हृषीकेश तथा दामोदर आदि कृष्ण की ओर ही इंगित करते हैं। इनके अतिरिक्त मेगस्थनीज की 'इंडिका', कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', पतंजलि के 'महाभाष्य' तथा महाभारत आदि में कृष्ण उल्लिखित हैं। इनमें महाभारत में वर्णित कृष्ण कथा विशेष रूप से ध्यातव्य है, क्योंकि कथा के रूप में कृष्ण का वर्णन यहीं से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ वे पाण्डवों के मित्र तथा सहायक, युद्ध में नायक एवं भगवद्गीता के उपदेशक आदि के रूप में व्याख्यायत हैं। पुराणों में वर्णित कृष्ण का बालचरित उसी रूप में महाभारत में प्राप्त नहीं और यह इस ओर संकेत करता है कि पुराणों में आई हुई कृष्ण कथा महाभारत के बाद की थोड़ी विकसित कथा है। इस प्रकार कृष्ण कथा के सन्दर्भ में महाभारत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। उधर प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय में भी कृष्ण कथा प्रकारान्तर से मिलने लगती है। इस दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करना परमावश्यक है कि क्या महाभारत प्रारम्भिक बौद्ध युग में ज्ञात था अथवा इसकी स्थिति प्रारम्भिक बौद्ध युग में हो गयी थी और समाज महाभारत अथवा भारत युद्ध की कथा से परिचित था तथा इसकी कथाएँ इसी कारणवश पालि बौद्ध वाङ्मय में आयीं।

महाभारत की स्थिति प्रारम्भिक बौद्ध युग में हो गयी थी, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है और अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इसके विरुद्ध मत प्रकट किया है। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में इनकी धारणा अधिकतर इस ओर झुकी हुई है कि ग्रंथ के रूप में इसकी स्थिति चतुर्थ शताब्दी में हो पायी होगी; किन्तु इसे प्रतिपादित करते हुए वे स्वयं उलझ गये हैं और इस दृष्टि से अन्य स्थलों पर उनके द्वारा प्रस्तुत विचार स्वयं इनकी चतुर्थ शताब्दी वाली धारणा का खण्डन कर देते हैं, जिसे यहाँ संक्षेप में स्पष्ट किया जायेगा।

वेद में महाभारत का उल्लेख नहीं है, यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों में कुरुक्षेत्र को पवित्र क्षेत्र की संज्ञा प्रदान की गयी है।

यदि महाभारत युद्ध की घटना घटित हुई रहती तो उसका उल्लेख अवश्य ही वैदिक वाङ्मय में होता। ब्राह्मण ग्रंथों में परीक्षित के पुत्र जनमेजय तथा भरत का उल्लेख है और अथर्ववेद के कुन्ताप गान में परीक्षित को शान्ति प्रिय राजा घोषित करते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है। काठक में विचित्रवीर्य पुत्र धृतराष्ट्र का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु सम्पूर्ण वेद में पाण्डु अथवा उनके पुत्र पाण्डवों का कहीं भी संकेत नहीं है। साथ ही दुर्योधन, दुशासन तथा कर्ण आदि नाम वहाँ नहीं प्राप्त होते। अर्जुन नाम यद्यपि एक ब्राह्मण में आया है, किन्तु यह वहाँ इन्द्रदेव के गुप्त नाम के रूप में वर्णित है। सर्वप्रथम हम सांखायन श्रौतसूत्र में कुरुक्षेत्र में हुए एक ऐसे युद्ध का उल्लेख पाते हैं, जिसमें कौरवों की पराजय हुई थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ग्रंथ के रूप में भारत तथा महाभारत का वर्णन मिलता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में युधिष्ठिर, भीम तथा विदुर आदि शब्दों की संरचना स्पष्ट की है और महाभारत इस समस्त पद में स्वर विधान का निर्णय किया है। पतंजलि ने प्रथम बार कौरवों तथा पाण्डवों की इस युद्ध कथा की ओर इंगित किया है। ये सब विचार भारतीय वाङ्मय के इतिहास के विद्वान व्याख्याकार श्री विन्टरनित्स के हैं।

इसी सन्दर्भ में बौद्ध पालि त्रिपिटक का उल्लेख करते हुए वे प्रतिपादित करते हैं कि इसमें महाभारत का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि त्रिपिटिक के प्राचीन अंशों में आख्यान शैली की ऐसी गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जिनका प्रचलन ब्राह्मण ग्रंथों में भी था और जो महाभारत के कुछ पात्रों की उद्भाविका प्रतीत होती हैं। जातकों के पद्यात्मक अंश त्रिपिटक में ही अन्तर्भूत हैं। इनमें महाभारत के कुछ पात्रों के नाम अवश्य प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ-पाण्डव, धनंजय, युधिट्ठिल, धतरट्ठ, विधुर आदि। कृष्णा (द्रौपदी) के अपने पति का वरण करने तथा पाँच पुरुषों की पत्नी होने के सम्बन्ध में यहाँ प्राप्त उल्लेख यह व्यक्त करता है कि इस ग्रंथ का महाभारत से कुछ परिचय अवश्य है।

यह सब व्यक्त करते हुए वहीं टिप्पणी में दीघनिकाय के प्रथम सुत्त 'ब्रह्मजाल सुत्त' में उल्लिखित युद्ध कथा शब्द पर सशंकित होते हुए वे लिखते हैं कि यदि इसका अर्थ महाभारत तथा रामायण होता, जैसा कि इस सुत्त के अट्ठकथाकार (अर्थकथाकार) ने व्याख्या की है तो स्वयं त्रिपिटक में ही इन नामों का उल्लेख होता, न कि मात्र अट्ठकथा में। यहाँ पर 'वदती व्याघात' परिलक्षित है, साथ ही अपने मन में किसी बिन्दु का निश्चित करके उसके विरुद्ध आने वाले शक्तिशाली प्रमाणों को भी कुछ कहकर टालने की पाश्चात्य प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। अत: इसे बौद्ध दृष्टि से स्पष्ट करना अत्यन्त समीचीन होगा। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को 'सम्फप्पलाप' (निरर्थक प्रलाप) तथा युद्ध कथा की चर्चा करने से मना किया है और इसकी चर्चा न करना प्रशंसनीय माना है। प्रसंग यह है कि एक बार भगवान बुद्ध भिक्षु संघ के साथ राजगृह से नालन्दा जाने वाले मार्ग पर आरूढ़ थे। सुप्रिय परिव्राजक भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त के साथ उसी मार्ग पर चल रहा था। सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म तथा संघ की निन्दा कर रहा था और उसका शिष्य ब्रह्मदत्त प्रशंसा। रात में बुद्ध अपने संघ के साथ 'अम्बलट्ठिका' में टिक गये। सुप्रिय भी ब्रह्मदत्त के साथ वहीं पर टिका और रात में भी वे पूर्व की ही भाँति चर्चा में लिप्त रहे। जब इस विषय पर भिक्षुओं की बात बुद्ध से हुई तो उन्होंने स्पष्ट किया कि शीलवान होने के कारण ही सामान्य जन उनकी प्रशंसा करते हैं। इस शील का व्याख्यान उन्होंने प्रारम्भिक शील, मध्यम शील तथा महाशील में वर्गीकृत करके किया और प्रारम्भिक जीव हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मिथ्या भाषण, चुगली करना, कठोर भाषण आदि से विरत रहने को परिगणित करते हुए कहा कि इनसे विरत रहने के कारण ही सामान्य जन द्वारा उनकी प्रशंसा की जाती है। आगे उन्होंने 'सम्फप्पलाप' अर्थात निरर्थक प्रलाप से विरत रहने की बात उठायी। वहाँ पर इस सम्बन्ध में मूल इस प्रकार है-''सम्फप्पलापं पहाय सम्फप्पलापा पटिविरतो समणो गोतमो।'' इस वाक्य में आये हुए 'सम्फप्पलापं' पद की व्याख्या दीघनिकाय की अट्ठकथा (अर्थकथा) सुमंगलविलासिनी में आचार्य बुद्धघोष द्वारा इस प्रकार की गयी है-''अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका अकुसलचेतना . . . 'सम्फप्पलापो . . . तस्स द्वे सम्भारा-भारतयुद्ध सीताहरणादिनिरत्थकथा-पुरेक्खारता, तथारूपी कथा कथनं च''। इस प्रकार 'सम्फप्पलाप' अर्थात निरर्थक प्रलाप के

अन्तर्गत भारत युद्ध कथा तथा सीताहरण कथा (रामायण कथा) को अट्ठकथाकार ने रखा है।

आगे मध्यम शील के अन्तर्गत इसी सुत्त में कहा गया है कि जिस प्रकार अन्य श्रमण तथा ब्राह्मण इस प्रकार की व्यर्थ अथवा तिरश्चीन कथाओं में लगे रहते हैं, जैसे-राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा आदि उस प्रकार से श्रमण गौतम ऐसी व्यर्थ कथाओं में नहीं लगा रहता। अत: लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। इस सन्दर्भ में आये हुए युद्धकथा पद का व्याख्यान सुमंगलविलासिनी में ही इस प्रकार से प्राप्त है-''युद्धेऽपि भारतयुद्धा-दीसु असुकेन असुको एवं मारितो एवं विद्धीति कामस्सादवसेनेव कथा तिरच्छानकथा''। अर्थात् भारत आदि युद्धों में अमुक द्वारा अमुक इस प्रकार मारा गया, इस प्रकार वेधा गया (आदि रीति से) काम तथा आस्वाद के वश से प्रवृत्त व्यर्थ कथा युद्धकथा है। यह भी उल्लेखनीय है कि सुमंगलविलासिनी के थाई (स्यामी) संस्करण में 'भारतयुद्धादीसु' के स्थान पर 'भारतरामयुद्धादीसु' पाठ प्राप्त होता है। इस प्रकार दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में 'सम्फप्पलाप' तथा 'युद्धकथा' आदि जो पद व्यवहृत हुए हैं, उनका इस परम्परा में अर्थ महाभारत कथा तथा रामायण कथा किया गया है।

ऊपर यह व्यक्त किया जा चुका है कि पालि त्रिपिटक में महाभारत का उल्लेख नहीं है। पहले यह प्रतिष्ठापित करके इससे सशंकित रहते हुए विन्टरनित्स ने उसी स्थल पर यह पाद टिप्पणी दे दी है कि युद्धकथा का अर्थ अथवा अभिप्राय यदि रामायण अथवा महाभारत प्रारम्भिक त्रिपिटक युग में ही अभिप्रेत होता तो मूल में ही इन नामों का उल्लेख होता, मात्र युद्धकथा कहकर छोड़ न दिया जाता। उनका यह कथन निरर्थक है, क्योंकि इसमें स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि उक्त बौद्ध कथन में इन विशिष्ट ग्रंथों के प्रति किसी भी प्रकार के आदर भाव की सम्भावना ही नहीं है। जिसे निरर्थक प्रलाप तथा तिरश्चीन कहा जा रहा हो, उसके प्रति गौरव बुद्धि कैसे हो सकती है और ऐसा न होने पर मूल में इनके नामोल्लेख का प्रसंग ही नहीं उठता।

यदि इस सन्दर्भ में विन्टरनित्स के मस्तिष्क में यह शंका हो कि आचार्य बुद्धघोष का काल पाँचवीं शताब्दी है और इस समय तक महाभारत तथा रामायण आदि ग्रंथों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, अतएव उनके द्वारा उपर्युक्त पदों का इस प्रकार से व्याख्यान हुआ तो त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं के सन्दर्भ में विद्यमान बौद्ध परम्परा के पर्यालोचन के पश्चात यह शंका भी निर्मूल ही सिद्ध होती है। परम्परा के अनुसार सम्राट अशोक के पूर्व हुई बौद्ध संगीतियों में मूल त्रिपिटक के साथ उसकी अट्ठकथाओं का भी संगायन हुआ था और अशोक के समय में जो तृतीय संगीति इस सन्दर्भ में हुई, उसके अनुसार व्यवस्थित मूल त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं की परम्परा की अशोक के पुत्र महेन्द्र अपने साथ सिंहल द्वीप ले गये थे। इस तथ्य को सुमंगलविलासिनी, अट्ठसालिनी तथा धम्मपद अट्ठकथा प्रभृत्ति अट्ठकथाओं के प्रारम्भिक अंश उद्घाटित करते हैं। वहीं यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि सिंहल द्वीप-वासियों के हित के लिए स्थविर महेन्द्र द्वारा उन अट्ठकथाओं का सिंहल भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया गया और काफी समय तक यही अनुवाद प्रचलन में रहा होगा। बाद में आगे चलकर आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली भाषा से पालि अथवा मागधी भाषा में इनका अनुवाद मात्र किया, कोई नवीन रचना नहीं की। बुद्धघोष से पूर्व सिंहली भाषा में दीघनिकाय की मूल अट्ठकथा का नाम महाअट्ठकथा था और पालि भाषा में इसका रूपान्तर करके आचार्य बुद्धघोष ने इसका नाम 'सुमंगलविलासिनी' रखा। इस अट्ठकथा के प्रारम्भिक अंशों में कहा गया है-

सीहलदीपं पन आभताथ वसिना महामहिन्देन।
ठपिता सीहलभासाय दीपवासीनमत्थाय॥
अपनेत्वा ततोहं सीहलभासं मनोरमं भासं।
तन्तिनयानुच्छविकं आरोपन्तो विगतदोसं॥

यदि अशोक के पूर्व सम्पन्न संगीतियों में अट्ठकथाओं के संगायन की बात को पूर्ण रूप से प्रामाणिक न भी स्वीकार

किया जाय तो इस स्थिति में भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अशोक के पूर्व भी मूल त्रिपिटक के व्याख्यान की कोई परम्परा अवश्य विद्यमान थी, जिसे अशोक के समय में हुई तृतीय संगीति में सुव्यवस्थित किया गया और मूल त्रिपिटक के साथ महेन्द्र इसे सिंहल द्वीप ले गये। इस तथ्य के प्रकाश में प्रस्तुत सुमंगलविलासिनी में प्राप्त इस व्याख्यान को पाँचवीं शताब्दी का मानकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस व्याख्यान की परम्परा काफी प्राचीन है और यह यही द्योतित करती है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत की स्थिति हो चुकी थी और महाभारत की स्थिति को मान लेने पर कृष्ण कथा की स्थिति को तो मान ही लेना पड़ेगा। जब महाभारत के प्रति बौद्धों की गौरव बुद्धि नहीं थी तो कृष्ण कथा के प्रति उनकी विशेष बुद्धि कैसे हो सकती थी, क्योंकि वहाँ तो प्राचीन मान्यताओं का खण्डन करके अपनी नवीन मान्यता को स्थापित करना था। अत: जहाँ तक हो सका उन्होंने महाभारत तथा कृष्ण कथा के सीधे उल्लेख से बचने का प्रयत्न किया।

पालि त्रिपिटक में महाभारत का उल्लेख न मानते हुए भी विन्टरनित्स ने इसके पद्यात्मक भाग में महाभारत के पात्रों के नामोल्लेख की चर्चा की है और इस भाग को त्रिपिटक में ही अन्तर्भूत माना है। जातक की गाथाएँ त्रिपिटक के ही अंश हैं और उनमें महाभारत के पात्रों के नाम आये हैं, यह स्वीकार कर लेने पर त्रिपिटक वाङ्मय के सुव्यवस्थित होने के समय महाभारत के अस्तित्व का व्याख्यान स्वयं ही प्रतिपादित हो जाता है। अंगों में बुद्ध वचन का विभाजन अथवा वर्गीकरण अति प्राचीन है और उनमें एक अंग जातक भी है, अत: बुद्धवचन के रूप में जातक की कोई गौण स्थिति नहीं है और इससे भी प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में विन्टरनित्स का अपना तर्क ही त्रिपिटक वाङ्मय में इसकी अविद्यमानता को प्रकाशित करने वाली इनकी मान्यता का खण्डन कर देता है। इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत सांख्यायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, पाणिनि के सूत्र तथा पतंजलि आदि के व्याख्यान प्रबल प्रमाणों के रूप में प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत की विद्यमानता की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं। इस प्रकार से विन्टरनित्स अपने प्रमाणों, साक्ष्यों तथा तर्कों से अपने विरुद्ध ही स्थित जान पड़ते हैं।

इसके साथ ही पालि त्रिपिटक के 'महानिद्देस' नामक ग्रंथ में वासुदेव का व्रत करने वाले तथा बलदेव का व्रत करने वाले लोगों की चर्चा है। यद्यपि यह 'सुत्तनिपात' नामक प्राचीनतम त्रिपिटक ग्रंथ की टीका है, तथापि पहली शताब्दी में त्रिपिटक के लिपिबद्ध होने के बहुत पूर्व ही इसे त्रिपिटक के अन्तर्गत रखा जा चुका था। इसमें प्राप्त उपर्युक्त उल्लेख तारस्वरेण यही प्रतिपादित करता है कि वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव (कृष्ण के भ्राता) की पूजा समाज में प्रतिष्ठित थी और यह स्वत: महाभारत की स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रारम्भिक बौद्ध युग में कृष्ण पूजा के प्रचलन को स्पष्ट रूप से इंगित करने वाला एक प्रबल साक्ष्य है।

विद्वानों की यह सामान्य मान्यता है कि महाभारत ग्रंथ की स्थिति चतुर्थ शताब्दी में हुई, किन्तु इसके पूर्व इसकी स्थिति को सिद्ध करने में सहायक एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य इधर प्रस्तुत हुआ है और वह है 'जनरल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी' में प्रकाशित लेख जिसका शीर्षक है 'दि ओल्डेस्ट एक्सटैण्ट पर्वन लिस्ट आफ दि महाभारत'। इसके लेखक Dieterschlingloff हैं। आधुनिक शताब्दी के एक जर्मन अन्वेषक दल को मध्य एशिया के किजिल नामक स्थान से संस्कृत की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं, जो सम्प्रति पूर्वी बर्लिन के संग्रहालय में संगृहीत हैं। इन्हीं में एक छोटी पाण्डुलिपि भी प्राप्त है, जो कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में लिखी गयी है और लिपि के आधार पर इसके लिखे जाने का काल पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ई. तक निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि यह ग्रंथ दूसरे विषय से सम्बन्धित है तथापि इसमें महाभारत और उसके पर्वों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ 18 महापर्वों के अतिरिक्त लगभग 100 उपपर्वों के नाम भी दिये गये हैं। किसी भी ग्रंथ की प्रसिद्धि में आने में 100-200 वर्ष लग जाते हैं। इस दृष्टि से उक्त आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि महाभारत ग्रंथ का एक निश्चित तथा प्रामाणिक संस्करण ईसा पूर्व में ही प्रस्तुत हो चुका था। इसके विशेष

विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में समर्थ हो जाते हैं कि भारत आख्यान ही नहीं अपितु महाभारत ग्रंथ भी प्रारम्भिक बौद्ध काल में प्रतिष्ठित हो गया था तथा प्रचलन में था।

इस प्रकार पर्वों तथा उपपर्वों में विभक्त महाभारत ग्रंथ की स्थिति को प्रारम्भिक काल में मान लेने पर उस समय कृष्ण कथा के प्रचलन को मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। यह बात समाज में कृष्ण नाम के प्रचलन 'महानिद्देस' नामक ग्रंथ में वासुदेव तथा बलदेव के पूजा की चर्चा तथा कृष्ण सम्बन्धी आख्यान का जातकों द्वारा प्रस्तुतीकरण आदि से भी सिद्ध होती है। इसका वहाँ पर क्या स्वरूप है, इसकी विवेचना उक्त आधारों पर विस्तृत रूप से करना आवश्यक है।

प्रारम्भिक पालि वाङ्मय में 'कण्ह' (कृष्ण) शब्द का प्रयोग काले वर्ण के अर्थ में अथवा व्यक्तिवाचक नाम के रूप में हुआ है। यहाँ पर यह शब्द मार के एक नाम के रूप में प्रयुक्त है तथा कण्ह नामक एक प्रत्येक बुद्ध की चर्चा भी प्राप्त होती है। राजा ओक्काक (इक्ष्वाकु) की दासी पुत्री दिसा से उत्पन्न पुत्र का नाम भी काले वर्ण का होने के कारण कण्ह (कृष्ण) रखा गया था और इन्हें कण्हायन गोत्र का पूर्वज बताया गया है। बाद में साधना करके इन्होंने अनेक सिद्धियों को प्राप्त किया और 'ओक्काक' राजा की पुत्री मद्दरूपी से इनका विवाह सम्पन्न हुआ। कण्हजातक में कृष्ण कुमार की चर्चा है। वहाँ इन्हें एक बोधिसत्त्व के रूप में दर्शाया गया है। अतीत में महान ऐश्वर्यवान एक धनाढ्य ब्राह्मण था, जिसे कोई पुत्र नहीं था। उसने शील ग्रहण कर पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की तो बोधिसत्त्व उसकी ब्राह्मणी की कोख में आये। काले वर्ण का होने के कारण इनका नाम कृष्ण कुमार रखा गया। तक्षशिला से अध्ययन पूर्ण करके लौटने पर पिता ने इनका विवाह कर दिया। बाद में धन तथा ऐश्वर्य को व्यर्थ मानते हुए अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान करके इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और साधना मार्ग पर आरूढ़ हुए। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शक्र ने इन्हें वरदान दिया और अन्त में ये ब्रह्मलोकगामी हुए।

कण्हदीपायन (कृष्ण द्वैपायन) जातक में इस नाम के एक तपस्वी की चर्चा है। इनका उल्लेख घटजातक में भी आया है। इनका कृष्ण कथा से सीधा सम्बन्ध है। इस पर आगे स्वतन्त्र रूप से विस्तार से विचार किया जायेगा।

असित देवल ऋषि को भी काले वर्ण का होने के कारण 'कण्ह इसि' (कृष्ण ऋषि) कहा गया है। इनका उल्लेख महाभारत में भी प्राप्त है, किन्तु बौद्ध वाङ्मय में इनकी कथा बौद्ध सन्दर्भों में ही प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण नाम का प्रयोग पालि वाङ्मय में अनेक स्थलों पर हुआ है। यद्यपि व्याख्यानानुसार यह प्रयोग मुख्यत: काले वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण है, किन्तु घटजातक द्वारा व्यक्त कृष्ण अथवा वासुदेव कथा को दृष्टिगत रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि समाज में कृष्ण कथा का प्रचलन था तथा इसी कारणवश व्यक्तिवाचक नाम कृष्णपरक रखे गये थे, क्योंकि नामकरण मुख्यतया पूर्व में हुए किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के नाम पर ही किया जाता है। प्रारम्भिक पालि वाङ्मय में कृष्ण नाम का उल्लेख इस ओर स्पष्टतया इंगित करता है।

सुत्तनिपात पालि त्रिपिटक में संगृहीत ग्रंथों में प्राचीनतम माना जाता है। इस ग्रंथ के 'अट्ठक' तथा 'पारायण' वग्ग भगवान बुद्ध के समय में ही प्रसिद्ध हो चुके थे और आयुष्मान् सोण कुटिकण्ण ने सम्पूर्ण 'अट्ठकवग्ग' का पाठ बुद्ध के समक्ष किया था। ये स्थविर महाकच्चायन के शिष्य थे और उनकी अनुमति प्राप्त करके शास्ता का दर्शन करने हेतु श्रावस्ती के जेतवनाराम में गये थे। वहाँ पहुँचकर भगवान को अभिवादन कर ये एक ओर बैठ गये। तब भगवान ने आयुष्मान् आनन्द से कहा-''आनन्द, इस नवागत भिक्षु को वास दो''। भगवान के ऐसा कहने पर आनन्द ने सोचा कि शास्ता इन्हें अपने ही विहार में रखना चाहते हैं, अत: उन्होंने उनके रहने का वहीं प्रबन्ध किया। रात बीतने पर अत्यन्त प्रत्यूष काल में भगवान ने आयुष्मान् सोण से पूछा-'भिक्षु धर्म का पाठ कर सकते हो'? 'हाँ, भन्ते' कहकर सोण ने सभी अट्ठकवर्गों का सस्वर पाठ प्रस्तुत किया। तब भगवान ने उनका अनुमोदन करते हुए कहा-'साधु साधु भिक्ष, तूने अट्ठकवग्गिकों को अच्छी तरह से ग्रहण किया है, अच्छी तरह से मन में किया है, अच्छी तरह से धारण किया है' आदि।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'सुत्तनिपात' के ये अंश उसी समय (अर्थात् बुद्ध के समय में ही) स्थित होकर प्रसिद्ध हो चुके थे। इसी 'अट्ठकवग्ग' में 'सुद्धट्ठकसुत' है, जिसकी तीसरी गाथा यह है-

न ब्राह्मणो अञ्ञतो सुद्धिमाह दिट्ठे सुते सीलवते मुते वा।
पुञ्जे च पापे च अनुपलित्तो अत्तञ्जहो नयिध पकुब्बमानो॥

इस मूल गाथा का अर्थ इस प्रकार है-'द्रष्ट, श्रुत, शील, व्रत और विचारित इनमें से किसी एक के द्वारा ब्राह्मण ने शुद्धि नहीं कही है। जो पुण्य और पाप में लिप्त नहीं है, जो आत्मत्यागी है तथा पुण्य-पाप नहीं करने वाला है, वह शुद्ध है'।

'सुत्तनिपात' पर 'निद्देस' नामक एक अति प्राचीन व्याख्या प्राप्त है, जिसे परम्परा में भगवान बुद्ध के अग्रमहाश्रावक आर्य सारिपुत्र की रचना कहा जाता है और इसे बुद्धवचन मानते हुए 'खुद्दकनिकाय' के अन्तर्गत संकलित किया गया है। निद्देस के दो भाग हैं-महानिद्देस तथा चूलनिद्देस। 'अट्ठकवग्ग' की व्याख्या 'महानिद्देस' है तथा 'खग्गविसावसुत्त' एवं 'पारायणवग्ग' की व्याख्या 'चूलनिद्देस' इस नाम से अभिहित की जाती है। 'अट्ठकवग्ग' की उपर्युक्त गाथा में आये हुए 'सीलवते' पद में 'वत' की व्याख्या 'महानिद्देस' में इस प्रकार प्राप्त है-''सन्ते के समण ब्राह्मणा वतसुद्धिका। ते हत्थिववतिका वा होन्ति, अस्सवतिका वा होन्ति, गीवतिका वा होन्ति, कुक्कुरवतिका वा होन्ति, काकवतिका वा होन्ति, वासुदेववतिका वा होन्ति, बलदेववतिका वा होन्ति.....सूरियवतिका वा होन्ति, इन्दवतिका वा होन्ति, ब्रह्मवतिका वा होन्ति, देववतिका वा होन्ति, दिसावतिका वा होन्ति-इमेते समणब्राह्मणा वतसुद्धिका' [अर्थात् ऐसे श्रमण एवं ब्राह्मण हैं, जो यह मानते हैं कि व्रत से शुद्धि होती है। वे हाथी, घोड़े, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, सूर्य, इन्द्र, देव, दिशाओं के व्रत करने से शुद्धि होगी, ऐसा मानते हैं-ये श्रमण तथा ब्राह्मण व्रतशुद्धिक कहे जाते हैं।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुद्धट्ठकसुत्त' में शुद्धि का प्रश्न उठाकर ये शुद्धियाँ विभिन्न प्रकार के व्रतों द्वारा होती हैं, ऐसी मान्यता का खण्डन करते हुए उपरि उल्लिखित व्याख्या में विभिन्न प्रकार के व्रतों की परिगणना के प्रसंग में वासुदेव व्रत तथा बलदेव व्रत करने वालों का उल्लेख करते हुए ऐसे व्रतों से परम शुद्धि नहीं प्राप्त होती, इसे प्रतिपादित किया गया है। यह व्याख्या यही घोषित करती है कि इसकी रचना के पूर्व से ही कृष्ण तथा बलदेव का व्रत करने वाले श्रमण तथा ब्राह्मण समाज में विद्यमान थे। इससे स्पष्टतया प्रकट है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव समाज में पूज्य के रूप में प्रतिष्ठित थे। उधर पाणिनि का स्पष्ट संकेत इस ओर है ही। इससे प्रबल रूप में यह प्रमाणित होता है कि वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव (कृष्ण के भ्राता) की कथा समाज में प्रतिष्ठित तथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि ऐसा था तो 'सुद्धट्ठकसुत्त' में ही स्पष्ट रूप से इनकी ओर संकेत क्यों नहीं किया गया तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ तो मात्र बौद्ध सिद्धान्त की स्थापना का प्रश्न है तथा उसकी तुलना में अन्य प्रकार की मान्यताओं को मिथ्या दृष्टि मानते हुए उन्हें परित्यक्त करने का उपदेश है। जो मिथ्या दृष्टि है, उसका सीधे नाम सिद्धान्तवासी कैसे ले सकता है। इस प्रकार मूल में इसके देने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इसके व्याख्यान महानिद्देस में अन्य भिक्षुओं को इसकी ओर इंगित कराना आवश्यक है। अत: बुद्ध के समसामयिक अग्रश्रावक 'सारिपुत्त' में इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है। (साभार :- भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण **: सं. प्रो. भगवती प्रसाद सिंह**)

बौद्ध धर्म में कृष्ण कथा

कृष्ण कथा विस्तृत रूप हमें 'घटजातक' में प्राप्त है। इसके अतीत कथाभाग में यह कथा अधोलिखित रूप में प्रस्तुत है—

पूर्व समय में उत्तरायण में कंस भोग में असितञ्जन नगर में महाकंस नामक राजा राज्य करता था। कंस तथा उपकंस नामक उसके दो पुत्र थे तथा देवगर्भा नाम की एक लड़की। इस लड़की के जन्म के दिन ही ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि इसकी कोख से जन्म लेने वाला पुत्र कंस गोत्र तथा कंस वंश का नाश करेगा। स्नेह बाहुल्य से राजा बेटी को नहीं मरवा सका। उसने यह सोचा कि देखा जायेगा और आयुपर्यन्त जीवित रहकर वह मर गया। इसकी मृत्यु के पश्चात् कंस राजा हुआ एवं उपकंस उपराजा। उन्होंने विचार किया कि यदि उपर्युक्त कारणवशात् हम लोग बहन की हत्या करेंगे तो लोकनिन्दा होगी। अत: इसका विवाह न करके स्वामी रहित रखते हुए इसका पालन करें। एतदर्थ एक खम्भे पर टिका एक प्रासाद बनावाकर उन्होंने उसमें उसे रखा। नन्दगोपा को उसकी सेविका नियुक्त किया गया और उसके पति अन्धकवेणु को वहाँ पर पहरा देने के लिए नियुक्त किया गया।

इस समय उत्तर मथुरा में महासागर नामक राजा राज्य करता था। उसके सागर तथा उपसागर नामक दो पुत्र थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् सागर राजा हुआ और उपसागर उपराजा। उपसागर कंस का मित्र था और इन दोनों ने एक आचार्य कुल में अध्ययन किया था। उपसागर ने अपने भाई के अन्त:पुर में दुष्टता की और पकड़े जाने के भय से भागकर कंसभोग में उपकंस के पास जा पहुँचा। उपकंस उसे कंस राजा के पास ले गया। राजा ने उसे बहुत वैभव दिया। राजा की सेवा में जाते समय उसने देवगर्भा के एक खम्भे वाले प्रासाद को देखकर यह सोचा यह किसका निवास स्थान है। ज्ञात होने पर वह देवगर्भा के प्रति आसक्त हो गया। देवगर्भा ने भी उपकंस के साथ राजा की सेवा में उसे जाते देखकर उसके विषय में जिज्ञासा की और नन्दगोपा ने उसे बताया कि वह राजा महासागर का पुत्र उपसागर है। यह सुनकर देवगर्भा उसके प्रति आसक्त हो गयी। बाद में उपसागर ने नन्दगोपा को रिश्वत देकर पूछा कि क्या वह देवगर्भा को दिखा सकेगी। उसने इसे कठिन कार्य न बताते हुए देवगर्भा से इस सम्बन्ध में निवेदन किया और उसकी स्वीकृति प्राप्त होने पर संकेत देकर एक रात उपसागर को उस प्रासाद पर वह चढ़ा ले गयी। उसका देवगर्भा के साथ सहवास होने से वह गर्भवती हो गयी और यह प्रकट होने पर भाइयों ने इस सम्बन्ध में नन्दगोपा से पूछा। अभयदान प्राप्त करके नन्दगोपा ने सब वृत्तांत कह दिया। इन दोनों भाइयों ने विचार किया बहन को मारना ठीक नहीं है। यह लड़की को जन्म देगी तो उसे भी नहीं मारेंगे, किन्तु यदि लड़के को जन्म देगी तो उसे मार डालेंगे। यह सोचकर उन्होंने देवगर्भा को उपसागर को दे दिया। गर्भ के परिपक्व होने पर उसने लड़की को जन्म दिया, जिसका नाम अञ्जन देवी रखा गया। उन्हें भाग ग्राम के रूप में गोवर्धमान नामक ग्राम दे दिया गया। देवगर्भा के साथ उपसागर उसी ग्राम में रहने लगा।

देवगर्भा को पुन: गर्भ ठहरा और उसी दिन नन्दगोपा भी गर्भवती हुई। आगे चलकर एक ही दिन देवगर्भा ने पुत्र को जन्म दिया और नन्दगोपा ने पुत्री को। देवगर्भा ने पुत्र के मारे जाने के डर से उस को छिपाकर नन्दगोपा के पास भिजवा दिया और उसकी पुत्री को अपने पास मँगवा लिया। भाइयों द्वारा पूछे जाने पर देवगर्भा ने पुत्री के उत्पन्न होने की बात कही और यह सुनकर भाइयों ने उसे पालन करने का आदेश दिया। इस प्रकार देवगर्भा ने दस पुत्रों को जन्म दिया और नन्दगोपा ने दस पुत्रियों को। ये सभी पुत्र नन्दगोपा द्वारा पाले गये और लड़कियाँ देवगर्भा द्वारा। इन दोनों के अतिरिक्त इस भेद को अन्य कोई भी नहीं जानता था। देवगर्भा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम वासुदेव हुआ और क्रमश: अन्य पुत्रों के नाम बलदेव, चन्द्रदेव, सूर्यदेव, अग्निदेव, वरुणदेव, अर्जुन, प्रद्युम्न, घतपण्डित तथा अंकुर रखे गये। ये सब 'अन्धकवेणुदास-पुत्र दस भ्राता' इस नाम से प्रसिद्ध हुए।

आगे चलकर बड़े होने पर सभी शक्ति बल से युक्त तथा कठोर स्वभाव के होकर डाका डालने लगे। राजा के लिए जो भेंट अन्य लोग ले जाते थे, उसे रास्ते में ये लूट लेते थे। लोगों ने उनके इस कुकृत्य की राजा से शिकायत की। जब राजा ने इस सम्बन्ध में अन्धकवेणु को बुलवाकर धमकाया तो मृत्यु से भयभीत होकर अभयदान की याचना करते हुए राजा के समक्ष उसने यह भेद खोला कि वे उसके पुत्र न होकर उपसागर के पुत्र हैं। उसने अमात्यों से मन्त्रणा की कि इन्हें किस उपाय से पकड़ा जाय। अमात्यों ने कहा-'देव ये मल्ल हैं। नगर में कुश्ती करायी जाय और जब ये कुश्ती

मण्डप में आ जाएँ तो पकड़वा कर मरवा दिया जाय।'

राजा ने चाणूर तथा मुष्टिक इन दो मल्लों को भेजकर मुनादी करायी कि आज से सातवें दिन कुश्ती होगी। इस सन्दर्भ में राजद्वार पर कुश्ती मण्डप बनवाकर अखाड़ा तैयार कराया गया और उसे ध्वज पताकाओं से सजाया गया। सारी जनता उमड़ पड़ी। चक्र तथा मचान इत्यादि बाँधे गये। चाणूर और मुष्टिक कुश्ती मण्डप में आकर कूदते तथा गरजते हुए ताल ठोंक रहे थे। उधर दस भाइयों ने भी आकर विभिन्न दुकानों से वस्त्र, सुगन्धियाँ, मालाएँ इत्यादि लूट कर उन्हें धारण करके कूदते, गरजते तथा ताल ठोंकते हुए कुश्ती मण्डप में प्रविष्ट हुए। उस समय ताल ठोंकते हुए चाणूर अखाड़े में विचरण कर रहा था। बलदेव ने उसे देखकर संकल्प किया ये हाथ से चाणूर का स्पर्श नहीं करेंगे। वे हस्तिशाला से एक बड़ा हाथी बाँधने की रस्सी ले आये और उछल कर तथा गर्जना करके उस रस्सी को फेंक कर चाणूर को पेट पर से बाँध लिया। फिर रस्सी के दोनों सिरों को एक कर, बट कर उसे उठा लिया और सर पर घुमाकर एवं जमीन पर मसल करके उसे अखाड़े से बाहर फेंक दिया। चाणूर के मरने पर राजा ने मुष्टिक मल्ल को आज्ञा दी। उसने उठकर कूदते हुए एवं गर्जना करते हुए ताल ठोंका। बलदेव ने उसे मसल कर उसकी हड्डियाँ चूर-चूर कर दीं। वह कहता ही रह गया—'मैं मल्ल नहीं हूँ, मल्ल नहीं हूँ।' बलदेव ने कहा—'मैं नहीं जानता कि तू मल्ल है, अथवा नहीं।' यह कहते हुए उन्होंने उसे हाथ से पकड़कर जमीन पर पीट-पीटकर जान से मार कर अखाड़े के बाहर फेंक दिया। मुष्टिक ने मरते हुए यह संकल्प किया—'यक्ष होकर तुझे खाऊँगा।' वह काळमति-अटवी में यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ।

इसके बाद स्वयं राजा ने उठकर घोषण की—'इन दुष्ट दस दास-भ्राताओं को पकड़ो।' उस समय वासुदेव ने चक्र घुमाया और उससे राजा तथा उसके भाई के सिर कट गये। उपस्थित जनता भयभीत होकर उनके पैरों पर यह कहती हुई गिर पड़ी—हमारी रक्षा करें।

दोनों मल्लों को मृत्यु की गोद में सुलाकर उन्होंने असितञ्जन नगर के राज्य को अपने अधीन कर लिया और माता-पिता को अपने पास रखा। फिर दसों भाई यह सोचकर कि सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की विजित करेंगे, बाहर निकले। वे क्रमशः कालसेन राजा के निवास स्थान अयोध्या नगर पहुँचे और नगर को घेर कर, घने जंगल को नष्ट करते हुए प्राकार को तोड़कर उन्होंने राजा को पकड़ लिया और उसके राज्य को अपने अधीन करते हुए द्वारवती पहुँचे। उस नगर के एक ओर समुद्र तथा दूसरी ओर पर्वत था। नगर पर अमनुष्याधिकार था। इस नगर की रक्षा करने वाला यक्ष आक्रमण करने वाले शत्रु को देखकर गधे का रूप बनाकर उसके जैसा शब्द करता था। उसी क्षण यक्ष के प्रताप से सम्पूर्ण नगर उठकर समुद्र द्वीप के बीच में एक द्वीप में पहुँच जाता था तथा शत्रु के वापस चले जाने पर फिर आकर अपने स्थान पर स्थित हो जाता था। इन दसों भ्राताओं को आक्रमणकारी रूप में देखकर उस समय भी उस गधे ने शब्द किया। नगर उठकर द्वीप पर चला गया। नगर दिखायी न पड़ने के कारण वे लौट गये तो वह पुनः आकर अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया। वे फिर लौटे तो गधे ने फिर वैसे ही शब्द किया। इस प्रकार जब वे द्वारवती नगर का राज्य विजित न कर सके तो कृष्ण द्वैपायन के पास गये और प्रणाम करके उनसे पूछा—'भन्ते, हम द्वारवती राज्य नहीं विजित कर पा रहे हैं; इस हेतु हमें कोई उपाय बतायें।'

कृष्ण द्वैपायन ने उन्हें बताया कि नगर की खाई के पीछे अमुक स्थान पर एक गधा चरता है, जो शत्रु को आया देखकर अपना शब्द करता है। उसी समय नगर ऊपर उठकर द्वीप में चला जाता है। तुम उस गधे का पैर पकड़ लो। यही तुम्हारी सफलता का उपाय है।

कृष्ण द्वैपायन तपस्वी की उपर्युक्त सलाह को सुनकर उन दसों भाइयों ने जाकर गधे के पैर पर पड़कर कहा—'स्वामी तुम्हें छोड़कर हमारे पास अन्य कोई आधार नहीं है। हमारे द्वारा नगर पर अधिकार करने के समय कृपया कोई आवाज न करें।'

उस गधे ने उत्तर के रूप में कहा—'मैं ऐसा नहीं कर सकता कि चुप रहूँ। किन्तु तुम चार व्यक्ति पहले जाकर बड़े लोहे के हल लेकर चारों नगर-द्वारों पर भूमि में लोहे के बड़े-बड़े खम्भे गाड़ दो। फिर नगर के ऊपर उठने के समय हलों को लेकर उनसे बँधी हुई लोहे की जंजीर को लोहे के खम्भों में बाँध देना। इससे नगर ऊपर नहीं जा सकेगा।'

'अच्छा' कहकर वे अर्ध रात्रि के ही समय हल लेकर चारों नगर द्वारों पर जमीन में खम्भे गाड़कर खड़े रहे। उस समय गधे ने आवाज की और नगर का ऊपर उठना प्रारम्भ हुआ। चारों द्वारों पर खड़े भाइयों ने चार हलों को लेकर उनमें बँधी हुई लोहे की जंजीरों को खम्भों में बाँध दिया। नगर ऊपर नहीं उठ सका। इस स्थिति में दस भ्राता नगर में घुसे और राजा को मार कर उन्होंने उस पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उन्होंने जम्बूद्वीप के तिरसठ हजार नगरों के सारे राजाओं को चक्र से मारकर द्वारवती में रहते समय राज्य को दस हिस्सों में बाँट दिया। अपनी बहन अञ्जनादेवी को राज्य का हिस्सा लगाना वे भूल गये।

फिर ग्यारह हिस्से किये जायँ ऐसी स्थिति आने पर सबसे छोटे भाई अंकुर ने कहा कि उसका हिस्सा अञ्जनादेवी को दिया जाय; वह व्यापार करके जीविकोपार्जन करेगा। केवल यह करना होगा कि वे सभी लोग अपने जनपदों में उससे चुंगी नहीं लेंगे। सभी ने इसे स्वीकार किया और अंकुर का हिस्सा अपनी बहन को देकर नौ राजा द्वारवती में रहने लगे। उधर अंकुर व्यापार करने लगा।

समय व्यतीत होने पर उनके परिवार में पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न हुइ ँ और उनके माता-पिता कालकवलित हो गये। फिर वासुदेव महाराज का प्रिय पुत्र जब काल कवलित हुआ तो राजा शोकाकुल होकर पलंग की भुजाओं को पकड़कर रो रहे थे। उस समय घतपण्डित ने सोचा कि उनके अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य नहीं जो भाई के शोक को दूर कर सके। परन्तु मैं कौशल से इसके शोक को दूर करूँगा। ऐसा सोचते हुए उसने पागल का स्वरूप बनाया और सारे नगर में मुझे शश दो, मुझे शश दो यह कहता हुआ आकाश की ओर देखता हुआ घूमने लगा। यह देखकर कि घतपण्डित पगला गया है, सम्पूर्ण नगर क्षुब्ध हो उठा। उस समय रोहिणेय्य नाम के अमात्य ने वासुदेव राजा के पास जाकर उससे वार्तालाप करते हुए पहली गाथा कही—

उट्ठेहि कण्ह किं सेसि को अत्थो सुपिनेन ते।
यो पि तायं सको भाता हृदयं चक्खुं व दक्खिणं।
तस्स वाता बलीयन्ति घतो जप्पति केसवा॥

इस गाथा का सामान्य अर्थ है—'हे कृष्ण, उठो, क्या सो रहे हो? सोने में क्या प्रयोजन है, जो तेरे हृदय या दाहिनी आँख के समान अपना भाई है, उसकी वायु क्षुब्ध हो गयी है। हे केशव, घत बकता है।'

इस गाथा की अर्थवर्णना में इस प्रकार से अर्थ का व्याख्यान प्राप्त है-'तथ्य कण्हा ति गोत्तेनालपति, कण्हायनगोतो किरेस, को अत्थो ति कतरा नाम वड्ढि। हृदयं चक्खुं व दक्खिणं ति हृदयेन चेव दक्खिणचक्खुना च समानो ति अत्थो। तस्स वाता वलीयन्तो ति तस्स हृदयं अपस्मारतातावत्थरन्ती ति अत्थो। जप्पती ति ससं में देथा ति विप्पलपति। केसवा ति किर केससोभनताय केसवो ति पञ्चायित्थ, तेन तं नामेन आलपति।'

इस अर्थवर्णना से यह स्पष्ट किया गया है कि कृष्ण यह सम्बोधन कृष्णानगोत्र का होने के कारण है और केशव नाम केशों की शोभनता के कारण है।

इसके पश्चात रोहिणेय्य की उपर्युक्त बात सुनकर केशव तत्काल उठ खड़ा हुआ और भाई के शोक से दुखी होकर शीघ्र प्रासाद से उतर कर घतपण्डित के पास जाकर उसे दोनों हाथों से अच्छी तरह पकड़कर झकझोरते हुए यह तीसरी गाथा उसने कही।

''किन्नु उम्मत्तरूपो व केवलं द्वारकं इमं।
ससो ससो ति लपसि को नु ते ससमाहरी।''

अर्थात् सम्पूर्ण द्वारका नगरी में क्या पागल की भाँति 'शश-शश' कहकर बकते हुए फिर रहे हो? कौन तुम्हारे शश को ले गया?

राजा के इस प्रकार से कहने पर भी घत पण्डित 'शश-शश' ही बकता रहा। फिर राजा ने उससे प्रस्ताव किया कि 'स्वर्णमय, मणिमय, लौहमय, रजतमय, शंखमय, शिलामय अथवा प्रवालमय इनमें से जिस प्रकार का शश चाहो मैं तुम्हारे लिए बनवा दूँगा। जंगल में जो दूसरे वनचर शश हैं, उन्हें भी तेरे लिए मँगवा दूँगा। तुम कैसा शश चाहते हो?

राजा की उपर्युक्त बात सुनकर घतपण्डित ने कहा कि 'पृथ्वी के शश से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। हे केशव! मैं वह शश चाहता हूँ जो चन्द्रमा में विद्यमान है। उसे उतरवाकर हे केशव, मुझे दे दो।

राजा ने घतपण्डित के मुख से उपर्युक्त बात सुनकर यह निश्चय किया कि 'निश्चित ही मेरा भाई पागल हो गया है।' यह सोचते हुए वह भाई से बोल बैठा-'हे भाई, तू अपने प्रिय प्राण गँवायेगा। जो इच्छा करने योग्य नहीं है, उसकी तू इच्छा करता है। तू तो चन्द्रमा से शश चाहता है।'

घत पण्डित ने राजा की बात को सुनकर स्थित होते हुए कहा-'हे भाई, तू यह जानते हुए कि चन्द्रमा से शश मिलने की इच्छा करने पर न मिलने से मरना होता है, किस कारणवश मृत पुत्र के लिए चिन्ता करता है?' ऐसा पूछते हुए वे पुनः बोले कि 'हे कृष्ण, यदि इतना ज्ञान है कि दूसरे को उपदेश देता है, तो तू आज मरे हुए पुत्र की चिन्ता क्यों करता है?' इस प्रकार बाजार के बीच में होकर वह फिर बोला-'भाई मैं तो ऐसी वस्तु चाहता हूँ जो दिखाई तो देती है, लेकिन तुम तो ऐसी वस्तु की चिन्ता करते हो जो दिखायी भी नहीं देती।' ऐसा धर्मोपदेश करते हुए उन्होंने फिर कहा-'मेरा पैदा हुआ पुत्र न मरे, यह अलभ्य बात न मनुष्य को प्राप्त है, न यह देवताओं को प्राप्त है। तब यह अलभ्य बात तुम्हें कहाँ प्राप्त हो सकती है। हे कृष्ण, जिस प्रेत की तू चिन्ता करता है, उसे न अब मंत्रबल से, न किसी जड़ी-बूटी रूपी औषधि से और न धन से ही लाया जा सकता है।' यह सुनकर राजा ने कहा—मेरे शोक को दूर करने के लिए ही तुमने यह सब किया और यह कहते हुए घतपण्डित की प्रशंसा में चार गाथाएँ कहीं।

प्रज्ञावान तथा करुणायुक्त पुरुष किसी को शोक से इसी प्रकार से निकाल लेते हैं जैसे घतपण्डित ने अपने भ्राता को शोकरहित किया। इस प्रकार घतकुमार द्वारा शोकरहित किये गये केशव को राज्यानुशासन करते हुए जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो दस भ्राताओं ने सोचा, 'कहा जाता है कि कृष्ण द्वैपायन तपस्वी को दिव्य चक्षु प्राप्त है। इसकी परीक्षा करनी चाहिये।' यह सोचकर उन्होंने एक तरुण राजकुमार को सजाया और उसको एक गर्भिणी स्त्री का स्वरूप प्रदान करते हुए उसके पेट पर एक तकिया बाँध दिया। उसे कृष्ण द्वैपायन के पास ले जाकर उन्होंने पूछा :'भन्ते, यह कुमारी क्या जनेगी?' तपस्वी ने देखा कि उन राजाओं का विनाश काल आ गया है। विचार करते हुए उन्होंने सोचा कि उनकी अपनी आयु अब कितनी शेष है। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि आज ही स्वयं उनका मरण दिवस है तो वे बोले-'कुमार यह जानकर तुम क्या करोगे?' पर वे सभी जानने हेतु आग्रह करते ही रहे। इस पर तपस्वी ने उन्हें बताया कि 'आज से सातवें दिन यह एक लकड़ी का टुकड़ा जनेगी। उससे वासुदेव कुल का नाश होगा। तुम लोग लकड़ी का टुकड़ा ले जाकर जला डालना और उसकी राख नदी में फेंक देना।' यह सुनकर कुमारों ने कहा-'दुष्ट तपस्वी, पुरुष जना नहीं करते।' ऐसा कहकर उन सभी ने तांत की रस्सी से तपस्वी को जान से मार डाला। राजा ने कुमारों को बुलाकर यह पूछा कि उन्होंने तपस्वी को क्यों मार डाला और सब कुछ जानकर उस तरुण पर पहरा बिठाकर सातवें दिन उसकी कोख से निकली हुई लकड़ी को जलवाकर उसकी राख को नदी में फेंकवा दिया। वह बहकर एक ओर जा लगी और वहाँ पर अरण्ड का पेड़ उग आया।

एक दिन वह राजा जल-क्रीड़ा करने की इच्छा से नदी के मुख द्वार पर पहुँचा। वहाँ पर एक महा मण्डप बनवाया गया था। उस सजे सजाए मण्डप में खाते-पीते हुए खेल ही खेल में एक दूसरे के हाथ-पैर पकड़ते हुए दो दलों में विभक्त होकर वे सभी आपस में झगड़ा कर बैठे। उनमें से एक ने और कोई मुद्गर हाथ न लगने पर उस अरण्डवन से अरण्ड का एक पत्ता लिया। हाथ में आते ही वह पत्ता लकड़ी का मूसल हो गया। उससे उसने दूसरे लोगों को पीटा। दूसरे लोगों ने भी जिस-जिस पत्ते को लिया वे सभी लकड़ी के मूसल हो गये। परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार से मारकर वे विनाश को प्राप्त हुए।

उनको नष्ट होते देखकर वासुदेव, बलदेव, बहन अंजना देवी और पुरोहित ये चारों रथ पर चढ़कर वहाँ से भाग गये। बाकी सब आपस में लड़कर मारे गये। वे चारों रथ से भागकर कालमत्तिक अटवी पहुँचे। मुष्टिक मल्ल संकल्प करके वहीं पर यक्ष होकर पैदा हुआ था। जब उसे ज्ञात हुआ कि बलदेव आया है तो वहीं पर ग्राम का निर्माण करके मल्ल का स्वरूप बनाकर 'कौन कुश्ती लड़ेगा' यह कहता हुआ कूदते हुए ताल ठोंककर वह गर्जना करने लगा। बलदेव ने यह देखकर कहा कि, 'भाई मैं इससे लड़ूँगा।' वासुदेव के मना करते रहने पर भी भी बलदेव नहीं माने और रथ से उतरकर ताल ठोंक कर उसके पास मल्ल युद्ध करने हेतु पहुँचे। बलदेव के हाथ बढ़ाते ही मुष्टिक मल्लरूपी यक्ष उसे पकड़कर मूली की भाँति खा गया। वासुदेव को बलदेव की मृत्यु का जब ज्ञान हुआ तो बहन तथा पुरोहित को साथ लेकर सारी रात चलते हुए सूर्योदय होने पर पर एक प्रत्यन्त ग्राम में पहुँचे। वहाँ पर बहन तथा पुरोहित को भोजन बनाकर लाने के लिए ग्राम में भेजकर वे स्वयं एक वृक्ष के पीछे छिपकर लेट गये। तब जरा नामक एक शिकारी ने वृक्ष को हिलता देखकर सोचा कि उसके पीछे शूकर होगा और यह सोचकर उसे मारने हेतु उसने भाला फेंका और वह वासुदेव के पैर में लगा। वासुदेव के यह कहने पर कि 'मुझे किसने विद्ध किया' शिकारी मनुष्य वाणी सुनकर डरके मारे भागा। राजा ने शक्ति को निकालकर उठकर उसे बुलाया-'मामा, डरो मत, आओ और आने पर जब उसका नाम पूछा तो उसने बताया कि उसका नाम जरा है। वासुदेव बोले कि 'पुराने पण्डितों ने कहा था कि जरा द्वारा बींधे जाने पर मैं मरूँगा। आज निश्चय ही मेरी मृत्यु है।' ऐसा सोचकर वे बोले-'डरो मत, आकर मेरे घाव पर पट्टी बाँध दो' और इस प्रकार उससे पट्टी बँधवा कर उसे विदा किया। उन्हें तीव्र वेदना हुई और दूसरों द्वारा लाये हुए भोजन को वे न खा सके। अतः उन्हें उत्साहित करते हुए बोले-'आज मैं मर जाऊँगा। तुम सुकुमार हो। कोई दूसरा काम करके तुम लोग जीविका नहीं चला सकोगे। यह मंत्र सीख लो'। इस प्रकार वासुदेव ने उन्हें एक मंत्र सिखाया और वहीं पर अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार अंजनादेवी को छोड़कर शेष सभी विनाश को प्राप्त हुए।'

घटजातक में उल्लिखित कृष्ण सम्बन्धी आख्यान में इस प्रकार कृष्ण-कथा को व्यक्त करने वाले परमावश्यक तत्त्व अन्तर्भूत हैं। इसमें कंस तथा उपकंस एवं मथुरा का उल्लेख, उसकी भगिनी देवगर्भा (देवकी) की कोख से उत्पन्न होने वाले पुत्र द्वारा कंस गोत्र तथा कंस वंश के नाश के सम्बन्ध में ज्योतिषियों द्वारा की गयी भविष्यवाणी, अन्धकवेणु (अन्धकवृष्णि) का नन्दगोपा (यशोदा) का पति होना तथा उसकी कथा, देवगर्भा द्वारा अपने पुत्रों के उत्पन्न होने पर उनकी मृत्यु के भय से नन्दगोपा के यहाँ भिजवाकर नन्दगोपा से उत्पन्न पुत्रियों से उन्हें बदल देना, देवगर्भा पुत्रों का वासुदेव, बलदेव, प्रद्युम्न आदि नामकरण तथा जिनका अत्यन्त बलिष्ठ होना एवं मल्ल युद्ध में नैपुण्य प्राप्त करना, कंस के आह्वान पर उसके यहाँ जाकर वासुदेव तथा बलदेव का उसके प्रसिद्ध मल्लों, चाणूर एवं मुष्टिक को मल्ल युद्ध में मारना, वासुदेव के चक्र से कंस कुल का नाश और उनके द्वारा कंस के राज्य का अधिग्रहण, दिग्विजय यात्रा, द्वारका पर आक्रमण, कृष्ण-द्वैपायन से भेंट, द्वारका पर विजय, राज्य का विभाजन, कृष्ण नाम की व्याख्या, केशव नाम का उल्लेख, कृष्ण द्वैपायन का दिव्यचक्षु प्राप्त तपस्वी होना और उनसे वासुदेव कुल के कुमारों का उपहास एवं कुल नाश की कथा तथा वासुदेव (कृष्ण) की मृत्यु आदि से सम्बन्धित विवरण महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त कृष्ण कथा से अधिक साम्य रखते हैं।

घटजातक में उल्लिखित कृष्ण कथा का अन्य स्रोतों से प्राप्त कृष्ण कथा से जहाँ तक भेद का प्रश्न है, हम पाते हैं कि देवगर्भा (देवकी) को विवाह के पूर्व ही एक प्रकार से कैद करा लिया गया था और उसके दस पुत्रों की उत्पत्ति तथा नन्दगोपा की पुत्रियों से उन्हें बदल देना, नन्दगोपा का देवगर्भा की दासी होना तथा उसकी पुत्रियों का जीवित रहना, देवगर्भा के सभी पुत्रों का जीवित रहना और उसके पुत्रों का कंस द्वारा न मारे जाने का उल्लेख होना, शकटभंग तथा यमलार्जुन आदि से सम्बन्धित कथाओं का घटजातक में अविद्यमान रहना आदि भिन्नताएँ यहाँ विद्यमान हैं; किन्तु हम इन्हें गौण ही मान सकते हैं। घटजातक में वर्णित कृष्ण कथा बौद्ध सिद्धान्तों के व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में कही गयी है। उसका प्रधान लक्ष्य कृष्ण कथा की अभिव्यक्ति न होकर बौद्ध सिद्धान्तों की स्थापना है। इससे प्रबल रूप से यही प्रकाशित होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय द्वारा समाज में उस समय प्रचलित कृष्ण कथा का उपयोग अपने सिद्धान्तों का व्याख्यान एवं स्थापना करने मात्र के लिए किया गया, किन्तु यह तथ्य इस बात के प्रमाणों को कृष्ण कथा के रूप में छोड़ गया।

कण्हदीपायन जातक भी एक प्रकार से महाभारत के कृष्ण द्वैपायन की ओर ही संकेत करता है, यद्यपि कथा में भिन्नता है। कुम्भजातक में भी सुरा पीकर नगर के नाश का वर्णन प्राप्त होता है, जो प्रकारान्तर से यदुकुल विनाश की ओर संकेत करता है। अन्धकवृष्णियों के कुल को महाभारत आदि में भी बहुत उच्च कुल नहीं माना गया है और इस प्रकार जातक के उल्लेख से इस सन्दर्भ में साम्य ही प्राप्त होता है।

संस्कृत में प्राप्त बौद्ध वाङ्मय पर विचार करने पर महावस्तु में द्रौपदी का उल्लेख प्राप्त है-''कृष्ण शुक्रा च द्रौपदी'' तथा ललितविस्तर में कृष्ण नामक एक राजा उल्लिखित है, जो पूर्व जन्म में शाक्य मुनि के स्वरूप थे। ललितविस्तर में ही आया है कि भगवान बुद्ध ने आनन्द से कहा-'हे आनन्द, जिन किन्हीं को मैं देखने अथवा सुनने में प्यारा और मनोहर लगूँ, वहाँ तुम निष्ठा रखो, पक्का भरोसा रखो कि वे प्राणी मेरे केवल एक जन्म से प्रतिबद्ध मित्र नहीं हैं। तथागत ने उन्हें देखा है, तथागत को उन्हें मोक्ष दिलाना है, वे तथागत के शरणागत हैं, तथागत ने उन्हें अपना लिया है'' आदि। इन वाक्यों को पढ़ने पर ऐसा लगता है, जैसे भगवद्गीता के कृष्ण 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' आदि का उपदेश कर रहे हों।

सद्धर्मपुण्डरीक नामक ग्रंथ में बुद्ध के स्वरूप से भगवद्गीता के कृष्ण के स्वरूप का अत्यधिक साम्य प्राप्त होता है। जे.एन. फर्क्युहर ने 'पुण्डरीक' अथवा कमल को कृष्णोपासना, वेदान्त तथा भगवद्गीता से प्रभावित माना है, किन्तु इसे निश्चित रूप से स्वीकार करना सहज संभव नहीं, ऐसी विद्वानों की धारणा है।

परवर्ती बौद्धतंत्र वाङ्मय में भी कृष्ण, भगवद्गीता आदि की चर्चा प्राप्त होती है और 13वीं शताब्दी में रामचन्द्र कवि भारती ने जो भक्तिशतक नामक ग्रंथ की रचना की है, उसमें भी बुद्ध को भक्ति के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण, राम अथवा शिव की भाँति ही प्रस्तुत किया गया है।

उपरि आलोचित बौद्ध वाङ्मय में भी कृष्ण कथा के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय वाङ्मय के इतिहास के व्याख्याकार प्रसिद्ध जर्मन विद्वान एम. विन्टरनित्स ने अपने उत्कृष्ट ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2' में स्थान-स्थान पर इस तथ्य की ओर इंगित किया है। इससे बौद्ध वाङ्मय के प्रारम्भिक काल में इसकी विद्यमानता की पुष्टि होती है। जैन साहित्य में प्राप्त कृष्ण कथा का निरूपण इस निबन्ध से सम्बन्धित नहीं है, अत: उस पर विस्तृत प्रकाश न डालकर यहाँ मात्र वाङ्मय में उसकी विद्यमानता के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध वाङ्मय में प्रारम्भ से ही कृष्ण कथा के संकेत विद्यमान मिलते हैं, यद्यपि सन्दर्भानुसार तथा अपने सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में वहाँ इसका स्वरूप कई अंशों में भिन्न है।

(साभार :- भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण : **सं. प्रो. भगवती प्रसाद सिंह**)

ब्रजजीवन देव

एक संपन्न जमींदार द्विजकुल में श्रीब्रजभूषण देव जी शिष्य श्री ब्रजजीवन देव जी का जन्म हुआ। राजकाज और

ऐश्वर्य छोड़कर वे वैष्णव बन गये और बीस वर्ष तक यहाँ विराजे। [कुं०बि०श०]

ब्रज भक्ति विलास

इस वृहत् ग्रंथ में 13 अध्याय हैं, जिनमें ब्रज के समस्त वन, उपवन, तीर्थस्थल, लीलास्थल और देवी-देवताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसकी रचना संवत् 1609 में राधाकुण्ड के तट पर हुई थी। इसे हिन्दी टीका सहित बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। [क०उ०]

ब्रजभूषण देव

श्री गांगल भट्टाचार्य जी से निंबार्क संप्रदाय की दो शाखाओं का सृजन हुआ। द्वादश आचार्यों में अंतिम श्री देवाचार्य जी के एक शिष्य सुंदर भट्टाचार्य जी से अष्टादश भट्टाचार्य हुए, वहीं इन्हीं के शिष्य श्री ब्रजभूषण देव जी से एक और शाखा का सृजन हुआ, जिसमें आगे चलकर ललिता सखी अवतार स्वामी श्रीहरिदास जी का आविर्भाव हुआ। मानसरोवर पर विराज रहे गुरुदेव श्रीदेवाचार्य जी के चरित्र सुनकर इनका वृंदावन आगमन हुआ। यहाँ 25 वर्षों तक विराजने के पश्चात् निकुंजवास प्राप्त किया। [कुं०बि०श०]

ब्रजराजशरण देवाचार्य

श्री निंबार्कशरण देवाचार्य जी के कृपापात्र शिष्य श्री ब्रजराजशरण देवाचार्य जी ने श्रीनिंबार्क पीठ को वि.सं. 1879 से लेकर 1900 तक के अल्पकाल के लिए सुशोभित किया। इस अल्पकाल में ही आपके प्रभाव ने बूँदी, जयपुर, किशनगढ़, जोधपुर, बीकानेर आदि के राजा-महाराजाओं को अपने शरणापन्न कर लिया था। महाराजश्री ने भारतवर्ष के अनेक तीर्थों की यात्राएँ कीं तथा अधिकांश समय श्रीवृन्दावन निम्बग्राम, नारद टीला और जयपुर में निवास कर आध्यात्मिक चेतना के साथ ही आचार्यपीठ तथा संप्रदाय की अभिवृद्धि की। श्रीमद्भागवत के नित्य स्वाध्याय तथा प्रवचनों द्वारा आप दिग्भ्रमितों पर कृपावृष्टि करते थे। आपका सान्निध्य सांसारिक रूप से आर्तजनों के लिए अनमोल था। आचार्यश्री का जन्म सीकर नगर के अंतर्गत लोहार्गल तीर्थ के निकट सराय ग्राम के पवित्र गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ। आचार्यश्री की निष्ठा प्रत्येक रोग की स्थायी औषधि के रूप में भगवदजन और सन्निधि में थी। एक बार एक वैश्य किसी साधु की सलाह पर आचार्यश्री ब्रजराजशरण देवाचार्य जी की शरण में आया। उसका मानसिक विषाद ऐसा था कि यदि पुत्र को छींक आ जाए तो उसे उसकी मृत्यु की आशंका हो जाती। ऐसे ही घर या प्रतिष्ठान पर ताला लगाने पर उसे चोरी की आशंका घेरे रहती। इस पीड़ा से उबरने को उसने बताए गए सभी उपाय किए किंतु वैद्यों की औषधियाँ भी उसके विषाद को दूर न कर सकीं। आचार्यश्री ने उसे नित्य राधामाधव प्रभु के सामने सोहनी सेवा करने और भगवन्नाम जपने का मंत्र दिया। जिसके प्रभाव से उसकी व्याधि नष्ट हो गई। आचार्यश्री ने संस्कृत में 'श्रीसर्वेश्वर प्रणति पद्यावलि' की रचना की है। इनकी चरण पादुकाएँ आचार्यपीठ में ही विद्यमान हैं तथा पाटोत्सव ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी का है। [कुं०बि०श०]

ब्रजाभरण दीक्षित

श्री ब्रजाभरण जी का जन्म गुजरात में हुआ था। ये वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी माने जाते हैं। इनकी लिखित दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं-'प्रभु पूर्ण पुरुषोत्तम कौ रूप तथा 'गुणनाम वर्णन' और 'वल्लभाख्यान सटीक'। इनकी प्रथम रचना में श्रीकृष्ण के चरित्र व गुणों का वर्णन है तथा द्वितीय में महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गुसाईं विट्ठलनाथ के चरित्र का वर्णन किया है। इनके मूल ग्रंथ गुजराती भाषा में हैं, जिनकी प्रस्तुति टीका ब्रजभाषा गद्य में की गयी है। [जि०कु०]

ब्रजोत्सव चन्द्रिका

श्री ब्रजोत्सव चन्द्रिका के प्रणेता आचार्य नारायण भट्ट गोस्वामी थे। यह ऊँचागाँव में रहते थे। ऊँचागाँव में रहते हुए इन्होंने 14 ग्रन्थों का निर्माण किया जो इस प्रकार हैं—ब्रजभक्ति विलास, ब्रज प्रदीपिका, ब्रजोत्सव चन्द्रिका, ब्रज महोदधी, ब्रजोत्सवाल्हादिनी, बृहदब्रजगणोत्सव, ब्रजप्रकाश, भक्ति भूषण संदर्भ, भक्ति विवेक, भक्तिरस तरंगिणी, साधनदीपिका, रसिकाल्हादिनी (भागवत की टीका), धर्मप्रवर्तिनी एवं प्रेमांकुर नाटक। इन चौदह ग्रन्थों में से एक 'ब्रजोत्सव चन्द्रिका' है। इस ग्रन्थ में 8000 श्लोक हैं। इन चौदह ग्रन्थों के अलावा भी इन्होंने 52 ग्रन्थों का निर्माण किया था। जिसमें कई आचार्यों के मत का अनुसरण करके ग्रंथित किया है।

मध्यकाल में ब्रजमण्डल के ग्राम, नगर, वन, उपवन, कुंज, कुंड, देवमूर्ति, लीलास्थल आदि जिन्हें, श्रीकृष्ण के प्रपौत्र बज्रनाभ जी ने निर्माण किया था वह नष्ट हो गया था। सम्पूर्ण ब्रज घोर जंगल रूप में परिणित हो गया था। इसका मूल कारण एक तो हरि की इच्छा थी दूसरा बाह्य आक्रमण था। उसी समय प्रेमावतार महाप्रभु जी ब्रज में पधारे। ब्रजतीर्थों का लुप्त होना देखकर महाप्रभु जी का हृदय व्याकुल हो गया। ब्रज के नाना स्थानों में इन्होंने भ्रमण किया। ब्रज के उन लुप्त तीर्थों के उद्धार के लिये इनकी इच्छा बढ़ने लगी। इन्होंने इस विषय में निज अन्तरंग-पार्षद श्रीरूप सनातन को योग्य जानकर लुप्त तीर्थों का प्राकट्य तथा भक्तिरस सिद्धान्त ग्रन्थों का निर्माण करने की आज्ञा दी। दोनों ने ब्रज में आकर वाराह आदि पुराणों की सहायता से तीर्थों को खोजा तथा अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उस समय वृन्दावन के ब्रजमण्डल के तीर्थ सब एक-एक करके प्रकट होने लगे तथा गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहनादि देव विग्रह भी प्रकट हुए। अत: साक्ष्य एवं बहि: साक्ष्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रजमण्डल के समस्त लुप्त तीर्थों का पुनरुद्धार का श्रेय गौड़ीय गोस्वामियों का है। जगत प्रसिद्ध भक्तमाल ग्रन्थ में भी नाभाजी ने कहा है-"ब्रजभूमि रहसि राधाकृष्ण भक्ततोष उद्धार किया। संसार स्वादसुख बात ज्यों दुह श्रीरूप सनातन त्याग दिया।'' इस पर टीकाकार प्रियादास कहते हैं-"वृन्दावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय दई दरसाई जैसी शुक मुख गाई है। रीति हूँ उपासना की भागवत अनुसार लियो रससार सो रसिक सुखदाई है।'' नि:सन्देह गौड़ीय स्वामियों ने ब्रज का पुनरुद्धार किया है, जिसमें नारायण भट्ट जी की विशेष महत्ता है।

इन्होंने कृष्ण लीला के भूले हुए स्थानों का उद्घाटन कर समस्त ब्रजमण्डल में तत्सम्बन्धी ग्राम, वनों, उपवनों तथा तीर्थों का निदेश किया और उन स्थानों पर देवालय, कुंड और कूप बनवाये। इन्होंने भक्त मण्डली को लीलानुकरण का सुख देने के लिये रास पद्धति का आविष्कार किया जिससे ब्रज की गान, वाद्य और नृत्य कलाओं की उन्नति के साथ नाट्यकला का चरम विशिष्ट रूप से उपस्थित हुआ। इन्होंने ब्रज चौरासी कोस की वाराहपुराणादि शास्त्र रीति से यथाविधि यात्रा का आरंभ कर ब्रज की महत्ता बढ़ाई जिससे अब तक हजारों नरनारी आकर्षित हैं। उपर्युक्त बातें इस ग्रन्थ में ग्रंथित हैं। नारायण भट्ट जी ने जिन कार्यों से ब्रज की सेवा की उन कार्यों में ब्रज तीर्थों का उद्धार, रासलीलानुकरण का आविष्कार, वनयात्रा व ब्रजयात्रा का शास्त्ररीति से प्रवर्तन ये तीन महान कार्य हैं। इन्होंने वनयात्रा के लिये 'ब्रजभक्ति विलास' तथा 'वृहदब्रजोत्सव' नामक दो महान ग्रन्थों का निर्माण किया। नारायण भट्ट जी ने सैकड़ों देवमूर्तियाँ जो कहीं धरती से, कहीं कुंड से, कहीं कुओं से, कहीं वन-जंगलों से, कहीं पर्वतों से निकलवाकर तथा उन सबका शास्त्रीय विधि से अभिषेक कराकर मंदिरों में विराजमान करवाया। 'प्रस्तुत ब्रजोत्सव चन्द्रिका' ही इनका मूल प्रमाण है।

इस ग्रन्थ में उनके द्वारा प्रगटित देवमूर्तियों की अभिषेक विधि है। इसमें बलदेवाभिषेक, कृष्णाभिषेक, राधाभिषेक, श्री ललितादि अष्ट सखियों का अभिषेक, श्रीरामाभिषेक, श्रीनृसिंहाभिषेक, श्रीवामनावताराभिषेक, श्रीलाड़िलेयाभिषेक, पंचायतनदेवताभिषेक एवं श्रीसंकेतदेव्याभिषेक इत्यादि। इन देवताओं के अभिषेक की विधि शास्त्रीय रीति से सविस्तार कथित है। बूढ़ी लीला का निर्णय भी इस ग्रंथ में मिलता है। इस ग्रन्थ की संपूर्ति वि. सं. 1692 में हुई थी।

ब्रजोत्सव चन्द्रिका में नारायण भट्ट जी ने सूक्ष्मरूप में अपने चरित्र का चित्रण किया है। अपने को नारद का अवतार मानते हुए उसी रूप में अपने को आविष्ठ रखते थे। ''मैं नारद हूँ'' इस प्रकार इस ग्रन्थ में नाना स्थान पर संकल्प में भी स्वयं अपने को बतलाया है। इस ग्रन्थ में दो एक स्थान पर श्रीराधा गोविन्द की परकीया का निषेध किया है। मंत्रमयी उपासना को लेकर निषेध किया गया है। क्योंकि मंत्रमयी उपासना में परकीया भावना निषेध है।

[शै०चौ०]

ब्रह्म

वैदिक संहिताओं में सर्वप्रथम उपनिषदों में ब्रह्म पर विचार किया गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'बृह्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है प्रस्फुटित होना, फैलना, प्रसरण व बढ़ना आदि। इन अर्थों में बृहत होने की भावना की प्रधानता है, जिसका अर्थ है, ब्रह्म सबसे बड़ा है, उससे बड़ा कोई नहीं। वही सर्वव्यापक, बृहत्तम अथवा महत्तम है।

ब्रह्म के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में 'भूमा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका तात्पर्य सार्वभौम, सर्वव्यापक, असीम और अनन्त सत्ता है। छान्दोग्य उपनिषद् में ही ब्रह्म के लिए 'तज्जलान' कहा गया है। इसका अर्थ है कि ब्रह्म तज्ज, तल्ल और तदन् है। वह 'तज्ज' है क्योंकि समस्त भूत उसी से उत्पन्न हैं, वह 'तल्ल' है क्योंकि अपनी स्थिति के समय सभी भूत उससे अनन अथवा प्राणन करते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म को सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि सभी पदार्थों का अस्तित्व उसी में है, समस्त चैतन्य का स्रोत भी वही है और आनन्द का उद्गम भी वही है। ब्रह्म के पाँच कोश बतलाये गये हैं-अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द। ये सभी कोश अपने पूर्ववर्ती से सूक्ष्म और उसका आधार हैं। ब्रह्म आनन्दमय से भी सूक्ष्म और सबका आधार है।

ब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं-पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म। अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। इसी को परब्रह्म कहते हैं। जब ब्रह्म सगुण हो जाता है अर्थात् उसमें गुण आरोपित हो जाते हैं तब उसे अपर ब्रह्म कहते हैं। इसी को सगुण ब्रह्म, ईश्वर, भगवान कहते हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने ब्रह्म के स्वरूप की अवधारणा पर बहुत चिन्तन-मनन किया है। सभी आचार्यों ने अपने मत के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिष्ठापित किया है। ब्रह्मसूत्र के रचनाकार महर्षि बादरायण ने औपनिषदिक वचनों के आधार पर ब्रह्म की व्याख्या की है। उनके अनुसार जिससे जन्म आदि सृष्टि की प्रक्रियाएँ होती हैं, वह ब्रह्म है। ब्रह्म सृष्टि में अन्तर्व्याप्त है, इसलिए वह अन्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण सृष्टि का नियमन करता है। अन्त में सृष्टि का विलय ब्रह्म में ही होता है, अत: वह समस्त विश्व का साध्य भी है। वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्ता है। उनके अनुसार उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय निर्गुण ब्रह्म ही है। ब्रह्म निर्विकार, निर्विशेष, स्वयंसिद्ध, चेतन एवं सर्वव्यापी है। ब्रह्म स्वयं पूर्ण शक्तिशाली है, उसकी पूर्णता को किसी अन्य वस्तु से सम्पादित नहीं किया जा सकता।

ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव स्वरूप एवं सर्वशक्ति समन्वित है। ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। सिद्ध वस्तु का ज्ञान सिद्ध पदार्थ के ही अधीन होता है। ब्रह्म की उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थ से नहीं हो सकती क्योंकि वह सत् है। वह स्वयं कारण है तथा इन्द्रियों के स्वामी रूप जीवों का भी स्वामी है, न उसको कोई पैदा करने वाला है, न उसका कोई स्वामी है। ब्रह्म से ही समस्त भूतों के जीवन की स्थिति बनी रहती है और जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है तथा जिसमें प्रलय के उपरान्त सब विलीन हो जाता है। आचार्य शंकर ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद, गुण, विकार नहीं मानते। अत: उनके अनुसार ब्रह्म केवल ध्यान एवं अनुभव का पात्र है।

यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है तो ब्रह्म, जीव और जगत इतना भेद क्यों दिखायी पड़ता है। इस पर आचार्यों में मतभेद है। भेद तीन प्रकार के माने गये हैं-स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भिन्न सत्ता स्वीकार की जाए तो विजातीय भेद हो जायेगा। यदि स्वयं ब्रह्म यदि एक से अधिक हो तो सजातीय भेद हो जायेगा। यदि ब्रह्म विराट पुरुष है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसमें समाविष्ट है तो स्वगत भेद है। प्राय: सभी भक्ति सम्प्रदाय ब्रह्म को पुरुषोत्तम मानते हैं और स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं।

वैष्णवाचार्यों में रामानुजाचार्य ने अपने ग्रंथ 'वेदार्थ संग्रह' में आचार्य शंकर के मत का खण्डन किया है। श्रीभाष्य में ब्रह्मसूत्रों की विद्वतापूर्ण विवेचना कर अपने विशिष्टाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। रामानुज ईश्वर या ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म सगुण है, सविशेष है। निर्गुण ब्रह्म की कल्पना संसार में असम्भव है। उनके अनुसार उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म का अर्थ है कि ब्रह्म में अशुभ गुण नहीं है अर्थात् ब्रह्म सभी पूर्णताओं और शुभ गुणों से युक्त है। ईश्वर के गुणों की चर्चा करते हुए वह बताते हैं कि ईश्वर अनन्त ज्ञानवान, आनन्दस्वरूप, ज्ञान और शक्ति आदि गुणों से युक्त है। वह समस्त जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाला तथा श्री, भू एवं लीला शक्ति का नायक है। वह भक्तों का आश्रयदाता, अशक्तों के लिए शक्तिस्वरूप, अपराधियों के लिए क्षमास्वरूप, अज्ञानियों के लिए ज्ञानस्वरूप तथा दुष्ट हृदय वालों के लिए सुहृद्स्वरूप है। वे ईश्वर को सभी प्रकार के सजातीय, विजातीय भेदों से मुक्त होने पर भी स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं। वह भक्तों पर अनुग्रह करने तथा जगत की रक्षा हेतु स्वकीय लीला से पाँच प्रकार के रूपों को धारण करता है-पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी एवं अर्चावतार।

पर-यह ब्रह्म की उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था को नारायण या ब्रह्म कहते हैं, जो बैकुण्ठ में निवास करता है। उनकी शक्ति लक्ष्मी भी उनके साथ है। वह ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है। वह ईश्वर शंख, चक्र, गदा, पद्म से सुशोभित है। गरुड़, विश्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उनके साथ विहार करती हैं। यह भगवान का 'पर स्वरूप' है।

व्यूह-व्यूह वे शरीर हैं जिन्हें सर्वोच्च ब्रह्म अपने भक्तों पर कृपा करने हेतु धारण करते हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्विध व्यूह हैं। इसमें वासुदेव, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज इन षड्गुणों से युक्त परब्रह्म हैं। ज्ञान तथा बल संकर्षण के स्वरूप में, ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण प्रद्युम्न में एवं शक्ति और तेज अनिरुद्ध के स्वरूप में प्रकट रहते हैं।

विभव-ईश्वर दुष्टों के नाश, साधुओं की रक्षा तथा धर्म संस्थापना के लिए अवतार लेते हैं। अवतार का अर्थ है—अप्राकृत से प्राकृत अवस्था में अवतरण। रामादि अवतार ईश्वर का विभव रूप हैं।

अन्तर्यामी-समस्त जीव एवं जगत में वह ईश्वर आत्मा रूप में रहकर अन्तर्यामी रूप में निवास करता है। वह समस्त जगत का नियामक है।

अर्चावतार-वैदिक मंत्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठित की गई मूर्तियों में जो ईश्वर निवास करता है। वह अर्चावतार कहलाता है।

वल्लभाचार्य जी ने भी ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है। वह सगुण इसलिए है कि वह आनन्दादि दिव्य धर्मों वाला है। प्राकृत शरीर एवं गुणों से रहित होने के कारण ही उसे निराकार तथा निर्गुण कहा गया है। वह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित होने पर भी हजारों नित्य गुणों से युक्त है। ब्रह्म अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करके भी नित्य शुद्ध एवं अविकारी रहता है। ब्रह्म ही जगत का निमित्त तथा उपादान का कारण है। जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार ब्रह्म की लीला मात्र है, लीला के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

ब्रह्म ने अपनी अचिन्त्य माया शक्ति से अपने सत् अंश से जड़ जगत की तथा सत् एवं चित् अंश से जीव की सृष्टि की, आनन्दांश से अन्तर्यामी रूप की सृष्टि की। जड़ तत्व में चित् एवं आनन्द का अभाव है केवल सत् धर्म विद्यमान

है, जीव में आनन्द का अभाव है तथा सत् एवं चित् दो धर्म विद्यमान हैं और इस ब्रह्म का आनन्दांश अन्तरात्मा रूप में प्रत्येक जीव में स्थित है। ब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कार्यों को सम्पन्न करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन प्रकार बताये गये हैं-(1) आधिदैविक ब्रह्म अर्थात् रसरूप पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम परब्रह्म (2) आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म और (3) आधिभौतिक अर्थात् अन्तर्यामी रूप। ब्रह्म में जब आनन्द अंश थोड़ी मात्रा में तिरोहित हो जाता है, तब उसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं और जब आनन्दांश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, तब वह परब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म का तीसरा अन्तर्यामी रूप है जो जड़ जगत् के रूप में व्यक्त होता है।

लीला के लिए भगवान ने कई अवतार धारण किये हैं, गोकुल में प्रकट श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं शेष सभी अंशावतार हैं। श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों के साथ 'बैकुण्ठ' में लीला किया करते हैं। भगवान की अनन्त शक्तियों में श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या, चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि बारह मुख्य हैं। क्रीड़ा के निमित्त भगवान अपनी शक्तियों सहित भूतल पर अवतीर्ण होते हैं। धर्म संस्थापन के लिए भगवान का अवतार चतुर्व्यूहात्मक होता है। वासुदेव रूप मोक्षदाता, संकर्षण रूप दुष्टों का संहारकारी, प्रद्युम्न रूप सृष्टि का रक्षक तथा अनिरुद्ध रूप धर्मरक्षक तथा धर्मोपदेशक है।

निम्बार्क मत के अनुसार ब्रह्म की संकल्पना सगुण रूप में की गई है। निम्बार्काचार्य ने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म तथा राधा को आद्या-सहधर्मिणी माना है। ब्रह्म, जगत कर्तृव्य आदि गुणों का आश्रय होने से सगुण है। ब्रह्म जगत रूप कार्य का कारण है परन्तु यह कार्य कारण सम्बन्ध घट और कुलालवत न होकर मकड़ी और उसके जाले के समान है अर्थात् ब्रह्म ही जगत का निमित्त एवं उपादान कारण है। ब्रह्म अपनी शक्ति से जीव और जगत को उत्पन्न करने के बाद भी पूर्ववत स्थिति में सर्वगुण सम्पन्न बना रहता है। कार्य के रूप में इसमें द्वैत भी है तथा कारण की दृष्टि से अद्वैत भी। आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्म के तीन अवतार माने हैं-(1) गुणावतार (2) पुरुषावतार एवं (3) लीलावतार। गुणावतार में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश रूप में सृष्टि, स्थिति तथा संहारकर्ता हैं। भगवान के अवतारों के सभी रूप लीलावतार के अन्तर्गत आते हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय के मतानुसार वह परब्रह्म ही आनन्द और आह्लाद रूप में क्रीड़ा करने को कृष्ण और राधा के स्वरूपों में प्रकट होता है। मथुरा के कृष्ण इस सम्प्रदाय के उपास्य नहीं हैं, वरन् वृन्दावन के नन्दनन्दन ही आराध्य हैं। परात्पर श्रीकृष्ण अपनी आल्हादिनी शक्ति राधा सहित गोलोक में निवास करते हैं।

मध्वाचार्य जी के अनुसार ईश्वर सगुण है। परमात्मा शरीरवान है, बिना शरीर के वह सृष्टि आदि नहीं कर सकता। वह सर्व स्वतंत्र है। आनन्द ही उस ईश्वर के हाथ, पैर, मुखादि अवयव हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन, अज्ञान, बोध, बंध तथा मोक्ष इन आठों कार्यों को परमात्मा निरन्तर करता है। परमात्मा में अनेक रूप धारण करने की शक्ति है। बन्धन तथा मोक्ष उसकी इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर ही भक्ति से प्रसन्न होकर जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है। अनन्त गुणों से युक्त पूर्ण विष्णु ही परमात्मा है, लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है, जो परमात्मा से भिन्न उसी के अधीन रहती है। ब्रह्मा, शिव, देवतादि उनके अधीन हैं।

चैतन्य मतानुसार श्रीकृष्ण ही परात्पर ब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च सत्ता हैं। वे ही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान के रूपों में प्रकाशित हैं। परतत्व श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति जब प्रकट होती है तब उसे भगवान कहते हैं, जब उनकी अनन्त शक्ति अप्रकट है या उन्हीं में प्रच्छन्न रहती है, तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं और जब उनकी यह अनन्त शक्ति प्रकट और अप्रकट होती है, तब उन्हें परमात्मा कहते हैं। ज्ञानमार्गी उन्हें ब्रह्म रूप में, योगमार्गी उन्हें परमात्मा के रूप में और भक्तिमार्गी भगवान के रूप में प्राप्त करते हैं। अर्थात् उपासना भेद से वह अलग-अलग प्रकार से अनुभूत होता है। उनकी शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं-(1) अन्तरंगा शक्ति (2) बहिरंगा शक्ति एवं (3) तटस्थ शक्ति। अन्तरंगा शक्ति भगवान की स्वरूप शक्ति है। यह शक्ति सत्, चित् तथा आनन्दरूपिणी है। सत्, चित् और आनन्द को पृथक-पृथक धारण करने के कारण तीन नामों से प्रसिद्ध है। सन्धिनी, संवित् तथा आल्हादिनी। सत् शक्ति से जिसे सन्धिनी शक्ति

कहते हैं इसीलिए ब्रह्म सत्तावान है। संवित् शक्ति ब्रह्म की चित् शक्ति है, इससे ब्रह्म ज्ञानवान रहे। ब्रह्म की आनन्द शक्ति ही आल्हादिनी शक्ति है, इससे वह स्वयं आनन्द अनुभव करता है। इन तीनों शक्तियों में आल्हादिनी श्रेष्ठ है। राधा इसी आल्हादिनी शक्ति का मूर्त रूप है।

बहिरंगा शक्ति भगवान की माया या जड़ शक्ति है। बहिरंगा माया शक्ति जड़ प्रकृति प्रसूत है, इसके दो रूप हैं-द्रव्य माया तथा गुण माया। द्रव्य माया जगत का उपादान कारण है और गुण माया जगत् का निमित्त कारण है। तटस्थ शक्ति भगवान की जीव शक्ति है। इसी से जीव की उत्पत्ति होती है।

परब्रह्म श्रीकृष्ण के तीन स्वरूप हैं-स्वयंरूप, तदेकात्मरूप तथा आवेश रूप। परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं रूप हैं। उनका स्वयंरूप भी तीन प्रकार का है-पूर्ण, पूर्णतर तथा पूर्णतम्। द्वारका के कृष्ण पूर्ण, मथुरा के कृष्ण पूर्णतर तथा वृन्दावन, ब्रजलीला रूप पूर्णतम है। तदेकात्मरूप के दो प्रकार होते हैं-विलास रूप तथा स्वांश रूप। लीला विशेष के लिए व्यक्त रूप ही विलास रूप है, जैसे-नारायण और वासुदेव रूप। स्वांश रूप में विलास रूप से भी कम शक्ति होती है, जैसे-ब्रह्म, मत्स्य, कूर्मादि अनेक अवतार। आवेश रूप वह रूप है जिसमें जीव में ज्ञान का विकास हो जाता है, तो वह मायिक गुणों से अनुरंजित नहीं होता और हृदय में भगवान की शक्ति का अनुभव करता है, ऐसे जीव भगवान के आवेश रूप कहलाते हैं जैसे-व्यास, नारद, सनकादि आदि।

भगवान जीव एवं जगत के कल्याण के लिए अवतार धारण करते हैं। ये अवतार तीन प्रकार के हैं-(1) पुरुषावतार (2) गुणावतार (3) लीलावतार। पुरुषावतार जिसे वासुदेव भी कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं-संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। संकर्षण के रूप में ईश्वर प्रकृति और जीवों के अधिपति हैं। प्रद्युम्न रूप में वे केवल जीवों के नियामक हैं तथा अन्तर्यामी रूप में सभी रूपों में व्याप्त पुरुष अनिरुद्ध हैं। गुणावतार रूप में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के रूप में अवतार लेकर सत्, रज तथा तम तीनों गुणों के अधिष्ठाता के रूप में सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कार्य सम्पन्न करते हैं। लीलावतार उपरोक्त तीनों अवतारों में श्रेष्ठ है। इसमें भी दो प्रकार की लीला है-अप्रकट तथा प्रकट। अप्रकट लीला में भगवान और उनके पार्षदों का नित्य संयोग रहता है और अप्रकट लीला में संयोग और वियोग दोनों भावों का आस्वादन करते हैं। वराह, मत्स्य, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि लीलावतार हैं। लीलावतारों में श्रीकृष्णावतार को अपने माधुर्यादि गुणों के कारण अन्य अवतारों से विशिष्ट स्वीकार किया गया है। [क०उ०]

ब्रह्मपुराण

अठारह पुराणों में प्रथम रचना ब्रह्मपुराण की ही मानी गई है यथा-'आद्यं सर्व पुराणानांपुराणं-ब्राह्ममुच्यते।' (विष्णुपुराण) ब्रह्मपुराण के कुल श्लोकों की संख्या दस हजार कही गई है। ब्रह्मपुराण के दो भाग हैं 1. पूर्व भाग, 2. उत्तर भाग।

पूर्व भाग में देव, असुर, प्रजापति दक्ष उत्पत्ति, सूर्यवंश वर्णन, श्रीराम का चतुर्व्यूहावतार-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध, चंद्रवंश, श्रीकृष्ण चरित्र, द्वीप, नदी, वर्ष, पाताल, स्वर्ग, नरकादिक का वर्णन है। सूर्यस्तुति, पार्वती चरित्र, दक्ष आख्यान आदि का वर्णन किया गया है।

उत्तर भाग में पुरुषोत्तम क्षेत्र, तीर्थयात्रा, श्रीकृष्ण चरित्र, ब्रह्मलोक वर्णन, पितृ-श्राद्ध विधान, वर्णाश्रम धर्म तथा ब्रह्मपुराण की फलश्रुति है। ब्रह्मपुराण की अधिकांश कथाएँ अन्य पुराणों की प्रकारान्तर से पुनरावृत्ति ही है। सम्पूर्ण कृष्ण चरित्र को विस्तार से वर्णन किया गया है। [क०उ०]

ब्रह्मप्रकाश

ब्रह्मप्रकाश जी संत चरणदास के शिष्य थे। इनके जीवन के संबंध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है। ये जाति के ब्राह्मण थे। चरणदासी संप्रदाय के ग्रंथों जैसे 'लीला सागर' एवं 'गुरु भक्ति प्रकाश' में चरणदास जी के प्रमुख शिष्यों

में इनका नाम प्राप्त नहीं होता है। इस कारण यह हो सकता है कि इन्होंने अपनी गद्दी की स्थापना चरणदास जी के लीला प्रवेश के बाद की थी। इन्होंने तथा इनकी शिष्य परंपरा ने असगरीपुर, जटपुरा, धामपुर, मंदपुर, जसौरा, मोड़िया, खदाना और गधेली आदि स्थानों पर अपनी गद्दियाँ स्थापित की थीं।

ब्रह्मप्रकाश जी की शिष्य परंपरा में रामरिष जी, संतदास जी और लखनदास जैसे संत हुए हैं। ब्रह्मप्रकाश जी अनुमानतः वि.सं. 1870 तक जीवित रहे। इनकी समाधि बिजनौर जिले के धामपुर से लगभग 10 मील दूर जटपुरा नामक स्थान में बनी हुई है। साहित्य सृजन की दृष्टि से इनका योगदान नगण्य है। इसका कारण यह हो सकता है कि इनकी रचनाएँ अभी प्रकाश में न आई हों। [क०उ०]

ब्रह्मवैवर्तपुराण

पुराणों के अंतर्गत ब्रह्मवैवर्तपुराण दसवें स्थान पर है। नारदीय पुराण और मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मवैवर्त पुराण में 18000 श्लोक और 266 अध्याय हैं। इन पुराणों के निर्माता महर्षि वेदव्यास हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण के नाम के सम्बन्ध में एक श्लोक है-

विवृतं ब्रह्मकात्स्र्यं च कृष्णेन यज्ञ शौनक।
ब्रह्मवैवर्तकं तेन प्रवदन्ति पुराविदः॥

हे शौनक! जिस पुराण में श्रीकृष्ण ने अपने पूर्ण ब्रह्मत्व का खुलासा कर दिया है अथवा जिसमें श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व के विवर्तों (परिणामों) का पूर्णतया विवेचन है उसको 'ब्रह्मवैवर्त' नाम से जाना जाता है। 'ब्रह्मवैवर्त' का अर्थ है-''ब्रह्मणो विवर्तः (परिणामः) ब्रह्मविवर्तः'' ब्रह्मविवर्त का अर्थ प्रकृति होता है। इसके प्रकृतिखंड में दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा नामक पाँच विवर्तों का विशेष रूप से वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण का पहला खण्ड 'ब्रह्मखण्ड' है। इसमें तीस अध्याय हैं। इसमें परमात्मा श्रीकृष्ण के गोलोक, बैकुण्ठलोक, शिवलोक का वर्णन करके गोलोक में श्यामसुन्दर भगवान श्रीकृष्ण के परात्पर ब्रह्म के रूप में चित्रण करके श्रीकृष्ण से सृष्टि का प्रादुर्भाव बता करके नारायण, महादेव, ब्रह्मा, धर्म, सरस्वती, महालक्ष्मी और दुर्गा का आविर्भाव बताकर इन सबके द्वारा अलग-अलग श्रीकृष्ण की स्तुति करायी गयी है। साथ ही सावित्री, कामदेव, रति, अग्नि, अग्निदेव, जल, वरुण देव, स्वाहा, वरुणानी, वायुदेव, गायत्री देवी और मेदिनी के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। इन्हीं अध्यायों में ब्रह्म आदि कल्पों का वर्णन, गोलोक में श्रीकृष्ण का रासमण्डल में विहार, श्रीकृष्ण के वामांग से राधा का प्राकट्य, राधा के रोमकूपों से गोपियों का प्रादुर्भाव और श्रीकृष्ण से गोपों, गौओं, हंसों, सिंहों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने नारायण आदि को पत्नी रूप में लक्ष्मी आदि देवियाँ प्रदान की हैं।

ब्रह्मवैवर्त का दूसरा खण्ड है 'प्रकृति खण्ड'। इस खण्ड में 68 अध्याय हैं। इस खण्ड में परब्रह्म श्रीकृष्ण से चिन्मय श्रीराधा का प्राकट्य एवं देवी और देवताओं के चरित्रों का वर्णन किया गया है। सृष्टि के आदिकाल में भगवान श्रीकृष्ण अकेले ही थे। जब वह सृष्टि के लिये उन्मुख हुए तब सहसा दो भागों में विभक्त हो गये। वाम भाग स्त्री रूप और दायाँ भाग पुरुष रूप हो गया। स्त्री रूप में राधा ही प्रकट हुई थीं। दोनों रासमण्डल में पधारे। ब्रह्मा की आयुपर्यन्त उनका रास हुआ। तदन्तर श्रीकृष्ण ने राधा देवी में अपने तेज का आधान किया। उस असह्य तेज से श्रान्त हो देवी के शरीर से दिव्य प्रस्वेद बह चला। वही प्रस्वेद विश्वगोलक बन गया। सौ मन्वन्तर के बीतने पर देवी ने प्रकाशमान बालकरूपी अण्ड को जन्म दिया। देवी ने इस अण्ड का स्वागत नहीं किया अपितु उसे ब्रह्माण्ड गोलक के अथाह जल में डाल दिया। इस घृणित कार्य के लिए श्रीकृष्ण ने उसे संतानहीन होने का श्राप दिया। साथ ही देवी के अंश से

जिन-जिन दिव्य स्त्रियों का प्रादुर्भाव होगा, वह भी संतान उत्पन्न न कर सकें, ऐसी विधा भी बना दी। वह अण्डाकार बालक ब्रह्मा की आयुपर्यन्त ब्रह्माण्ड गोलक के जल में रहा। वह दो भागों में बँट गया। एक अण्डाकार ही रहा और दूसरा शिशु रूप में परिणित हुआ। उस शिशु का स्वरूप स्थूल से ही स्थूल था। राधा से उत्पन्न यह महान विराट बालक सम्पूर्ण विश्व का आधार है। यही महाविष्णु हैं। इसी के शरीर में अनेक ब्रह्मा और विष्णु हैं। इसी प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन एवं पूजाविधि प्रकृति खंड के कई अध्यायों में बतायी गयी है। इसमें लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा का आख्यान है। इसी में तुलसी के कथा प्रसंग में राजा वृषध्वज के चरित्र का भी वर्णन है। भगवान श्रीराम के चरित्र का एक अंश एवं सीता और द्रौपदी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त भी इन्हीं प्रकृति खंड में किया गया है।

तदनन्तर भगवती तुलसी के प्रादुर्भाव और शंखचूड़ तथा तुलसी के विवाह का वर्णन है। भगवान शंकर और शंखचूड़ में विवाद हो जाने पर शंखचूड़ और शंकर के युद्ध का भी वर्णन है। इन अध्यायों में तुलसी पूजन, ध्यान, नामाष्टक तथा तुलसी स्तवन का भी उल्लेख है। 48वें अध्याय में राधा और श्रीदामा के परस्पर श्राप का उपाख्यान है। प्रकृति खण्ड में राधा की पूजा का विधान, ध्यान, स्तोत्र एवं कवच, राधा के मंत्र आदि का निरूपण, षोडशोपचार पूजन, परिचारिका पूजन, परिहार स्तवन, स्तुति एवं माहात्तूय का वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त का तीसरा खण्ड है 'गणपति खण्ड'। इसके चालीस अध्याय हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के चौथा एवं अंतिम खण्ड श्रीकृष्ण जन्म खण्ड है। यह इस पुराण का सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक खण्ड है। इस खंड में 133 अध्याय हैं। इस खण्ड में श्रीकृष्ण जन्म से लेकर स्वधाम गमन तक की कथाओं का विशद वर्णन है। इस पुराण में सारे कथानकों से यही सिद्ध किया गया है कि श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। राधा के सम्पूर्ण चरित्र का वर्णन और राधा तत्त्व का दार्शनिक वर्णन समुचित ढंग से इस खण्ड में किया गया है। श्रीकृष्ण जन्म खंड के बावनवें अध्याय में अद्‌भुत राधा स्तोत्र दिया गया है। राधा उद्धव संवाद बहुत मनोहर और ज्ञानवर्धक है। ब्रह्मवैवर्त पुराण का यह प्रमुख सिद्धान्त है कि श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण जन्म खण्ड में भगवान ने राधा से कहा कि तुम मेरे साथ जन्म लोगी। उसी प्रसंग में राधा स्वयं अपने मुख से कहती हैं-

त्वमात्मा मे मनः प्राणा देहमात्रं वहाम्यहम्।
दृष्टि शक्तिश्च चक्षुस्त्वं जीवनं परमं पदम्॥
स्वप्ने ज्ञाने त्वयि मनः स्मरामि त्वत्पादाम्बुजम्।
तव रासां विना नाथ न जीवामि एवं विभो॥

अर्थात्! "हे हरि! तुम मेरे आत्मा, मन और प्राण हो, मैं केवल इस देहमात्र का वहन करती हूँ। अतः तुम्हीं मेरी दृष्टि, शक्ति, नेत्र और परमपवित्र धन हो। सोते, जागते सभी समय तुम्हीं में अपना मन लगाकर तुम्हारे चरण कमल का स्मरण किया करती हूँ। विशेष तथ्य यह है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा को लक्ष्मी का अवतार न कहकर राधा को गोपी रूप बताया गया है। गो-लोक निवासी राधा को भगवान ने पृथ्वी पर अवतार धारण करने की आज्ञा दी। भगवान स्वयं राधा से कहते हैं-

कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वयैव रहितो यदा।
श्रीकृष्णं च तदा तेऽपि त्वयेव सहितं परम्॥
त्वं च श्रीस्तवं च संपत्तिस्त्वमाधारस्वरूपिणी।
त्वं स्त्री पुमानहं राधे इति वेदेषु निर्णयः॥

अर्थात्-हे राधे! जब मैं तुमसे अलग रहता हूँ तब लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और जब तुम सहित हो जाता हूँ तब वे ही लोग

श्रीकृष्ण की संज्ञा देते हैं। तुम्हीं श्री हो, तुम्हीं सम्पत्ति हो और तुम्हीं आधार स्वरूपिणी हो। तुम समस्त शक्ति स्वरूप हो तथा मैं अविनाशी सर्व रूप हूँ।

पन्द्रहवें अध्याय में ब्रह्माकृत राधास्तुति में राधा के गुणों का जैसा अनुपम वर्णन है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। श्रीकृष्ण खंड के बारहवें अध्याय में राधा का सोलह नामों वाला स्तोत्र है। विधिवत् उन नामों की व्युत्पत्ति भी की गयी है। श्रीकृष्ण जन्म खण्ड (उत्तरार्ध) में उद्धव कृत राधास्तुति बड़ी मनोहारी है। जिस समय उद्धव ने यह स्तुति की उस समय राधा श्रीकृष्ण वियोग में मूर्च्छित सी थीं। स्तुति से राधा चैतन्य होकर बारंबार उद्धव को आशीर्वाद देने लगीं। इसके उपरांत राधा कालगति का निरूपण करते हुए उसके पार होने के उपाय बताती हैं। इन सबसे राधा की केवल भक्ति ही नहीं ज्ञान का भी अपूर्व निरूपण होता है। अध्याय 110 और 111 में राधा यशोदा संवाद का वर्णन है। इसमें राधा स्वयं अपने नाम की व्युत्पत्ति बताती हैं और भक्ति ज्ञान का उपदेश देती हैं। पुराण के अंत में 124वें अध्याय में ब्रह्मा, शंकर, शेष द्वारा राधा की स्तुति की गयी है। इसी अध्याय में गणेश जी ने भी राधा की वंदना और स्तुति की है। गणेश जी ने कहा है कि "जो पहले राधा का नाम उच्चारण करने के पश्चात् परब्रह्म कृष्ण का उच्चारण करता है वही पंडित है तथा योगी है और लीलापूर्वक गोलोक में जाता है। आप संसार की माता हैं, श्री परमात्मा हरि पिता हैं। माता-पिता से श्रेष्ठ पूज्य तथा वंदनीय होती है।" इसी कारण ब्रह्मा, शंकर और शेष जी ने राधा का गुणगान किया है। कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा का उल्लेख एवं अध्ययन आध्यात्मिक दृष्टि से विस्तार से किया गया है। [क०उ०]

ब्रह्म समाज

भारतीय नवजागरण के अंतर्गत हिंदू धर्म में जो पहला सुधार आन्दोलन उभर कर सामने आया वह ब्रह्म समाज है। राजा राममोहन राय (1774-1833) ने ब्रह्म समाज की आधारशिला रखी। शाश्वत सार्वभौम अनश्वर ब्रह्म का चिन्तन और आराधना, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और बलि-प्रथा का निषेध ब्रहा समाज के प्रमुख उद्‌देश्यों में सम्मिलित थे। 1833 में राजा राममोहन राय के देहान्त के बाद महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने ब्रह्म समाज में नई ऊर्जा का संचार किया। हिंदू धर्म के नैतिक आचरण और उदात्त विश्वासों का संरक्षण उनके प्रभावशाली नेतृत्व की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। उन्होंने केशवचंद्र सेन को ब्रह्म समाज के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया। उनके उदारवादी विचारों से समाज का अपेक्षित विस्तार हुआ। शीघ्र ही इसकी शाखाओं का विस्तार बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब और मद्रास तक हो गया। किन्तु वे हिंदू धर्म को संकीर्ण मानते हुए अन्य धर्मों की ओर झुकने लगे जिसका कट्‌टर हिंदूवादियों की ओर से कड़ा विरोध हुआ। परिणामतः महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें 1865 में अध्यक्ष पद से अपदस्थ कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में केशव ने आदि ब्रह्मसमाज का गठन कर लिया। इस समाज ने पूर्व प्रस्तावित सुधारों के साथ-साथ स्त्रियों की मुक्ति, शिक्षा के प्रसार, मद्य-निषेद्य आदि पर बल दिया। 1878 में ब्रह्म समाज का भी विभाजन हो गया। केशव ने समाज के उद्‌देश्यों और नियमों की अवहेलना करते हुए 1878 में 13 वर्ष की अपनी पुत्री का विवाह एक अल्पवयस्क महाराजा से करके बाल विवाह की कुरीति को बढ़ावा देने जैसा काम किया। इससे उनके अनुयायियों को गहरा आघात लगा। उन्होंने आदि ब्रह्म समाज से पृथक होकर साधारण ब्रह्मसमाज का गठन कर लिया। भले ही ब्रह्म समाज कालान्तर में विभाजित होकर नये-नये रूपों में हमारे सामने आया किन्तु वह कभी अपने आधारभूत उद्‌देश्यों से विमुख नहीं हुआ। यद्यपि समाज में कुछ अन्तर्विरोध मौजूद थे, जैसे वेदपाठ के समय उन लोगों का प्रवेश प्रतिबंधित था जो ब्राह्मण नहीं थे। अथवा केशवचंद्र सेन द्वारा बाल-विवाह को लेकर स्वयं के बनाए नियमों का उल्लंघन। किन्तु इन सबके बावजूद ब्रह्म समाज में दूसरे धर्मों के लिए 'स्पेस' बना रहा।

समग्रतः ब्रह्म समाज अभिनव हिन्दुत्व का एक बुद्धिसम्मत संस्करण था। धर्म और सामाजिक सोच में बदलाव का

यह एक क्रांतिकारी प्रयास था। यहाँ धार्मिक और सामाजिक सुधार एक दूसरे के पूरक बनकर भारतीय नवजागरण को पुष्ट कर रहे थे। इस दृष्टि से ब्रह्म समाज ने अपने ढंग से भारतीय नवजागरण का पथ प्रशस्त किया।

[ज०सिं०नी०]

ब्रह्म सम्बन्ध

ब्रह्म सम्बन्ध दो शब्दों से मिलकर बना है-ब्रह्म तथा सम्बन्ध। यह प्राय: पुष्टिमार्गीय या वल्लभ सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से प्रचलन में है। ब्रह्म का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण। इन्हीं को वेदान्त में ब्रह्म, स्मृति में परमात्मा और भागवत में भगवान कहा गया है। सम्बन्ध का अर्थ है जुड़ाव, अत: ब्रह्म सम्बन्ध का अर्थ हुआ श्रीकृष्ण से सम्बन्ध। पति-पत्नी, भाई-बहिन, पिता-पुत्र ये सब संसारी सम्बन्ध नाशवान हैं परन्तु अविचल, शाश्वत व नित्य सम्बन्ध तो एकमात्र ब्रह्म सम्बन्ध ही है।

ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा के उपरान्त जीव का ठाकुर जी के साथ सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। नवधा भक्ति के नौ अंग हैं-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा द्वारा सख्य और आत्म-निवेदन दोनों भक्तियों के साथ ही जीव की दसवीं भक्ति प्रेमलक्षणा को प्राप्त कर लेता है। भगवान श्रीकृष्ण ने महाप्रभु जी को ब्रह्म सम्बन्ध गद्य मंत्र दिया था, उसका भी श्री महाप्रभु जी ने अक्षरश: वर्णन अपने ग्रंथ 'सिद्धान्त रहस्य' में किया है। ग्रंथ में महाप्रभु जी ने बताया है कि ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा से ही जीव के समस्त दोष दूर हो जाते हैं। इसके पश्चात ही वह वैष्णव सेवा का अधिकारी बनता है।

ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा वही व्यक्ति ले सकता है जो अष्टाक्षर मंत्र में दीक्षित हो। अष्टाक्षर मंत्र के जप के पश्चात् ही सही अर्थों में जीव को ब्रह्म सम्बन्ध मंत्र को सुनने की योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा ही पुष्टिमार्ग की मुख्य दीक्षा है। जो व्यक्ति ब्रह्म सम्बन्ध लेने की इच्छा रखता है, वह वल्लभ वंशज गोस्वामी के पास जाकर अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है। गोस्वामी जी उस व्यक्ति को ब्रह्म सम्बन्ध वाले दिन से एक दिन पूर्व उपवास रखवाते हैं, उसके बाद दूसरे दिन अपरस स्थिति में ठाकुर जी के सम्मुख उस व्यक्ति के हाथ में तुलसी पत्र देकर उससे पूरे ब्रह्म सम्बन्ध गद्य मंत्र को स्वयं बोलते हुए बुलवाते हैं और संकल्प छुड़वाते हैं। उसी दिन से वह जीव ठाकुर जी के सम्मुख गुरुदेव की उपस्थिति में आत्म-निवेदन कर अपना जीवन समर्पित कर देता है। उसके साथ ही गोस्वामी उस जीव को अपने हस्तकमल द्वारा पुष्ट करवाकर निधि पधराते हैं, वह उस निधि की नियमित सेवा में रत रहता है।

वार्ता साहित्य के अनुसार पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने सम्प्रदाय में सर्वप्रथम ठाकुर जी की आज्ञा से दामोदर दास 'हरसानी' को ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा दी थी। [क०उ०]

ब्रह्मसूत्र

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता ये प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत आते हैं। इनमें ब्रह्म सूत्र के रचयिता वादरायण हैं। यही पराशर ऋषि के पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास हैं, जो महाभारत के समय में हुए हैं। जिन्होंने कुरुक्षेत्र में होने वाले युद्ध की सारी घटनाओं से धृतराष्ट्र को जानकारी कराते रहने के लिये संजय को दिव्यदृष्टि दी थी और जो स्वयं महाभारत और गीता के रचयिता माने जाते हैं। बौद्ध धर्म के पतन के बाद प्रत्येक नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को वेदान्त के प्रस्थानत्रयी के उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन तीनों भागों पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त के आधार पर भाष्य लिखकर यह सिद्ध करने की आवश्यकता हुई कि उसका सम्प्रदाय वेदान्त के अनुसार है और अन्य सम्प्रदाय इसके विरुद्ध हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की रीति चल पड़ने पर भिन्न-भिन्न विद्वान अपने-अपने सम्प्रदाय के भाष्यों पर टीकाएँ लिखने लगे। इसके परिणाम-स्वरूप नवीन वेदान्त के पाँच सम्प्रदायों अद्वैत, विशिष्टाद्वैत,

द्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत के सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य किये गये हैं।

शंकराचार्य ने अपने शुद्ध निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए वादरायण के ब्रह्मसूत्र के ऊपर अपने मत का आरोप किया है, शंकर के भाष्य को पढ़कर सूत्रकार के वास्तविक सिद्धान्त का ज्ञान नहीं हो पाता है। आत्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्म की एकता के अनुभवसिद्ध पूर्ण ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर शरीर, इन्द्रिय और मन, अहंकार और बुद्धि आदि उपाधियों से आत्मभाव मिट जाता है, जिसके उपरान्त कर्त्ता-भोक्ता का अभिमान निवृत्त हो जाने पर कर्म और उनके फलों और आवागमन से मुक्ति पाकर परिच्छिन्नता और अल्पज्ञता की सीमा को तोड़कर अपने अनन्त शुद्ध ज्ञान स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है। इसको निर्विशेषाद्वैत या विवर्त्तवाद भी कहते हैं।

शंकर के लगभग 250 वर्ष बाद रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त चलाया। इनके ब्रह्मसूत्र पर लिखे भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' है। विशिष्ट रूप से इस सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म के सदृश हो जाता है, न कि ब्रह्म रूप। इनके सिद्धान्त के अनुसार चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। इस प्रकार विशिष्ट रूप से ब्रह्म को अद्वैत मानने से यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

ब्रह्मसूत्र पर मध्वाचार्य का भाष्य 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' के नाम से जाना जाता है। यह द्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हुए। वल्लभाचार्य के मतानुसार निर्विशेष अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत इन उपरोक्त मतों के मानने वालों से सर्वथा भिन्न है। ये शंकराचार्य के समान इस बात को नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक है और न मायात्मक जगत् को मिथ्या मानते हैं। अपितु माया को ईश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शक्ति बतलाते हैं। माया के अधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ईश्वर भक्ति है।

निम्बार्काचार्य ने 'वेदान्त पारिजात' के नाम से ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। जीव, जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं तथापि जीव, जगत का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतन्त्र नहीं है और ईश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। विशिष्ट अद्वैत से इसका सिद्धान्त भिन्न होने के कारण यह द्वैत-अद्वैत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। निम्बार्क-सिद्धान्त सम्पोषित परवर्ती आचार्यों ने श्री निम्बार्क-माहात्म्य वर्णन प्रसंग में श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान को 'वेदवेदाङ्गपारग:' इत्यादि दिव्य वचनों से उनके वेदज्ञान का प्रख्यापन किया है-वेदाध्ययन विख्यात: परमार्थपरायण:। श्रीकृष्णप्रियदासश्च श्रीकृष्णे कृतमानस:॥

ब्रह्मसूत्र पर जिस समय आचार्यों के द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्ति को सुदृढ़ करने के लिए भाष्यों की रचना की गयी, चैतन्यदेव ने पुरातन-नूतन, एकत्व-बहुत्व, अनुकूल-प्रतिकूल में एक अचिन्त्य अद्भुत सामंजस्य विधान कर समस्त वेदान्ततत्त्व की मीमांसा के द्वारा 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त का स्थापन किया। यद्यपि प्रेमावतार प्रभु के इस मत को लेकर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की, क्योंकि प्रेमदानार्थ उनका अवतार था, तो जीवादिक गोस्वामियों ने उन प्रभु के उपदेश को अपने ग्रन्थों में बहुल रूप से सन्निवेश किया। उनके परवर्तीकाल में बलदेव विद्याभूषण ने उन सब सिद्धान्तों को स्वतंत्र भाष्य के रूप से सञ्चित कर 'गोविन्दभाष्य' की रचना की।

ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य 'विज्ञानामृत' मिलता है, पर यह भाष्य किसी सम्प्रदाय विशेष में स्थिति न बनाने के कारण गौरव को प्राप्त नहीं है। [स०ना०दा०]

ब्रह्मसूत्र भाष्य

परब्रह्म के सांगोपांग स्वरूप का बहुत कम शब्दों में सूत्र रूप में निरूपण महर्षि वेदव्यास के द्वारा जिस ग्रन्थ में किया गया है उसे ब्रह्मसूत्र के नाम से समस्त वैदिक धर्मावलम्बियों के द्वारा बड़े ही आदर के साथ जाना जाता है। आचार्यों को अपने मत की स्थापना करने के लिये प्रस्थानत्रयी पर भाष्य करना आवश्यक माना गया है। प्रस्थान का

अर्थ है वह मार्ग जिसका अवलम्बन लेकर जिज्ञासु ब्रह्म को जान सकता है अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत ग्रन्थों को निम्न तीन श्रेणियों में रखा गया है- 1. स्मृति प्रस्थान, इसके अन्तर्गत श्रीमद भगवद् गीता को रखा गया है। 2. श्रुति प्रस्थान, इसके अन्तर्गत उपनिषदों को रखा गया है तथा 3. दर्शनयुक्ति अथवा न्याय प्रस्थान, इसके अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र को रखा गया है।

वेदों के अन्तिम भाग अर्थात् विभिन्न उपनिषदों तथा शिरोभाग ब्राह्मण एवं आरण्यक के गूढ़ दार्शनिक तत्वों के दिग्दर्शन के कारण इसे 'वेदान्तदर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। इसके अतिरिक्त इसे आध्यात्मिक जगत में वेदान्त मीमांसा, उत्तर मीमांसा सूत्र, शारीरक मीमांसा, चतुर्लक्षणी (चार अध्याय होने के कारण) भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय का क्या प्रतिपाद्य विषय है अध्याय के नाम से उसका संकेत मिल जाता है।

प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वयाध्याय' है। ब्रह्म प्रतिपादक वेदों के अंतिम भाग जिसे उपनिषद अथवा वेदान्त कहा जाता है का परम तात्पर्य किसमें है उसका निर्धारण इस अध्याय में किया गया है। यहाँ उपनिषदों का समन्वय ब्रह्म में किया गया है। इसकी शैली बहुत सुन्दर है। इस अध्याय के किसी भी अधिकरण का विचारणीय विषय कोई न कोई उपनिषद वाक्य ही है। पूर्वपक्षियों के माध्यम से प्रथम उस उपनिषद वाक्य को विषय बनाकर संशय प्रस्तुत किया गया है तत्पश्चात् सिद्धांत के द्वारा उस उपनिषद वाक्य की ब्रह्म प्रतिपादकता स्थापित की गई है। उपनिषद वाक्य भी दो प्रकार के प्राप्त हैं प्रथम स्पष्ट ब्रह्म बोधक लिंग तथा द्वितीय अस्पष्ट ब्रह्म बोधक लिंग। प्रथम अध्याय के चारों पादों में इन्हीं वाक्यों के आधार पर ब्रह्म में समन्वय किया गया है।

दूसरे अध्याय का नाम 'अविरोधाध्याय' है क्योंकि इसमें सब प्रकार के विरोधाभासों का निराकरण किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधनाध्याय' है क्योंकि इसमें परब्रह्म की प्राप्ति अथवा साक्षात्कार कराने वाली ब्रह्मविद्या तथा अन्य उपासनाओं की चर्चा की गई है। चौथे अध्याय को 'फलाध्याय' कहा जाता है। इसमें तृतीय अध्याय में वर्णित विद्याओं अथवा उपासनाओं के साधकों को उनके अधिकार के अनुरूप प्राप्त होने वाले फल के विषय में निर्णय किया गया है।

जैसा हम पूर्व में कह आये हैं कि ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत वेदान्त का एक अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर अनेकों भाष्य तथा उन भाष्यों पर अनेकानेक टीकायें उपलब्ध हैं। । प्राय: शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य तथा वैष्णव सभी संप्रदाय के आचार्यों ने इस पर व्याख्या की है। वैष्णवों में रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, रामानन्दी तथा चैतन्य मतानुयायी विद्वानों के द्वारा टीकायें की गई हैं। रामानन्द संप्रदाय की टीका आनन्दभाष्य, वल्लभाचार्य जी महाराज की टीका अणुभाष्य, निम्बार्काचार्यजी की टीका कौस्तुभ, रामानुजाचार्यजी की टीका श्रीभाष्य, शैव संप्रदाय में श्रीकण्ठभाष्य तथा अप्पयदीक्षित की शिवार्कमणि दीपिका आदि प्राप्त हैं। कहना न होगा कि संप्रदायाचार्यों में इतना समादृत कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है।

जहाँ तक आद्यशंकराचार्य तथा उनके शिष्यों का प्रश्न है तो इस क्रम में हमें लगभग पचास भाष्य एवं टीकायें उपलब्ध होती हैं। वर्तमान में भगवद्पाद शंकराचार्य जी के भाष्य से पूर्व का कोई भी भाष्य देखने में नहीं आता है। आद्यशंकराचार्य के भाष्य पर ही अनेकों टीकायें उपलब्ध हैं यथा भामती, भामती पर कल्पतरु, कल्पतरु पर परिमल, रत्नप्रभा, न्यायनिर्णय एवं प०चपादिका, विवरण, विवरणरहस्य, तत्वविवेचन, विवरणदीपन आदि प्रमुख हैं।

शंकर मतानुसार (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अनुसार) इसमें कुल 191 अधिकरणों के अन्तर्गत कुल 555 सूत्र हैं। यह ग्रन्थ का शरीर है। आद्यशंकराचार्य कृत भाष्य का आधार शारीरिक दर्शन है। इसके अनुसार शरीर में जो आत्मा है वह शरीर के सापेक्ष छोटा नहीं है वही ब्रह्म है। अर्थात् जो हमारा तुम्हारा 'मैं' है वही ब्रह्म है। आद्यशंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, उनके इसी दर्शन पर यह ग्रन्थ आधारित है। आद्यशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की

प्रस्तावना के रूप में बहुत सुन्दर ढंग से अपने मत को प्रस्तुत किया है। इसे अध्यास भाष्य के नाम से जाना जाता है। इसमें भगवद्पाद ने उन समस्त बिन्दुओं का उल्लेख किया है जिनका विस्तार ब्रह्मसूत्र भाष्य में किया गया है।

[ग०शं०पा०]

ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्माण्ड पुराण शास्त्र प्राचीनकाल में प्रजापति ने महर्षि वशिष्ठ को, वशिष्ठ ने अपने पौत्र पराशर को, पराशर ने जातुकर्ण्य को, जातुकर्ण्य ने द्वैपायन व्यास को और द्वैपायन व्यास ने क्रमश: जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन, पैल एवं रोमहर्षण शिष्यों को प्रदान किया। प्रस्तुत पुराण नैमिषारण्य में ऋषियों के बारहवर्षीय सत्र में वायु देव के द्वारा व्याख्यात हुआ।

प्रस्तुत पुराण पूर्व, मध्य और उत्तर नाम से तीन भागों में विभक्त है। पूर्व भाग में 38 अध्याय हैं, मध्य भाग में 74 अध्याय हैं एवं उत्तर भाग में 44 अध्याय हैं। कुल मिलाकर ब्रह्माण्ड पुराण में 156 अध्याय हैं।

पूर्व भाग के द्वितीय पाद में कल्पों एवं फलों, औषधियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। वर्ण, आश्रम और उनके धर्मों का भी निरूपण किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित मानसी सृष्टि श्रीमद्भागवत से मेल खाती है। सृष्टि क्रम में काल की महिमा, सात द्वीपों का विस्तार एवं शिव-सती चरित्रों का निरूपण किया गया है। भागवत की भाँति ही ब्रह्माण्ड पुराण में वितल, सुतल आदि अधोलोकों एवं भूर्भुव: आदि ऊर्ध्व लोकों का तथा भूगोल-खगोल का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस पुराण में भगवान शिव के अनेक उपाख्यानों एवं गुणों का वर्णन किया गया है।

ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णाश्रम विभाग का विस्तृत वर्णन है। युग धर्मों का भी निरूपण किया गया है। पुराण में ऋषियों की विस्तृत परम्परा का वर्णन किया गया है। प्राचीनकाल में मन्त्रवेत्ताओं की ही ऋषि संज्ञा हुआ करती थी। इसके बाद मनु वंश, मन्वन्तर एवं पृथ्वी दोहन आदि का वर्णन है।

मध्य भाग का एकमात्र पाद उपोद्घात पाद है। इसमें सप्तर्षियों की उत्पत्ति, भृगुवंश एवं दिति वंश वर्णन तथा भगवान नृसिंह के अवतार की कथा है। ऋषि वंश में अत्रि एवं वशिष्ठ के वंश का विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में श्राद्ध विधान का विस्तृत वर्णन है। श्राद्ध में तिथि विचार, ब्राह्मण विचार और श्राद्धोपयोगी तीर्थों पर गम्भीर विचार किया गया है। जमदग्नि नन्दन परशुराम जी की हिमालय पर्वत पर तपस्या का वर्णन भी है। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपत अस्त्र प्रदान किया। जिसे शैवास्त्र भी कहते हैं। भगवान शिव ने परशुराम को अपना परशु भी प्रदान किया, भगवान परशुराम ने शैवास्त्र के प्रयोग से समस्त दैत्यों का वध कर डाला। परशुराम जी के पृथ्वी को अनेक बार क्षत्रिय विहीन कर देने के कारणों का भी उल्लेख है।

भगवान शिव ने जिस कवच का उपदेश किया है, वह कवच भी उपोद्घात पाद के 33वें अध्याय में वर्णित है। एक दिन भगवान परशुराम महात्मा अकृतव्रण के साथ एक सरोवर में स्नान करने गये। उस समय मृग ने अपनी सहचरी को भगवान परशुराम की महिमा सुनाते हुये कहा कि यदि परशुराम जी भगवान अगस्त्य के पास जाकर कृष्ण प्रेमामृतस्तोत्र श्रवण कर लें तो इनकी शक्ति और कान्ति अतुलित हो जायेगी। मृग-मृगी के संवाद को सुनकर परशुराम कृष्णप्रेमामृत स्तोत्र सुनने की इच्छा से अगस्त्य मुनि के पास गये। यह स्तोत्र ब्रह्माण्ड पुराण के उपोद्घात पाद के 36वें अध्याय में वर्णित है। कृष्णप्रेमामृत वस्तुत: श्रीकृष्ण का अष्टोत्तरशतनामात्मक है। इस कवच को भगवान परशुराम ने श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए श्रवण किया। भगवान श्रीकृष्ण भी उसी समय उनके सम्मुख प्रकट हो गये। तब श्रीकृष्ण ने परशुराम जी से एक अद्भुत बात कही। जिससे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण अनादि परब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण ने कहा हे-भार्गव! तुमने जो मेरी स्तुति की इससे तुम्हें मेरा अतुलित तेज प्राप्त हो गया है। इसके ही प्रभाव से तुम अहंकारी कार्तवीर्य का विनाश करोगे और पृथ्वी को नि:क्षत्रिय करोगे। भगवान कृष्ण ने भार्गव को सावधान करते हुए कहा, जब मैं अयोध्या में रामावतार लूँगा तब जानकी परिणय के अनन्तर तुम्हारा यह तेज पुन: हरण कर लूँगा। इसके पश्चात परशुराम जी का कार्तवीर्य एवं अन्य राजाओं के साथ

युद्ध का वृहद् वर्णन है।

अन्य पुराणों की भाँति इस पुराण में भी वैवस्वत मनुवंश एव चंद्रवंश का विस्तार से वर्णन है। जिसमें उनकी दिग्विजय से लेकर अंशुमान के राज्यारोहण तक की कथा एवं उसके बाद गंगावतरण तक की कथा बड़े विस्तार से वर्णित की गई है। राजा ययाति एवं कार्तवीर्य तथा वृष्णिवंश भी आगे चलकर चंद्रवंश के रूप में ही प्रसिद्ध हुआ।

उत्तर भाग में उपसंहार पाद का प्रारम्भ मन्वन्तरों के वर्णन से होता है। इसके बाद ब्रह्माण्ड पुराण में नरकों का वर्णन है जिसे यहाँ शिवपुर कहा गया है। उपसंहार पाद के तृतीय व चतुर्थ अध्याय में सृष्टि रचना का क्रम निरूपित करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण की महिमा का वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण के शेष अध्यायों में ललितोपाख्यान का विशेष वर्णन किया है, जिसमें देवी की पूजा का तन्त्र विधि से बड़ा सुन्दर विवेचन है। [क०उ०]

× × ×

सृष्टि के आदि से ब्रह्म के नि:श्वास रूप में अवतरित वेद सनातन हिन्दू धर्म के ज्ञान के दिव्य आधारभूत भंडार हैं। इनको अपौरुषेय भी इसी कारण कहा जाता है। इनको समझ पाना जनसाधारण तो क्या विद्वानों के वश से भी बाहर है। इनको श्रुति की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया है। इनके अतिरिक्त ऋषि प्रणीत धर्मग्रन्थों को स्मृति की श्रेणी में रखा गया है।

इन ग्रन्थों के ज्ञान को सरल रूप में जनसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने की दृष्टि से वेदव्यासजी ने अठारह पुराणों की रचना की। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा भी गया है कि 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थ मुपबर्हयेत' अर्थात् वेद का अर्थ विस्तार पुराण के द्वारा करना चाहिये। वेदव्यासजी के द्वारा रचित ब्रह्मपुराण की प्रथम तथा ब्रह्माण्डपुराण की अठारहवें पुराण के रूप में प्रतिष्ठा है। ब्रह्माण्डपुराण में श्लोकों की कुल संख्या बारह हजार है। वास्तव में पुराणों में सृष्टि, लय, ऋषियों, मुनियों, नरेशों आदि के संबंध में आख्यान उपलब्ध होते हैं। वे भक्तिपरक भी माने जाते हैं। भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं को केन्द्र में रखकर पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म तथा कर्म और अकर्म आदि की गाथायें बड़े ही रोचक ढंग से कही गयी हैं। कहीं-कहीं कल्पित कथाओं का सहारा भी उपदेशों के लिये किया गया है। सृष्टि के आदि से लेकर अंत तक का वर्णन भी प्राय: इनमें सँजोया गया है। ब्रह्माण्डपुराण की विषयवस्तु भी लगभग यही है।

ब्रह्माण्डपुराण अंतिम पुराण होते हुये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। जैसा कि इसके नाम से संकेत मिलता है इसमें समस्त ब्रह्माण्ड का सांगोपांग वर्णन मिलता है। छन्द शास्त्र की दृष्टि से भी इसे उच्च कोटि का ग्रन्थ माना जाता है। ब्रह्माण्डपुराण तीन भागों में विभक्त है—पूर्व, मध्य और उत्तर। पूर्व भाग में प्रक्रिया और अनुषंग नामक दो भाग हैं। इसमें मुख्य रूप से नैमिषीयोपाख्यान, देव-ऋष्यादि की सृष्टि, हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव, मन्वन्तर, युगादि, दक्ष कथा, गंगावतरण, ग्रह-नक्षत्रादि का विस्तृत वर्णन, समुद्र मंथन, मन्त्र शास्त्र का वर्णन किया गया है। मध्य भाग में श्राद्ध एवं पिण्ड दान, परशुराम जी की विस्तृत कथा, राजा सगर के वंश का विस्तार से वर्णन, गंगा अवतरण, शिवोपासना तथा सूर्य एवं चंद्र वंश के राजाओं के चरित्र आदि का वर्णन उपलब्ध है।

उत्तर भाग में भावी मन्वन्तरों का विवेचन, ललितोपाख्यान जिसमें भंडासुर से भगवती त्रिपुरसुन्दरी के युद्ध का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है। यह पुराण असीम ज्ञान का भण्डार माना जाता है। [अ०पा०]

ब्रह्मोत्सव

दक्षिण भारतीय शैली में बने वृन्दावन के इस रंग जी मंदिर को दिव्य देश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसमें अनेक उत्सव विभिन्न ऋतु तथा तिथियों के अनुसार आयोजित होते हैं। परन्तु ब्रह्मोत्सव चैत्र मास में कृष्ण पक्ष की द्वितीया तिथि से प्रारम्भ होकर चैत्र कृष्ण एकादशी तक चलने वाला महत्वपूर्ण उत्सव है। इसके अन्तर्गत

प्रतिदिन प्रात: एवं सायं बेला में एक नये कलात्मक स्वर्ण, रजत या काष्ठ वाहन पर प्रभु रंगनाथ की सवारी निकाली जाती है। वैदिक रीति से संपन्न इस मनोरथ में जब प्राचीन परम्परागत वाद्य यंत्रों की सुमधुर धुनों के मध्य श्री विग्रह की सवारी निकलती है तो हजारों की संख्या में उपस्थित जन समुदाय इस अद्‌भुत दृश्य से रोमांचित हो उठता है। इस उत्सव के अन्तर्गत आयोजित कलात्मक रथ की सवारी जो ब्रज के लोक में 'रथ कौ मेला' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें रथ चंदन की लकड़ी से निर्मित होता है। यह मेले का प्रमुख आकर्षण है। इसका उल्लेख ब्रिटिश कालीन कलेक्टर एफ.एस.ग्राउस के ऐतिहासिक ग्रंथ 'मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोयर्स' में भी देखने को मिलता है, इसके अलावा प्रतिदिन होने वाली प्रात: तथा साँयकालीन झाँकियों (सवारियों) में पूर्ण कोठी सिंह, सूर्य प्रभा, चंद्र प्रभा, गरुड़ जी, हनुमान जी, श्री शेष जी, कल्प वृक्ष, पालकी, सिंह शार्दूल, काँच का विमान, हाथी, घोड़ा एवं पुष्प विमान इसके प्रमुख आकर्षण हैं। वहीं आयोजन परम्परा में यमुना स्नान गेंद बच्छी एवं प्रणय कलह जैसे मनोरथ भी आयोजित होते हैं। जिनकी अलग-अलग मान्यतायें हैं। इसके दूसरे दिन रात्रि में 'आतिशबाजी का मेला' होता है। जिसमें बहुतायत में लोग आतिशबाजी देखने हेतु इकट्ठा होते हैं। इस प्रकार 11 दिनों में यह मेला संपूर्ण होता है। [रा०श०]

ब्राह्मण ग्रंथ

वेद प्राचीन भारत की अनुपम कृति हैं, जिनसे ज्ञान की धाराएँ सतत प्रवाहित हो रही हैं। सामान्यत: वेद दो भागों में विभक्त किए जाते हैं, वेदो हि मंत्रब्राह्मणभेदेन द्‌विविध:। प्रथम भाग यज्ञ एवं कर्मकांड विषयक मंत्रों (मंत्र अर्थात् मन को नियंत्रित करने वाले शब्द) से संबंधित हैं। जबकि द्वितीय भाग में ज्ञानकांड विषयक ब्राह्मण ग्रंथ आते हैं। ब्राह्मण शब्द का शाब्दिक अर्थ है, ब्रह्म को जानने वाला तत्वज्ञानी। इस आधार पर भी ब्राह्मण ग्रंथों को ज्ञान परंपरा से जोड़कर देखा जाना उचित है। वेदों के मंत्र विभाग को संहिता भी कहते हैं, जिसका संहितापरक विवेचन 'आरण्यक' जबकि संहितापरक भाष्य 'ब्राह्मण ग्रंथ' कहलाता है। 'उपनिषद' और 'आरण्यक' (वन में पठनीय सामग्री) वैदिक वाङ्मय के द्वितीय भाग ब्राह्मण ग्रंथों के उपभाग हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में मुख्य रूप से यज्ञों की चर्चा है। वैदिक मंत्रों एवं संहिताओं के कर्मकांड की व्याख्या है। इस रूप में वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गद्य टीकाओं को ब्राह्मण कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा में रचे गए यह ग्रंथ याज्ञिक कर्मकाण्डों की गद्य व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ यज्ञों के विधान और विज्ञान का सविस्तार वर्णन करते हैं। इन ग्रंथों से हमें बिम्बिसार के पूर्व की घटना का ज्ञान प्राप्त होता है।

हालांकि कात्यायन ऋषि ने ब्राह्मण ग्रंथों को भी ईश्वरीय माना था किन्तु वास्तव में ब्राह्मण ग्रंथ ईश्वरीय नहीं, मनुष्य कृत हैं। तैत्तरीय आरण्यक और आश्वलायन गृह्यसूत्र में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ ब्राह्मण ग्रंथों को कल्प, गाथा, पुराण, इतिहास या नाराशंसी कहा गया है। तैत्तरीय आरण्यक की व्याख्या में सायण और बृहदारण्यक उपनिषद के भाष्य में आचार्य शंकर का मत भी यही है।

प्रत्येक ब्राह्मण ग्रंथ किसी न किसी वेद से जुड़ा है। इस तथ्य को यूं भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वेद के एक या एक से अधिक ब्राह्मण हैं। विभिन्न वेदों के ब्राह्मण ग्रंथों को अलग-अलग पहचानने का एक छोटा-सा सूत्र है-उनके वर्ण्य विषय। यथा ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथों में 'होता' (ऋग्वैदिक ऋचाओं के पाठ करने वाले) द्वारा की जाने वाली यज्ञ विधियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सामवेद के ब्राह्मण ग्रंथों में 'सामवेद गायकों' के कर्तव्य वर्णित हैं और यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रंथों में 'अध्वर्यु के कार्यों' की जानकारी दी गई है। प्रत्येक मंत्र का अपना विशिष्ट ऋषि, देवता, छंद और स्वर है, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण के समान यजु: प्रतिशाख्य भी मंत्रों से पूर्व 'ओम' और ब्राह्मण श्लोकों से पूर्व 'अथ' बोलने की पुष्टि करता है।

वर्तमान में ऐतरेय, तांड्य, शतपथ और गोपथ यह चार ब्राह्मण मुख्य रूप से प्रचलित हैं, किन्तु ब्राह्मणों की संख्या इतनी ही नहीं है। विद्वानों का मानना है कि वेदों की सभी शाखाओं के अपने ब्राह्मण थे। आज उनमें से बहुतों के नाम हमें ज्ञात नहीं हैं। वर्तमान में 18 ब्राह्मण ग्रंथ उपलब्ध माने गए हैं। जबकि कुछ ब्राह्मण अनुपलब्ध हैं, किन्तु उनके नाम हमें ज्ञात हैं। ऐसे ब्राह्मणों की संख्या कुल 21 है। हालांकि कुछ विद्वान अलग मत व्यक्त करते हुए, ब्राह्मण ग्रंथों की संख्या 13 (ऋग्वेद 2, यजुर्वेद 2, सामवेद 8 और अथर्ववेद 1) बताते हैं लेकिन शाखाओं, प्रशाखाओं की उपस्थिति के कारण यह सूची भी निरापद नहीं कही जा सकती है। कुछ प्रमुख ब्राह्मण ग्रंथ निम्न हैं-

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रंथ हैं-ऐतरेय ब्राह्मण (शाकल शाखा) एवं कौषीतकि ब्राह्मण (बाष्कल शाखा)।

अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मण ग्रंथ उपलब्ध है।

आर्षेय ब्राह्मण-तीन प्रपाठक और बयासी खंड के इस ब्राह्मण में मुख्यत: सांगान के नामों का उल्लेख है।

ऐतरेय ब्राह्मण (शाकल शाखा)-इतरा नामक स्त्री के पुत्र 'महीदास' द्वारा रचित ब्राह्मण ग्रंथ है। इसमें आठ मंडल हैं और पाँच अध्याय हैं। इसे पंजिका भी कहते हैं। इस प्रकार संपूर्ण ब्राह्मण में कुल चालीस पंजिकाएँ हैं। यह ब्राह्मण राज्याभिषेक के नियमों, सोमयाग, अग्निहोत्र एवं राजसूय यज्ञ का वर्णन करता है।

कौषीतकि ब्राह्मण (बाष्कल शाखा)-जिसका एक नाम 'शंखायान' भी है-में अग्याधान, अग्निहोत्र, ऋतुयान आदि का उल्लेख है। इसमें कुल चार अध्याय हैं। विद्वान इसके रचनाकारों का नाम शंखयान एवं कौषीतकि में से एक होना स्वीकार करते हैं। यह ग्रंथ जीवात्मा और ब्रह्मलोक के अतिरिक्त प्राणोपासना अग्निहोत्र सहित प्राण तत्त्वों की महिमा का वर्णन करता है।

गोपथ ब्राह्मण-यह सर्वाधिक परवर्ती ब्राह्मण है। जिसमें ओंकार की तीन मात्राओं के साथ यज्ञ, मंत्र, कल्प, आश्रम, प्राचीन साम्राज्य आदि का विवरण प्राप्त होता है।

जैमिनीय आर्षेय और जैमिनीयोपनिषद ब्राह्मण

जैमिनीय (तावलकर) ब्राह्मण-का संकलन महर्षि व्यास के शिष्य जैमिनी व उनके शिष्य तावलकर ने किया।

दैवत (देवतध्याय) ब्राह्मण-इस ब्राह्मण ग्रंथ में कुल तीन खंड और बासठ खंडिकाएं हैं।

प्रौढ़ (पंचविंश) ब्राह्मण-इस ब्राह्मण ग्रंथ में पच्चीस अध्याय हैं, जिनके कारण इसे 'पंचविंश' ब्राह्मण कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ को 'तांड्य ब्राह्मण' नाम से भी संबोधित किया गया है, क्योंकि इसका संकलन 'ताण्डि' आचार्य ने किया था। इसमें पच्चीस प्रपाठक और तीन सौ सैंतालीस खंड हैं। पतितों को पवित्र करने वाले कर्मकांड को समाहित करना इसकी उल्लेखनीय विशेषता है।

मन्त्र (छान्दोग्य)-इस ब्राह्मण ग्रंथ का परिमाण दो प्रपाठक और सोलह खंडों का है।

वंश ब्राह्मण-यह एक लघु ग्रंथ है, जिसके केवल तीन खंड हैं। इसमें सामवेद के आचार्यों की वंश परम्परा का उल्लेख मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण-माध्यन्दिनि शाखा तथा काण्व शाखा में प्राप्त होते हैं। इसे ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण माना जाता है क्योंकि इसमें गंधार, शल्य, केकय, कुरु, पांचाल, कोसल, विदेह आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कृष्ण यजुर्वेद की शाखा में तैत्तिरीय ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, कठ ब्राह्मण एवं कपिष्ठल ब्राह्मण ग्रंथ उपलब्ध हैं।

षडविंश ब्राह्मण-इस ब्राह्मण ग्रंथ में पाँच प्रपाठक और अड़तीस खंड हैं। माना जाता है कि इस ब्राह्मण का संकलन भी 'ताण्डि' आचार्य और उनके शिष्यों ने किया था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण-यह पाँच खंडों का छोटा-सा ग्रंथ है। जिसमें सामवेद और अरण्य एवं ग्राम्यगेय गान आदि का वर्णन है।

यजुर्वेद के शुक्ल यजुर्वेद शाखा

सामविधान ब्राह्मण-इसमें अभिचारादि खंडों का वर्णन है। इसके तीन प्रपाठक और पच्चीस खंड हैं।

[अ०श्री०]

बृहद् भागवतामृत

सनातन गोस्वामी कृत बृहद् भागवतामृत अनुपम ग्रंथ है। सनातन गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख पार्षद थे। इनके पूर्वज कर्नाटक देश के निवासी ब्राह्मण थे जो बाद में बंग देश में जाकर रहने लगे थे। सनातन के पिता का नाम कुमारदेव था। उनके दो छोटे भाई रूप और अनुपम थे। डॉ. सतीशचंद्र मिश्र के अनुसार उनका जन्म वि.सं. 1522 में हुआ था। डॉ. अवधबिहारी लाल कपूर ने भी इसे ठीक माना है। चैतन्य महाप्रभु के संन्यास लेने के 5 वर्ष बाद वि.सं. 1571 में रामकेलि गए थे जहाँ उनकी भेंट सनातन गोस्वामी से हुई थी। सनातन उस समय गौड़ाधिपति हुसेनशाह के प्रधानमंत्री थे और 'दबिर खास' की उपाधि से विभूषित थे। वे परम विद्वान और प्रकांड पंडित थे। चैतन्य महाप्रभु के अनुगत होकर उन्होंने प्रधानमंत्री पद को त्यागकर भक्ति तत्त्व और रस शास्त्र को हृदयंगम किया और उनकी आज्ञा से ब्रज के तीर्थोद्धार और कृष्ण भक्ति का प्रचार करने के लिए ब्रज वृंदावन आकर रहे। उन्होंने वि.सं. 1590 में ठाकुर मदनमोहन जी की सेवा का प्रवर्तन किया। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें 'बृहद भागवतामृत' प्रमुख है।

'बृहद् भागवतामृत' में सनातन गोस्वामी के शास्त्रीय ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभूतियों का अपूर्व सामंजस्य है। संस्कृत में रचित इस ग्रंथ में भक्ति रस सिंधु 'श्रीमद्भागवत' का मंथन कर सारतत्त्व का विद्वतापूर्ण एवं सरल-सरस-रोचक रूप में मर्मस्पर्शी निरूपण किया गया है। कुछ दुर्बोध विषयों को सरल बनाने के लिए सनातन गोस्वामी ने स्वयं ही 'दिग्दर्शिनी' नामक इसकी विस्तृत टीका (संस्कृत) में लिखकर इसकी उपादेयता में वृद्धि की है। यह ग्रंथ दो खंडों में विभाजित है। श्री श्यामदास द्वारा प्रकाशित इस ग्रंथ में कुल 596 पृष्ठ व 2515 श्लोक हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम खंड में सात अध्याय हैं। प्रारंभ में श्रीकृष्ण व चैतन्य महाप्रभु की वंदना है। तत्पश्चात् राधा, गोपीवृंद, मथुरादेवी, वृंदावन, यमुना, गोवर्धन, कृष्णप्रेम भक्ति, कृष्ण-नाम की महिमा का गान है। एक श्लोक में ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसे भगवद् भक्ति शास्त्रों का सार-संग्रह बताया गया है जो चैतन्यदेव की कृपा व उनके प्रिय स्वरूप की अनुभूति से स्फुरित हुआ है। इसकी कथा श्री जैमिनी मुनि ने परीक्षित पुत्र राजा जनमेजय को सुनाई थी। शुकदेव के श्रीमुख से भागवत कथा का श्रवण कर राजा परीक्षित मृत्यु भय से मुक्त होकर कृष्ण प्रेम रस में निमग्न हो गए किंतु उनकी माता उत्तरा सातवें दिन पुत्र का परलोक गमन सुनिश्चित जानकर स्नेहवश अधीर व विचलित हो गई थीं। अत: ऐसी शोकाकुल मन:स्थिति में वे कथा का पूरी तरह से श्रवण भी नहीं कर पाईं। उन्होंने परमानंद में अभय पद अवस्थिति को प्राप्त अपने पुत्र परीक्षित से भागवत कथा सार सुनने के लिए कहा। इस संदर्भ में माता उत्तरा के प्रश्नों और राजा परीक्षित के उत्तरों के विविध प्रसंगों को 'श्रीबृहद् भागवतामृत' ग्रंथ में सरसता से निरूपित किया गया है।

प्रथमखंड में कथा के माध्यम से श्रीकृष्ण के सर्वाधिक कृपापात्रों के निर्धारण का प्रयास हुआ है। इस खंड के नायक नारद इस खोज में ब्रह्मांड का भ्रमण करते हुए सर्वप्रथम प्रयाग तीर्थ के एक ब्राह्मण को भगवान का सबसे अधिक कृपापात्र जानकर उसकी प्रशंसा करते हैं। ब्राह्मण दाक्षिणात्य के एक क्षत्रिय राजा को परम प्रिय भक्त बताता है। नारद उस राजा से मिलते हैं तो वह ब्रह्मा को परम प्रिय भक्त बताता है। इसी प्रकार ब्रह्मा शिव को, शिव प्रहलाद को,

प्रहलाद पांडवों को, पांडव यादवों को विशेष रूप से उद्धव को, उद्धव ब्रज गोपियों को और उनमें भी राधा को भगवान का सबसे अधिक कृपापात्र बताते हैं। प्रत्येक अपने मत की संपुष्टि में जो कारण प्रस्तुत करते हैं उससे भक्त की विभिन्न श्रेणियाँ और उनकी न्यूनाधिक विशेषताएँ व भक्ति की महिमा उजागर हुई है। अंत में नारद प्रयाग में मुनियों की सभा में लौटकर भक्ति की महिमा बताते हैं जिसे सुनकर मुनियों ने कृष्ण की प्रेम भक्ति का आश्रय लिया। इसमें अन्य समस्त साधनों को त्याग कर एकमात्र राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति को परम साध्य बताया गया है। परीक्षित अपनी माता से कहते हैं-''हे माता! मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि मेरे कहने के अनुसार उन गोपियों सहित श्री गोपीनाथ की प्रेमपूर्वक शरण लेने से और उनकी कृपा से आप भी ब्रज नागरियों की कुछ महिमा को जान सकेंगी। इस श्रेष्ठ महा आख्यान को, जिसमें श्रीकृष्ण के कृपापात्रों का निर्धारण किया गया है, जो व्यक्ति श्रद्धा से सुनेंगे अथवा सुनायेंगे, वे उनके श्रेष्ठतम प्रेम को जल्दी ही प्राप्त करेंगे।''

प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय खंड में सात अध्याय हैं। इसमें मनोरम आख्यायिका के माध्यम से भक्ति के विभिन्न सोपानों का वर्णन किया गया है। इसके नायक हैं गोवर्धनवासी एक गोपकुमार। इनके गुरु हैं गौड़ देश में गंगा तट पर जन्मे जयंत नाम के एक ब्राह्मण। गोपकुमार गुरु प्रदत्त मंत्र का जाप करते हुए प्रयाग, जगन्नाथपुरी और वृंदावन गए। मंत्र के ही अचिन्त्य प्रभाव से वे स्वर्गलोक, महर्लोक, तपोलोक और सत्यलोक गए। वे पहले राजा बने, फिर इंद्र के पद और ब्रह्मा के पद को प्राप्त किया। इन समस्त लोकों के वैभव को प्राप्त करके भी उन्हें तृप्ति नहीं हुई। अत: वे पृथ्वी पर मथुरा लौट आए। वहाँ गुरु ने उन्हें बताया कि तुम मंत्र के प्रभाव से सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त करोगे। मंत्र जप के दिव्य प्रभावस्वरूप गोपकुमार को अपनी भौतिक देह अपार्थिव देह में परिणत प्रतीत हुई, वे क्रमश: शिवलोक, बैकुंठ, अयोध्या, द्वारका और गोलोक गए। गोलोक में स्थित वृंदावन में अपने इष्टदेव मदनगोपाल के दर्शन कर उनकी नित्य लीला में प्रविष्ट हुए। उन्हें अभीष्ट फल की पूर्णरूप से प्राप्ति हुई और वे वहाँ रहकर राधाकृष्ण युगल की नित्य रूप माधुरी, लीला माधुरी और प्रेम सेवा के अद्‌भुत रस में निमग्न हुए। इस आख्यायिका में सनातन गोस्वामी ने सभी लोकों, भगवद् स्वरूपों और सुखों का वर्णन किया है। यह बताना उनका अभीष्ट रहा है कि इन समस्त सुखों को प्राप्त करके भी सुख, संतोष नहीं मिलता, सच्चा सुख व आनंद तो राधाकृष्ण के मधुर प्रेम रस में निमग्न होकर ही मिलता है। [उ०गो०]

संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के सहयोग से इग्नू के शोध संस्थान द्वारा संचालित परियोजनाओं में ब्रज संस्कृति विश्वकोश एक महत्त्वाकांक्षी परियोजना है। ब्रज के पौराणिक, ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक, भौगोलिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक और लोक-पक्ष को अपने में समेटे इस परियोजना का विस्तार चार खण्डों में है। परियोजना से देश के साहित्य, संस्कृति भाषा और दर्शन से संबद्ध कई विद्वान, परामर्शदाता और संपादक के रूप में जुड़े हैं, जिससे कि इस ग्रंथ की विश्वसनीयता, गम्भीरता और भी विशिष्टता के साथ स्थापित हो सके। प्रथम खण्ड का प्रकाशन ब्रज के इतिहास, पुरातत्त्व, भूगोल (भाषायी आधार पर), समाज, कृषि, पर्यावरण, अर्थव्यवस्था आदि पक्षों पर किया जा चुका है।

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड पाठकों को समर्पित किया जा रहा है। जो ब्रज के धर्म सम्प्रदायों पर केन्द्रित है।

इसके उपरान्त अन्य खण्ड इस प्रकार होंगे-

तृतीय खण्ड-ब्रजभाषा एवं लोक साहित्य

चतुर्थ खण्ड-ब्रज की कलाएँ

वृन्दावन शोध संस्थान

देव पब्लिशर्स
एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स
नई दिल्ली

ISBN 978-93-81406-84-7



₹ 2200 (दोनों खण्ड)